संत शिरोमणि श्रीज्ञानेश्वर महाराज
कृत

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

(श्रीमद्भगवद्गीता की 'भावार्थ दीपिका' नामक सर्वश्रेष्ठ टीका)



अनुवादक

बाबू रामचन्द्र वर्मा



प्रकाशक :

गौरव ग्रन्थ कुटीर

७, हाथीगली, वाराणसी—२२१००१

प्रकाशक :
गौरव ग्रन्थ कुटीर
के० १६/७ हाथीगली
वाराणसी - २२१००१

पुनर्मुद्रित नवीन संस्करण
चैत्र नवरात्र , सन् १९९९

मूल्यः रु० १२५ = ००
एक सौ पच्चीस रुपये

एकमात्र वितरक :
(पुस्तक प्राप्तिस्थान)
भारत - भारती
के० १६/७ हाथीगली
वाराणसी २२१००१

मुद्रक :
सूर्या आफसेट्स
विवेकानन्द नगर
वाराणसी २२१००२



प्रस्तावना

महाराष्ट्र सन्तोंकी मंडलीमें श्री ज्ञानेश्वर महाराजका* स्थान कदाचित् सर्वोच्च और सबसे अधिक महत्त्वका है; और इसका कारण यह है कि वे महाराष्ट्र देशमें भक्ति मार्गके आद्य प्रवर्त्तक और सारे महाराष्ट्रके धर्म-गुरु हैं। यद्यपि महाराष्ट्र देशमें एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि अनेक बहुत बड़े बड़े महात्मा और सन्त हो गये हैं, परन्तु काल-क्रमके विचारसे भी और दूसरी अनेक दृष्टियोंसे भी सबसे अधिक महत्त्वका स्थान श्री ज्ञानेश्वर महाराजको ही प्राप्त है। महाराष्ट्र देश और मराठी भाषा पर जितने अधिक उपकार आपके हैं, उतने कदाचित् और किसीके नहीं हैं। आप बहुत ही उच्च कोटिके तत्त्वज्ञानी, परम ईश्वर-भक्त, पूर्ण योगी और अद्भुत लेखक थे। यद्यपि आपको हुए साढ़े छः सौ वर्ष से अधिक हो गये, परन्तु इस दीर्घ कालमें आपका यश और ख्याति बराबर दिन पर दिन बढ़ती ही गई है और अब भी बराबर बढ़ती ही जा रही है। नेवासें नामक गाँवमें, जहाँ बैठकर श्री ज्ञानेश्वर महाराजने गीताकी यह ज्ञानेश्वरी टीका लिखी थी बहुत धूम-धाम और बड़े उत्साहसे ज्ञानदेव-महोत्सव हुआ था। इस उत्सवमें अनेक प्रसिद्ध विद्वान और हरि-भक्त एकत्र हुए थे। इसी अवसर पर "श्री ज्ञानेश्वर-दर्शन" नामका कोई १६०० पृष्ठोंका एक बहुत सुन्दर ग्रन्थ भी प्रकाशित किया गया था जिसमें श्री ज्ञानेश्वर महाराज और उनके सिद्धान्तों आदिके सम्बन्धमें अनेक बड़े बड़े विद्वानों और विचारशीलोंके पांडित्यपूर्ण लेख और निबन्ध आदि संगृहीत हैं। और उन लेखकोंमें केवल हरि-भक्तोंके ही नहीं बल्कि पाश्चात्य विद्याओंके अनेक बड़े बड़े विद्वानोंके भी बहुतसे लेख आदि हैं। और यह इस बातका सूचक है कि आजकलके इस बिगड़े हुए और केवल धन तथा स्वार्थ पर दृष्टि रखनेवाले जमानेमें भी श्री ज्ञानेश्वर महाराजकी कीर्ति बराबर बढ़ती ही जा रही है।

श्री ज्ञानेश्वर महाराजके पूर्वज पैठणसे† चार कोसकी दूरी पर गोदावरी किनारेके आपेगाँवके रहनेवाले थे, जहाँ वे लोग कुलकर्णी या पटवारीका काम करते थे। वे माध्यन्दिन शाखाके यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। ज्ञानेश्वरजीके पिताका नाम विट्ठल पन्त और दादाका नाम गोविन्द पन्त था। विट्ठल पन्तको बाल्यावस्थामें ही वेदों और शास्त्रों

---

* यद्यपि ज्ञानेश्वरीमें श्री ज्ञानेश्वर महाराजने सब जगह अपना नाम "ज्ञानदेव" ही दिया है, परन्तु फिर भी लोकमें आपकी प्रसिद्धि "श्री ज्ञानेश्वर महाराज" के नामसे ही है; और इसी लिए हमने भी इस प्रस्तावनामें सब जगह आपका यही नाम दिया है।—अनुवादक

† दक्खिन, औरंगाबाद जिलेमें यह एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। इसे लोग दक्षिण-काशी भी कहते हैं।—अनुवादक।

आदिकी अच्छी शिक्षा मिली थी और इसी लिए वे बहुत बड़े ज्ञानी, विरक्त और ईश्वर-भक्त थे। वे प्रायः घर-गृहस्थीकी ओरसे उदासीन रहते थे और तीर्थ-सेवा, साधु-सन्तोंके सहवास और ईश्वर-भक्तिमें ही उनका विशेष मन लगता था। इसी लिए उन्होंने पहले अपना विवाह नहीं किया था और छोटी अवस्थामें ही वे तीर्थ-यात्रा करने निकल गये थे। जब वे अनेक तीर्थोंकी यात्रा करते हुए पूनाके पास आलन्दी नामक गाँवमें पहुँचे, तब वहाँके कुलकर्णी या पटवारी सिधो पन्तसे उनकी भेंट हुई। विट्ठल पन्त सिद्धेश्वरके मन्दिरमें ठहरे हुए थे। वे देखनेमें तो ज्ञान-सम्पन्न थे ही, पर साथ ही उनकी वृत्ति भी बहुत निर्मल थी और उनका आचरण भी बहुत पवित्र था। इसलिए सिधो पन्तने अपनी कन्याका विवाह विट्ठल पन्तसे करना चाहा और इस सम्बन्धमें उन्होंने उनसे कहा भी। उस समय विट्ठल पन्तने उन्हें कोई निश्चित् उत्तर नहीं दिया। परन्तु कहा जाता है कि बादमें विट्ठल पन्तको इस सम्बन्धमें एक स्वप्न हुआ जिसमें विट्ठल भगवानने उनके सामने प्रकट होकर कहा कि तुम यह विवाह स्वीकृत कर लो; इससे तुम्हें एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होगा जो ईश्वरका अवतार ही होगा। और इसलिए ईश्वरकी इच्छा समझकर विट्ठल पन्तने सिधो पन्तकी कन्याके साथ विवाह करके गृहस्थ आश्रमको स्वीकार किया। जिस कन्याके साथ उनका विवाह हुआ था, उसका नाम रुक्मिणी बाई था।

विट्ठल पन्तने यद्यपि स्वप्नमें विट्ठल भगवानकी आज्ञा पाकर विवाह तो कर लिया था, परंतु फिर भी उनका मन घर-गृहस्थीमें नहीं लगता था। वे प्रायः भगवानके चिन्तनमें ही रहते थे और यह सोचा करते थे कि मैंने यह कहाँका झगड़ा अपने पीछे लगा लिया। रुक्मिणी यद्यपि परम पति-परायणा थी, परन्तु फिर भी वह अपने ईश्वर-भक्त पतिको अपने वशमें नहीं कर सकती थी। कुछ दिनों तक आलन्दीमें रहनेके उपरान्त वे अपने सास-ससुर और पत्नीके साथ पंढरपुरकी यात्रा करने गये; और तब वहाँसे लौटकर अपनी पत्नीके साथ अपने माता-पिताके पास आपेगाँव पहुँचे। परन्तु विट्ठल पन्तके माता-पिताके भाग्यमें अपने पुत्र और पुत्र-वधूका सुख अधिक समय तक भोगना नहीं बदा था; अतः थोड़े ही दिनोंमें गोविन्द पन्त और उनकी पत्नीका पर-लोकवास हो गया। अब विट्ठल पन्तका वैराग्य और ईश्वर-चिन्तन और भी अधिक बढ़ गया। यहाँ तक कि गृहस्थीका चलना भी मुश्किल हो गया। रुक्मिणीने यह सब समाचार अपने पिताको लिख भेजा। इस पर सिधो पन्त आकर अपनी कन्या और जामाताको अपने साथ आलन्दी ले गये। परन्तु वहाँ भी विट्ठल पन्तकी मनोवृत्ति ज्योंकी त्यों बनी रही। उन्हें कोई सन्तान तो हुई ही नहीं थी; इस लिए उनकी विरक्ति और भी बढ़ती जाती थी और वे काशी जाकर वहीं अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहते थे। अन्तमें एक दिन वे अपनी पत्नीसे यह कहकर घरसे निकले कि मैं गंगा-स्नान करनेके लिए जाना चाहता हूँ; और तब फिर लौटकर घर नहीं आये। वे सीधे काशी चले आये और यहाँ श्री रामानन्द स्वामीकी सेवामें उपस्थित हुए। रामानन्दजीसे उन्होंने कहा कि मैं अकेला हूँ और मेरी स्त्री या बाल-बच्चे नहीं हैं। मैं दीक्षित होनेके लिए आपकी सेवामें आया हूँ। रामानन्दजीने भी उनकी बात सच मानकर उन्हें मंत्र-दीक्षा और संन्यास दे दिया।

विट्ठल पन्तके इस प्रकार घरसे चले जाने पर रुक्मिणी बाई मनमें बहुत अधिक दुःखी हुई। पतिदेवके अचानक लापता हो जानेसे उसके मनमें बहुत अधिक लज्जा और ग्लानि होती थी; साथ ही उसे दिन-रात अपने भविष्यकी चिन्ता रहने लगी। अब वह आठ पहरमें केवल एक बार भोजन करती थी, पीपलकी प्रदक्षिणा करती थी और पति तथा ईश्वरका चिन्तन करती थी। बस यही उसका कार्य-क्रम था। इसी बीच-में उसे किसी प्रकार यह भी पता लग गया था कि मेरे पतिदेव काशीमें जाकर संन्यासी हो गये हैं। इसलिए उसने अपने व्रतका स्वरूप और भी उग्र बना लिया और बारह वर्ष इसी प्रकारके व्रत और अनुष्ठानमें बिता दिये। यद्यपि उसका वह कठोर व्रत और उग्र अनुष्ठान निष्काम था, परन्तु फिर भी भगवानने उसकी पुकार सुन ली थी।

एक बार ऐसा संयोग हुआ कि रामानन्द स्वामी अपने साथ सौ-पचास शिष्योंको लिये हुए रामेश्वरकी यात्रा करनेके लिए निकले थे। रास्तेमें उन्हें आलन्दी गाँव मिल गया और वहीं उन्होंने डेरा डाल दिया। वे आलन्दी में जिस मारुती मन्दिरमें ठहरे थे, वहाँ रुक्मिणी बाई नित्य हनुमानजीके दर्शन करने जाया करती थी। वहीं उसने रामानन्द स्वामीको देखकर भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। रामानन्दजीके मुखसे आशीर्वादके रूपमें निकल गया—"पुत्रवती भव" यह आशीर्वाद सुनकर रुक्मिणी बाईको कुछ हँसी आ गई और वह यह समझकर अपने मनमें दुःखी हुई कि एक महात्माका यह आशीर्वाद बिलकुल निष्फल होगा। जब रामानन्दने उससे हँसनेका कारण पूछा, तब उसने कहा कि मेरे पति तो काशीमें संन्यास ले चुके हैं। अतः आपका आशीर्वाद पूरा कैसे होगा? उन्होंने रुक्मिणी बाईसे उसके पतिके रूप-रंग और अवस्था आदिके सम्बन्धमें कुछ प्रश्न करके अपने मनमें समझ लिया कि यह कदाचित् उसी व्यक्तिकी स्त्री है जिसने मुझसे दीक्षा ग्रहण की है और जिसका नाम अब "चैतन्याश्रम स्वामी" है। उन्होंने यह भी सोचा कि जो व्यक्ति अपनी सन्तानहीन युवती स्त्रीको छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, शास्त्रोंकी दृष्टिमें वह स्वयं भी दोषी होता है और उसे दीक्षा देनेवाला गुरु भी दोषका भागी होता है। अतः उन्होंने रामेश्वर-यात्राका विचार छोड़ दिया और रुक्मिणी बाईको अपने साथ लेकर पहले तो उसके माता-पिताके पास गये और तब उन सब लोगोंको साथ लेकर काशी लौट आये। यहाँ उन्होंने चैतन्याश्रमको बुलाकर उससे सब हाल पूछा। उस समय चैतन्याश्रम भी इन्कार न कर सके और उन्होंने अपना सारा दोष मान लिया। इस पर रामानन्द स्वामीने उन्हें आज्ञा दी कि तुम अपनी पत्नीको साथ लेकर आलन्दी चले जाओ और वहीं गृहस्थाश्रममें अपना जीवन व्यतीत करो। चैतन्याश्रमने भी अपने गुरुकी यह आज्ञा शिरोधार्य की और इस प्रकार वे संन्यासीसे फिर गृहस्थ हो गये।

अब विट्ठल पन्त और रुक्मिणी बाई पर दूसरी विपत्ति आई। किसी संन्यासीका फिरसे गृहस्थाश्रममें लौट आना एक बहुत ही अद्भुत बात थी और इसे समाज किसी प्रकार सहन नहीं कर सकता था। लोग समझते थे कि इससे संन्यासाश्रमका भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। सब लोग उनकी निन्दा

करने और उन्हें अनेक प्रकारके कष्ट पहुंचाने लगे। केवल यही नहीं, ब्राह्मणोंने उन्हें अपनी जाति और समाजसे बहिष्कृत भी कर दिया। परन्तु ज्यों-ज्यों लोक-निन्दा बढ़ती जाती थी, त्यों त्यों विट्ठल पन्तकी शान्ति, गम्भीरता और अध्ययनकी मात्रा भी बराबर बढ़ती जाती थी। वे अपना सारा समय शास्त्रोंके अध्ययन, आत्म-चिन्तन और ईश्वर-भजनमें ही व्यतीत करते थे और लोक-निन्दाकी ओर कुछ भी ध्यान नहीं देते थे। रुक्मिणी बाई भी अपने पतिकी सेवा करके ही खूब प्रसन्न रहती थी। परन्तु इस बार गृहस्थाश्रम स्वीकार करने पर उन्हें जल्दी जल्दी सन्तानें होने लगीं, जिससे उनके सामने एक नई चिन्ता आ खड़ी हुई। थोड़े ही समयमें उन्हें तीन पुत्र और एक कन्या हुई। सबसे पहले शक संवत् ११६५ में निवृत्तिनाथका, फिर शक संवत् ११६७ में ज्ञानदेवका और तब शक संवत् ११६६ में सोपानदेवका जन्म हुआ। और तीनों पुत्रोंके उपरान्त अन्तमें शक संवत् १२०१ में कन्या मुक्ता बाईका जन्म हुआ था।

उन दिनों विट्ठल पन्तकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। उन्हें कहीं भिक्षा तक न मिलती थी। कभी कभी उन्हें फल-फूल और कभी कभी केवल तृण और पत्ते आदि खाकर और यहां तक कि कभी कभी केवल जल ही पीकर रह जाना पड़ता था। परन्तु फिर भी कभी उनका मन मायाके वशमें न हुआ। हां, सन्तान उत्पन्न होने पर अवश्य ही उन्हें भविष्यकी चिन्ता होने लगी। परन्तु वे जैसे जैसे अपना समय बिताते चलते थे। सौभाग्यवश उनके तीनों पुत्र बहुत ही कुशाग्रबुद्धि थे और स्वयं वे अनेक शास्त्रोंके पूर्ण पंडित थे, इसलिए उन पुत्रोंकी शिक्षा बहुत ही सन्तोषजनक रूपमें होने लगी। जब उनके बड़े पुत्र निवृत्तिनाथकी अवस्था सात वर्षकी हुई, तब उन्होंने उनका उपनयन संस्कार करनेका विचार किया। वे जानते थे कि इस संस्कारके समय कोई ब्राह्मण न आवेगा, इसलिए उन्होंने ब्राह्मणोंसे बहुत प्रार्थना की कि आप लोग किसी प्रकार मुझे फिरसे जातिमें मिला लें। परन्तु ब्राह्मणोंने उनकी उस प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया।

सब ओरसे निराश होकर अन्तमें विट्ठल पन्तने यह निश्चय किया कि स्त्री और पुत्रोंको लेकर त्र्यम्बकेश्वर चलना चाहिए और वहीं अनुष्ठान करना चाहिए। तदनुसार वे अपने सारे परिवारको लेकर त्र्यम्बकेश्वर जा पहुँचे। वहां उनका नित्यका यह नियम हो गया था कि मध्य रात्रिमें उठकर कुशावर्त्तमें स्नान करते थे और अपने सारे परिवार को लेकर ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करते थे। इस प्रकार छः मास बीतने पर एक दिन उसी आधी रातके समय एक विकट और विलक्षण घटना हुई। जिस समय वे बाल-बच्चों समेत परिक्रमा कर रहे थे, उस समय सामनेसे एक भीषण बाघ कूदता-फांदता आ पहुंचा। उसे देखते ही सब लोग घबराकर इधर-उधर भाग निकले। उनके बड़े पुत्र निवृत्तिनाथ भी भागते भागते अंजनी पर्वतकी एक गुफा में जा छिपे। उस समय वहां नाथ सम्प्रदायके आचार्य श्री गहिनीनाथ अपने दो शिष्योंके साथ तपस्या कर रहे थे। वहां पहुंचते ही श्री निवृत्तिनाथ उनके चरणों पर गिर पड़े। गहिनीनाथकी भी उनपर

कृपा-दृष्टि हो गई और उन्होंने उनकी अल्प अवस्थाका विचार न करके उन्हें "राम कृष्ण हरि" का मन्त्र देकर अपना शिष्य बना लिया और उन्हें संसारमें कृष्णकी उपासनाका प्रचार करनेकी आज्ञा दी। निवृत्तिनाथ वहांसे आकर फिर अपने माता-पिता के साथ मिल गए।

विट्ठल पन्त फिर पूर्ववत् समय बिताने लगे। परन्तु अपने पुत्रोंका यज्ञोपवीत संस्कार न कर सकनेके कारण वे सदा दुःखी रहते थे। वे अपने बाल-बच्चोंको लेकर आपेगांव पहुँचे और वहांके ब्राह्मणों से भी उन्होंने अपने पुत्रका यज्ञोपवीत करानेके लिए कहा। परन्तु उन लोगोंने उन्हें उत्तर दिया कि तुमने बहुत बड़ा अपराध किया है, और इसका प्रायश्चित्त देह-दंडके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता। इस पर विट्ठल पन्त इतने अधिक दुःखी हुए कि उन्होंने अपने बच्चोंको यों ही ईश्वरके भरोसे छोड़कर और अपनी स्त्रीको साथ लेकर प्रयागकी यात्रा की और वहां पहुँचकर उन पति-पत्नीने जल-समाधि ले ली।

अब सब बालक अनाथ और असहाय होकर इधर-उधर घूमने और भिक्षा आदिसे अपना निर्वाह करने लगे। परन्तु वे बालक बहुत ही बुद्धिमान् और शीलवान् थे तथा उनका आचरण बहुत ही शुद्ध था, इसलिए पैठणके ब्राह्मणोंको उन पर दया आती थी। कुछ लोग उन बालकोंकी शुद्धि करना चाहते थे, परन्तु उनकी शुद्धिका प्रश्न बहुत ही विकट था। वे एक ऐसे संन्यासीकी सन्तान थे जो फिरसे गृहस्थ हो गया था; अतः उन ब्राह्मणोंकी समझमें यही नहीं आता था कि ऐसे बालकोंकी शुद्धि किस प्रकार और किस आधार पर की जाय। वे इसके लिए शास्त्रोंका आधार और विधान चाहते थे; और शास्त्रोंमें इस सम्बन्धका कोई प्रायश्चित्त ही उन्हें नहीं मिलता था। उन्हें सबसे बड़ी आशंका इस बातकी थी कि यदि ऐसे बालकोंकी शुद्धि कर ली जायगी तो फिर बहुत-से दुष्ट और लम्पट भी जब चाहेंगे, तब संन्यासी बन जायेंगे और जब चाहेंगे, तब प्रायश्चित करके गृहस्थाश्रममें आ जायेंगे, जिससे गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम दोनों ही कलंकित होंगे। परन्तु जब अन्तमें उन्हें यह पता चल गया कि विट्ठल पन्त और उनकी पत्नीने जलसमाधि ले ली, तब निवृत्ति आदि निरपराध बालकोंकी अवस्था पर उनको विशेष दया आई और उन्होंने सब बातों पर विचार करके इस समस्या का बहुत ही सुन्दरतासे निपटारा किया। उन्होंने जो कुछ निर्णय किया था, उसका वर्णन निरंजन माधवने इस प्रकार किया है—

"अनन्य भक्ति हरिपादपद्मीं, निष्ठा धरा केवल सौख्यसद्मीं।
तीव्रानुतापें भजनासि सारा, टाकोनी मायामय हा पसारा।
चित्तीं चिदानन्द धरोनि राहा, चैतन्य तें एक अखंड पाहा।
या पद्धतिनेंच तराल लोकीं, यावेगला मार्ग तुम्हा नसों कीं।
जितेन्द्रियत्वेंचि वसा अखंड, न बाधवा संसृतिकामखंड।
वैराग्ययोगेंचि धरोनि पिंड, वर्त्ता तुम्हां निष्कृति हे उदंड।"

अर्थात्—"तुम लोग हरिके चरण-कमलोंमें अपनी अनन्य भक्ति रखो और केवल

उस सुख-धाम पर निष्ठा रखो। तीव्र अनुतापूर्वक ईश्वरका भजन करो और इस मायामय संसारको छोड़ दो। अपने चित्तमें सदा उस चिदानन्दको धारण किये रहो और केवल उस अखंड चैतन्य पर ही दृष्टि रखो। बस इसी उपायसे तुम लोग इस लोकमें तर जाओगे। इसके सिवा तुम लोगोंके लिए और कोई उपाय नहीं है। तुम लोग अखंड जितेन्द्रिय होकर रहो। संसारका काम-विद्रोह मत बढ़ाओ। तुम लोग अपना शरीर वैराग्य और योगमें ही रखो; और उसी उग्र निष्कृतिको अंगीकार करो।''

निवृत्तिनाथ आदि सभी बालकोंने और विशेषतः ज्ञानेश्वरने ब्राह्मणोंका यह निर्णय पूर्ण रूपसे शिरोधार्य किया। पहले निवृत्तिदेव और सोपानदेव यह निर्णय माननेमें कुछ संकोच करते थे, परन्तु ज्ञानदेवने उनसे आग्रहपूर्वक यह निर्णय मान्य कराया था। उन्होंने यह बात अच्छी तरह समझ ली थी कि यद्यपि वर्ण, आश्रम और जाति आदिके भेद निर्मूल हैं, परन्तु फिर भी वे देखते थे कि हमारे समाजमें ये सब भेद पूरी तरहसे और दृढ़तापूर्वक प्रचलित हैं; और यदि इनसे सम्बन्ध रखनेवाले नियमोंका भली भाँति पालन किया जाय तो सामाजिक व्यवहारोंमें बहुत सुगमता होती है। समाजको व्यवस्थित रखनेके लिए उसके नियमों और आज्ञाओंका ठीक तरहसे पालन करना आवश्यक है और उन नियमों तथा आज्ञाओंके प्रतिकूल चलना तथा विद्रोह करना हानिकारक है। और यदि समाजमें किसी प्रकारके सुधारकी आवश्यकता हो तो वह सुधार समाजमें रहकर और सौम्य तथा नम्र उपायोंसे ही करना उत्तम होता है। और यही सब बातें ज्ञानेश्वर महाराजने उस समय अपने दोनों भाइयोंको बहुत अच्छी तरह समझा दी थीं।

इस प्रकार पैठणके ब्राह्मणोंके आज्ञानुसार तीनों भाई ब्रह्मचर्यपूर्वक अपने समाजमें रहने लगे। उन्हींके साथ साथ मुक्ता बाई भी ब्रह्मचारिणी होकर दिन व्यतीत करने लगी। ब्राह्मणोंने इन बालकोंकी शुद्धिकी व्यवस्था शक संवत् १२०९ या वि० सं० १३४४ में दी थी। इसके उपरान्त ये चारो भाई-बहन पैठणसे चलकर नेवासें पहुँचे और वहीं रहने लगे।

कहते हैं कि जिस समय ज्ञानेश्वर महाराज नेवासें पहुँचे थे, उस समय वहाँ एक स्त्री अपने पतिके शवको गोदमें लिए विलाप कर रही थी। पूछने पर मालूम हुआ कि उसके मृत पतिका नाम सच्चिदानन्द था। उन्होंने चकित होकर कहा—"क्या सत्, चित् और आनन्दकी मृत्यु हो सकती है? उसे तो मृत्यु स्पर्श तक नहीं कर सकती।" यह कहकर उन्होंने ज्योंही उस मृत व्यक्तिके शरीर पर हाथ फेरा, त्योंही वह उठकर खड़ा हो गया। यही व्यक्ति आगे चलकर सच्चिदानन्द बाबाके नामसे प्रसिद्ध हुए थे जिन्होंने यह ज्ञानेश्वरी लिपि-बद्ध की थी और जिनका ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीके अन्तमें उल्लेख किया है। यह ज्ञानेश्वरी शक संवत् १२१२ या वि० सं० १३४७ में नेवासेमें महालया देवीके मन्दिरमें लिखी गई थी। अर्थात् इस ज्ञानेश्वरीकी रचनाके समय ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल पन्द्रह वर्षकी थी। और यह उनके अद्भुत विद्वान् होनेका एक बहुत ही उत्कट प्रमाण है। यद्यपि ज्ञानेश्वर महाराजके सम्बन्धमें अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं, परन्तु यदि उन सब चमत्कारों पर किसीको विश्वास न हो

तो उनका यही एक चमत्कार इतना बड़ा है कि इसकी उपमा जल्दी ढूँढे नहीं मिल सकती।

ज्ञानेश्वरी समाप्त करनेके उपरान्त ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थ-यात्रा करनेके लिए निकले। कुछ लोगोंका तो मत है कि इस तीर्थ-यात्रामें इनके साथ केवल सुप्रसिद्ध महात्मा नामदेवजी थे; और कुछ लोगोंका कहना है कि इस यात्रामें इनके बड़े और छोटे भाई, छोटी बहिन और कई भक्त तथा सन्त भी साथ थे। नामदेव पंढरपुरके रहनेवाले थे और उनके सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध था कि श्री विठ्ठल भगवानके उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं और भगवानके साथ उनकी बात-चीत तक होती है। इसलिए ज्ञानेश्वर महाराजने पहले पंढरपुर पहुँचकर उनसे साथ चलनेकी प्रार्थना की। उन्होंने विठ्ठल भगवानसे आज्ञा माँगी। भगवानने कहा—"ये ज्ञानेश्वर प्रत्यक्ष परब्रह्मकी मूर्ति हैं। इनके साथ जानेमें तुम्हारा कल्याण होगा।" यह भी कहा जाता है कि भगवानने स्वयं ही नामदेवका हाथ ज्ञानेश्वर महाराजके हाथमें पकड़ा कर कहा था—"इसे सँभालो। यह मेरा परम प्रिय है।" बस तभीसे नामदेवजी भी इनके साथ हो लिये थे। इस तीर्थ-यात्रामें ज्ञानेश्वर-महाराज प्रयाग, काशी, गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि सभी प्रसिद्ध स्थानोंमें गये थे और मारवाड़ तथा पंजाब सरीखे दूर दूरके प्रदेशोंमें उन्होंने वैष्णव मतका प्रचार किया था। ये जहाँ जाते थे, वहीं लोगोंको कुछ न कुछ अपूर्व चमत्कार दिखलाते थे। तीर्थ-यात्रा समाप्त करनेके उपरान्त फिर सब लोग लौटकर पंढरपुर आये, जहाँ नामदेवने एक बहुत बड़ा उत्सव किया था। उस उत्सवमें अनेक सन्त-महात्मा सम्मिलित हुए थे। उत्सव समाप्त होने पर ज्ञानेश्वर महाराज अपने भाइयों और बहिनके साथ लौटकर आलन्दी चले गये। वहीं कुछ दिनों तक रहनेके उपरान्त शक संवत् १२१८ या विक्रम संवत् १३५३ में मार्गशीर्ष कृष्ण १३, गुरुवारको मध्याह्नमें जीते जी समाधि ले ली और आपके पश्चात् एक दो वर्षोंके अन्दर ही सोपानदेव, मुक्ता बाई और निवृत्ति-नाथने भी समाधि ले ली। समाधि लेनेके समय ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल २१ वर्ष, ३ मास और ५ दिनकी थी। १५ वर्षकी अवस्थामें तो आपने यह ज्ञानेश्वरी ही लिखी थी। इसके सिवा इतनी थोड़ी अवस्थामें आपने अनुभवामृत, योगवाशिष्ठकी टीका आदि कई ग्रन्थ और सैकड़ों अभंग या पद आदि भी बनाये थे।

ज्ञानेश्वर महाराजके सम्बन्धमें अनेक चमत्कार प्रसिद्ध हैं। उनमेंसे कुछ चमत्कारोंका यहाँ वर्णन कर देना अप्रासंगिक न होगा।

कहते हैं कि जिस समय ब्राह्मणोंने इन बालकोंकी शुद्धिकी व्यवस्था दी थी, उस समय निवृत्तिनाथने कहा था—"मैं तो निवृत्ति ही हूँ। प्रवृत्तिसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।" ज्ञानदेवने कहा था—"मैं ज्ञानदेव अर्थात् सकल आगमका वेत्ता हूँ।" सोपानदेवने कहा था—सबको भगवानके भजनमें लगाना और भक्तोंको वैकुण्ठ प्राप्त कराना ही मेरा काम है।" और मुक्ता बाईने कहा था—"मैं मुक्तिका द्वार खोलती हूँ।" इन छोटे बालकोंके मुखसे ये बड़ी बड़ी बातें सुनकर लोग हँस पड़े। उसी समय सभा-मंडपके बाहर एक भैंसा दिखाई दिया। किसी ने कहा—"अजी नामसे क्या होता है। यह भैंसा

जा रहा है। इसका भी नाम ज्ञानदेव है।" इसपर ज्ञानदेवने कहा—"हाँ, ठीक है। इसमें और हममें कोई भेद नहीं है। इसमें भी मेरी आत्मा है।" इस पर उस व्यक्तिने उस भैंसेकी पीठ पर कसकर तीन कोड़े लगाये। उस समय ज्ञानेश्वर महाराजकी सर्वात्मभाववाली नीतिका यह चमत्कार दिखाई दिया कि उनकी पीठमेंसे रक्त निकलने लगा।

जब ज्ञानेश्वर महाराज वहाँसे आपेगाँव जानेके लिए चले और रास्तेमें एक जगह गोदावरीके तट पर बैठे थे, तब इन बाल-योगियोंको देखनेके लिए बहुत-से लोग एकत्र हो गये थे। उनमेंसे किसीने ज्ञानेश्वर महाराजके पास आकर कहा—"यदि तुम अपना कुल पावन कराना चाहते हो तो इस भैंसेके मुँहसे वेदकी ऋचाएँ कहलाओ।" यह सुनते ही ज्ञानेश्वर महाराजने उठकर सब ब्राह्मणोंको नमस्कार करते हुए कहा—"आप लोग भूदेव हैं। आप लोगोंके मुँहसे जो बात निकलेगी, वह विफल नहीं होगी।" यह कहकर उन्होंने उस भैंसेके मस्तक पर अपना हाथ रखा। तत्काल उस भैंसेके मुँहसे चारों वेदोंकी ऋचाएँ अस्खलित रूपसे निकलने लगीं। स्वर और वर्ण बिलकुल शुद्ध थे। उच्चारण स्पष्ट था। बराबर एक पहर तक भैंसेके मुँहसे वेद-घोष होता रहा और बड़े बड़े वैदिक ब्राह्मण चकित होकर और सिर झुकाये वह वेद-घोष सुनते रहे। अन्तमें उन सब ब्राह्मणोंको लज्जित होकर कहना पड़ा—"सचमुच ये बाल-योगी विष्णुके अवतार हैं।" यह घटना माघ शुक्ल ५ सं० १३४४ विक्रमीकी कही जाती है। उस समय ज्ञानेश्वर महाराजकी अवस्था केवल १२ वर्षकी थी।

पैठणमें एक बार एक ब्राह्मणको अपने पिताका श्राद्ध करना था। जब श्राद्धकी सब तैयारी हो चुकी, तब ज्ञानेश्वर महाराजकी आज्ञासे पितरोंके लिए आसन बिछाये गये। ज्ञानेश्वर महाराजने उन पितरोंका ध्यान करके कहा—"आगन्तव्यम्।" उस समय इनकी वाणीका यह प्रताप देखा गया कि तुरन्त ही सब पितर अपने अपने आसन पर आकर बैठ गये। ज्ञानेश्वर महाराजकी यह योग शक्ति और सिद्धि देखकर वह ब्राह्मण कृतकृत्य हो गया।

ज्ञानेश्वर महाराजके इस प्रकारके अनेक चमत्कार देखकर तथा उनकी अनेक अलौकिक शक्तियोंसे प्रभावित होकर पैठणके ब्राह्मणोंने यह निश्चय कर लिया कि ये तीनों भाई मूर्तिमान् देवता और जीवन्मुक्त हैं; और इसलिए इन्हें किसी प्रकारके प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नहीं है। यही समझकर वहाँके समस्त विद्वान् ब्राह्मणोंने एक शुद्धिपत्र लिखकर निवृत्तिनाथजीको दिया था। इस शुद्धिपत्रकी एक प्रति श्री भिंगारकर बाबाको पुराने कागज-पत्रोंमें मिली थी जिसे उन्होंने प्रकाशित कर दिया है। इस शुद्धिपत्रमें, जो संस्कृतमें है, ज्ञानेश्वर महाराजके पिता विट्ठल पन्तका भी सब हाल लिखा है और उन चमत्कारोंका भी वर्णन है जो ज्ञानेश्वर महाराजने पैठणमें दिखलाये थे। शुद्धिपत्रमें पैठणके ब्राह्मणोंने कहा है कि ये सब चमत्कार हम लोगोंने अपनी आँखोंसे देखे थे। यद्यपि कुछ विद्वानोंको इस शुद्धिपत्रके प्रामाणिक होनेमें सन्देह है, तथापि इसमें ज्ञानेश्वर महाराज आदिके जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओंके जो वर्णन हैं, वे अन्यान्य स्थानोंमें मिलनेवाले वर्णनोंसे बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

श्री निवृत्तिनाथको गहिनीनाथसे जो उपासना प्राप्त हुई थी, वही उन्होंने ज्ञानेश्वर महाराजको दी थी। आदिनाथसे गहिनीनाथ तक जो परम्परा चली आई थी, वह मुख्यतः योग-मार्ग पर चलती थी। इस परम्पराके सभी महात्मा योगेश्वर थे। परन्तु श्रीनिवृत्तिनाथने अपने गुरुकी आज्ञासे अपने भाई-बहनोंको श्रीकृष्णकी उपासनाकी दीक्षा दी थी; और तभीसे महाराष्ट्र देशमें भागवत धर्म या भक्ति-मार्गका प्रचार हुआ था। यही कारण है कि इस प्रस्तावनाके आरम्भमें कहा गया है कि महाराष्ट्र देशमें ये भक्ति-मार्गके आद्य प्रवर्त्तक थे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि योग-मार्गकी परम्परा भी ज्ञानेश्वर महाराजने नहीं छोड़ी थी और वे बहुत बड़े योगेश्वर भी थे। उन्होंने जो अनेक बड़े-बड़े चमत्कार दिखलाये थे, वे सब योग-बलसे ही दिखलाये थे। ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी इस ज्ञानेश्वरीमें छठे अध्यायके १२ से १६ तकके श्लोकों पर जो टीका की है, वह योग-प्रधान ही है, श्रीमदृशंकराचार्यने इस प्रसंगमें योग सम्बन्धी कोई निर्देश या संकेत नहीं किया है; परन्तु ज्ञानेश्वर महाराजने इस प्रसंगमें अपने योगानुभवका यथेष्ट परिचय दिया है। कुंडलिनीको जागनेका उपाय बतलाकर उससे होनेवाली कुछ सिद्धियोंका भी उन्होंने उल्लेख किया है। उन्होंने कहा है—"फिर उस योगीको समुद्रके उस पारकी चीजें भी दिखाई पड़ने लगती हैं, स्वर्गका नाद भी सुनाई पड़ने लगता है और वह च्यूँटीके मनका भाव भी जान सकता है। वह हवाके घोड़े पर सवार होता है और यदि वह पानीके ऊपर चले तो उसके पैरोंका पानीसे स्पर्शतक नहीं होता। बस इसी प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।" और इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ ज्ञानेश्वर महाराजके चरणों पर लोटा करती थीं। परन्तु फिर भी जगतके उद्धारका जो सीधा मार्ग उन्होंने बतलाया है, उसमें उन्होंने योगकी क्रियाओं अथवा सिद्धियोंको कोई प्रधानता नहीं दी है। बल्कि एक स्थान पर उन्होंने यहाँ तक कहा है कि योग-विधिसे कोई फल नहीं होता; उलटे व्यर्थ ही उपाधि और दम्भ बढ़ता है। तात्पर्य यह कि योग और उसकी सिद्धियाँ तो सच्ची हैं, परन्तु आत्म-प्राप्तिके लिए उनका कोई उपयोग नहीं होता, उलटे उनसे विघ्न ही होता है।

एक और स्थान पर उन्होंने कहा है—"जो लोग······ योगका बीहड़ मार्ग अपने अधिकारमें करते हैं·········हे अर्जुन, वे लोग भी आकर मुझमें मिलते हैं। यह बात नहीं है कि उन लोगोंको योग-बलसे इसके सिवा कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हाँ यदि कुछ अधिक मिलता है, तो वह केवल कष्ट ही मिलता है।" और इसका स्पष्ट आशय यही है कि लोगोंको योगका बीहड़ और कष्ट-साध्य मार्ग छोड़कर भक्तिका सुगम मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

ज्ञानेश्वर महाराज यह बात तो पूरी तरहसे मानते थे कि भक्ति-मार्गमें मोक्षसाधनमें अथवा आध्यात्मिक जीवनमें सभी लोग एक समान हैं और यहाँ तक कि सारी भूत-सृष्टि एक-स्वरूप ही है। परन्तु फिर भी वे सांसारिक व्यवहार और सामाजिक आचारमें वर्णाश्रम-भेद और जाति-पाँति आदिका भेद मिटा देनेके पक्षमें नहीं थे। गीताके तीसरे अध्यायके ३५वें श्लोककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"दूसरेका आचार देखनेमें

चाहे कितना ही अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिए। मान लो कि किसी शूद्रके यहाँ अच्छे अच्छे पकवान तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यों न हो, फिर भी तुम्हीं बतलाओ कि क्या उस ब्राह्मणको कभी वे पकवान खाने चाहिये ?"

लेकिन इतना होने पर भी वे भक्ति-मार्गमें वर्ण और जातिका कोई भेद नहीं मानते थे। नवें अध्यायके ३२वें श्लोककी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—"जब तक कोई मेरे स्वरूपके साथ मिलकर सम-रस नहीं हो जाता, तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदिके रूपमें भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्रमें डाला हुआ नमकका डला उसीमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ सम-रस होते ही जाति-भेदवाले भासका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है"। और इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि जब अपनी असीम भक्तिके कारण मनुष्य ईश्वरमें मिलकर एक हो जाता है, तब जाति और व्यक्तिवाले भेद नहीं रह जाते। ज्ञानेश्वर महाराजका भी यह सिद्धान्त था कि ईश्वरकी सच्ची भक्ति वास्तवमें शुद्ध ज्ञान ही है; और जिसे ईश्वरका शुद्ध ज्ञान हो जाय, वही ईश्वरका सच्चा भक्त है। स्वयं गीताके सम्बन्धमें उनका यह मत था कि यह मनुष्य मात्रके लिए मोक्षका द्वार खोलनेवाली है। वे कहते थे कि वेदोंके अध्ययन-का अधिकार तो केवल द्विजोंको है और स्त्रियों तथा शूद्रोंके लिए उनके श्रवणकी भी मनाही है। परन्तु गीताके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई बन्धन नहीं है—यह सबके लिए है। और फिर गीता केवल उन्हीं लोगोंको मुक्ति नहीं प्रदान करती जो भली भाँति इसका तत्व समझते हैं, बल्कि जो लोग गीताका कुछ भी अर्थ बिना समझे उसका पाठ मात्र भी सुन लेते हैं, वे भी मुक्त हो जाते हैं।

हम ऊपर यह बतला चुके हैं कि ज्ञानेश्वर महाराज अपने बड़े भाई श्री निवृत्ति-नाथजीसे दीक्षा लेकर उनके शिष्य हुए थे। जब निवृत्तिनाथ उनके गुरु हो गये, तब उनके साथ उनका केवल गुरु और शिष्यवाला ही सम्बन्ध रह गया; और फिर इस सम्बन्धमें भाई-भाईवाले सम्बन्धके लिए कहीं नामको भी कोई स्थान नहीं रह गया। साथ ही गुरु पर उनकी इतनी अधिक श्रद्धा थी कि वे उन्हें पूर्ण रूपसे ईश्वर ही मानते थे। प्रायः सभी अध्यायोंका आरम्भ करते समय उन्होंने अपने गुरुकी स्तुति की है और इतनी अधिक स्तुति की है, जितनी और कहीं जल्दी ढूँढे न मिलेगी। ज्ञानेश्वरीमें ज्ञानेश्वर महाराजने अनेक स्थानों पर अत्यधिक प्रेम, श्रद्धा और आदरके साथ अपने बड़े भाई नहीं बल्कि अपने गुरु श्री निवृत्तिनाथका स्मरण किया है। उन्हीं श्री निवृत्तिनाथकी कृपासे आपको ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस महान् उपकारके लिए आपने अनेक स्थानों पर अपनी पूरी कृतज्ञता प्रकट की है। एक अवसर पर आपने कहा है—"गुरुदेवके भोगके जितने पदार्थ हैं, वे सब पदार्थ मैं स्वयं बनना चाहता हूँ।" वे कहते हैं—"मैं श्री गुरुका भवन, द्वार, द्वारपाल, छत्रधारी, चँवर डुलाने-वाला, दीपक दिखानेवाला और ताम्बूल खिलानेवाला बनूँ। गुरुदेवके नेत्र स्नेहसे जो जो रूप देखें, वे सब रूप भी मैं ही बनूँगा। और मरने पर इस शरीरकी मिट्टी उसी

भूमि में मिलाऊँगा, जिसपर गुरुदेव के श्री चरण अंकित होंगे। इन सब उद्धरणोंसे यही सूचित होता है कि जिस प्रकार ज्ञान, भक्ति और योग आदिका आपमें असीम बल था, उसी प्रकार आपकी गुरुभक्ति भी पराकाष्ठा तक पहुँची हुई थी।

गीताकी अब तक जितनी टीकाएँ हुई हैं, उतनी कदाचित् बहुत ही कम ग्रन्थोंकी हुई होंगी! और गीताकी समस्त टीकाओंमें जितनी अच्छी यह ज्ञानेश्वरी टीका है, उतनी अच्छी कदाचित् ही और कोई टीका हो। इस ज्ञानेश्वरी टीका की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसपर कहीं किसी विशेष सम्प्रदाय की छाप नहीं है। जो कुछ कहा गया है, वह सब प्रकारके साम्प्रदायिक भावोंसे दूर रहकर और गीताका यथार्थ अभिप्राय समझानेकी दृष्टिसे कहा गया है। ज्ञानेश्वरी आजसे लगभग साढ़े छः सौ वर्ष पूर्व लिखी गई थी; और यदि इतनी पुरानी भाषाका ठीक-ठीक अर्थ सब लोगोंकी समझमें न आवे तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। और यही कारण है कि मूल ज्ञानेश्वरी में कुछ स्थल विकट और दुरूह भी हैं। परन्तु फिर भी यदि समस्त ज्ञानेश्वरी पर ध्यान रखा जाय तो यही कहा जा सकता है कि इसकी भाषा बहुत ही सुन्दर, स्पष्ट, शुद्ध, सरस, ओजस्विनी और प्रसाद-गुणसे सम्पन्न है। कुछ लोगों का कहना है कि मूल मराठी ज्ञानेश्वरीमें सब मिलाकर ५६ भाषाओंके शब्द आये हैं; और यह बात ज्ञानेश्वर महाराजकी उच्च कोटिकी बहुज्ञताकी ही सूचक है। ज्ञानेश्वरीमें सबसे बढ़कर प्रशंसनीय उसकी वर्णन-शैली है। जो विषय उठाया गया है, वह इतने विशद और स्पष्ट रूपसे समझाया गया है कि पढ़नेवाले मुग्ध हो जाते हैं। जगह जगह रूपक और उपमाएँ इतनी अधिक हैं कि गहनसे गहन विषय समझनेमें भी कोई कठिनता नहीं होती। तात्पर्य यह कि ज्ञानेश्वरी अनेक गुणोंका समुद्र है और इसकी श्रेष्ठताका पूरा-पूरा परिचय इसका भली भाँति अध्ययन करनेसे ही मिल सकता है। मैं तो केवल इसी लिए अपने आपको धन्य समझता हूँ और अपना जीवन सार्थक मानता हूँ कि मुझे ऐसे श्रेष्ठ ग्रन्थ-रत्नका अनुवाद करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सम्भव है कि इस अनुवादमें मुझसे कुछ भूलें और प्रमाद भी हुए हों; पर इसके लिए मैं उदार तथा-भक्ति-परायण पाठकोंसे क्षमा-प्रार्थनाके सिवा और कर ही क्या सकता हूँ?

अन्तमें मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि मैंने ज्ञानेश्वरीका यह हिन्दी अनुवाद स्वर्गवासी श्रीयुत बालकृष्ण अनन्त भिडे बी० ए० कृत "सार्थ ज्ञानेश्वरी" के आधार पर किया है और इसके लिए मैं उनके प्रति अपनी पूर्ण कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। प्रस्तावना लिखनेमें मैंने उक्त सार्थ ज्ञानेश्वरीकी प्रस्तावनाके अतिरिक्त अपने परम प्रिय और अभिन्न-हृदय मित्र पं० लक्ष्मण नारायण गर्दे द्वारा अनुवादित श्री ज्ञानेश्वर-चरित्रसे, जो गोरखपुर के प्रसिद्ध गीता प्रेससे प्रकाशित हुआ है, विशेष सहायता ली है। और इसके लिए मैं प्रिय गर्देजीका भी विशेष रूपसे आभारी हूँ।

गुरु पूर्णिमा
सं १९९४ वि० }

—रामचन्द्र वर्मा

विषय-सूची

-: ० :-

———

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

श्रीः

श्री गोपाल-कृष्णायनमः

हिन्दी ज्ञानेश्वरी

पहला अध्याय

हे ओंकार-स्वरूप परमात्मा, वेद ही तुम्हारा प्रतिपादन कर सकते हैं। मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ। तुम ऐसे आत्म-स्वरूप हो जिसका ज्ञान केवल स्वानुभवसे हो सकता है। मैं तुम्हारा जय-जयकार करता हूँ। श्री निवृत्तिनाथका यह नम्र शिष्य कहता है कि सबके अर्थ-ग्रहणकी शक्तिका प्रकाश जो गणेश कहलाते हैं, वह तुम्हीं हो। यह बात सब लोग सावधान होकर सुनें। यह संपूर्ण साहित्य तुम्हारी मनोहर मूर्त्ति है और उसका अक्षररूपी शरीर निर्दोष भावसे झलक रहा है। स्मृति ही इस मूर्त्तिका अवयव है, काव्यकी पंक्तियाँ उन अवयवोंके हाव-भाव हैं और अर्थ-सौंदर्य ही उसका लावण्य है। अठारह पुराण रत्नोंसे जडे हुए अलंकार है, तत्व-सिद्धांत उन अलंकारोंमेंके रत्न हैं और शब्दोंकी जड़ाई उन रत्नोंपरका कुन्दन हो गई है। सभ्य और सुन्दर काव्य-प्रबन्ध मानों रंग-बिरंगे वस्त्र हैं और इन वस्त्रोंमेंका साहित्य रूपी ताना-बाना खूब बढ़िया और चमकीला है। और यह देखिए कि यदि इन नाटकोंकी रसिकतासे योजना की जाय तो उसमें जो घुँघरू होते हैं, वे अर्थ-रूपी ध्वनिकी रुन-झुन आरम्भ करते हैं। यदि इन काव्य नाटकोंके तत्व-सिद्धान्तोंकी खूब दक्षतापूर्वक छान-बीनकी जाय तो उनमें जो मार्मिक पद दिखाई देते हैं, वही घुँघुरुओंमेंके रत्न हैं। और व्यास आदि कवियोंका जो प्रतिभा रूपी गुण है, वही जरीदार पटका या कमरबन्द है और इस पटकेके पल्लेपरकी इन घुँघुरुओंकी झालर ऊपरकी तरफ झलकती है। जिन भिन्न-भिन्न छः तत्व-सम्प्रदायोंको षड्-दर्शन कहते हैं, वही इस गणेश-मूर्त्तिके छः हाथ हैं; इसी लिए इन सम्प्रदायोंके मत-भेदानुसार इन छः हाथोंके आयुध भी आपसमें विध्वंसवादी हैं। आयुधोंमें तर्क-शास्त्र परशु है, न्याय-शास्त्र अंकुश है और वेदान्त-शास्त्र मीठे रससे भरा हुआ मोदक है। न्यायसूत्र पर वृत्ति करनेवालोंके द्वारा निर्दिष्ट किया हुआ, पर आपसे आप टूटा हुआ, वही खंडित दाँत, जो बौद्ध मतका संकेत है, एक हाथमें है। सत्तर्कवाद ही आपका कमलके समान वरद हस्त है और धर्म प्रतिष्ठा ही आपका अभय देनेवाला हाथ है। महासुखके परमानन्दकी प्राप्ति करानेवाला निर्मल सुविचार ही आपका सरल शुंड-दंड है। मतभेदोंका परिहार करनेवाला जो संवाद है, वह आपका अखंडित और शुभ्र वर्णवाला दाँत है। उन्मेष या ज्ञान-

तेजका स्फुरण विघ्न-राज गणेशजीके चमकते हुए सूक्ष्म नेत्र हैं। इसी प्रकार मुझे ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा इनके दोनों कान हैं और इन्हीं दोनों कानों पर मुनि रूपी भ्रमर गंड-स्थलसे बहनेवाले बोध-रूपी मद-रसका सेवन या पान करते हैं। तत्त्वार्थ रूपी प्रवालसे चमकनेवाले द्वैत और अद्वैत दोनों गंड-स्थल हैं और ये दोनों गणेशजीके मस्तकपर बहुत ही पास-पास होनेके कारण मिलकर प्रायः एकसे हो गये हैं। ज्ञान-रूपी मकरन्दसे ओत-प्रोत भरे हुए दसों उपनिषद् ही मधुर सुगंधिवाले फूलोंके मुकुट-के समान मस्तकपर सुशोभित हैं। इन गणेशजीमें दोनों चरण अकार हैं, विशाल उदर उकार है और मस्तकका महामंडल मकार है। अकार, उकार और मकार इन तीनोंके योगसे ॐकार होता है जिसमें सारा साहित्य-संसार समाविष्ट होता है। इसी लिए मैं सद्गुरुकी कृपासे उस अखिल विश्वके मूल बीजको नमस्कार करता हूँ। अब मैं उस विश्व-मोहिनी शारदाकी वन्दना करता हूँ जो वाणीके नित्य नये-नये विलास प्रकट करती है और जो चातुर्य तथा कलाओंमें विशेष प्रवीण है। जिन सद्गुरुने मुझे इस संसार-रूपी सागरसे पार उतारा है, वे सद्गुरु मेरे अन्तःकरणमें पूरी तरहसे बैठे हुए हैं इसीसे विवेक-के लिए मेरे मनमें विशेष आदर है। जिस प्रकार आँखोंमें दिव्य अंजन लगानेसे दृष्टिको अपूर्व बल प्राप्त होता है और तब आदमी जहाँ देखता है, वहीं उसे भूमिके अन्दर गड़े हुए द्रव्योंकी बड़ी-बड़ी राशियाँ दिखाई पड़ने लगती हैं, अथवा जिस प्रकार हाथमें चिन्तामणि आनेपर सब प्रकारके मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं, उसी प्रकार मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि श्रीनिवृत्तिनाथजीकी कृपा से मैं पूर्णकाम हो गया हूँ। इसी लिए बुद्धिमान् पुरुषोंको गुरुकी भक्ति करनी चाहिए और उसके द्वारा कृतकार्य होना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार वृक्षकी जड़में पानी सींचनेसे आपसे आप सब शाखाएँ और पल्लव हरे-भरे हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार सागरमें स्नान करनेसे त्रिभुवनके समस्त तीर्थोंमें स्नान करनेका फल होता है अथवा जिस प्रकार अमृत रसका पान करनेसे समस्त रसोंका आनन्द मिल जाता है, उसी प्रकार जिनके द्वारा मेरे समस्त इष्ट मनोरथ सिद्ध होते हैं, उन श्री गुरुदेवकी मैं बार-बार वन्दना करता हूँ। अब आप लोग एक प्रौढ़ और गम्भीर कथा सुनें। यह कथा समस्त कला-विलासोंकी जन्मभूमि अथवा विवेक वृक्षोंका अपूर्व उपवन है। यह कथा सब सुखोंके मूल-स्थान महा-सिद्धान्त की नींव है अथवा नौ रसोंका अमृतका सागर है। अथवा यह कथा स्वयं परम गतिका आश्रय-स्थल, समस्त विद्याओंका आदि पीठ और समस्त शास्त्रोंका निवास-स्थान है। अथवा यह कथा धार्मिक विचारोंका मायका (जन्मभूमि), सज्जनोंका जीवन और सरस्वती देवीके सौन्दर्य रूपी सम्पत्तिका भांडार है। अथवा व्यासदेवकी विशाल मतिको स्फुरित करके स्वयं वाणी देवी इस कथाके रूपमें त्रिभुवनमें प्रकट हुई हैं। इसी लिए यह कथा समस्त महाकाव्योंकी महारानी और सब ग्रन्थोंके गौरवका मूल है और इसीसे शृंगार आदि नौ रसोंका सरसता प्राप्त हुई है। अब इस कथाका एक और लक्षण सुनिये। इसी कथाके शब्द-वैभव शास्त्र-शुद्ध हुआ है और आत्म-ज्ञानकी कोमलता इसीसे दूनी हुई है। चातुर्यको इसी कथासे चतुराई प्राप्त हुई है, भक्ति-रस इसीसे स्वादिष्ट हुआ है और सुखका सौभाग्य इसीसे पुष्ट

हुआ है। इसीसे माधुर्यको मधुरता, शृंगारको सुन्दरता और अच्छी बातोंको लोक-प्रियता प्राप्त हुई है और उनकी शोभा हुई है। इसी कथासे कलाओंका कलाज्ञान प्राप्त हुआ है, पुण्यको अपूर्व वैभव मिला है और इसी लिए इससे राजा जनमेजयके पाप-कर्मोंके दोषोंका सहजमें प्रक्षालन हुआ है। यदि इसके सम्बन्धमें कुछ और विचार किया जाय तो यह निश्चित होता है कि इसीने रंगोंको सुरंगताकी विपुल सामर्थ्य और गुणोंको सद्गुणताका तेज प्रदान किया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार सूर्यके तेजसे त्रिभुवन उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार व्यासदेवकी बुद्धिसे व्याप्त होनेके कारण यह विश्व प्रकाशित हुआ है। अथवा जिस प्रकार अच्छी और उपजाऊ भूमिमें बीज बोनेसे वे आपसे आप बढ़ते और फैलते हैं, उसी प्रकार इस भारत ग्रन्थमें सब विषय बहुत अच्छी तरह सुशोभित हुए हैं। अथवा जिस प्रकार नगरमें निवास करनेके कारण मनुष्य सहजमें ही बहुश्रुत और सभ्य हो जाता है, उसी प्रकार सारा जगत व्यासदेवकी वाणीसे उज्ज्वल और स्पष्ट हो गया है। अथवा जिस प्रकार युवावस्थाके आरम्भमें स्त्रीके अंगोंमें लावण्य की नई और अपूर्व शोभा प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार वसन्त ऋतुका आगमन होने-पर उपवनकी भूमिके छोटे-बड़े सभी वृक्षों और पौधोंपर वन-श्रीका भांडार आपसे आप आकर एकत्र हो जाता है, अथवा जिस प्रकार सोनेका डला देखनेसे उसमें आकारकी कोई विशेषता नहीं दिखाई देती, परन्तु जब उसके अलङ्कार बन जाते हैं, तब उसकी सच्ची शोभा दिखाई पड़ती है, इसी प्रकार व्यासदेवकी वाणीके अलङ्कारोंसे सुशोभित होनेके कारण इसे अपूर्व सौन्दर्य प्राप्त हुआ है। और कदाचित् इसी बातका विचार अपने मनमें करके इतिहासने इस कथाका आश्रय लिया है। और समस्त पुराणोंने अपने लिए उपयुक्त मान प्राप्त करनेके विचारसे संसारमें अपनी लघुता स्वीकृत करके इस भारत ग्रन्थमें आख्यानोंका रूप ग्रहण किया है। इसी लिए लोग यह कहने लग गये हैं कि जो बात भारतमें नहीं है, वह तीनों लोकोंमें कहीं नहीं है; और संसारमें इस लोकोक्तिका प्रचार हो गया है कि—"व्यासोच्छिष्टं जगत्त्रयं"। इस प्रकार जो यह रस-पूर्ण कथा संसारमें परमार्थका मूल-स्थान बन गई है, वह कथा वैशम्पायन मुनिने राजा जनमेजयसे निवेदन की है। इसलिए आप लोग यह कथा सावधान होकर सुनें जो अद्वितीय, श्रेष्ठ, परम पुण्यशील, अप्रतिम और परम शुभ गतिका निवास-स्थान है। अब इस भारत ग्रन्थ रूपी कमलमें गीता नामका वह प्रकरण पराग ही है जिसका उपदेश श्रीकृष्णने अर्जुनको किया था। अथवा समस्त साहित्यका मन्थन करके व्यासदेवकी बुद्धिने यह गीता रूपी अवर्णनीय अमृत निकाला है। फिर यह नवनीत ज्ञानकी अग्निपर विवेक-पूर्वक तपाया गया है और उसके अच्छी तरह पक जानेके कारण बढ़िया सुगन्धित घी तैयार हुआ है। विरागी जिसकी इच्छा करते हैं, सन्त जिसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं और पूर्ण ब्रह्मज्ञानी जिसमें "अहमेव ब्रह्मास्मि" की भावना रखकर रमण करते हैं, भक्त जिसका श्रवण करते हैं, जिसकी त्रिभुवनमें सबसे पहले वन्दना होती है और जो भीष्म पर्वमें कथाके रूपमें कही गई है, जिसे लोग भगवद्गीता कहते हैं, ब्रह्मा और शंकर जिसकी स्तुति करते हैं और सनकादिक जिसका आदरपूर्वक सेवन करते हैं, उस

कथाके माधुर्यका श्रोताओंको अपना मन कोमल करके उसी प्रकार अनुभव करना चाहिए (उसी प्रकार सुनना चाहिए), जिस प्रकार चकोरके बच्चे मनोयोगपूर्वक शरद् ऋतुकी कोमल चन्द्र-कलाओंके कोमल सुधा-कण चुनते हैं। यह कथा वास्तवमें बिना शब्दोंकी सहायताके ही कही जाती है, इन्द्रियोंके बिना पता लगे ही इसका अनुभव होता है और कानों तक शब्दोंके पहुँचनेके पहले ही इसके तत्व-सिद्धान्तका आकलन किया जाता है। भ्रमर जिस प्रकार कमलोंमेंका पराग ले जाता है और कमल-दलोंको इस बातका पता भी नहीं लगने पाता, उसी प्रकार इस ग्रन्थको श्रवण करनेवाले लोग भी इसका तत्व ग्रहण करते हैं। केवल कुमुदिनी ही यह बात जानती है कि किस प्रकार बिना अपना स्थान छोड़े, उदित होते हुए चन्द्रमाका आलिंगन किया जाता है और किस प्रकार उसके प्रेमका अनुभव किया जाता है। इसी लिए जिसका अन्तःकरण इस प्रकारकी गम्भीर वृत्तिसे निश्चल हो गया हो, वही गीताका प्रकरण जान सकता है। गीता सुननेके लिए जो लोग अर्जुनकी पंक्तिमें बैठनेके योग्य हों, उन्हीं सन्तोंको कृपा कर इस कथाकी ओर ध्यान देना चाहिए। कुछ लोगोंको ऐसा जान पड़ेगा कि मैंने कुछ अधिक धृष्टता की है; पर वास्तवमें ऐसी बात नहीं है। हे श्रोतागण, आप लोग गम्भीर और उदार अन्तःकरणके हैं, इसी लिए मैंने आपके चरणोंमें नम्र होकर यह प्रार्थना की है। माता-पिताका यह स्वभाव ही होता है कि लड़का यदि तोतली बोलीमें कोई बात कहे तो वे प्रसन्न और सन्तुष्ट ही होते हैं। इसी प्रकार जब आप लोगोंने मेरा अंगीकार किया है और मुझे 'अपना' कहा है, तो फिर मुझे इस बातकी प्रार्थना करनेकी क्या आवश्यकता है कि यदि मुझसे कुछ त्रुटियाँ हों तो आप लोग उन्हें सहन करें। परन्तु मुझसे एक और भी अपराध हो गया है; और वह यह कि मैं गीताका अर्थ स्पष्ट करनेका साहस कर रहा हूँ। और मेरी प्रार्थना है कि आप लोग वह स्पष्टीकरण सावधान होकर सुनें। यह कार्य करनेमें कितना कठिन है, इसका विचार न करके मेरे मनने अवश्य ही ढिठाई की है; और नहीं तो सूर्यके तेजके सामने जुगनूँकी क्या बिसात है? मुझ सरीखे अज्ञानका इस कार्यमें प्रवृत्त होना वैसा ही है, जैसा किसी टिटिहरीका अपनी चोंचकी सहायतासे समुद्रको नापनेका प्रयत्न। यदि कोई आकाशको आच्छादित करना चाहे तो उस आच्छादित करनेवालेके लिए आकाशसे भी बड़े होनेकी आवश्यकता होती है। और जब मैं इस बातका विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैंने जो यह काम अपने हाथमें लिया है, वह मेरी सामर्थ्यके बाहर ही है। जिस समय स्वयं शंकरजी गीताके अर्थकी महत्ता या गम्भीरताका वर्णन कर रहे थे, उस समय पार्वतीको कुतूहल हुआ था और उन्होंने पूछा था। उस पर शंकरजीने कहा था—"हे भवानी, तुम्हारे स्वरूपके समान ही यह गीता-तत्व अज्ञेय और नित्य नवीन है"। जिन सर्वेश्वर आदि-नारायणकी निद्राके खर्राटोंसे ही वेदार्थका विस्तार हुआ था, उन्होंने इस गीताका रहस्य भी बतलाया था। अतः जो कार्य इतना असीम हो और जिसमें वेदोंकी मति भी काम न करती हो, उसमें मुझ सरीखे अल्प और अत्यन्त मन्द बुद्धिवाले व्यक्तिका भला कहाँ ठिकाना लग सकता है! इस असीम गीता-तत्वका आकलन भला कैसे किया जा सकता है? इस प्रचण्ड

अलौकिक तेजको भला कौन अधिक उज्ज्वल कर सकता है! एक मच्छड़ अपनी मुट्ठीमें आकाशको कैसे ले सकता है? परंतु ऐसी अवस्थामें भी एक ऐसा आधार है जिसकी सहायतासे मैं अपने आपको बलवान् समझता हूँ। और मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह आधार यही है कि श्री गुरु निवृत्तिनाथ मेरे अनुकूल हैं। यद्यपि सामान्यतः मैं मूर्ख और विवेक-हीन हूँ, परन्तु फिर भी सन्त-कृपाका दीपक तेजस्वी और स्पष्ट है। केवल पारसमें ही यह शक्ति होती है कि वह लोहेको सोना बना सके और केवल अमृत ही मृतकको फिरसे जीवित कर सकता है। यदि स्वयं सरस्वती ही प्रसन्न हो जायँ तो गूँगेमें भी बोलने की शक्ति आ जाती है। और कुछ वस्तुओंमें भी इसी प्रकारकी विशिष्ट शक्ति होती है और उसी शक्तिके अनुसार परिणाम या कार्य भी होता है। अतः इसमें आश्चर्य करनेकी कोई बात नहीं है। जिसकी माता कामधेनुके समान हो, उसे भला किस बातकी कमी हो सकती है! इसी लिए मैं इस ग्रन्थको रचना करनेको उद्यत हुआ हूँ। इसी लिए मैं आप लोगोंसे प्रार्थना करता हूँ कि यदि इसमें कोई त्रुटि हो तो उसकी पूर्ति आप लोग कर लें; और यदि इसमें कोई बात अधिक हो तो उसे प्रसंगोचित कर लें। अच्छा तो अब आप लोग इस ओर ध्यान दें, क्योंकि जब आप लोग मुझे बोलनेमें प्रवृत्त करेंगे, तभी मैं बोल सकूँगा। यह बात उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार कठपुतलियों का चलना-फिरना और नाचना उसके नचानेवाले सूत्रधार पर अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार मैं भी साधु-सन्तोंका अनुगृहीत और उन्हींकी कृपा पर आश्रित हूँ। मैं पूर्ण रूपसे उन्हीं लोगोंकी आज्ञाके अनुसार चलनेवाला हूँ। इसलिए जिस प्रकार आप लोगोंको अच्छा लगे, उसी प्रकार आप लोग मुझे अलंकारोंसे मंडित करें। इतनेमें श्री गुरुजीने कहा - "बस करो, ये सब बातें कहनेकी तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं है। अब तुम जल्दीसे अपना ध्यान ग्रन्थकी ओर लगाओ"। गुरुजीके ये वचन निवृत्ति-दास ज्ञानदेवके लिए बहुत आनन्ददायी हुए और वह कहने लगा—"अब सब लोग शान्त चित्तसे और सावधान होकर सुनें।"

धृतराष्ट्र उवाच—

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥ १ ॥

पुत्र-प्रेमके कारण मोहमें पड़े हुए धृतराष्ट्र पूछने लगे—"हे संजय, कुरुक्षेत्रकी बातें मुझे बतलाओ। जिस क्षेत्रको लोग धर्म-क्षेत्र अर्थात् धर्मका स्थान कहते हैं, वहाँ पांडव और मेरे लड़के युद्ध करनेके लिए गये हुए हैं। अतः अब तुम मुझे जल्दी यह बताओ कि इतने समयमें उन लोगोंने आपसमें क्या क्या किया"।

संजय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥
पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥

इसपर संजयने कहा— विश्व-प्रलयके समय जिस प्रकार काल अपना मुँह फैलाता है, उसी प्रकार पांडवोंकी सेना क्षुब्ध हो गई। जिस प्रकार कालकूट क्रुद्ध होकर चारों ओर फैल जाता है, उसी प्रकार वह बहुत बड़ी सेना एक साथ ही क्रुद्ध और क्षुब्ध हो गई। फिर भला उसे कौन रोक सकता था! अथवा जिस प्रकार प्रलयकी वायुसे बलवान् होकर बड़वानल क्षुब्ध होकर और समुद्रको सोखकर आकाश तक फैलने लगता है। उसी प्रकार अनेक पंक्तियोंकी व्यूह-रचनासे सुघटित वह दुर्दमनीय सेना उस समय बहुत ही भीषण जान पड़ने लगी। परन्तु जिस प्रकार हाथीके बच्चेको सिंह कोई चीज नहीं समझता, उसी प्रकार दुर्योधनने उस सेनाको देखकर तुच्छ समझा। इसके उपरान्त वह द्रोणके पास आकर कहने लगा—"आपने देखा कि पांडवोंकी सेना कैसे आवेशमें आयी हुई है? उस सेनाके भिन्न भिन्न व्यूह मानों चलते-फिरते पहाड़ी किले ही जान पड़ते हैं। ये व्यूह उस द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नके रचे हुए हैं, हे आचार्य, जिसे आपने शिक्षा दी और जिसे आपने युद्ध-विद्यासे मंडित किया। देखिये उसी धृष्टद्युम्नने पांडवोंके सेना-सागरका कैसा विस्तार किया है

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥

इस सेनामें और भी ऐसे अलौकिक वीर हैं जो शस्त्रास्त्रकी विद्यामें पारंगत हैं और क्षात्र-धर्ममें भी पूरे हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए मैं आपको उन लोगोंके नाम बतलाता हूँ जो बलमें, अभिमानमें और पराक्रममें बिलकुल भीम और अर्जुनकी बराबरीके ही हैं। इस सेनामें महायोद्धा युयुधान और विराट तथा महारथी वीरश्रेष्ठ द्रुपद भी आये हैं।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

देखिये चेकितान, धृष्टकेतु, पराक्रमी वीर काशीराज, उत्तमौजा और नृप-श्रेष्ठ शैब्य भी यहाँ उपस्थित हैं। और देखिये, वह कुन्तिभोज है और वह युधामन्यु है और ये इधर पुरुजित आदि दूसरे राजा लोग हैं। दुर्योधनने द्रोणसे कहा—यह देखिये, सुभद्राके हृदयको आनन्द देनेवाला और देखनेमें दूसरे तरुण अर्जुनके समान जान पड़नेवाला अभिमन्यु है। और इनके सिवा द्रौपदीके पुत्र तथा दूसरे ऐसे बहुतसे वीर महारथी यहाँ एकत्र हैं जिनकी संख्या का अन्त ही नहीं है।

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते॥ ७॥
भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च॥ ८॥

अब प्रसंगवश मैं अपनी सेनाओंके नेताओं और प्रमुख तथा प्रसिद्ध शूर-वीरोंके नाम

भी बतलाता हूँ, सुनिये। आपके सरीखे जो प्रथम श्रेणीके मुख्य वीर हैं, उनमेंसे दिग्दर्शन मात्रके लिए केवल एक दो वीरोंके नाम बतलाता हूँ। ये गंगापुत्र भीष्मपितामह हैं जिनके प्रतापका तेज सूर्यके तेजके समान है। और यह वीरकर्ण तो शत्रु-रूपी हाथियोंका संहार करनेवाला सिंह ही है। इनमेंसे प्रत्येक ऐसा है कि यदि वह चाहे तो अकेला ही सारे विश्वका संहार कर सकता है। क्या ये कृपाचार्य अकेले ही सारे विश्वका संहार नहीं कर सकते? और देखिये, यह वीर विकर्ण है और वह उधर अश्वत्थामा है जिनकी धाक स्वयं सर्व-विध्वंसक काल भी मानता है। और समितिंजय तथा सौमदत्ति आदि बहुतसे ऐसे वीर हैं जिनकी सामर्थ्यकी माप स्वयं ब्रह्माके किये भी नहीं हो सकती।

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः॥ ९॥

जो शस्त्र-विद्यामें निष्णात हैं, जो मन्त्र-विद्यामें स्वयं अवतार ही जान पड़ते हैं, जिन्होंने समस्त अस्त्र-समूहोंको संसारमें प्रचलित किया है, और जिनके अंगोंमें पूरा पूरा प्रताप छाया हुआ है, वे सब अप्रतिम वीर जी-जानसे मेरे अनुयायी हुए हैं। जिस प्रकार पतिव्रताका हृदय अपने पतिको छोड़कर औरोंको कभी स्पर्श भी नहीं करता, उसी प्रकार इन महायोद्धाओंके लिए मैं ही भक्ति-सर्वस्व हो गया हूँ। मेरे कार्यके आगे ये लोग अपने प्राणोंको भी कोई चीज नहीं समझते और इस प्रकार ये लोग स्वामिनिष्ठामें निःसीम और निर्दोष हैं। ये लोग युद्ध-कौशल जानते हैं और युद्ध-कलाकी कीर्त्तिको इन्हीं लोगोंने जीवित रखा है। यहाँ तक कि क्षत्रियोंके बानेका उद्‌गम इन्हीं लोगोंसे हुआ है। और हमारी सेनामें जो ऐसे सर्वोपरि वीर हैं, उनकी गिनती कहाँ तक की जाय! बस समझ लीजिये कि वे असंख्य ही हैं।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्॥ १०॥

समस्त क्षत्रियोंमें जो श्रेष्ठ और संसारमें महावीर पितामह भीष्म हैं, उन्हें सेनापति बनाया गया है। इन्हीं भीष्मके बलसे आच्छादित यह सेना एक किलेकी तरह बनी हुई दिखाई देती है और इसके सामने यह त्रिभुवन भी तुच्छ जान पड़ता है। एक तो समुद्र यों ही सब लोगोंको अलंघ्य जान पड़ता है, तिस पर जैसे उसे बड़वानलकी सहायता मिल जाय, अथवा जिस प्रकार प्रलयकी अग्नि और अत्यन्त प्रबल वायुका संयोग हो जाय, उसी प्रकारकी अवस्था इन गंगा-पुत्र भीष्मके सेनापति होनेसे हो गयी है। फिर भला हमारी सेनाके साथ कौन लड़ सकता है? और फिर पांडवोंकी यह सेना तो बहुत ही थोड़ी है। पर यह छोटी-सी सेना भी मुझे अपरम्पार दिखाई देती है। और इस सेनाका नायक वह प्रबल और उद्दंड भीमसेन बना है।" इतना कहकर दुर्योधनने अपनी बात समाप्त की।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि॥ ११॥

इसके उपरान्त उसने फिर समस्त सैनिकोंसे कहा—"अब तुम लोग अपना अपना

बल व्यवस्थित करो। जिन जिन लोगोंको सेनाकी जितनी जितनी अक्षौहिणियाँ दी गई हैं और उनकी रक्षाके लिए जिस प्रकार महारथियोंका विभाग किया गया है, उसीके अनुसार सब लोग अपनी अपनी सेनाकी व्यवस्था करें और सब लोग भीष्मकी आज्ञा मानें। इसके उपरान्त दुर्योधनने द्रोणाचार्यकी ओर घूमकर कहा—"सुनो, तुम सब लोग केवल इन भीष्मकी रक्षा करो। जिस प्रकार मैं इनका सम्मान करता हूँ, उसी प्रकार तुम सब लोग भी इनका सम्मान करो; क्योंकि हमारी इतनी बड़ी सेनाकी शक्ति केवल इन्हीं पर निर्भर है।"

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥

दुर्योधनकी ये बातें सुनकर सेनापति भीष्म बहुत सन्तुष्ट हुए और उन्होंने प्रबल रण-घोष किया। उस विलक्षण घोषसे दोनों ही सेनाओंमें ऐसा शब्द किया कि उसकी प्रतिध्वनि कहीं समाती ही नहीं थी। उस प्रतिध्वनिके समान ही श्रीमान् भीष्मने अपनी वीर्य-स्फूर्तिके बलसे अपना अलौकिक शंख भी फूँका। जब उस रण-घोषमें यह शंख-घोष मिल गया, तब मानों त्रैलोक्यके कान बहरे हो गये और ऐसा जान पड़ा कि आकाश ही फटकर जमीन पर आ गिरा हो। उस समय आकाश गरज उठा, समुद्र ऊपर उछलने लगा और सारे विश्वके स्थावर और जंगम त्रस्त होकर काँपने लगे। इस महाघोष के गर्जनसे पर्वतोंकी गुफाएँ तक गूँजने लगीं और उसके साथ ही सेनाओंमें रण-वाद्य खूब जोरोंसे बजने लगे।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥

असंख्य भयानक और कर्कश बाजे बजने लगे जिनके शब्द सुनकर बड़े बड़े वीरों-को भी ऐसा जान पड़ने लगा कि प्रलयका काल आ गया। फिर भला कायरोंकी तो बात ही न पूछिए! जो लोग कच्चे जीके और कम साहसवाले थे, वे सूक्ष्म कणोंकी तरह उड़ गये। यहाँ तक कि स्वयं काल भी ऐसा भयभीत हो गया कि उसे सामने आनेका साहस ही नहीं होता था। नौबतें, नगाड़े, मृदङ्ग, शंख, झाँझें और तुरहियाँ जोर जोरसे बजने लगीं और उनके शोरमें पराक्रमी वीरोंका रण-घोष मिलने लगा। कोई अपने भुज-दंडों पर ताल ठोंकने लगा और कोई युद्धके लिए ललकारने लगा। जिस स्थानपर मदोन्मत्त हाथी छूटकर आ पहुँचे थे, उस स्थानपर बहुतसे लोगोंके खड़े खड़े ही प्राण निकल गये। अच्छे अच्छे शूरोंके दाँत बैठ गये और उनके मुँहसे आवाज तक न निकली; और जो लोग बड़ी बड़ी प्रतिज्ञाएँ करके आये थे, वे भी ठंढे पड़ गये। रण-वाद्योंका ऐसा विलक्षण और भयानक शब्द सुनकर ब्रह्मा भी भयभीत हो गया और देवता लोग कहने लगे—"आज तो कदाचित् प्रलयकाल ही आ पहुँचा।"

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥
अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥

उधर तो वह भयंकर रण-कोलाहल सुनकर स्वर्गमें इस प्रकारकी बातें हो रही थीं, पर इधर पांडवोंकी सेनामें क्या हो रहा था? वह भी सुनिये। जो रथ रण-विजयका मानों सार-सर्वस्व था अथवा जो महातेजका भांडार ही था, जिसमें वेगवत्तामें गरुड़के सगे भाइयोंके-से चार घोड़े जुते हुए थे, अथवा जो उड़ते हुए मेरु पर्वतके समान जान पड़ता था, जिसके तेजसे दसों दिशाएँ भर गई थीं और जिसपर वैकुण्ठके स्वामी स्वयं नारायण ही अश्व-वाहक बनकर बैठे हुए थे, उस रथके गुणोंका वर्णन भला कहाँ तक हो सकता है! उसकी पताका पर जो वानर था, वह तो प्रत्यक्ष शंकर ही था और अर्जुन-के पास बैठे हुए शार्ङ्गधर श्रीकृष्ण ही सारथीका काम कर रहे थे। देखिये, यह भी कैसे आश्चर्यकी बात है! उन प्रभुका अपने भक्तोंके प्रति इतना अद्भुत प्रेम है कि उसी प्रेमसे बद्ध होकर वे अपने भक्त अर्जुनका स्वयं ही सारथ्य कर रहे हैं। कृष्णने अपने दास अर्जुन को तो अपने पीछे रख लिया और आप उसके आगे हो गये और तब सहज लीलासे अपना पांचजन्य नामक शंख फूँका। पर सहज भावसे फूँके हुए शंखका महाघोष भी बहुत ही गम्भीरतापूर्वक गरजा और जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही सब नक्षत्र लुप्त हो जाते हैं, उसी प्रकार रण-वाद्योंका वह सब कोलाहल, जो कौरवोंकी सेनामें हो रहा था, न जाने कहाँ छिपकर बन्द हो गया। इसी प्रकार धनुर्धर अर्जुनने भी अत्यन्त गम्भीरशब्द-वाला अपना देवदत्त नामक शंख बजाया। जिस समय ये दोनों भयंकर शंख-नाद मिलकर एक हुए, तब ऐसा जान पड़ने लगा कि कहीं इस ब्रह्मांडके सैकड़ों-हजारों टुकड़े तो नहीं हो जायँगे। इतनेमें भीमसेनको भी आवेश हो आया और उसने महाकालके समान क्षुब्ध होकर अपना पौंड्र नामक महाशंख बजाया। वह शंख-नाद प्रलय कालके मेघोंके समान गम्भीरतापूर्वक गरजा। बस उसी समय राजा युधिष्ठिरने भी अपना अनन्तविजय नामक शंख बजाया। इसी प्रकार नकुलने अपना सुघोष नामक शंख और सहदेवने अपना मणि पुष्पक नामक शंख भी बजाया और इन दोनों शंखोंके नादसे स्वयं यम भी घबरा गया।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥ १८ ॥
स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥

उस समय वहाँ द्रुपद, द्रौपदेय, महाबाहु काशिराज, अर्जुन-पुत्र अजेय सात्यकी,

धृष्टद्युम्न आदि अनेक राजा उपस्थित थे। शिखंडी भी था और विराट आदि दूसरे बहुत से राजा भी थे। उनमें जो मुख्य मुख्य शूर सेनापति थे, उन सबने एक साथ ही अपना अपना शंख बजाया। उन सबका भयंकर नाद सुनकर पृथ्वी को धारण करनेवाले शेष-नाग और महाकूर्म भी इतने घबरा गये कि वे अपने सिरसे पृथ्वीका भार फेंकनेके लिए उद्यत हो गये। उस समय तीनों भुवन डगमगाने लगे, मेरु और मन्दर आदि पर्वत हिलने लगे और समुद्र तो कैलाशके बराबर ऊँचा उछलने लगा। पृथ्वीतल मानों उलटने लगा और आकाशकी तो ऐसी बुरी दशा हो गई कि मानों उसमेंके नक्षत्र नीचे गिरने लगे। उस समय सत्यलोकमें यह कोलाहल मचा—"अब यह सारी सृष्टि डूब गई और देवताओंका आश्रय जाता रहा।" दिन होते हुए भी ऐसा जान पड़ता था कि मानों सूर्य है ही नहीं; और त्रिभुवनमें इस प्रकारका हाहाकार मच गया कि मानों प्रलय काल सामने आ उपस्थित हुआ हो। उस समय आदि पुरुष श्रीकृष्णको भी यह आशंका होने लगी कि अब सचमुच इस विश्वका कहीं अन्त न हो जाय; इसलिए उन्होंने वह क्षोभ शान्त किया, जिससे यह विश्व बच गया। नहीं तो कृष्ण आदिके शंखोंका नाद होते ही सचमुच युगान्त हो गया होता। यद्यपि वह नाद तो शान्त हो गया था, परन्तु फिर भी उसकी प्रतिध्वनि अभी तक हो ही रही थी और उस प्रतिध्वनिने ही मानों कौरवों की सेनाका नाश कर डाला। जिस प्रकार हाथियोंके झुंडमें सिंह बहुत ही सहजमें संचार करता है और जिस हाथीको चाहता है, उधर उसीको मार डालता है, उसी प्रकार वह प्रतिध्वनि भी वीरोंका हृदय फाड़ती हुई चारो तरफ फैलने लगी। उसी प्रतिध्वनिकी गर्जना सुनकर खड़े खड़े ही उन लोगोंके धैर्य छूट गये और वे एक दूसरेसे कहने लगे—"अरे सावधान हो। अरे सावधान हो।"

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः॥ २०॥

परन्तु उनमें जो महारथी वीर अपने बल और पराक्रममें पक्के थे, उन्होंने सैनिकोंको फिर जैसे तैसे सँभाला। वे सब लोग मिलकर आगे बढ़े और उन्होंने दूने आवेशसे आक्रमण किया। इन सेनाओंके कारण तीनों भुवन त्रस्त होने लगे। धनुर्धारियोंने प्रलय कालके मेघोंकी तरह बाणोंकी निरन्तर वृष्टि आरम्भ की। यह देखकर अर्जुनको बहुत सन्तोष हुआ और तब उसने बहुत उत्सुकतापूर्वक उस सेना पर दृष्टि डाली। तब उसे युद्धके लिए सजे-सजाये सब कौरव दिखाई पड़े और तब उस पांडु-कुमार अर्जुनने भी सहजमें अपना धनुष उठा लिया।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।

अर्जुन उवाच—

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥ २१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे॥ २२॥

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥ २३॥

उस समय अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"देव, अब आप रथको जल्दी ले चलकर दोनों सेनाओंके मध्यमें पहुँचा दें। और यह इसलिए कि जहाँ युद्ध करनेके लिए सब शूर-योद्धा आये हुए हैं, वहाँ पहुँचकर मैं जरा उन सब लोगोंको एक बार देखना चाहता हूँ। यहाँ आये तो सभी लोग हैं। पर पहले यह देख लेना चाहिए कि इस युद्धमें मैं स्वयं किसके साथ लड़ूँ। प्रायः ये कौरव बड़े मूर्ख और दुष्ट स्वभावके हैं, इसलिए सम्भव है कि पराक्रम न होने पर भी ये लोग यहाँ युद्ध करनेके लिए चले आये हों। इन लोगोंको युद्ध करनेका चाव तो बहुत है, पर युद्ध के लिए जिस धैर्यकी आवश्यकता होती है, वह इन लोगों में नहीं है।" अर्जुनकी यह बात धृतराष्ट्रको सुनाकर संजयने कहा—

संजय उवाच—

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥ २४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति॥ २५॥
तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ २६॥
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ २७॥

"महाराज, सुनिये; ज्योंही अर्जुनने यह बात कही, त्योंही श्रीकृष्णने रथ हाँक दिया, और ले जाकर दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा कर दिया। वहाँ पासमें भीष्म, द्रोण आदि दूसरे बहुत-से राजा भी थे। उसी स्थानपर रथ रुकवाकर अर्जुन बड़ी उत्सुकतासे वह सारी सेना देखने लगा। इसके उपरान्त उसने भगवानसे कहा—"हे देव, देखिये, ये सब तो मेरे ही गोत्रज और गुरु हैं।" अर्जुनके ये शब्द सुनकर श्रीकृष्णको क्षण भरके लिए कुछ आश्चर्य हुआ। भगवानने अपने मनमें सोचा—"न जाने इस समय इसके मनमें क्या बात आई है। पर कोई बात आई अवश्य है।" वे अपने मनमें भविष्यके सम्बन्धकी सब बातोंका विचार करने लगे। उसी समय उन सर्वान्तरगामी भगवानको सब बातें विदित हो गईं। पर उस समय वे चुपचाप रहे। उधर अर्जुनको अपने सामने अपने सब गुरुजन, पितामह, आचार्य, गोत्रज और मामे आदि दिखाई पड़े। उसने वहाँ अपने अनेक इष्ट-मित्र और साथ ही अपने कुलके अनेक युवक भी देखे। उन लोगोंमें उसके ससुरालवाले भी आये हुए थे। अर्जुनको उस समूहमें अपने परम प्रिय, स्नेही, ससुराल-वाले, दूसरे सगे-सम्बन्धी, भतीजे और नाती-पोते आदि भी दिखाई दिये। केवल ऐसे ही

लोग नहीं थे जिनपर उसने उपकार किये थे अथवा जिन्होंने उसे समय समय पर अनेक संकटोंसे बचाया था, बल्कि बड़े और छोटे सभी सम्बन्धी वहाँ उपस्थित थे। इस प्रकार दोनों सेनाओंमें उसे युद्ध के लिए सजे-सजाये अपने गोत्रवाले ही दिखाई पड़े। इससे अर्जुन बहुत घबराया और उसके मनमें दयाका आविर्भाव हुआ। अर्जुनके मनकी वीर वृत्तिने कदाचित् यह सोचा होगा कि मनमें दयाका आविर्भाव होना ही मानो मेरा अपमान है। और यह सोचकर वह वीर वृत्ति अर्जुनके अन्तःकरणको छोड़कर चली गई। कारण यह कि जो उत्तम कुलकी और गुण-लावण्य आदिसे युक्त स्त्रियाँ होती हैं, वे अपने घरमें पराई स्त्रियोंका डेरा जमना सहन नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार किसी नई स्त्रीके फेरमें पड़कर कामी पुरुष अपनी धर्मपत्नीको भूल जाता है और तब भ्रमिष्ठोंकी तरह बिना समझे-बूझे अनुचित कार्य करने लगता है, अथवा जिस प्रकार तपोबलसे यथेष्ट वैभव हो जाने पर बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और तब मनुष्यको वैराग्यके साधनका ध्यान नहीं रह जाता, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था उस समय अर्जुनकी भी हुई थी। और इसका कारण यह था कि उस समय जो वीरता उसके मनमें निवास कर रही थी, उसे उसने निकाल दिया था और अपना अन्तःकरण करुणाके अधीन कर दिया था। जिस प्रकार कोई मान्त्रिक मन्त्रोंका उच्चारण करनेमें प्रमाद कर बैठता है और तब उलटे उसी पर भूत सवार हो जाता है, ठीक उसी प्रकार इस समय अर्जुनपर महामोह सवार हो गया था। इसी लिए अर्जुनका स्वाभाविक धैर्य नष्ट हो गया और उसका अन्तःकरण द्रवित होने लगा। जिस प्रकार चन्द्र-कलाके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है, उसी प्रकार दयाके स्पर्शसे अर्जुन भी द्रवित होकर खेद-युक्त वाणीसे भगवानसे कहने लगा—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥ २८ ॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥ २९ ॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥ ३० ॥

"हे देव, सुनिये। यहाँ जो लोग एकत्र हुए हैं, उन सबको मैंने देख लिया। ये सब लोग तो मेरे ही गोत्रके दिखाई पड़ते हैं। यह ठीक है कि ये सब लोग युद्ध करनेके लिए प्रस्तुत हैं; पर मेरे लिए भी युद्ध करनेको प्रस्तुत होना कहाँ तक उचित होगा? मैं तो युद्धका नाम लेते ही बिलकुल घबरा जाता हूँ। मेरी अपनी ही सुध-बुध बिलकुल जाती रहती है। मन और बुद्धि दोनों चकराने लगते हैं। देखिये, मेरा शरीर थरथर काँप रहा है, मुँह सूखने लग गया है और सारा शरीर मानो गला जा रहा है। मेरे सारे शरीरमें रोमांच हो आया है, मेरे अन्तःकरणमें अत्यन्त व्यथा हो रही है और इससे गांडीव धनुष धारण करनेवाला मेरा यह हाथ ढीला पड़ रहा है। मेरा मन इस समय मोहसे इतना अधिक ग्रस्त हो गया है कि मुझे इस बातका भी पता नहीं चला कि यह

गांडीव केवल ढीला ही नहीं हो गया बल्कि मेरे हाथसे छूट भी गया।" वह गांडीव वज्रसे भी बढ़कर कठोर, असह्य और भयंकर था; परन्तु इस स्नेह-जनित मोहकी अद्भुत शक्ति उस गांडीवकी शक्तिसे भी बढ़कर सिद्ध हुई। जिस अर्जुनने युद्धमें शंकरको भी परास्त किया था और जिसने निवात-कवच नामक असुरको भी नष्ट कर डाला था, उसी अर्जुनको इस मोहने क्षण भरमें पूर्ण रूपसे व्याप्त कर लिया। भ्रमर कड़ीसे कड़ी लकड़ीको भी सहजमें छेद डालता है, परन्तु कोमल कमलकी कलीमें वह फँस जाता है। फिर चाहे उसके प्राण निकलनेकी ही नौबत क्यों न आ जाय, पर वह उस कमलके दलोंको नहीं भेद सकता। ठीक उसी प्रकार स्नेह-वृत्तिकी कोमलतामें भी कठोरता आ जाती है। संजयने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, यह वृत्ति आदि नारायणकी माया है; इसलिये स्वयं ब्रह्मा भी इसे अपने वशमें नहीं कर सकते। इसी लिए उस वृत्तिने अर्जुनको भी भ्रममें डाल दिया। अब आगे संजय कहते हैं—हे महाराज, सुनिये, इसके उपरान्त अर्जुनने वहाँ अपने गोत्रके सब लोगोंको देखकर युद्धके सम्बन्धमें अपना विचार बिलकुल छोड़ दिया। यह नहीं कहा जा सकता कि उसके मनमें दयाका यह संचार किस प्रकार हुआ। इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्णसे कहा—"अब हम लोगोंका यहाँ ठहरना ठीक नहीं है। मेरा मन बहुत व्याकुल हो गया है। जब मैं इस बातकी कल्पना करता हूँ कि मैं इन सब लोगोंका वध करूँ, तो फिर मेरे मुँहसे शब्द भी नहीं निकलता।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

यदि मैं कौरवोंको मारूँ तो धर्मराज युधिष्ठिर आदिको भी क्यों न मारूँ? क्या ये दोनों ही मेरे गोत्रज नहीं हैं? इसलिए भाड़ में जाय यह युद्ध। मेरी तो समझमें ही नहीं आता कि यह भयंकर पाप किये बिना मेरा कौन-सा काम रुकता है। हे देव, अनेक प्रकारसे विचार करने पर मुझे तो यही जान पड़ता है कि यहाँ युद्ध करना ही अनुचित होगा। बल्कि यदि यह युद्ध न किया जाय, तभी कुछ हित साधन हो तो हो सकता है।

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
तइमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥

इसलिए लाभकी आशा मुझे कुछ भी नहीं करना चाहिए। यह सब अवस्था देखकर तो मैं सोचता हूँ कि राज्य करनेसे ही क्या लाभ है! इन सब लोगोंकी हत्या करके जो सुख भोगनेको मिले, उन सब सुखोंमें आग लगे!" आगे अर्जुनने कहा—"यदि वे सुख भोगनेको न मिलें तो उस अवस्थामें चाहे जो कुछ हो, वह सब सहन

किया जा सकता है। बल्कि इसके लिए तो यदि प्राण भी देने पड़ें तो वह भी मुझे स्वीकार है। परन्तु यह बात तो मुझे स्वप्नमें भी अच्छी न लगेगी कि पहले तो मैं इन सब लोगोंकी हत्या करूँ और तब स्वयं राज्यके सुख भोगूँ। यदि मैं अपने मनमें इन गुरुजनोंका अनिष्ट करनेका विचार करूँ तो फिर जन्म लेना वृथा है। और फिर उसके बाद यदि मैं जीवित भी रहूँ तो किन लोगोंके लिए? प्रत्येक व्यक्ति जो इच्छा करता है कि मेरे आगे सन्तान हो, क्या उसका फल यही है कि हम अपने गोत्रवालोंका समूल नाश कर डालें? भला यह बात मनमें लाई ही कैसे जा सकती है कि हम इन लोगोंके प्रति वज्रके समान कठोर हों? उलटे जहाँ तक हो सके, हमें इन लोगोंका हित ही करते रहना चाहिए। होना तो यह चाहिये कि हम जो कुछ सम्पादन करें, उन सबका सुख यही लोग भोगें। बल्कि इन लोगोंके कार्यके लिए तो हमें अपना जीवन भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। उचित तो यह है कि हम दसो दिशाओंके राजाओंको जीतकर अपने गोत्रवालोंको ही सन्तुष्ट करें। इस समय हमारे वही सब गोत्रवाले यहाँ एकत्र हैं। परन्तु दैव-योग कुछ ऐसा उलटा आ पड़ा है कि ये लोग स्त्री-बच्चों और धन-सम्पत्ति सबको छोड़कर और अपना जीवन शस्त्रोंकी नोक पर लटकाकर यहाँ आपसमें लड़ मरनेके लिए उद्यत हुए हैं। फिर ऐसे लोगोंका मैं कैसे वध करूँ? मैं किन किन लोगोंपर शस्त्र उठाऊँ? अपने ही लोगों हृदयका मैं कैसे घात करूँ? शायद आपके ध्यानमें यह न आया हो कि ये लोग कौन हैं, पर जिन्होंने मुझपर बहुतसे उपकार किये हैं, वही प्रत्यक्ष भीष्म और द्रोण यहाँ उपस्थित हैं। सब साले, ससुर, मामे और ये सब भाई, लड़के और नाती-पोते आदि हमारे अपने और सम्बन्धी ही यहाँ एकत्र हैं। हे देव, आप सोच देखें कि यहाँ सब लोग बहुत पासके नाते-रिश्तेके लोग ही उपस्थित हैं। इसी लिए इन सब लोगोंके सम्बन्धमें मुँहसे कोई अनिष्ट बात निकालना भी मानों अपनी जिह्वाको कलंकित करना है।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥

इसकी अपेक्षा तो कहीं अच्छा यह है कि ये लोग जो कुछ चाहें, वही कर लें; अथवा ये मुझको ही मार डालें, पर मैं इन लोगोंकी हत्या करनेका विचार भी अपने मनमें न लाऊँ। चाहे मुझे त्रिभुवनका अखंड राज्य भी क्यों न मिले, तो भी मैं कभी ऐसा अनुचित कर्म करनेके लिए उद्यत नहीं हो सकता। यदि मैं आज यहाँ यह काम कर डालूँगा तो फिर मेरे लिए किसके मनमें आदर रह जायगा? और हे श्रीकृष्ण, फिर क्या उस समय मैं सिर उठाकर और निर्भय होकर आपके मुखकी ओर देख सकूँगा?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥

यदि मैं अपने ही कुलके लोगोंका संहार करूँगा तो मैं पापोंका घर बन जाऊँगा; और यहाँ तक कि आप भी मेरे हाथसे निकल जायँगे और मुझे अपने पाससे हटा देंगे। गोत्र-घातके सब पाप आकर मुझे चिमट जायँगे। फिर ऐसी अवस्थामें भला आप किसे

और कहाँ दिखाई देंगे? जिस प्रकार वनमें खूब तेज आग लगी हुई देखकर कोयल वहाँ क्षण भर भी नहीं ठहरती, अथवा कीचड़ से भरा हुआ सरोवर देखकर चकोर उसको स्वीकार नहीं करता, बल्कि उपेक्षापूर्वक उसका परित्याग करके वहाँसे चलता बनता है, ठीक उसी प्रकार, हे देव, जब आप देखेंगे कि मेरे पुण्यका सरोवर बिलकुल सूख गया, तो फिर आप भी मुझपर अपनी कृपाकी छाया करने नहीं आवेंगे।

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ॥ ३७ ॥

इसी लिए मैं यह युद्ध नहीं करूँगा, यहाँ तक कि इस युद्धमें अपने हाथमें शस्त्र भी धारण नहीं करूँगा, क्योंकि ऐसा करना मुझे अनेक प्रकारसे दूषित जान पड़ता है? हे देव, यदि आप ही मुझसे बिछुड़ जायँगे तो फिर मेरे पास रह ही क्या जायगा? भइया कृष्ण, उस दुःखपूर्ण समयमें आपके वियोगके कारण मेरा कलेजा फट जायगा। इसलिए यह बात बिलकुल असम्भव है कि ये कौरव तो मारे जायँ और मैं सब सुखोंका उपभोग करूँ।"

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥ ३९ ॥

अर्जुनने कहा—"ये लोग अभिमानके मदसे अन्धे होकर युद्ध करनेके लिए प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु फिर भी मुझे अपने हितका ध्यान रखना चाहिए। भला मैं यह कैसे कर सकता हूँ कि अपने हाथोंसे ही अपने गोत्रवालोंकी हत्या करूँ? क्या मैं जानबूझकर और आँखें खोलकर यह कालकूट विष पी जाऊँ? यदि रास्तेमें चलते समय कहीं कोई सिंह सामने आ पड़े तो एक ओर हटकर उसे बचा जाना ही अच्छा है। हे देव, भला आप ही बतलाइये कि बढ़िया प्रकाश छोड़कर अँधेरे कुएँमें घुसनेमें कौन-सा लाभ है। अगर सामने आग दिखाई पड़ती हो तब यदि हम उससे बचकर न निकलें तो वह क्षण भरमें हमें जला डालेगी। इसी प्रकार यह प्रत्यक्ष दोष मुझपर आकर पड़ना चाहता है। फिर यह बात जानते हुए भी मैं किस प्रकार इस कृत्य के लिए प्रस्तुत होऊँ?" ये सब बातें कहकर अर्जुनने यह भी कहा—"हे देव, आप जरा मेरी बातोंकी ओर ध्यान दें। अब मैं आपको यह बतलाता हूँ कि यह पाप कितना भयंकर है।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥

"जैसे यदि लकड़ीको लकड़ीपर घिसा जाय तो उससे जो थोड़ी-सी आग निकलती है, वह बढ़कर सारी लकड़ीको जला डालती है। उसी प्रकार जब एक ही गोत्रमें उत्पन्न लोग दुष्टतापूर्वक एक दूसरेका घात करने लगते हैं, तब उस भयंकर महापातकके कारण सारे कुलका नाश हो जाता है। इसी लिए इस पाप-कृत्य से सारा कुलधर्म नष्ट हो जायगा और तब कुलमें अधर्म ही अधर्म रह जायगा।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥ ४१॥

"जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, तब भले और बुरेका विचार करना संभव ही नहीं रह जाता। सब लोग सभी कुछ करने लग जाते हैं और इसलिए विधि और निषेध सब नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार हाथका दीपक गँवाकर अँधेरेमें इधर-उधर भटकना पड़ता है और सीधी-सादी भूमिपर भी लड़खड़ाकर गिरना पड़ता है, उसी प्रकार जिस समय किसी कुलमें कुल-क्षय होता है, उस समय मुख्य सनातन धर्माचार छूट जाता है। फिर ऐसी अवस्थामें पापको छोड़कर दूसरी और कौन-सी बात फूल-फल सकती है? जिस समय आचार और इन्द्रिय-निग्रहका विनाश होता है, उस समय इन्द्रियाँ स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर दौड़ने लगती हैं जिससे कुलीन स्त्रियाँ भी भ्रष्ट हो जाती हैं। श्रेष्ठ लोग जाकर निकृष्टोंमें मिल जाते हैं और उच्च तथा नीच वर्ण आपसमें मिलकर एकाकार हो जाते हैं जिससे जाति-धर्मकी जड़ ही उखड़ जाती है। ऐसे कुलोंमें महापातकोंका उसी प्रकार संचार होने लगता है, जिस प्रकार चौमुहानीपर रखी हुई बलिपर कौओंके झुंड चारों ओरसे आकर एकत्र होते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥ ४२॥

"इसके उपरान्त उस कुलको भी और उसका घात करनेवालोंको भी नरकमें जाकर निवास करना पड़ता है। और फिर यह भी देखिए कि जब इस प्रकार सारा वंश पापोंसे भ्रष्ट हो जाता है, तब उस कुलके स्वर्गवासी पितरोंको भी स्वर्गलोकसे नीचे गिरना पड़ता है। क्योंकि जहाँ नित्य और नैमित्तिक दोनों ही धार्मिक कृत्योंका विनाश हो जाता है, वहाँ श्राद्ध कर्म करके किसे किसीको तिलोदक देने की चिन्ता रह सकती है? ऐसी अवस्थामें पितर लोग क्या करें? वे स्वर्गलोकमें कैसे ठहर सकें? इसलिए वे बेचारे भी अपने कुलके लोगोंके पास नरकमें पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार नाखूनके सिरेपर लगा हुआ सर्पका दंश विषके वेगसे मस्तक तक जा पहुँचता है, उसी प्रकार इस पाप के दोषसे मूल पुरुषों तक सारा कुल ही व्याप्त हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ ४३॥

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम॥ ४४॥

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः॥ ४५॥

"हे देव, इसमें एक और भी महापातक होता है। वह सुनिये। जब इस प्रकार एक कुल पतित हो जाता है, तब उसके दुष्ट संसर्गसे और लोग भी आचार-भ्रष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार हमारे घरमें अचानक लगी हुई आग दूसरोंके घरोंमें भी लगकर और उन्हें

जलाकर राख कर देती है, उसी प्रकार इस कुलका संसर्ग जिन लोगोंके साथ होता है, वे सब लोग भी इस कुलके कारण पातकी हो जाते हैं। इस प्रकार अनेक दोषोंसे ग्रस्त वह कुल फिर केवल भयंकर नरकवासका ही पात्र होता है।" अर्जुनने आगे यह भी कहा—"जब इस प्रकार एक बार वह कुल नरकमें चला जाता है, तब कल्पान्त तक भी वहाँसे उसका छुटकारा नहीं होता। बस कुलका घात करनेसे इसी प्रकार अधोगति होती है जिसका कहीं अन्त नहीं होता। हे देव, आपने मेरी ये अनेक प्रकारकी बातें सुनीं; पर मैं देखता हूँ कि आपकी वृत्तिमें अभी तक कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा। क्या आपने अपना हृदय वज्रका कर लिया है? आप फिर ध्यान देकर सुनें। जिस शरीरके लिए इस राज्य-सुखकी इच्छा की जाती है, वह शरीर आदि सभी क्षण-भंगुर हैं। तो फिर इस दोषको जानते हुए भी क्या हमें उसका परित्याग नहीं करना चाहिए? मैंने जो इन सब बड़े लोगोंका विचार अपने मनमें रखकर इन लोगोंपर दृष्टि डाली है, वही क्या मुझसे कोई छोटा अपराध हुआ है?

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥ ४६॥

"मैं तो समझता हूँ कि अब इसके बाद जीवित रहनेकी अपेक्षा अधिक उत्तम यही है कि मैं अपने शस्त्र फेंक दूँ और इन लोगोंके बाणोंका प्रहार सहर्ष सहन करूँ। यदि ऐसा करनेमें मेरी मृत्यु भी आ जाय तो वह भी अच्छी है। पर मैं यह महापातक नहीं करना चाहता।"

संजय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः॥ ४७॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, उस समय युद्ध-भूमिमें अर्जुनने ये बातें कहीं। अब इसके बाद जो कुछ हुआ, वह भी सुनिये। इसके उपरान्त अर्जुनको अत्यन्त खेद हुआ और उसकी ऐसी अवस्था हो गई जिसे वह सहन न कर सका। उसी दुःखके आवेशमें वह रथ परसे नीचे कूद पड़ा। जिस प्रकार अपने पदसे च्युत किया हुआ राजपुत्र सब प्रकारसे निस्तेज हो जाता है, अथवा राहुसे ग्रस्त होनेके कारण सूर्य प्रभाहीन हो जाता है, अथवा महासिद्धिके लोभमें पड़ा हुआ तपस्वी भ्रमिष्ट होकर फिर विषय-वासनाके जालमें फँस जाता है और दुर्बल हो जाता है, उसी प्रकार रथसे नीचे उतरकर आया हुआ वह अर्जुन मारे दुःखके अत्यन्त जर्जर-सा दिखाई देने लगा। इसके उपरान्त उसने धनुष-बाण रख दिया। उसकी आँखोंसे निरन्तर जल बहने लगा। हे राजन्, बस इस प्रकारकी उसकी अवस्था हो गई।" अर्जुनको दुःखसे व्याप्त देखकर वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्णने उसे किस प्रकार परमार्थका ज्ञान कराया, श्रीनिवृत्ति-नाथका दास ज्ञानदेव कहता है कि इसका सविस्तार वर्णन अगले अध्यायमें होगा जो सुननेमें बहुत ही अद्भुत होगा।

दूसरा अध्याय

संजय उवाच—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥

इसके उपरान्त संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, सुनिये, उस युद्धभूमिमें वह अर्जुन शोकसे इस प्रकार विह्वल होकर रोने लग गया। अपने कुलके सब लोगोंको वहाँ देखकर अर्जुनके मनमें दयाका भाव किस प्रकार आया ? जिस प्रकार जलके योगसे नमक गल जाता है अथवा वायु चलनेसे बादल फट जाते हैं, उसी प्रकार उस धैर्यशालीका हृदय भी द्रवित हो गया। इसलिए दयावृत्तिसे व्याप्त वह अर्जुन कीचड़में फँसे हुए राजहंसके समान म्लान दिखाई पड़ता था। पांडु-पुत्र अर्जुनको ऐसे विलक्षण भ्रममें फँसा हुआ देखकर भगवान् श्रीकृष्णने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुनः ॥ २ ॥

"भाई अर्जुन, तुम पहले इस बातका विचार करो कि क्या इस युद्ध-भूमि पर तुम्हारा ऐसा करना और ऐसा कहना उचित है। यह भी सोचो कि तुम कौन हो और क्या कर रहे हो। आज तुम्हें यह क्या हो गया है ? आज तुममें किस बातकी कमी हो गई है ? अथवा तुम्हारा कोई आरम्भ किया हुआ कार्य विनष्ट हुआ है। तुम यह शोक किस लिए कर रहे हो ? तुम तो कभी ऐसी-वैसी बातों पर ध्यान ही नहीं देते। तुम कभी धैर्य छोड़नेवाले नहीं हो। तुम्हारे तो नामका उच्चारण करते ही अपयश भागकर दिगन्तमें चला जाता है। तुम शौर्यका भांडार और क्षत्रियोंमें अग्रगण्य हो। तुम्हारे पराक्रमकी व्याप्ति त्रिभुवनमें है। तुमने युद्धमें शंकरको हराया है और निवातकवचका नाम-निशान तक मिटा दिया है। तुमने गन्धर्वों तकको अपने यशका गान करनेमें प्रवृत्त किया है। तुम्हारे उत्तम कार्योंके विस्तारके विचारसे त्रैलोक्य भी छोटा दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, तुम्हारा पराक्रम ऐसा खरा और निर्दोष है। पर तुम वही शुद्ध पराक्रमी आज समरांगणमें वीरोंकी भावना छोड़कर और सिर नीचे करके इस प्रकार बालकोंकी तरह रो रहे हो। भाई अर्जुन, तुम्हीं अपने मनमें विचार करो कि क्या तुम्हें इस प्रकार ऐसे दब्बूपनके फेरमें पड़ना चाहिए। क्या सूर्य कभी अन्धकारसे ग्रस्त होता है ? अथवा पवन कभी मेघोंसे डरता है या अमृतको मरण कभी दबा सकता है या लकड़ी कभी आगको निगल सकती है ? अथवा नमक कभी पानी को गला सकता है अथवा दूसरे विषके स्पर्शसे कालकूट विष मर जाता है अथवा महासर्प कभी किसी मेंढकसे निगला जाता है ? कभी

ऐसी विलक्षण बात भी हुई है कि सिंहके साथ गीदड़ लड़े ? पर आज तुमने वही विलक्षण बात यहाँ कर दिखलाई है। देखो अर्जुन, कहीं तुम्हारा मन इस दीनताके वशमें न हो जाय, इसलिए अब भी तुम अपने मनमें धैर्य धारण करो और शीघ्र सावधान हो जाओ। यह मूर्खता छोड़ दो, उठकर खड़े हो और धनुष-बाण अपने हाथोंमें लो। तुम्हारे मनपर जो करुणा इस समय आकर छाई हुई है, वह इस युद्धमें भला किस कामकी है ? अर्जुन, तुम तो सब कुछ जानते-बूझते हो। फिर तुम अच्छी तरह विचार क्यों नहीं करते ? भला तुम्हीं बतलाओ कि जब युद्धकी इस प्रकार तैयारियाँ हो चुकी हों, तब यह दीनता शोभा देती है ? अब तक तुमने जो कीर्ति प्राप्त की है, उसका इससे नाश हो जायगा और यह परमार्थको भी बिगाड़ देगी।"

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥ ३ ॥

श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—"इसलिए तुम शोक न करो और धैर्य धारण करो। भाई अर्जुन, अपना यह दुःख दूर करो। यह बात तुम्हारे लिए उचित नहीं है। आजतक तुमने जो कीर्ति सम्पादित की है, इससे उसका नाश हो जायगा। भइया, अब भी तो तुम अपने हितका विचार करो। इस युद्धके समय इस दयालुतासे काम नहीं चलेगा। क्या ये सब लोग इसी समय तुम्हें अपने सगे-सम्बन्धी मालूम होने लगे हैं ? क्या तुम इन लोगोंको पहलेसे नहीं जानते थे ? क्या तुम अपने गोत्रके इन लोगोंको पहले नहीं पहचानते थे ? फिर आज यह व्यर्थका अकांड तांडव क्यों करने लगे ? क्या आजका यह युद्ध तुम्हारे जीवनमें कोई नई बात है ? यह तो तुम लोगोंका नित्यका आपसका लड़ाई-झगड़ा है। मेरी समझमें यह बात नहीं आती कि आज ही क्या हो गया और तुम्हारे मनमें दया क्यों उत्पन्न हुई। परन्तु अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह तुमने बहुत बुरा किया। तुम्हारे इस मोहका यही परिणाम होगा कि आजतककी सम्पादित की हुई सारी प्रतिष्ठा नष्ट हो जायगी और तुम्हारे इस लोकके साथ साथ परमार्थ भी हाथसे निकल जायगा। सच्चे वीरोंको तो रणांगणमें हृदयकी दुर्बलताके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं रखना चाहिए। इस प्रकारका सम्बन्ध रखना तो रणमें क्षत्रियका अधःपात ही समझना चाहिए।" वे कृपालु भगवान इस प्रकार अर्जुनको तरह तरहसे समझाने लगे। अब यह सुनिये कि उनकी ये बातें सुनकर अर्जुनने क्या कहा।

अर्जुन उवाच—

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥

अर्जुनने कहा—"हे देव, ये सब बातें तो यहाँ कहनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। पहले आप ही देखिये और इस संग्रामके स्वरूपका विचार कीजिये। यह केवल युद्ध ही नहीं है, बल्कि शुद्ध पाप है। और यदि मैं यह युद्ध करूँगा तो मुझे बहुत बड़ा दोष लगेगा। इसमें मुझे अपने बड़ोंकी हत्याका महापातक स्पष्ट रूपसे करना पड़ेगा। हे देव,

आप ही विचार करें कि जब मैं यह नीति जानता हूँ कि माता-पिताको पूज्य समझना चाहिए और सब प्रकारसे उन्हें सन्तुष्ट रखना चाहिए, तब उन्हीं माता-पिताका वध मैं अपने हाथोंसे कैसे कर सकता हूँ? हे देव, सन्तोंका वन्दन करना चाहिए और हो सके तो उनकी पूजा-अर्चा भी करनी चाहिए। परन्तु यह सब कुछ भी न करके उलटे क्या अपने मुँहसे उनकी निन्दा की जाय? उसी प्रकार ये हमारे गोत्र-गुरु तो हमारे लिए सदा पूज्य हैं। इन भीष्म और द्रोणसे मुझे बहुत अधिक लाभ पहुँचा है। जिनके विरुद्ध मैं स्वप्नमें भी वैरका भाव धारण नहीं कर सकता, उन्हींका यहाँ प्रत्यक्ष वध कैसे किया जाय? अब आगे जीवित रहनेमें नामको भी शोभा नहीं है। आखिर आज इन सब लोगोंको हो क्या गया है कि इन्हीं गुरुजनोंसे हम लोगोंने जो शस्त्रविद्या सीखी है, उसका अभ्यास आज हम लोग इन्हींकी हत्या करनेमें किया चाहते हैं। मुझमें जो कुछ गुण हैं, उन सबका श्रेय इन्हीं द्रोणाचार्यको है। इन्होंने मुझे धनुर्विद्या सिखलाई है। अब क्या उस उपकारका भार अपने सिरपर रखते हुए मैं इन्हींकी हत्या करूँ? जिनकी कृपाके प्रसादका वर मुझे प्राप्त करना चाहिए, मैं उन्हींका अनिष्ट सोचूँ? क्या मैं ऐसा ही भस्मासुर हो गया हूँ?''

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान् ॥ ५ ॥

अर्जुनने फिर कहना आरम्भ किया—''हे देव, सुना जाता है कि समुद्र बहुत गम्भीर है। परन्तु उसकी वह गम्भीरता भी देखने भरकी ही होती है। परन्तु इन द्रोणाचार्यके मनकी गम्भीरता ऐसी विलक्षण है कि उसमें कभी क्षोभ होता ही नहीं। यह आकाश अनन्त अवश्य है; परन्तु फिर भी इसकी नाप हो सकती है। परन्तु इन द्रोणाचार्यके अगाध हृदयका अन्त नहीं जाना जा सकता। किसी समय अमृतका स्वाद भी फीका हो सकता है अथवा कालकी गतिसे वज्र भी कभी टूट सकता है। परन्तु द्रोणाचार्यका मानसिक शान्ति-धर्म कभी विकृत नहीं किया जा सकता। प्रेम-भावका विचार करते समय माताका नाम मुख्य रूपसे सामने आना उचित ही है। परन्तु द्रोणाचार्य तो प्रत्यक्ष और मूर्तिमान् प्रेम ही हैं। करुणाका जन्म ही इन्हींसे हुआ है। ये समस्त सद्गुणोंके आगार हैं। इन्हें विद्याका असीम समुद्र ही कहना चाहिए।'' इसके बाद अर्जुनने यह भी कहा—''इन आचार्यका इतना अधिक महत्व है और इसके सिवा हम लोगोंपर उनकी विशेष कृपा भी है। अब आप ही बतलाइये कि क्या हम लोग कभी इनकी हत्या करनेका अपने मनमें विचार भी कर सकते हैं? मेरे तो यदि प्राण भी चले जायँ तो भी यह विचार मुझे कभी अच्छा नहीं लग सकता कि पहले तो मैं युद्धमें ऐसे लोगोंकी हत्या करूँ और तब उसके उपरान्त राज्य-सुखोंका उपभोग करूँ। यदि मैं यह समझूँ कि सुख-भोगोंका महत्व इन आचार्योंसे भी बढ़कर है, तो यह विचार इतना भयंकर है कि मुझसे तो ये सुख-भोग दूर ही रहें। इसकी अपेक्षा यहाँ भीख माँगकर निर्वाह कर लेना अवश्य ही कहीं अच्छा है। बल्कि देश छोड़कर कहीं चले जाना या पर्वतोंकी गुफाओंमें रहकर वनवास करना भी अच्छा है, परन्तु इनके ऊपर शस्त्र उठानेका दुष्कर्म नहीं होना चाहिए। हे देव, जिन बाणोंपर अभी हालमें पानी चढ़ा है, उन बाणोंसे इन लोगोंके हृदयोंपर प्रहार करना

और तब उनके रक्तमें डूबा हुआ भोग प्राप्त करना। भला ऐसे भोगको लेकर कोई क्या करे! जिस भोगपर ऐसा रक्त लगा हो, वह भोग भला क्या आनन्द देगा! बस इसीलिए यह विचार मुझे अच्छा नहीं लगता।'' अर्जुनने उस समय ये सब बातें कहकर श्रीकृष्णसे पूछा—''ये सब बातें आपकी समझमें आ गईं न?'' परन्तु उसे अपने मनमें इस बातका भी विश्वास नहीं होता था कि श्रीकृष्णने मेरी ये सब बातें ध्यानपूर्वक सुनी हैं। इस बातका ध्यान होते ही अर्जुन अपने मनमें बहुत घबराया और उसने फिर पूछा—''भगवान् श्रीकृष्ण मेरी बातोंपर बिलकुल ध्यान ही नहीं देते, इसका कारण क्या है?''

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥

''हे देव, मेरे मनमें जो बातें थीं, वे सब मैंने स्पष्ट रूपसे विचारपूर्वक कह दीं। अब यदि वास्तविक तत्व इससे कुछ भिन्न हो तो उसे आप ही जानें। यहाँ युद्ध करनेके लिए हमारे सामने वही लोग खड़े हैं जिनके सम्बन्धमें हमें यदि कहीं यह सुनाई भी पड़ जाय कि इनके साथ हमारा वैर है, तो हमें वास्तवमें उसी समय प्राण त्याग देने चाहिएँ। ऐसी अवस्थामें मेरी समझमें यह नहीं आता कि अब ऐसे लोगोंकी हत्या करना अच्छा है या इनसे युद्ध बचा जाना अच्छा है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥ ७ ॥

''बहुत कुछ विचार करने पर भी यह बात समझमें नहीं आती कि हमारे लिए इनमेंसे कौन-सा काम करना उपयुक्त है; और इसका कारण यह है कि मोहने मेरे मनको ग्रस लिया है। जिस प्रकार अंधकारसे ग्रस्त दृष्टिका तेज नष्ट हो जाता है और तब पासकी वस्तु भी नहीं दिखाई पड़ती; हे देव, उसी प्रकारकी अवस्था इस समय मेरी भी हुई है। बात यह है कि मेरा मन भ्रमके भँवरमें पड़ गया है और अब उसे इस बातका भी पता नहीं चलता कि मेरा हित किस बातमें है। इसी लिए हे श्रीकृष्ण, आप ही इन सब बातोंको समझें और मुझे बतलावें कि इनमें अच्छी बात कौन सी है, क्योंकि मेरे सखा और मेरे सर्वस्व आप ही हैं। आप ही मेरे गुरु, बन्धु, पिता, इष्ट देवता और संकटसे रक्षा करनेवाले हैं। गुरु कभी अपने शिष्यकी उपेक्षा नहीं करता। क्या समुद्रने कभी नदीका त्याग किया है? अथवा माता यदि अपने लड़केको अपने पाससे हटा दे तो वह लड़का कैसे जीवित रह सकता है? हे श्रीकृष्ण, आप सावधान होकर सुनें। हे देव, इन उदाहरणोंकी तरह केवल आप ही सब प्रकारसे मेरा संगोपन करते हैं। अतः मैंने जो ये बातें अभी कही हैं, वे सब आपको ठीक न जान पड़ती हों तो हे पुरुषोत्तम, आप शीघ्र ही मुझे वह तत्व बतलावें जो मेरे लिए उचित हो और जिससे धर्मकी मर्यादाका नाश न हो।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥

''अपने गोत्रके सब लोगोंको यहाँ देखकर मेरे मनमें जो शोक उत्पन्न हुआ है, उसे

आपके वचनोंके सिवा और कोई दूर नहीं कर सकता। अब चाहे मुझे सारी पृथ्वीका स्वामित्व ही क्यों न मिल जायँ अथवा प्रत्यक्ष स्वर्गका इन्द्र-पद ही क्यों न प्राप्त हो जाय, परन्तु फिर भी मेरे मनका दुःख कम नहीं हो सकता। जिस प्रकार भुने हुए बीज खूब उपजाऊ जमीनमें भी बोये जाय और उन्हें यथेष्ट जलसे सींचा जाय, परन्तु फिर भी उनमें अंकुर नहीं लग सकते, अथवा जिस प्रकार आयुष्यका अन्त हो जाने पर फिर किसी औषधका कोई उपयोग नहीं हो सकता और केवल अमृत-वल्ली ही अपना गुण दिखला सकती है, उसी प्रकार राज्य-भोगकी समृद्धिसे मेरी बुद्धिका फिरसे संजीवन नहीं हो सकता। हे कृपासागर, उसे फिरसे जीवित करनेके लिए केवल आपकी करुणाकी ही आवश्यकता है।" क्षण भरके लिए भ्रान्तिके जालसे छूटे हुए अर्जुनने एक बार ये बातें कह तो डाली, परन्तु फिर तुरन्त ही उस पहलेवाली लहरने आकर उसे दबा लिया। बल्कि थोड़ा विचार करने पर तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह केवल भ्रान्तिकी लहर ही नहीं थी, बल्कि उससे अलग कुछ और ही बात थी। वह प्रत्यक्ष महामोह रूपी काल सर्पसे ही ग्रस्त हो गया था। और उसका अत्यन्त कोमल हृदय-कमल जिस समय करुण रससे ओत-प्रोत भरा हुआ था उसी समय उसे काल-सर्पका यह दंश लगा था जिसके कारण इस विषकी लहरें रुकती ही न थीं। उसकी अवस्था देखकर वे श्रीकृष्ण रूपी गारुडी, जो केवल दृष्टि-पात करके ही यह विष उतार सकते थे, तुरन्त उसकी रक्षाके लिए दौड़ हुए आ पहुँचे। जो अर्जुन इस प्रकार व्याकुल हो गया था, उसके पास ही श्रीकृष्ण सुशोभित थे और वे अपनी कृपाके योगसे सहजमें ही उसकी रक्षा करेंगे। बस इन्हीं सब बातोंका ध्यान रखकर मैंने यह कहा है कि वह अर्जुन महामोह रूपी काल-सर्पसे ग्रस्त हो गया था। फिर उस समय वह अर्जुन उसी प्रकार भ्रमसे ग्रस्त हुआ था, जिस प्रकार मेघोंके आ जानेसे सूर्य ढक जाता है। अथवा अर्जुन दुःखसे उसी प्रकार जर्जर हो गया था, जिस प्रकार गरमीके दिनोंमें कोई पर्वत आग लगनेसे बिलकुल झुलस जाता है। इसी लिए उसे शान्त करनेके उद्देश्यसे वे श्रीगोपालकृष्ण रूपी मेघ, जो सहज ही श्याम हैं और कृपा-रूपी अमृतसे भरे हुए हैं, उसकी ओर बढ़े। इस मेघमें दाँतोंकी जो प्रभा सुशोभित थी, वही मानों उस मेघकी चमकनेवाली बिजली थी और उनकी गम्भीर वाणी ही उस मेघकी गर्जनाके समान जान पड़ती थी। अब उस करुणाके मेघने किस प्रकार उदारतापूर्वक अपनी करुणाकी वर्षा की और उस वर्षासे अर्जुन रूपी दग्ध पर्वत किस प्रकार शान्त हुआ और उसमें किस प्रकार ज्ञानका अंकुर फिरसे उत्पन्न हुआ, इसकी कथा आप लोग स्वस्थ-चित्त होकर सुनें, यही श्रीनिवृत्ति-नाथका दास यह ज्ञानदेव कहता है।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥ ९॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा कि वह अर्जुन फिर शोकसे विह्वल होकर कहने लगा—"हे

श्रीकृष्ण, आप फिर एक बार मेरी बातें सुनें। आप मुझे फिर समझाने-बुझाने के फेरमें न पड़ें, क्योंकि मैं निस्सन्देह होकर कहता हूँ कि चाहे कुछ भी हो जाय, परन्तु मैं युद्ध नहीं करूँगा।" इतनी बात वह एक बार जल्दीसे कह गया और तब फिर बिलकुल चुप हो गया। उसकी यह अवस्था देखकर श्रीकृष्ण आश्चर्यसे चकित हो गये।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥ १०॥

भगवान अपने मनमें कहने लगे—"इस पागल अर्जुनने इस समय यह क्या बखेड़ा खड़ा कर दिया है! इसे इस समय कुछ भी समझमें नहीं आता कि क्या करना चाहिए। अब इसे किस प्रकार समझाया जाय? इसका जो धैर्य छूट गया है, वह यह फिर किस प्रकार धारण करेगा?" श्रीकृष्णने अपने मनमें ये बातें ठीक उसी प्रकार कहीं, जिस प्रकार कोई पंचाक्षरी मान्त्रिक पीड़ित करनेवाले भूतको दूर करनेके विषय में अपने मनमें कहता है। अथवा जिस प्रकार रोगको असाध्य समझकर किसी बहुत ही विकट अवसर पर कोई वैद्य चटपट अमृतके समान किसी अलौकिक गुणकारी औषध की योजना करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें खड़े होकर मन ही मन यह विचार किया कि इस अवसर पर क्या करना चाहिए, और तब वे यह सोचने लगे कि ऐसी कौन-सी योजना की जाय जिससे अर्जुनका यह मोह दूर हो। यही सोचकर श्रीकृष्णने कुछ क्रोधपूर्वक कहना आरम्भ किया। जिस प्रकार माताके क्रोधमें भी वात्सल्य छिपा रहता है अथवा जिस प्रकार औषधके कड़ुएपनमें अमृत छिपा रहता है—क्योंकि वह अमृत ऊपरसे तो दिखाई नहीं पड़ता, परन्तु अन्तमें उसका अनुभव होता है—उसी प्रकार श्रीकृष्णने भी ऐसी बातें कहना आरम्भ किया जो ऊपरसे देखनेमें तो कुछ अपमान करनेवाली जान पड़ती थीं, परन्तु अन्दरसे अत्यन्त मधुर रससे भरी हुई थीं।

श्रीभगवानुवाच—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥ ११॥

फिर उन्होंने अर्जुनसे कहा—"आज जो तुमने बीचमें ही यह झगड़ा खड़ा कर दिया है, उससे सचमुच मुझे आश्चर्य ही हो रहा है। तुम यह तो कहते हो कि मैं अपनेको जानता हूँ, परन्तु फिर भी तुम अज्ञानको नहीं छोड़ते। और जब मैं तुम्हें कुछ सिखाने या बतलाने लगता हूँ, तब तुम नीतिकी बड़ी बड़ी बातें कहने लगते हो। जैसे कोई जन्मसे ही अन्धा हो और फिर तिसपरसे पागल हो जाय और इधर-उधर बहकने लगे, बस ठीक उसी तरह तुम्हारी बुद्धि भी मुझे इधर-उधर बहकती हुई दिखाई देती है। मुझे रह रहकर यही आश्चर्य होता है कि तुम्हें स्वयं अपने आप का तो कुछ ज्ञान होता ही नहीं और तुम कौरवोंके सम्बन्धमें शोक करना चाहते हो। पर भइया अर्जुन, पहले तुम मुझे यह बतलाओ कि यदि यह त्रिभुवन तुम्हारे ही कारण स्थिर-स्थावर हो तो लोग जो यह कहते हैं कि विश्वकी रचना अनादि है, वह क्या बिलकुल झूठ ही है? संसारमें सब लोग जो यह

कहते हैं कि यहाँ कोई एक सर्व-समर्थ है और उसीसे इन सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है, सो क्या सब व्यर्थ ही कहते हैं ? क्या आज यह अवस्था हो गई है कि यह विश्व तभी जन्म धारण कर सकता है, जब तुम इसे उत्पन्न करो और यदि तुम इसका नाश करोगे, तभी इसका नाश होगा ? भाई, अब जरा तुम इस बात पर विचार करो । तुम भ्रमके कारण अहंकारी हो गये हो और इसी लिए इन लोगोंका घात करना तुम्हें अच्छा नहीं लगता । परन्तु तुम मुझे एक बातका उत्तर दो । यदि तुम इन लोगोंका घात नहीं करोगे, तभी ये लोग चिरंजीव होंगे ? अथवा क्या तुमने अपने मनमें यह भ्रामक कल्पना कर ली है कि एक अकेले तुम्हीं मारनेवाले हो और ये सब लोग मरनेवाले हैं ? यह विश्व तो अनादि-सिद्ध है । यह सृष्टिके नियमसे ही उत्पन्न होता है और उन्हीं नियमोंसे इसका लय होता है । फिर तुम मुझे यह बतलाओ कि तुम इसके लिए शोक क्यों करते हो । परन्तु मूर्खताके कारण स्वयं तुम्हारी समझमें भी कोई बात नहीं आती, तुम व्यर्थकी चिन्ता करने लगते हो और उलटे मुझको ही नीतिका पाठ पढ़ाते हो । हे अर्जुन, तुम इस बातका ध्यान रखो कि जो लोग सचमुच विवेकशील होते हैं, वे समझ लेते हैं कि जन्म लेना और मरना केवल भ्रान्ति ही है; और इसीलिए वे इन दोनोंमेंसे एकका भी शोक नहीं करते ।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥

"हे अर्जुन, जो कुछ मैं कहता हूँ, वह अच्छी तरह सुनो । यदि हम यह कल्पना कर लें कि तुम, मैं और यहाँ जो सब राजा आदि उपस्थित हैं, वे सब इस समय जैसे हैं, वैसे ही सदा रहेंगे, अथवा हम यह कल्पना कर लें कि हम सब लोग निश्चय ही नष्ट हो जायेंगे, तो ये दोनों ही कल्पनाएँ भ्रमपूर्ण हैं; और यदि इस प्रकारके विचार छोड़ दिये जायँ तो फिर जीवित रहना और नष्ट होना, ये दोनों ही बातें मिथ्या ठहरती हैं । यह जो भावना होती है कि ये लोग उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, वह केवल मायाके कारण होती है । और नहीं तो वास्तविक दृष्टिसे देखने पर यही पता चलता है कि जो मूल-भूत वस्तु है, वह अविनश्वर है । देखो, जब हवा चलनेके कारण पानी हिलने लगता है और उसमें तरंगें उठने लगती हैं, तब वहाँ वास्तवमें कौन उत्पन्न होता है; और जब वही हवा बन्द हो जाती है और वह जल फिर शान्त और समतल हो जाता है, तब वहाँ किसका नाश होता है ? बस इन्हीं बातोंका विचार तुम इस समय करो ।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥

"हाँ, और एक बात सुनो । शरीर तो सदा एक ही रहता है, परन्तु भिन्न भिन्न वय या अवस्थाके कारण उसमें अनेक भेद उत्पन्न हो जाते हैं । इस प्रत्यक्ष उदाहरणको तुम अपने ध्यानमें रखो । पहले इस शरीरमें बाल्यावस्था दिखाई पड़ती है । फिर जब युवावस्था आती है, तब यह बाल्यावस्था नष्ट हो जाती है । परन्तु न तो बाल्यावस्थाके विनाशके साथ ही शरीरका विनाश होता है और न युवावस्थाका अन्त होने पर ही शरीरका अन्त

होता है । ठीक इसी प्रकार चैतन्य वस्तुमें भी शरीरान्तर या शरीरों का परिवर्तन होता है और इसी लिए एक देहका नाश होता है और दूसरे देहकी प्राप्ति होती है । और जो आदमी यह तत्त्व समझ लेता है, न तो उसे मोह ही होता और न दुःख ही ।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥ १४ ॥

अब यदि यह पूछो कि यह तत्त्व समझमें क्यों नहीं आता, तो इसका कारण यह है कि मनुष्य इन्द्रियोंके अधीन होता है; और जब अन्तःकरण इन्द्रियों के फेरमें पड़ जाता है, तब मनुष्य भ्रमका शिकार हो जाता है । इन्द्रियाँ विषयोंका सेवन करती हैं और इसीसे हर्ष और शोक आदि विकार उत्पन्न होते हैं और तब अन्तःकरण पर उनकी छाप बैठती है । इसीलिए ये विषय कभी निश्चित या एक-से नहीं रहते । ये कभी दुःखमय जान पड़ते हैं, तो कभी सुखमय । यह देखो कि निन्दा और स्तुति दोनों ही शब्द-स्वरूप हैं । परन्तु जब कान इनका सेवन करते हैं, तब एकसे द्वेष और दूसरेसे समाधान, इस प्रकार दो भिन्न विकार उत्पन्न होते हैं । कोमल और कठोर ये दोनों कल्पनाएँ वास्तवमें स्पर्श रूप ही हैं । परन्तु जब त्वचाके द्वारा उनका ज्ञान होता है, तब वे सुख और दुःख उत्पन्न करनेका कारण होती हैं, रूप चाहे भयंकर हो और चाहे सुन्दर हो, पर होते हैं दोनों रूप ही । पर जब नेत्रोंके द्वारा उनका अनुभव किया जाता है, तब दुःखमय किंवा सुखमय संवेदनाका अनुभव होता है । सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनोंका मूल रूप गन्ध ही है । परन्तु नाकसे संसर्ग होने पर ये सुख और दुःख उत्पन्न करती हैं । इसी प्रकार जब रसके विषयका भी रसनेन्द्रियसे संसर्ग होता है, तब उसके दो भेद होते हैं जो रुचि और अरुचिके कारण होते हैं । और विषयोंका सेवन करनेसे ही मूल स्वरूपसे भ्रष्ट होनेकी नौबत आती है । अर्जुन, देखो जब हम इन्द्रियोंके वशमें होते हैं और शीत तथा उष्णता आदिका अनुभव करते हैं, तब मानों हम स्वयं ही सुख-दुःखके झमेलेमें फँसते हैं । इन इन्द्रियोंका यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उन्हें इन विषयोंके अतिरिक्त और कोई चीज अच्छी ही नहीं लगती । यदि तुम यह पूछो कि ये विषय कैसे होते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ये विषय मृग-जलके समान अथवा स्वप्नमें दिखाई पड़नेवाले हाथीके समान अनित्य हैं । इसी लिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम इन विषयोंको दूर हटा दो और तिल भर भी इनका संग मत करो ।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥

जिस पर इन विषयोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, उन्हें सुख-दुःख छूते भी नहीं और न उसे गर्भ-वासके ही कष्ट भोगने पड़ते हैं । हे अर्जुन, जो मनुष्य इन्द्रिय-सुखोंके फेरमें नहीं पड़ता, उसे पूर्ण रूपसे नित्य रूप ही समझना चाहिए ।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥

हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें एक और ऐसी बात बतलाता हूँ जिसका अनुभव विचारी

लोगोंको स्पष्ट रूपसे होता है। इस मायामय विश्वमें एक सर्वान्तर्यामी गूढ़ तत्व है जो चैतन्य है; और सभी तत्ववेत्ता सज्जन यह मानते हैं कि वह चैतन्य सद्वस्तु है। दूधमें पानी पूरी तरहसे मिल जाता है। परन्तु जिस प्रकार राजहंस पानीसे दूधको अलग कर लेता है, अथवा जिस प्रकार होशियार कारीगर सोनेको आगमें तपाकर उसका निकृष्ट अंश जला डालते हैं और उसमें से खरा सोना निकाल लेते हैं, अथवा जिस प्रकार ज्ञानकी शक्तिसे दूधको मथने पर अन्तमें मक्खन दिखाई देने लगता है, अथवा जिस प्रकार एकमें मिले हुए अनाज और भूसेको बरसानेसे अनाज तो बच रहता है और जो कुछ उसमेंसे उड़कर निकल जाता है, वह निरर्थक अंश रहता है, उसी प्रकार विचार करते करते प्रपंचका नाश हो जाता है और वह आपसे आप नहीं रह जाता; और तब ज्ञानवान्के लिए तत्वको छोड़कर और कुछ भी नहीं बच रहता। और इसी लिए वह अनित्य वस्तुओंके सम्बन्धमें कभी आस्तिक बुद्धि नहीं रखता, क्योंकि वह इस प्रकारका दोहरा निर्णय कर चुका होता है कि जो कुछ "नित्य" है वही "सत्" है; और जो कुछ "अनित्य" है वही "असत्" है।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

और फिर यह भी देखो कि जब मनुष्य सारासारका विचार करने लगता है, तब यह निश्चय होता है कि जो कुछ "अस्थिर" है वही "असार" है और जो कुछ "सार" है वह स्वभावतः "नित्य" होता है। जिससे इन तीनों लोकोंके दृश्य आकारका विस्तार हुआ है, उसका नाम, रंग, रूप या इस प्रकारका और कोई एक लक्षण नहीं है। वह सदा सर्वव्यापी और जन्म-मरणसे रहित रहता है। यदि कोई उसका घात करना चाहे तो उसका घात कभी हो नहीं सकता।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥ १८ ॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

और ये सब शरीर स्वभावतः नाशवान् हैं; इसलिए, हे पांडुपुत्र पार्थ, तुम निःशंक होकर युद्ध करो। तुम केवल इस शरीरका अभिमान करके और इस शरीर पर ही दृष्टि रखकर यह कहते हो कि मैं मारनेवाला हूँ और ये लोग मरनेवाले हैं। परन्तु हे अर्जुन अभी तक यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आई कि यदि सत्यासत्यका विचार किया जाय तो न तो तुम इन लोगोंको मारनेवाले ही हो और न ये लोग मारे जानेवाले ही हैं।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥
वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥

जो कुछ स्वप्नमें देखा जाता है, वह केवल स्वप्नमें ही सच्चा और ठीक माना जाता है। पर जब आदमी जागकर देखता है, तब स्वप्नमें देखी हुई चीजोंका कहीं नाम-निशान भी नहीं रह जाता। इसी प्रकार तुम इस मायाको भी समझो। और इसलिए तुम केवल भ्रममें पड़े हो। जिस प्रकार किसीकी परछाँही पर चलाया हुआ अस्त्र उसके मूल अंग पर प्रहार नहीं करता, अथवा जिस प्रकार पानीसे भरे हुए घड़ेके उलट जाने पर उसके साथ ही साथ पानीमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी नष्ट हो जाता है, पर उस प्रतिबिम्बके साथ साथ मूल सूर्यका नाश नहीं हो जाता, अथवा जिस प्रकार झोंपड़ीके अन्दरका आकाश झोंपड़ीके आकारका तो होता है, परन्तु यदि वह झोंपड़ी गिरा दी जाय, तो भी आकाशका मूल स्वरूप ज्योंका त्यों और अविकृत रहता है, ठीक उसी प्रकार शरीरका नाश हो जानेपर भी स्वरूपका नाश नहीं होता। इसलिए भाई अर्जुन, तुम इस नाशकी मिथ्या कल्पनाका आरोप मूल स्वरूप पर मत करो।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥

जिस प्रकार लोग पुराने वस्त्र उतारकर दूसरे नये वस्त्र पहनते हैं, उसी प्रकार यह चैतन्याधिपति जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

यह आत्मा अनादि, निरन्तर स्वतःसिद्ध, उपाधि-हीन और अत्यन्त निर्दोष है इसी लिए शस्त्रों आदिसे इसका छेद नहीं हो सकता। कल्पान्तवाले जल-प्लावनसे भी यह भींग नहीं सकता और आगसे भी यह जलाया नहीं जा सकता। पवनकी शोषक शक्तिका प्रभाव भी इसपर नहीं पड़ता। हे अर्जुन, यह आत्मा अविनाशी, विकारहीन, शाश्वत और सर्वव्यापी है; और इसलिए यह स्वयं ही परिपूर्ण रहता है।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

यह तार्किकोंकी दृष्टिको बिलकुल दिखाई नहीं देता, पर ध्यान और धारणा आदि करनेवाले योगियोंको सदा इसीके दर्शनोंकी उत्कंठा बनी रहती है। यह मन और दूसरे समस्त साधनोंकी पहुँचके बाहर है। हे अर्जुन, यह आत्मा केवल असीम पुराण-पुरुष ही है। यह तीनों ही गुणोंसे निर्लिप्त या अलग और आकार तथा रूप आदिकी सीमाके बाहर है। यह अनादि, विकारहीन तथा सर्वव्यापक है। भाई अर्जुन, इस आत्माको इसी प्रकार समझना चाहिए और यह अनुभव करना चाहिए कि यह सबके अन्तर्गत है। बस फिर तुम्हारे शोकके लिए सहजमें ही तिल भर भी स्थान न रह जायगा।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

अथवा यदि तुम इस आत्माको इस प्रकारका न समझकर इसे नाशवान् ही मानते हो, तो भी भाई पार्थ, तुम्हारे लिए शोक करने का कोई कारण नहीं है । और इसका हेतु यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और नाशका प्रवाह अस्खलित, अखंड और शाश्वत रूपसे चलता रहता है । जैसे गंगाके पानीका स्रोत बराबर प्रवाहित होता रहता है, अपने उद्गम स्थानमें वह अखंडित रहता है और अन्त में समुद्रमें जाकर सम-रस हो जाता है और इस प्रकार वह पानी यद्यपि निरन्तर बहता रहता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार बीच बीचमें सब जगह उसका अस्तित्व दिखाई देता है, उसी प्रकार यह समझ रखना चाहिए कि उत्पत्ति, स्थिति और लय ये तीनों अवस्थाएँ सदा एक दूसरीसे मिली रहती हैं । काल या समयका कोई ऐसा अंश नहीं है जिसमें ये तीनों अवस्थाएँ भूत मात्रके साथ लगी न रहती हों । इसी लिए इन सब बातोंके विषयमें तुम्हारे दुःख करनेका कोई कारण नहीं है, क्योंकि यह स्थिति स्वभावतः ऐसी ही अनादि है । अथवा हे अर्जुन, यदि यह बात तुम्हें ठीक न जान पड़ती हो कि ये सब लोग बराबर उत्पन्न होते और मरते रहते हैं, तो भी तुम्हारे लिए इस विषयमें दुःख करनेका कोई कारण नहीं है; क्योंकि यह उत्पत्ति और लय दोनों अपरिहार्य हैं—इन्हें कभी कोई रोक नहीं सकता ।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

जो उत्पन्न होता है, उसका नाश भी होता है और जो नष्ट होता है, वह फिरसे उत्पन्न भी होता है; और यह चक्र पानीके रहटकी तरह बराबर चलता रहता है । अथवा जिस प्रकार सूर्यका उदय और अस्त बराबर आपसे आप होता ही रहता है और उसमें कभी बाधा या अन्तर नहीं पड़ सकता, उसी प्रकार यह जन्म और मरण भी अनिवार्य है । जब महाप्रलयका समय आता है, तब यह त्रैलोक्य ही नष्ट हो जाता है; पर फिर भी उससे यह आदि और अन्त टल नहीं सकता । यदि यह बात तुम्हारे मनमें ठीक जँचती हो, तब फिर तुम यह दुःख क्यों करते हो ? भाई धनुर्धर पार्थ, तुम जान-बूझकर अज्ञानमें क्यों पड़ते हो ? इसके सिवा, हे अर्जुन, यदि तुम इस बात पर और भी अनेक रूपोंसे विचार करोगे तो तुम्हारी समझमें यह बात आ जायेगी कि इसमें दुःख करने की कोई बात ही नहीं है ।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

जो ये सब भूत जन्मसे पहले अमूर्त्त थे और जन्मके उपरान्त जिन्होंने आकार धारण किया, वह भूत जब लयको प्राप्त हों, तब इस बातकी कोई शंका ही नहीं करनी चाहिए कि वे कोई दूसरी या भिन्न वस्तु हो जायँगे । होता केवल यही है कि वे सब भूत फिर अपनी पूर्ववाली स्थितिमें पहुँच जाते हैं । परन्तु जन्म और लयके मध्यमें जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सोये हुए आदमीके स्वप्नकी भाँति मायाके प्रभावसे सत्स्वरूप आत्म-तत्वमें

भासित होनेवाला आकार ही है । अथवा जिस प्रकार हवाके चलनेसे जल तरंगोंके रूपमें दिखाई देता है अथवा दूसरे लोगोंकी इच्छासे जिस प्रकार सोना अलंकारोंका रूप धारण करता है, उसी प्रकार शरीरधारी भूत मात्रने मायाके बलसे आकार प्राप्त किया है और यही बात तुम अच्छी तरह समझ लो । आकाशमें छाये हुए बादल जिस प्रकार वास्तवमें कुछ भी नहीं होते, उसी प्रकार जब ये जन्म और लयके झगड़े वास्तवमें हो ही नहीं सकते, तब फिर उनके लिए तुम्हारा यह रोना-कलपना क्यों हो रहा है ? तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ लो कि यह एक-रूप चैतन्य कभी नष्ट नहीं होता और सदा अविकृत रहता है । जब इस चैतन्य तत्वकी बात मनमें जम जाती है, तब विषय-वासनाएँ सन्तोंको छोड़कर दूर चली जाती हैं । इसी चैतन्यके लिए विरक्त लोग वनवास तक स्वीकृत करते हैं; और इसी पर दृष्टि जमाकर बड़े बड़े मुनि ब्रह्मचर्य आदि व्रत और तप करते हैं ।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

कितने ही लोग इस केवल तत्वको स्तब्ध अन्तःकरणसे देखते देखते संसारका सारा विस्तार ही भूल गये । और भी कितने ही लोग अपनी वाचासे इस चैतन्य तत्वके गुणोंका वर्णन करते करते विरक्त हो गये और उन्होंने पूर्ण तथा शाश्वत तल्लीनता प्राप्त कर ली । बहुतसे लोगोंका समाधान इस चैतन्यके विषयमें श्रवण करनेसे ही हो गया और उनकी देह-बुद्धिका नाश हो गया । और कुछ लोग स्वयं अपने अनुभवसे इस तत्व-को जानकर इसके साथ सम-रस हो गये । जिस प्रकार समस्त नदियोंका प्रवाह जाकर समुद्रमें मिलता है, और यदि वह समुद्रमें मिलकर समा नहीं जाता, परन्तु फिर भी वह प्रवाह कभी लौटकर पीछे नहीं जाता, उसी प्रकार श्रेष्ठ योगियोंकी बुद्धि चैतन्यमें मिलते ही उसके साथ सम-रस हो जाती है । परन्तु यदि उस चैतन्यका साक्षात्कार होने पर भी वे उसमें सम-रस नहीं होते तो भी वे इस चैतन्य तत्वसे कभी पराङ्मुख नहीं होते ।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

तुम यह बात समझ लो कि जो सभी स्थानोंपर और सभी शरीरमें रहता है और मनमें जिसके घातका विचार करने पर भी जिसका घात नहीं हो सकता, वह एक-रूप चैतन्य ही इस विश्वकी आत्मा है । इसीके स्वाभाविक धर्मसे ये भूत मात्र उत्पन्न होते हैं और फिर लयको प्राप्त होते हैं । तो फिर ऐसी अवस्थामें तुम किस बातके लिए शोक करते हो ? हे अर्जुन, ये सब बातें तो बिना कहे ही तुम्हें ठीक जँचनी चाहिएँ । फिर मेरी समझमें नहीं आता कि इन सब बातोंका ज्ञान तुम्हें क्यों नहीं होता । परन्तु तुम्हारा यह शोक करना अनेक प्रकारसे दोषमय है ।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥

तुम अब भी अच्छी तरह विचार क्यों नहीं करते ? तुम क्या सोच रहे हो ? जिस

स्वधर्मसे तुम्हारा तारण होनेको है, तुम उसी स्वधर्मको भूल गये । यदि यहाँ इन कौरवों-का अथवा तुम्हारा ही कुछ अनिष्ट हो जाय अथवा यहाँ स्वयं कल्पान्त ही क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी हमारा जो स्वधर्म है, उसका त्याग करना किसी प्रकार उचित नहीं है यदि तुम स्वधर्मका त्याग कर दोगे तो क्या तुम्हारी इस समयकी कृपालुता तुम्हें तार देगी ? हे अर्जुन, यदि तुम्हारा अन्तःकरण इस समय दयासे द्रवित हो गया हो तो ऐसा होना ही इस युद्धके अवसर पर नितान्त अनुचित है । गौका दूध बहुत अच्छा होता है । पर फिर भी यह नहीं कहा गया है कि जिसे ज्वर आता हो, उसे दूधका पथ्य दो । यदि वह नये ज्वरके किसी रोगीको दिया जाय तो वह विष ही हो जाता है । इसी प्रकार यदि प्रसंगका ध्यान न रखकर जब जो जीमें आवे, तब वह कर डाला जाय तो उससे कल्याण का नाश ही होता है । इसलिए हे अर्जुन, अब तुम होशमें आओ । तुम व्यर्थ क्यों दुःख करते हो और क्यों कष्ट उठाते हो ? जिस स्वधर्मके अनुसार आचरण करने पर त्रिकालमें भी कोई दोष नहीं होता, उसी स्वधर्मको तुम देखो । जिस प्रकार बनाये हुए रास्ते पर चलनेसे कभी कोई अपाय नहीं होता अथवा जिस प्रकार दीपकके प्रकाशके सहारे चलनेमें कभी कहीं लड़खड़ाना नहीं पड़ता, उसी प्रकार हे अर्जुन, स्वधर्मके अनुसार आचरण करनेसे समस्त कामनाएँ सहजमें सिद्ध होती हैं । इसलिए तुम यह बात समझ लो कि तुम क्षत्रियोंके लिए संग्रामको छोड़कर और कुछ करना कभी उचित नहीं हो सकता । तुम निःशंक होकर और खूब अच्छी तरह जमकर लड़ो ! बहुत बातें हो चुकीं; जो बात बिलकुल स्पष्ट दिखाई पड़ती हो, उसका व्यर्थ बहुत-सा विस्तार क्यों किया जाय ?

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन तुम यह समझ रखो कि इस समय जो युद्ध तुम्हारे सामने उपस्थित है, उससे मानों तुम्हारे सौभाग्य या सब प्रकारके धर्माचारोंका भंडार ही खुल गया है । इसे तो "संग्राम" कहना ही ठीक नहीं है । संग्रामके रूपमें तो तुम्हें यह प्रत्यक्ष स्वर्ग ही प्राप्त हुआ है । अथवा इसे मूर्तिमन्त प्रतापका उदय ही कहना चाहिए । अथवा तुम्हारे गुणों-का आदर करनेके कारण और तुम्हारे प्रेमसे भरकर स्वयंवरकी विधिके अनुसार तुम्हारा वरण करनेके लिए मूर्तिमती कीर्ति ही यहाँ आकर खड़ी है । जब क्षत्रिय लोग विपुल पुण्योंका संग्रह करते हैं, तब कहीं जाकर उन्हें इस प्रकारके संग्राम का अवसर मिलता है । जिस प्रकार रास्तेमें चलते समय कोई सहजमें ठोकर खाकर चिन्तामणि पर गिर पड़ता है अथवा जँभाई लेनेके लिए मुँह खोलने पर उसमें अकस्मात् आपसे आप आकर अमृत पड़ जाता है, ठीक उसी प्रकार आज तुम्हारे लिए यह युद्धका प्रसंग उपस्थित हुआ है ।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

अब ऐसे संग्रामको छोड़ देना और व्यर्थ की बातके लिए रोना मानो स्वयं ही अपना घात करना है । यदि आज इस युद्धमें तुम शस्त्र रख दोगे तो तुम अपना वह यश खो

बैठोगे जो तुम्हारे पूर्वजोंने सम्पादित किया था और अब जो तुम्हारे हिस्से पड़ा है । सम्पादित की हुई कीर्ति नष्ट हो जायगी, संसार तुम्हें दुर्वचन कहेगा और शाप देगा; और महापातक तुम्हें ग्रस्त करेंगे । जैसे बिना पतिकी स्त्री सब प्रकारसे अपमानित होती है, उसी प्रकार स्वधर्मका आचरण न करने पर जीवित अवस्थामें ही तुम्हारी भी दशा होगी । जिस प्रकार जंगलमें फेंके हुए शवको चारों ओरसे गीदड़ आकर नोचने और खाने लगते हैं, उसी प्रकार स्वधर्मका पालन न करनेवाले मनुष्यको चारों ओरसे महा-पातक आकर घेर लेते हैं और उसे नोच डालते हैं ।

अकीर्तिंचापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

इसी लिए मैं कहता हूँ कि यदि तुम स्वधर्मको छोड़ दोगे तो पापोंमें फँस जाओगे और तुम्हारी अपकीर्ति कल्पान्त तक भी नष्ट न हो सकेगी । जानकारों या ज्ञानियोंको तभी तक जीवित रहना चाहिए, जब तक उन्हें अपयशका कलंक न लगे । और फिर भला यह तो बतलाओ कि तुम यहाँसे निकलकर जा ही कैसे सकते हो ? तुम तो सब प्रकारके वैर छोड़कर और अत्यन्त कृपालु अन्तःकरणसे यहाँसे निकलकर पीछे हट जाओगे । परन्तु तुम्हारे मनकी इस स्थितिका इन सब लोगोंको कैसे पता चलेगा ? वे लोग चारों ओरसे तुम्हें घेर लेंगे, तुम पर बाणोंकी वर्षा करने लगेंगे और उस दशामें तुम्हारी यह कृपालुता किसी तरह तुम्हें बचा नहीं सकेगी । और फिर यदि इतने पर भी अनेक प्रकारके संकट सहकर तुम किसी तरह यहाँसे निकल जाओगे, तो फिर उसके बाद तुम्हारा जीवित रहना भी मर जानेसे कहीं बढ़कर खराब होगा ।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥

इसके सिवा, हे अर्जुन, एक और बात पर भी तुमने विचार नहीं किया । तुम यहाँ बड़ी शानसे लड़नेके लिए आये हो । अब यदि तुम यहाँसे कोमल हृदयसे वापस चले जाओगे, तो भला तुम्हीं बतलाओ कि तुम्हारे इस प्रकारके व्यवहारका तुम्हारे इन दुष्ट वैरियोंके मनपर भी कोई प्रभाव पड़ेगा ?

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥ ३६ ॥

वे सब लोग तो यही कहेंगे कि अर्जुन हम लोगोंसे डरकर भाग गया । अब बतलाओ कि लोगोंका इस तरहकी बातें करना कुछ अच्छा होगा ? यदि तुम कहो कि हाँ, यह भी अच्छी ही बात होगी, तो फिर भाई पार्थ, सब लोग जो इतना परिश्रम और प्रयत्न करके और अपने प्राण तक गँवाकर अपनी कीर्ति बढ़ाते हैं, वह क्यों ? वही कीर्ति बिना कोई परिश्रम या प्रयत्न किये सहजमें ही तुम्हें मिली है । जिस प्रकार यह आकाश अपने विस्तारके कारण निरुपम है, उसी प्रकार तुम्हारी कीर्ति भी असीम और उपमा-रहित है । तीनों लोकोंमें तुम्हारे गुण श्रेष्ठ हैं । दूर दूरके राजा भी तुम्हारी कीर्त्तिका वर्णन भाटोंकी तरह

करते हैं और वह वर्णन सुनकर यम आदि भी डर जाते हैं। गंगाके प्रवाहकी तरह तुम्हारी महिमा निर्मल और पूर्ण है और उस महिमाने संसारके बड़े बड़े वीरोंको क्षात्र-धर्मकी शिक्षा देकर जानकार बनाया है। तुम्हारा अद्भुत पराक्रम सुनकर शत्रु-पक्षके ये सब योद्धा लोग अपने जीवनसे निराश हो गये हैं। जिस प्रकार सिंहकी गरज सुनकर मदोन्मत्त हाथी यह समझते हैं कि यह प्रलय-कालका गर्जन है, ठीक उसी तरह इन सब कौरवों पर तुम्हारी धाक जमी हुई है। जिस प्रकार पर्वत वज्रको अथवा सर्प गरुड़को अपना काल समझते हैं, उसी प्रकार ये कौरव भी तुम्हें अपना काल ही समझते हैं। परन्तु यदि आज तुम युद्ध न करोगे और पीछे हट जाओगे, तो तुम्हारा सारा दबदबा जाता रहेगा और ऊपरसे हेठी होगी। और फिर जब तुम भागने लगोगे, तब ये शत्रु तुम्हें भागने भी नहीं देंगे और तुम्हें रोककर तुम्हारा अपमान करने लगेंगे; और तुम्हारे मुँह पर ही जो अनेक उलटी सीधी बातें सुनावेंगे, उनकी कोई गिनती भी न कर सकेगा। बस उस समय तुम्हारा हृदय ही फट जायगा। तब इसी समय तुम पराक्रम-पूर्वक युद्ध क्यों न करो? यदि इन शत्रुओंको तुमने जीत लिया, तो फिर तुम आनन्द से पृथ्वीका राज्य भोगना।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥ ३७॥

और यदि तुम लड़ते-लड़ते अपने प्राण दे दोगे तो अनायास ही तुम्हें स्वर्गके सुख प्राप्त हो जायँगे। इसी लिए हे अर्जुन, अब तुम और सब बातोंका विचार छोड़ दो और धनुष उठाकर चटपट युद्ध आरम्भ कर दो। देखो, स्वधर्मका आचरण करनेसे किए हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। फिर भला यह भ्रमपूर्ण कल्पना तुम्हारे मनमें उत्पन्न ही कैसे हुई कि इस कृत्यमें पाप और दोष हैं। अच्छा पार्थ, तुम्हीं बतलाओ कि क्या नावका आश्रय लेनेसे भी मनुष्य कभी डूबता है? अथवा ठीक तरहसे बनाये हुए रास्ते पर चलनेसे आदमी कभी ठोकर खाता है? पर जिसे अच्छी तरह चलना न आता हो, वह ठीक रास्ते पर चलकर भी लड़खड़ावेगा। जिस प्रकार विषके साथ अमृत मिलाकर खानेसे भी उस अमृतसे मनुष्य मर ही जाता है, उसी प्रकार यदि स-काम बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण किया जाय तो वह भी दोषका ही कारण होता है। इसी लिए हे अर्जुन, तुम सब प्रकारकी वासनाओंको छोड़कर यदि क्षत्रिय-धर्मका आचरण करोगे तो उसमें कुछ भी पाप न होगा।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥ ३८॥

सुखमें आदमीको फूल नहीं जाना चाहिए, दुःखमें विकल नहीं होना चाहिए; और स्वधर्मका आचरण करते समय लाभ और हानिकी कल्पना भी मनमें नहीं आने देनी चाहिए। इस बातकी मनमें चिन्ता ही क्यों की जाय कि आजके इस प्रसंगमें हमें विजय प्राप्त होगी अथवा हमारा शरीर पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायगा? हम अपने इस उचित

स्वधर्मका आचरण करते हैं और इसमें जो कुछ होगा, वह सब हम शान्त चित्तसे सहन कर लेंगे। जब इस प्रकारका विचार करनेके लिए मन तैयार हो जायगा, तब स्वभावतः मनुष्यसे पापका आचरण नहीं होगा। बस अब मुझे यही कहना है कि तुम सब प्रकारके संशय छोड़ दो और लड़नेके लिए प्रस्तुत हो जाओ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥ ३९॥

मैंने सांख्यका यह ज्ञान-योग तुम्हें थोड़ेमें बतला दिया है। अब कर्मयोगियोंका बुद्धियोग विस्तारपूर्वक बतलाता हूँ; वह सुनो। जब बुद्धियोग सिद्ध हो जाता है, तब कर्म कभी मनुष्यके लिए बन्धक नहीं होते।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥ ४०॥

जिस प्रकार वज्रका जिरह-बक्तर पहन लेने पर शस्त्रोंकी चाहे कैसी वर्षा क्यों न सहनी पड़े, पर फिर भी विजय अबाधित ही रहती है, उसी प्रकार इस बुद्धियोगकी साधना हो जाने पर ऐहिक सुखोंका तो कभी नाश होता ही नहीं, पर साथ ही मोक्ष भी अपने ही हिस्सेमें रखा रहता है। इस बुद्धियोगमें पहले बतलाये हुए सांख्य-योगका भी अन्तर्भाव होता है; क्योंकि इस बुद्धियोगका भी तत्व यह है कि कर्म तो बराबर करते रहना चाहिए, परन्तु उन कर्मोंके फल पर कभी आसक्ति नहीं रखनी चाहिए। जिस प्रकार मान्त्रिकको भूत बाधा नहीं होती, उसी प्रकार बुद्धियोग पूरी तरहसे सिद्ध हो जाने पर किसी प्रकारकी उपाधि या कष्ट मनुष्यको बाधा नहीं पहुँचा सकता। जिस बुद्धियोगमें पाप और पुण्यका प्रवेश नहीं है, जो अति सूक्ष्म और अटल है; जो सत्व रज और तम इन तीनों गुणोंसे दूषित नहीं होता, यदि पूर्व जन्मके पुण्योंके फलसे मनुष्यके अन्तःकरणको उस बुद्धियोगका प्रकाश प्राप्त हो तो, भाई अर्जुन, उसके संसार-भयका समूल नाश हो जाता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥

जिस प्रकार दीपककी ज्योति छोटी होने पर भी बहुत-सा प्रकाश प्रकट करती है, उसी प्रकार सद्बुद्धि यदि अल्प भी हो तो भी उसे छोटी या कम नहीं समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रभाव बहुत बड़ा होता है। हे पार्थ, श्रेष्ठ विचारशील लोग अनेक प्रकारके उपायोंसे इसकी साधनाका उद्योग करते हैं, क्योंकि यह सद्वासना इस चराचर विश्वमें बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार दूसरे पत्थरोंकी तरह पारस ढेर-सा नहीं मिलता अथवा दैव-योगसे ही अमृतका एक कण प्राप्त होता है, उसी प्रकार यह सुबुद्धि भी, जिसका पर्यवसान परमात्माकी प्राप्तिमें होता है, बहुत ही दुर्लभ है। जिस प्रकार नदीका बहाव और रुख सदा समुद्रकी ही ओर होता है, उसी प्रकार संसारमें केवल यह सुबुद्धि ही ऐसी है जिसका एक ईश्वरको छोड़कर और कोई साध्य विषय नहीं है। इस सुबुद्धिके अतिरिक्त और जो बुद्धियाँ हों, उन्हें दुर्बुद्धि ही समझना चाहिए; उनसे विकारोंकी बाधा

होती है और अविवेकी पुरुष उन्हीं बुद्धियोंमें सदा रमते रहते हैं। इसी लिए हे पार्थ, उन अविवेकियोंको स्वर्ग-वास, संसार-वास और नरक-वास प्राप्त होते हैं और आत्म-सुखके उन्हें नामको दर्शन भी नहीं होते।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥

वे लोग वेदका आधार लेकर केवल कर्म-कांडका ही प्रतिपादन करते हैं। परन्तु कर्म-फल पर दृष्टि रखकर कहते हैं—"हम संसारमें जन्म लें, यज्ञकी क्रियायें करें और तब मधुर स्वर्ग-सुख भोगें। इसके सिवा और कोई सुख नहीं है।" इसी प्रकारकी बातें वे अविवेकी और दुर्बुद्धि लोग कहा करते हैं। हे अर्जुन, वे लोग स-काम होकर और केवल भोग पर दृष्टि रखकर सब कर्मोंका आचरण करते हैं। नाना प्रकारके कर्म करते समय वे लोग विधि-भंग नहीं होने देते और अत्यन्त प्रवीणतासे धर्मानुष्ठान करते हैं। परन्तु वे एक ही बात अनुचित करते हैं। वह यह कि वे अपने मनमें स्वर्ग-भोगका स्वार्थ रखकर उस पुराण-पुरुषको भूल जाते हैं जो यज्ञका भोक्ता है। जैसे पहले कपूर-का ढेर लगाकर फिर उसमें आग लगा दी जाय अथवा मधुर अन्नमें कालकूट विष मिला दिया जाय, अथवा संयोगसे मिला हुआ अमृतका घड़ा लात मारकर लुढ़का दिया जाय, उसी प्रकार अविवेकी कर्मकांडी लोग स-हेतुक कर्मोंका आचरण करके हाथमें आये हुए धर्मका नाश करते हैं। जब कष्ट भोगकर और परिश्रम करके पुण्यका सम्पादन किया जाय, तब फिर संसारकी ही याचना क्यों की जाय? परन्तु इन अविवेकियोंकी समझमें यह नहीं आता कि ऐसी किस वस्तुका सम्पादन करना चाहिए जो हमें अभी प्राप्त नहीं है। जिस प्रकार अच्छी तरह पकाकर स्वादिष्ट भोजन प्राप्त किया जाय और तब उसे मूल्य लेकर बेंच दिया जाय, बस ठीक उसी प्रकार ये लोग सुख-भोग रूपी मूल्यके लिए अपना धर्म बेच डालते हैं। इसलिए हे अर्जुन, मैं कहता हूँ कि जो लोग वेदोंके अर्थ-वादमें ही सदा फँसे रहते हैं, उनके मनमें दुर्बुद्धि डेरा जमाये रहती है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥

ये वेद निःसंशय सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंसे भरे हुए हैं और इसी लिए उपनिषदों आदिको सात्विक समझना चाहिए। उनके सिवा स्वर्ग-सुख आदिका लोभ दिखलानेवाले जो दूसरे यज्ञ आदि कर्म हैं, वे सब रज और तम गुणोंसे व्याप्त रहते हैं। इसलिए तुम यह समझ रखो कि ये सब कर्म सुख-दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

इसलिए तुम अन्तःकरणको इन सब कर्मोंके फेरमें मत पड़ने दो। तुम इन तीनों गुणोंको दूर कर दो; "मैं" "मेरा" आदि कहना छोड़ दो और शीघ्र ही केवल आत्म-सुख पर अपने अन्तःकरणका सारा भार रखो।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥

वेदोंने चाहे बहुत-सी बातें क्यों न कही हों और अनेक प्रकारके विधि-भेद क्यों न बतलाये हों, पर उनमेंसे केवल वही बातें हमें ग्रहण करनी चाहिएँ जो हमारे लिए हितकारी हों। जब सूर्य प्रकट होता है, तब सभी मार्गोंमें प्रकाश फैल जाता है। परन्तु हम उन सभी रास्तों पर क्यों चलने लगें? यदि सारी पृथ्वी जलसे आच्छादित हो जाय, तो भी हमें उसमेंसे केवल उतना पानी लेना चाहिए जितनेकी हमें आवश्यकता हो। इसी प्रकार ज्ञानी लोग वेदोंके अर्थों का चिन्तन तो अवश्य करते हैं, परन्तु उसका वही सारांश ग्रहण करते हैं जो उन्हें अपने लिए आवश्यक जान पड़ता है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥

इसलिए हे अर्जुन, यदि इस सिद्धान्तके अनुसार विचार किया जाय तो यह स्वकर्म का आचरण करना तुम्हारे लिए बिलकुल उचित ही है। मैंने जब अपने मनमें अच्छी तरह विचार किया, तब मुझे यही बात ठीक जान पड़ी कि तुम अपना शास्त्र-सिद्ध कर्म मत छोड़ो। परन्तु ऐसा करते समय तुम कर्म-फल पर अपनी आसक्ति मत रखो और उसके साथ दुष्कर्मका सम्पर्क भी न होने दो। तुम निष्काम मनसे स्वधर्म क्रियाका आचरण करो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥

तुम योग-युक्त हो जाओ और फलका विचार छोड़ दो और तब मनोयोगपूर्वक स्वकर्मका आचरण करो। पर जो काम तुम हाथमें लो, वह यदि दैव-योगसे पूरा हो जाय तो मारे आनन्दके फूल भी मत जाओ। इसी प्रकार यदि किसी कारणसे वह काम बिगड़ जाय तो तुम खेदसे विकल भी मत हो। कर्मका आचरण करने पर यदि वह पूरा हो जाय तो समझ लो कि ठीक ही हुआ; परन्तु यदि वह काम बिगड़ भी जाय तो भी यही समझो कि अच्छा ही हुआ। जो जो काम होते चलें, वह सब आदि पुरुष परमेश्वरको अर्पण करते चलो। बस फिर वे सब काम सहजमें ही पूरे हो जायँगे। हे पार्थ, स्वकर्म चाहे सन्तोषदायक हों और चाहे कष्टकारक, परन्तु उनका आचरण करते समय मनकी वृत्तिको शान्त और सम रखनेको ही उत्तम ज्ञाता लोग योग-स्थिति कहते हैं। भाई अर्जुन, चित्तको सदा सम रखना ही योगका सार है और इसी समतामें मन तथा बुद्धिकी पूर्ण रूपसे एकता होती है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥

हे अर्जुन, जब उस बुद्धि-योगका विचार किया जाता है, तब यह दिखाई पड़ने लगता है कि वह कर्म-कांडका प्रकरण उससे बहुत इधरका या बहुत छोटे दरजेका है । परन्तु फिर भी वह कर्म-कांड ही बुद्धि-योगका साधन है, क्योंकि इस निष्काम रीतिसे कार्यका सिद्ध होना ही मानों योग-स्थितिका सम्पादन करना है । इसी लिए बुद्धि-योग वास्तवमें बहुत बलवान् आधार है । तुम इसी योगमें स्थिर हो जाओ और मनसे फलकी वासनाका त्याग कर दो । जो लोग इस बुद्धि-योगमें लग जाते हैं, वही इस संसारके उस पार पहुँचते हैं; और न तो उन्हें पापके बन्धन ही छू सकते हैं और न पुण्यके बन्धन ही ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

ऐसे लोग यदि कर्मोंका आचरण भी करते हैं तो भी वे कर्म-फलमें लिप्त नहीं होते; और इसी लिए हे अर्जुन, जन्म और मरणके झगड़े भी उन्हें स्पर्श नहीं करते । इसके उपरांत, हे धनुर्धर पार्थ, बुद्धि-योगके सिद्ध होते ही वे लोग सब दुःखोंसे रहित वह शाश्वत पद प्राप्त कर लेते हैं ।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥

जब तुम यह मोह छोड़ दोगे और जब तुम्हारी वासनाओंका क्षय हो जायगा, तब तुम भी इसी प्रकारके हो जाओगे । फिर तुम्हें अत्यन्त शुद्ध और गहन आत्मज्ञान प्राप्त हो जायगा और तुम्हारा मन आपसे आप वासनाओंसे रहित हो जायगा । उस अवस्थामें इस प्रकारकी सभी कल्पनाएँ शान्त हो जायँगी कि हम कुछ और भी जानें अथवा जो कुछ हम जान चुके हैं, वह भूल जायँ ।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

इन्द्रियोंके सहवाससे जिस मतिमें चंचलताके अंकुर उत्पन्न होते हैं, आत्मस्वरूपका लाभ होने पर वह मति फिर शान्त हो जाती है । इस प्रकार जब आत्मसमाधिके आनन्दसे तुम्हारी बुद्धि शान्त और स्थिर हो जायगी, तभी तुम्हें सच्ची योगावस्था प्राप्त होगी ।

अर्जुन उवाच—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥ ५४ ॥

श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने कहा—"हे देव, अब इन सब विषयोंमें मैं कुछ पूछना चाहता हूँ । आप कृपाकर मुझे उत्तर दें ।" श्रीकृष्णने कहा—"भाई अर्जुन, तुम्हारे मनमें जो प्रश्न उचित जान पड़े, वह तुम प्रसन्नतापूर्वक करो ।" कृष्णकी यह

बात सुनकर अर्जुनने कहा—"स्थित-प्रज्ञ किसे कहते हैं ? उसे किस प्रकार पहचानना चाहिए ? बस यही आप मुझे बतला दें । और जिसे लोग स्थिर-बुद्धि कहते हैं, उसके लक्षण क्या हैं ? इसी प्रकार जो अखंड समाधिका सुख भोगता है, वह किस स्थितिमें रहता है ? उसका स्वरूप कैसा होता है ? हे देव लक्ष्मीनाथ, आप ये सब बातें मुझे बतला दें ।" इस पर परब्रह्मके अवतार और षड्गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, वह सुनिये ।

श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—"अर्जुन, सुनो । आत्म-सुखके मार्गमें बाधा उत्पन्न करनेवाली वह प्रबल विषय-वासना है जो मनमें निवास करती है । जो सदा और सब अवसरों पर सन्तुष्ट रहता है, जिसका अन्तःकरण समाधानसे ओत-प्रोत भरा रहता है और सुखकी जिन दुष्ट अभिलाषाओंके संसर्गसे मनुष्य विषय-पंकजमें फँसता है, जिसकी वे अभिलाषाएँ पूर्ण रूपसे नष्ट हो चुकी होती हैं, और जिसका मन आत्म-सुखमें सदा मगन रहता है, वही पुरुष स्थित-प्रज्ञ है ।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

"अनेक प्रकारके दुःख आनेपर भी जिसके मनमें खेद नहीं होता और जो सुखके लोभमें नहीं पड़ता, हे अर्जुन, ऐसे पुरुषमें काम और क्रोध स्वभावतः ही नहीं होता और उसका अन्तःकरण आत्मानन्दसे सदा पूर्ण रहता है, इसलिए उसे भयकी गन्ध भी नहीं होती । जो सदा ऐसी ही स्थितिमें रहे, उसीको स्थिरबुद्धि समझना चाहिए । ऐसा विचारी पुरुष संसारके बन्धनोंका परिहार करके केवल भेद-रहित रहता है ।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

"वह सदा लोगोंके साथ समान व्यवहार करता है । जिस प्रकार पूर्णिमाका चन्द्रमा अपना प्रकाश देते समय इस बातका विचार नहीं करता कि यह अच्छा आदमी है, इसे प्रकाश दो; यह बुरा आदमी है, इसे अँधेरे में रखो; उसी प्रकार उसकी सम वृत्ति भी सदा भेद-रहित रहती है । वह भूत मात्रपर समान रूपसे सदय रहता है और किसी समय उसके चित्तमें भेद नहीं होता । कोई अच्छी वस्तु प्राप्त होनेपर भी जो मारे आनन्दके पागल नहीं हो जाता और कोई बुरी बात होनेपर भी जो दुःखके फेरमें नहीं पड़ता, जो हर्ष और शोक दोनोंसे रहित और आत्म-ज्ञानके आनन्दसे ओत-प्रोत भरा रहता है, हे अर्जुन, उसीको स्थित-प्रज्ञ समझना चाहिए ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

"हे अर्जुन, जरा कछुएका ढंग देखो। वह जब प्रसन्न रहता है, तब अपने अवयव बाहर निकालकर फैला देता है। परन्तु फिर जब चाहता है, तब उन सबको अपने अन्दर खींच लेता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें रहती हैं और जिसके कहनेके अनुसार वे इन्द्रियाँ सब काम करती हैं, समझ लेना चाहिए कि उसी पुरुषकी प्रज्ञाने स्थिरता प्राप्त की है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

"हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें एक और मजेकी बात बतलाता हूँ। वह यह कि यद्यपि इस योगकी साधना करनेवाले लोग विषयोंका त्याग बहुत ही निश्चयपूर्वक करते हैं; तथापि कान, आँख आदि इन्द्रियोंका दमन हो जानेपर भी यदि रसनेन्द्रियका दमन न हो तो उस साधकको ये विषय इस संसारमें हजारों तरहसे अपने जालमें फँसाते हैं। पर तुम्हीं सोचो कि यदि किसी पौधेके पत्ते और शाखाएँ आदि तो ऊपरसे काट ली जायँ, पर उसकी जड़में बराबर पानी सींचा जाय तो वह पौधा भला कैसे नष्ट हो सकता है? जिस प्रकार पानीके बलसे वह पौधा और भी अधिक आड़ी-तिरछी शाखाएँ आदि निकालता है, उसी प्रकार रसनाकी साधनासे मनुष्यके मनमें विषयोंकी पुष्टि होती है। दूसरी इन्द्रियोंके विषय तो छोड़े जा सकते हैं, परन्तु उतनी दृढ़तासे रसनेन्द्रियका नियमन नहीं किया जा सकता, क्योंकि इस इन्द्रियके बिना मनुष्य कभी जीवित नहीं रह सकता। हे अर्जुन, फिर जब स्वानुभवसे परब्रह्मका साक्षात्कार होता है, तब इस रसना पर भी विजय प्राप्त होती है। जब मनुष्यको इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि "मैं ही ब्रह्म हूँ" तब देह-धर्मका लोप होता है और इन्द्रियाँ भी विषयोंको भूल जाती हैं।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥

"नहीं तो इसके सिवा और किसी उपायसे ये इन्द्रियाँ वशमें नहीं आतीं। जो लोग इनका दमन करनेके लिए सचेष्ट होकर प्रयत्न करते हैं, जिनका योगाभ्यासका क्रम बराबर जारी रहता है, जो लोग अपने चारों ओर यम-नियमों आदिकी बाढ़ या घेरा लगाये रहते हैं और जो मनको निरन्तर अपनी मुट्ठीमें रखते हैं, उन्हें भी ये इन्द्रियाँ परेशान रखती हैं। इन इन्द्रियोंका पराक्रम इतना गहन है। जिस प्रकार यक्षिणी मान्त्रिकको भ्रममें डाल देती है, उसी प्रकार ये विषय भी ऋद्धि-सिद्धिके रूप धारण करके आते हैं और इन्द्रियोंको स्पर्श करके मनुष्यको भ्रममें डाल देते हैं। उस समय मन पर अधिकार नहीं रह जाता और मनुष्य अभ्यास छोड़कर और निश्चित होकर बैठ जाता है। इन्द्रियोंका बल ऐसा विचित्र होता है।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

"इसी लिए हे अर्जुन, मैं कहता हूँ कि विषयोंका लोभ पूरी तरहसे छोड़कर जो

पुरुष इन इन्द्रियोंका बल बिलकुल तोड़ डालता है, वही योग-निष्ठा या बुद्धिस्थैर्यमें समर्थ होता है। विषय-सुख जिस पुरुषके अन्तःकरणको भ्रममें नहीं डाल सकते, वही निरन्तर आत्मबोधसे सज्जित होकर रहता है। और नहीं तो यदि ऊपरसे देखनेमें विषयोंका कुछ भी संग न हो, पर मनमें विषयोंका थोड़ा-बहुत भी लेश रह जाय तो आदिसे अन्त सारा सांसारिक प्रपंच ही बचा हुआ समझना चाहिए। जिस प्रकार विषकी एक बूँद भी पी ली जाय तो वह विष बराबर बढ़ता जाता है और तब अन्तमें वह निःशंक होकर प्राणोंका घात करता है, उसी प्रकार यदि मनमें इन विषयोंकी थोड़ी-बहुत शंका भी बची रह जाय तो वह सारे विवेकका सत्यानाश कर डालती है।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥

"यदि अन्तःकरणमें विषयोंकी कुछ भी स्मृति बची रह जाय, तो वह संग-रहितसे भी विषयोंकी संगति करा देती है। इसी संगतिसे मूर्तिमती विषय-वासना प्रकट होती है। जहाँ विषयोंके सम्बन्धमें मनमें काम या वासना उत्पन्न हुई, वहाँ क्रोधका पहले ही आगमन हो जाता है। और जहाँ क्रोध आया, वहाँ सम्मोह या अविचार भी रखा ही रहता है। जब अविचार उत्पन्न हुआ, तब स्मृति उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार प्रचंड वायुके झोंकेसे दीपककी ज्योति बुझ जाती है। अथवा स्मृति-नाशसे प्राणी-की वैसी ही दशा होती है, जैसी सूर्य अस्त होने पर रात्रिके कारण सूर्य-तेजकी होती है और रात्रि उस सूर्य-तेजको निगल जाती है। फिर जब अज्ञानके अन्धकारसे सब कुछ व्याप्त हो जाता है, तब बुद्धि अन्दर ही अन्दर घबरा जाती है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार जन्मान्धको दौड़ना पड़ता है, और वह दीन होकर इधर-उधर भटकता फिरता है, उसी प्रकार बुद्धि भी भ्रमिष्ठ होकर भटकने लगती है। जब इस प्रकार स्मृति-भ्रंश होने पर बुद्धिकी विकट अवस्था हो जाती है, तब विवेक शक्तिका भी पूरी तरहसे नाश हो जाता है। चैतन्यका नाश होने पर जो दशा शरीरकी होती है, ठीक वही दशा बुद्धिका नाश होने पर मनुष्यकी हो जाती है। हे अर्जुन, बस तुम यही समझ लो कि जिस प्रकार जलनेवाली लकड़ीमें एक चिनगारी भी पड़ जाय तो उसकी आग फैलकर सारे त्रिभुवन-को जला देनेके लिए यथेष्ट होती है, उसी प्रकार यदि कभी सहजमें भी मनमें विषयोंका चिन्तन हो जाय तो उससे भी मनुष्यका बहुत बड़ा अधःपात हो जाता है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥

"इसी लिए इन सब विषयोंका मनोयोगपूर्वक परित्याग कर देना चाहिए। इससे राग-द्वेष आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, हे पार्थ, एक महत्वकी बात यह है कि राग-द्वेष नष्ट हो जाने पर इन्द्रियाँ यदि विषय-सेवन करें भी तो वे कोई

उपद्रव नहीं कर सकतीं। जिस प्रकार आकाशका सूर्य अपने किरण-जालसे संसारको स्पर्श करता है, पर फिर भी उसके साथ संसारके संग-दोषका सम्पर्क नहीं होता, उसी प्रकार जो पुरुष इन्द्रियोंके विषयोंके प्रलोभनोंमें नहीं पड़ता और काम-क्रोध आदिको छोड़कर सदा आत्मानन्दसे परिपूर्ण रहता है, उसे उपभोगके विषयोंमें भी आत्मताके अतिरिक्त और कुछ भी दिखाई नहीं देता। अब तुम्हीं बतलाओ कि ऐसी अवस्थामें कौन-से विषय किसके लिए बाधक हों? यदि पानीसे पानीको डुबाया जा सकता हो अथवा आगसे आगको जलाया जा सकता हो, तभी ऐसे परिपूर्ण व्यक्तिको विषय भी अपने जालमें फँसाकर विकल कर सकते हैं। इस प्रकार जो व्यक्ति अभेदपूर्वक केवल आत्म-स्वरूपमें ही रहता है, उसे निस्सन्देह स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥

"जिस अन्तःकरणमें अखंड आनन्दका निवास रहता है, उसमें सांसारिक दुःखोंका प्रवेश हो ही नहीं सकता। जिस प्रकार उस व्यक्तिको भूख-प्यासका कुछ भी डर नहीं रहता, जिसके जठरमें स्वयं अमृतका स्रोत उत्पन्न होता है; उसी प्रकार जिसके अन्तःकरणमें अखंड आनन्द भरा रहता है, उसे भला दुःख कैसे हो सकता है? उसकी बुद्धि तो आपसे आप परमात्म-स्वरूपमें बसी रहती है। जिस प्रकार वातहीन स्थानका दीपक कभी हिलता-डुलता नहीं और सदा समान रूपसे जलता रहता है, उसी प्रकार योग-युक्त पुरुषकी बुद्धि भी स्व-स्वरूपमें अचल रहती है।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥

"जिसके अन्तःकरणमें स्थिर बुद्धिका यह बल नहीं होता, उसी पर त्रिगुणोंकी सहायतासे विषयोंका जाल फैलता है। हे अर्जुन, ऐसे मनुष्यकी बुद्धि स्थिर नहीं रहती; और उसके अन्तःकरणमें इस प्रकारकी कल्पनाका भी उदय नहीं होता कि यह बुद्धि स्थिर हो। और हे पार्थ, जब मनमें उस स्थिरताकी कल्पना भी न हो, तब भला शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? जिस प्रकार पापीके पास मोक्ष कभी नहीं रहता, उसी प्रकार जहाँ शान्तिका उद्गम नहीं होता, वहाँ सुख भूलकर भी प्रवेश नहीं करता। अशान्तको तो तभी सुख प्राप्त हो सकता है, जब आग पर भूने हुए बीजोंमेंसे अंकुर निकल सकते हों (अर्थात् ये दोनों ही बातें समान रूपसे असम्भव हैं)। तात्पर्य यह कि मनकी अस्थिरता ही दुःखोंका मूल कारण है। इसलिए इन्द्रियोंको अपने वशमें रखना ही अच्छा है।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥

"इसलिए जो पुरुष इन्द्रियोंके कहनेके अनुसार ही सब काम करता हो, वह यदि इस संसारमें तरता हुआ भी दिखाई दे, तो भी वास्तवमें कदापि उसका तारण नहीं

होता। जिस प्रकार किनारे पर पहुँची हुई नाव भी यदि आँधी-पानी और तूफानमें पड़ जाय तो पहले नदीके बीचमें रहनेकी दशामें उस पर जो प्राणघातक संकट आकर टल गया था, वह संकट फिरसे आ पड़ता है; उसी प्रकार यदि स्वरूप-स्थितिमें पहुँचा हुआ मनुष्य भी विनोद या कुतूहलसे इन्द्रियोंका फिरसे लालन-पालन करना आरम्भ कर दे तो समझना चाहिये कि अब भी वह सांसारिक दुःखोंसे व्याप्त ही है।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

"इसलिए, हे पार्थ, यदि हमारी इन्द्रियाँ आपसे आप हमारे कहनेमें आ जायँ तो यही समझना चाहिए कि इसमें कुछ विशेष धन्यता है। देखो जिस प्रकार कछुआ शान्त भावसे अपने अवयवोंका प्रसार करता है, परन्तु इच्छा होते ही फिर उन्हें खींचकर अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जिसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें होती हैं और उसके कहनेके अनुसार आचरण करती हैं, उसीको स्थितप्रज्ञ समझना चाहिए। अब पूर्णताको प्राप्त पुरुषका एक और गूढ़ लक्षण बतलाता हूँ। वह भी सुनो।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

"जिस ब्रह्म-वस्तुके सम्बन्धमें समस्त भूत निःशंक रूपसे मानो सोए हुए रहते हैं, उस ब्रह्म-वस्तुके सम्बन्धमें जो निरन्तर जाग्रत रहता है और जिन विषयोंके लिए जीवमात्र जाग्रत रहकर प्रयत्न करते रहते हैं, उन विषयोंकी ओरसे जो पूरी तरहसे अपनी आँखें बन्द कर लेता है, वही वास्तवमें सब उपाधियोंसे मुक्त रहता है, वही सच्चा स्थितप्रज्ञ होता है और वही पूर्ण रूपसे श्रेष्ठ मुनि सिद्ध होता है।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

"हे पार्थ, ऐसे पुरुषको पहचाननेका एक और लक्षण है। समुद्रकी गम्भीरता सदा अबाधित रहती है। यद्यपि समस्त नदियोंका प्रवाह अपने दोनों किनारों पर भरकर समुद्रमें आ मिलता है, तो भी वह समुद्र नामको भी नहीं बढ़ता और अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता। अथवा जब गरमीके दिनोंमें सब नदियाँ सूख जाती हैं, तबभी समुद्रमें रत्ती भरकी भी कमी नहीं दिखाई देती। इसी प्रकार यदि स्थितप्रज्ञको समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ प्राप्त हो जायँ तो भी उसकी बुद्धि चल-विचल नहीं होती। अथवा यदि उसे वे ऋद्धि सिद्धियाँ न भी प्राप्त हों, तो भी उसका धैर्य नष्ट नहीं होता। क्या सूर्यके घरमें कभी दीपककी बत्तीसे भी उजाला होता है? और यदि बत्ती न जलाई जाय तो सूर्यको अँधेरेमें बैठे रहना पड़े? इसी प्रकार चाहे ऋद्धि-सिद्धियाँ आ जायँ और चाहे चली जायँ, पर स्थितप्रज्ञको उनका ध्यान भी नहीं रहता। वह अपने आत्मानन्दसे ही परम सुखमें मग्न रहता है। जो अपने घरकी शोभा देखकर इन्द्रके निवास-स्थानको भी तुच्छ समझता है,

वह भला किसी भीलकी पत्तोंसे सजाई हुई झोपड़ीको देखकर कैसे भूल सकता है ? जो इतना पवित्र हो कि अमृतमें भी कोई दोष बतला सकता हो, वह जिस प्रकार दलिया खाना कभी स्वीकार नहीं करता, उसी प्रकार जिसे आत्म-सुखका अनुभव हो जाता है, वह लौकिक-वैभवके उपभोगका कुछ भी मूल्य नहीं समझता। हे अर्जुन, जहाँ स्वयं स्वर्ग-सुखकी भी परवाह न हो, वहाँ इन क्षुद्र लौकिक ऋद्धि-सिद्धियोंको कौन पूछता है !

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

"जिसे इस प्रकारका आत्म-ज्ञान प्राप्त हो गया हो और जो आत्म-स्वरूपके अखंड आनन्दसे पुष्ट रहता हो, उसीको तुम सच्चा स्थितप्रज्ञ समझो। वह अहंकारका मद दूर कर देता है, सब प्रकारकी कामनाओंका परित्याग कर देता है और स्वयं ही विश्व-रूप होकर विश्वमें परमानन्दसे रहता है।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥

"इसीको अप्रतिम और असीम ब्राह्मी-स्थिति समझना चाहिए। इसका अनुभव करनेवाले निष्काम पुरुष बिना किसी प्रकारके कष्टके परब्रह्मको प्राप्त करते हैं।" संजयने कहा—"चैतन्य रूपके साथ मिलकर एक होनेके समय (मृत्युके समय) होनेवाली अन्तः-करणकी विकलता जिसके कारण स्थितप्रज्ञके लिए बाधक नहीं हो सकती, वही यह ब्राह्मी-स्थिति श्रीकृष्णने अर्जुनको स्वयं बतलाई थी।" श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने अपने मनमें कहा—"श्रीकृष्णके ये विचार मेरे लिए हितकारक ही हुए हैं। क्योंकि जब श्रीकृष्णने सभी कर्मोंका निषेध कर दिया है, तो फिर मेरे युद्ध करनेकी बात टल गई।" इस प्रकार श्रीकृष्णकी बातोंसे अर्जुन अपने मनमें प्रसन्न हुआ और अब वह कुछ शंकाएँ उठाकर श्रीकृष्णसे कुछ प्रश्न करेगा। वह प्रसंग बहुत ही सुन्दर है। जो समस्त धर्मोंका जन्म-स्थान अथवा विवेक रूपी अमृतका अगाध और अनन्त समुद्र ही जान पड़ता है और जिसका निरूपण स्वयं सर्वज्ञ-श्रेष्ठ श्रीकृष्ण करेंगे, वह संवाद श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव बतलावेगा।

तीसरा अध्याय

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—"हे लक्ष्मीपति, आपने जो कुछ कहा, वह सब मैंने बहुत ध्यानपूर्वक सुना। यदि आपका निश्चित मत यही है कि अच्छी तरह विचार करने पर कर्म और कर्त्ता रह ही नहीं जाते, तो फिर आप मुझसे यह कैसे कहते हैं कि—'पार्थ, तुम युद्ध करो?' इस भयंकर काममें मुझे ढकेलते हुए क्यों आपको संकोच नहीं होता? हे देव, जब आप ही सब कर्मोंका पूर्ण रूपसे निषेध करते हैं, तो फिर आप मेरे हाथों मार-काटका यह घातक काम क्यों कराते हैं? हे हृषीकेश, इसी लिए मेरा यह प्रश्न है कि जब कर्मका अल्पांश भी आपको मान्य नहीं है, तब फिर आप जो मेरे हाथों इतनी बड़ी हिंसा कराना चाहते हैं, वह क्यों? और आपकी बातोंमें इतनी असम्बद्धता कैसे है?

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥

"हे देव, जब आप ही इस प्रकार गड़बड़में डालनेवाली बातें कहेंगे, तो फिर हमारे सरीखे अज्ञानी जन क्या करेंगे? क्या अब विवेक पूर्ण रूपसे डूब ही गया? यदि इस प्रकारकी बातोंको सदुपदेश कहा जाय, तो क्या भ्रष्टता इससे कोई अलग चीज होगी? मुझमें आत्म-बोधकी जो आकांक्षा थी, वह आज खूब पूरी हुई। वैद्य ने पथ्य तो बतला दिया, पर वही यदि रोगीके औषधमें विष डाल दे तो फिर रोगी कैसे जी सकता है? जैसे अन्धेको कोई टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर लगा दे या बन्दरको कोई नशेकी चीज पिला दे। मैं तो समझता हूँ कि ठीक इसी तरहका खूब सुन्दर उपदेश मुझे मिला है। एक तो पहलेसे ही मेरी समझमें कुछ नहीं आता था; ऊपरसे यह मोहकी बाधा हो गई थी; इसलिए हे श्रीकृष्ण, मैंने आपसे पूछा था कि इस विषयमें अच्छा विचार या सिद्धान्त क्या है! पर आपका कुछ निराला ही ढंग देखता हूँ। आपके उपदेशमें और यह गड़बड़ी! फिर उसका अनुसरण करनेसे कौन-सा हित होगा? मैंने बहुत ही आशा-पूर्वक सच्चे हृदयसे आपके वचनोंपर भरोसा किया था। पर आप ही जब ऐसा करने लगे, तब तो यही कहना चाहिए कि सभी बातोंका अन्त हो गया। आपने यदि ऐसा किया तो मेरी खूब भलाई की। ऐसी अवस्थामें मैं ज्ञानकी आशा ही क्यों रखूँ?" फिर अर्जुनने यह भी कहा—"ज्ञानकी तो यह अवस्था हो गई। पर साथ ही एक और बुरी बात यह हो गई कि पहले जो मेरा मन शान्त था, वह अब और भी सन्देहमें पड़ गया।

हे देव, आपका चरित्र अगम्य है। अब यदि आप इसी बहाने मेरी परीक्षा करना चाहते हों, तो मुझे इस बातका कुछ भी पता नहीं चलता कि आप मुझे चकमा देकर धोखेमें डाल रहे हैं या इस गूढ़ प्रकारसे सचमुच मुझे महत्वका कोई तत्व या सिद्धान्त बतला रहे हैं। इसलिए हे देव, मेरी प्रार्थना है कि आप अपनी इस गूढ़ भाषाका अन्त करें और सीधी-सादी तथा सरल भाषामें अपने विचार मुझे बतलावें। मैं बहुत ही मन्द बुद्धिका आदमी हूं, इसलिए आप ऐसी सरल और निश्चित बातें कहें जो मुझ सरीखे मन्द बुद्धिवाले व्यक्तिकी समझमें भी अच्छी तरह आ जायें। जब कोई रोगीका रोग दूर करनेका विचार कर लेता है, तब उसे औषध तो देनी ही पड़ती है। परन्तु जिस प्रकार उस औषधका रुचिकर और मधुर होना अच्छा होता है, उसी प्रकार गूढ़ अर्थोंसे परिपूर्ण तत्व-बोधकी बातें तो आप बतलावें, परन्तु वे बातें इस तरहकी हों जो अच्छी तरह मेरी समझमें आ सकें। हे देव, आप सरीखे वास्तविक आत्म-बोधक उपदेश देनेवाले गुरु हों, तो फिर मैं भी अपना हौसला क्यों न अच्छी तरह पूरा कर लूं? हे देव, जब आप ही मेरी माताके समान हैं, तो फिर ऐसे अवसर पर संकोच करनेकी क्या आवश्यकता है? जब दूध देनेवाली कामधेनु ही मिल जाय, तो फिर केवल इच्छा करनेमें कौन कमी करेगा? जब चिन्तामणि ही मिल जाय, तो फिर इच्छा करना क्या कठिन है? फिर जो जो मनमें आवे, उन सबकी अच्छी तरह इच्छा क्यों न की जाय; क्योंकि वे सभी इच्छाएं तो तुरन्त ही पूरी हो जायेंगी। यदि अमृतके समुद्रके पास पहुंचकर भी मारे प्यासके छटपटाना ही हो तो फिर अमृत-सागर तक जानेका पहले परिश्रम ही क्यों किया जाय? उसी प्रकार, हे देव लक्ष्मीपति, अनेक जन्मों तक आराधना करनेके उपरान्त जब आप संयोगसे इस समय मुझे मिल गये हैं, तो हे परमेश्वर, आपसे मन-मानी वस्तु क्यों न मांग लूं? हे देव, यह मुझे बहुत ही उत्तम और सुभीतेका अवसर प्राप्त हुआ है। आज मेरी समस्त इच्छाओंको नवीन चैतन्य प्राप्त हुआ है, मेरे पुण्य फलीभूत हुए हैं और मेरे मनोरथोंको आज पूर्ण विजय प्राप्त हुई है। क्योंकि आज आप मेरे लिए पूर्ण रूपसे अनुकूल हुए हैं। हे परम मंगलमय देवेश्वर, मैं आपका जय-जयकार करता हूं। जैसे माताके सम्बन्धमें बच्चेको समय और अवसरका ध्यान रखनेकी आवश्यकता नहीं होती और वह जब चाहता है, तभी उसका स्तन पान कर सकता है; उसी प्रकार, हे कृपासागर देव, जो कुछ मेरे मनमें आता है, उसीके अनुसार मैं बड़े उत्साहसे आपसे प्रश्न करता हूं। इसलिए आप मुझे निश्चयपूर्वक कोई ऐसी बात बतलावें जिससे मेरा पारलौकिक हित भी हो और इहलौकिक हित भी हो।"

श्रीभगवानुवाच—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णने आश्चर्यसे चकित होकर कहा—"हे अर्जुन, मेरे कहनेका अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हें बुद्धि-योगका तत्व स्पष्ट रूपसे बतलाना चाहता था; और

उसी स्पष्टीकरणके लिए मैंने तुम्हें सांख्य का ज्ञान-योग भी बतला दिया। परन्तु उसमेंजो हेतु था, वह तुम्हारी समझमें बिलकुल नहीं आया; इसलिए तुम्हें व्यर्थ इतनी परेशानी हुई। पर अब तुम यह बात ध्यानमें रखो कि ये दोनों सम्प्रदाय या सिद्धान्त मैंने ही बतलाये हैं। हे महावीर, ये दोनों सम्प्रदाय अनादि कालसे मैंने ही प्रकट किए हैं। इनमेंसे एक तो वह है, जिसे लोग ज्ञान-योग कहते हैं और उसका अनुसरण सांख्यवादी लोग करते हैं। जब मनुष्यकी समझमें यह ज्ञान-योग अच्छी तरह आ जाता है, तब जीवात्मा उस परमात्माके साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरेको कर्मयोग कहते हैं। जिन्हें यह कर्मयोग सिद्ध हो जाता है, वे उचित आचार करनेवाले साधक पुरुष उपयुक्त समय आने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। पहले तो ये दोनों मार्ग अलग अलग जान पड़ते हैं, परन्तु यदि परिणामका विचार किया जाय तो अन्तमें ये दोनों मिलकर एक हो जाते हैं, एक तो पककर तैयार भोजन रहता है और एक बिना पका हुआ और कच्चा अन्न रहता है। परन्तु जिस प्रकार इन दोनोंका अन्तिम कार्य क्षुधाकी शान्ति करना है, अथवा जिस प्रकार पूर्ववाहिनी और पश्चिम-वाहिनी दो नदियां अलग अलग दिखाई पड़ती हैं, पर फिर भी समुद्रमें मिलने पर वे दोनों जिस प्रकार अन्तमें एक ही स्वरूप प्राप्त करती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग और कर्म-योग ये दोनों सम्प्रदाय एक ही परमार्थका साधन करानेवाले हैं, और केवल अधिकारीके विचारसे उनका उपासना प्रकार अलग अलग है। देखो, पक्षी तो उड़कर चट फलके पास पहुंच जाताहै; पर क्या मनुष्य भी उसीप्रकार उड़कर फल तक पहुंच सकता है? वह तो धीरे धीरे एक एक डालके सहारेसे, अपने दृढ़ निश्चयकी सामर्थ्यसे, कुछ समयमें मार्गका अतिक्रमण करके ही अन्तमें फल प्राप्त करता है। बस उसी पक्षीवाली प्रणालीसे सांख्य तो ज्ञानके बलसे तत्काल मोक्ष दिलवाता है, पर कर्मयोगी ऐसे कर्मोंका आचरण करता है जो उसके स्वधर्मके लिए उचित और उपयुक्त होते हैं; और तब सुभीतेसे उचित समय आने पर अर्थात् ज्ञानोत्तर कालमेंवह मोक्ष प्राप्त करता है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

"आरम्भमें जिन उचित और विहित कर्मोंका आचरण करना आवश्यक होता है, यदि उन कर्मोंको बिना किए ही कोई यह कहे कि मैं सिद्धोंकी तरह कर्म छोड़ दूंगा, तो उस कर्महीनके किये वह निष्कर्मता कभी हो ही नहीं सकेगी; क्योंकि जो कर्तव्य प्राप्त हो चुके हैं, उन्हींको छोड़ बैठना और तब यह समझ लेना कि इतनेसे ही निष्कर्मता सिद्ध हो गई, बड़ी मूर्खता है। देखो, जहां नदीके प्रबल प्रवाहके कारण उस पार जाना संकटपूर्ण हो, वहां नावको छोड़ देना क्या कोई बुद्धिमत्ताका काम होगा? अथवा मानलो कि क्षुधा शान्त करनेकी इच्छा है। उस समय रसोई क्यों न पकाई जाय? अथवा यदि रसोई पककर तैयार हो तो वह खाई क्यों न जाय? जब तक वासना नष्ट नहीं होती, तब तक कर्म सदा साथ ही लगे रहते हैं। हां, जब मनुष्यको अखंड सन्तोष प्राप्त होता है, तब सब कर्म आपसे आप ही बन्द हो जाते हैं। इसलिए हे अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि जो हृदयसे निष्कर्मताका साधन करनेकी इच्छा रखता हो, उसे उन कर्मोंका परित्याग

नहीं करना चाहिए जो उसके स्वधर्मके लिए विहित हैं। और फिर एक बात यह है कि कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यदि अपनी इच्छाके अनुसार कर्म किये जायँ तो वे कर्म सिद्ध हो जाते हैं; और यदि उनका परित्याग कर दिया जाय तो फिर वे कर्म रह ही नहीं जाते, उनका नाश हो जाता है। परन्तु ऐसी बातें कहना व्यर्थ और पागलपनका काम है। यदि तुम चाहो तो इस बात पर अच्छी तरह विचार करके इसे समझ सकते हो। पर यह बात निःसन्देह अपने ध्यानमें रखो कि कर्मका केवल त्याग कर देनेसे ही मनुष्यका वास्तवमें उससे छुटकारा नहीं हो जाता।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥

"जब तक गुणोंकी जननी मायाका आधार बना हुआ है, तब तक हम लोग अपने अज्ञानके कारण जो काम करते हैं, वे सब आपसे आप गुणों पर अवलम्बित रहते हैं। फिर यह भी देखो कि हमारे जो विहित कर्म हैं, उन्हें यदि हम अपने मनके किसी आवेशके कारण छोड़ भी दें, तो भी क्या इन्द्रियोंके स्वाभाविक धर्म मर जाते हैं? कान क्या कभी सुननेका काम छोड़ देते हैं? या आँखोंका तेज नष्ट हो जाता है? या नाकके छेद बन्द हो जाते हैं और वे सूँघना छोड़ देते हैं? अथवा क्या मानसिक आवेशके कारण प्राण-वायु और अपान-वायुकी गति खंडित होती है या चित्त निर्विकल्प हो जाता है या भूख-प्यास आदि इच्छाओंका अन्त हो जाता है? अथवा जाग्रति और स्वप्न की अवस्थाएँ नष्ट हो जाती हैं अथवा पैर चलना भूल जाते हैं? पर इन सब बातोंको जाने दो। क्या जन्म और मृत्यु भी कभी टल सकती है? यदि इनमेंसे एक भी बात नहीं हो सकती, तो फिर कर्मोंको छोड़ देनेसे ही क्या होगा? तात्पर्य यह कि जब तक मायाका आधार बना हुआ है, तब तक कर्मोंका त्याग हो ही नहीं सकता। मायाके स्वभाव-बलसे ही सब कर्म आपसे आप होते रहते हैं। इसलिए जब तक मायाका अस्तित्व बना है, तब तक चाहे किसी प्रकारके निग्रहमें अन्तःकरणको जकड़कर बन्द कर दिया जाय, पर वे सब कृत्य निष्फल ही होते हैं। देखो, जब हम रथ पर बैठते हैं, तब चाहे हम कितने ही निश्चल होकर क्यों न बैठें, पर फिर भी परतन्त्रताके कारण हम हिलते-डुलते रहते ही हैं। सूखे हुए पत्ते आप तो हिलते-डुलते नहीं, पर जब जोरकी हवा या आँधी चलती है, तब वे भी आकाशमें इधर-उधर उड़ने लगते हैं। इसी प्रकार मायाके आधारसे कर्मेन्द्रियाँ विचलित होती हैं, जिसके कारण उस पुरुषके हाथसे भी आपसे आप कर्म होते रहते हैं, जो अपने निग्रहके कारण निरन्तर निष्कर्म रहना चाहता है। इसीलिए जब तक मायाका सहवास बना हुआ है, तब तक कर्मोंका कभी त्याग हो ही नहीं सकता। ऐसी अवस्थामें जो लोग यह कहते हैं कि हम कर्मोंका त्याग करेंगे, वे अपना हठ दिखलाने-के सिवा और कुछ भी नहीं कर सकते।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

"जो लोग विहित कर्मोंका परित्याग कर देते हैं और केवल कर्मेन्द्रियोंकी गतिको रोककर निष्कर्म होनेका रूपक बनाते हैं, उनसे कर्मोंका त्याग नहीं होता, क्योंकि उनके मनमें कर्मोंका विचार बना ही रहता है। जिस प्रकार कोई दरिद्र पुरुष अपना ऊपरी या बाहरी ठाठ-बाट बनाये रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष निष्कर्मताका खाली ढोंग बनाये फिरता है। हे अर्जुन, इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे लोगोंको भी विषय-वासनामें फँसे हुए ही समझना चाहिए। अब मैं तुम्हें प्रसंगवश ऐसे व्यक्तिके लक्षण बतलाता हूँ जो सब प्रकारकी आशाओं और इच्छाओंसे मुक्त रहते हैं। वह सुनो।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

"जो पुरुष अपने अन्तःकरणमें निग्रही होता है, जो परमात्म-स्वरूपमें मिलकर एक हो जाता है, परन्तु फिर भी जो सामान्य संसारी मनुष्योंकी भाँति ऊपरी सब व्यवहार करता है, जो अपनी इन्द्रियोंको तो विषयोंका सेवन करनेकी स्वतन्त्रता दे देता है, परन्तु जिसके मनमें विषयोंका भय नहीं होता और जो वे सब विहित कर्म करता चलता है जो उसके सामने उपस्थित होते हैं, वह कर्मेन्द्रियोंके सब कर्म करते रहने पर भी उनका नियमन करता है, पर उन कर्मोंके द्वारा होनेवाले विकारोंसे व्याप्त नहीं होता। वह कभी किसी कामनाके वशमें नहीं होता और मोहका मल उसे नहीं लगता। जिस प्रकार पानीमें तैरता रहनेवाला कमलका पत्ता पानीसे नहीं भींगता, उसी प्रकार वह भी निर्लिप्त रहकर सब प्रकारके लौकिक व्यवहार करता रहता है और देखनेमें सामान्य लोगोंके ही समान जान पड़ता है। और जिस प्रकार पानीके संयोगसे सूर्यका बिम्ब पृथ्वी परकी वस्तुओंके समान दिखाई देता है, उसी प्रकार सामान्य दृष्टिसे देखने पर वह भी साधारण मनुष्योंके ही समान जान पड़ता है। पर यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उसकी सच्ची स्थितिकी पूरी पूरी थाह ही नहीं लगती। जो पुरुष इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त दिखाई दे, उसीको सब प्रकारकी आशाओं और इच्छाओंके पाशसे मुक्त समझना चाहिए। हे अर्जुन, इसी प्रकारके मुक्त पुरुषको "योगी" की विशिष्ट संज्ञा देनी चाहिए। इसी लिए मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम भी इसी प्रकारके योगी बनो। तुम अपने मनका नियमन करो और अपने अन्तः-करणको शान्त और स्तब्ध होने दो; और तब कर्मेन्द्रियोंको भले ही आनन्दपूर्वक विषयोंमें विचरण करने दो। (फिर तुम्हें उनके द्वारा बाधा होनेका कुछ भी डर न रह जायगा।)

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥

यदि कोई निष्कर्मताका साधन करना चाहे तो वह इस संसारमें सम्भव ही नहीं है। अब इस बातका विचार तुम आप ही कर लो कि निषिद्ध कर्म करने चाहिएँ या विहित कर्म। इसी लिए जो जो कर्म उचित हों और सामने आ पड़ें वे सब निष्काम मनसे करने चाहिएँ। हे अर्जुन, इस सम्बन्धमें एक और विलक्षण बात है जो अभी तक तुम्हारे ध्यानमें नहीं आई है। वह यह कि इस प्रकार आपसे आप जिन कर्मोंका आचरण किया जाता है, वे मोक्ष-दायक होते हैं। तुम इस बातका ध्यान रखो कि जो व्यक्ति

शास्त्रोंकी आज्ञाके अनुसार और स्वधर्मके अनुरूप सब कर्म करता है, निश्चयपूर्वक वह उन्हीं कर्मोंकी सहायतासे मोक्ष भी प्राप्त करता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ९॥
सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥ १०॥

"भाई अर्जुन, अपना जो स्वधर्म होता है, उसीका नाम "नित्य यज्ञ" है और उसका पालन करनेमें पापका लेश मात्र भी नहीं होता। जब यह स्वधर्म छूट जाता है और मनमें किसी ऐसे-वैसे परधर्मके प्रति प्रवृत्ति या रुचि उत्पन्न होती है, तभी मनुष्य संसार अर्थात् जन्म और मरणके बन्धनमें पड़ता है। इसी लिए जो पुरुष सदा स्वधर्मके अनुसार कर्मोंका आचरण करता है, उसके द्वारा उन कर्मोंके आचरणमें ही निरन्तर यज्ञ-कर्म होते रहते हैं; और इसी लिए जो ऐसे कर्म करता है, उसे संसारके भमेले बन्धनमें नहीं डाल सकते। यह जो सारा लोक है, वह मायाके कारण ही मोहमें फँसा हुआ है और उससे स्वधर्माचरण रूपी नित्य यज्ञ नहीं होता; और इसी लिए वह कर्मके बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है। हे अर्जुन, अब मैं इसी विषयकी एक कथा तुम्हें सुनाता हूँ। जिस समय ब्रह्माने इस सृष्टि और सब पदार्थोंकी रचना की थी, उस समय उसने समस्त मनुष्योंका इसी नित्य यज्ञके साथ अर्थात् विहिताचारके धर्मके साथ निर्माण किया था। परन्तु यह नित्याचारका धर्म गहन था और इसी लिए वह अज्ञान प्राणियोंकी समझमें नहीं आता था। उस समय सब मनुष्योंने मिलकर ब्रह्मासे प्रार्थना की कि हे देव, वह कौन-सा ऐसा आधार है, जिससे हमारा जीवन सार्थक हो और सब काम ठीक तरहसे चलें? उस समय ब्रह्माने मनुष्योंसे कहा था—'तुम लोगोंके लिए तुम्हारे अलग अलग वर्णोंके अनुसार स्वधर्म नामक यज्ञकी व्यवस्था की गई है। तुम लोग इसीकी उपासना या आचरण करो। बस इसीसे तुम्हारी सब इच्छाएँ आपसे आप पूरी होती रहेंगी। तुम लोगोंको व्रतों और नियमोंके फेरमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं; तपस्या करके शरीर-दंडको सुखानेकी भी आवश्यकता नहीं; और दूर दूरके तीर्थोंकी यात्रा करनेकी भी आवश्यकता नहीं। मोक्षके योग आदि उपायों, अनेक प्रकारकी कामिक उपासनाओं और मन्त्र-यन्त्रके प्रयोगोंके फेरमें भलेही कोई पड़ जाय, पर तुम लोग अनेक प्रकारके देवताओं का भजन भी बिलकुल मत करो। केवल स्वधर्मका आचरण करो और उनके कारण आपसे आप होनेवाला यज्ञ करते चलो। तुम अपने मनमें किसी प्रकारका स्वार्थ मत रखो और केवल स्वधर्मका अनुष्ठान करो। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ होकर और निष्काम बुद्धिसे अपने पतिकी आराधना करती है, उसी प्रकार इस यज्ञकी आराधना करना ही तुम लोगोंका एक मात्र कर्तव्य है।' सत्यलोकके अधिपति ब्रह्माने यह भी कहा था—'हे मनुष्यों, यदि तुम लोग भक्तिपूर्वक इस स्वधर्मका सेवन करोगे, तो यह कामधेनुके समान तुम्हारी सभी इच्छाएँ पूरी करेगा। और तब यह कभी तुम लोगोंको निराधार नहीं छोड़ेगा।"

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥१२॥

"जब तुम इस स्वधर्माचरण रूपी यज्ञसे समस्त देवताओं को सन्तुष्ट करोगे, तब वे देवता तुम्हें सभी इच्छित वस्तुएँ प्रदान करेंगे। जब इस स्वधर्माचरण रूपी पूजा से तुम देवताओंका पूजन करोगे, तब वे देवता निश्चय ही तुम्हारा योग-क्षेम करेंगे, तुम्हें किसी प्रकारकी त्रुटिका अनुभव नहीं करने देंगे। जब तुम इस प्रकार देवताओंका भजन करोगे, तब वे देवता तुम पर सन्तुष्ट होंगे और इस प्रकार तुम दोनोंमें प्रेम-भाव उत्पन्न होगा। फिर तुम जो काम करना चाहोगे, वही सिद्ध हो जायगा और तुम्हारे मनकी सभी कामनाएँ पूरी होंगी। तुम्हारी बात कभी खाली नहीं जायगी। तुममें आज्ञा करने की शक्ति आ जायगी और सब प्रकारकी सिद्धियाँ तुम्हारी आज्ञाकी याचना करने लगेंगी। जिस प्रकार ऋतु श्रेष्ठ वसन्तके द्वार पर वन-शोभा सदा फल-भारका सौन्दर्य धारण करके उपस्थित रहती है, उसी प्रकार स्वयं दैव सब प्रकारकी सुख-समृद्धि अपने साथ लेकर आप ही तुम्हें ढूँढ़ता हुआ आवेगा। भइया, जब तुम स्वधर्म पर निष्ठा रखकर इस प्रकार आचरण करोगे, तब सब प्रकारसे सुखी और क्लेश-हीन हो जाओगे। परन्तु सब प्रकारकी सम्पदाएँ हाथ आ जाने पर जो विषयोंके माधुर्यके प्रलोभन में पड़कर इन्द्रियोंके वशमें हो जायगा, और स्वधर्म-यज्ञसे प्रसन्न होनेवाले देवताओंकी दी हुई भर-पूर सम्पत्तिको जो उचित मार्गमें न लगावेगा और विश्वके प्रभुका भजन न करेगा, जो अग्निको आहुति न देगा, देवताओंकी पूजा न करेगा, ब्राह्मणोंको यथा-समय भोजन न करावेगा, जो गुरुकी भक्ति न करेगा, अतिथियों और अभ्यागतोंका सत्कार न करेगा, अपनी जाति और गोत्रके लोगोंको सन्तुष्ट न रखेगा, और इस प्रकार जो स्वधर्मके आच-रणसे पराङ्मुख होगा और मिली हुई सम्पत्तिके कारण अभिमानसे अन्धा होकर केवल सुखोंके उपभोगमें ही फँसा रहेगा, उसका बहुत बड़ा घात होगा, जिससे हाथमें आया हुआ सारा वैभव नष्ट हो जायगा; और जो सुखोपभोग उसे प्राप्त होंगे, उन्हें भी वह न भोग सकेगा। जिस प्रकार आयुष्य समाप्त हो जाने पर शरीरमें चेतना-शक्ति नहीं रह जाती अथवा अभागे पुरुषके घरमें लक्ष्मी नहीं ठहरती, उसी प्रकार यदि स्वधर्मा-चरणका लोप हो जाय तो समझ लेना चाहिये कि समस्त सुखोंका आधार ही टूट गया। जिस प्रकार दीपकके बुझ जाने पर उसके साथ ही साथ प्रकाशका भी नाश हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ स्वधर्म का उच्छेद हुआ, वहाँ स्वतन्त्रताका भी ठिकाना नहीं रह जाता।" ब्रह्माने यह भी कहा था—'इसलिए हे प्रजाजन, जो स्वधर्मका परित्याग करेगा, उसे काल दण्ड देगा और उसे चोर ठहराकर उसका सर्वस्व हरण कर लेगा। फिर सब दोष चारों ओरसे आकर उसीके गले पड़ जायेंगे; और जिस प्रकार रातके समय श्मशानमें भूत-प्रेत आदि प्रकट होते हैं, उसी प्रकार त्रैलोक्यके सारे दुःख, अनेक

प्रकारके पातक और सब प्रकारकी दीनताएँ आकर उस पुरुषमें निवास करने लगेंगी। जो पुरुष वैभवके मदसे अन्धा हो जाता है, उसकी ऐसी ही दशा होती है। और फिर चाहे वह कितना ही रोए और कितना ही कलपे, परन्तु कल्पान्तमें भी उसका छुटकारा नहीं होता। इसलिए तुम लोग स्वधर्म कभी मत छोड़ो और इन्द्रियोंको इधर-उधर मत भटकने दो।' बस यही उपदेश ब्रह्माने मानवी जीवोंको दिया था। ब्रह्माने यह भी कहा था कि जलचर प्राणी ज्यों ही जलके बाहर निकले, त्योंही समझ लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु आ गई। इसी प्रकार स्वधर्मका भी कभी किसीको परित्याग नहीं करना चाहिये; नहीं तो सर्वस्व नष्ट हो जायगा। इसीलिए मैं बार-बार तुम लोगोंसे यही कहता हूँ कि तुम लोग सदा अपने-अपने उचित कर्मोंके आचरण में ही लगे रहो।"

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥१३॥

"जो पुरुष निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मके अनुसार उचित कार्योंमें अपनी सम्पत्तिका व्यय करता है; गुरु, गौ और अग्निकी पूजा करता है, यथा-समय ब्राह्मणोंकी सेवा करता है और पितरोंकी तृप्तिके लिए श्राद्ध आदि कर्म करता है, और इस प्रकार स्वधर्मका आचरण करके यज्ञोंका सम्पादन करता है, जो पंचमहायज्ञ आदि करके अग्निमें आहुति समर्पित करता है और तब सहजमें जो कुछ बचा रहता है, वही भाग यह समझकर अपने कुटुम्बके लोगों के साथ सुखपूर्वक सेवन करता है कि यही भाग पापोंका नाश करनेवाला है और यही भक्षण करनेके योग्य है, जो पुरुष इस प्रकार यज्ञोंके हुत-शेष भागका उपभोग करता है, उसे सब पातक उसी प्रकार छोड़ जाते हैं, जिस प्रकार अमृतके प्राप्त होने पर महारोग मनुष्यको छोड़ जाते हैं। अथवा जिसे निश्चित रूपसे तत्व-ज्ञान हो जाता है, वह जैसे नाम मात्रको भी भ्रांतिमें नहीं पड़ता, उसी प्रकार यह शेष-भोगी भी पापोंके जालमें नहीं पड़ता। इसलिए स्वधर्मका आचरण करके जो कुछ सम्पादित किया जाय, उसका व्यय भी स्वधर्मके आचरणमें ही होना चाहिये; और तब जो भाग बच रहे, उसीसे सन्तोषपूर्वक निर्वाह करना चाहिये।" इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको यह प्राचीन कथा सुनाई थी और कहा था—"हे अर्जुन, तुम यह स्वधर्म यज्ञ अवश्य करो; इसे बिना किये मत रहो। जो लोग इस शरीरको ही आत्मा मानते हैं और कहते हैं कि विषयोंका स्वार्थ-बुद्धिसे उपभोग करना चाहिये और इस उपभोग के पीछे जिन्हें और किसी बातका ध्यान ही नहीं रह जाता, उन बहके हुए मूर्खोंको इस नित्य-यज्ञके साधनका रहस्य मालुम नहीं होता और वे केवल अहंकारपूर्वक सुखोपभोग भोगनेकी ही इच्छा करते हैं। जो लोग केवल ऐसे ही अन्न पकाते हैं जो उनकी इन्द्रियों को रुचिकर होते हैं, उनके सम्बन्धमें यही समझना चाहिये कि वे पापी पुरुष पातकोंका ही सेवन कर रहे हैं। यह सम्पत्ति-संग्रह स्वधर्म-यज्ञमें आहुति देनेका ही द्रव्य है, और यह द्रव्य इस यज्ञमें परम पुरुषको समर्पित करनेके ही लिए है। लोग इस तत्वका तो परित्याग कर देते हैं और केवल अपनी इच्छा या रुचिके अनुसार अनेक प्रकार के भोजन प्रस्तुत करते हैं। जिन खाद्य पदार्थोंके योगसे यह यज्ञ सिद्ध होता

है और आदि पुरुष सन्तुष्ट होता है, वे खाद्य पदार्थ कुछ ऐसे-वैसे नहीं समझे जा सकते। अन्नको कभी सामान्य या तुच्छ मत समझो और इन्हें प्रत्यक्ष ब्रह्म-रूप ही मानो; क्योंकि यही सारे विश्वके जीवनका साधन है।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

"अन्नकी सहायतासे समस्त भूत बढ़ते हैं और सदा पर्जन्य या मेघसे अन्नकी उत्पत्ति होती है। इस पर्जन्यको उत्पन्न करनेवाला यज्ञ है और कर्मकी सहायतासे यज्ञ सिद्ध होते हैं, और कर्म वेद-रूपी ब्रह्मासे उत्पन्न होते हैं। इस वेद-ब्रह्माकी उत्पत्ति अक्षर तथा परात्पर ब्रह्म तत्वसे होती है। इसलिए यह स्थावर और जंगम विश्व मूलतः अक्षर परब्रह्मसे ओत-प्रोत भरा हुआ है। तो भी, हे अर्जुन तुम यह बात समझ लो कि कर्म रूपसे अवतरित होनेवाले इन यज्ञोंमें वेदरूपी ब्रह्म अक्षर रहता है।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥ १६ ॥

"हे पार्थ, इस प्रकार मैंने तुम्हें स्वधर्म-यज्ञकी यह मूल पीठिका संक्षेपमें बतला दी है। इसी लिए यह स्वधर्माचरणरूपी यज्ञ ही वास्तवमें उचित और कर्त्तव्य है। भ्रममें पड़ा हुआ जो मनुष्य इस लोक में आकर यह यज्ञ नहीं करता, उसके सम्बन्धमें तुम यह समझलो कि वह केवल अपनी इन्द्रियोंकी लालसाएँ पूरी करनेके लिए ही इस लोकमें आया है; और इसलिए वह पापकी राशि बनकर इस पृथ्वी परका भार ही हुआ है। जिस प्रकार असमयमें आकाशमें फैला हुआ मेघ व्यर्थ होता है, उसी प्रकार ऐसे पुरुषका सारा जीवन भी व्यर्थ ही होता है। जिस मनुष्य से स्वधर्मका साधन न होता हो, उसे बकरीके गलेमें लटके हुए स्तनकी तरह नितान्त निरुपयोगी समझना चाहिए। इसलिए, हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि कभी किसीको स्वधर्म नहीं छोड़ना चाहिए। केवल स्वधर्मका ही अनुष्ठान पूरी तरहसे मन लगाकर करना चाहिए। जब हम लोग शरीरधारी हैं, तब कर्त्तव्य कर्म भी इस शरीरके साथ स्वभावतः लगा हुआ है। फिर हम अपना विहित कर्म क्यों छोड़े? हे अर्जुन, शरीर प्राप्त होने पर भी जो स्वकर्मकी उपेक्षा करता है, उसे केवल मूर्ख ही समझना चाहिए।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ १७ ॥

"जो सदा आत्म-स्वरूपमें आनन्दपूर्वक मग्न रहता है, वह देह-धर्मके चलते रहने पर भी कभी कर्म-फलसे लिप्त नहीं होता। क्योंकि वह आत्म-ज्ञानसे सन्तुष्ट रहता है, उसके जीवनका कर्त्तव्य समाप्त हो जाता है और उसके लिए कर्मका संग स्वयं ही नहीं होता।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ १८ ॥

"जिस प्रकार एक बार तृप्ति हो जाने पर उसके समस्त साधन आपसे आप नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मानन्दकी प्राप्ति होते ही सब कर्मोंका नाश हो जाता है। पर हे अर्जुन, जब तक मनमें आत्म-बोधका उदय नहीं होता, तब तक स्वधर्माचरणके साधनोंका भजन या पालन आवश्यक होता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥

"इसलिए तुम इन्द्रियोंका निग्रह करके और स्वार्थ सम्बन्धी सभी इच्छाओंको छोड़कर विहित स्वधर्मका आचरण करो। हे पार्थ, जो निष्काम बुद्धिसे स्वधर्मका अनुसरण या पालन करता है, वही वास्तवमें इस संसारमें ब्रह्म-स्थितिमें पहुँचता है।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥

"उदाहरणके लिए जनक आदि राजर्षियोंको देखो, जिन्होंने एक भी विहित कर्मका अनुष्ठान नहीं छोड़ा और फिर भी मोक्ष प्राप्त किया। इसलिए हे अर्जुन, स्वकर्मकी ओर सदा पूरा ध्यान रखना चाहिए। स्वकर्मका अनुष्ठान करनेसे एक और बातका भी अच्छा साधन होगा। जब हम स्वकर्मका आचरण करेंगे, तब और लोगोंको भी उचित आचार-की शिक्षा मिलेगी और उसकी ओर उनकी प्रवृत्ति होगी, जिससे संसारकी आपत्तियाँ और कष्ट आपसे आप दूर होंगे। देखो, जो लोग ब्रह्म-स्वरूपमें पहुँचकर धन्य हुए हैं और जो पूर्ण रूपसे निष्काम हो गये हैं, वहीं दूसरे लोगोंको भी उचित मार्ग पर लगाते हैं और इस प्रकार उस ज्ञानोत्तर कालमें भी उन्हें कर्म करना पड़ता है। जिस प्रकार अन्धेको अपने साथ लेकर सुझाखा पुरुष आगे आगे चलता है, उसी प्रकार ज्ञानी लोगोंको अपने साथ अज्ञानियोंको लेकर चलना चाहिए और उन अज्ञानियोंको स्वधर्म-का ज्ञान कराना चाहिए। यदि ज्ञानी लोग ऐसा न करेंगे, तो अज्ञानियोंको क्या पता चलेगा और कर्त्तव्य-मार्गका उन्हें किस पकार ज्ञान हो सकेगा?

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥

"इस संसारकी प्रथा ही यह है कि बड़े लोग जो कुछ करते हैं, लोकमें उसीका नाम "धर्म" पड़ जाता है; और दूसरे साधारण लोग उसीका अनुकरण करते हैं। यह बात नितांत स्वाभाविक रूपसे होती रहती है, इसलिए स्वकर्मका अनुष्ठान कभी छोड़ना नहीं चाहिए। फिर उनमें भी जो लोग सन्त कहलाते हों, उन्हें तो स्वकर्मका अनुष्ठान कदापि न छोड़ना चाहिये।

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानावाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

"हे अर्जुन, मैं औरोंकी बात तुमसे क्या कहूँ! मैं स्वयं भी स्वकर्मानुष्ठानके मार्गसे चलता हूँ। शायद तुम यह कहोगे कि मुझपर कोई संकट आकर पड़ता है अथवा मुझे कोई अपना हेतु सिद्ध करना पड़ता है, इसलिये मैं कर्मों का आचरण करता हूँ। पर तुम यह बात तो अच्छी तरह जानते हो कि इस संसारमें और कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो मेरे समान पूर्णताको पहुँचा हुआ हो अथवा जिसमें मेरे समान सामर्थ्य हो। सान्दीपनि गुरुके मरे हुए लड़केको मैं यम-लोकसे लौटा लाया था और मेरा यह अलौकिक पराक्रम तुमने स्वयं अपनी आँखोंसे देखा है। तो भी मैं शान्त भावसे सब विहित कर्मोंका बराबर आचरण करता ही रहता हूँ।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥ २३ ॥

"और मैं इन सब कर्मोंका आचरण इस प्रकार करता हूँ कि देखनेवाले समझें कि मैं अभी तक स-काम ही हूँ। परन्तु ऐसा करनेमें मेरा एक ही उद्देश्य है। वह यह कि ये जो सब जीव मेरे ही सहारे चलनेवाले हैं, वे कहीं बहक न जायँ।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

पूर्णता प्राप्त कर चुकने पर यदि आत्म-स्थितिमें बिना कोई कर्म किये यों ही रहा करूँ तो फिर प्रजाका काम कैसे चलेगा? इस समय समाजकी व्यवस्था यही है कि सब लोग यही देखते हैं कि मैं किस रास्तेसे चलता हूँ; और उसीसे वे लोग सदाचारकी प्रणालीका ज्ञान प्राप्त करते हैं। पर यदि मैं कर्म करना छोड़ दूँ तो समाजकी यह सारी व्यवस्था ही बिगड़ जायगी। इसी लिए मैं कहता हूँ कि जिन सामर्थ्यवान् पुरुषोंने इस संसारमें पूर्ण रूपसे सर्वज्ञता प्राप्त कर ली हो, विशेषतः उन लोगोंको तो कर्मोंका कभी परित्याग नहीं करना चाहिए।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

"जिस प्रकार स-काम पुरुष मनमें फलकी इच्छा रखकर कर्म करता है, ठीक उसी प्रकार ध्यानपूर्वक निष्काम पुरुषको भी कर्मका ही आचरण करना चाहिये। क्योंकि, हे अर्जुन, मैं तुमको बार बार यही बतलाता हूँ कि समाजकी संस्थाको सब प्रकारसे शुद्ध और स्वच्छ रखना कर्तव्य है। शास्त्रोंमें बतलाये हुए मार्गसे चलना चाहिये, सब लोगोंको अच्छे रास्ते पर लगाना चाहिये; और किसी प्रकार उन पर यह प्रकट नहीं होने देना चाहिये कि हम समाजसे अलग हैं।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥

"जो बच्चा स्तन-पान भी बहुत कष्टसे कर सकता हो, उसे पक्वान्न कैसे खिलाये जा

सकते हैं ? इसी लिये हे अर्जुन, जिस प्रकार उस बच्चेको पक्वान नहीं देना चाहिए उसी प्रकार जिन लोगोंमें केवल कर्म करनेकी योग्यता हो, उन्हें कभी हँसी या विनोदमें भी कर्मत्यागका उपदेश नहीं करना चाहिये। निष्काम ज्ञानवानोंको भी यही उचित है कि वे ऐसे लोगोंको सत्कर्मका मार्ग दिखलावें, उनके सामने सत्कर्मोंकी प्रशंसा करें और स्वयं भी उसी प्रकारका आचरण करके उनके सामने सुन्दर आदर्श उपस्थित करें। इस प्रकार लोक-संग्रह करनेके लिये अर्थात् समाज-संस्थाको अच्छी स्थितिमें रखनेके लिए यदि कर्मोंको स्वीकार किया जाय तो वे कर्म अपने कर्त्ताके लिये कभी बन्धक नहीं होते। बहुरूपिये राजाओं और रानियोंका स्वाँग बनाते हैं; और यद्यपि उनके मनसे वास्तवमें स्त्री या पुरुषका भाव नहीं होता, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उन्हें अपना स्वाँग ठीक तरहसे दिखलानेके लिये स्त्री या पुरुषकेसे सब भाव व्यक्त करके लोगोंको सन्तुष्ट करना पड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानवान् पुरुष भी सब प्रकारका ज्ञान प्राप्त कर चुकनेके बाद अर्थात् ज्ञानोत्तर कालमें भी केवल लोक-सम्पादनके विचारसे निष्काम और निर्विकार वृत्तिसे सत्कर्मोंका आचरण करते हैं।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणिः सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ २७ ॥

"हे अर्जुन, फिर इस बातका भी विचार करो कि यदि दूसरोंका बोझ अपने सिर पर लिया जाय तो उसके नीचे क्यों न दबेंगे ? बस इसी न्यायसे मायाके गुणसे उत्पन्न होनेवाले अच्छे और बुरे सभी कर्म मूर्ख मनुष्य बुद्धि-भ्रमके कारण अपने आपको उनका कर्त्ता समझकर स्वयं अपने ऊपर लाद लेता है। जो ऐसा अहंकारी, स्वार्थी, संकुचित दृष्टिवाला और मूर्ख हो, उसे परमार्थकी इस गूढ़ताका उपदेश नहीं करना चाहिये। पर अब इन सब बातोंको जाने दो। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि इस समय किस बातमें तुम्हारा हित है। हे अर्जुन, तुम ध्यान से सुनो।

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

"जिन लोगोंको आत्म-तत्त्वका बोध हो जाता है, उसमें उस मायाका अभाव रहता है जिससे समस्त कर्म उत्पन्न होते हैं। वे लोग देहका अभिमान छोड़ देते हैं, गुण और कर्मका अन्योन्य सम्बन्ध समझते हैं और केवल तटस्थ वृत्तिसे, तिसरेकी तरह, शरीरमें रहते हैं। इसी लिए जिस प्रकार पृथ्वी परके प्राणियोंकी क्रियाएँ सूर्यको नहीं लगतीं, उसी प्रकार ऐसे पुरुष शरीरमें रहते हुए भी कर्मके बन्धनोंसे नहीं बँधते—कर्मके बन्धन उन्हें स्पर्श नहीं करते।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥

"इस संसारमें कर्मकी बाधा उन्हीं लोगोंके लिए होती है, जिन पर गुणोंकी छाप पूरी तरहसे बैठी होती है और जो अपने सब काम मायाके तन्त्रके अनुसार करते हैं;

क्योंकि गुणोंके आश्रयसे इन्द्रियाँ अपने स्वाभाविक धर्मके कारण जो व्यवहार करती हैं, उन पराये व्यवहारोंको ऐसा पुरुष बलपूर्वक अपने ऊपर लाद लेता है।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥

"इसलिए तुम सब प्रकारके विहित कर्म करके मुझे अर्पित करो, परन्तु अपनी चित्त-वृत्तिको बराबर आत्म-स्वरूप पर जमाये रहो। और इस प्रकारका अभिमान कभी अपने मनमें मत आने दो कि "यह कर्म है", "मैं कर्ता हूँ" और "इन कर्मोंका करनेवाला मैं हूँ"। बस इतनेसे ही सब काम हो जायगा। तुम इस शरीरके फेरमें मत पड़ो, सब प्रकार की स्वार्थपूर्ण कामनाएँ छोड़ दो और फिर जिस समय जो भोग उपस्थित हो, उन सबका निःशंक होकर उपभोग करो। अब तुम हाथमें धनुष उठाओ, इस रथ पर चढ़ आओ और शान्त तथा प्रसन्न चित्तसे क्षात्रवृत्तिको अंगीकार करो। संसारमें अपनी कीर्तिका विस्तार करो, स्वधर्मका सिर ऊँचा करो और पृथ्वीका यह भार उतार दो। हे अर्जुन, अब तुम सब शंकाएँ छोड़ दो और इस युद्धमें मन लगाओ। यहाँ तक कि युद्धके सिवा और किसी विषयकी चर्चा भी मत करो।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥

"जो लोग मेरे इस निश्चित और निर्बाध मतको आदरपूर्वक स्वीकार करेंगे और पूरी श्रद्धासे इसके अनुसार आचरण करेंगे, वे सब कर्मोंका आचरण करते रहने पर भी कर्म-बन्धनसे अलिप्त रहेंगे। इसीलिए यह मत निस्सन्देह आचरण करनेके योग्य ही है।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥

"परन्तु जो लोग मायाके फेरमें फँसे रहेंगे और इन्द्रियोंकी आज्ञाके अनुसार चलते हुए मेरे इस मतका धिक्कार या तिरस्कार करेंगे, जो इस मतको सामान्य समझेंगे अथवा इसकी ओर तुच्छ दृष्टिसे देखेंगे अथवा उद्दंडतापूर्वक यह कहेंगे कि यह कोरी बकवाद है, उनके सम्बन्धमें तुम निस्सन्देह यह समझ लो कि वे मोहके मदसे मत्त हैं, विषयोंके विषसे भरे हुए हैं और अज्ञानके कीचड़में डूबे हुए हैं। जिस प्रकार प्रेतके हाथमें दिया हुआ रत्न व्यर्थ जाता है अथवा जन्मान्धको प्रभात होनेका विश्वास नहीं होता, अथवा जिस प्रकार चन्द्रोदयका कौवेके लिए कोई उपयोग नहीं होता, उसी प्रकार कर्म-योगका यह उपदेश भी मूर्खोंको अच्छा नहीं लगता। इसी लिए वे लोग इस मतका आदर नहीं करते, बल्कि उलटे इसकी निन्दा करने लगते हैं। और ऐसा होना बिलकुल स्वाभाविक ही है, क्योंकि पतंग कभी दीपकका प्रकाश सहन नहीं कर सकता। या तुम्हीं बतलाओ कि वह सहन कर सकता है ? जिस प्रकार पतंग दीपकको आलिंगन करने जाता है और सदा उसीमें जल मरता है, उसी प्रकार विषयोंका सेवन करनेवाले ऐसे

मूर्ख भी आत्मघातक ही होते हैं। इसी प्रकार, भाई अर्जुन, जो लोग परमार्थ सम्बन्धी इन बातोंसे घबराते हों, उनसे कभी इस विषयमें बात न करनी चाहिए।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ॥३३॥

"इसलिए कभी किसी ज्ञानी पुरुषको यह उचित नहीं है कि वह मनकी उमंग, मौज या रंजनके लिए इन इन्द्रियोंका लालन-पालन करे और इनका हौसला बढ़ावे। भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी सर्पके साथ खेला जा सकता है? अथवा बाघके साथ उठना-बैठना हो सकता है? या हलाहल विष पीकर कोई जीता रहकर उसे पचा सकता है? देखो, पहले यदि विनोदमें कहीं आग लगा दी जाय तो फिर जब वह भड़क उठती है, तब उसका नियंत्रण नहीं हो सकता। इसी प्रकार इन्द्रियोंका लालन-पालन करने और सदा उनके फेरमें पड़े रहनेसे बहुत बड़ा संकट आ उपस्थित होता है। हे अर्जुन, यदि सचमुच यह शरीर पराधीन है तो फिर हम इसके लिए अनेक प्रकारके भोगोंका क्यों संग्रह करें? हम क्यों अनेक प्रकारके कष्ट सहकर नाना प्रकारके विषयोंका सम्पादन करें और क्यों उन विषयोंसे दिन-रात इस शरीरका पालन करते रहें? सब तरहसे कष्ट भोगकर और अनेक प्रकारकी सम्पत्तियाँ प्राप्त करके और इस सम्पत्तिके सम्पादनके लिए स्वधर्मको भी भूलकर किस लिए इस शरीरको पुष्ट करें? यह शरीर तो पांचभौतिक है और अन्तमें यह पंच-भूतोंमें ही जाकर मिल जायगा। जब वह इस प्रकार पंचत्वको प्राप्त हो जायगा, तो फिर हमें अपने इन सब परिश्रमोंका फल कहाँ मिलेगा? इसलिए केवल शरीरका पोषण करना तो स्पष्ट रूपसे आत्मघात करना ही है। इसलिए हे अर्जुन, केवल पिंड-पोषणमें तुम कभी मन मत लगाओ।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥

"यदि साधारण दृष्टिसे देखा जाय तो यदि हम इन्द्रियोंको उनकी रुचिके अनुसार सब विषय देते चलें तो मनको सुख होता है। पर देखो, जब कोई यात्री किसी नगरसे चलता है और रास्तेमें उसे भले मानसके वेषमें कोई ठग मिल जाता है, तब कुछ देरके लिए—जब तक यात्री सुरक्षित मार्ग पर रहता है, तब तक—उस चोरका साथ भी सुखद जान पड़ता है। अथवा किसी अवसर पर कदाचित् भूलसे विषकी मधुरता भी आदमीको अच्छी लग सकती है। उस समय यदि परिणामका विचार न किया जाय तो जिस प्रकार उस भूलसे मनुष्यके प्राण चले जाते हैं, उसी प्रकार 'इन्द्रियोंमें जो विषय-वासना होती है, वह सहजमें मनुष्यको सुखका चस्का लगा देती है। जिस प्रकार मांसकी सहायतासे बन्सी मछलीको भ्रममें डाल देती है, परन्तु उस मछलीको यह पता नहीं रहता कि इस मांसके अन्दर मेरे प्राण लेनेवाला काँटा छिपा हुआ है, क्योंकि बन्सीका वह काँटा मांससे ढँका हुआ रहता है, ठीक उसी प्रकारकी बात इन विषय-वासनाओंके सम्बन्धमें भी है। मनमें विषयोंकी आशा करते ही मनुष्य क्रोधके

वशीभूत हो जाता है। जिस प्रकार शिकारी जानबूझकर अपने शिकारको चारों तरफसे घेरकर उस स्थान पर ले जाता है, जहाँ उस शिकारका घात हो सकता है, उसी प्रकार विषय-वासनाओंका भी यही काम है कि वे बुद्धिको पकड़कर नष्ट कर डालती हैं। इसलिए हे पार्थ, काम और क्रोध दोनों ही महाघातक हैं और तुम कभी इनका संग न करो। तुम काम और क्रोधका साथ मत करो, यहाँ तक कि अपने मनमें इनकी स्मृति भी मत आने दो। अपने आत्मसुखके अनुभवका रस नष्ट मत होने दो।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥३५॥

"अपना स्वधर्म चाहे कठिन ही क्यों न जान पड़े, परन्तु फिर भी उसका आचरण करनेमें ही कल्याण है। दूसरेका आचार चाहे देखनेमें कितना ही अच्छा क्यों न जान पड़े, तो भी हमें केवल अपना ही आचार स्थिर रखना चाहिये। मान लो कि किसी शूद्रके यहाँ सब प्रकारके अच्छे अच्छे पक्वान्न तैयार हुए हैं। अब चाहे कोई ब्राह्मण कितना ही दुर्बल क्यों न हो, फिर भी तुम्हीं बतलाओ कि क्या उस ब्राह्मणको कभी वे पक्वान्न खाने चाहिए? इस प्रकारका अनुचित कृत्य क्यों किया जाय? जो वस्तु स्वीकृत करनेके योग्य न हो, उसकी इच्छा ही क्यों की जाय? और यदि कभी इस प्रकारकी इच्छा हो भी जाय, तो भी क्या उस अग्राह्य वस्तुको अंगीकार करना चाहिये? हे अर्जुन, तुम इन सब बातोंका बहुत अच्छी तरह विचार करो। दूसरेका सुन्दर पक्का भवन देखकर अपनी बनाई हुई फूसकी झोपड़ी क्यों गिराई जाय? पर ऐसे प्रश्न बहुत हो चुके। अपनी स्त्री यदि कुरूपा भी हो, तो भी जिस प्रकार उसीकी संगति अपने लिए कल्याणकारिणी होती है, उसी प्रकार स्वधर्म चाहे कितना ही संकटमय क्यों न हो और उसका आचरण करना कितना ही कठिन क्यों न हो, तो भी वह हमें परलोकमें सुख देनेवाला ही होता है। चीनी और दूधकी मिठास तो प्रसिद्ध ही है; परन्तु जिसे कृमि रोग हो, उसके लिए इनका सेवन हानिकर ही होता है। अब जिसे कृमि रोग हो, वह इनका सेवन ही क्यों करे? इतना होने पर भी यदि वह रोगी दूध और चीनीका सेवन करेगा तो उसकी सुखकी इच्छा कभी पूरी नहीं होगी, क्योंकि अन्तमें वह उसके लिए कुपथ्य ही सिद्ध होगा। इसलिए यदि हम चाहते हों कि हमारा कल्याण हो, तो हमें ऐसे कर्मोंका कभी आचरण नहीं करना चाहिए जो दूसरोंके लिए भले ही उचित हों, पर स्वयं हमारे लिए जो अनुचित हों। यदि स्वधर्मका आचरण करनेमें प्राण भी चले जायँ, तो वह भी अच्छा है, क्योंकि वह दोनों ही लोकोंमें सदा श्रेष्ठ ही सिद्ध होगा।" यही सब बातें देवेश्वर श्रीकृष्णने कहीं। इसपर अर्जुनने प्रार्थना की—'हे देव! आपने जो कुछ कहा, वह सब मैंने अच्छी तरह सुना। तो भी मेरे मनमें कुछ बातें आई हैं जो मैं आपसे पूछता हूँ।

अर्जुन उवाच—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥

"हे देव, ज्ञाता लोग भी आत्म-वृत्तिकी स्थितिसे भ्रष्ट होते हैं और मार्ग छोड़कर इधर-उधर भटकते फिरते हैं, सो ऐसा क्यों होता है ? जो लोग सर्वज्ञ हो चुके हों, जो अच्छी तरह समझते हों कि ग्राह्य क्या है और अग्राह्य क्या है, वे लोग किस कारणसे पर-धर्मको स्वीकार करके स्वधर्मका उल्लंघन करते हैं ? जिस प्रकार अन्धा धान्य और भूसेको अलग-अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार ग्राह्य और अग्राह्यका निर्वाचन करते समय कभी कभी ज्ञाताओंको भी क्यों गड़बड़ीमें पड़ते हुए देखा जाता है ? जो अपने स्वाभाविक कर्मके सब झगड़े छोड़ देते हैं, वे भी सारे संसारके बखेड़े अपने गलेमें लगाकर तृप्त नहीं होते । जिन लोगोंको वास्तवमें वनोंमें रहना चाहिये, वे लोग भी आकर मनुष्योंके निवास-स्थानोंमें रहने लगते हैं । यदि वे स्वयं आड़में रहते, तो वे पापोंको पूर्ण रूपसे टाल सकते थे । फिर भी वही लोग स्वयं ही जान-बूझकर पापोंका आचरण करने लगते हैं । मन जिस वस्तुका तिरस्कार कर देता है, उसीका वह ध्यान लगाये रहता है; और यदि उसे कोई मना करने जाय तो वह उलटे लड़नेको तैयार होता है । देखनेमें ऐसा जान पड़ता है कि इन ज्ञानियों पर भी बलात्कार हुआ है । तब यह बलात्कार करनेकी सामर्थ्य किसमें है ? हे श्रीकृष्ण, आप कृपा कर यही बात मुझे बतला दें ।"

श्रीभगवानुवाच—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥

इसपर योगियोंके निष्काम मनमें भी रमण करनेवाले पुरुषश्रेष्ठ श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, मैं बतलाता हूं, सुनो । भाई यह बलात्कार करनेवाले काम और क्रोध ही होते हैं । इनमें करुणाका लेश भी नहीं होता । ये कालके समान निष्ठुर होते हैं । ये ज्ञान-रूपी सम्पत्तिको घेरकर बैठनेवाले काल-सर्प हैं; अथवा ये विषयोंकी खाईमेंके बाघ हैं अथवा इन्हें ईश्वर-भक्तिके मार्गमें डाका डालनेवाले प्राणघातक डोम ही समझना चाहिये । ये शरीर रूपी किलेके पत्थर हैं अथवा इन्द्रिय-रूपी बस्तीके कोट हैं । इनका अधिकार सारे संसार पर छाया हुआ है । ये रजोगुणसे व्याप्त मन्त्रमेंके राक्षस हैं और अज्ञानके अन्नसे ही अपना निर्वाह करते हैं । वास्तवमें इनकी उत्पत्ति तो रजोगुणसे हुई है, पर जान पड़ता है कि तमोगुणको ये बहुत अच्छे लगते हैं; इसी लिए तमोगुणने प्रमाद और मोह आदि अपने स्वभाव-धर्म इन्हें दे दिये हैं । ये काम और क्रोध प्राण लेनेवाले हैं, इसलिए मृत्युकी राजधानीमें इनका बहुत सम्मान है । जब एक बार इनकी भूख शुरू होती है, तब समस्त विश्व भी इनके एक ग्रास भरको भी नहीं होता । ज्यों-ज्यों इनका हाथ चलता जाता है, त्यों-त्यों इनकी आशा भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है । इसी प्रकार आशाकी छोटी बहन भ्रान्ति भी इन्हें बहुत प्रिय है । वह भ्रान्ति ऐसी है कि जब यह एक बार सहजमें अपनी मुट्ठी खोलती है और उसमें कुछ लेना चाहती है, तो फिर उस मुट्ठीमें चौदहों भुवनोंका भी पता नहीं चलता । यह भ्रान्ति ऐसी विलक्षण है कि जब यह रसोईका खेलवाड़ करती है, तब तीनों लोकोंको सहजमें हजम कर जाती है । तृष्णाका निर्वाह भी इसीकी दासताके

बल पर होता है । मोह सदा इन काम-क्रोधका बहुत सम्मान करता है और अहंकार भी इनके साथ लेन-देनका व्यवहार रखता है और इसी लिए वह जिस तरह चाहता है, उसी तरह सारे संसारको नचाता रहता है । जो दम्भ सदा सत्यका सार निकालकर असत्यताका भूसा भरता है, वह भी इन्हीं सबके संसारमें निवास करता है । इन्होंने शान्ति को लूटकर माया-रूपी भिखमंगिनका शृंगार किया है और उससे साधु-मंडली को भ्रष्ट किया है । इन्हीं काम और क्रोधने विवेकका आश्रय-स्थल उजाड़ा है, वैराग्यके शरीर परका चमड़ा उधेड़ डाला है और जीते जी उपशमका गला घोंट डाला है । इन्होंने सन्तोषरूपी वन को उजाड़ा है, धैर्य का कोट तोड़ कर गिराया है और आनन्द का पौधा उखाड़कर फेंक दिया है । इन्होंने उपदेशकी एकता नष्ट की है, सुखके अक्षर पोंछ डाले हैं—उनका नाम भी नहीं रहने दिया है—और संसारके अन्तःकरणमें तीनों तापोंकी आग लगा दी है । ज्यों ही ये किसीके शरीर या अंग में आकर लगते हैं, त्यों ही जीव के साथ भी चिपट जाते हैं और तब ब्रह्मा आदिको भी ढूंढ़े नहीं मिलते । ये चैतन्य तत्वके पास ही ज्ञानकी पंक्तिमें घुसकर जा बैठते हैं; और जब एक बार अपना कार्य आरंभ कर देते हैं, तब फिर किसी प्रकार रोके नहीं रुकते । ये बिना पानी के ही डुबा देते हैं, बिना आग के ही जला डालते हैं और बिना बोले ही प्राणियोंको अपने चंगुलमें फँसा लेते हैं । ये बिना शस्त्रों के ही मार डालते हैं, बिना डोरीके ही जकड़ लेते हैं और शर्त बदकर ज्ञानवान् पुरुषोंका भी वध कर डालते हैं । ये बिना कीचड़ के ही जीवोंको नीचे धँसा देते हैं, बिना जाल के ही पकड़ लेते हैं और अपने उत्कट बलके कारण किसीसे हार नहीं मानते ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

"जिस प्रकार चन्दन की जड़में साँप लिपटा रहता है अथवा गर्भाशयका आँवल गर्भको घेरे रहता है, अथवा जिस प्रकार प्रभाके बिना सूर्य, धुएँ के बिना अग्नि अथवा मलके बिना दर्पण कभी नहीं दिखाई पड़ता, उसी प्रकार आज तक मेरे देखने में ऐसा ज्ञान नहीं आया, जिसमें काम और क्रोधकी बिलकुल गन्ध न हो ! जिस प्रकार छिलके के नीचे अन्नका दाना छिपा हुआ रहता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं शुद्ध होने पर भी काम और क्रोधसे आच्छादित रहने के कारण गूढ़ बना रहता है । अब यदि यह कहा जाय कि पहले इन दोनों को जीतना चाहिए और तब ज्ञान सम्पादित करना चाहिए, तो काम-क्रोध आदि राक्षसोंका पराभव होना सम्भव नहीं होता । यदि यह कहा जाय कि इन्हें मारनेके लिए अपने अंगमें सामर्थ्य लानी चाहिए, तो जिस प्रकार जलाने की लकड़ी आगकी सहायता ही करती है, उसी प्रकार जो जो उपाय किये जायँ, वे सब इनके सहायक ही होते

है। इसी लिए हठयोगियों को ये काम-क्रोध बहुत हैरान करते हैं। परन्तु इस महा-संकटसे बचनेका भी एक उपाय है। यदि वह तुम्हें अच्छा लगे तो मैं बतला दूँ।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

"काम और क्रोधका मूल स्थान इन्द्रियोंमें होता है और इन्हीं इन्द्रियोंसे कर्मकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए सबसे पहले इन इन्द्रियोंको ही अपने वशमें कर रखना चाहिए।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

"ऐसा करनेसे मनका इधर-उधर दौड़ना आपसे आप बन्द हो जाता है, बुद्धिका छुटकारा हो जाता है और इन काम-क्रोध आदि पापियोंका आधार ही नष्ट हो जाता है।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ॥४३॥

"जब ये अन्तःकरणसे बाहर निकाल दिये जाते हैं, तब फिर पूर्ण रूपसे इनका नाश हो जाता है। जिस प्रकार बिना सूर्यकी किरणोंके मृग-जल नहीं होता, उसी प्रकार यह समझ लेना चाहिए कि काम-क्रोध आदिके न रह जाने पर ब्रह्म-ज्ञानका साम्राज्य प्राप्त हो जाता है। फिर जीव अपने आत्मानन्दमें सुख-पूर्वक रहता है। जो गुरु और शिष्यका गुप्त रहस्य है, जो जीव और शिवकी भेंट है, उसी स्थितिमें जीव शान्त होकर रहने लगता है और फिर कभी विचलित नहीं होता।" संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, जो समस्त सिद्धोंके राजा और लक्ष्मीके पति देवदेवेश्वर श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने ये सब बातें कहीं।" अब वे अनन्त श्रीकृष्ण और भी एक महत्वकी बात बतलावेंगे और अर्जुन भी कुछ प्रश्न करेंगे। उस संवादकी योग्यता और रसालताके कारण उसका वर्णन श्रोताओंके लिए सुखका सुकाल ही होगा। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि आप लोग अपनी ज्ञान-लालसाको अच्छी स्फूर्ति देकर इस कृष्णार्जुन-संवादके माधुर्यका स्वाद लें।

चौथा अध्याय

अब श्रवणेन्द्रियके लिये बहुत शुभ काल आया है, क्योंकि आज उसके लिए गीता रूपी अमृतका भांडार खुल रहा है। जो बात पहले स्वप्नके समान और केवल काल्पनिक जान पड़ती थी, वही आज वास्तविक सिद्ध हो रही है। एक तो विषय ही बिलकुल अध्यात्म-विचारका है, तिस पर वक्ता हैं प्रत्यक्ष श्री जगदीश्वर श्रीकृष्ण; और उसमें भी श्रोता हैं भक्त-श्रेष्ठ अर्जुन। बस जिस प्रकार कोकिल सरीखे स्वर, मधुर सुवास और सुन्दर रुचि तीनोंका मोहक संयोग होता है, उसी प्रकार गीताका यह कथा प्रसंग बहुत ही आनन्दका हुआ है। यह कितने बड़े सौभाग्यकी बात है कि हम लोगोंको यह अमृतकी गंगा प्राप्त हुई है। सचमुच आज ही श्रोताओंको उनके जप-तपका फल मिला है। अब सब इन्द्रियोंको ले चलकर इसी श्रवणेन्द्रियमें स्थापित कर देना चाहिए और इस गीता नामक श्रीकृष्ण-अर्जुन संवादके रसका सेवन करना चाहिए। पर अब मैं इन लम्बी-चौड़ी बातोंको छोड़कर वह कथा कहना ही आरम्भ करता हूँ। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों बातें कर रहे थे। उस समय संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"अर्जुन वास्तवमें निर्मल गुणोंकी दैवी सम्पत्तिसे मंडित है, क्योंकि परमात्मा श्रीकृष्ण उसके साथ अत्यन्त प्रेमसे बातें कर रहे हैं। श्रीकृष्णने जो गहन तत्व कभी स्वयं अपने पिता वसुदेव, माता देवकी और भाई बलरामको भी नहीं बतलाया वही आज उन्होंने अर्जुनको बतलाया। यद्यपि देवी लक्ष्मी उनकी इतनी समीपी हैं, पर उन्हें भी वह प्रेम-सुख नहीं प्राप्त होता। वही श्रीकृष्णके प्रेमका सच्चा तत्व आज अर्जुनको प्राप्त हुआ है। सनकादिक योगियोंको इस बातकी बहुत बड़ी आशा थी कि ईश्वरीय प्रेम पूर्ण रूपसे हम्हीं लोगोंको प्राप्त होगा; पर उन्हें भी वैसी सफलता नहीं प्राप्त हुई, जैसी अर्जुनको हुई। अर्जुनके प्रति इन जगन्नायकका प्रेम केवल तुलना-रहित है। इस अर्जुनकी भी कैसी पुण्याई है कि इसके लिए प्रत्यक्ष निराकार परमेश्वर साकार रूप धारण करके अवतरित हुए हैं। मुझे तो ये दोनों बिलकुल एक रूप जान पड़ते हैं। सामान्यतः जो योगियोंको भी प्राप्त नहीं होता, वेदार्थकी समझमें नहीं आता और ध्यान तथा धारणकी शक्ति भी जिसे नहीं देख सकती, वही श्रीकृष्ण आत्म-स्वरूप, अनादि और निर्विकार होने पर भी, देखिये, अर्जुनके प्रति कैसे प्रेमपूर्ण और सदय हो गये हैं। जो श्रीकृष्ण त्रैलोक्य रूपी वस्त्रकी मानों तह ही हैं अथवा आकार आदि विकारोंसे बिलकुल अलग और परे हैं, उन्हें इस अर्जुनके प्रेमने किस प्रकार अपने वशमें कर लिया है।

श्रीभगवानुवाच—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

देवने अर्जुनसे कहा—"मैंने यही योग सूर्यको बतलाया था; पर इस बातको बहुत दिन हो गये। फिर उस सूर्यने यह योग मनुको बतलाया था। मनुने यह योग-स्थिति प्राप्त करके इक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया था। यही इस योगका पूर्व इतिहास है।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥ २ ॥

फिर अनेक राजर्षियोंको इसका ज्ञान हुआ। परन्तु इस समय योगको जाननेवाला कोई दिखाई नहीं देता। प्राणी वासनाओंके फेरमें पड़ गये और देह-बुद्धिके मोहमें पड़ गये और इसीलिए वे लोग यह आत्म-ज्ञान भूल गये। जब आत्म-निष्ठाकी भावना दृढ़ न हो, तब सुखकी पराकाष्ठा विषय-सुखोंमें ही जान पड़ती है और लोगोंको संसारके सब उलट-फेर प्राणोंके समान प्रिय होते हैं। नहीं तो दिगम्बर क्षपणकों अर्थात् जैन-साधुओंके गाँवमें कपड़े-लत्तोंका क्या काम? अथवा जन्मान्धके लिए सूर्यका ही क्या महत्व हो सकता है? अथवा बहरोंके घरमें संगीतका मान क्यों होने लगा? अथवा गीदड़ोंके मनमें क्या कभी चंदनके प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न होता है? अथवा चन्द्रोदय होनेसे पहले ही जिसकी देखनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है, वह कौवा चन्द्रमाको कैसे पहचान सकता है? इसी प्रकार जो लोग कभी वैराग्यके गाँवमें गये ही नहीं और जिन्हें यह ज्ञात नहीं कि विवेक किसे कहते हैं, वे मूर्ख पुरुष मेरे परमात्म-स्वरूप तक कैसे पहुँच सकते हैं? न जाने यह मोह कैसे फैला है, परन्तु इस मोहके कारण बहुत-सा समय व्यर्थ ही नष्ट हो गया और इस लोकसे कर्म-योगका लोप हो गया।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

"भाई अर्जुन, आज वही कर्म-योग मैं तुम्हें बतला रहा हूँ। अब तुम अपने सब सन्देह छोड़ दो। यह कर्म-योगका तत्व मेरे हृदयका एक गहन रहस्य है; पर उसे भी मैंने तुमसे गुप्त नहीं रखा, क्योंकि तुम मुझे बहुत ही प्रिय हो। हे वीर पार्थ, तुम पूर्ण प्रेमके अवतार, भक्तिके प्राण और मित्रताके जीवन-सर्वस्व हो। तुम श्रद्धाके आगर हो, इसलिए तुमसे किसी प्रकारका दुराव करना भला कैसे ठीक हो सकता है! यद्यपि इस समय हम युद्ध-भूमिमें हैं, तो भी क्षण भरके लिए इस ओरसे हटकर और इस गड़बड़से अलग होकर तुम्हारी सब शंकाएँ दूर कर देना और तुम्हारा मोह नष्ट कर देना बहुत ही आवश्यक है।"

अर्जुन उवाच—

अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥

उस समय अर्जुनने कहा—"हे श्रीकृष्ण, यदि माता अपने पुत्रके साथ प्रेम करे तो इसमें आश्चर्यकी कौन सी बात है? हे कृपासागर, देखिये, इस संसारमें आप ही थके-माँदे और तप्त लोगोंके लिए शीतल छाया और निराश्रितोंकी माताके समान हैं। आपकी ही

कृपासे मुझे जन्म प्राप्त हुआ है। हे देव, जिस प्रकार कोई स्त्री पहले तो किसी पंगुपुत्रको जन्म देती है और तब उसके जन्मसे ही उसकी सब झंझटें सहती है, ठीक उसी प्रकार मेरे लिये आपको सब बखेड़े सहने पड़ते हैं। पर आपकी ही बात आपके सामने मैं क्यों कहूँ। इसलिए हे देव, अब आप मेरे प्रश्नोंकी ओर अच्छी तरह ध्यान दें; और मैं जो कुछ कहूँ, उसके लिए आप मनमें क्रोध न करें। आपने पिछले समयकी जो यह बात मुझे बतलाई कि आपने कर्म-योगके इस रहस्यका वैवस्वत मनुको उपदेश दिया था, सो यह बात मेरे मनमें तिल भर भी नहीं बैठी। क्योंकि मेरे बड़े-बूढ़े भी यह न जानते होंगे कि वह वैवस्वत कौन था। फिर आपने उसे कैसे उपदेश दिया था? सुनते हैं कि वह वैवस्वत बहुत दिनों पहले हुआ था और आप श्रीकृष्ण इस जमानेके हैं। इसलिये आपने जो बात अभी कही है, वह मुझे असम्बद्ध जान पड़ती है। परन्तु हे देव, दूसरी ओर आपका चरित्र हम लोगोंके लिये अगम्य है; इसलिये मैं एक दमसे यही कैसे कह सकता हूँ कि यह बात बिलकुल निराधार है? इसलिए आपने जो वैवस्वत सूर्यको इसका उपदेश किया था। उसकी बात आप ऐसे ढंगसे कहें कि मेरी समझमें आ सके।'

श्रीभगवानुवाच—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥ ५ ॥

इसपर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम तो अपने मनमें निश्चयपूर्वक यह समझते होगे कि जिस समय वैवस्वत सूर्य था, उस समय मैं नहीं था। पर इससे यही सिद्ध होता है कि तुम इन सब बातोंके विषयमें कुछ भी नहीं जानते। भाई, तुम्हारे और हमारे बहुतसे जन्म हो चुके हैं, परन्तु तुम्हें उन जन्मोंका स्मरण ही नहीं है। परन्तु हे अर्जुन मुझे यह सब अच्छी तरह स्मरण है कि मैंने कब कब और कौन कौन-से अवतार धारण किये थे।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

"इसी लिए मुझे सभी पिछली बातें याद हैं। यद्यपि मैं जन्म-हीन हूँ, पर फिर भी मायाके कारण जन्म लेता हूँ। मैं जन्म तो धारण कर लेता हूँ, परन्तु इससे मेरा मूलका निराकार अमूर्तत्व भंग नहीं होता। हाँ मायाके गुणसे मेरे आत्म-स्वरूपमें इस प्रकार भास होता है कि मैं अवतार धारण करता हूँ और निज धामको चला जाता हूँ। मेरी स्वतन्त्रतामें तिल भरकी भी कमी नहीं होती। अवतार धारण करनेके साथ जो मैं कर्मोंके अधीन दिखाई पड़ता हूँ, वह भी भ्रान्तिके कारण ही। जहाँ यह भ्रान्ति दूर हुई, तहाँ मैं फिर स्व-स्वरूपमें निराकार और निर्गुण रहता हूँ। एक वस्तुयें जो दो वस्तुयें दिखलाई पड़ती हैं, उसका कारण दर्पण होता है। यद्यपि दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, पर फिर भी यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो क्या वह प्रतिबिम्ब रूपी दूसरी वस्तु सच्ची और वास्तविक ठहरती है? इस प्रकार हे अर्जुन, मैं स्वयं तो अमूर्त्त हूँ ही, परन्तु जिस समय मैं मायाका आश्रय लेता हूँ, उस समय कुछ कर्मोंके लिए साकार होकर आचरण करता हूँ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

"कारण यह है कि आरम्भसे ही यह क्रम चला आता है कि प्रत्येक युगमें धर्म-मार्ग की रक्षा मैं ही करता हूं। इसलिये जब जब यह देखनेमें आता है कि अधर्मने धर्मको दबा लिया, तब तब मैं अपना जन्म-रहितत्व एक ओर रख देता हूँ और अपने मनमें अमूर्तत्वका भी विचार नहीं रखता।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

"उस समय मैं धर्म निष्ठाका पक्ष लेकर साकार रूपसे अवतार धारण करता हूँ और तब ज्ञानके अन्धकारको निगल जाता हूँ। मैं अधर्मकी सत्ताका नाश करता हूँ, दोषोंका नाम मिटा देता हूँ और साधु पुरुषोंके हाथोंसे सुखकी पताका खड़ी कराता हूँ। असुरोंके कुलोंका नाश करता हूँ, साधुओंकी प्रतिष्ठा बढ़ाता हूँ और धर्म तथा नीतिको एकत्र करके उनपर पुष्पाक्षत छिड़कता हूँ—उनका विवाह सम्बन्ध कराके उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। मैं अविचारोंकी कालिख साफ करके विवेकका दीपक उज्ज्वल करता हूँ जिससे योगियोंके लिये वह समय दीवालीके समान हो जाता है। उस समय सारा विश्व आत्म-सुखसे पूरी तरह भर जाता है, संसारमें धर्मके सिवा और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता और भक्त मंडली सात्त्विक भक्तिसे ओत-प्रोत भरकर फूल जाती है। हे अर्जुन जिस समय मैं साकार होकर अवतार धारण करता हूँ, उस समय पापोंके पर्वत नष्ट हो जाते हैं और पुण्य का प्रभात हो जाता है। इस प्रकारके कार्योंके लिए मैं प्रत्येक युगमें अवतार धारण करता हूँ। और जिसे यह रहस्य मालूम हो जाय, उसीको इस संसारमें सच्चा विवेकशील समझना चाहिये।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥ ९ ॥

"मैं जन्म-रहित होने पर भी जन्म धारण करता हूँ; और अक्रिय होने पर भी कर्मों-का आचरण करता हूं। जो पुरुष विकारोंके वशमें न होकर इसका वास्तविक रहस्य जानता हो, उसीको परम मुक्त समझना चाहिए। ऐसा पुरुष संसारमें रहकर भी कर्म-संगसे भ्रष्ट नहीं होता और देहधारी होने पर भी देह-भावसे नहीं बँधता; और जब समय आने पर वह पंचत्वको प्राप्त होता है, तब वह मेरे आत्म-स्वरूपमें मिल जाता है।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥

"सामान्यतः जो लोग गत और आगतका शोक नहीं करते, जो निष्काम होते हैं और जो क्रोधके रास्ते भी नहीं जाते, जो मेरे स्वरूपसे भरे रहते हैं, जो केवल मेरी सेवाके लिये जीवित रहते हैं और निर्विकार होकर आत्म-ज्ञानका आनन्द भोगते हैं जो महातपस्वी और जती हैं अथवा जो लोग सब प्रकारके आत्म-ज्ञानको अपने आपमें एकत्र कर लेते

हैं, वे सहजमें ही मेरे स्वरूपके समान हो जाते हैं; वे और मैं सब एक ही हो जाते हैं और हम लोगोंमें कोई परदा नहीं रह जाता। देखो, यदि पीतलका सारा कलुष समूल नष्ट हो जाय, तो फिर सोना प्राप्त करनेकी कामनामें कौन सा विशेष अर्थ रह जाता है? इसी प्रकार जो लोग यम-नियमोंके द्वारा तपाये जाने पर तपो-रूपी ज्ञानसे चोखे या खरे हो जाते हैं, वे यदि मेरा स्वरूप प्राप्त कर लें तो इसमें किसीको शंका ही क्यों हो?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥

"साधारणतः जो लोग मेरी जैसी सेवा करते हैं, उनके साथ मैं भी वैसा ही आचरण या व्यवहार करता हूँ। तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि मनुष्य कोटिमें स्वभावतः मेरे ही प्रति भक्ति रहती है। परन्तु अज्ञानने मनुष्योंको दबा रखा है और इसलिए उनकी बुद्धि उलटी हो गई है और इसी कारणसे उन लोगोंको अनेकताका भास होता है। इसी लिए उन लोगोंको अभिन्न वस्तुओंमें भी भेद दिखाई देता है और वे नाम-हीन आत्म-तत्त्वका भी नाम रखते हैं और उन्हें देवता तथा देवी मानकर उनकी आराधना करते हैं। जो आत्म-स्वरूप सभी स्थानोंमें और सभी समयोंमें एक-सा रहता है, उसीमें इन लोगोंको अपने मनकी गड़बड़ीके कारण उच्च और नीचके विभागोंकी कल्पना करनी पड़ती है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥

"वे लोग अपने मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ रखकर उचित विधियों और विधानोंके अनुसार अपनी पसन्दके अनेक देवताओं और देवियोंकी आराधना करते हैं। फिर जो जो वस्तुएँ वे लोग माँगते हैं, वे सब उन्हें प्राप्त होती हैं। पर यह बात तुम निश्चयपूर्वक समझ रखो कि ये सब किये हुए कर्मोंके ही फल होते हैं। वास्तवमें यह बात निस्सन्देह है कि कर्मके सिवा यहां न तो कोई और देनेवाला है और न कोई लेनेवाला है। इस मनुष्य लोकमें केवल कर्म ही फलदायक होते हैं। जिस प्रकार खेतमें वही उगता है, जो बोया जाता है, अथवा दर्पणमें जो देखता है, उसीका प्रतिबिम्ब उसमें दिखाई देता है, अथवा जैसे पहाड़के नीचे खड़े होकर जो कुछ कहा जाय, उसीकी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यद्यपि इन समस्त देवियों और देवताओंके भजनका मैं ही मूल आधार हूँ, तो भी उपासककी इच्छाके अनुसार उसे भजनका फल प्राप्त होता है।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥१३॥

"मनुष्य-लोकमें जो ये चारों वर्ण दिखाई पड़ते हैं, वे भी मैंने ही इसी प्रकार तटस्थ रहकर गुणों और कर्मोंके विभागोंके अनुसार उत्पन्न किये हैं। कारण यह है कि कर्मोंके आचरणका विचार मायाके ही आश्रयसे और गुणके ही मिश्रणसे हुआ है। हे वीर अर्जुन, ये सब मनुष्य मूलतः एक ही वर्णके हैं; परन्तु गुण और कर्मकी नीतिके

अनुसार चारो वर्णोंमें विभक्त हो गये हैं। इसलिए, हे अर्जुन, मैं कहता हूँ कि इस चातुर्वर्ण्यकी संस्थाका मैं बिलकुल कर्त्ता नहीं हूँ।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

"जिसको समझमें यह तत्त्व अच्छी तरहसे आ जाता है कि ये सब मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, पर फिर भी मैंने इन्हें नहीं बनाया है, उनके सम्बन्धमें यह समझ लेना चाहिए कि वे इस संसारसे छूटकर मुक्त स्थिति में पहुँच गये हैं।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः ।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

"हे अर्जुन, अब तक जो मुमुक्षु जन हो गए हैं, उन सब लोगोंने मेरा यह मूल स्वरूप पहचानकर ही सब कर्मोंका आचरण किया है। परन्तु जिस प्रकार आग पर भूने हुए बीजमेंसे अंकुर नहीं निकलता, उसी प्रकार उनके वे निष्काम कर्म उनके लिए मोक्षदायक हुए हैं। हे अर्जुन, इन विषयोंके सम्बन्धमें ध्यानमें रखने योग्य एक और बात है। वह यह कि कर्म और अकर्मका विचार बुद्धिमान् पुरुषोंको भी केवल अपनी पसन्दके अनुसार और मनमाने तौर पर करनेकी आवश्यकता नहीं होती।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥

"बुद्धिमान् लोग भी इस बातका विचार करते करते चकरा गये हैं कि कर्म क्या है और अकर्मके लक्षण क्या हैं। जिस प्रकार नकली सिक्के देखनेमें ठीक सच्चे सिक्कोंके समान होते हैं और आँखोंको धोखेमें डाल देते हैं, उसी प्रकार ऐसे महा सामर्थ्यशाली लोगोंकि कम थी, जो यदि अपने मनमें चाहें तो एक दूसरी ही सृष्टि तकका निर्माण कर सकते हैं, निष्कामताकी मिथ्या कल्पनाके फेरमें पड़कर अन्तमें सकाम ही सिद्ध हुए हैं। फिर यहाँ मूर्खोंका तो पूछना ही क्या है ! इस प्रश्न पर विचार करते समय बड़े बड़े दूरदर्शी लोग भी धोखेमें आ गये हैं। इसलिए मैं यह विषय बहुत ही स्पष्ट करके तुम्हें बतलाता हूँ। सुनो।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥

"जिससे सहजमें ही इस विश्वकी सृष्टि होती है, उसीको "कर्म" कहना चाहिए। पहले वह सहज कर्म बहुत ही साफ तरहसे समझ लेना चाहिए। फिर अच्छी तरह यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्रोंमें बतलाए हुए वे कौनसे "विहित कर्म" हैं जो हमारे वर्ण और आश्रमके लिए उपयुक्त कहे गए हैं और उनका उपयोग क्या है। फिर जिन कर्मों-का निषेध किया गया है, वे सब कर्म भी अच्छी तरह जान लेने चाहिए। इसका फल यह होगा कि तुम चक्कर या भ्रममें नहीं पड़ोगे। वास्तवमें यह संसार कर्मसे व्याप्त है;

और कर्मकी यह व्याप्ति बहुत ही प्रचंड है। परन्तु इस प्रसंग के लिए जितना निवेदन करना आवश्यक है, उतना मैं उसके लक्षणोंका विवेचन करता हूँ।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥

"जो पुरुष कर्मोंका आचरण करता हुआ भी यह तत्व अपने ध्यानमें रखता है कि मैं निष्कर्मी हूँ, जो कर्म-संग होने पर भी अपने मनमें फलकी आशा नहीं रखता और जो केवल कर्तव्य बुद्धिको छोड़कर और किसी कारणसे कर्म नहीं करता, उसके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए कि उसमें यह निष्कर्मताका भाव अच्छी तरह प्रविष्ट हो चुका है। इसलिए जो पुरुष अपने समस्त कर्म यथास्थित रीतिसे करता रहे, उसीको उक्त लक्षणोंसे युक्त ज्ञानी समझना चाहिए। जिस प्रकार पानीके पास खड़ा हुआ मनुष्य पानीमें अपना प्रतिबिम्ब देखता है और यह समझता है कि मैं इस पानीमेंका प्रतिबिम्ब नहीं हूँ, बल्कि इससे अलग ही हूँ, अथवा जिस प्रकार नाव पर बैठकर नदीमें बिहार करनेवाला मनुष्य नदीके किनारेके वृक्षों आदिको वेगपूर्वक एकके बाद एक करके जाता हुआ देखता है, पर जब अच्छी तरह विचार करता है, तब कहता है कि ये सब वृक्ष अचल हैं, उसी प्रकार जो यह समझता है कि मेरा कर्मोंका आचरण आत्म-स्वरूपकी दृष्टिसे बिलकुल मिथ्या है और जो अपना मूल स्वरूप पहचान लेता है, वही सच्चा निष्कर्मी है। जिस प्रकार उदय और अस्तकी बाधाओंके रहते हुए भी सूर्य अचल रूपसे भ्रमण करता रहता है, उसी प्रकार ऐसा पुरुष सब कर्म करता हुआ भी अपनी निष्कर्मता अचंचल रखता है। वह देखनेमें तो मनुष्यके समान ही जान पड़ता है, परन्तु जिस प्रकार सूर्यका प्रति-बिम्ब पानीमें पड़नेपर भी वास्तविक सूर्य-बिम्ब उस पानीसे नहीं भींगता, उसी प्रकार ऐसे निष्कर्मी पुरुषको भी मनुष्यत्व कभी स्पर्श नहीं कर सकता। ऐसा निष्कर्मी पुरुष विश्वको देखता है, सब कुछ करता है और सब प्रकारके भोग भोगता है, परन्तु फिर भी वह इन सब क्रियाओंसे तटस्थ और अलिप्त ही रहता है। वह रहता तो एक ही जगह है, पर फिर भी सारे विश्वमें संचार करता है; बल्कि यह कहना चाहिए कि वह स्वयं ही विश्व-रूप हो जाता है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥१९॥

"जिस पुरुषको कर्माचरणके सम्बन्धमें कोई चिन्ता या दुःख नहीं होता, पर साथ ही जिसमें कर्म-फलके सम्बन्धमें कोई आसक्ति भी नहीं होती और जिसके मनमें इस प्रकारके संकल्प-विकल्प नहीं होते कि—"मैं यह कर्म करूँगा, मैं यह हाथमें लिया हुआ कर्म पूरा करूँगा।" और जो ज्ञान-रूपी अग्निमें अपने समस्त कर्मोंकी आहुति दे चुका होता है, उस मनुष्यको तुम प्रत्यक्ष परब्रह्म ही समझो।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥२१॥
यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

"जिसका देह-भाव छूट जाता है, जो कर्मोंके फलके सम्बन्धमें निरिच्छ रहता है, और फलोंकी इच्छा नहीं रखता और सदा आनन्दित रहता है, जो सन्तोषके मध्य गृहमें भोजन करने बैठता है और आत्म-बोधका चाहे कितना ही अधिक भोजन सामने क्यों न परोसा जाय, फिर भी जो कभी यह नहीं कहता कि "बस, अब यथेष्ट हो चुका ।" वह आत्मानन्दका माधुर्य दिन पर दिन बढ़ती रहनेवाली रुचिके साथ सेवन करता है, वह आशाको छोड़ देता है और उसे अहंकारके साथ निछावर करके फेंक देता है । इसी लिए जिस समय उसे जो कुछ मिल जाता है, उसी पर वह सन्तोष करता है और इस प्रकारकी बात भी उसके पास नहीं आने पाती कि—"यह मेरा है और वह पराया है ।" वह जो कुछ देखता, सुनता, चलता या बोलता है, वह सब और इसी प्रकारकी जो दूसरी भिन्न भिन्न क्रियाएँ करता है, वे सब आपसे आप ही होती रहती हैं । अधिक क्या कहा जाय, यह सारा विश्व ही उसके लिए आत्म-स्वरूप होता है । भला ऐसे पुरुषके लिए कौन-सा कर्म कब बाधक हो सकता है ? जिस द्वैत भाव या दुजायगीके योगसे मत्सर उत्पन्न होता है, वह द्वैत भाव जिस मनुष्यमें रह ही नहीं जाता, उसके सम्बन्धमें यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि वह निर्मत्सर है, क्योंकि उसके विषयमें यह बात स्वयं सिद्ध ही होती है । इसी लिए ऐसा पुरुष सब प्रकारसे मुक्त ही रहता है; और इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह सब प्रकारके कर्म करने पर भी अकर्मा ही रहता है । वह देखने में तो गुणयुक्त जान पड़ता है, परन्तु वास्तवमें निर्गुण ही रहता है ।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥

"वह चाहे देहधारी ही हो, पर फिर भी केवल चैतन्य-रूप ही रहता है । वह परब्रह्मकी कसौटी पर खरा और चोखा ही उतरता है । ऐसा पुरुष यदि सहज लीलासे यज्ञ-याग आदि कर्म करे भी, तो भी वे सब उसके आत्म-स्वरूपमें ही लीन हो जाते हैं । जिस प्रकार असमयमें आनेवाले मेघ आकाशमें चारों ओर फैल जाने पर भी वृष्टि नहीं करते, बल्कि आपसे आप ही आकाशमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे पुरुषके किये हुए यज्ञ-याग आदि कर्म भी उसके ऐक्यभावमें एक-रूप हो जाते हैं ।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥

"इसका कारण यही है कि उसकी बुद्धिमें इस प्रकारका कोई भेद-भाव होता ही

नहीं कि यह हवन है, यह होता है, यह यज्ञका भोक्ता है, आदि । यष्टा, यज्ञ, याजन, आहुति, मन्त्र आदि सबको वह अविनाशी आत्म-स्वरूप ही समझता है । इसलिए भाई अर्जुन, जिसकी समझ में यह बात अच्छी तरह आ जाती है कि "कर्म" का अर्थ ही "ब्रह्म" है, उसके लिए कर्म करना भी निष्कर्म होनेके समान ही होता है । इसी लिए जो लोग अविवेक रूपी बाल्यावस्थाको पार करके विरक्तिके साथ विवाह सम्बन्ध स्थापित कर लेते हैं और तब योगका अग्निहोत्र आरम्भ कर देते हैं, जो लोग रात-दिन यही योग-यज्ञ करते रहते हैं और गुरुके उपदेशोंकी मन्त्राग्निमें मनके साथ अज्ञानकी आहुति देते रहते हैं, उन्हींको यह योग-यज्ञ करना चाहिये । और हे अर्जुन, जो यज्ञ करने से आत्म-सुख का लाभ होता है, इन्द्र आदि देवताओंको प्रसन्न करनेके लिए किये जानेवाले उस यज्ञको "दैव यज्ञ" कहते हैं। अब मैं तुम्हें यज्ञके कुछ और प्रकार भी बतलाता हूँ । सुनो । जो ब्रह्माग्निसे अग्निहोत्र करते हैं, वे उस यज्ञसे ही अर्थात् ब्रह्म यज्ञसे ही यज्ञ-विधि करते हैं ।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥

कुछ लोग आत्म-संयमका अर्थात् मनोनिग्रहका अग्निहोत्र करते हैं । वे काया, वाचा और मनके नियमनको ही मन्त्र समझते हैं और इन्द्रिय-रूपी द्रव्यकी आहुति देते हैं । कुछ ऐसे लोग भी हैं जिनके मनमें वैराग्य उत्पन्न होता है । ऐसे लोग मनके नियमन को ही अग्निका निवास-स्थान बनाकर उसमें इन्द्रियाग्नि जलाते हैं । जब वैराग्यकी ज्वाला प्रज्वलित हो जाती है, तब उसमें विकार रूपी लकड़ियाँ जलने लगती हैं और अन्तः-करण पंचक रूपी पाँचों कुंडोंको आशा रूपी धूआँ छोड़कर बाहर निकल जाता है, जिससे वे कुण्ड स्वच्छ और तेजस्वी हो जाते हैं । तब ऐसे लोग "अहं ब्रह्मास्मि" के महावाक्यवाले मन्त्रका उच्चारण करते हुए अन्तःकरणके कुण्डमें इन्द्रियाग्निके मुखमें विषयोंकी विपुल आहुति देते हैं ।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥

हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकार संयमका अग्निहोत्र करके निर्दोष हो गये हैं । कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो हृदय रूपी अरणी अर्थात् काष्ठ खण्डको रगड़कर अग्नि उत्पन्न करनेके लिए विवेकको मथानी बनाते हैं । इस मथानीको मनके समाधानसे अच्छी तरह बाँध या जकड़कर और बड़े धैर्यसे दबाकर और गुरु-वाक्यको शक्तिसे खूब जोरोंसे चलाते हैं । इस प्रकार निरन्तर अच्छी तरह घर्षण करते रहनेपर शीघ्र ही उसका फल भी मिल जाता है; क्योंकि ज्ञानकी अग्नि प्रकट हो जाती है । परन्तु इस ज्ञानाग्निके पूरी तरह प्रज्वलित होनेसे पहले जो थोड़ा सा धूआँ निकलता है, वही ऋद्धि-सिद्धियोंका

मोह है। यह धुआँ जब जल्दी ही निकल जाता है, तब पहले ज्ञानाग्निकी बहुत ही छोटी सी चिनगारी उत्पन्न होती है। यम-दम आदिसे सुखाये जानेके कारण पहलेसे ही जो मन हलका हुआ करता है, वही मन इस चिनगारीके लिए ईंधनका काम देता है। जब इससे अच्छी ज्वाला उत्पन्न होती है, तब भिन्न-भिन्न वासनाएँ समिधाके रूपमें ममता रूपी घृतके साथ जलकर राख हो जाती हैं। उस समय दीक्षित पुरुष "सोऽहमस्मि" के मन्त्रका उच्चारण करते हुए जलती हुई ज्ञानाग्निमें इन्द्रियोंके कर्मोंकी आहुति देते हैं। तब प्राण-कर्म रूपी सुवा नामक दर्भ पात्रसे उस अग्निमें अन्तिम आहुति दी जाती है और तब अन्तमें ब्रह्म-तादात्म्यकी एक-रूप अवस्थामें इस यज्ञ-समाप्तिका स्नान होता है। इसके उपरान्त वे यज्ञ करनेवाले इस संयम-यज्ञका अवशिष्ट हविर्भाग, जो आत्मज्ञानका आनन्द है, पुरोडाशके रूपमें ग्रहण करते हैं। कुछ लोग इस प्रकारका यज्ञ-विधान करके त्रैलोक्यसे मुक्त हो गये हैं। अब तक मैंने जो यज्ञ-विधान बतलाये हैं, वे चाहे देखनेमें भले ही अलग-अलग जान पड़ें, परन्तु उन सबका साध्य एक ही है; और वह साध्य ब्रह्मके साथ सम-रसता प्राप्त करना ही है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥

कुछ लोग द्रव्य-यज्ञ, कुछ लोग तपोयज्ञ और कुछ लोग योग-यज्ञ करते हैं। कुछ लोग शब्दोंमें शब्दोंका ही होम करते हैं। इसे "वाग्यज्ञ" कहते हैं। जिसमें ज्ञानसे ब्रह्म रूपी ज्ञेयकी प्राप्ति होती है, उसे ज्ञान-यज्ञ कहते हैं। परन्तु हे अर्जुन, इन सब यज्ञोंका विधान करना बहुत ही कष्ट-कर है। परन्तु जो लोग इन्द्रियों पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेते है, वे अपने शारीरिक बलसे इन यज्ञोंका साधन कर सकते हैं। ऐसे लोग बहुत ही कुशल और योगकी शक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ही अपनी जीवात्माका परमात्मामें हवन कर सकते हैं।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥२९॥

"कुछ लोग दृढ़ निश्चय और अभ्यासकी सहायतासे योगका साधन करके अपान वायु रूपी अग्निमें प्राण वायु रूपी द्रव्यकी आहुति देते हैं। कुछ लोग प्राणोंमें अपानका हवन करते हैं और कुछ लोग प्राण तथा अपान इन दोनोंका ही निरोध कर लेते हैं। ऐसे योगियोंको प्राणायामी कहते हैं।"

अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥

कुछ लोग वज्र-योग नामक योग-प्रणालीसे विषय रूपी समस्त आहारोंका नियन्त्रण करके बड़े धैर्यसे प्राणोंमें प्राणोंका ही हवन करते हैं। इस प्रकारके यज्ञका साधन करके मनका सारा मल निकालकर दूर फेंक देनेवाले ये सब यज्ञकर्ता मोक्षकी ही इच्छा करते हैं। जो लोग माया और मोहको जलाकर केवल सहज आत्म-स्वरूप ही बच रहते हैं,

उनमें फिर अग्नि और यष्टाकी भावना ही बाकी नहीं रह जाती। फिर ऐसी अवस्थामें यज्ञ करनेवालेका हेतु पूरा हो जाता है; यज्ञ-विधान समाप्त हो जाता है और कर्मोंके सब झगड़े भी मिट जाते हैं। उस समय विचार और हेतुके प्रवेश करनेकी जगह ही बाकी नहीं रह जाती और द्वैत भावनाका दोष स्पर्श भी नहीं कर सकता।

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम ॥३१॥

"इस प्रकार यज्ञ-विधानके अन्तमें जो अविनश्वर, अनादि और निर्दोष ज्ञान प्राप्त होता है, उसीका ब्रह्मनिष्ठ लोग "अहं ब्रह्मास्मि" मन्त्रका जप करते हुए सेवन करते हैं। इस प्रकार जो लोग इस यज्ञ-शेषके अमृतसे तृप्त होकर अमरत्व प्राप्त करते हैं, वे सहज ही ब्रह्म-स्वरूप हो जाते हैं। परन्तु जिन लोगोंसे इस आत्म-संयम रूपी अग्निकी सेवा नहीं हो सकती और जो लोग जन्म धारण करके भी योग-यज्ञका सम्पादन नहीं करते, उन्हें कभी वैराग्य प्राप्त नहीं होता। जो लोग लौकिक क्रियाओंको भली भाँति सम्पादित न कर सकते हों, उनके सम्बन्धमें पारलौकिक अवस्थाकी तो कोई बात ही नहीं हो सकती।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥

"मैंने तुम्हें यज्ञके जो अनेक प्रकार बतलाये हैं; उनका वेदोंमें बहुत ही विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है। परन्तु हमें उस विस्तारसे क्या मतलब है। बस यही बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो कर्म इस प्रकार किए जाते हैं, वही वास्तव में यशस्वी होते हैं और ऐसे कर्म स्वभावतः बन्धक नहीं होते।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥

"हे अर्जुन, वेदोंमें जो बाह्य क्रिया-प्रधान स्थूल यज्ञ बतलाये गये हैं, उनका अपूर्व फल स्वर्ग-सुख ही है। उन यज्ञोंमें केवल जड़ द्रव्योंका हवन होता है; इसलिए जिस प्रकार सूर्यके सामने सब तारोंका तेज फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार इस ज्ञान यज्ञके सामने ये सब जड़-यज्ञ फीके पड़ जाते हैं और तुच्छ ठहरते हैं। जो ज्ञान स्फूर्तिकी आँखोंमें दिव्य अंजनके समान होता है, जिसके मिलने पर योगी-जन यह समझते हैं कि परम सुखका गुप्त भंडार मिल गया और इसी लिए जिसे योगी-जन कभी अपनेसे दूर नहीं होने देते, जो ज्ञान प्रचलित कर्मोंका अन्तिम फल, निष्कर्मताकी खान और छटपटाने-वाले साधकोंका पूर्ण समाधान है, जिस ज्ञानके प्राप्त होने पर कर्मोंके प्रति होनेवाला अनुराग दुर्बल हो जाता है, तर्क अन्धा होकर बैठ जाता है, इन्द्रियोंकी विषय सेवनकी

बात भूल जाती है, जिससे मनका मनत्व ही नष्ट हो जाता है, वाणीकी वाग्मिताका अन्त हो जाता है और ज्ञेयका पता लग जाता है, जो ज्ञान वैराग्यकी कामना पूरी कर देता है, विवेकका समाधान करता है और जो अनायास ही आत्म-तत्वके साथ भेंट करा देता है, यदि तुम वह अत्युत्तम ज्ञान प्राप्त करना चाहो तो तुम्हें सच्चे मनसे इन सन्त सज्जनोंकी सेवा करनी चाहिए। क्योंकि ज्ञानके मन्दिरकी यही साधु-सेवा देहलीज है। इसलिए हे अर्जुन, तुम बहुत उत्सुकतासे इस ओर प्रवृत्त होकर इसे प्राप्त करो। इसके लिए तन, मन और प्राणसे सन्तोंके चरणोंमें लगना चाहिए और अभिमान छोड़कर सब प्रकारसे उनकी सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने पर जिस ज्ञानकी हमें इच्छा है, उसके सम्बन्धमें प्रश्न करने पर ये सन्त लोग उस ज्ञानका भी हमें उपदेश देंगे; और वह ज्ञान ऐसा है कि जिसका उपदेश यदि अन्तःकरणको हो जाय तो वह संकल्पहीन हो जाता है।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥

"जिस अवस्थाके प्रकाशसे चित्त निर्भय होकर परब्रह्मकी बराबरीका हो जाता है, वह अवस्था जब प्राप्त हो जाय, तब हे भाई अर्जुन, तुम स्वयं अपने आपके सहित भूत मात्रको मेरे स्व-स्वरूपमें ही अखंड रूपमें देख सकोगे। हे पार्थ, जिस समय सद्गुरुकी कृपा होगी, उस समय इस ज्ञान-प्रकाशका प्रभात होगा और अज्ञानका अन्धकार दूर हो जायगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥३६॥

"तुम चाहे पापोंके सागर, अज्ञानके आगर और विकारोंके पर्वत ही क्यों न हो, तो भी इस परम ज्ञानकी शक्तिके साथ तुलना करने पर ये सब दोष तुच्छ ठहरते हैं। इस ज्ञानमें ऐसी ही विलक्षण और उत्तम शक्ति है। जिस ज्ञानके प्रकाशके सामने उस अमूर्त्त परम तत्वकी विश्वाभास-रूपी छाया भी बाकी नहीं रह जाती, उस ज्ञानको तुम्हारे मनका मल दूर करनेमें भला कितना परिश्रम करना पड़ेगा? इस विषयमें तो कोई शंका करना ही निरा पागलपन है। इस ज्ञानके समान महत् और व्यापक इस संसारमें और कोई पदार्थ नहीं है।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥

"प्रलय कालकी जिस आँधीके सामने त्रिभुवन भी जलकर आकाशमें धूएँकी तरह उड़ जाता है, उसके सामने भला साधारण बादल कहाँ तक ठहर सकते हैं? अथवा जो प्रलयाग्नि वायुके बलसे स्वयं पानीको भी जला डालती है, वह क्या कभी घासों और लकड़ियोंके सामने दब सकती है?

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥

"यदि अच्छी तरह विचार किया जाय तो यह कहना बिलकुल असम्बद्ध है कि इस परम ज्ञानसे मनका मल नष्ट नहीं हो सकता। फिर ज्ञानसे बढ़कर संसारमें और कोई पवित्र वस्तु भी तो नहीं है। जिस प्रकार संसारमें चैतन्य के सिवा और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसकी चैतन्यके साथ उपमा दी जा सके, उसी प्रकार यह ज्ञान भी ऐसा उत्तम है कि इसके जोड़का उत्तम और कोई पदार्थ नहीं है। यदि इस महातेजस्वी सूर्य-बिम्बकी कसौटी पर उसका प्रतिबिम्ब खरा उतर सकता हो, अथवा यदि इस आकाशको गठरीमें बाँधा जा सकता हो, अथवा यदि पृथ्वीकी बराबरीका भार हाथमें उठाया जा सकता हो, तभी, भाई अर्जुन, संसारसे इस ज्ञानकी उपमा भी मिल सकती है; और नहीं तो नहीं। इसी लिए यदि सब दृष्टियोंसे देखा जाय और बार-बार विचार किया जाय तो यही निश्चित होता है कि ज्ञानकी पवित्रता ज्ञानमें ही है और वह किसी दूसरी जगह नहीं मिल सकती। जिस प्रकार यदि यह बतलाना हो कि अमृतका स्वाद कैसा होता है, तो यही कहना पड़ता है कि वह अमृतके ही समान होता है, उसी प्रकार ज्ञानके लिए भी केवल ज्ञानकी ही उपमा हो सकती है। परन्तु अब इस विषयमें और अधिक कहना व्यर्थ समय नष्ट करना ही है।" श्रीकृष्ण के ऐसा कहने पर अर्जुनने कहा—"हे देव, आप जो कहते हैं, वही ठीक है।" इसके बाद अर्जुनने अपने मनमें सोचा कि अब श्रीकृष्णसे यह पूछना चाहिये कि इस ज्ञानको पहचानना कैसे चाहिए, और इसके लक्षण क्या हैं। परन्तु श्रीकृष्णने उसी समय अर्जुनके मनका यह भाव जान लिया और कहा—"भाई अर्जुन, मैं इस ज्ञानके साधनका उपाय तुम्हें बतलाता हूँ। सुनो।

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥

"जो पुरुष आत्म-सुखका स्वाद चख चुकनेके कारण समस्त विषयोंको तुच्छ समझता है, जो इन्द्रियोंका लालन नहीं करता, जिसे मन किसी प्रकारका कष्ट नहीं देता, जो मायामें नहीं भूलता और जो श्रद्धा-बुद्धिकी संगतिसे सुखी हो जाता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि अखंड और निर्दोष शान्तिसे भरा हुआ यह ज्ञान आपसे आप उसे ढूँढ़ता हुआ उसके पास पहुँचता है। जहाँ यह ज्ञान अन्तःकरणमें अच्छी तरह प्रविष्ट हो जाता है और शान्ति उत्पन्न हो जाती है, वहाँ आत्मबोधका आपसे आप प्रचण्ड विस्तार होने लगता है। इतना हो जाने पर वह मनुष्य जिस तरफ आँख उठाकर देखता है, उसी तरफ उसे केवल शान्ति ही दिखाई देती है; और उसकी अपने और परायेवाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है। इस प्रकार इस ज्ञान-बीजका निरन्तर अपरम्पार विस्तार होता रहता है। अब इसका वर्णन मैं कहाँतक करूँ! इतना ही कहना यथेष्ट है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥

"हे अर्जुन, जिस प्राणीके मनमें यह ज्ञान प्राप्त करनेकी लालसा न हो, उसका जीनेकी अपेक्षा मर जाना ही अच्छा है। जिस प्रकार उजड़ा हुआ घर या प्राणहीन शरीर होता है, उसी प्रकार ज्ञान-हीन जीवन भी केवल भ्रमपूर्ण ही होता है। अथवा यदि किसी मनुष्यकी ऐसी स्थिति हो कि उसे यह ज्ञान तो न प्राप्त हुआ हो, परन्तु फिर भी जिसके मनमें इस ज्ञानके प्रति कुछ आदर या प्रेम हो, तो यह समझ लेना चाहिए कि उसके लिए यह ज्ञान प्राप्त कर लेना सम्भव है। जिसे ज्ञान न हो, उसका कोई मूल्य नहीं है। यदि किसीमें यह ज्ञान भी न हो और साथ ही उसके मनमें ज्ञानके प्रति आदर या प्रेम भी न हो, तो उसके सम्बन्धमें यह समझ लेना चाहिये कि वह संशयकी अग्निमें भस्म हो गया। जब किसी मनुष्यके मनमें आपसे आप ऐसी अरुचि उत्पन्न हो जाती है कि उसे स्वयं अमृत भी अच्छा नहीं लगता, तब स्पष्ट रूपसे यही समझ लेना चाहिये कि उसकी मृत्यु सिर पर आ पहुँची है। इसी प्रकार जो मनुष्य विषय-सुखोंमें फँसा रहता है और जिसमें ज्ञानकी रुचि नहीं होती, उसके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे यही समझ लेना चाहिए कि स्वयं संशयने उसे खूब अच्छी तरह घेर या दबा रखा है। और जो संशयमें पड़ता है, उसका सत्तानाश ही होता है। वह ऐहिक और पारलौकिक दोनों ही सुखोंसे वंचित रहता है। जिस मनुष्यको भीषण ज्वर चढ़ा रहता है, उसे गरमी और सरदीके भेदका पता नहीं लगता। ऐसा मनुष्य जिस प्रकार आग और चन्द्रमाकी चाँदनी दोनोंको समान ही समझता है, उसी प्रकार संशयमें पड़े हुए मनुष्यको अच्छे और बुरे, असम्बद्ध और योग्य, हित और अहितका भेद ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार जन्मान्धको रात और दिनका भान नहीं होता, उसी प्रकार संशयमें डूबे हुए मनुष्यको भी किसी बातका पता नहीं चलता। इसलिए इस संसारमें संशयके समान और कोई घोर पातक नहीं है। प्राणियोंको पकड़कर उनका सत्तानाश करनेके लिए यह एक जाल ही है। इसलिए तुम यह संशय छोड़ दो, जो ज्ञानके अभावमें उत्पन्न होता है। सबसे पहले तुम्हें केवल इस संशय पर ही विजय प्राप्त करनी चाहिए। जिस समय अज्ञानका घोर अन्धकार फैलता है, उस समय इस संशयका बल बहुत बढ़ जाता है और श्रद्धाके मार्गका पूर्ण रूपसे अन्त हो जाता है। फिर यह इतना बढ़ता है कि हृदयमें समा ही नहीं सकता; वह बुद्धिको ग्रस लेता है और तब शीघ्र ही उस मनुष्यके लिए तीनों भुवन संशय-मय हो जाते हैं!

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥

तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥

"देखो, यद्यपि इस संशयकी व्यापकता इतनी अधिक है, पर फिर भी एक उपायसे इसका दमन हो सकता है। यदि तुम्हारे हाथमें ज्ञानकी चमचमाती हुई तलवार हो तो उस तेज धारवाली तलवारसे इसका जड़-मूलसे नाश हो जाता है और मनमें नामको

भी इसका कोई अंश नहीं रह जाता। इसलिए हे भाई पार्थ, तुम चटपट उठो और अपने मनमें रहनेवाले संशयका नाश कर डालो।" इस प्रकार सर्वश्रेष्ठ और ज्ञान-दीपक श्रीकृष्णने ये सब बातें कृपापूर्वक अर्जुनसे कहीं। हे राजा धृतराष्ट्र, आप भी ये सब बातें अपने ध्यानमें रखें। श्रीकृष्णने पहले जो बातें कही थीं और अब जो बातें कही थीं, उन सबका विचार करके अर्जुन अब जो प्रश्न करेंगे, उसका प्रसंग भक्तिका भांडार और रसाविर्भावकी प्रौढ़तासे पूर्ण है। अब आगे वही प्रसंग बतलाया जायगा। जिस शान्त रसके माधुर्य पर बाकी आठों रस निछावर करके फेंक देनेके योग्य होते हैं और जिस शान्त रसमें सज्जनोंकी बुद्धिको विश्राम-स्थल या आश्रय प्राप्त होता है, वह शान्त रस इस कथामें अपने अपूर्व परिपाकको प्राप्त होगा। यह कथा आप लोग समुद्रसे भी अधिक गम्भीर और अर्थपूर्ण भाषामें सुनें। जैसे सूर्यका बिम्ब बहुत छोटा दिखाई पड़ता है, पर उसका प्रकाश इतना होता है कि तीनों लोकों में भी नहीं समाता, उसी प्रकार आपको इस कथाके शब्दोंकी व्यापकताका भी अनुभव होगा। अथवा जिस प्रकार कल्प-वृक्ष माँगनेवालेकी इच्छाके अनुसार फल देता है, उसी प्रकार इस वाणी-की व्यापकता भी श्रोताओंकी इच्छाके अनुसार कम या अधिक होगी। इसलिए आप सब लोग सावधान होकर सुनें। परन्तु अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। आप सब लोग सर्वज्ञ ही हैं, इसलिए और अधिक क्या कहा जाय! मेरी यही प्रार्थना है कि आप लोग अच्छी तरह ध्यान देकर सुनें। जिस प्रकार किसी स्त्रीमें लावण्य, गुण और कुलीनताके साथ ही साथ पातिव्रत भी रहता है, उसी प्रकार इन पंक्तियोंमें साहित्य-का ललित गुण और शान्त रस दोनों ही स्पष्ट रूपसे दिखाई देते हैं। एक तो चीनी यों ही लोगोंको अच्छी लगती है। तिस पर यदि वह औषधके रूपमें दी जाय तो फिर वह बार बार आनन्दपूर्वक क्यों न खाई जाय? मलय वायु यों ही मन्द और सुगन्धित होती है। तिस पर यदि उसे अमृतका माधुर्य भी प्राप्त हो जाय और संयोगसे उसमें सु-स्वर नाद भी उत्पन्न हो जाय, तब वह अपने स्पर्शसे समस्त अंगोंका ताप शान्त करती है, मधुर रुचिसे जीभको आनन्दसे नचाती है और कानोंको तृप्त करके उनसे "धन्य! धन्य!" का उद्गार निकलवाती है। इस प्रकार यह कथा सुननेसे कानोंके व्रत-का पारण हो जाता है और बिना किसी अपकारके संसारके सब दुःख समूल नष्ट हो जाते हैं। यदि मन्त्रसे ही शत्रु मर जाता हो, तो फिर हाथमें कटार लेनेकी क्या आव-श्यकता है? यदि दूध और चीनीसे ही रोग नष्ट होता हो, तो फिर कड़वी नीमका रस क्यों पीया जाय? इसी प्रकार बिना मनको मारे हुए और बिना इन्द्रियोंको कष्ट दिये केवल यह कथा सुननेसे ही आपसे आप मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि आप लोग उतनी ही शान्तिसे गीताका यह अर्थ अच्छी तरहसे सुनें।

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥

फिर अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आप ये किस प्रकारकी बातें कर रहे हैं? यदि आप कोई एक बात निश्चयपूर्वक बतलाते तो मैं अपने मनमें उस पर विचार कर सकता। अभी आपने यही बात अनेक प्रकारसे बतलाई है कि सब कर्मोंका संन्यास या परित्याग करना चाहिए; और तब आप ही बड़े आनन्दसे कर्मयोगका खूब समर्थन करते और महत्व बतलाते हैं। यह क्या बात है? आप जो इस प्रकार दो-रुखी बातें कहते हैं, उनके कारण मुझ अल्पज्ञकी बुद्धिमें असल बात उतनी अच्छी तरहसे नहीं आती, जितनी अच्छी तरहसे आनी चाहिए। हे देव, यदि आपको किसी एक ही तत्व-सिद्धान्तका उपदेश करना हो तो उसके सम्बन्धमें आपका भाषण भी निश्चित और ऐसा होना चाहिए जिसमें और किसी विषयकी बातें न हों। आपकी बातें दुविधामें डालनेवाली नहीं होनी चाहिएँ। और यह कोई ऐसी बात नहीं है जो मैं आपको समझाकर बतलाऊँ। इसी लिए आप सरीखे सद्गुरुसे मैंने आरम्भमें ही प्रार्थना की थी कि आप मुझे परमार्थका ऐसा उपदेश न करें जो गूढ़ हो। परन्तु देव, अब आप उन सब पिछली बातोंको जाने दीजिए; और स्पष्ट रूपसे इस बातका विवेचन कीजिए कि "कर्म-संन्यास" और "कर्म-योग" इन दोनोंमेंसे कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है जो अन्त तक ठीक ठहर सके, जो निश्चित रूपसे फलदायक हो और जिसका आचरण भी स्पष्ट और सहज हो? वह साधन पालकीकी तरह ऐसा सुखद और सहज होना चाहिए जिसमें नींद भी खराब न हो और यात्रा भी बहुत सी हो जाय।"

अर्जुनकी ये बातें सुनकर श्रीकृष्णको बड़ा मजा आया और उन्होंने बहुत ही सन्तोष-पूर्वक कहा—"हे अर्जुन, सुनो। जो साधन मैं तुम्हें बतलाता हूँ, वह वैसा ही सहज और सुखद है, जैसा तुम चाहते हो।" हे श्रोतागण, श्रीकृष्णका यह कथन बिलकुल यथार्थ है। क्योंकि जिस भाग्यशाली बालककी माता प्रत्यक्ष कामधेनु ही हो, वह यदि अपने खेलनेके लिए चन्द्रमा माँगे तो वह भी उसे मिल जाता है। देखिये, जब उपमन्यु पर श्री शंकर भगवान् प्रसन्न हुए थे और उपमन्युने दूध-भात खानेकी इच्छा प्रकट की थी, तब उसकी वह इच्छा पूरी करनेके लिए श्रीशंकरने उसे प्रत्यक्ष क्षीरसागर ही दे दिया था या नहीं? इसी प्रकार जो श्रीकृष्ण उदारताके गुणके स्वयं जन्म-स्थान ही हैं, वे यदि वीरश्रेष्ठ अर्जुन पर प्रसन्न हो गये हों, तब फिर अर्जुनको सब प्रकारके सुखोंका आश्रय क्यों न प्राप्त हो? इसमें आश्चर्य करनेकी कौन-सी बात है? यदि श्रीलक्ष्मीपति कृष्णके समान धनी मिल जाय तो अपनी इच्छाके अनुसार सब वस्तुएँ उनसे अवश्य ही माँग लेनी चाहिएँ। इसी लिए अर्जुनने जिस ज्ञानकी याचना की थी, वह ज्ञान श्रीकृष्णने उसे बहुत आनन्दपूर्वक

दिया। अब यह हम बतलाते हैं कि श्रीकृष्णने उससे क्या कहा। आप लोग सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥ २ ॥

श्री भगवानने कहा—"भाई अर्जुन, यदि कर्म-संयास और कर्म-योगका विचार किया जाय तो सिद्ध होता है कि ये दोनों ही मोक्ष प्राप्त करनेके मार्ग हैं। तो भी ज्ञानी और अज्ञानी सब प्रकारके जीवोंके लिए वास्तवमें यह कर्म-योग ही स्पष्ट और सुगम मार्ग है। जिस प्रकार किसी नदी या जलाशय आदिको पार करनेके लिए नाव स्त्रियों और बालकों तकके लिए उपयोगी होती है, उसी प्रकार यदि तारतम्यका विचार किया जाय तो यह कर्म-योग ही सब लोगोंके लिए समान रूपसे सुलभ है। यदि इस कर्म योगका ठीक तरहसे आचरण किया जाय तो कर्म-संन्यासका फल भी आपसे आप मिल जाता है। मैं पहले तुम्हें संन्यासियोंके लक्षण बतलाता हूँ जिससे यह विषय बहुत अच्छी तरह तुम्हारी समझमें आ जाय। उसीसे कर्म-संन्यास और कर्म-योगका अभेद या एकता बहुत सहजमें तुम्हारी समझमें आ जायगी।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति ।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

"जो हाथसे निकल जानेवाली वस्तुका स्मरण करके दुःखी नहीं होता, अथवा जो न प्राप्त होनेवाली वस्तुके लिए लालायित नहीं होता, जिसका अन्तरंग या मन मेरु पर्वतके समान निश्चल रहता है, जिसके हृदयमें "मैं" "मेरा" आदि की भावनाएँ नामको भी नहीं रहतीं, हे पार्थ उसी पुरुषको नित्य-संन्यासी समझना चाहिए। जो मनुष्य इस अवस्थामें पहुँच जाता है, उसके लिए कर्म-संग कभी बाधक नहीं होता और वह सदा अखंड सुखसे सुखी रहता है। ऐसे नित्य-संन्यासीको घर-बार और स्त्री-पुत्र आदिके बखेड़ोंका परित्याग नहीं करना पड़ता, क्योंकि वह पुरुष संग-हीन रह कर यह बात अच्छी तरह जानता रहता है कि इन सब बखेड़ोंके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। देखो, जब आग बुझ जाती है, तब केवल राख ही बाकी रह जाती है। फिर वह राख बत्ती बनाते समय रुईके साथ चुटकीमें पकड़ी जा सकती है। इसी प्रकार संसारकी उपाधियोंमें रहते हुए भी जिसकी बुद्धिको संकल्प-विकल्पकी आँच नहीं लगती, वह कभी कर्मके बन्धनोंमें नहीं पड़ता। इसी लिए जब संकल्प-विकल्प बन्द हो जाते हैं, तभी संन्यासकी प्राप्ति या साधन होता है। इसी लिए कर्म-संन्यास और कर्म-योग दोनों साथ ही साथ चलनेवाले हैं।

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥

"हे अर्जुन, जिन मूढ़ पुरुषोंकी समझमें यह तत्व नहीं आता, वे ज्ञान-योग और कर्म-योगकी व्यवस्था भला कैसे समझ सकते हैं? वे अपने स्वाभाविक अज्ञानके कारण इन दोनोंको एक दूसरेसे भिन्न समझते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कभी भिन्न भिन्न दीपकोंके प्रकाशमें कोई भेद दिखाई पड़ता है? जो लोग स्वानुभवसे आत्म-

रूपका तत्व अच्छी तरह समझ लेते हैं, वे संन्यास और योगमें भेद नहीं मानते।

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति॥ ५॥

"परन्तु जो बात लोग सांख्य-साधन या ज्ञान-मार्गसे प्राप्त करना चाहते हैं, वही बात योग-साधनसे भी प्राप्त हो जाती है; और इसी लिए वे दोनों एक-रूप ही होते हैं। जिस प्रकार आकाश और अवकाश (खाली स्थान) के भेदका निराकरण नहीं हो सकता, उसी प्रकार योग और संन्यासकी एकताके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। जो संन्यास और योगका अभेद या एकता समझता हो, उसीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि उसे सच्चा प्रकाश प्राप्त हुआ है और उसीको आत्म-स्वरूपके दर्शन हुए हैं।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति॥ ६॥

"हे अर्जुन, जो व्यक्ति कर्म-योगके पैदलवाले रास्तेसे मोक्ष रूपी पर्वत पर चढ़ता है, वह शीघ्र ही आत्मानन्दके शिखर पर पहुँच जाता है। परन्तु जिन्हें योग-साधनकी प्राप्ति नहीं होती, वे व्यर्थके बखेड़ोंमें फँसे रहते हैं और उन्हें कभी सच्चे संन्यासकी प्राप्ति नहीं होती।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥

"जो लोग अपने मनको हटाकर माया और मोहसे बिलकुल अलग कर लेते हैं और गुरुके उपदेशसे अपने मनका सारा मल धो डालते हैं और उसे आत्म-स्वरूपमें भलीभाँति स्थापित कर देते हैं, और जिस प्रकार नमक जब तक समुद्रमें नहीं पड़ता, तब तक तो वह समुद्रसे भिन्न और आकारके विचारसे उसके सामने बहुत ही तुच्छ जान पड़ता है, पर जब वही नमक समुद्रमें मिलकर उसके साथ एक-जीव हो जाता है, तब वह भी समुद्रके समान ही विस्तृत और अनन्त हो जाता है, उसी प्रकार जिसका मन संकल्प-विकल्पोंसे बाहर निकलकर चैतन्यमें मिल जाता है, और उसके साथ सम-रस हो जाता है, वह पुरुष यद्यपि देखनेमें देश-कालकी मर्यादाके विचारसे अन्यान्य लोगोंकी तरह एक देशमें स्थित जान पड़ता है, तो भी वह अपने आत्म-स्वरूपसे तीनों भुवनोंको व्याप्त कर लेता है। अर्थात् ऐसे पुरुषके सम्बन्धमें "कर्त्ता", "कर्म" और इसी प्रकारकी दूसरी बातोंका सहजमें अन्त हो जाता है और तब वह चाहे सब प्रकारके कर्मोंका आचरण भी क्यों न करता रहे, तो भी वह सदा अकर्त्ता ही रहता है। क्योंकि हे अर्जुन, जब ऐसे पुरुषको अपने देह-भावका भी स्मरण नहीं रह जाता, तब उसमें कर्तृत्व भला किस प्रकार लग सकता है?

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्॥ ८॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥ ९॥

"इस प्रकार कर्म-योगी यदि देहका परित्याग न भी करे, तो भी उसमें निर्गुण और निराकार परब्रह्मके लक्षण दिखाई पड़ते हैं। यदि सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो वह भी दूसरे साधारण मनुष्यों की भाँति शरीर धारण करके सब प्रकारके कर्म करता हुआ दिखाई पड़ता है। कर्म-योगी भी दूसरे लोगोंकी ही भाँति आँखोंसे देखता है और कानोंसे सुनता है; परन्तु उसके सम्बन्ध में विलक्षण बात यही होती है कि वह इन सब कर्मोंमें फँस नहीं जाता। उसे स्पर्शका भी ज्ञान होता है और बास या गन्धका भी भान होता है। वह प्रसंगके अनुसार उपयुक्त भाषण भी कर सकता है। वह अन्नका भी व्यवहार करता है, निषिद्ध वस्तुओं का परित्याग भी करता है और जब सोने का समय आता है, तब वह सुख से सोता भी है। वह अपनी इच्छाके अनुसार चलता-फिरता भी है। इस प्रकार वह सब तरह के कर्मोंका सचमुच आचरण करता रहता है। हे अर्जुन, अब मैं और अधिक क्या कहूँ! वह श्वासोच्छ्वास और पलकोंको उठाने और झपकानेकी सब क्रियाएँ भी करता है, परन्तु कर्मयोगियोंको प्राप्त होने वाले स्वानुभवके बलसे वह फिर "अकर्त्ता" ही बना रहता है। क्योंकि जब तक वह माया की सेज पर सोया हुआ था, तब तक तो वह स्वप्नके झूठे सुखके फेरमें पड़ा हुआ था; परन्तु अब ज्ञान-सूर्यका उदय हो जानेके कारण वह जागकर होश में आ जाता है।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥१०॥

"जब इस प्रकारकी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब देहके संगसे इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें विचरण करती रहती हैं। जिस प्रकार दीपकके प्रकाश में घरके सब काम धन्धे होते रहते हैं, उसी प्रकार कर्मयोगियोंके सब शारीरिक व्यापार होते रहते हैं। कर्म-योगी सभी कर्मों का आचरण करता है, परन्तु जिस प्रकार पानीमें रहने पर भी कमलके पत्ते उस पानीसे नहीं भीगते, उसी प्रकार कर्म करते रहने पर भी कर्मयोगियोंके साथ कर्मका संसर्ग या लेप नहीं होता।

कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥११॥

"जिन कर्मोंके सम्बन्धमें बुद्धिकी कोई बात ही न निकल सकती हो और मनका अंकुर भी न निकल सकता हो, उन कर्मोंको शरीर-कर्म कहना चाहिए। यही बात मैं तुम्हें सुगम शब्दोंमें बतलाता हूँ; सुनो। जिस प्रकार छोटा बालक बिना किसी हेतु या उद्देश्यके यों ही चलता फिरता है, उसी प्रकार योगी लोग मनमें किसी प्रकारकी वासना न रखते हुए केवल शरीरसे ही कर्मोंका आचरण करते हैं। फिर जब पंच-महाभूतोंसे बना हुआ यह जड़ शरीर योग-निद्राके वश में हो जाता है, तब मन उसी प्रकार अकेला अपने सब व्यवहार करता रहता है, जिस प्रकार वह स्वप्नकी अवस्थामें करता है। हे अर्जुन, इसमें एक विलक्षण बात यह है कि यह वासना ऐसे ढंग से अपना जाल फैलाती है कि वह शरीरको बिलकुल पता भी नहीं लगने देती और उसे सुख-दुःख के भोग में फँसा देती है। जिन व्यापारोंकी इन्द्रियोंको गंध भी नहीं मिलती, उन व्यापारोंको मानस व्यापार कहते

है । योगी लोग इन मानस कर्मोंका आचरण तो करते हैं, परन्तु उनके मनमें अहं-भावका स्पर्श भी नहीं होता, इसलिए वे कर्म उनके लिए बन्धक नहीं होते । जिस समय कोई मनुष्य पिशाचके चित्तके समान भ्रमिष्ट होता है, उस समय उसकी इन्द्रियोंकी क्रियायें पागलपनकी-सी जान पड़ती हैं । उसे आस-पासकी सब वस्तुओं और मनुष्योंके रूप और आकार तो दिखाई देते हैं, यदि उसे पुकारा जाय तो वह सुनता भी है और वह स्वयं अपने मुख से बोल भी सकता है, परन्तु देखने से यह नहीं जान पड़ता कि वह कुछ समझता भी है । परन्तु अब व्यर्थकी और बातोंकी आवश्यकता नहीं । जो कर्म सब प्रकारके कारणोंके अभावमें और आपसे आप होते हैं, उन्हें इन्द्रिय-कर्म कहते हैं । और जो काम समझ-बूझकर किये जाते हैं, वे वास्तवमें बुद्धिके कर्म हैं ।" श्रीकृष्ण ने अर्जुन से ये सब बातें कह कर आगे यह भी कहा कि—"वे लोग बुद्धिपूर्वक मन लगाकर सब कर्मों का आचरण तो करते हैं, परन्तु अपनी निष्कर्म वृत्तिके कारण वे मुक्त ही रहते हैं । क्योंकि बुद्धिसे लेकर शरीर तकके सम्बन्धमें उनमें अहं-भावका कोई विचार या स्मृति ही नहीं होती और इसी लिए वे सब प्रकारके कर्म करते रहने पर भी शुद्ध ही रहते हैं । हे अर्जुन, कर्तृत्वकी अहं-भावनाके बिना ही सब प्रकारके कर्म करना "निष्कर्म काम" कहलाता है और सद्गुरु से प्राप्त होनेवाला यह रहस्य-ज्ञान उसे प्राप्त रहता है । जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब शान्तिकी नदीमें ऐसी बाढ़ आती है कि वह अपने पात्रमें पूरी तरहसे भर जानेके कारण ऊपर चारों ओर फैलने लगती है, हे अर्जुन, मैंने अभी तुम्हें वह तत्त्व बतलाया है, वाचाकी सहायता से जिसका वर्णन जल्दी हो ही नहीं सकता ।" हे श्रोतागण, जिनकी इन्द्रियोंके उपद्रव पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं, वही इस ज्ञानके सच्चे अधिकारी होते हैं । परन्तु व्याख्यान का यह विस्तार सुनकर श्रोता लोग कहते हैं—"यह इधर-उधर की बातें बहुत हो चुकीं । यदि कथाका सूत्र इस प्रकार छोड़ दिया जायगा तो श्लोकोंको संगति ही न रह जायगी। जिस तत्त्वका आकलन करनेमें मनको भी बहुत कठिनता होती है और जिसका पता लगाने में बुद्धिको भी सफलता नहीं होती, वही तत्त्व इस समय सौभाग्यसे तुम्हें शब्दोंके द्वारा बतलाया गया है । जो तत्त्व-ज्ञान शब्दोंसे परे हैं, वही जब तुम्हें वाणी के द्वारा वर्णन करके बतला दिया गया, तब फिर और बाकी ही क्या रह गया ? अतः अब इन सब बातोंका अन्त करके मूल कथा आगे चलानी चाहिए ।" कथा सुननेके सम्बन्धमें श्रोताओं की यह प्रबल लालसा देखकर श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि हे श्रोताओं,अब सावधान होकर श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद सुनो । इसके उपरांत श्रीकृष्णने कहा—"अब मैं ऐसे योगी पुरुषोंके सम्पूर्ण लक्षण स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ जो सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं । सुनो ।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥

"जो इस आत्म-योगका सम्पादन कर लेता है और निःशंक होकर कर्मोंके फलोंकी आशा छोड़ देता है, उसे इस संसार में शान्ति स्वयं ही आगे बढ़कर जयमाल पहनाती है । और हे अर्जुन, जो लोग योग-हीन होते हैं, वे लोग कर्मों की डोरी और वासनाकी गाँठसे फल-भोगके खूँटेके साथ कसकर बाँध दिये जाते हैं ।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥

"जिस प्रकार और लोग फलकी आशासे कर्मोंका आचरण करते हैं, उसी प्रकार योगी लोग भी कर्मोंका आचरण करते हैं; पर वे लोग यह समझकर उन कर्मोंकी ओरसे उदासीन रहते हैं कि ये सब कर्म हमारे किये हुए नहीं हैं । फिर ऐसा पुरुष जिस ओर देखता है, उस ओर सुख ही सुखकी वर्षा होने लगती है । वह जहाँ रहता है, वहीं आत्म-बोधका भी निवास होने लगता है । वह इस नौ छिद्रोंवाले शरीरमें रहकर भी देह-भावसे हीन रहता है; और वह फलकी आशा छोड़ चुका होता है, इसलिए कर्मोंका आचरण करने पर भी वह अकर्त्ता ही बना रहता है ।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥१४॥

"यदि जगत्के आदि बीज परमेश्वरका विचार किया जाय तो वह अकर्त्ता ही सिद्ध होता है । परन्तु उसीने मायाकी उपाधिसे तीनों भुवनोंकी सृष्टि की है । यदि हम उसे कर्त्ता कहें तो उससे कर्मका सम्पर्क ही नहीं होता, क्योंकि उसके तटस्थ वृत्तिवाले हाथ-पैरोंमें कभी मल लगता ही नहीं । न तो कभी उसकी योग-निद्रा ही भंग होती है और न उसके अकर्तृत्वमें ही कभी अन्तर पड़ता है; तो भी वही पंचमहाभूतोंसे इस आकारयुक्त व्यूहकी रचना करता है । वह है तो संसारका जीवन ही, तो भी वह कभी किसीके कहनेमें नहीं रहता । यह संसार बनता और नष्ट होता रहता है, परन्तु इसकी उसे कभी खबर भी नहीं होती ।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

"चाहे समस्त पाप-पुण्य उसे चारों ओरसे घेरे ही क्यों न रहें, परन्तु फिर भी वह कभी उनकी ओर आँख उठाकर देखता भी नहीं । वह इन पाप-पुण्योंको तटस्थ वृत्तिसे देखनेवाला साक्षी तो होता ही नहीं ; फिर और बातोंकी तो जिक्र ही क्या है ? वह देहकी संगतिसे देही बनकर अवतार-लीला तो करता है, परन्तु उस अचिन्त्य प्रभुकी मूर्तता या निर्गुणता कभी नष्ट नहीं होती । जो लोग यह कहते हैं कि वह विश्वका निर्माण करता है, उसकी देख-रेख या पालन करता है, और अन्तमें उसका संहार भी करता है, भाई अर्जुन, यह उनका केवल अज्ञान ही समझना चाहिए ।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥

"जिस समय यह अज्ञान पूर्ण रूपसे नष्ट हो जायगा, उस समय भ्रान्तिकी कालिमा भी न रह जायगी और तब मनुष्योंको यह अनुभव होने लगेगा कि—"मैं ईश्वर हूँ और अकर्त्ता हूँ ।" यदि यह बात मनमें बैठ जाय कि केवल ईश्वर ही अकर्त्ता है, तो यह तत्व पूर्ण रूपसे सिद्ध हो जाता है कि—'मैं ईश्वर हूँ ।' जब एक बार चित्त पर इस प्रकारके ज्ञानका प्रकाश पड़ता है, तब इस त्रिभुवनमें कोई भेद-भाव रह ही [illegible]

जाता। ऐसी अवस्थामें मनुष्य स्वानुभवसे सारे जगतको मुक्त स्थितिमें—आत्म-स्वरूपमें—ही देखता है। क्योंकि तुम्हीं बतलाओ कि क्या कभी ऐसा भी हुआ है कि पूर्व दिशामें सूर्यका उदय होने पर केवल उसी दिशामें प्रकाश हो, और दूसरी दिशाओं-का अन्धकार ज्यों का त्यों बना रहे ?

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥

"बुद्धिके स्थिर हो जाने पर आत्म-ज्ञान होता है, मनमें यह बात अच्छी तरह जम जाती है कि हम ब्रह्म-रूप हैं और मन बिना कुछ भी चंचल हुए ब्रह्म-तत्वमें रहता है और दिन-रात तन्मयता बनी रहती है। इस प्रकारका सर्वव्यापी ज्ञान जिसके हृदयमें ओत-प्रोत भर जाता है, उसीको सम-दृष्टि कहना चाहिए। अब इससे बढ़कर मैं और क्या बतलाऊँ ! यदि यह कहा जाय कि वह स्वयं अपने ही समान सारे विश्वको आत्म-स्वरूप समझता है, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? परन्तु जिस प्रकार दैवमें कभी केवल विनोदके लिए भी दीनता नहीं दिखाई पड़ सकती, अथवा विवेकमें जिस प्रकार कभी भ्रान्तिका नाम भी नहीं दिखाई पड़ता, अथवा जिस प्रकार सूर्यमें कभी स्वप्नमें भी अन्ध-कारका कोई चिह्न दिखाई नहीं पड़ सकता, अथवा अमृतके कानोंमें कभी मृत्युका नाम भी नहीं सुनाई पड़ता, अथवा चन्द्रमाको कभी उष्णताका स्मरण भी नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषोंमें भूत मात्रके विषयमें कभी कोई भेद-भाव भी देखनेमें नहीं आता।

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥१८॥

"फिर इस प्रकारके भेद-भाव कहाँ रह जाते हैं कि यह मच्छड़ है, यह हाथी है, यह चांडाल है, यह ब्राह्मण है, वह पराया है, यह मेरा है आदि ? अथवा इस प्रकारकी समस्त कल्पनाओंका अन्त हो जाता है कि यह गौ है, यह कुत्ता है, यह श्रेष्ठ है, यह नीच है, क्योंकि जो जाग रहा हो, उसे स्वप्न कहाँसे दिखाई पड़ेगा ? ये सब भेद दिखाई तो पड़ते हैं, परन्तु कब ? जब अहं-भाव बाकी बचा रहता है, तब। जब वह अहं-भाव बिलकुल नष्ट हो जाता है, तब विषमताका कहीं पता भी नहीं रह जाता।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१९॥

"इसलिए तुम यह समझ लो कि समदर्शिताका रहस्य ही यह है कि मनुष्य यह समझ ले कि सब स्थानों और सब जीवोंमें निरन्तर सम भावसे रहनेवाला जो एकमेवा-द्वितीय ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ। जो विषयोंकी संगति बिना छोड़े हुए और इन्द्रियोंका बिना नियन्त्रण किये निष्काम होकर निःसंग स्थितिका भोग करता है, जो साधारण लोगोंकी ही तरह सब प्रकारके व्यवहार करता है, परन्तु लौकिक वस्तुओंका अज्ञानजन्य मोह छोड़ देता है, जो उसी प्रकार संसारको बिना दिखाई पड़े शरीरमें रहता है, जिस प्रकार किसीको पछाड़नेवाला भूत किसीको दिखाई नहीं पड़ता अथवा जो देखनेमें तो उसी प्रकार नाम और रूपके विचारसे अलग दिखाई पड़ता है, जिस प्रकार वायुकी

सहायतासे जलमें उठनेवाली तरंगोंको लोग जलसे अलग समझते और उनका अलग नाम "तरंग" रखते हैं, परन्तु फिर भी जो केवल ब्रह्म ही रहता है और जिसका मन सर्वत्र सम भावसे विचरण करता है और इस प्रकार जो समदृष्टि हो जाता है, उस पुरुषका एक विशेष लक्षण भी होता है। हे अर्जुन, मैं वह लक्षण तुम्हें संक्षेपमें बतलाता हूँ। सुनो।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥

"जिस प्रकार मृग-जलकी बाढ़से पर्वतराज नहीं हिलता, उसी प्रकार शुभाशुभकी प्राप्तिसे योगीमें भी कभी कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। जो मनुष्य इस प्रकारका हो, उसीको वास्तवमें सम्पूर्ण समदर्शी समझना चाहिए; और वही प्रत्यक्ष ब्रह्म है।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ॥२१॥

"जो पुरुष कभी आत्म-स्वरूपको छोड़कर इन्द्रियोंके वशमें नहीं होता, यदि वह विषयोंका सेवन न करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? स्वाभाविक और असीम आत्मा-नन्दसे उसका अन्तरंग पूर्ण रूपसे सुखी रहता है और इसलिए वह कभी इस आनन्दके बाहर नहीं होता। भला जिस चकोरने कुमुदके दलोंकी थाली या पत्तलमें चन्द्रमाकी किरणोंका उत्तम भोजन किया हो, वह क्या कभी रेतके कण खायेगा ? उसी प्रकार जिसे आत्म-सुख मिल जाय और जो ब्रह्म-स्वरूप हो जाय, उसके सम्बन्धमें यह कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि विषयोंसे उसका आप ही आप छुटकारा हो गया।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥

"अब हे अर्जुन, जरा इस बातका भी अच्छी तरह विचार कर देखो कि इन विषय-सुखोंके जालमें कौन फँसता है। जिन्हें आत्म-स्वरूपके दर्शन नहीं होते, वही इन इन्द्रिय-विषयोंके फेरमें पड़ते हैं। जिस प्रकार क्षुधासे पीड़ित मनुष्य भूसी या चोकर भी खा जाता है अथवा प्याससे व्याकुल हिरन असली पानीके स्वरूपके भ्रमसे भूलकर रेतीले जमीनको ही पानी समझकर दौड़ते हुए उसके पास आ पहुँचते हैं, उसी प्रकार जिन्हें आत्म-स्वरूप के दर्शन नहीं होते, जिनके पल्ले आत्म-सुखके नामसे सदा दरिद्रता ही पड़ी रहती है, उन्हींको ये विषय-सुख बहुत प्रिय जान पड़ते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो विषयोंके उपभोगमें कहने योग्य बिलकुल कोई सुख नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि इन विषयोंमें सुख है, तो फिर बिजलीकी चमकमें ही संसारके सब काम क्यों नहीं चलते ? यदि आकाश रूपी छतकी छायासे ही वायु, वर्षा और तापका निवारण हो सकता हो, तो फिर पक्के तिमंजले मकान क्यों बनाये जायें ? इसलिए विषय-सुखका शब्द-प्रयोग ही अर्थ-हीन है। जिस प्रकार माहुर या विषका भी एक नाम "मधुर" है अथवा जिस प्रकार पापग्रह भौमको भी लोग मंगल कहते हैं अथवा मृग-जलको भ्रमसे जल कहते हैं, उसी प्रकार विषयों-के सम्बन्धमें भी लोग "सुख" शब्दका प्रयोग करते हैं। परन्तु वास्तवमें इसके लिए "सुख" शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ बकवाद ही है। अच्छा, यह सब रहने दो और तुम मुझे केवल

यही बतलाओ कि साँपके फनकी छाया चूहेके लिए कहाँ तक सुखकारक हो सकती है ? हे अर्जुन, मछलीको फँसानेवाली बन्सीमें मांसका जो टुकड़ा लगाया जाता है, वह मछलीको तभी तक मोहक जान पड़ता है जब तक मछली उसे नहीं निगलती। उसी प्रकार तुम निस्सन्देह रूपसे यह समझ लो कि ठीक वही दशा विषय-संगकी है। हे अर्जुन, यदि इन विषयोंकी ओर विरक्तोंकी दृष्टिसे देखा जाय तो ये ऐसे पांडु-रोगियोंके समान हैं, जो ऊपरसे देखनेमें फूले हुए जान पड़ते हैं। इसीलिए विषयोंके उपभोगमें जो सुख दिखाई पड़ता है, वह वास्तवमें आदिसे अन्त तक केवल दुःख ही दुःख है। परन्तु अज्ञानी लोग करें क्या ? उनसे विषयोंका सेवन किये बिना रहा ही नहीं जाता। उन्हें भीतरी रहस्य तो मालूम नहीं होता, इसलिए वे बेचारे बड़े शौकसे विषयोंका सेवन करते हैं। पीपके कीचड़में रहनेवाले कीड़ोंको क्या कभी पीपसे घृणा होती है ? उन दुःखी जीवोंके लिए तो वह दुःख ही परम प्रिय जीवन होता है। वे तो उपभोग रूपी जलमें मछलीके समान रहते हैं। फिर वे उस कीचड़ और उस पानीको कैसे छोड़ सकते हैं ? ये विषय दुःखोंकी योनि अर्थात् दुःख उत्पन्न करनेवाले होते हैं। यदि वे जीव इन विषय-भोगोंके प्रति निस्पृह और उदासीन रहें तो घृणित विषय-भोग नष्ट ही हो जायँ। कहीं नामको भी विश्राम पाये बिना गर्भ-वास आदिके संकटों और जन्म-मरणकी यातनाओंका विकट मार्ग अतिक्रमण करनेके लिए भला कौन तैयार होता ? और यदि ये विषयासक्त जीव विषयोंको छोड़ दें तो बेचारे महादोषोंका कहाँ ठिकाना लगे ? और फिर जगतमें यह "संसार" शब्द ही मिथ्या ठहरेगा और उसका अन्त हो जायगा। इसी लिए झूठे सुखके फेरमें पड़े हुए जिन लोगोंने विषयोंके द्वारा होनेवाले दुःखोंका अंगीकार किया है, उन्होंने इस कोरे मायिक भ्रमको वास्तविक बना दिया है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, ये विषय बहुत ही बुरे हैं। इसलिए कभी भूलकर भी इन विषयोंके मार्गमें पैर नहीं रखना चाहिए। जो पुरुष विरक्त होते हैं, वे विषयोंका विषकी तरह परित्याग करते हैं; और विषयोंका परित्याग करनेमें उनके सामने जो दुःख आते हैं वे उनके इच्छा-हीन होनेके कारण ही उन्हें दिखाई नहीं देते।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥२३॥

"जो ज्ञानी पुरुष देहके समस्त विकारोंको पूर्ण रूपसे अपने वशमें कर लेते हैं, उनके लिए विषय-जन्य दुःख कहीं नामको भी नहीं रह जाते। जो लोग बाह्य विषयोंकी बात बिलकुल जानते ही नहीं, उनके अन्दर एक अखंड सुख भरा रहता है। परन्तु इस सुखका उपभोग करनेकी रीति कुछ निराली ही होती है। जिस प्रकार पक्षी फलोंका आस्वादन करते हैं, उस प्रकार वे लोग सुखोंका आस्वादन नहीं करते। वे लोग उस सुखका भोग करते हुए भी अपने भोक्ता होनेकी बात बिलकुल भूले रहते हैं। इस आत्म-सुखका उपभोग करते समय उनकी ऐसी तन्मय अवस्था हो जाती है कि वे अहं-भावका परदा दूर हटा देते हैं, और तब वह तन्मयता उनके साथ ऐसा गाढ़ आलिंगन करती है कि वह आलिंगन होते ही जीवात्मा ठीक उसी प्रकार परमात्माके साथ बिलकुल एक-रूप हो जाता है, जिस प्रकार पानीके साथ पानी मिलकर एक-रूप हो जाता है। अथवा

जिस प्रकार आकाशमें वायुके मिल जाने पर इस तरहकी द्वैतकी कोई बात बाकी ही नहीं रह जाती कि यह वायु है और यह आकाश है, उसी प्रकार जब जीवका उस तन्मयतावाली अवस्थाके साथ योग होता है, तब केवल सुख ही अपने वास्तविक स्वरूपमें बच रहता है। इस प्रकार भेदका अन्त हो जाता है। अब यदि यह कहा जाय कि उस समय केवल एकता ही बच रहती है, तो भी उसका ज्ञान करनेवाला द्रष्टा ही नहीं रह जाता। अब मैं यह विषय समाप्त करता हूँ। जो बात कहनेमें आ ही न सकती हो उसके विषयमें क्या कहा जाय ? जिसे आत्म-स्वरूपका अनुभव हो जायगा, वह इस स्पष्ट रचनासे ही सब समझ लेगा।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥२४॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥२५॥

"जो लोग इस आत्म-सुखसे परिपूर्ण और आत्म-रूप हो जाते हैं, उन्हें मैं समरसता या ब्रह्मानन्द रसके पुतले ही समझता हूँ। वे आनन्दकी मूर्ति, सुखके अंकुर अथवा आत्मबोधके विश्राम-स्थल ही होते हैं। उन्हें विवेककी जन्म-भूमि या ब्रह्म-तत्वका केवल स्वरूप अथवा ब्रह्म-विद्याके शृंगारित अवयव समझना चाहिये। उन्हें सत्व गुणकी सात्विकता अथवा चैतन्यकी गति समझना चाहिये।" जब यह व्याख्यान इतने जोरों पर आता है, तब श्रोता लोग कहते हैं—"अब यह विस्तार रहने दो। एक एक कल्पनाको कहाँ तक रँगते चलोगे ! तुम तो सन्तोंकी स्तुतिमें तल्लीन हो जाते हो और तब तुम्हें कथा-प्रसंगका ध्यान ही नहीं रह जाता; और निर्गुण विषयका प्रतिपादन करते समय सुन्दर सुन्दर शब्दोंकी योजना ही करते रहना चाहते हो। परन्तु अब इस प्रवृत्तिका आवेग रोको, ग्रन्थके अर्थका दीपक जलाओ और सन्तोंके हृदय-रूपी घरमें कल्याण-कारक प्रभात करो।" गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथका यह आशय समझकर मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि—फिर श्रीकृष्णने जो कुछ अर्जुनसे कहा, अब आप लोग वही सुनिये।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, आत्मानन्दके अगाध दहका तल जिन लोगोंको मिल जाता है, वे वहीं स्थिर होकर तद्रूप हो जाते हैं। अथवा जो लोग आत्म-ज्ञानके निर्मल प्रकाशकी सहायतासे समस्त विश्व स्वयं अपनेमें ही देखते हैं, उन्हें देहधारी परब्रह्म कहनेमें कोई हर्ज नहीं है। यह परब्रह्म सत्य, सर्वश्रेष्ठ, अविनाशी और असीम है। जो लोग निष्काम होते हैं, वही इस परब्रह्म रूपी देशमें निवास करनेके अधिकारी होते हैं। यह केवल महर्षियोंके लिए अलग करके रखा गया है; यह केवल विरक्तोंके ही हिस्सेमें आता है और इसकी समृद्धिका कभी अन्त नहीं होता।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥२६॥

"जो लोग अपने चित्तको विषयोंसे बिलकुल अलग कर लेते हैं और उसको पूर्ण रूपसे अपने वशमें रखते हैं, वे लोग जिस स्थान पर दृढ़ और शान्त होकर सोते हैं और

फिर कभी जागते ही नहीं, उसी स्थानको परब्रह्म निर्वाण कहते हैं। हे अर्जुन, आत्म-ज्ञानियोंका ध्येय जो परब्रह्म है, वही परब्रह्म ऐसे लोग भी होते हैं। कदाचित् तुम यह पूछोगे कि वे पुरुष इस स्थिति तक कैसे पहुँचे हैं और शरीर रहते हुए भी उन लोगोंने किस प्रकार यह ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त किया है, तो मैं यह विषय भी थोड़ेमें तुम्हें बतला देता हूँ; सुनो।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥२७॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥२८॥

"जो लोग विरक्तिके बलसे समस्त विषयोंको निकाल बाहर करते हैं और अपना शरीर केवल मनोमय बना लेते हैं, वे अपनी दृष्टि उलटकर उस सन्धि-स्थान पर लगा लेते हैं, जहाँ दोनों भौंहें मिलती हैं; और तब दाहिने और बाएँ दोनों नथनोंके मार्ग बन्द करके प्राण-वायु और अपान-वायुको एकमें मिला लेते हैं और उन्हें अपने चित्तके साथ चिदाकाशकी ओर ले जाते हैं। फिर जिस प्रकार मार्गमें पड़नेवाले नदी-नाले आदि गंगामें मिलते हैं और तब वह महानदी उन नदी-नालोंके सहित जाकर समुद्रमें मिलती है, उसी प्रकार वे लोग भी परब्रह्ममें ऐसे मिल जाते हैं कि फिर उन्हें किसी प्रकार अलग किया ही नहीं जा सकता। जब समाधिकी अवस्थामें प्राण और अपानके सम्मिलित वायु-बलसे चिदाकाशमें मनका लय हो जाता है, तब समस्त वासनाओंका आपसे आप परिहार हो जाता है। जिस मन रूपी वस्त्र पर यह संसार रूपी चित्र अंकित होता है, वह इस अवस्थामें फट जाता है। जिस प्रकार सरोवरके सूख जाने पर उसमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब आपसे आप नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इस समाधिकी अवस्थामें मनका भी पूर्ण रूप से नाश हो जाने पर अहं-भाव आदि वृत्तियोंका फिर भला कहाँ ठिकाना लग सकता है! इसी लिए जिन लोगोंको इन ब्रह्म-सारूप्यके सुखका अनुभव हो जाता है, वे लोग शरीरधारी रहते हुए भी ब्रह्म-रूप हो जाते हैं।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

"मैं अभी तुमको बतला चुका हूँ कि कुछ लोग इस देहको धारण किये रहने पर भी ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेते हैं। वे लोग इसी मार्गसे इस अवस्था तक पहुँचते हैं। वे लोग यम, नियम, आसन, धारणा आदि योग-साधनके विकट पर्वतों पर चढ़कर और योगा-भ्यासका सागर पार करके इस अवस्था तक पहुँचते हैं। वे आत्म-साक्षात्कारके बलसे स्वयं निर्लिप्त रहकर यह सब प्रपंच चलाते रहते हैं और स्वयं प्रत्यक्ष शान्त रस बनाकर रहते हैं।" इस प्रकार श्रीकृष्णने इस भाषणमें कर्म-योगका विवेचन किया; और अर्जुन एक बहुत ही मार्मिक श्रोता था, इसलिए यह नवीन तत्व सुनकर वह चौंक पड़ा। यह बात श्रीकृष्णके ध्यानमें भी आई और उन्होंने कुछ हँसते हुए पूछा—"हे पार्थ, क्या मेरी इन बातोंसे तुम्हारा समाधान हो गया?" इसपर अर्जुनने कहा—"हे देव, आप दूसरोंके मनका भाव जाननेमें बहुत प्रवीण हैं, इसलिए आपने मेरे मनकी बात भी बहुत अच्छी तरह जान

ली है। मैंने अपने मनमें जो बात पूछनेका विचार किया था, हे देव, आपने वह बात पहले ही जान ली और सब बातें कह डालीं। लेकिन आप एक बार फिर वही बात और भी अधिक स्पष्ट करके मुझे बतलावें। हे देव, सच तो यह है कि आपने अभी साधनाके जिस मार्गका उपदेश किया है, वह हमारे सरीखे दुर्बल जीवोंके लिए सांख्य योगकी अपेक्षा अर्थात् ज्ञान मार्गकी अपेक्षा वैसा ही अधिक सुगम और सुलभ है, जैसे गहरे पानीमें तैर-कर पार जानेकी अपेक्षा वह जल-मार्ग सुगम रहता है जो घुटने घुटने होता है और जिसे आदमी पैरों चलकर पार कर लेता है। अब यदि ऐसा मार्ग ढूंढ निकालनेमें कुछ अधिक समय लगे तो यह कोई ऐसी अड़चन नहीं है जो सहन न की जा सके। इसलिए अब सब प्रश्नोंका निराकरण करनेके लिए फिर एकबार यह सारा विषय विस्तारसे कहें।" इसपर श्रीकृष्णने कहा—"तुम्हें यह साधन मार्ग अच्छा जान पड़ता है न? ऐसी अवस्थामें फिरसे उसका विवेचन करनेमें मेरा क्या बिगड़ता है। सुनो, मैं फिरसे सब बातें बहुत प्रसन्नतासे बतलाता हूँ। हे अर्जुन, तुम्हारे मनमें यह विषय सुननेकी लालसा है;और जब तुममें इतनी सिद्धता या सामर्थ्य है कि तुम यह विषय सुनकर इसके अनुसार आचरण भी करना चाहते हो, तो इस मार्गका विवरण तुम्हें फिरसे बतलानेमें मैं क्यों पीछे हटूं।" हे श्रोतागण, एक तो माताकी इच्छा हो और तिस परसे उनमें सन्तानकी रुचि और उत्सुकता भी आकर मिल जाय। ऐसी अवस्थामें प्रेम रसकी जो विलक्षण बाढ़ आती है, उसका यथार्थ स्वरूप कौन अच्छी तरह समझ सकता है? श्रीकृष्णने अर्जुनकी ओर जिस प्रेमपूर्ण दृष्टिसे देखा था, मेरी समझमें नहीं आता कि मैं उस प्रेम-दृष्टिको अमृतकी वृष्टि कहूँ या अद्भुत स्नेह-रसकी सृष्टि कहूँ। न जाने वह दृष्टि अमृत-रसकी जीती-जागती पुतली थी अथवा वह प्रेम-रसका पान करके मत्त हुई थी जो वह अर्जुनके मोहमें ऐसी फँस गई कि वहाँ से उसका हटना सम्भव ही नहीं था। परन्तु इस प्रकारके जितने वर्णन किये जायँगे, उन सबसे केवल विषयांतर ही होगा। परन्तु इतना निश्चित है कि श्रीकृष्णके उस स्नेह-भावका ठीक-ठीक शब्द-चित्र खींचा ही नहीं जा सकता। लेकिन इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? जो ईश्वर स्वयंही अपना संपूर्ण वर्णन नहीं कर सकता, उसके स्वरूपका दूसरा कोई कैसे वर्णन कर सकता है? परन्तु जिस प्रकार श्रीकृष्ण आग्रहपूर्वक कह रहे थे कि—"भाई अर्जुन, सुनो, सुनो।" उससे मुझे तो यही जान पड़ता है कि उनके इस प्रकार कहनेसे यही सूचित होता है कि वे सहज ही अर्जुनके मोह में फँस गये थे। उस समय श्रीकृष्णने अर्जुन से कहा—"हे अर्जुन, जिस प्रकार यह विषय तुम्हारी समझमें अच्छी तरह आ सके, उसी प्रकार मैं इसका विवेचन बहुत प्रसन्नता के साथ करूँगा। वह योगमार्ग कौन-सा है? उसका क्या उपयोग है? उसके अधिकारी कौन लोग होते हैं? आदि आदि, इस विषयमें जितने प्रश्न उत्पन्न हो सकते हैं, उन सबके उत्तर मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।" इसके उपरान्त श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, उसका वर्णन आगे के अध्याय में किया गया है। अब श्रीनिवृत्तिनाथका दास मैं ज्ञानदेव श्रोताओं से कहता हूँ कि श्रीकृष्णने बिना सांसारिक प्रपंचोंको छोड़े योग-साधनाका जो उपदेश अर्जुनको किया था, वह मैं स्पष्ट करके बतलाता हूँ।

छठा अध्याय

धृतराष्ट्रसे संजय कहते हैं—"श्रीकृष्णने अर्जुनको योग-रूपके जिस मार्गका उपदेश किया था, वह अब सुनो। श्रीनारायणने जब अर्जुनके सामने सहज ब्रह्म-रसका यह भोजन परोसा था, उस समय तुम और हम भी मेहमान बनकर वहाँ पहुँच गये। यह हम लोगों का कितना बड़ा भाग्य है! प्यासा आदमी जब पानी अपने मुँह से लगाता है, तब वह उसे अमृत के समान ही जान पड़ता है। उसी प्रकारका अवसर आज तुम्हारे और हमारे लिए आ उपस्थित हुआ है; क्योंकि आज ब्रह्म-ज्ञान हमारी मुट्ठीमें आ गया है।" इसपर धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय, इस प्रकारकी बातें तो मैंने तुमसे पूछी नहीं थीं।" धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर संजयने उनके मनका भाव समझ लिया। उसे ज्ञात हो गया कि इस समय धृतराष्ट्रके मनमें केवल अपने लड़कोंकी ही चिन्ता हो रही है। इस पर संजयको हँसी आई और उसने मनमें कहा कि यह बुड्ढा पुत्र-मोहसे पागल हो रहा है। और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस समय कृष्ण और अर्जुनमें जो संवाद हुआ था, वह कितना मनोहर है! परन्तु मोहसे मूढ़ धृतराष्ट्रको इन बातोंसे क्या मतलब! जो जन्मसे ही अन्धा हो, भला वह कभी देख सकता है? संजयने यह बात अपने मनमें तो सोची, पर ऊपर उसने कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि उसे डर था कि मेरी यह बात सुनकर इस बुड्ढे को बहुत क्रोध होगा। परन्तु संजय अपने मनमें इस बात पर बहुत प्रसन्न हुआ कि श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संवाद मुझे सुनने को मिला। उसके मनको पूरी तरहसे व्याप्त करनेवाले उस आनन्दने उसके अन्तःकरणमें स्फूर्ति उत्पन्न की और इसी लिए उसने बहुत प्रसन्नतासे उस संवादका प्रसंग कह सुनाया। वह प्रसंग गीताका छठा अध्याय है जो तत्त्व-निर्णयका स्थान है। जिस प्रकार क्षीर-सागरको मथने पर अन्तमें सब रत्नोंका सार अमृत प्राप्त हुआ था, उसी प्रकार गीताके तत्त्व-ज्ञानका सार अथवा विवेक-सागरका उस पारका तट अथवा, समस्त योग-सम्पत्तिका खुला हुआ खजाना यह छठा अध्याय है। यह वही छठा अध्याय है जिसमें आदि माया स्तब्ध होकर बैठी है, जहाँ वेदोंका बोलना बन्द हो जाता है और जहाँसे गीता रूपी वल्लीका अंकुर निकलता है। मैं भी इसका वर्णन साहित्यके प्रकाशमें 'आलंकारिक भाषामें' करूँगा। आप लोग ध्यान देकर सुनें। मैं देशी भाषाके शब्दोंकी योजना करता हूँ, परन्तु वह योजना ऐसी रस-पूर्ण होगी कि अपने माधुर्यके कारण स्वयं अमृतको भी सहजमें परास्त कर देगी। यदि इन शब्दोंकी तुलना कोमल गुणके साथ की जाय तो इसके सामने संगीतके स्वरों की कोमलता भी तुच्छ ठहरेगी। इसके मोहक गुणके सामने सुगन्धकी महत्ता भी फीकी पड़ जायगी। इसकी रसालताका महत्त्व इतना अधिक है कि कानोंमें भी जीभ निकल आवेगी और सब इन्द्रियोंमें कलह मच

जायगी। शब्द स्वभावतः श्रवणेन्द्रियका विषय है। परन्तु जिह्वा कहती है कि इन शब्दोंका रस मेरा विषय है। घ्राणेन्द्रियका विषय गन्ध है; परन्तु देशी भाषाके ये वचन अपनी सुगन्धिके कारण घ्राणका भी विषय बन जायँगे। इनके सम्बन्धमें एक और अद्भुत बात यह है कि उच्चारण को जानेवाली इन बातोंका स्वरूप देखकर नेत्रोंको भी ऐसा समाधान होगा कि वे तुरन्त बोल उठेंगे कि यह तो लावण्यकी खान ही खुल गई! और जब पूरे वाक्योंकी रचना होगी, तब श्रोताओंका मन दौड़कर बाहर निकलने लगेगा, क्योंकि वह चाहेगा कि मैं इन शब्दोंको दोनों हाथोंसे पकड़कर गलेसे लगा लूँ। इस प्रकार सभी इन्द्रियाँ अपनी-अपनी वृत्तिके अनुसार इन शब्दोंपर अधिकार प्राप्त करनेका प्रयत्न करेंगी; परन्तु ये शब्द समान रूपसे सबका समाधान करेंगे। जिस प्रकार सूर्य अकेला ही सारे जगतमें चेतना उत्पन्न करता है, उसी प्रकार इन शब्दोंकी व्यापकता भी बहुत ही विलक्षण है। जो लोग इन शब्दोंके भावार्थ पर विचार करेंगे, उन्हें ऐसा जान पड़ेगा कि ये शब्द नहीं हैं, बल्कि इन शब्दोंके रूपमें हमें स्वयं चिन्तामणि ही प्राप्त हुआ है। परन्तु ये बातें बहुत हो चुकीं। अब मैं देशी भाषाके शब्दोंकी थालीमें ब्रह्म-रस परोसकर निष्काम साधु-जनोंके सामने यह ग्रन्थ-रूपी भोजन उपस्थित करता हूँ। आत्म-ज्ञानकी जो ज्योति कभी मन्द नहीं होती, वही ज्योति अब दीपाधारमें रखी गई है। वही लोग यह भोजन कर सकेंगे जो इस प्रकार इसे ग्रहण करेंगे कि इन्द्रियोंको पता भी न चले। अतः इस समय श्रोताओंको श्रवणेन्द्रियका भी आश्रय छोड़ देना चाहिये और केवल मनकी सहायतासे यह भोजन ग्रहण करना चाहिए। ऊपर शब्दोंका जो दिखौआ कवच है, उसे उतारकर अलग कर दें और अन्दर जो ब्रह्म-भाव छिपा हुआ है, उसके साथ एक-रूप हो जायँ और तब अनायास ही अखण्ड सुख से सुखी हों। यदि श्रोताओंमें ऐसी सूक्ष्मदर्शिता आ जायगी, तभी यह श्रवण सार्थक होगा। और नहीं तो फिर इस निरूपणको बहरे और गूँगेका संवाद ही कहना पड़ेगा। परन्तु अब यह व्याख्यान यहीं समाप्त होना चाहिए, क्योंकि मेरे जो श्रोता लोग हैं, उन्हें इतना समझा-बुझाकर बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यहाँ जितने श्रोता उपस्थित हैं, वे सब निष्काम होनेके कारण इस श्रवणके स्वभावतः ही अधिकारी हैं। जिन लोगोंने आत्म-ज्ञानके प्रेमके कारण समस्त सांसारिक सुखोंको अपने पाससे हटाकर दूर कर दिया है, उनके सिवा और लोगोंको इस विषयके माधुर्यका ज्ञान ही नहीं हो सकता। जिस प्रकार कौवे चन्द्रमाको नहीं पहचान सकते, उसी प्रकार साधारण मनुष्योंको भी इस ग्रन्थका ज्ञान नहीं हो सकता। और जिस प्रकार केवल चकोर ही चन्द्रमाकी किरणोंका सेवन कर सकते हैं, उसी प्रकार केवल ज्ञानी जनोंको इस ग्रन्थमें आश्रय प्राप्त होगा। अज्ञानियोंके रहनेका स्थान अलग ही है, इस ग्रन्थमें नहीं है। इसी लिए इस विषयमें मुझे कुछ अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु प्रसंग आ पड़ने पर सहजमें ये दो-चार बातें कह दी हैं; इसके लिए साधु श्रोताजन बुरा न मानें। अब मैं यह बतलाता हूँ कि श्रीकृष्णने अर्जुनसे क्या कहा। श्रीकृष्णका वह भाषण स्वयं बुद्धिके लिए भी समझना कठिन है; फिर शब्दोंके द्वारा उन्हें प्रकट करना तो असम्भव ही है। परन्तु फिर

श्री सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके कृपा-प्रकाशसे मुझे उसका ज्ञान हो जायगा। जो वस्तु दृष्टिके द्वारा दिखाई न पड़ती हो, वह बिना दृष्टिके ही दिखाई पड़ती है। परन्तु इसके लिए अपने पास अतीन्द्रिय ज्ञानका बल होना चाहिए। जो सोना कीमियागर को भी नहीं मिलता, वह दैव-योगसे पारस हाथ आ जाने पर लोहेमें ही मिल जाता है। इसी प्रकार यदि सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हो जाय, तो फिर कौन-सी बात असाध्य हो सकती है? इसी लिए मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि वह असीम तत्व भी मेरी समझमें आ जाता है। इसी लिए मैं निरूपण करूँगा, निराकार तत्वमें भी साकारता लाऊँगा और जो वस्तु इन्द्रियोंकी पहुँचके बाहर है, उसका भी इन्द्रियोंके द्वारा ही अनुभव करा दूँगा। अब जिन श्रीकृष्ण-में यश, श्री, औदार्य, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन छओं गुणोंका वैभव है और इसी लिए जिन्हें लोग भगवन्त कहते हैं और जो सदा वासना-संगहीन पुरुषोंके साथ रहते हैं, उन श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे पार्थ, अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

श्रीभगवानुवाच—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥१॥

"योगी और संन्यासी दोनों एक ही होते हैं। सम्भव है कि तुम इन दोनोंको अलग अलग मानते हो, परन्तु यदि विचार किया जाय तो अन्तमें यही निर्णय होता है कि दोनों एक ही हैं। यदि यह नाम-भेदवाला भ्रम दूर कर दिया जाय तो योग ही संन्यास सिद्ध होता है; और यदि ब्रह्म ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। जिस प्रकार हम एक ही पुरुषको भिन्न भिन्न नामोंसे सम्बोधित करते हैं, अथवा जिस प्रकार दो भिन्न भिन्न मार्गोंसे एक ही स्थान पर पहुँचते हैं, अथवा जिस प्रकार स्वभावतः एक-रूप रहनेवाला जल अलग अलग बरतनोंमें भरा जाने पर भी एकरूप ही रहता है, उसी प्रकार योग और संन्यासका भेद केवल दिखौआ है, वास्तविक नहीं। हे अर्जुन, जगतमें बहुमान्य सिद्धान्त यही है कि जो व्यक्ति कर्मोंका आचरण करता हुआ भी उन कर्मोंके फलसे संग नहीं रखता, उसीको योगी समझना चाहिए। जिस प्रकार यह पृथ्वी, वृक्ष आदि उद्भिजोंका निर्माण या सृष्टि करती है, परन्तु उनमें लगनेवाले फलों या अनाजोंकी इच्छा नहीं करती, उसी प्रकार जो परब्रह्मकी व्यापकता-का आश्रय लेकर अपनी स्वाभाविक स्थितिके अनुरूप जिस समय जो उचित कर्तव्य करना होता है, उस समय उसे कर डालता है, परन्तु फिर भी जिसमें देह-बुद्धिका अहंकार नहीं होता और अपने मनको भी फलकी आसक्तिका स्पर्श तक नहीं होने देता, उसीको संन्यासी समझना चाहिए और वही निस्सन्देह सच्चा और श्रेष्ठ योगी है। परन्तु जिससे इस योगयुक्तिका साधन नहीं होता और जो स्वाभाविक तथा नैमित्तिक कर्मोंको केवल बन्धनकारक मानकर छोड़ बैठता है, वह साथ ही साथ कुछ दूसरे कर्मोंको अपने साथ लगा लेता है। जिस प्रकार अपने शरीरमें लगा हुआ एक लेप तो धो-पोंछकर दूर कर दिया जाय और फिर स्वयं ही एक दूसरा नया लेप शरीरमें लगा लिया जाय,

उसी प्रकारकी अवस्था उन लोगोंकी होती है जो केवल आग्रहके वशीभूत होकर इस प्रकारका आचरण करते हैं और केवल व्यर्थकी विवेचनामें पड़ते हैं। अरे भाई, एक तो गृहस्थाश्रमका भार पहलेसे और स्वभावतः ही सिर पर चढ़ा हुआ है। अब उस भारको अच्छी तरह वहन न करके जल्दीमें संन्यासका एक नया बोझ लेकर अपना भार और क्यों बढ़ाया जाय? इसी लिए अग्नि-होत्र आदि नित्य श्रौत-स्मार्त आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए और आचारकी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। बस फिर अब कर्मयोग स्वभावतः ही आत्म-सुख देनेवाला हो जाता है।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥२॥

"हे अर्जुन, अनेक शास्त्रोंने यही कहा है कि जो संन्यासी है, वही योगी है, और इस प्रकार संन्यास तथा योगके अभेदकी विजय-पताका फहराई है। कर्म करते रहने की अवस्था में जहाँ संकल्प-विकल्पके सूत्र छोड़ देनेके कारण टूट जाते हैं, बस वहीं कर्म-योग-का तथ्य हाथ आ जाता है; और शास्त्रकारोंने अपने अनुभवसे यही निश्चित किया है।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥

"हे अर्जुन, यदि कर्म-योग रूपी पर्वतके शिखर पर पहुँचना हो तो यह कर्म-मार्गका सीढ़ियोंवाला रास्ता कदापि छोड़ना नहीं चाहिए। इन सीढ़ियों से होते हुए पहले यम-नियमोंकी आधार-भूमिसे होते हुए योगासनोंकी पगडंडी पर पहुँचना चाहिए। और तब प्राणायामकी टेकरी पर चढ़ जाना चाहिए। फिर प्रत्याहार की बीचवाली पहाड़ी पड़ती है। यहाँ इतनी फिसलन होती है कि बुद्धिके पैर भी जल्दी नहीं टिकते। वहाँ पहुँचने पर बड़े बड़े हठी योगियोंकी प्रतिज्ञा भी टूट जाती है और वे लुढ़क जाते हैं। परन्तु अभ्यास और निश्चय वृत्तिसे इस प्रत्याहारवाले बीचके मार्गमें भी धीरे-धीरे वैराग्यका आश्रय प्राप्त होने लगता है। इस प्रकार वायुके पठारसे होते हुए धारणाके विस्तृत प्रान्त में पहुँचना चाहिए। फिर इस प्रान्तको पार करते हुए तब तक चलते रहना चाहिए, जब तक ध्यानके सिरे पर न पहुँचा जाय। वहाँ पहुँचकर यह मार्ग समाप्त हो जाता है और प्रवृत्तिकी लालसा नष्ट हो जाती है; क्योंकि यहीं साध्य और साधन दोनों आपसमें गले मिलते हैं और एकरूप हो जाते हैं। यहाँ पहुँचकर योगी पुरुष ऐसी समतल भूमिपर स्थिर हो जाता है, जहाँसे और आगे पैर रखनेकी कोई बात ही नहीं रह जाती; और पिछले मार्गकी भी कोई स्मृति बाकी नहीं रह जाती। इस उपायसे योगका साधन करके जो पुरुष अत्यन्त उच्च अवस्था तक पहुँचता है, अब मैं उसके लक्षण बतलाता हूँ; सुनो।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

"जिसकी इन्द्रियोंके घरमें विषयोंका आना-जाना बन्द हो जाता है और जो

आत्म-ज्ञानकी कोठरीमें सुखपूर्वक आत्मानन्दमें सोया रहता है, जिसके मनमें सुख-दुःखके फेरमें पड़कर झगड़नेका चाव नहीं रह जाता और इन्द्रिय-विषयके पास आ पहुँचने पर भी जिसे इस बातका कभी ध्यान भी नहीं होता कि ये विषय क्या हैं, इन्द्रियोंको कर्माचरणके मार्गमें लगाने पर भी जिसके अन्तःकरणमें कर्मोंके फलोंके सम्बन्धमें नामको भी आसक्ति नहीं रहती, जो केवल देह-धारणके लिए जाग्रत रहता है और सदा आत्म-भावनामें लीन रहता है, निस्सन्देह उसीको योग-रूढ़ पुरुष समझना चाहिए।" यह सुन कर अर्जुनने कहा—"हे देव, यह बात सुनकर तो मुझे बहुत ही आश्चर्य हो रहा है। अब आप मुझे यह बतलावेंगे कि ऐसे पुरुषके समान योग्यता कैसे प्राप्त हो सकती है।"

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥५॥

इसपर श्रीकृष्णने हँसकर कहा—"हे अर्जुन, तुम्हारी यह बात भी बहुत ही अद्भुत है। भला इस अद्वैत अवस्थामें कौन किसीको क्या दे सकता है? जिस समय मनुष्यको भ्रान्तिकी शय्या पर कठिन मायाकी तन्द्रा लगती है, तभी उसको जन्म और मरण के दृश्य-स्वप्न दिखाई पड़ने लगते हैं। परन्तु आगे चलकर जब वह अकस्मात् जाग उठता है तब उसे यह निश्चय होता है कि स्वप्नकी वे सब बातें बिलकुल मिथ्या थीं। परंतु उस पहली भ्रान्तिकी भाँति यह आत्म-बोध भी स्वयं उसीको होता है। और, हे अर्जुन, वह केवल अपने देहके अभिमानके फेरमें पड़कर ही स्वयं अपना घात करता है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

"यदि हम विचारपूर्वक अपना अहं-भाव छोड़ दें और सद्ब्रह्म-रूप हो जायँ तो मानों सहजमें हम स्वयं ही अपना कल्याण कर लेते हैं। और नहीं तो रेशमके कीड़ेकी तरह जो आप ही अपने आपको कोशमें बन्द कर लेता है, जो मनुष्य अपने शरीरके सौन्दर्यमें भूलकर उसीमें अपने आपको पूर्ण रूपसे बद्ध कर लेता है, वह स्वयं ही अपना बैरी ठहरता है। जिस समय द्रव्य-प्राप्तिका अवसर आता है, उस समय उस अभागेको स्वयं ही अन्धे बननेका शौक होता है; और जब उसके सामने धन-कोश खुला हुआ रहता है, तब वह आँखें बन्द करके उस धन-कोशको लाँघकर आगे निकल जाता है। जैसे किसीको भ्रम होता है और वह यह बकता हुआ चारों तरफ दौड़ता फिरता है कि—"अरे मैं नहीं हूँ।" "अरे मैं खो गया।" "अरे मुझे कोई चुरा ले गया।" और इस प्रकार अकारण ही वह अपने सिर एक आफत ले लेता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जीव भी ब्रह्म ही है। परन्तु किया क्या जाय! उसकी बुद्धि उस ओर जाती ही नहीं। भला सोचो कि यदि स्वप्नमें किसी पर शस्त्रका प्रहार हो, तो क्या उस प्रहारसे वह स्वप्न देखनेवाला कभी मरता है? परन्तु ऐसे पुरुषकी स्थिति उसी तोतेके समान होती है जो उस नलिका यन्त्र पर बैठता है जो स्वयं उसीको पकड़नेके लिए लगाई जाती है। तोता उस नलिका-यन्त्र पर बैठता है और उसीके भारसे वह

नली चलने लगती है। वास्तवमें जिस समय वह नली उलटी चलने लगती है, उसी समय तोतेको उस परसे उड़ जाना चाहिए। परन्तु उसके मनमें भय समा जाता है। वह व्यर्थ ही गरदन घुमाता है, छाती सिकोड़ता है और चोंचसे उस नलीको खूब जोरसे पकड़े रहता है। उसके मनमें यह मिथ्या धारणा हो जाती है कि मैं वास्तवमें पकड़ा गया हूँ; और इस मिथ्या कल्पनाके फेरमें वह ऐसा पड़ता है कि अपने पैरोंके खुले हुए पंजोंको उस यन्त्रमें और भी फँसाता चलता है। इस प्रकार जो स्वयं और अकारण ही बन्धनमें पड़े, उसके सम्बन्धमें क्या यह कभी कहा जा सकता है कि उसे किसी दूसरेने बन्धनमें डाला है? परन्तु जब एक बार वह ऐसे भ्रममें पड़ जाता है, तब वह उसके फेरमें ऐसा फँस जाता है कि यदि उसे आधा काट भी डाला जाय तो भी वह उस नलीको कभी न छोड़ेगा। इसी लिए जो मनुष्य स्वयं ही अपने संकल्प-विकल्पोंको बढ़ाता है, वह स्वयं ही अपना शत्रु होता है। परन्तु इसके विपरीत जिस पुरुषको इस बोधका अनुभव होता है कि "मैं आत्मा हूँ" और जो व्यर्थकी या मिथ्या बातका अंगीकार नहीं करता, मैं कहता हूँ कि वही श्रेष्ठ आत्मज्ञ है।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥८॥

"ऐसा मनुष्य अपने मनको जीत लेता है; और जिसकी समस्त वासनाएँ शान्त हो जाती हैं, उसे कभी यह नहीं जान पड़ता कि परमात्मा मुझसे अलग और दूर है। जिस प्रकार मैल या मिलावटके बिलकुल निकल जाने पर अन्तमें शुद्ध सोना बाकी रह जाता है, उसी प्रकार संकल्प-विकल्पका झगड़ा मिटते ही स्वयं जीव ही परमात्मा होकर रहने लगता है। जिस प्रकार घटाकारके नष्ट होने पर उसके अन्दरके अवकाशको आकाशके साथ मिलनेके लिए कोई स्थानान्तर नहीं करना पड़ता, उसी प्रकार जिसका मिथ्या देहाभिमान समूल नष्ट हो जाता है, उसे परमात्म रूप होनेके लिए फिर और कुछ भी नहीं करना पड़ता; क्योंकि वह तो आरम्भसे ही परमात्मासे ओत-प्रोत भरा रहता है। ऐसे पुरुषके लिए गरमी-सरदी और सुख-दुःखके विचार और मान-अपमानकी बात सम्भव ही नहीं होती। जिन जिन रास्तोंसे होकर सूर्य जाता है, उन उन रास्तोंमें सब स्थान प्रकाशमय हो जाते हैं, उसी प्रकार ऐसे पुरुषको जो कुछ मिलता है, वह सब तद्रूप हो जाता है और पुरुषके स्वरूपके साथ समरस हो जाता है। जिस प्रकार मेघसे गिरनेवाली जल-धारा कभी समुद्रके लिए कष्टदायक नहीं होती, उसी प्रकार योगीश्रेष्ठके लिए शुभाशुभ बातें आत्म-स्वरूप ही होनेके कारण कभी क्लेशकारक नहीं होतीं। इस संसार-विषयक भावनाका विचार करने पर जब यह निश्चित हो जाता है कि यह भावना मायिक है, तब और अधिक ध्यानपूर्वक देखने पर यह पता चलता है कि वह ज्ञान आत्म-स्वरूप ही है। जब ऐसा हो जाता है, तब द्वैत भावका विनाश हो जानेके

कारण इस प्रकारका ऊहापोह आपसे आप जहाँका तहाँ नष्ट हो जाता है कि यह आत्म-स्वरूपका तत्व व्यापक है अथवा स्थल और काल आदिसे मर्यादित है। इस प्रकार जो अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शरीर धारण किये रहने पर भी परब्रह्मकी बराबरी तक जा पहुँचता है। वही सच्चा जितेन्द्रिय होता है और उसीको योगी कहना चाहिए; क्योंकि छोटे और बड़ेका भेद-भाव जिसे कभी स्पर्श ही नहीं करता, वह मेरुके बराबर सोनेके पर्वत और मिट्टीके छोटेसे ढेले दोनोंको एक बराबर समझता है। वह ऐसा निरिच्छ और सम-बुद्धि बनकर रहता है कि सारी पृथ्वीके मूल्यके अथवा अपार मूल्यवाले तेजस्वी रत्नको भी वह पत्थरके समान मानता है।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥

"फिर ऐसे पुरुषमें स्नेही और शत्रु, पराये और परिचित आदि भेद-भावोंकी विचित्र कल्पना भला हो ही कैसे सकती है? उसकी आत्म-स्वरूपवाली दृष्टिमें कौन किसका आप्त और कौन किसका शत्रु रह सकता है? उसे इस प्रकारका निश्चित ज्ञान हो चुका रहता है कि मैं ही समस्त विश्व हूँ। फिर उसकी दृष्टिमें यह भाव कहाँसे बचा रह सकता है कि यह अधम है और वह उत्तम है? यदि पारस पत्थरकी ही कसौटी बनाई जाय तो फिर उस पर सोनेके अलग अलग कस कैसे लग सकते हैं? उस पर तो जो जो चीज रगड़ी जायगी, वह सब निर्मल सोना ही बन जायगी। इसी प्रकार जिसमें निर्मल बुद्धिके समभाववाला गुण आ जाता है, उसे सारा स्थावर जंगम विश्व केवल आत्म-स्वरूप ही दिखाई पड़ता है। चाहे ये विश्व रूपी अलंकार अलग-अलग आकार और गढ़नके भले ही दिखाई पड़ें, परन्तु वह यह बात अच्छी तरह जानता है कि ये सब एक ही निर्मल ब्रह्म रूपी सोनेके बने हुए हैं। यह उत्तम प्रकारका ज्ञान जिसे पूर्ण रूपसे प्राप्त हो जाता है, वह बाहरके और दिखौआ आकारों और रूपोंके भ्रममें नहीं पड़ता है। यदि वस्त्रके सम्बन्धमें अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही पता चलता है कि यह सब सूतोंका ही प्रसार है। इसी प्रकार वह भी निश्चयपूर्वक यही देखता है कि इस समस्त विश्वमें एक परब्रह्मको छोड़कर दूसरी और कोई चीज है ही नहीं। जिसे इस प्रकारका अनुभव हो जाता है, वही सम-बुद्धि होता है। सम-बुद्धि इससे अलग और कोई चीज नहीं है। जिसे पवित्र वस्तुओंका राजा कहते हैं, जिसके दर्शन मात्रसे पूज्य बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसकी संगतिसे मोह-ग्रस्त पुरुषको भी आत्म-बोध हो जाता है, जिसके शब्दोंसे ही धार्मिकताका जीवन होता है, जिसकी दृष्टिमें अष्ट-महासिद्धियोंका जन्म होता है, स्वर्ग-सुख आदि जिसके लिए केवल खेलवाड़ होते हैं, यदि सहजमें उसका केवल स्मरण भी हो जाय, तो केवल उस स्मरणके बलसे ही वह उस स्मरणकर्त्ताको अपने समान बना लेता है। इतना ही नहीं, उसकी स्तुति करनेसे भी कल्याण होता है।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥

"जिसके सामने उस अद्वैत भावका दिन चढ़ जाता है, जिसका कभी अन्त ही नहीं होता, वह पुरुष निरन्तर अपने आत्म-स्वरूपमें स्थिर रहता है। हे अर्जुन, जो इस प्रकारकी अद्वैत दृष्टिसे विचार करता है, वह अद्वितीय होता है, क्योंकि तीनों लोकोंमें वही आत्म-स्वरूपसे ओत-प्रोत भरा रहता है और इसी लिए वह सहज ही अपरिग्रही अर्थात् परिवार-हीन रहता है।" इस प्रकार श्रीकृष्णने सिद्ध पुरुषोंको पहचाननेके विशेष लक्षण अर्जुनको बतलाये और ये लक्षण बतलाते हुए उन्होंने सिद्ध पुरुषोंका गौरव स्वयं अपने गौरवसे भी अधिक बढ़ा दिया। फिर श्रीकृष्णने कहा—"जो योगी ज्ञानी-जनोंका केवल मुकुट-मणि बल्कि जो ज्ञानी-जनोंकी दृष्टिका स्वयं प्रकाश ही होता है, जिस समर्थकी संकल्पनासे ही इस विश्वकी रचना हो जाती है, ओंकारकी पैठ या बाजारमें बुना हुआ वेद रूपी उत्कृष्ट वाङ्मय वस्त्र भी जिसके यशको ढकनेके लिए अधूरा होता है, जिसके शरीरके तेजसे सूर्य और चन्द्रमा तकके व्यापार चलते हैं और इसी लिए यह (उस सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें विचरण करनेवाला) संसार जिसके तेजके बिना कर्म-हीन हो जायगा, केवल यही नहीं बल्कि, हे अर्जुन, जिस योगीके केवल नामका विचार करने पर उसके महत्वके सामने यह असीम आकाश भी तुच्छ दिखाई पड़ता है, उसका एक एक वास्तविक गुण तुम कैसे ग्रहण कर सकोगे? पर अब इन बातोंको खतम करो। मेरी समझमें यही नहीं आता कि वास्तवमें किसके लक्षणोंका वर्णन करना चाहिए और इस बहानेसे मैं किसके लक्षण कह गया। भाई अर्जुन, जो ब्रह्म-विद्या द्वैतका स्वयं आधार ही पूरी तरहसे नष्ट कर डालती है, वह ब्रह्म-विद्या यदि मैं पूरी तरहसे खोल दूँ तो फिर इस कल्पनामें कि "अर्जुन मेरा प्रिय और दुलारा है", जो मधुर रस है, वही क्या नष्ट नहीं हो जायगा? इसी लिए यह सच्चे अद्वैतकी बातें नहीं है, बल्कि इसमें बीचमें थोड़ा सा परदा मैंने इसलिए रख दिया है कि तुम्हारे स्नेहका सुख भोगनेके लिए मन जरा अलग होकर रहे। जो लोग अहं ब्रह्मास्मिकी भावनामें फँसे रहकर मोक्षका सुख प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न करते रहते हैं, उनकी दृष्टि तुम्हारे और मेरे प्रेम पर न लगे, बस इतना ही मैं चाहता हूँ।" उस समय श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि यदि अद्वैतका यह प्रतिपादन सुनकर इस अर्जुनका अहं-भाव ही नष्ट हो गया और यदि यह मेरे स्वरूपमें मिलकर सम-रस ही हो गया, तो फिर मैं अकेला रहकर ही क्या करूँगा? फिर मेरे लिए ऐसा कौन बाकी ही रह जायगा जिसे देखकर मेरे मनको शान्ति मिलेगी, जिसके साथ मैं खुले मनसे जी भरकर बातें करूँगा अथवा जिसे प्रेमके आवेशमें मैं अच्छी तरह आलिंगन कर सकूँगा? यदि अर्जुन मेरे स्वरूपमें मिलकर लीन हो जायगा, तो फिर अन्तरंगको पूरी तरहसे भरकर बाहर निकलकर चारो ओर फैलनेवाली अपने मनकी कोई अच्छी बात मैं किससे कहूँगा? यह सोचकर श्रीकृष्ण कुछ घबरा-से गये और उन्होंने अद्वैतमें ही द्वैतका उपदेश करनेके बहानेसे अर्जुनका मन अपने मनकी ओर आकृष्ट कर लिया। श्रोताओंके कानोंको कदाचित् यह वर्णन कुछ बेढब जान पड़ेगा, परन्तु अर्जुन तो वास्तवमें श्रीकृष्णके सुखकी प्रत्यक्ष और जीती-जागती मूर्ति ही था। परन्तु श्रोताओंको यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि इतना ही नहीं, बल्कि

जिस प्रकार कोई बाँझ अधिक अवस्था या बुढ़ापेमें केवल एक ही लड़का उत्पन्न होने पर पुत्र-प्रेमकी पुतली बनकर मानों नाचने लगती है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था उस समय श्रीकृष्णकी हो रही थी। यदि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके प्रेमका यहाँ इतना अधिक अतिरेक न दिखाई पड़ता, तो मैंने भी इस प्रकारका वर्णन न किया होता। परन्तु देखो, यह कैसे आश्चर्यकी बात है! कैसा अद्भुत अद्वैतका उपदेश है! उधर समरांगणमें कैसी मारकाट मची हुई है और यहाँ हमारे सामने स्वयं प्रेमकी मूर्त्ति नाच रही है! यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो प्रेम और लज्जा, व्यसन और उसके प्रति होनेवाली घृणा और पिशाच तथा शुद्धिका जोड़ एक साथ ही कैसे दिखाई पड़ सकता है? जहाँ प्रेमका नाम आता है, वहीं लज्जा दूर हो जाती है; जहाँ व्यसनका नाम आया, वहाँ उसके प्रति होनेवाली घृणा दूर हो जाती है; और जहाँ पिशाचका नाम लिया, वहाँ शुद्धिका अन्त ही हो जाता है। इसलिए कहनेका अभिप्राय यही है कि अर्जुन वास्तवमें भगवान्‌की मैत्रीका आश्रय-स्थान अथवा सुखसे फूले हुए श्रीकृष्णके अंतरंग का दर्पण ही था। इस प्रकार अर्जुनका पुण्य बहुत बड़ा और पवित्र था और इसी लिए वह श्रीकृष्णकी कृपासे भक्ति रूपी बीजको ग्रहण करनेके लिए उपजाऊ खेत की तरह सुपात्र हो गया था। अथवा नौ प्रकारकी भक्तियोंमें जो अन्तकी आत्म-निवेदनवाली भक्ति है, उसके पास ही रहनेवाली जो आठवीं सख्य भक्ति है, उस भक्तिका अर्जुनको अधिष्ठाता देवता ही समझना चाहिए। अर्जुन पर श्रीकृष्णका इतना अधिक प्रेम था कि पास ही प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण स्वामीके खड़े रहने पर भी उनका वर्णन न करके उनके दास अर्जुनके ही गुणोंका गान करनेको जी चाहता है। और फिर यह देखो कि जो पतिव्रता स्त्री एकनिष्ठ प्रेमसे अपने पतिकी सेवा करती है और पति जिसका सदा बहुत अधिक सम्मान करता है, उस पतिव्रताकी उसके पतिसे भी बढ़कर प्रशंसा की जाती है या नहीं? उसी प्रकार मेरे मनमें भी यही बात आई कि अर्जुनकी ही विशेष स्तुति करनी चाहिए, क्योंकि समस्त त्रिभुवनकी पुण्याई केवल उसी अर्जुन में थी। इस अर्जुनके प्रेमके वश होकर उन श्रीकृष्ण परमात्माको अमूर्त्त होने पर भी साकार रूप धारण करना पड़ा था और उन पूर्ण-कामके मनमें भी उत्कंठा उत्पन्न हुई थी। यह सुनकर श्रोताओंने कहा—"हम लोगोंका भी कैसा सौभाग्य है! इन शब्दोंमें कैसी विलक्षण शोभा भरी हुई है! यह भाषाका माधुर्य मानों संगीतके सातों स्वरोंको भी मात कर रहा है। यह कैसी विलक्षण बात है! यह भाषा कभी सामान्य प्राकृतोंकी हो ही नहीं सकती। यदि इस भाषाको सीधी-सादी देशी भाषा कहें तो भी यह साहित्य-कलाके नाना प्रकारके अलंकार, रसोंके रंगोंके जाल, अद्वैतका प्रतिपादन करनेमें भी कैसी अच्छी तरह फैला रही है। इस देशी भाषामें भी ज्ञानकी चाँदनी कैसी अच्छी तरह खिल रही है और गूढ़ भावार्थकी शीतलता सर्वत्र कैसे समान रूपसे फैली हुई है! इसी लिए इसके प्रकाशमें गीताके श्लोकार्थ रूपी कुमुद आपसे आप विकसित हो रहे हैं।" यह सुन्दर व्याख्यान सुनकर मनमें उत्कंठाकी विलक्षण तरंगें उठने लगीं और निष्काम श्रोता भी स-काम हो गये और भीतरी आनन्दके कारण उनके सिर हिलने लगे। श्रोताओंकी इस

अवस्थाका ध्यान करके निवृत्तिदासने कहा—"भइया, सावधान हो जाओ। इसमें सन्देह नहीं कि श्रीकृष्णके प्रसादके प्रकाशमें पांडवोंके कुलमें एक विलक्षण प्रभात हुआ। देवकीके उदरमें श्रीकृष्ण जनमे और बड़े थे और यशोदाने बड़े कष्टसे उनका लालन-पालन किया था; परन्तु अन्तमें वे इन्हीं पांडवोंके काम आये थे। इसी लिए अर्जुनकी पुण्याईका बल अपार था; और श्रीकृष्णकी कृपा सम्पादित करनेके लिए न तो उसे दीर्घ काल तक सेवा ही करनी पड़ी थी और न उपयुक्त अवसरकी प्रतीक्षा करके प्रसादकी याचना ही करनी पड़ी थी।" परन्तु अब मैं इन बातोंको समाप्त करके जल्दीसे मूल कथा कहना ही आरम्भ करता हूँ। श्रीकृष्णकी ये बातें सुनकर अर्जुनने कुछ दुलारसे कहा—"हे देव, आपने सन्तोंके जो लक्षण बतलाये हैं, वे सब तो मुझमें कहीं दिखाई नहीं पड़ते। और यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इन लक्षणोंका सारांश भी अपनेमें लाने लायक मुझमें यथेष्ट योग्यता नहीं है। परन्तु आपके उपदेशसे ही मैं इतना योग्य और समर्थ हो सकूँगा कि इन लक्षणोंका साधन करके इन्हें अपनेमें लाऊँ। यदि आप चाहेंगे तो मैं निस्सन्देह ब्रह्म ही बन जाऊँगा। आप मुझे जो कुछ करनेको कहेंगे, मैं वह सब ध्यानपूर्वक करूँगा। यद्यपि मैं यह नहीं समझ सका हूँ कि आपने अब तक किसके सम्बन्धमें मुझसे ये बातें कही हैं, परन्तु फिर भी उसके लिए मेरे मनमें इतना आदर और श्रद्धा उत्पन्न हो रही है। फिर जब मैं स्वयं उसीके समान हो जाऊँगा, तब तो हे देव, मेरे सुखका पारावार ही न रह जायगा। हे सद्गुरु, क्या आप इतनी कृपा करेंगे कि ऐसे सिद्ध पुरुषकी स्थिति तक मैं स्वयं ही पहुँच जाऊँ?" इसपर श्रीकृष्णने कुछ हँसकर कहा—"अच्छा, मैं तुम्हारी इच्छाके अनुसार ही सब काम कर देता हूँ। मनुष्यको जब तक सन्तोषकी प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसके मनमें बराबर यही चिन्ता बनी रहती है कि मुझे किस प्रकार सुख मिलेगा। परन्तु जब एक बार उस सन्तोषकी प्राप्ति हो जाती है, तब इच्छाकी अपूर्णता कहीं बाकी नहीं रह जाती। इसी प्रकार जिसने परमात्माकी सेवा की हो, वह सहजमें ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त कर लेता है।" पर जरा यह देखो कि अर्जुनका सौभाग्य कैसा चमका है और उसकी कामना फलोंके भारसे कैसी लद गई है! हजारों बार जन्म लेने पर इन्द्र आदिको भी जिस परमेश्वरकी जल्दी प्राप्ति नहीं होती, वही परमेश्वर अर्जुनके इतने वशमें हो गया है कि शब्दोंके द्वारा उसका वर्णन ही नहीं हो सकता। अर्जुनने जो यह कहा था कि—"मैं ब्रह्म होना चाहता हूँ।" सो उसकी यह बात श्रीकृष्णने अच्छी तरह सुन ली। उस समय श्रीकृष्णने अपने मनमें यह विचार किया कि इसकी बुद्धिके गर्भमें वैराग्यका जन्म हुआ है; और जिस प्रकार गर्भवती स्त्रियोंके मनमें अनेक प्रकारकी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार इसके मनमें भी ब्रह्म-स्थिति प्राप्त करनेकी कामना हुई है। यह वैराग्य-गर्भ अभी पूरे दिनोंका नहीं हुआ है; परन्तु फिर भी यह अर्जुन रूपी वृक्ष वैराग्य रूपी वसन्त ऋतुकी बहारके कारण सोऽहमस्मिके मनोभाव रूपी बौरसे लद गया है। इसी लिए यह इतना विरक्त हो गया है कि अब इसमें ब्रह्मप्राप्तिका फल लगनेमें अधिक विलम्ब न लगेगा। उस समय अर्जुनके सम्बन्धमें श्रीकृष्णके मनमें इसी प्रकारका विश्वास

होने लग गया था। उन्होंने मनमें सोचा—"अब यह ऐसा सिद्ध हो गया है कि अपने मनमें यह जो काम करनेका विचार करेगा, उसका इसे पहलेसे ही फल मिल जायगा। इसी लिए अब यदि इसे योगाभ्यासका उपदेश किया जायगा तो वह निष्फल नहीं होगा।" मनमें यही विचार करके श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे पार्थ, अब मैं इस योगाभ्यासका राज-मार्ग तुम्हें बतलाता हूँ; सुनो। इस मार्गमें जगह जगह प्रवृत्ति-रूपी वृक्षोंकी जड़में निवृत्ति-रूपी फलोंके घौद लगे हुए हैं। श्री शंकर अब भी इसी मार्गसे प्रवास करते रहते हैं। इतर योगीजन पहले-पहले कुछ दूसरे ही टेढ़े-तिरछे मार्गोंमें भटक चुके हैं, परन्तु अनुभव होनेपर अन्तमें उन्होंने भी यही राज-मार्ग स्वीकृत किया है। अज्ञानके दूसरे समस्त टेढ़े-तिरछे मार्गोंको छोड़कर वे लोग आत्मबोधके इसी सरल मार्गसे बराबर आगे बढ़ते गए हैं। योगियोंके बाद बड़े-बड़े ऋषि भी सदा इसी मार्गसे चलते रहे हैं और साधककी अवस्थासे निकलकर सिद्धता तक पहुँचे हैं। बड़े बड़े आत्म-वेत्ताओंने भी इसी मार्गसे चलकर श्रेष्ठता प्राप्त की है। जब योगका यह राजमार्ग एक बार दिखाई पड़ जाता है, तब भूख-प्यास सब मिट जाती है। इस मार्गमें रात और दिनका कोई काल भेद नहीं है। इस मार्ग पर चलते समय जहाँ जहाँ पैर पड़ते हैं, वहीं वहीं मोक्षकी खान ही खुलकर सामने आती है। और यदि बीचमें कहीं कोई रुकावट आ पड़े तो फिर स्वर्ग-सुख तो रखा ही हुआ है। चाहे पूर्वकी ओर जाओ और चाहे पश्चिमकी ओर जाओ, इस मार्गका प्रवाह बहुत ही शान्तिपूर्वक और अचूक होता है। मुझे अभी यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि इस मार्गसे चलकर हम जिस गाँवमें पहुँचते हैं, हम स्वयं वही गाँव बन जाते हैं। यह बात तो तुम्हें आपसे आप स्वानुभवसे पीछे मालूम हो जायगी।" अर्जुनने कहा—"हे देव, आपने जो कहा कि "पीछे" सो मैं तो यही चाहता हूँ कि वह "पीछे" कब होगा। मैं इस समय इस उत्कंठाके सागरमें डूब रहा हूँ। क्या आप मुझे इससे बाहर नहीं निकालेंगे?" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम्हारी ये बातें बहुत ही उतावलेपनकी हैं। मैं तो स्वयं ही बतला रहा था; पर तुम बीचमें ही यह प्रश्न कर बैठे।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥

"अच्छा, अब मैं तुम्हारे सामने सब बातोंका सांगोपांग वर्णन करता हूँ। परन्तु इन बातोंका वास्तविक उपयोग तभी हो सकता है, जब इनका अनुभव किया जाय। योगा-भ्यास करनेके लिए सबसे पहले एक उपयुक्त स्थान देखना चाहिए। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि यदि विश्राम करनेकी इच्छासे आदमी वहाँ जा कर बैठे, तो फिर वहाँसे उसका उठनेको जी ही न चाहे। वह स्थान ऐसा हो कि वहाँके दृश्यसे ही वैराग्य दूना हो जाय। वहाँ यदि सन्त-जनोंका निवास हो तो उससे सन्तोषकी पुष्टि होती है और मनको धैर्यका सहारा मिलता है। जहाँ योगाभ्यास आपसे आप होता हो, जहाँकी रमणीयताके कारण हृदयको आत्मानंद का अनुभव हो, हे अर्जुन, जिस स्थान पर

पहुँचते ही पाखंडियोंके मनमें भी तपश्चर्या करनेकी बुद्धि उत्पन्न हो, जहाँ कोई रास्ता-चलता आदमी अचानक पहुँच जाने पर यदि स-काम हो, तो भी वह वहाँ से लौटने या हटकर जाने की बात बिलकुल भूल जाय, ऐसा स्थान न रहनेवालोंको भी रोक लेता है, भटकनेवालोंको भी स्थिर करता है और वैराग्यको थपकी लगाकर जाग्रत करता है। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि उसे देखते ही विषय-सुखोंके लम्पटको भी ऐसा जान पड़े कि मैं संसारका सुंदर राज्य छोड़कर यहीं शान्तिपूर्वक पड़ा रहूँ। बस वह स्थान ऐसा ही रमणीय होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह स्थान इतना शुद्ध भी होना चाहिए कि वहाँ आँखोंको साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप ही दिखाई पड़ता हो। उस स्थानमें एक और विशेष गुण यह होना चाहिए कि वहाँ योगाभ्यास करनेवाले साधकोंकी भी बस्ती हो और दूसरे लोगोंका वहाँ आना-जाना न हो। वहाँ ऐसे बड़े बड़े और सघन वृक्ष भी होने चाहिएँ जो जड़से ही अमृतके समान मीठे और सदा फल देनेवाले हों और वे फल उनमें बारहो मास लगते हों। साथ ही उस स्थान पर वर्षा-कालके अतिरिक्त अन्य ऋतुओंमें भी पग पग पर पानी मिलता हो और विशेषतः वहाँ पानीके बहते हुए झरने भी यथेष्ट होने चाहिएँ। वहाँ गरमी बहुत हो ठिकानेकी और साधारण पड़ती हो और शीतल तथा शान्त वायु मन्द मन्द बहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि जल्दी किसी प्रकारका शब्द वहाँ न होता हो और पशुओं आदिकी कौन कहे, तोते या भुनगे तकका भी वहाँ प्रवेश न होता हो। वह स्थान ऐसा होना चाहिए कि पानीके सहारे रहनेवाले हंस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कहीं कहीं दिखाई पड़ते हों और कभी कभी कोई कोयल वहाँ आ बैठा करती हो। इसी प्रकार सदा तो नहीं, पर हाँ कभी कभी कुछ मोर भी वहाँ आया-जाया करते हों, तो कोई हर्ज नहीं। हे अर्जुन, ऐसा स्थान बहुत ही सावधान होकर ढूँढ़ना चाहिए तब वहाँ कोई मठ या शिवमन्दिर देखना चाहिए। इन दोनोंमेंसे जो अपनेको अच्छा जान पड़े, वही अपने लिए चुन लेना चाहिए और वहाँ बिलकुल एकान्तमें जा बैठना चाहिए। अपने लिए कौन सा स्थान उपयुक्त होगा, यह देखनेकी रीति यह है कि पहले इस बातका अनुभव कर लेना चाहिए कि हमारा मन किस स्थान पर शान्त और निश्चल रहेगा; और तब उसीके अनुरूप स्थान चुनकर ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे वहाँ आसन जमाना चाहिए। सबसे ऊपर स्वच्छ मृग-चर्म होना चाहिए, बीचमें अर्थात् उस मृग-चर्मके नीचे धोये हुए निर्मल वस्त्रकी तह होनी चाहिए और उसके नीचे अर्थात् बिलकुल जमीन पर सरल और अखंड दर्भांकुर बिछे हुए होने चाहिएँ। ये दर्भांकुर बहुत ही कोमल हों और बराबर बिछे हुए हों, एक दूसरेके साथ खूब अच्छी तरह मिले हुए हों। इन सब बातोंका ध्यान उन्हें बिछाते समय ही पूरी तरहसे रखना चाहिए। यह आसन यदि बहुत ऊँचा होगा तो शरीर हिले-डुलेगा और यदि बहुत नीचा होगा तो भूमिके साथ स्पर्श होनेकी सम्भावना रहेगी। इस लिए उसकी ऊँचाई ठीक और सुभीतेकी होनी चाहिए। परन्तु इन बातोंकी बहुत अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं। इन सब बातोंका भावार्थ यही है कि आसन अच्छा और सुख देनेवाला होना चाहिए।

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

"फिर उस आसन पर बैठकर चित्तको एकाग्र करना चाहिए और सद्गुरुका स्मरण करना चाहिए । फिर अन्दर और बाहर दोनों ओर सात्विक वृत्तिसे ओत-प्रोत भरकर बहुत सम्मान और आदरपूर्वक तब तक सद्गुरुका स्मरण करते रहना चाहिए, जब तक अहंकारकी कठोरता बिलकुल नष्ट न हो जाय, विषयोंकी पूरी पूरी विस्मृति न हो जाय, इन्द्रियों की चंचलता बिलकुल रुक न जाय और मन एकाग्र होकर हृदयमें प्रतिबिम्बित न हो जाय; और इस प्रकारकी स्वाभाविक एकताकी अवस्था पूरी तरहसे प्राप्त न हो जाय । फिर इसी आत्मबोधवाली अवस्थामें आसन पर बैठे रहना चाहिए । ऐसी अवस्थामें यह अनुभव होने लगेगा कि शरीर आपसे आप सँभलता हुआ ठिकाने आ रहा है और शरीरमेंकी वायु एक ही स्थान पर एकत्र हो रही है । इस अवस्थामें बैठते ही प्रवृत्ति पराङ्मुख हो जाती है, चित्तकी समाधि अर्थात् एकाग्र सम-स्थिति समीप आ जाती है और योगाभ्यासका साधन होता है । अब बतलाते हैं कि उस समय मुद्राकी अर्थात् कमरसे ऊपरवाले भागकी स्थिति कैसी होनी चाहिए । पिंडलीको जाँघसे मिलाकर पैरके तलुए इस प्रकार टेढ़े करने चाहिएँ कि वे ऊपरकी ओर हो जाँय और तब उन्हें गुदस्थानके मूलमें रखकर जोरसे दबाना चाहिए । दाहिने तलुएसे गुदस्थानकी सीवनका ठीक बीचवाला भाग दबाना चाहिए । इससे बाँया तलुआ सहजमें ठीक ऊपर जमकर बैठ जायगा । गुदा और वृषणके बीचमें चार अंगुलका अंतर होता है । उसमेंसे यदि डेढ़ डेढ़ अंगुल दोनों ओर छोड़ दिया जाय तो बीचमें एक अंगुल बाकी रह जाता है । एँड़ीका पिछला भाग वहीं रखकर और सारे शरीरका भार खूब तौलकर उस स्थानको अच्छी तरह दबाना चाहिए । फिर पीठके नीचेवाला भाग ऐसे हलकेपनसे ऊपर उठाना चाहिए, जिसमें यह भी पता न चले कि ऊपरका शरीर उठाया गया है या नहीं; और दोनों घुटने भी उसी प्रकार सँभालकर रखने चाहिएँ । हे अर्जुन, ऐसा करनेसे सारे शरीरका भार एँड़ीके केवल अगले भाग पर आ पड़ेगा । हे पार्थ, यह मूलबन्ध नामका आसनका वर्णन है । और इसीका एक दूसरा नाम वज्रासन भी है । इस प्रकार जब गुदा और वृषणके बीचोंबीच रहनेवाले आधार-चक्र पर ऊपरके शरीरका सारा भार पड़ता है, और शरीरके नीचेका भाग दबता है, तब आँतोंमें संचार करनेवाला अपान वायु उलटे शरीरके भीतरी भागकी ओर अर्थात् पीछेकी ओर हटने लगता है ।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥

"फिर हाथकी हथेलियाँ द्रोणाकार होकर आपसे आप बाएँ पैर पर आकर टिक जाती हैं और जान पड़ता है कि कन्धे कुछ ऊँचे हो गये हैं । शरीर-दंड ऊँचा या

सीधा खड़ा रहता है और उसके बीचमें मस्तक घुसा या डूबा हुआ-सा मालूम होता है और आँखोंमें आपसे आप झपकी आने लगती है । आँखोंकी ऊपरवाली पलकें तो बन्द हो जाती हैं, पर नीचेवाली पलकें खुली रहती हैं । इससे आँखें आधी खुली रहती हैं । फिर दृष्टि अन्दरकी ओर बढ़कर जरा सा बाहरकी ओर आती है और नाकके ठीक कोने या अगले भाग पर आकर जम जाती है । इस प्रकार दृष्टि अन्दरको ओर संकुचित हो जानेके कारण फिर बाहर नहीं जा सकती; और तब उस अर्द्ध-विकसित दृष्टिको नाकके अगले भाग पर ही स्थिर होना पड़ता है । फिर किसी दिशामें दृष्टिपात करने अथवा किसीका आकार या रूप देखनेकी इच्छा आपसे आप नष्ट हो जाती है । सिर दबकर नीचे बैठ जाता है और ठोढ़ी गलेके नीचेवाले गड्ढेमें बैठ जाती है और सिर अच्छी तरह छातीके साथ सट जाता है । इससे कंठ-नाली भी उसीमें मिलकर फँस जाती है । इस प्रकारके बन्धको जालन्धर कहते हैं । नाभि ऊपर उठ आती है और पेट अन्दर धँसकर सपाट हो जाता है, परन्तु हृदय-कोश विस्तृत हो जाता है । इस प्रकार लिंग-मूलके ऊपर और नाभि-स्थलके नीचे जो बन्ध होता है, उसे उड्डीयान-बन्ध कहते हैं । इस प्रकारकी बन्धमुद्रासे शरीरके बाहरी अंगों पर योगाभ्यासकी छाप पड़ती है और शरीरके अन्दरका वह आधार नष्ट हो जाता है, जिसमें मनोवृत्तियाँ रहती हैं । कल्पना बे-काम हो जाती है और प्रवृत्ति शान्त हो जाती है । शरीरके लेखे मन आपसे आप नहींके समान हो जाता है । फिर इस बातकी कुछ सुध नहीं रह जाती कि भूख क्या हो गई और नींद कहाँ चली गई ! हे अर्जुन, अभी मैंने तुम्हें जो मूल बन्ध या वज्रासन बतलाया है, उसके द्वारा पूरी तरहसे बँध जानेके कारण अपान वायु शरीरमें पीछेकी ओर चलती है और दबाव पड़नेके कारण फूलने लगती है । फिर वह कुपित होकर मत्त होती है और उसी बन्द जगहमें गड़गड़ाने लगती है और नाभि-स्थानमें रहनेवाले मणिपूर नामक चक्रको बीच बीचमें धक्के देती है । इसके बाद जब यह आँधी शान्त हो जाती है, तब वह सारा शरीर रूपी घर ढूँढ़ डालती है और बाल्यावस्थासे लेकर अब तक जितना मल अन्दर जमा रहता है, वह सब शरीरके बाहर निकाल देती है । अपान वायुकी यह लहर शरीरके अन्दर तो समा ही नहीं सकती, इसलिए वह कोठोंमें घुसकर कफ और पित्तको आधारस्थलसे निकाल देती है । फिर यह उभरी हुई अपान वायु रुधिर आदि सातों धातुओंके समुद्रको उलट देती है, मेदके पर्वतोंको चकनाचूर कर देती है और हड्डियोंके अन्दर बैठी हुई मज्जा तकको बाहर निकाल देती है । वायु-मार्गको नालीको खुलासा करती है और सब अवयवोंको शिथिल कर देती है । इस प्रकार अपने इन लक्षणोंसे यह अपान वायु योगकी साधना करनेवाले नौसिखुए लोगोंको डरा देती है । परन्तु योगकी साधना करनेवालोंको इन सब बातोंसे बिलकुल डरना नहीं चाहिए । कारण यह है कि यद्यपि यह अपान वायु अपने इस प्रकारके व्यापारोंसे कुछ व्याधि उत्पन्न करती है, परन्तु साथ ही साथ वह उस व्याधिका परिहार भी करती चलती है । शरीरमें कफ और पित्त आदि जो जलीय अंश हैं और मांस-मज्जा आदि जो पृथ्वीके अंश हैं, वह उन सबको एकमें मिला देती है । इसी

बीचमें, हे अर्जुन, आसनके तापके कारण कुंडलिनी नामकी शक्ति जाग्रत होती है। जिस प्रकार नागिनका कुंकुमके समान लाल बच्चा कुंडली बनाकर बैठता है, उसी प्रकार यह कुंडलिनी नामक छोटी नाड़ी साढ़े तीन फेरेकी कुंडली मारकर और सिर नीचे करके नागिनकी तरह सोई रहती है। विद्युत्के बने हुए कंकण या अग्निकी ज्वालाकी रेखा या सोनेके बढ़िया घोंटे हुए पाँसेकी तरह यह कुंडलिनी नाभिस्थानकी छोटी सी जगहमें अच्छी तरह बन्धनोंसे जकड़ी हुई पड़ी रहती है। पर जब उसपर वज्रासनका दबाव पड़ता है, तब वह जाग उठती है। फिर जिस प्रकार कोई तारा टूट पड़ता है अथवा सूर्यका आसन छूट जाता है अथवा स्वयं तेजका बीज प्रस्फुटित होने पर उसमेंसे कोमल गाभ निकलता है, उसी प्रकार यह कुंडलिनी अपना घेरा छोड़ देती है और मानों अँगड़ाई लेती हुई नाभि-कन्द पर खड़ी हो जाती है। स्वभावतः वह बहुत दिनोंकी भूखी रहती है, तिस पर वह दबाकर जगाई जाती है; इसलिए वह अपना मुख बड़े आवेशसे खोलकर ऊपर उठाती है। उसी समय उसे अपने सामने वह अपान वायु मिल जाती है जो हृदय-कोश तलमें आकर एकत्र हुई रहती है; और तब वह उस समस्त वायुको अपने अधिकारमें कर लेती है। अपने मुखकी ज्वालासे वह उसे ऊपर-नीचे और चारो ओरसे घेर लेती है और मांसके कौर खाने लगती है। जहाँ जहाँ मांस रहता है, वहाँ वहाँ पहुँचकर वह उसे खाने लगती है और अन्तमें हृदयके भी एक दो कौर वह चट कर जाती है। फिर वह पैरोंके तलुओं और हाथोंकी हथेलियोंकी भी खबर लेती है और तब ऊपरके अंश पर भी हाथ साफ करती है। इस प्रकार वह शरीरकी प्रत्येक सन्धि और प्रत्येक अंगकी तलाशी लिये बिना नहीं रहती। वह नीचेके भागोंको भी नहीं छोड़ती। यहाँ तक कि नाखूनोंका सार भी वह चूस लेती है; चमड़े तकका सत्व निकाल लेती है और तब हड्डियों पर आ पहुँचती है। वह हड्डियोंकी नलियों तकका रस चूस लेती है, शिराओंके जाल तक साफ कर डालती है, और इन सब बातोंका परिणाम यह होता है कि बाहरकी ओरके रोम-कूप तक बन्द हो जाते हैं। कुंडलिनीको बहुत अधिक प्यास लगी रहती है, इसलिए रुधिर आदि सातों धातुओंको वह एक ही घूंटमें पी जाती है और इस कारण शरीर बिल्कुल नीरस हो जाता है, जिससे शरीरमें पूर्ण रूपसे ग्रीष्म ऋतु ही व्याप्त हो जाती है। फिर नाकके छेदोंमेंसे बारह अंगुल तक जो हवा निकलती है, उसे भी यह कुंडलिनी पकड़कर अन्दरकी ओर खींचने लगती है। ऐसी अवस्थामें नीचेकी वायु ऊपरकी ओर खिंचने लगती है और ऊपरकी वायु नीचेकी ओर दबने लगती है; और इन दोनोंके बीचमें केवल मध्यवाले चक्रके परदेकी ही आड़ रह जाती है। यदि बीचमें यह आड़ न हो तो ये दोनों वायु उसी समय एक दूसरीसे मिल जायँ। परन्तु कुंडलिनी कुछ व्यग्र होकर इनसे कहती है—'क्या केवल तुम्हीं दोनों अब तक बच रही हो?' हे अर्जुन, इसका अभिप्राय यह है कि यह कुंडलिनी शरीरमेंका पृथ्वीवाला अंश खाकर भी समाप्त कर डालती है और जलके अंशका तो वह कहीं नाम भी नहीं रहने देती। जब यह शरीरमेंके पृथ्वी और जल दोनों ही भूतोंको खा डालती है, तब यह पूर्ण रूपसे तृप्त हो जाती है और तब कुछ शान्त होकर सुषुम्ना नामक

नाड़ीके पास रहती है। वहाँ तृप्त और सन्तुष्ट होकर वह जो गरल या विष उगलती है, वही प्राण-वायुके लिए अमृतके समान हो जाता है; और उस अमृतसे प्राण-वायु जीवन धारण करती है यद्यपि वह प्राण-वायु उस गरलकी अग्निमेंसे निकलती है, परन्तु फिर भी वह शरीरके भीतरी और बाहरी दोनों पार्श्व शीतल कर देती है; और तब वह प्रत्येक अंगमें फिरसे वह सामर्थ्य भरने लगती है जो वह पहले उनमेंसे खींच चुकी होती है। परन्तु नाड़ियोंके मार्ग भर चुके होते हैं और उनका प्रवाह बन्द हो चुका रहता है; और शरीरमें जो अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त और धनंजय नामक नौ प्रकारकी वायु नष्ट हो चुकी होती हैं और केवल प्राण-वायु ही बची रहती है, इसलिए शरीरके सब धर्म नष्ट हो जाते हैं। फिर नाकके दाहिने और बाएँ रन्ध्रोंकी इड़ा और पिंगला नामकी नाड़ियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, उनकी तीनों गाँठें खुल जाती हैं और शरीरके अन्दरके छओ चक्रोंके ऊपरके आवरण फट जाते हैं। फिर नासिका-रन्ध्रोंमेंसे बहनेवाली जिन वायुओंकी उपमा सूर्य और चन्द्रमासे दी जाती है, उनका ऐसा लोप हो जाता है कि दीपककी ज्योतिको भी वे नहीं हिला सकतीं। बुद्धिकी चंचलता नष्ट हो जाती है और घ्राणेन्द्रियमें जो गन्ध बची रहती है, वह भी कुंडलिनी शक्तिके साथ साथ मध्यम नाड़ी अर्थात् सुषुम्नामें घुस जाती है। इसी बीचमें चन्द्रमाकी सत्रहवीं कलाके अमृतका वह सरोवर, जो ऊपरकी ओर रहता है धीरे धीरे टेढ़ा होने लगता है और आकर कुंडलिनीके मुँहके साथ लग जाता है। फिर इस कुंडलिनी की नलीमें जो अमृत रस भरता है, वह समस्त अंगोंमें व्याप्त हो जाता है और प्राण-वायुके साथ प्रत्येक अंगमें पहुँचकर जहाँका तहाँ सूख जाता है। जिस प्रकार साँचेको तपानेसे उसमेंका सारा मोम उड़ जाता है और फिर वह साँचा केवल धातु-रससे भरा रहता है, उसी प्रकार मानों चन्द्रमाकी सत्रहवीं कला इस शरीरके रूपमें अवतरित होती हुई जान पड़ती है और उसके चारो ओर चमड़ेका अवगुण्ठन मात्र रह जाता है। बादलोंके आगे आ जानेसे सूर्य छिप जाता है; परन्तु उन बादलोंके हट जाने पर जिस प्रकार वह फिर अपनी प्रकाशमान प्रभासे प्रकट होता है, उसी प्रकार इसी सत्रहवीं कलाके तेजस्वी रूप पर चमड़ेकी खोली ही ऊपर ऊपर रह जाती है। परन्तु फिर वह भी भूसीकी तरह झड़ जाती है। फिर अंगोंकी कान्ति या प्रभा ऐसी जान पड़ती है कि मानों शुद्ध स्फटिकका निर्दोष स्वरूप हो अथवा रत्नका बीज प्रस्फुटित हुआ हो और उसमें कोमल कल्ले निकले हों। अथवा ऐसा जान पड़ने लगता है कि सन्ध्या-कालका रंग लेकर यह शरीर बनाया गया है अथवा अन्तस्थ चैतन्यके तेजकी निर्मल प्रभा है। यह शरीर ऐसा जान पड़ता है कि मानों कुंकुमसे भरा हुआ अथवा चैतन्य रससे ढाला गया है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि वह शरीर क्या है, मूर्तिमती शान्ति ही है। यह शरीर मानों आनन्द-चित्रमें के रंगोंका काम अथवा आत्म-सुखका स्वरूप दिखाई देता है अथवा सन्तोषका वृक्ष दृढ़तापूर्वक रोपा हुआ जान पड़ता है। अथवा वह स्वर्णचम्पककी कली है अथवा अमृतका पुतला है अथवा कोमलताका ऐसा उपवन है जिसमें पूर्ण रूपसे वसन्त ऋतु व्याप्त है। अथवा शरद् ऋतुकी आर्द्रतासे चन्द्र-बिम्ब

पल्लवित हुआ है; अथवा यह कल्पना होती है कि स्वयं तेज ही धारण करके आसन पर बैठा हुआ है। जिस समय कुंडलिनी सत्रहवीं कलाके अमृतका पान करती है, उस समय शरीरकी इसी प्रकारकी अवस्था हो जाती है। उस समय स्वयं काल भी इस शरीरसे डरने लगता है। उस समय वृद्धावस्थाकी कलाका लोप हो जाता है, यौवनावस्था भी दब जाती है और फिरसे बाल्यावस्था प्राप्त होती है। यदि केवल वयसका विचार किया जाय तब तो वह बालकोंके ही समान दिखाई पड़ता है; परन्तु उसकी सामर्थ्यका महत्व इतना अधिक होता है कि "बाल" शब्दका अर्थ "बल" ही करना पड़ता है। उस समय उसके जो नये तेजस्वी नख निकलते हैं, उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है कि मानों स्वर्ण वृक्षमें रत्नकी ऐसी कली निकली है जो कभी कुम्हलानेवाली न हो। जो नये दाँत निकलते हैं, वे भी बहुत ही छोटे छोटे होते हैं; और ऐसा जान पड़ता है कि मानों जबड़ेमें दोनों तरफ हीरेकी कनीकी पंक्तियाँ बैठाई हुई हों। समस्त शरीर पर केशोंके ऐसे नये अग्र भाग दिखाई पड़ते हैं कि मानों बहुत ही बारीक मानिककी कलियोंके समान हों। हाथोंकी हथेलियाँ और पैरोंके तलुए लाल कमलके समान सुन्दर जान पड़ते हैं और उसकी जो आँखें धुलकर निर्मल हो जाती हैं, भला उनका वर्णन कौन कर सकता है! जिस समय मोती अपनी पक्व दशाको प्राप्त होता है, उस समय वह सीपीमें नहीं समाता। उस समय सीपीकी सीवन जिस प्रकार खुल जाती है, उसी प्रकार उसकी दृष्टि भी आँखोंकी पलकोंमें नहीं समाती और आवेशसे बाहर निकलना चाहती है। जिस समय उसकी आँखें अधखुली रहती हैं, उस स्थितिमें वह समस्त आकाशको आच्छादित कर सकती है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि योगीका शरीर यद्यपि कान्तिके विचारसे सोनेका होता है, तो भी भारके विचारसे वह वायुका ही होता है; और इसका कारण यह है कि उसमें पृथ्वीका जड़ अंश और जल का द्रव अंश नामको भी नहीं होता। फिर उस योगी को समुद्रके उस पार की चीजें भी दिखाई पड़ने लगती हैं; स्वर्ग का नाद भी सुनाई पड़ने लगता है और वह चींटी के मन का भाव भी जान सकता है। वह हवाके घोड़े पर सवार होता है; और यदि वह पानी के ऊपर चले तो उसके पैर का पानी से स्पर्श भी नहीं होता। बस इसी प्रकारकी अनेक सिद्धियाँ उसे प्राप्त हो जाती हैं। हे पार्थ, अब तुम इधर ध्यान दो। प्राण-वायु का आधार लेकर हृदय-कोश के तत्वों को सीढ़ियों के डंडे बनाकर और सुषुम्ना नामक मध्यम नाड़ी की सीढ़ी बनाकर जो कुंडलिनी हृदय तक पहुँच जाती है उसे जगत की जननी ही समझना चाहिए। वही जीवात्मा की शोभा है और वही ओंकारके अंकुर के ऊपरकी छाया है। वही शून्यकी बैठक और परमात्मा रूपी शिव प्रतिमा का सम्पुट है अथवा ओंकार की स्पष्ट जन्म-भूमि ही है। अस्तु। जब इस प्रकारकी यह सुकुमार कुंडलिनी हृदय कोशमें प्रवेश करती है, तब आपसे आप होने वाला दिव्य-अनाहत ध्वनि का नाद उठने लगता है। कुंडलिनी शक्ति के अंग में लगे रहने के कारण ही बुद्धि को चैतन्य प्राप्त होता है, इसलिए यह अनाहत नाद उसे थोड़ा-थोड़ा सुनाई पड़ने लगता है। इस अनाहत नाद के दस प्रकार होते हैं। उनमेंसे नादका पहला प्रकार घोष है जो

पहले सुनाई पड़ता है। फिर उसी घोषके कुण्डमें ओंकारके रूपके समान अंकित नाद-चित्रकी आकृति बनने लगती है। ये सब बातें कल्पनासे ही जाननी चाहिएँ। लेकिन कल्पना करनेवालेको भी भला यह बात कैसे मालुम हो सकती है? सच तो यह है कि यही समझमें नहीं आता कि उस स्थान पर काहेका नाद हो रहा है। परन्तु, हे अर्जुन, इस वर्णनके फेरमें तो मैं बिलकुल भूल ही गया। जब तक प्राण-वायुका नाश नहीं होता, तब तक हृदय रूपी आकाशमें आवाज होती ही रहती है और वही आवाज इस तरह गूँजती रहती है। जब उस अनाहतके मेघ-नादसे समस्त हृदयाकाश गूँज उठता है, तब ब्रह्म-रन्ध्रकी खिड़की आपसे आप खुल जाती है। हे अर्जुन, हृदयाकाशके ऊपर जो महदाकाश अथवा ब्रह्म-रन्ध्र होता है, उसीमें चैतन्य निराधार स्थितिमें रहता है। ज्योंही उस महदाकाशके घरमें कुंडलिनी देवीका प्रवेश होता है, त्योंही वह अपना तेज उस चैतन्यके आगे भोजन-रूपमें अर्पित करती है। ज्योंही बुद्धिके शाकके साथ इस शुद्ध भोजनका नैवेद्य लगता है, त्योंही फिर द्वैतका कहीं नाम भी बाकी नहीं रह जाता। फिर कुंडलिनीकी निजी कान्ति नष्ट हो जाती है और तब वह केवल प्राण-वायुका स्वरूप प्राप्त कर लेती है। यदि तुम यह पूछो कि उस समय उसका स्वरूप कैसा हो जाता है तो मैं बतलाता हूँ, सुनो। ऐसा जान पड़ता है कि अब तक वायु की यह पुतली सुनहला पीताम्बर पहने हुए थी, पर अब वह अपना वह पीताम्बर दूर करके नग्न हो गई है। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि हवाका झोंका लगनेके कारण दीपककी ज्योति बुझ गई है। अथवा जिस प्रकार बिजली एक बार आकाशमें चमककर अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार जान पड़ता है कि हृदय-कमल तक सोनेकी सलाईके समान दिखाई पड़नेवाली अथवा प्रकाशके स्रोतकी तरह बहती हुई वह कुंडलिनी हृदय-प्रान्तकी दरीमें अचानक समा जाती है, और तुरन्त ही शक्तिका शक्तिमें लय हो जाता है। ऐसी अवस्थामें हम उसे भले ही शक्ति कह लें, परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वह प्राण-वायु ही होती है। भेद केवल यही है कि उसका नाद, कान्ति और तेज दिखाई नहीं पड़ता। फिर उस अवस्थामें मनको जीतने, वायुको बन्द करने या रोकने अथवा ध्यान लगानेकी भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। उस समय मनमें संकल्प-विकल्प भी नहीं उठते। वास्तवमें इस स्थितिको पंचमहाभूतोंको पूर्ण रूपसे नष्ट करनेवाली ही समझना चाहिए।" इस प्रकार योग-साधनके द्वारा पिंडसे पिंडको ग्रसना, नाथ-सम्प्रदायका रहस्य या मूल उपाय है; और यहाँ श्रीकृष्णने उसकी ओर केवल संकेत किया है। यहाँ अच्छे अच्छे गुण-ग्राहक कथा श्रवण करनेके लिए बैठे हैं और इसी लिए श्रीकृष्णकी ध्वनितार्थ-वाली गठरीको छोड़कर मैंने वास्तविक भावार्थकी तह ही खोलकर सब लोगों के सामने रख दी है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥

"हे अर्जुन, सुनो। जिस समय शक्ति निस्तेज होती है, उस समय देहके रूपका भी नाश हो जाता है और तब वह योगी सांसारिक लोगोंकी आँखोंमें अपनी वास्तविक

स्थिति या स्वरूपमें नहीं दिखाई पड़ता। साधारणतः ऊपरसे देखनेमें तो वह पहलेकी ही तरह शरीरधारी दिखाई पड़ता है, परन्तु वास्तवमें उसका वह शरीर मानों वायुका ही बना हुआ होता है। अथवा जिस प्रकार अपना ऊपरी छिलका उतारकर केलेका गाभा खड़ा रहता है अथवा स्वयं आकाशमें ही उसका कोई अवयव निकलता है, उसी प्रकार वह योगी भी उस समय हो जाता है। जिस समय योगीका शरीर इस प्रकारका हो जाता है, उस समय उसे खेचर (आकाशमें संचार करनेवाला) कहते हैं। जिस समय योगीको यह योग्यता प्राप्त हो जाती है, उस समय उसका शरीर संसारमें एक बहुत बड़ा चमत्कार कर दिखलाता है। हे अर्जुन, इस प्रकार योगकी साधना करनेवाला मनुष्य जिस समय चलता है, उस समय अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उसके चरणोंके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहती हैं। परन्तु, हे अर्जुन, इन सिद्धियों की बातोंसे हम लोगोंका क्या मतलब है? मुख्य तात्पर्य यही है कि योगियोंके स्वयं शरीरमें ही पृथ्वी, अप और तेज इन तीनों महाभूतोंका लोप हुआ रहता है। पृथ्वीका अंश अपमें घुल जाता है, अपका अंश तेजमें समा जाता है और तेजका अंश हृदयके पवनमें चला जाता है। फिर अन्तमें एक मात्र पवन ही रह जाता है और वह भी केवल शरीरके रूपमें ही रहता है। परन्तु कुछ समय बीतने पर वह भी आकाशमें सम-रस होकर लुप्त हो जाता है। उस समय उस शक्तिका कुंडलिनी नाम भी मिट जाता है और उसे मारुति (अर्थात् वायु) वाला नया नाम प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जब तक वह ब्रह्म-स्वरूपमें मिल नहीं जाती, तब तक उसमें शक्ति बनी ही रहती है। फिर वह ऊपर बतलाया हुआ "जालन्धर" नामक बन्ध छोड़कर और काकी-मुखी सुषुम्ना नाड़ीका मुँह फोड़कर ब्रह्म-रन्ध्रमें प्रवेश करती है। फिर वह ओंकारकी पीठ पर पैर रखकर चटपट पश्यन्ती-वाचाकी सीढ़ी पार कर जाती है। फिर वह आधी मात्रा तक—अर्थात् ओंकारमें के मकार तक—उसी प्रकार ब्रह्म-रन्ध्र में घुसती है, जिस प्रकार समुद्रमें नदी प्रवेश करती है। फिर वह ब्रह्म-रन्ध्रमें स्थिर होती है और अपनी सोऽहंवाली भावनाकी भुजा फैलाकर बड़े आवेशसे परब्रह्मके साथ मिलती है। उस समय पंच-महाभूतोंका परदा दूर हो जाता है और तब वह शक्ति परब्रह्मके गले लगती है और तब आकाशके सहित उस परब्रह्ममें एक-जीव होकर लीन हो जाती है। जिस प्रकार समुद्रका जल मेघोंके द्वारा शुद्ध होकर नदी-नालोंमें पहुँचता है, पर अन्तमें फिर उसी समुद्रके पानीमें मिलकर अपना मूल स्वरूप प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी देहकी सहायतासे परमात्मामें मिलकर उसके साथ एक हो जाता है। उस समय इस बातका भी विचार करनेकी कोई जगह बाकी नहीं रह जाती कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों अलग अलग थे और अब मिलकर एक हो गये हैं अथवा दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। इस प्रकार गगनमें लीन होनेकी जो स्थिति है, उसका मनुष्यको जिस समय अनुभव होता है, उसी समय उसको उसका ठीक ठीक ज्ञान भी होता है। इसी लिए ऐसे शब्द ही कहीं नहीं मिलते जिनके द्वारा उसका वर्णन संवादके प्रान्तमें लाया जा सके। हे अर्जुन, जिस वैखरी वाणीको साधारणतः इस बातका अभिमान रहता

है कि मुझमें अभिप्राय प्रकट करने की शक्ति या गुण है, वह भी इस विषय में दुर्बल ही सिद्ध होती और दूर ही रहती है। भौंहों के पिछले भाग में केवल मकार—अर्थात् ओंकार की तीसरी मात्रा—की ही केवल आड़ होती है। परन्तु उसे हटाकर गगन की ओर जानेमें प्राण वायुको भी परिश्रम करना पड़ता है। इसके उपरान्त जब वह प्राण-वायु ब्रह्मरन्ध्र के आकाश में मिलकर एक हो जाती है, तब शब्दों के लिए वर्णन करने योग्य कोई बात ही बाकी नहीं रह जाती और इसी लिए शब्दों की सामर्थ्य का भी अन्त हो जाता है। इसके बादकी सीढ़ी या दरजा तो यही है कि स्वयं उस गगन या आकाशका ही लय हो जाय। जब उस गगन का भी लय हो जाता है, अर्थात् जब महाशून्य के अगाध दहमें उस गगन का भी कहीं पता नहीं रह जाता, तब भला वहाँ शब्द की मात्रा या शक्ति क्योंकर काम आ सकती है? अतः यह बात त्रिकाल-सत्य है कि यह विषय ऐसा स्पष्ट और सहज नहीं है जो वाणीके क्षेत्रमें आ सके अथवा श्रवणेन्द्रिय को जिसका आकलन हो सके। यहाँ तो केवल यही कहा जा सकता है कि यदि ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो सके तो इसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहिए और तब आत्म-स्वरूप हो जाना चाहिए। इसके बाद जानने योग्य और कोई बात बाकी नहीं रह जाती। अतः हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, बार बार इसी बात की पुनरुक्ति करनेसे क्या लाभ? इस प्रकार जहाँसे शब्द भी वापस लौट आते हैं, जिसमें संकल्प-विकल्प सब नष्ट हो जाते हैं और जिसमें विचार की हवा भी प्रवेश नहीं कर सकती, जिस उन्मनी अवस्थाका सौन्दर्य चतुर्थ अवस्था का अर्थात् ब्रह्मात्मक जीवन्मुक्तिका पूर्ण वैभव है, जो आदि-रहित, अपरिमित और सर्वश्रेष्ठ तत्वके रूप में परिगणित होनेके योग्य है, जिसे विश्वका आदि बीज, योग-साधना का अन्तिम साध्य और आनन्द का केवल चैतन्य रूप समझना चाहिए, जिसमें आकार की मर्यादा, मोक्षकी एक-रूप अवस्था और प्रारम्भ तथा अन्तकी सीमाएँ बिलकुल निर्मूल हो जाती हैं, जो पंच-महाभूतोंका मूल कारण, महातेजका भी तेज है और, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जिसे मेरा आत्म-स्वरूप ही समझना चाहिए और नास्तिकोंके द्वारा भक्त-जन-समूह के छले जाने के कारण जिसे सगुण होकर यह चतुर्भुज आकार धारण करना पड़ा है, वह महासुखात्मक परमात्म-तत्त्व वर्णनकी सीमासे बाहर का ही है। परन्तु जिन पुरुषोंने आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लिया है, अन्तिम साध्यकी सिद्धि होने तक जिन्होंने दृढ़ निश्चयपूर्वक प्रयत्न किया है और मेरे ऊपर बतलाये हुए प्रकार से जिन्होंने अपना शरीर सार्थक किया है, वे लोग शुद्ध होकर मेरे ही समान हो जाते हैं। उनके शरीर की कांति देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे परब्रह्म रूपी रससे शरीर रूपी साँचेमें ढले हुए स्वयं परब्रह्म के ही बने हुए पुतले हैं। यदि मनमें इस प्रकार का पूरा पूरा अनुभव हो जाय तो फिर ऐसा जान पड़ने लगता है कि यह विश्व नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है।

यह सुनकर अर्जुन ने बीच में ही कहा—"देव, आप जो कुछ कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है। क्योंकि हे देव, आपने अभी साधना का जो प्रकार बतलाया है, उससे स्पष्टतः परब्रह्म की प्राप्ति होती है। जो लोग दृढ़ निश्चयपूर्वक यह योगाभ्यास करते हैं,

वे निस्सन्देह ब्रह्मत्वको प्राप्त होते हैं। आपने अभी जो कुछ बतलाया है, उससे मुझे यह बात अच्छी तरह ज्ञात हो गई है। हे देव, आपने अभी जो केवल वर्णन किया है, वह सुनकर ही मेरे मनको बहुत कुछ बोध हो गया है। फिर जिसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव हुआ हो, वह यदि तल्लीन हो गया हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! इसी लिए अब इस विषयमें और कोई ऐसी बात बाकी नहीं रह गई है कि जिसके सम्बन्धमें मैं आपसे और कुछ पूछूं। परन्तु फिर भी मैं एक बात कहता हूँ। आप क्षण भरके लिए इधर ध्यान दें। हे देव, आपने अभी जो योग बतलाया है, वह अच्छी तरह मेरे मनमें बैठ गया है। परन्तु सामर्थ्य न होने के कारण मैं पंगु के समान हूँ, और इसी लिए मुझसे इस योग की साधना नहीं हो सकती। मेरे शरीर में जितनी शक्ति है, यदि उतनी ही शक्ति से यह योग सिद्ध हो सकता हो तो मैं इस मार्ग का सहज में ही अभ्यास करूँगा। लेकिन आप जो कुछ कहते हैं, उसके अनुसार कार्य करनेकी मुझमें योग्यता या शक्ति ही न हो तो मुझे ऐसी ही बातें पूछनी चाहिएँ जो मेरी दुर्बलता को शोभा देती हों—जो उसके अनुकूल पड़ती हों। मेरे मनमें इसी प्रकारकी इच्छा उत्पन्न हुई है, इस लिए मैं आपसे एक बात पूछता हूँ।" इसके उपरान्त अर्जुन ने कहा—"हे देव, आप इधर ध्यान दें। आपने जो जो साधन बतलाये हैं, वे सब मैंने सुन लिए हैं। परन्तु अब मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या ये साधन ऐसे हैं, जिनका साधारणतः जो चाहे, वही अभ्यास कर सकता है अथवा वे ऐसे साधन हैं जो बिना कुछ विशिष्ट योग्यता हुए प्राप्त ही नहीं हो सकते?" इसपर श्रीकृष्णने पार्थसे जो कुछ कहा, वह सुनिये। वे बोले—"यह तो परमार्थ का बहुत ही विकट कार्य है। परन्तु, हे अर्जुन यदि कोई सामान्य कार्य भी हो तो वह भी तब तक कभी सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसके कर्त्तामें उसे करनेकी योग्यता न हो। परन्तु जिसे योग्यता कहते हैं, उसका निश्चय तो कार्यको सिद्धि होने पर ही होता है। क्योंकि अपने आपमें योग्यता होने पर जो कार्य आरम्भ किया जाता है, वही सिद्ध होता है। परन्तु इस प्रकार की योग्यताके कारण इस काममें नामको भी कोई अड़चन नहीं होती। और फिर मैं तुम्हींसे एक बात पूछता हूँ। योग्यताकी क्या कहीं कोई खान होती है जिसके मिलते ही मनुष्य जितनी योग्यता चाहे, उतनी अपने आपमें भर ले? यदि कोई मनुष्य जरा सा विरक्त होकर देहके विहित कर्म नियमपूर्वक करने लग जाय तो क्या वही पुरुष अधिकारी नहीं सिद्ध होता? इसी प्रकार तुम भी अपने आपमें इतनी योग्यता ला सकते हो कि वासना-रहित होकर सब विहित कर्म कर सको।" इस प्रकार ये बातें कहकर श्रीकृष्णने अर्जुनके मन का दुःख दूर किया। फिर उन्होंने अर्जुन से कहा—"इस विषय में यह एक नियम है कि जो मनुष्य अपने विहित कर्म विरक्त होकर नहीं करता, उसमें यह योग्यता कभी आ ही नहीं सकती।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥

"जो जीभके चोंचलों का दास बन गया हो अथवा जो पूर्ण रूपसे निद्राके अधीन

हो गया हो, वह कभी इस साधनाका अधिकारी नहीं हो सकता। अथवा जो दुराग्रहके बन्दीगृहमें प्यास और भूखको बन्द करके अपना शरीर तोड़ डालता है, खाना-पीना छोड़ देता है अथवा इसी प्रकारके आग्रहके कारण सोनेका नाम भी नहीं लेता और जो इस प्रकार हठपूर्वक सब काम करता है, उसका स्वयं शरीर ही उसके अधीन नहीं होता। फिर भला ऐसे मनुष्यसे योगकी साधना कैसे हो सकती है? इसी लिए जिस प्रकार विषयोंका अतिरिक्त या आवश्यकतासे अधिक सेवन नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार उनके साथ द्वेष भी नहीं करना चाहिए और उन्हें जबरदस्ती पूरी तरहसे दबाकर भी नहीं रखना चाहिए।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

"आहारका सेवन करना चाहिए, परन्तु वह उचित और ठिकानेका हो। सभी काम इस प्रकार उचित और ठिकानेके होने चाहिएँ। नपी-तुली बातें कहनी चाहिए, ठीक तरह से चलना चाहिए और उचित समय पर निद्राका भी सेवन करना चाहिए। यदि कभी जागनेकी आवश्यकता हो तो जागरण भी नियमित होना चाहिए। ऐसा करनेसे शरीरके कफ-पित्त आदि धातु (रस) अपने उचित परिमाणमें रहते हैं और सुख होता है। इस प्रकार यदि नियमित रूपसे इन्द्रियोंको उनके विषयोंका अन्न दिया जाय तो मन सन्तुष्ट रहता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥

"ज्यों ज्यों शरीरकी बाहरी क्रियाओं पर नियम और नियन्त्रणकी छाप बैठती जाती है, त्यों त्यों अन्दर सुखकी वृद्धि होती चलती है और इस प्रकार योगाभ्यास न करनेकी अवस्थामें भी आपसे आप योगका साधन होता चलता है। जिस प्रकार उद्योगके निमित्तसे, परन्तु वास्तवमें भाग्यके बलसे, सब प्रकारका वैभव आपसे आप घरमें चला आता है, उसी प्रकार जो मनुष्य परिमित रूपसे और संयमपूर्वक सब क्रियाओंका आचरण करता है, वह सहजमें ही योगाभ्यासके मार्गमें लग जाता है और उसे आत्म-सिद्धिके अनुभवकी प्राप्ति होती है। इसी लिए, हे अर्जुन, जिस भाग्यवान् पुरुषसे यह संयमवाला कर्मयोग सध जाय, वह मोक्षके सिंहासन पर सुशोभित हो जाता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥१९॥

"जिस समय क्रियाओंके संयमका योगके साथ मेल होता है, उस समय यह शरीर पवित्र प्रयाग-क्षेत्र ही हो जाता है। ऐसे शरीरमें जिसका मन ऐसी दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है कि जब तक शरीर-पात न हो, तब तक विचलित नहीं होता, हे अर्जुन, उसीको तुम योग-युक्त समझो। प्रसंग-वश मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूँ कि ऐसे योग-युक्तकी

उपमा निर्वात स्थानमें रखे हुए दीपककी ज्योतिके साथ दी जाती है। अब मैं तुम्हारे मनका भाव समझकर तुम्हें कुछ और बातें बतलाता हूँ। तुम उन्हें अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। तुम अपने मनमें कार्य-सिद्धिकी लालसा तो रखते हो, परन्तु अभ्यासका कष्ट उठानेके लिए क्यों नहीं तैयार होते? इसमें ऐसी कौन सी कठिनता है जिससे तुम डरते हो? हे अर्जुन, तुम व्यर्थ अपने मनमें इस बातका डर न करो। ये दुष्ट इन्द्रियां छोटी छोटी बातोंको व्यर्थ ही पहाड़ बनाकर दिखलाती हैं। देखो, यदि कोई इतनी गुणकारी दिव्य औषध हो जो आयुको स्थिर कर सके और शरीरसे निकलते हुए प्राणों-को भी लौटा लावे, तो भी जीभ उस औषधको शत्रु ही मानती है या नहीं? इसी प्रकार जो कर्म हमारे उच्च कल्याणके लिए अनुकूल होते हैं, वे सब इन इन्द्रियोंको सदा कष्टदायक ही जान पड़ते हैं। और नहीं तो योग-साधनाके समान सहज काम वास्तवमें और कोई है ही नहीं।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥

"इसी लिए मैंने दृढ़ आसन लगाकर करनेके लिए जो योगाभ्यास बतलाया है, उससे इन इन्द्रियोंका अच्छा नियन्त्रण होगा। क्योंकि यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जब योग-साधनासे इन्द्रियोंका निग्रह होता है, उसी समय चित्त आत्म-स्वरूपमें प्रवेश करने लगता है। फिर जब चित्त वहाँसे लौटता है और आत्म-स्वरूपकी ओर उसकी पीठ होती है और वह अपने केवलात्म स्वरूपकी ओर देखता है, तब उसे देखते ही वह पहचान जाता है और कहता है—"मैं स्वयं यही तत्व हूँ।" ज्योंही वह उसे पहचान लेता है, त्योंही वह सुखके साम्राज्यका भोग करने लगता है और फिर आपसे उस परमात्म तत्व-के साथ मिलकर एक रूप हो जाता है। जिसके आगे या उस पार और कुछ भी नहीं है और जिसका वास्तविक ज्ञान इन्द्रियोंको कभी होता ही नहीं, उसीके साथ वह तन्मय होकर अपनी जगह पर आत्म-सुखमें रहता है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥

"उस समय चाहे मेरु पर्वतके समान भारी दुःखका पर्वत भी उसके शरीर पर क्यों न आ पड़े, परन्तु फिर भी उसका चित्त कभी विचलित नहीं होता। अथवा चाहे उसका शरीर शस्त्रोंसे छेद डाला जाय और चाहे वह अग्निमें जा पड़े, परन्तु फिर भी आत्म-तत्वके महासुखमें सोया हुआ चित्त जागने का नाम भी नहीं लेता। जब चित्त इस प्रकार आत्म-तत्वमें विलीन हो जाता है, तब वह इस शरीरकी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता। उसे अलौकिक आत्म-सुख प्राप्त हो जाता है और इसीलिए वह इस शरीरके सुख-दुःखोंकी सब बातें ही भूल जाता है।

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

"जिस सुखका माधुर्य चख लेने पर संसारके बन्धनोंमें फँसा हुआ मन वासनाओंका कभी स्मरण या ध्यान भी नहीं करता, जो सुख योगकी शोभा और सन्तोषकी राज-सम्पत्ति है और जिस सुखके लिए ही ज्ञानका ज्ञातृत्व काम आता है, वह सुख योगाभ्यासके द्वारा मूर्तिमान होकर सामने दिखाई पड़ने लगता है। अब इस प्रकार उसके दर्शन हो जायँ, तभी हम भी उसके साथ मिलकर तद्रूप हो सकेंगे।

संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥२४॥

"हे अर्जुन, जो यह योग तुम्हें बहुत ही कठिन जान पड़ता है, वह एक तरहसे बहुत ही सुगम है। इसके लिए आवश्यकता केवल इसी बातकी है कि संकल्पकी सन्तान काम-क्रोध आदिको मार डालना चाहिए जिसमें उस संकल्पको पुत्र शोक प्राप्त हो। जब संकल्पको यह मालूम होगा कि सब विषय मर गये हैं और उसे इस बातका भी पता चल जायेगा कि इन्द्रियोंका पूर्ण रूपसे निग्रह हो गया है, तब वह अपनी छाती पीटकर आप ही अपने प्राण त्याग देगा। यदि मनको इस प्रकारका वैराग्य प्राप्त हो जाय तो फिर इस संकल्पकी यात्रा भी समाप्त हो जायगी:—इस संकल्पका भी अन्त हो जायगा और बुद्धि बहुत ही सुखपूर्वक धैर्यके मन्दिरमें निवास करने लगेगी।

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

"यदि बुद्धिको धैर्य प्राप्त हो जाय तो वह मनको धीरे-धीरे अनुभवके मार्गमें चलाने लगेगी और अन्तमें उसे ले जाकर परमात्म-मन्दिरमें बैठा देगी। इसलिए तुम यह बात ध्यानमें रखो कि इस प्रकारसे भी आत्म-प्राप्ति होती है। परन्तु यदि यह प्रकार भी तुमसे न सध सके तो इससे भी एक और सहज मार्ग है। वह भी सुन लो। हम अपने मनसे यह एक नियम कर लें कि हम जो निश्चय कर लेंगे, उससे एक पग भी इधर-उधर न होंगे। यदि यही नियम करनेसे मन स्थिर हो जाय तो फिर समझ लेना चाहिए कि वह अपने काममें लग गया। पर यदि यह पता चले कि इस प्रकार मन स्थिर नहीं रहता, तो फिर उसे बिलकुल खुला छोड़ देना चाहिए। फिर इस प्रकारसे अनियन्त्रित छोड़ा हुआ मन जहाँ जाय, वहाँसे उसे नियन्त्रित करके लौटा लाना चाहिए। बस इसीसे उसे धीरे-धीरे स्थिर रहनेकी आदत पड़ जायगी।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

"इसके उपरान्त कभी न कभी एक बार उसी स्थिरताकी सहायतासे मन आपसे आप आत्म-स्वरूपके पास जा पहुँचेगा। फिर उस आत्म-स्वरूपको देखकर वह उसके साथ मिल जायगा। उस समय द्वैतको अद्वैतमें समाधि प्राप्त हो जायगी और उस एकताके प्रभावसे तीनों लोक प्रकाशमान् हो जायँगे। आकाशमें आकाशसे भी भिन्न जान पड़नेवाला मेघ दिखाई पड़ता है, परन्तु उस मेघके हट जाने पर जिस प्रकार केवल सर्वव्यापी आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार चित्तका भी लय हो जाता है और सब कुछ चैतन्यके ही रूपमें दिखाई पड़ता है। इस सहज मार्गसे इस प्रकारकी फल-प्राप्ति होती है।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥

"इस सुगम योगावस्थाके द्वारा बहुतसे लोगोंने संकल्पकी सम्पत्ति छोड़कर मोक्षके दर्शन किये हैं। जब मन सुखकी संगतिसे परब्रह्मके अन्दर जा पहुँचता है, तब वह उसे उसी प्रकार नहीं छोड़ता, जिस प्रकार पानीमें घुला हुआ नमक पानीको नहीं छोड़ता; और मन भी उस मिलनमें सम-रसत्वके मन्दिरमें संसारके साथ सुखकी दीवाली मनाता रहता है। इस प्रकार मनुष्यको स्वयं अपने ही पैरोंसे उलटे पीछेकी ओर अर्थात् मूल स्वरूपकी ओर चलते रहना चाहिए। परन्तु यदि तुमसे इस मार्गका भी साधन न हो सकता हो तो मैं तुम्हें एक और उपाय बतलाता हूँ।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥

"इस तत्वके विषयमें कुछ भी भ्रम या भ्रान्ति नहीं है कि मैं ही समस्त शरीरोंमें निवास करता हूँ। और इसी प्रकार यह बात भी निर्विवाद रूपसे सिद्ध है कि यह सारा विश्व मुझमें ही निवास करता है। हर आदमीको ऐसी तैयारी करनी चाहिए कि उसकी समझमें यह बात अच्छी तरह आ जाय कि विश्व और हम बिलकुल एक हैं और एक दूसरेमें मिले हुए हैं। हे अर्जुन, सच तो यह है कि जो मनुष्य इस प्रकार ऐक्यकी भावना रखता हुआ मुझे ही समस्त भूतोंमें समान रूपसे मिला हुआ समझकर मुझे भजता है, भूत-मात्रमें केवल ऊपरसे दिखाई पड़नेवाले भेदके कारण जिसके अन्तःकरणमें किसी प्रकारका भेद-भाव हो ही नहीं सकता और जो सब जगह केवल मेरा ही एक स्वरूप देखता है, वह पुरुष इस प्रकारके कथनको बिलकुल निरर्थक कर देता है कि—"यही मैं हूँ।" (अर्थात् ऐसा पुरुष केवल अपने आपको ही "मैं" नहीं समझता, बल्कि सबको अपने समान और एक समझता है।) और हे अर्जुन, चाहे मैंने यह बात न कही हो, परन्तु फिर भी ऐसा पुरुष मैं ही हूँ। (अर्थात् ऐसे पुरुषको मुझसे भिन्न नहीं समझना चाहिए।) दीपक और उसके प्रकाशमें जिस प्रकारका एक भाव होता है,

८ उसी प्रकारका मेरा और उसका एक भाव होता है। ऐसा पुरुष मुझमें ही रहता है और मैं भी ऐसे ही पुरुषमें रहता हूँ। जिस प्रकार उदकके अस्तित्वके कारण रस रहता है अथवा गगनके मापके अनुसार ही अवकाश रहता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी मेरे ही रूपसे साकार रहता है।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

"जो मनुष्य एकात्मताकी दृष्टिसे मुझे समस्त भूतोंमें उसी प्रकार ओत-प्रोत समझता है, जिस प्रकार वस्त्रमें तन्तु होते हैं अथवा जिसका विचार उसी न्यायसे ऐक्य-भावसे स्थिर हो गया है, जिस न्यायसे आभूषण अनेक रूपोंवाले होने पर भी उन सबका अधिष्ठान सोना एक-रूप ही होता है अथवा जिसकी अज्ञान-रात्रि इस प्रकारके अद्वैत भावके सूर्योदयसे नष्ट हो गई है कि वृक्षमें जितने पत्ते दिखलाई पड़ते हैं, वे सब अलग अलग लगाये हुए नहीं हैं और वृक्षमें पत्ते भले ही बहुतसे दिखलाई पड़ें, परन्तु मूल वृक्ष एक ही होता है, ऐसा मनुष्य यदि पंचमहाभूतात्मक शरीरमें आ जाय तो भी वह उसी शरीरके बन्धनमें फँसा कैसे रह सकता है? वह तो अनुभवके प्रभावसे मेरे बराबर ही हो जाता है। उसे आत्मानुभवके कारण वही व्यापकता प्राप्त हो जाती है जो मुझमें है। और चाहे मैंने अभी यह बात न कही हो, परन्तु फिर भी वह स्वभावतः ही विश्व-व्यापक हो जाता है। अब यदि वह शरीरधारी भी हो तो भी उसे शरीरका अभिमान नहीं होता; और यह बात यदि शब्दों द्वारा स्पष्ट रूपसे बतलाई जा सकती तो अवश्य ही बतला दी जाती।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥३२॥

"परन्तु इस विषयका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। जो विश्वके स्थावर और जंगम समस्त पदार्थोंको अपने ही समान देखता और समझता है, जिसके मनमें सुख-दुःख आदिकी भावनाएँ अथवा शुभ और अशुभ कर्मोंके सम्बन्धमें कोई भेद-भाव नहीं होता, जो सम, विषम और विचित्र सभी प्रकारकी वस्तुओंको स्वयं अपने ही अवयवोंके समान समझता है, यहाँ तक कि जिसकी बुद्धिसे तीनों लोक ही आत्म-स्वरूप दिखलाई पड़ते हैं, उस पुरुषका भी शरीर होता ही है और लोक-व्यवहारमें प्रसंगके अनुसार उसे सुखी या दुःखी कहा जाता है। परन्तु मेरा अनुभव यह है कि ऐसा पुरुष सचमुच ब्रह्म-स्वरूप ही होता है। इसी लिए, हे अर्जुन, हमें अपने आपमें इस प्रकारके साम्यकी स्थापना करनी चाहिए कि हमें स्वयं अपने आपमें ही सारा विश्व दिखलाई पड़े और हम स्वयं ही विश्व-रूप हो जायँ। यह बात जो मैं तुमसे बार बार कह रहा हूँ, उसका मतलब यह है कि इस संसारमें इस साम्यसे बढ़कर और कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो प्राप्त करनेके योग्य हो। यही मनुष्यका परम श्रेष्ठ साध्य है।"

अर्जुन उवाच—

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥

इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव आपको मेरे कल्याणकी चिन्ता है, इसी लिए आप मुझसे इतनी बातें कह रहे हैं। परन्तु यह मन ही स्वभावतः ऐसा है कि इसके आगे हमारी कुछ भी नहीं चलती। यदि हम इस बातका विचार करना चाहें कि यह मन कैसा है और कितना बड़ा है तो इसकी थाह ही नहीं लगती। साधारणतः इसके विचरण करनेके लिए यह त्रैलोक्य भी छोटा है। फिर ऐसे मनको कैसे रोका जाय? क्या बन्दर कभी शान्त रह सकता है? यदि तेज आँधीसे कहा जाय कि तुम चुपचाप और स्थिर होकर बैठो, तो क्या वह कभी स्थिर और स्तब्ध हो सकती है? जो मन बुद्धिको भी चकमा देता है, स्वयं निश्चयको भी विचलित कर देता है, धैर्यके हाथ पर हाथ रखकर भी निकल भागता है, जो विवेकको भी भ्रममें डाल देता है, जो सन्तोषमें भी वासनाका दाग लगा देता है, जो उस समय भी दसों दिशाओंको हिला डालता है जिस समय हम स्वस्थ होकर बैठना चाहते हैं, जो दबाये रखने पर भी जोरोंसे उछलता है, निग्रह करनेका प्रयत्न करने पर भी जिसका आवेश और भी बढ़ जाता है, भला वह मन अपना चंचल स्वभाव कैसे छोड़ेगा? इसी लिए मुझे तो प्रायः ऐसा ही जान पड़ता है कि मेरा मन कभी स्थिर न होगा और मैं कभी साम्यावस्था तक न पहुँच सकूँगा।"

श्रीभगवानुवाच—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

इसपर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुम जो कुछ कहते हो, वह बहुत ही ठीक है। यह मन सचमुच ऐसा ही है। और भाई, चंचलता तो इस मनका स्वभाव ही है। पर फिर भी यदि वैराग्यका आश्रय लेकर इसे योगाभ्यासके मार्ग पर लगाया जाय तो कुछ समयमें यह भी स्थिर हो जायगा। इसका कारण यह है कि इस मनकी यह एक अच्छी आदत है कि इसे जिस बातका मजा मिल जाता है, फिर उसीका इसे चस्का लग जाता है। इसी लिए इसे घुमा-फिराकर और कौतुकके द्वारा आत्म-सुखका चस्का लगाना चाहिए।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥३६॥

"यह बात मैं मानता हूँ कि साधारणतः जो लोग विरक्त नहीं होते और जो अभ्यासका प्रयत्न नहीं करते, वे इस मनको अपने वशमें भी नहीं कर सकते। परन्तु यदि हम कभी यम-नियमोंके मार्गमें गये ही न हों, वैराग्यका कभी हमने ध्यान भी न किया हो और हम सदा विषय-समुद्रमें ही डूबे हुए पड़े रहें और इस मनका कभी

नियन्त्रण न करें तो फिर भला यह मन क्यों निश्चल होने लगा? इसी लिए तुम पहले ऐसे साधनोंका आरम्भ करो जिनके द्वारा मनका नियन्त्रण हो सकता हो; और तब देखो कि यह मन कैसे तुम्हारे वशमें नहीं आता। यदि तुम यह कहो कि मन कभी वशमें आ ही नहीं सकता, तो क्या योगके जो साधन आदि कहे जाते हैं, वे सब मिथ्या ही हैं? वे सब तो मिथ्या हैं नहीं; इसलिए तुम अधिकसे अधिक यही कह सकते हो कि मुझसे अभ्यास नहीं होता। यदि मनुष्यमें योगकी सामर्थ्य आ जाय तो फिर उसके सामने मनकी चंचलता क्या चीज है? क्या उस सामर्थ्यसे सब महा-तत्त्व आदि आदमीकी मुट्ठीमें नहीं आ जाते?" इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव, आप जो कुछ कहते हैं, वह बहुत ठीक है। सचमुच योगकी सामर्थ्यके सामने मनकी शक्ति बिलकुल नहीं चल सकती। परन्तु आज तक मुझे इस बातका पता भी नहीं था कि इस योगका किस प्रकार साधन करना चाहिए; इसी लिए मैं अब तक मनके अधीन बना हुआ हूँ। हे श्रीकृष्ण, इस समस्त जीवनमें केवल आपकी कृपासे मुझे इस योगका ज्ञान हुआ है।

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥३८॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥३९॥

"परन्तु हे गुरुराज! मेरे मनमें सहज ही एक शंका उत्पन्न हुई है। और उसका समाधान करनेकी सामर्थ्य आपके सिवा और किसीमें नहीं है। इसी लिए, हे श्रीगोविन्द, आप मेरी उस शंकाका समाधान करें। मान लीजिए कि कोई पुरुष योग-साधनाका उपाय तो नहीं जानता, परन्तु फिर भी वह बहुत अधिक श्रद्धासे मोक्ष-पद प्राप्त करनेका प्रयत्न आरम्भ करता है। वह इन्द्रियोंका ग्राम पीछे छोड़कर आत्मस्वरूपवाले दूरस्थ स्थान तक पहुँचनेके उद्देश्यसे श्रद्धावाले मार्गका अनुसरण करता है। परन्तु उसे आत्म-स्वरूपकी भी प्राप्ति नहीं होती और वह पीछे भी नहीं लौट सकता। इस प्रकार वह बीचमें ही पड़ा रह जाता है और इसी बीचमें उसकी आयुष्यका सूर्य अस्त हो जाता है। जिस प्रकार अ-समयमें सहज ही बादलका हलका और पतला टुकड़ा बीचमें आ तो जाता है, परन्तु न तो वह ठहरता ही है और न वर्षा ही करता है, उसी प्रकार वह पुरुष भी दोनों ही बातोंसे अलग हो जाता है। कारण यह कि उसके लिए आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति तो दूर ही रहती है और अपने श्रद्धा-बलसे वह जिन इन्द्रिय-सुखोंका परित्याग करता है, उनसे भी वह वंचित हो जाता है। इस प्रकार वह श्रद्धाके फेरमें पड़कर दोनों तरफसे जाता है—न इधरका होता है, न उधरका। ऐसे मनुष्यकी क्या गति होती है।"

श्रीभगवानुवाच—

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥४०॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, जिसके मनमें मोक्ष-सुखके विषयमें श्रद्धा होती है, भला उसकी मोक्षके सिवा और कौन सी गति हो सकती है? परन्तु ऐसी अवस्थामें एक बात होती है। वह यह कि उसे बीचमें ही रुककर विकल होना पड़ता है। परन्तु उस विकलतामें भी ऐसा सुख है जो देवताओंको भी जल्दी नहीं मिलता। परन्तु वही पुरुष यदि अभ्यासके मार्गमें उसी प्रकार आगे बढ़ता चला जाता, जिस प्रकार उसने आरम्भमें उस मार्ग पर चलनेके लिए पैर उठाया था, तो निश्चय ही आयुष्य-सूर्यके अस्त होनेसे पहले ही और जीवन-रूपी दिन रहते ही सोऽहं-सिद्धिके स्थान तक अवश्य ही जा पहुँचता। परन्तु उसमें इतना अधिक वेग नहीं होता, इसलिए उसका बीचमें ही कुछ रुकना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। लेकिन इतना होने पर भी अन्तमें उसे मोक्षकी प्राप्ति होती ही है।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥

"ऐसे पुरुषके सम्बन्धमें एक और भी विलक्षण बात सुनो। जिन लोकोंकी प्राप्तिके लिए इन्द्रको भी अनेक कष्ट करने पड़ते हैं, वे सब लोक मुमुक्षुको अनायास ही मिल जाते हैं। फिर उन लोकोंमें जो सदा ज्योंके त्यों बने रहनेवाले और दिव्य भोग होते हैं, उन सबका भोग करते करते वे लोग उकता जाते हैं। उन भोगोंको भोगते समय उनके मनमें ग्लानि उत्पन्न होती होगी और वे कहते होंगे—"हे भगवन्, यह कहाँका व्यर्थका झगड़ा तुमने हमारे पीछे लगा दिया!" इसके उपरान्त वे फिर मृत्यु-लोकमें जन्म-धारण करते हैं। परन्तु उनका जन्म बहुत ही धर्मशील कुलमें होता है। जिस प्रकार अच्छी तरह तैयार फसलमें धान्यकी लम्बी लम्बी बालें उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार वे भी ऐश्वर्य-रूपी धान्यकी बालोंके समान खूब जोरोंसे बढ़ते हैं। वह सदा नीति-मार्गके अनुसार आचरण करते हैं, सत्य वचन बोलते हैं, प्रत्येक बातको शास्त्रकी दृष्टिसे देखते हैं, वेदको ही अपना जीता-जागता देवता समझते हैं, केवल स्वधर्मका ही आचरण करते हैं और सारासार-विचारको ही अपना परामर्शदाता बनाते हैं। उनके कुलमें ईश्वरको छोड़कर चिन्तनका और कोई विषय ही नहीं होता और वे अपने कुलके पूज्य देवताको ही समस्त ऐश्वर्य और सम्पत्ति समझते हैं। इस प्रकार वे योग-भ्रष्ट पुरुष अपने पुण्योंका उपयुक्त फल प्राप्त करके और सब प्रकारके सुखोंकी बढ़ती हुई सम्पत्ति भोगते हुए उस जन्ममें सुखी होते हैं।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥
तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥

"अथवा जो योगी ज्ञान-रूपी अग्निकी सेवा करते हैं, जो लोगोंको परब्रह्मका उपदेश देते हैं, जो आत्मानन्दके जागीरदार हैं, जो महासिद्धांतका रहस्य जानकर तीनों भुवनोंके राजा हो चुके होते हैं, जो सन्तोषके वनमें पंचम स्वरमें आलाप करने वाली कोकिलके ही समान जान पड़ते हैं और जो निरन्तर फल देनेवाले विवेक-वृक्ष की जड़के पास ही बैठे रहते हैं, उन योगियोंके कुलमें वे योग-भ्रष्ट लोग जन्म धारण करते हैं। जिस समय उनकी छोटी-सी मूर्ति प्रकट होती है, उसी समय साथ ही साथ आत्म-ज्ञानका उषःकाल भी होता है। जिस प्रकार सूर्यका उदय होने से पहले उसका प्रकाश प्रकट होता है, उसी प्रकार प्रौढ़ावस्था आनेके पहले ही और बिना पक्व वयस की अपेक्षा किये ही बाल्यावस्था में ही उनमें सर्वज्ञताका संचार हो जाता है। उस पक्व बुद्धिके प्राप्त हो जाने पर उनके मनको सब विद्याओंका प्रसाद आपसे आप मिल जाता है और तब उनके मुखसे सब शास्त्र स्वभावतः ही प्रकट होते हैं। जिस प्रकारका जन्म प्राप्त करने के लिए स्वर्गमें बैठे रहनेवाले देवता भी ध्यान लगाकर जप-होम आदि करते हैं और मृत्यु-लोकके महान् वैभवकी भाटोंके समान स्तुतियाँ करते हैं, भाई अर्जुन, वही जन्म उस योग-भ्रष्ट पुरुषको प्राप्त होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

"पिछले जन्ममें उनकी सुबुद्धिके जिस सीमा तक पहुँचने पर उनके आयुष्यकी डोरी टूटी थी, उसी सीमा से आगे उन्हें नई और असीम सुबुद्धि प्राप्त होती है। इतना होने पर जिस प्रकार किसी भाग्यवान् और पैरोंके बल जन्म लेने वाले मनुष्य की आँखोंमें दिव्यांजन लगाया जाय और तब उसे जिस प्रकार जमीनके अन्दर छिपे हुए खजाने सहजमें दिखाई पड़ने लगें, ठीक उसी प्रकार ऐसे पुरुषकी बुद्धि भी उन समस्त गूढ़ रहस्यों और सिद्धान्त-तत्वोंको आपसे आप और बिलकुल ठीक जानने लगती है, जिनका ज्ञान साधारणतः गुरुके उपदेशसे हुआ करता है। उसकी प्रबल इन्द्रियाँ उनके मनके वश में हो जाती हैं, मन वायुके साथ मिलकर एक-जीव हो जाता है और वह वायु आपसे आप चिदाकाशके साथ मिलकर सम-रस होने लगती है। अभ्यास स्वयं ही उसे इस अवस्था तक जा पहुँचाता है; और इस बातका जल्दी पता ही नहीं चलने पाता कि आत्म-समाधि उसके मन-रूपी घरका हाल-चाल पूछनेके लिए स्वेच्छापूर्वक चली आ रही है या और कोई बात है। ऐसे पुरुषको योग-स्थलका अधिदेवता अथवा मूल स्वरूपकी महत्ता अथवा वैराग्य-बुद्धिकी प्रतीतिकी प्रत्यक्ष अवतरित मूर्ति ही समझना चाहिये। जान पड़ने लगता है कि ऐसा पुरुष संसार को नापने का माप है अथवा अष्टांग योग के साहित्यका द्वीप है। जिस प्रकार सुगन्धि चन्दन का रूप धारण करती है, उसी प्रकार ऐसा जान पड़ता है कि सन्तोष इस पुरुष के रूप में प्रकट हुआ है अथवा साधक दशामें ही सिद्धियोंके भांडारसे निकला है। तात्पर्य यह कि चाहे देखनेमें वह भले साधक दिखाई पड़ता हो; परन्तु स्पष्ट रूपसे यही जान पड़ता है कि वह वास्तव में सिद्ध ही है।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

जिस प्रकार करोड़ों वर्षों और हजारों जन्मों के प्रतिबन्धोंको पार करता हुआ वह आत्म-सिद्धिके पास तक पहुँचता है, उसी प्रकार मोक्ष-सिद्धिके समस्त साधन आपसे आप उसके पीछे आ लगते हैं। और इसी लिए वह सहज में ही विवेक-साम्राज्यका स्वामी हो जाता है। इसके उपरान्त उस विवेकका भी विचार करनेका वेग कुण्ठित हो जाता है—अर्थात् विवेक भी जितना चाहिये, उतना विचार नहीं कर सकता—और तब वह उस परब्रह्मके साथ एकरूप हो जाता है जो विचारके क्षेत्रमें किसी प्रकार आ ही नहीं सकता। उस समय मनके ऊपर छाया हुआ मेघ हट जाता है, वायुका वायुत्व भी नष्ट हो जाता है और चिदाकाश भी अपने आपमें ही लुप्त हो जाता है। उसे वह अगाध और शब्दातीत सुख प्राप्त होता है, जिनमें ओंकार भी सिर तक डूब जाता है; इसी लिए उसका वर्णन करनेमें भाषा भी पहलेसे ही अपने आपको असमर्थ देखकर पीछे हट जाती है। इस प्रकारकी जो ब्राह्मी स्थिति है और जिसे "परम गति" कहते हैं, उस निराकार अवस्था-की वह मूर्ति ही बन जाता है। वह अपने पिछले अनेक जन्मोंका विपरीत ज्ञान रूपी जलमेंका मल साफ कर चुका होता है, इसलिए उस अवस्थाके पास पहुँचते ही उसके सब विकट प्रसंग उसी पानीमें डूब जाते हैं। ब्रह्म-स्थितिके साथ उसका शुभ विवाह-सम्बन्ध हो जाता है और वह उसी स्थिति में मिलकर उसके साथ एकरूप हो जाता है। जिस प्रकार फटा और बिखरा हुआ मेघ आकाशके रूपमें बदल जाता है, उसी प्रकार वह अपना वर्तमान शरीर धारण किये रहने पर भी वही ब्रह्म बन जाता है जिसमेंसे समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है और फिर जिसमें विश्व विलीन हो जाता है।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

"जिस लाभकी आशासे धैर्यके हाथका आश्रय लेकर कर्म-कांडी लोग षट्कर्मके प्रवाह में कूद पड़ते हैं अथवा जिस एक वस्तुके लिये ज्ञानी लोग ज्ञानका अभेद्य कवच धारण करके समरभूमिमें संसारके साथ दो हाथ लड़ जाते हैं अथवा तपोनिष्ठ लोग अपने मनमें जिसकी अभिलाषा रखकर तप रूपी विकट गढ़के टूटे-फूटे, फिसलनवाले और दुर्गम कगार पर चढ़नेका प्रयत्न करते हैं, जो भक्तोंके लिए भक्तिका विषय और याजकोंके लिए यज्ञ-देवता है, तात्पर्य यह कि जो सभी लोगोंके लिए और सभी कालोंमें पूज्य है, वही परब्रह्म वह स्वयं हो जाता है;और जिस विचारसे यह सिद्ध तत्वही समस्त साधकोंका साध्य होताहै, उसी विचार से वह कर्म-निष्ठोंके लिए वन्दनीय होता है, ज्ञानियोंके लिए ज्ञानका विषय होता है और तपस्वियोंके लिये तपस्याका अधिदेवता होता है। जिसके मनोधर्मके साथ इस प्रकार जीवा-त्माका संगम होता है, वह शरीर-धारी होने परभी यह महिमा या महत्व प्राप्त करही लेता है। इसीलिये, हे अर्जुन, मैं तो तुम्हें सदाके लिए यही उपदेश देता हूँ कि तुम योगी बनो।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

"जिसे लोग योगी कहते हैं, उसे देवोंका भी देव समझना चाहिए। वह मेरा सुख-सर्वस्व बल्कि प्राण ही होता है। भक्ति, भजन और भजनीय जो भक्ति-साधनकी त्रिपुटी है, उनके सम्बन्धमें पुरुषका अखंड अनुभव यही होता है कि वह तीनों मैं ही हूँ। अर्थात् वह भक्त, भजन और भजनीय सब कुछ मुझको ही समझता है। उस पुरुषमें और मुझमें परस्पर जो प्रीति होती है, उसका वाणीसे कभी वर्णन हो नहीं हो सकता। उसमें जो तन्मयता होती है, यदि उसके लिए किसी ऐसी उपमाकी आवश्यकता हो जो प्रेमके विचारसे भली और उपयुक्त जान पड़े, तो उसकी यही उपमा हो सकती है कि-मैं शरीर हूँ और वह आत्मा है।" इस प्रकार भक्त-चकोरोंको आनन्द देनेवाले चन्द्रमा, सद्गुणों-के सागर और तीनों भुवनोंमें नर-श्रेष्ठ श्रीकृष्णने अर्जुनसे जो कुछ कहा था, वह सब संजयने धृतराष्ट्रको कह सुनाया। उस समय तक श्रीकृष्णकी समझमें यह बात अच्छी तरह आ चुकी थी कि आरम्भसे ही अर्जुनमें उपदेश सुननेकी जो श्रद्धा-युक्त उत्कंठा थी, वह अब बढ़कर दूनी हो गई है। इसलिए श्रीकृष्णके मनमें स्वभावतः ही सन्तोष हुआ। श्रीकृष्णको यह जानकर बहुत आनन्द हुआ कि जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार अर्जुनकी मुद्रा पर मेरे भाषणका भी प्रतिबिम्ब दिख-लाई पड़ रहा है और उसी आनन्दके कारण वे अब यह प्रकरण और भी विस्तारपूर्वक अर्जुनको बतलावेंगे। वह प्रसंग अगले अध्यायमें आवेगा। उस प्रसंगमें शान्त रस इतने स्पष्ट उत्कर्षको प्राप्त होगा कि उसमें महा-सिद्धान्त रूपी बीजोंमें अंकुर निकलते हुए दिखाई देंगे। इसका कारण यह है कि सात्विक भावनाओंकी वृष्टिसे आत्म-भावनाके ढेले फूट और गल गये हैं और श्रोताओंके चतुर चित्तकी क्यारियाँ बीज धारण करनेके लिए तैयार हो गई हैं। तिस पर चित्तकी एक-तानताको सोनेके समान प्राप्त होनेके कारण श्रीनिवृत्तिनाथके मनमें भी सिद्धान्त-बीज बोनेका उत्साह उमड़ पड़ा है। इसलिए यह निवृत्ति-दास ज्ञानदेव कहता है कि श्रोता-गण, इस बीज बोनेके काममें मुझे श्रीसद्गुरु-ने वह चोंगा बनाया है, जिसमें डालकर बीज बोये जाते हैं और मेरे मस्तक पर हाथ रखकर मेरे हृदयमें बोये जानेवाले बीज डाले हैं। इसी लिए मेरे मुखसे जो जो बातें निकलती हैं, वह सन्तोंके हृदयमें तुरन्त ही अच्छी तरह बैठ जाती हैं। परन्तु बहुत कुछ विषयान्तर हो चुका। अब मैं यह बतलाऊँगा कि श्रीकृष्णने इसके उपरान्त अर्जुनसे और क्या कहा। परन्तु श्रोताओंको वे सब बातें मनके कानोंसे सुननी चाहिएँ, बुद्धिकी आँखोंसे देखनी चाहिएँ, और अपना चित्त मुझे देकर मेरी बातें ग्रहण करनी चाहिएँ। और हम लोगोंमें इस प्रकारका विनिमयका व्यवहार होना चाहिए। फिर सावधानताके हाथोंसे ये सब बातें उठाकर अपने हृदयके भीतरी भागमें भरनी चाहिएँ, तब सज्जनोंकी वासना पूरी होगी। ये बातें आत्म-कल्याणको हस्तगत कराती हैं, परिणाममें सजीवता लाती हैं और जीव पर सुखोंकी लखौरी माला चढ़ाती हैं। अब अर्जुनके साथ श्रीकृष्णका जो सुन्दर और चातुर्य-पूर्ण सम्भाषण हुआ था, वह मैं श्रोताओंको बतलाता हूँ।

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

हे श्रोता-गण सुनिये, इसके उपरान्त श्रीकृष्णने पार्थसे कहा—"हे अर्जुन, अब तुम सचमुच योग-युक्त हो गये हो। अब मैं तुम्हें ऐसा ज्ञान और विज्ञान अर्थात् प्रपंचज्ञान बतलाऊँगा जिसमें तुम मुझे उसी प्रकार सब अंगोंसे भली-भाँति जान लो, जिस प्रकार अपनी हथेली पर रखे हुए रत्नको लोग जान लेते हैं। सम्भव है कि तुम अपने मनमें यह कहते हो कि इस प्रापंचिक ज्ञानसे मुझसे क्या मतलब? तो मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि पहले प्रपंचोंका ही ज्ञान प्राप्त कर लेना बहुत आवश्यक है। क्योंकि फिर जब ज्ञान-का प्रसंग आता है, तब इस प्रापंचिक ज्ञातृत्वकी आँखें बन्द हो जाती हैं। जिस प्रकार किनारे पर लगी हुई नाव हिलती-डुलती नहीं, उसी प्रकार जहाँ प्रापंचिक ज्ञातृत्वकी भी पहुँच नहीं होती, जहाँसे विचार भी पीछे लौट आता है और जिसका रास्ता तर्कको भी नहीं मिलता, हे भाई अर्जुन, उसीको "ज्ञान" कहते हैं। ज्ञानसे भिन्न जो कुछ है, वह सब प्रपंच है और उसीको "विज्ञान" कहते हैं; और इस प्रकारकी जो कल्पना होती है कि यह प्रपंच सत्य है, इसीको "अज्ञान" समझना चाहिए। अब मैं तुम्हें वह गूढ़ रहस्य बतलाता हूँ जिससे अज्ञानका लोप हो जाता है, विज्ञान नष्ट हो जाता है और हम केवल ज्ञान-स्वरूप हो सकते हैं। जब ऐसी अवस्था हो जाती है, तब वक्ताकी बातोंका अन्त हो जाता है, श्रोताकी श्रवण करनेकी लालसा भी समाप्त हो जाती है और छोटे-बड़ेका भेद-भाव भी बाकी नहीं रह जाता। यदि इस प्रकारके गूढ़ रहस्यका मनुष्यको थोड़ा-सा भी ज्ञान हो जाय, तो भी उसके मनका बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥ ३ ॥

हजारों आदमियोंमें कभी कोई एकाध आदमी ही ऐसा होता है, जिसकी इन बातोंकी ओर रुचि होती है; और इस प्रकारकी रुचि रखनेवाले बहुत-से आदमियोंमें सच्चा ज्ञानी कोई विरला ही दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार सारे संसारमेंसे एक साहसी वीरको चुनकर सेनाके लाखों आदमियोंकी भरती की जाती है अथवा फौज भरती कर चुकने पर भी जिस प्रकार युद्ध-क्षेत्रमें खनखनाती हुई तलवारोंके द्वारा बहुत-से लोगोंके टुकड़े टुकड़े उड़ जाने पर विजय-लक्ष्मीके सिंहासन पर कोई विरला

पुरुष ही बैठता है, वैसे ही इस ब्रह्म-ज्ञान रूपी जलाशयमें भी करोड़ों आदमी कूदते हैं, परन्तु उस जलाशयके उस पार कोई विरला ही पहुँचता है। इसी लिए मैं कहता हूँ कि यह कोई साधारण बात नहीं है। यह कहनेमें भी बहुत ही गहन और कठिन है। पर फिर भी मैं तुम्हें यह बात बतलानेका प्रयत्न करूँगा। तुम सुनो।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥

"हे पार्थ, जिस प्रकार मनुष्यके शरीरकी छाया पड़ती है, उसी प्रकार यह महत्तत्व आदि माया भी मेरी छाया या परछाँहीं ही है। इसी मायाका दूसरा नाम प्रकृति है। यह माया आठ प्रकारकी है और यही तीनों लोकोंको जन्म देती है। यदि तुम्हारे मनमें यह शंका हो कि इसके आठ भेद कौन से हैं, तो मैं बतलाता हूँ, सुनो। अप, तेज, आकाश, पृथ्वी, वायु, मन, बुद्धि और अहंकार यही प्रकृतिके आठ भेद हैं।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

"हे अर्जुन इन्हीं आठों भेदोंकी जो साम्यावस्था है, उसीको तुम मेरी परम प्रकृति समझो। इसीका नाम "जीव" है। क्योंकि यही निर्जीव शरीर को सजीव करती है, यही शरीरमें गति आदि उत्पन्न करती है और यही मनको शोक, मोह आदि विकारोंका भास कराती है। बुद्धिका जो ज्ञातृत्व है, वह भी इस परम मायाके सहवासका ही फल है और इसीसे उत्पन्न होनेवाले अहं-भावने इस संसारका अस्तित्व बनाये रखा है।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

"यह सूक्ष्म प्रकृति जब अपनी इच्छासे स्थूल महाभूतोंके अंगोंसे युक्त होती है, तब भूत सृष्टिकी—अर्थात् प्राणी मात्रकी उत्पत्तिकी—मानों टकसाल ही खुल जाती है। इस टकसालमेंसे चार प्रकारके प्राणी रूपी सिक्के आपसे आप निकलने लगते हैं। ये चारों प्रकारके सिक्के जरायुज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज हैं। मूल्यके विचारसे तो ये चारों प्रकारके सिक्के समान ही हैं, परन्तु केवल जाति या वर्गके विचारसे ये एक दूसरेसे भिन्न होते हैं। इन जातियोंके सब मिलाकर चौरासी लाख भेद हैं। इनके सिवा मुख्य वर्गोंमें और जो उपवर्ग हैं, उनकी तो कोई गिनती ही नहीं है। इसी प्रकारके प्राणी रूपी असंख्य सिक्कोंसे उस निर्गुण, निराकार और अव्यक्त बीजका भांडार भर जाता है। इस प्रकार पंच-महाभूतोंके बराबरकी तौलके इतने अधिक सिक्के हो जाते हैं कि केवल प्रकृति ही उनकी गिनती कर सकती है। जिन सिक्कोंको वह पहले ढालकर तैयार करती है, उन्हींको वह फिर बादमें गला भी डालती है। केवल उनकी मध्य या अस्तित्ववाली अवस्थामें ही वह उनके द्वारा कर्माकर्म का व्यवहार कराती है। परन्तु अब इस रूपकालंकारका यहीं अन्त किया जाता है। अब मैं यह बात ऐसे सीधे-सादे और सरल शब्दोंमें बतलाता हूँ जिससे यह सहजमें ही समझमें आ सके। यह प्रकृति—अर्थात् माया—ही विश्वकी उन सब वस्तुओंका प्रसार करती है, जिनकी नाम और

रूपके द्वारा प्रतीति होती है। और वह प्रकृति मुझमें ही सम-रस होकर रहती है, इसलिए इस समस्त जगतका आदि, मध्य और अन्त मैं ही हूँ।

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

"यह जो मृग-जल हम लोगोंको दिखलाई पड़ता है, यदि इसका मूल कारण ढूँढ़ा जाय तो पता चलता है कि वह कारण केवल किरण ही नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष सूर्य ही है। उसी प्रकार, हे अर्जुन, इस प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाली सृष्टिका जिस समय अन्त होगा और वह फिर अपनी मूल स्थितिमें जाकर ज्योंकी त्यों समा जायगी, उस समय यह केवल मेरे ही रूपकी हो जायगी; अर्थात् यह मुझमें ही लीन हो जायगी; और उस समय केवल मेरा ही रूप रह जायगा। इस प्रकार जो यह विश्व उत्पन्न होकर फिर विलीन हो जाता है, वह सदा मुझमें ही रहता है। जिस प्रकार डोरेमें मणियाँ पिरोई रहती हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी मुझमें ही रहता है। जिस प्रकार सोनेकी बनी हुई मणियाँ सोनेके ही तारमें पिरोई रहती हैं, उसी प्रकार इस विश्वको अन्दर और बाहर सब ओरसे मैं ही धारण किये रहता हूँ।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥
पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥

"इसी लिए, हे भाई अर्जुन, तुम यह समझ रखो कि पानीमें जो रस-गुण है अथवा वायुमें जो स्पर्श-गुण है अथवा चन्द्रमा और सूर्यमें जो तेज-गुण है, वह मैं ही हूँ। इसी प्रकार पृथ्वीमें रहनेवाला गन्ध-गुण, आकाशमें रहनेवाला शब्द-गुण और वेदोंमें रहनेवाला ओंकार-स्वरूप प्रणव सब स्वाभाविक शुद्ध हैं, अर्थात् ये सब भी मैं ही हूँ। मैं यह मुख्य तत्व पहले ही तुम्हें बतला चुका हूँ कि मनुष्योंमें होनेवाला जो मनुष्यत्व है और जिस अहं-भावके बलको "पौरुष" कहते हैं, वह भी मैं ही हूँ। तेज पर "अग्नि" नामका जो आवरण है, उसे दूर कर देने पर जो केवल स्वरूप-तेज बाकी बच रहता है, वह भी मैं ही हूँ। इस त्रिभुवनमें भूत-मात्र अनेक प्रकारकी योनियोंमें जन्म लेकर अपने अपने विशिष्ट मार्गका निर्वाह करते रहते हैं। कोई वायु पीकर रहते हैं, कोई तृण खाकर जीवन-यात्राका निर्वाह करते हैं और कोई अन्नसे अपनी जीविका निर्वाह करते हैं और कोई केवल पानी पर ही जिलाये जाते हैं। इस प्रकार भिन्न भिन्न प्राणियोंके जीवनके जो स्वभावतः भिन्न भिन्न साधन हुआ करते हैं, उन सब साधनोंमें मैं ही अभिन्न स्वरूपसे निवास करता हूँ।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥१०॥
बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ॥११॥

"जो उत्पत्तिके समय आकाशके अंकुरके साथ साथ विस्तृत होता है और विश्वका संहार होनेके समय जो ओंकारके अ, उ और म अक्षर भी नष्ट कर देता है, जो अस्तित्व रखनेवाले इस दृश्यमान् जगत पर विश्वके आकारमें जान पड़ता है और महाप्रलयका समय आने पर जो ऊपरसे देखनेमें नष्ट हो जाने पर भी वास्तवमें कभी नष्ट नहीं हो सकता वह स्वयं-सिद्ध और अनादि विश्व-बीज भी मैं ही हूँ। यह गूढ़ ज्ञान मैं तुमको सुलभ किये देता हूँ। हे अर्जुन, जब तुम इस ज्ञानका आत्म और अनात्मके विचारसे सामंजस्य स्थापित करोगे, तब इसके वास्तविक महत्वका तुम्हें अनुभव होगा। परन्तु अब इस विषयान्तरको छोड़ देना चाहिए। अब मैं तुम्हें एक और बात थोड़ेमें बतलाता हूँ। तपस्वियोंकी जो तपस्या है, उसे भी तुम मेरा ही रूप समझो। बलवानोंका बल और बुद्धिमानोंकी बुद्धि भी मैं ही हूँ, भूत-मात्रमें अर्थार्जनके द्वारा धर्मका विपुल संग्रह करनेकी जो शुद्ध काम-वासना है, वह भी आत्म-स्वरूपमें रमण करनेवाला मैं ही हूँ। यह शुद्ध काम यद्यपि सामान्यतः विकारोंके प्रवाहके अनुसार इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेवाले कर्म करता है, तो भी वह इन्द्रियोंको उनके धर्मके विरुद्ध नहीं जाने देता। यह काम कर्म-सन्यासका टेढ़ा-तिरछा रास्ता छोड़कर विधियुक्त कर्माचरणके राज-मार्ग पर लगता है और नियमितताकी मशाल सदा इसके साथ रहती है। जब इस प्रकार सावधानीसे काम होने लगता है, तब धर्मकी पूर्णता हो जाती है और तब संसारका उपभोग करनेवाले पुरुष भी मोक्ष-तीर्थके मुक्त जन हो जाते हैं। वेदोंमें गाये हुए महत्वके मंडप पर जो काम विश्वकी बेल इस प्रकार चढ़ाता है कि उसमें लगनेवाली कर्मकी शाखा फल-भारसे झुककर अन्तमें मोक्ष पर आ लगती है, वह सब प्रकारका और समस्त भूतोंका उद्भव करनेवाला बीज रूप काम भी मैं योगिश्रेष्ठ परमात्मा ही हूँ। लेकिन इस प्रकार एक एक बात तुम्हें कहाँ तक बतलाई जाय। सारांश यही है कि समस्त वस्तुएँ मुझसे विस्तार प्राप्त करती हैं—सबका विस्तार मैं ही करता हूँ।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥१२॥

"जितने सात्विक, राजस और तामस विचार होते हैं, वे सब भी मेरे ही स्वरूपसे उत्पन्न होते हैं। यह बात तुम अच्छी तरह ध्यानमें रखो। यदि ये विकार उत्पन्न हो तो वे भी मुझमें ही उत्पन्न होते हैं; परन्तु जिस प्रकार स्वप्नावस्थाके दहमें जाग्रत अवस्था नहीं होती, उसी प्रकार इन विकारोंमें भी मैं नहीं रहता। बीज-कण वास्तवमें रस द्रव्यका ही बना हुआ और उसीसे भरा हुआ होता है; परन्तु अंकुर और डालियोंमें जो कठिन रूप-वाली लकड़ी होती है, वह उसी बीज-कणसे बनी हुई होती है। परन्तु फिर भी क्या कभी उस लकड़ीमें कहीं बीजका गुण रहता है? इसी प्रकार चाहे ऊपरसे देखनेमें भले ही यह जान पड़े कि मुझमें ही विकार उत्पन्न हुए हैं, तो भी मैं उन विकारोंमें नहीं रहता। आकाशमें मेघ तो आते हैं, परन्तु मेघोंमें आकाश नहीं रहता। मेघोंमें जल तो होता है, परन्तु उस जलमें मेघ नहीं रहते। फिर मेघोंमें रहनेवाले जलमें जब क्षोभ होता है, तब उसमें बिजलीकी चमक दिखाई पड़ती है। परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उस

चमकनेवाली बिजलीमें पानी रहता है? आगसे धूआँ निकलता है; परन्तु क्या उस धूएँमें भी कभी आग रहती है? इसी प्रकार मुझ पर बिकार होते हैं, परन्तु वह बिकार मैं नहीं हूँ।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥

"जलमें उत्पन्न होनेवाली सेवार जिस प्रकार सारे जलमें छा जाती है और उसे ढक लेती है अथवा जिस प्रकार मेघोंसे सारा आकाश आच्छादित हो जाता है अथवा स्वप्नको यद्यपि मिथ्या कहा जा सकता है, परन्तु फिर भी जब तक निद्राकी सत्ता रहती है, तब तक स्वप्न जिस प्रकार सत्य जान पड़ता है और हमें स्वयं अपनी ही स्मृति नहीं रहती अथवा आँख ही अपनी पुतली पर जो मोतियाबिन्दकी तरहका जाला उत्पन्न कर देती है और वह जाला जिस प्रकार आँखोंकी देखनेकी शक्ति नष्ट कर देता है, उसी प्रकार वह त्रिगुणमयी माया भी मेरी छाया या परछाँही है और वह मेरे आत्म-स्वरूपकी आड़में ही परदेकी तरह पड़ी हुई है। इसी लिए ये प्राणी मुझे पहचान नहीं सकते। वे मुझसे ही हुए हैं, परन्तु यह बात नहीं है कि जो कुछ वे हैं, वह मैं ही हूँ। पानीमें ही उत्पन्न होनेवाला मोती जिस प्रकार पानीमें कभी नहीं घुलता अथवा जिस प्रकार मिट्टीका घड़ा बनाकर उसे तुरन्त ही फिर मिट्टीके साथ मिला दिया जाय तो वह मिट्टीके साथ एक जीव हो जाता है, परन्तु यदि वही घड़ा अग्नि संस्कार करके पका लिया जाय, तब वह मिट्टीसे भिन्न स्वरूपवाला हो जाता है, उसी प्रकार ये सब जितने भूत हैं, वे सब हैं तो मेरे ही अंश, परन्तु प्रकृतिके योगसे वे सब जीव-दशाको प्राप्त हुए हैं। इसी लिए वे मेरे हैं, परन्तु "मैं" नहीं हैं। वे मेरे ही हैं, परन्तु फिर भी वे मेरा स्वरूप नहीं पहचानते, क्योंकि अहंकार, ममता और भ्रमके कारण वे विषयान्ध हो रहे हैं।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥

"हे अर्जुन, अब प्रश्न यह होता है कि महत्व आदि जो मेरी माया है, उससे पार होकर मेरा मूल स्वरूप किस प्रकार प्राप्त करना चाहिए। परब्रह्म रूपी पर्वतके शिखर पर मूल संकल्प रूपी जलके साथ साथ जो माया-नदीका छोटा सा महाभूत रूपी बुलबुला उत्पन्न होता है, इसके उपरान्त जो सृष्टि-रचनाके प्रभावसे और काल-क्रमसे बराबर बढ़ते हुए वेगसे कर्म-मार्ग और मोक्ष-मार्ग इन दो ऊँचे तटोंमेंसे होता हुआ जल-स्रोत मनमाने ढंगसे इधर उधर चलता है, फिर सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंकी वर्षाके कारण अच्छी तरह भर कर अपनी मोह-रूपी बाढ़के द्वारा यम या मनो-निग्रह और नियम या इन्द्रिय-निग्रह रूपी नगरोंको बहा ले जाता है, जिसमें जगह जगह द्वेषके भँवर पड़ते रहते हैं, मत्सरके चक्कर पड़ते रहते हैं और उन्माद आदिके भयंकर मगरमच्छ दिखाई पड़ते हैं, जिसमें प्रपंच-रूपी बहुतसे मोड़ हैं और कर्माकर्मकी लहरों पर सुख-दुःखका कूड़ा-कर्कट लहराता रहता है, जिस नदीमें विषय-विलास रूपी टापू पर वासनाओंकी लहरें टकराती रहती हैं और जीव रूपी फेनके पुंज फैले हुए दिखाई पड़ते हैं, जिस नदीके अहंकार रूपी प्रवाहमें विद्या-मद, धन-मद और बल-मद तीनोंकी लहरें

उठती रहती हैं और विषय-वासनाके हिलोरे आते रहते हैं, जिसमें उदय और अस्तकी बाढ़के कारण जन्म-मरणके दह पड़ते हैं और उनमें पंचभूतात्मक सृष्टिके बुलबुले बराबर उठते हैं, जिस नदीमें मोह और भ्रम आदिकी मछलियाँ धैर्यका मांस नोच नोचकर खाती रहती हैं और तब टेढ़े-तिरछे अज्ञानके चक्कर खाती हुई इधर-उधर घूमती रहती हैं और जिस माया-नदीमें भ्रमके गँदलेपनके कारण श्रद्धाकी दलदल बनती है और रजोगुणके गर्जनका शब्द स्वर्ग तक सुनाई पड़ता है, जिस माया-नदीमें तमोगुणका प्रवाह बहुत अधिक और बहुत प्रबल रहता है और सत्व रूपी दहोंको तैरकर पार करनेका काम बहुत ही कठिन होता है, वह माया-नदी बहुत ही दुष्ट और कठिन है। इसमें जन्म और मृत्युकी जो बाढ़ आती है, उसके कारण सत्यलोकके गढ़ ढह जाते हैं और ब्रह्मांड रूपी बड़ी बड़ी चट्टानें भी लड़खड़ाकर गिरने लगती हैं। इस माया-नदीके जलके प्रचंड वेगके कारण अभी तक उसकी लहरें रुकती ही नहीं। फिर भला इस प्रकारकी माया-रूपी बाढ़को तैरकर कौन पार कर सकता है? इसमें एक और विलक्षण बात यह भी है कि इस माया रूपी नदीको तैरकर पार करनेके लिए जो जो उपाय किये जाते हैं, उनसे उलटे और भी अपकार ही होता है। अब यह सुनो कि ये अपकार किस प्रकार होते हैं। कुछ लोग तो स्वयं अपनी बुद्धिके भरोसे इस नदीमें प्रवेश करते हैं, पर वे शीघ्र ही सारी सुध-बुध भूल जाते हैं। कुछ लोग अज्ञानके वहमें अभिमानके मुखमें जा पड़ते हैं। कुछ लोग इसे तैरकर पार करनेके लिए अपनी कमरमें तीनों वेदोंका जो तूँबा बाँधते हैं, उसके साथ ही साथ अहंकारका एक बड़ा पत्थर भी अपनी कमरमें बाँध लेते हैं और उस अवस्थामें उन्मादकी मछली उन्हें समूचा ही निगल जाती है। कुछ लोग अपनी युवावस्थाके भरोसे ही इसे पार करना चाहते हैं, परन्तु वे विषय-लम्पटताके फेरमें पड़ जाते हैं और उन्हें विषय-रूपी मगर चबाकर फेंक देते हैं। और फिर आगे चलकर वे लोग इस नदीके वार्धक्य रूपी बुद्धिभ्रंशके जालोंमें इधर-उधर फँस जाते हैं। फिर शोक-रूपी चट्टानसे टकराकर और रागके भँवरमें गोते खाकर वे जब जब ऊपर सिर निकालते हैं; तब तब आपत्ति रूपी गिद्ध उनका कठोर चुम्बन करते हैं—उन्हें नोचने लगते हैं। फिर वे दुःख-रूपी कीचड़से लथपथ हो जाते हैं और अन्तमें मरणकी रेतीमें पहुँचकर उसीमें फँस जाते हैं—मर जाते हैं। इस प्रकार जो लोग विषय-लम्पटताके फेरमें पड़े रहते हैं, उनका जीवन बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। कुछ लोग यज्ञ-विधानको ही अपने लिए तूँबा बनाते हैं और उसीको अपने पेटके नीचे बाँधकर चल पड़ते हैं और स्वर्ग-सुख गड्ढेमें जाकर अटक जाते हैं। कुछ लोग मोक्ष प्राप्त करनेकी आशासे कर्मरूपी बाँहोंको अपना आधार बनाते हैं, परन्तु वे विधि और निषेध अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यके भँवरमें फँस जाते हैं। जिसमें वैराग्यकी नौकाका भी प्रवेश नहीं हो सकता, जिसमें विवेककी डोरी भी नहीं पहुँचती और जिसे योग-साधनासे ही थोड़ा-बहुत और वह भी क्वचित् ही पार किया जा सकता है, उस माया-नदीके सम्बन्धमें यदि यह कहा जाय कि जीवमें उसे तैरकर पार करनेकी शक्ति है, तो इस प्रकारके कथनकी किससे उपमा दी जा सकती है? यदि पथ्य न करनेवाले रोगीका रोग अच्छा हो सकता हो, यदि इस बातका पता चल सके कि

दुर्जनकी बुद्धि किस प्रकार वशमें की जा सकती है अथवा यदि लोभी पुरुष हाथमें आई हुई सम्पत्ति छोड़ सकता हो, यदि चोर भरी सभामें घुस सकता हो अथवा मछलीको वंशी निगल सकती हो, अथवा कोई डरपोक आदमी किसी यक्षिणीको डराकर पीछे हटा सकता हो अथवा यदि हिरनके बच्चे जाल तोड़ सकते हों या च्यूँटी मेरु पर्वतपर चढ़कर उसके उस पार जा सकती हो तो जीव भी माया-नदीके उस पार पहुँचा हुआ दिखाई पड़ सकता है। इसी लिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार स्त्रीको ही सब कुछ समझनेवाला मनुष्य स्त्रीको अपने वशमें नहीं रख सकता, उसी प्रकार जीव भी माया-नदीको तैरकर पार नहीं कर सकता। जो एक-निष्ठ लोग अन्यय भावसे केवल मुझको ही भजते हैं, वही इस नदीको तैरकर पार कर सकते हैं। बल्कि यों कहना चाहिए कि ऐसे लोगोंको माया-नदीके उस पार जानेकी आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि उनके सामने इसी पार जल नहीं रह जाता। जिन्हें सद्गुरु रूपी अच्छी नौका मिल गई है, जिन्होंने कसकर अनुभवका कछोड़ा बाँध लिया है और जिन्हें आत्म-बोध रूपी बेड़ा मिल गया है, जिन्होंने अहंकारका भारी बोझ फेंककर संकल्प,विकल्पकी लहरोंसे बचकर और विषयासक्तिकी प्रबल धारसे बचकर ऐक्यके घाट पर पहुँचकर आत्म-बोधवाला वह पा लिया है और तब जो जल्दीसे निराशाके उस पार पहुँच गये हैं, वही लोग जल्दी जल्दी वैराग्यके हाथ मारते हुए और अहं-ब्रह्मास्मिवाली श्रद्धाकी सामर्थ्यसे ऊपर लहराते हुए अन्तमें अनायास ही निवृत्ति तट पर जा पहुँचते हैं। जो लोग इस मार्गसे मेरी भक्ति करते हैं, वे ही तैरकर मेरी इस मायाको पार कर सकते हैं। परन्तु ऐसे भक्त विरले ही होते हैं और वे अधिक संख्यामें नहीं दिखाई पड़ते।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
मायायापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥१५॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥

"इस प्रकारके भक्तोंके सिवा बहुत-से ऐसे ही लोग होते हैं, जिन पर अहंकारका भूत सवार रहता है; और इसी लिए वे लोग आत्मज्ञानको भूल जाते हैं। वेद कहते हैं कि जब मनुष्यमें इस प्रकारके अहंकारका संचार होता है, तब नियमका—अर्थात् इन्द्रिय-निग्रहका—परदा उठ जाता है, भावी अधःपातकी लज्जा नष्ट हो जाती है और प्राणी ऐसे ऐसे काम करने लगता है, जो कभी नहीं करने चाहिएँ। ऐसे प्राणी इन्द्रिय-रूपी ग्रामके राजमार्गमें अहंकारकी बकवाद करते हुए अनेक प्रकारके विकारोंका समुदाय एकत्र करते हैं। और जब अन्तमें उन पर दुःख तथा शोकके निरन्तर आघात होने लगते हैं, तब उनकी स्मृतिका नाश हो जाता है। और इन सब बातोंका कारण यही प्रकृति या माया है। इसीके कारण वे सब जीव मुझे भूल गये हैं। आत्म-हितका साधन करनेवाले मेरे भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त्त, जिज्ञासु,अर्थार्थी और ज्ञानी।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

"इनमें से आर्त्त लोग अपने दुःखोंका निवारण करनेके लिए, जिज्ञासु लोग ज्ञानकी

लालसासे और अर्थार्थी लोग द्रव्य प्राप्त करनेकी इच्छासे मेरे भक्त होते हैं। परन्तु चौथे प्रकारके जो भक्त होते हैं, उनमें कोई ऐसी वासना नहीं होती, जिसको वे तृप्त करना चाहते हों; और इसी लिए वही ज्ञानी लोग मेरे सच्चे भक्त होते है। क्योंकि उसी ज्ञानके प्रकाशसे भेद-भावका अन्धकार नष्ट हो जाता है; इसी लिए वे मद्रूप हुए रहते हैं और साथ ही मेरे भक्त भी हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार स्वच्छ स्फटिककी शिला—उस परसे बहने वाले पानीकी गतिके कारण—साधारण जनोंको दृष्टिमें क्षण भरके लिए पानीके समान जान पड़ती है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था ऐसे ज्ञानी पुरुषकी भी होती है। यह वर्णन करनेका कोई विलक्षण या अद्भुत प्रकार नहीं है। जिस समय वायु शान्त होकर आकाशमें मिल जाती है, उस समय आकाशसे भिन्न उसका कोई वायु-भाव नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार जब वह ज्ञानी मुझमें मिलकर एक हो जाता है, तब इस प्रकार के विधान या कथनके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता कि—"वह भक्त है"। यदि वायुको हिला या चलाकर देखा जाय, तभी उसका आकाशसे भिन्न स्वरूप दिखाई पड़ता है और तभी इस बातका प्रत्यय होता है कि वह आकाशसे भिन्न है। और नहीं तो वह स्वभावतः गगनके रूपमें ही रहती है। इसी प्रकार जब वह ज्ञानी शरीरके द्वारा कर्मोंका आचरण करता है, उस समय लोगोंको ऐसा अनुभव होता है कि वह भक्त है। परन्तु वह अपने आत्मानुभवके सहज गुणके कारण मद्रूप हुआ रहता है। अपने ज्ञानके प्रकाशके कारण वह यह समझता है कि मैं आत्मा ही हूँ और इसी लिए मैं भी प्रेमके आवेशमें उसे आत्मा ही कहता हूँ। जो जीवत्वके उस पारका आत्म-स्वरूपका संकेत पहचानकर व्यवहार या आचरण कर सकता है, वह क्या केवल भिन्न देहधारी होनेके कारण ही कभी परमात्म-तत्वसे वास्तवमें अलग हो सकता है?

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

"इसी लिए केवल अपना कार्य सिद्ध करनेके उद्देश्यसे जिसे देखो, वही भक्त बनकर मेरे साथ चिमटने लगता है; परन्तु ऐसा भक्त केवल ज्ञानी ही है, जिसका प्रिय विषय केवल मैं ही रहता हूँ।" इस प्रकार श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, वह मिथ्या नहीं था; क्योंकि देखो, दूधके लोभसे सभी जगह लोग गौको बाँधकर रखते हैं; परन्तु उस बन्धनका अंश बिना डोरीके ही उसके बछड़ेको भी कैसे मिल जाता है? बिना किसी तरह की डोरीसे बँधे रहने पर भी बछड़ा जो बन्धनमें पड़ा रहता है, इसका कारण यही है कि तन, मन और प्राणसे वह बछड़ा अपनी माँके साथ ही सम्बद्ध रहता है और माँको छोड़कर और किसीको वह नहीं जानता। उसे देखते ही वह कहता है—"यही मेरी माँ है"। इस प्रकार जब वह गौ देखती है कि मेरे बिना यह बछड़ा बिलकुल अनाथ और अनाश्रित है, तब वह गौ भी उस पर वैसी ही एकान्तिक प्रीति रखती है। इसी लिए श्रीकृष्णने जो कुछ कहा है, वह बिलकुल ठीक है। अस्तु। भगवान्‌ने फिर कहना आरम्भ किया—"हे अर्जुन, बाकी जो और तीन प्रकारके भक्त मैंने तुम्हें बतलाये हैं, वे भी अपने अपने स्थान पर अच्छे ही हैं और मुझे भी वे भले लगते हैं। परन्तु मेरा ज्ञान

हो जाने पर जो फिर पीछे लौटना ठीक उसी प्रकार भूल जाते हैं, जिस प्रकार समुद्रके साथ नदीके मिल जाने पर उसका पीछे लौटना असम्भव हो जाता है और इसी प्रकार जिनके अन्तःकरणमें उत्पन्न होनेवाली अनुभूति-गंगा मेरे स्वरूप-सागरमें आकर मिल जाती है, उस भक्तको बिलकुल मेरा ही स्वरूप समझना चाहिए—यह समझना चाहिए कि वह भक्त नहीं है, स्वयं मैं ही हूँ। अब इस बातका और अधिक विस्तार क्यों किया जाय? वास्तविक बात तो यह है कि जो ज्ञानी है, वह मेरा शुद्ध चैतन्य और प्रत्यक्ष आत्मा ही है। वास्तवमें यह बात तो किसीसे कहने योग्य ही नहीं है। परन्तु क्या किया जाय! जो बात नहीं कहनी चाहिए थी, वही मैं कह बैठा हूँ।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥

"ऐसा पुरुष विषयोंके भीषण जंगलके काम और क्रोध रूपी विकारोंके संकटोंसे बचकर निर्मल वासनाके पहाड़ पर आ पहुँचता है। फिर, भाई वीर श्रेष्ठ अर्जुन, वह सत्संगति प्राप्त करके और कर्म-संन्यासका टेढ़ा-तिरछा मार्ग एक ओर छोड़कर सरल सत्कर्म-योगके राज-मार्ग पर चल पड़ता है। फिर वह सैकड़ों जन्मों तक उसी मार्गसे प्रवास करता रहता है। इस प्रवासमें वह अपने पैरोंमें आशाके खड़ाऊँ तक नहीं पहनता। फिर वहाँ फल-हेतुके विचारके लिए कहाँ स्थान रह जाता है? वह इस प्रकार जन्म-जन्ममें शरीर धारण करनेकी मायाके रात्रि कालमें वासना-संग छोड़कर कर्म-योगके मार्ग पर वेगके साथ अकेला ही चलता रहता है। बस इसी बीचमें कर्मोंका क्षय होते ही उसके लिए ज्ञानका प्रभात हो जाता है। उसी समय गुरुकी कृपासे उषःकाल हो जाता है, ज्ञान सूर्यकी किरणें आकर उसपर पड़ने लगती हैं और तब उसकी दृष्टिके सामने भेद-भाव-रहित एकत्वकी सम्पत्ति प्रकट होती है। ऐसी अवस्थामें वह जिस जिस दिशामें देखता है, उस उस दिशामें उसे केवल मैं ही दिखाई पड़ता हूँ; और यदि वह कुछ भी न देखे और बिलकुल निश्चेष्ट तथा शान्त रहे, तो भी उसके हृदयमें केवल मैं ही भासमान रहता हूँ। मेरे सिवा उसके लिए कहीं और कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार पानीमें डूबे हुए बरतनके अन्दर और बाहर सब जगह पानी ही पानी रहता है, उसी प्रकार वह भी मुझमें निमग्न रहता है और उसके अन्दर और बाहर भी केवल मैं ही रहता हूँ। परन्तु यह अवस्था ऐसी नहीं है, जिसका शब्दोंके द्वारा वर्णन किया जा सके। इसी लिए अब मैं केवल इतना ही कहता हूँ कि जब इस प्रकार ज्ञान-सम्पत्तिका भंडार उसके लिए खुल जाता है, तब वह उस ज्ञान-द्रव्यको अपने व्यवहारमें लाकर समस्त विश्वको अपना-सा कर लेता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि इस दृष्टिमें जो कुछ है, वह सब श्री वासुदेव ही है; और इस अनुभव-रससे उसका अन्तरंग आपसे आप इतना ही अधिक भर जाता है कि अन्तमें वही श्रेष्ठ भक्त और सच्चा ज्ञानी ठहरता है। उसके आत्मानुभवका भांडार इतना अधिक विस्तृत होता है कि उसमें सृष्टिके स्थावर और जंगम सभी पदार्थ समा सकते हैं। भाई अर्जुन, ऐसा महात्मा बहुत ही दुर्लभ होता है। हाँ जो कामिक भावना से मेरी भक्ति करते हैं और जो आशाके अँधेरेमें अन्धे होकर

इधर-उधर भटकते रहते हैं, ऐसे दूसरे प्रकारके भक्त, जितने चाहो, उतने मिल सकते हैं।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥

"फलकी वासना रखनेके कारण उनके अन्तःकरणमें काम (अर्थात् विषय-वासना) का प्रवेश हो जाता है; और उसी कामके थपेड़ेसे ज्ञानका दीपक बुझ जाता है। इससे वे अन्दर और बाहर घोर अन्धकारमें डूब जाते हैं; और यद्यपि मैं उनके बिलकुल पास रहता हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझे नहीं देख पाते और तब वे तन-मनसे दूसरे देवताओंके भजनमें लग जाते हैं। ऐसे पुरुष पहलेसे ही मायाके दास बने हुए रहते हैं; तिस परसे विषय-भोगके फेरमें पड़कर वे और भी अधिक दीन-हीन हो जाते हैं और तब वे लम्पटतासे दूसरे देवताओंकी भक्ति बड़े कौतुकके साथ करते हैं। वे स्वयं अपनी ही बुद्धिसे अपने लिए न जाने कितने अधिक नियम और निर्बन्ध बना लेते हैं, पूजा-सेवाके न जाने कितने द्रव्य एकत्र कर लेते हैं और शास्त्रोक्त विधियोंसे वे कितने ध्यानपूर्वक उन देवताओंको वे द्रव्य अर्पण करते हैं।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

"फिर भी भक्त चाहे जिस देवताका भजन करे, परन्तु उसके उस भजन और पूजनका फल मैं ही पूरा करता हूँ। उसकी बुद्धिमें इस बातका भी निश्चय नहीं हुआ रहता कि समस्त देव-देवताओंमें मेरा ही निवास रहता है; और इसी लिए उसके मनमें यह भेद-भाव बना रहता है कि जितने देव-देवता हैं, वे सब वास्तवमें अलग अलग ही हैं।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥

"वह इस प्रकारकी श्रद्धासे युक्त होकर अपने इष्ट देवताकी यथा-विधि आराधना करता है; और जब तक कार्य-सिद्धि नहीं होती, तब तक उसकी वह आराधना अखंड रूपसे चलती रहती है। ऐसे भक्त अपने मनमें जिस फलकी कामना करते हैं, वह फल उन्हें मिल जाता है, परन्तु वह फल भी मुझसे ही उत्पन्न हुआ रहता है।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥

"परन्तु वे जो भक्त अपने संकुचित संकल्पों और विचारोंके बाहर कभी नहीं जाते, उन्हें मेरा कुछ भी ज्ञान नहीं होता; और इसी लिए उन्हें जो फल प्राप्त होता है, उसका कभी न कभी अन्त होना भी अवश्यम्भावी होता है और वे फल शाश्वत नहीं होते। इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकारकी भक्तिसे केवल सांसारिक साधन ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि आत्मानुभवके बिना ये सब फल-भोग क्षण भर दिखाई पड़नेवाले स्वप्नके समान ही होते हैं। परन्तु यदि हम यह विचार क्षण भरके लिए छोड़ भी दें तो भी एक और बात यह है कि वे जिस देवताका प्रेमपूर्वक भजन करते हैं, उसी देवताका

स्वरूप वे प्राप्त करते हैं। परन्तु जो भक्त तन, मन और प्राणसे मेरे मार्गमें लगते हैं, वे देहान्त होते ही मद्रूप हो जाते हैं।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥

"परन्तु सामान्य प्राणी ऐसा नहीं करते और व्यर्थ ही अपने हितकी हानि कर बैठते हैं, क्योंकि वे अपने हाथकी हथेली पर पानी रखकर उसीमें तैरनेका प्रयत्न करते हैं। लेकिन जो लोग वास्तवमें तैरना चाहते हों, उन्हें गहरे पानीमें प्रवेश करना चाहिए। जब अमृतके समुद्रमें गोता लगाया जाय, तब अपना मुँह ही क्यों जोरसे बन्द करके रखा जाय और अपने मनमें किसी गड्ढेके पानीका स्मरण रखकर क्यों दुःख किया जाय? अमृतमें प्रवेश करके भी बलपूर्वक अपने ऊपर मृत्यु क्यों ली जाय? इसकी अपेक्षा स्वयं अमृत बनकर अमृतमें ही क्यों न निवास किया जाय? इसी प्रकार, हे भाई अर्जुन, यह फल-हेतुवाला पिंजरा छोड़कर और अनुभवके पंख लगाकर ज्ञानके आकाशमें खूब अच्छी तरह चक्कर क्यों न लगाया जाय और उसके स्वामी बनकर क्यों न रहा जाय? जब मनुष्य ऐसे ऊँचे स्थानमें उड़ने लगता है, तब उसके पराक्रमसे सुखका इतना अधिक विस्तार होता है कि मनुष्य अपने आनन्दके आवेशमें जितनी तेजीसे और जितना अधिक चाहे, उतना उड़ सकता है। उस अपरिमित आत्म-सुखको मापनेका प्रयत्न क्यों किया जाय? मैं तो अव्यक्त और निराकार हूँ। फिर मुझे कोई व्यक्त और साकार क्यों माने? मेरा स्वरूप तो स्वयं प्राणियोंमें ही स्वतः सिद्ध है; फिर उसे प्राप्त करनेके लिए व्यर्थके साधनोंके फेरमें पड़नेकी क्या आवश्यकता है? परन्तु, भाई अर्जुन, यदि इस प्रकारके प्रश्न किये जायँ, तो वे जीवोंको कुछ अच्छे नहीं लगते।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

"जीवोंकी आँखों पर मायाका धुन्ध छाया रहता है जिससे उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता। इसी लिए प्रकाशमें भी वे मुझे देख नहीं सकते। नहीं तो क्या तुम एक भी ऐसी वस्तु बतला सकते हो, जिसमें मेरा निवास न हो? भला कौन-सा जल ऐसा है जिसमें रस न हो? या कौन सा ऐसा पदार्थ है जिसे वायु स्पर्श न करती हो? अथवा कौन सा ऐसा स्थल है जिसमें आकाश न हो सकता हो? बस यही समझ लो कि सारे विश्वमें एक मैं ही मैं भरा हूँ।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

"हे अर्जुन, आज तक जो भूत मात्र हो गये हैं, वे सब अब मद्रूप होकर ही रहते हैं, और इस समय भी जितने भूत हैं, वे सब मेरे ही स्वरूप हैं—उनमें मैं ही हूँ। और भविष्यमें जो भूत अभी उत्पन्न होनेको है, वे भी मुझसे भिन्न नहीं है। यदि सच पूछो तो ये भी केवल मायाकी ही बातें हैं। और नहीं तो वास्तवमें न कुछ होता ही है और

न जाता ही है। जिस प्रकार रस्सीमें भ्रमसे दिखाई पड़नेवाले साँपके सम्बन्धमें यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह काला है, चितकबरा है या लाल है, उसी प्रकार भूत-मात्रके विषयमें भी निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यदि उनका मूल देखा जाय तो वे सभी मिथ्या हैं। हे भाई अर्जुन, इस प्रकार मैं भूत-मात्रमें अखंड और ओत-प्रोत रूपसे भरा रहता हूँ। लेकिन इतना होने पर भी ये जीव जिस संसारके चक्करमें पड़े हुए हैं, उस संसारकी बातें कुछ निराली ही हैं।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ॥२७॥

"अब मैं उस संसारकी कुछ बातें संक्षेपमें बतलाता हूँ, सुनो। जिस समय अहंकार और कायाका प्रेम होता है, उस समय उनके योगसे "इच्छा" नामकी कन्याका जन्म होता है। जब यह कन्या पूर्ण यौवनावस्थाको प्राप्त होती है, तब वह द्वेषके साथ अपना शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करती है। फिर इच्छा और द्वेषकी इस जोड़ीसे द्वन्द्व-मोह (अर्थात् सुख-दुःख, हर्ष-शोक, लाभ-हानि आदिसे होनेवाला अज्ञान-भाव) उत्पन्न होता है। इस बालकका पालन-पोषण इसका मातामह या नाना "अहंकार" ही करता है। यह बालक मानसिक धर्मका शत्रु होता है। यह इतना अधिक उद्दंड होता है कि इन्द्रिय-निग्रहके नियन्त्रणमें नहीं रहता। फिर वह आशाका दूध पीकर खूब हृष्ट-पुष्ट हो जाता है और असन्तोषके मद्यसे मत्त होकर विषय-रूपी कोठरी विकृतिके साथ रहने लगता है। फिर वह शुद्ध भावनाके मार्गमें संकल्प-विकल्पके काँटोंकी बाढ़ लगाता है और अनुचित-कर्मोंके टेढ़े-तिरछे रास्ते तैयार करता है। द्वन्द्व-मोहके इस प्रकारके कृत्योंसे सब जीव भ्रममें पड़ जाते हैं और तब वे संसारके जंगलमें आकर भटकने लगते हैं और महादुःखके बोझके नीचे दब जाते हैं।

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥

"ऐसे मिथ्या संकल्प-विकल्पोंके तीक्ष्ण काँटोंको देखते हुए भी जो लोग अपने आपको द्वन्द्व-मोहकी हवा भी नहीं लगने देते, जो सरल एक-निष्ठाके कदम रखते हुए और संकल्प-विकल्पके काँटोंको अपने पैरों तले कुचलते हुए महापातकोंके जंगलसे पार हो जाते हैं और फिर जो पुण्यके बलसे दौड़ लगाते हुए मेरे पास आ पहुँचते हैं, उनके गुणोंका वर्णन कहाँ तक किया जाय! वे काम-क्रोध आदि बटमारोंके हाथोंसे साफ छूट जाते हैं।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

"हे अर्जुन, इसके उपरान्त इस जन्म-मरणवाली बातका आपसे आप अन्त हो जाता है। जिनकी निष्ठामें ऊपर बतलाये हुए प्रयत्नोंका फल लगता है, उन्हें वह प्रयत्न कभी न कभी अवश्य ही सिद्धि प्रदान करता है; और तब उनके हाथ वह परब्रह्म-रूपी

पका हुआ समूचा फल लगता है जिसमें पूर्णताका रस लबालब भरा हुआ होता है। उस समय सारा संसार कृतकृत्यताकी धन्यतासे भर जाता है, आत्म-ज्ञानका गौरव पूर्णताको प्राप्त हो जाता है, कर्मोंकी आवश्यकताका अन्त हो जाता है और मन सुखी तथा शान्त हो जाता है। हे भाई अर्जुन, जो अपने व्यवहारमें मुझे ही अपनी पूँजी बनाता है, उसे इसी प्रकारके आत्म-बोधका लाभ होता है। उसकी वृत्तियोंकी समावस्थाके साथ ही साथ ब्रह्मैक्यकी खेती-बारीका भी विस्तार होता जाता है और तब फिर भेद-भाववाला भिखारीपन या दीनता कहीं बाकी नहीं रह जाती।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

"जिन्हें इस बातका अनुभव हो जाता है कि यह मायामय जड़ सृष्टि मेरा ही स्वरूप है और जो इसी अनुभवके हाथोंसे मेरे आधिभौतिक रूपका सहारा लेकर समस्त देवताओंके अधिष्ठान मेरे आधिदैविक स्वरूप तक आ पहुँचते हैं और फिर जिन्हें पूर्ण ज्ञानके बलसे मेरा अधियज्ञ अर्थात् परब्रह्म-स्वरूप दिखाई पड़ने लगता है, वे इस शरीरका पात हो जाने पर कभी दुःखी नहीं होते। और नहीं तो आयुष्यकी डोरी टूटते ही प्राणी-मात्रको इतनी अधिक व्याकुलता होती है कि उनकी वह व्याकुलता देखकर आस-पासके लोगोंको ऐसा जान पड़ने लगता है कि आज मानों कल्पान्त ही हो गया। ऐसे लोगोंकी चाहे जो अवस्था होती हो, परन्तु जो लोग मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं, वे उस अन्त कालकी व्याकुलतामें भी मुझे नहीं भूलते। साधारणतः यही समझना चाहिए कि जो इतनी पूर्णता तक पहुँच जाते हैं, वही सच्चे युक्त-चित्त हैं और वही सच्चे योगी हैं।" श्रीकृष्ण इस प्रकार शब्द-रूपी शीशीमेंसे वाणी-रूपी रस उलट रहे थे, परन्तु अर्जुनकी अवधान-रूपी अंजलि आगे बढ़कर वह रस ग्रहण नहीं कर रही थी, क्योंकि उस समय वह क्षण भरके लिए पिछले श्लोकोंमें बतलाई हुई बातों पर विचार कर रहा था। विपुल अर्थ-रससे भरे हुए, चारों ओर सद्भावनाकी सुगन्ध फैलानेवाले और परब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाले वे वचन-रूपी फल जिस समय कृपा-प्रसाद रूपी वायुके मन्द झोंकोंसे श्रीकृष्ण-रूपी वृक्ष परसे अर्जुनके कानोंकी झोलीमें पड़े थे, उस समय उसे ऐसा जान पड़ा था कि मानों ये वचन-फल स्वयं महा-सिद्धान्तके ही बने हुए हैं अथवा ब्रह्म-रसके सागरमें डुबाये हुए हैं, और तब परमानन्द-रूपी रसमें अच्छी तरह धोकर निकाले हुए हैं। उनमें ऐसी मोहकता थी कि अर्जुनके अनिमिष नेत्र गटागट विस्मयामृतके घूँट पीने लगे। उस अलौकिक सुखका आस्वादन करके अर्जुन स्वर्गको भी तुच्छ समझने लगा और उसकी अन्तरात्मामें आनन्दकी गुदगुदी होने लगी। जब इस प्रकार उन वचन-फलोंके केवल बाह्य दर्शनके सौन्दर्यसे ही अर्जुनका सुख बढ़ने लगा, तब उसे उन वचन-फलोंका रस चखनेकी उत्कट इच्छा होने लगी। उन वचन-फलोंको वह तर्क-बुद्धिके हाथोंसे जल्दीसे लेकर अनुभवके मुखमें रखकर उनका स्वाद चखने लगा। परन्तु वे वचन फल-विचारकी जिह्वाको नहीं रुचते थे और हेतुके दाँतोंसे नहीं टूटते थे। इसलिए उस सुभद्रानाथने उन्हें चबानेका विचार ही छोड़ दिया। अब अर्जुन चकित

होकर अपने मनमें कहने लगा—"क्या ये सब जलमें ही दिखाई पड़नेवाले नक्षत्र हैं? केवल अक्षरोंके बाहरी ठाठ-बाटके फेरमें ही मैं कैसा फँस गया! और उनसे मैं कैसा धोखा खा गया! अरे ये कैसे और कहाँके अक्षर हैं? ये तो केवल आकाश के परत हैं। यहाँ मेरी मति चाहे कितनी ही ऊँची उड़ान क्यों न भरे, परन्तु इसे क्या कभी उसकी थाह लग सकती है? लेकिन जब तक उसकी थाह न लगे, तब तक इन वचनों का अर्थ कभी समझमें ही नहीं आ सकता। अपने मनमें इस प्रकारकी बातोंका विचार करके अर्जुन ने फिर यादवेन्द्र श्रीकृष्णकी ओर देखा; और तब उस वीर श्रेष्ठने विनयपूर्वक कहा—"हे देव, ये जो सातों पद (अर्थात् शब्द) यहाँ एकत्र हुए हैं, इनका कभी किसीने आस्वादन नहीं किया है और ये अपूर्व हैं। यदि यह बात न होती तो भला यह कैसे सम्भव था कि अच्छी तरह एकाग्र-चित्त होकर ध्यान देने पर भी श्रवण के द्वारा बड़े बड़े सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण हुए बिना रह जाता? परन्तु यह प्रकरण उस प्रकारका नहीं है। अक्षरोंका यह ठाठ देखकर स्वयं विस्मयको भी विस्मय होता है। कानोंकी खिड़कीके रास्ते ज्योंही आपकी वाणीकी किरणें अन्तःकरणमें पहुँचीं, त्योंही मुझे परम आश्चर्य हुआ और मेरी विचार-शक्ति ही बन्द हो गई। इसलिए मेरे मन में इस बातका बहुत अनुराग है कि मैं इनके अर्थका ज्ञान प्राप्त करूँ। परन्तु इतना समय नहीं है कि मैं अपने उस अनुरागका वर्णन कर सकूँ; इसलिए हे देव, आप स्वयं ही बहुत जल्दी सब बातोंका विवेचन करें।" इस प्रकार पिछली बातों का विचार करते हुए, आगेके हेतु पर ध्यान रखते हुए और बीचमें अपना उत्कट अनुराग दृढ़तापूर्वक स्थापित करके अर्जुन-का प्रश्न करनेका यह हथकंडा कैसा बढ़िया है! इस प्रकार प्रश्न करते समय अर्जुनने शिष्टाचारकी मर्यादाका भी उल्लंघन नहीं किया; और नहीं तो उसने अपनी दोनों बाहें पसारकर श्रीकृष्णको भली-भाँति आलिंगन कर लिया होता। यह बात केवल अर्जुन ही अच्छी तरह जानता था कि यदि गुरु महाराजसे प्रश्न करना हो तो इसी पद्धति का अवलम्बन करना चाहिए। अब श्रोताओंको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अर्जुन के प्रश्न और श्रीकृष्ण द्वारा उनके दिये हुए उत्तर संजय कैसे प्रेमसे और अच्छी तरह बतलाते हैं। ये सब बातें सरल देशी भाषामें बतलाई जायेंगी। और इन्हें इस प्रकार सरल देशी भाषामें बतलाने का हेतु यह है कि कानोंको इनका श्रवण होने से पहले ही बुद्धि अपना उपयोग करने लगे। बुद्धिकी जीभसे अक्षरोंका भीतरी अर्थ-रस चखनेसे पहले ही अक्षरोंके केवल आकृति-सौन्दर्यसे ही इन्द्रियाँ परम प्रसन्न हो जाती हैं। देखिये, मालतीकी कलियोंकी सुगन्ध नाकको तो सन्तुष्ट करती ही है, परन्तु उन कलियोंका बाहरी रूप देखकर नेत्र क्या उनसे पहले ही तृप्त नहीं हो जाते? इसी प्रकार देशी भाषाके सौन्दर्यसे इन्द्रियोंको सामर्थ्य प्राप्त होती है और तब वे सिद्धान्तके ठीक स्थान तक सहजमें पहुँच सकती हैं। अब इस प्रकारके भाषा-सौन्दर्यसे मैं वह बातें स्पष्ट करके बतलाना चाहता हूँ जो शब्दोंके लिए अप्राप्य ही हैं। इसलिए श्रीनिवृत्तिनाथका दास ज्ञानदेव अपने श्रोताओंसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सावधान होकर सुनें।

आठवाँ अध्याय

अर्जुन उवाच—

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—"अब आपकी बातोंकी ओर मेरा पूरा पूरा ध्यान है। मैंने जो कुछ पूछा है, वह अब आप मुझे बतलावें। ब्रह्म-कर्म और अध्यात्म क्या है, यह आप मुझे समझावें। अधिभूत और अधिदैवतका भी आप निरूपण करें। और ये सब बातें ऐसे सहज रूपसे बतलावें जिसमें मेरी समझमें आ जायें।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

"हे देव, आप जिसे अधियज्ञ कहते हैं, वह इस देहमें कौन है और कैसा है? मैं उसे जानना चाहता हूँ, परन्तु वह किसी प्रकार मेरे अनुमानमें नहीं आता। साथ ही, हे देव, मुझे यह भी बतलाइये कि नियुक्त अन्तःकरण वालोंको देहावसानके समय आपका जो ज्ञान होता है, वह किस प्रकार होता है।" देखिये कि कोई भाग्यवान् पुरुष चिन्ता-मणियोंके बने हुए मकानमें सोता है और उस सोने की अवस्थामें ही यदि वह कुछ बड़बड़ा उठता है, तो उसका वह बड़बड़ाना भी कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसी प्रकार अर्जुनके मुँहसे ये सब बातें अभी पूरी तरहसे निकलने भी नहीं पाई थीं कि श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने जो कुछ पूछा है, उसका विवरण अच्छी तरह सुनो।" अर्जुन वास्तवमें उस समय एक कामधेनुका ही वत्स हो रहा था और उसके ऊपर कल्पवृक्षके मंडपकी प्रसन्न छाया थी। ऐसी अवस्थामें यदि मनोरथ-सिद्धि स्वयं ही उसके सामने मूर्त्तिमती होकर आ खड़ी हुई हो तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन सी बात है? श्रीकृष्ण क्रोधके आवेशमें भी आकर जिसे मार डालें, वह भी परब्रह्मके साक्षात्कार का पात्र हो जाता है। फिर वही श्रीकृष्ण जिसे अत्यन्त प्रेमसे ब्रह्मका उपदेश दें, उसे ब्रह्मका साक्षात्कार क्यों न प्राप्त होगा? जिस समय हम कृष्ण-रूप होते है, उस समय हमारे अन्तःकरणमें कृष्ण ही रहते हैं और उस अवस्था में सिद्धि आपसे आप हमारे संकल्पके घर चलकर आती है। परन्तु इस प्रकारका अपूर्व प्रेम केवल अर्जुनमें ही था और इसी लिए उसके मनोरथ भी सदा सफल हुआ करते थे। इसी लिए भगवानने पहलेसे ही यह समझ लिया था कि अब अर्जुन इस प्रकारका प्रश्न करेगा; और इसी लिए उन्होंने उसके वास्ते उत्तर-रूपी भोजन पहलेसे ही परोसकर तैयार कर रखा था। बच्चा ज्योंही स्तनकी ओर बढ़ता है, त्योंही माता समझ लेती है कि यह भूखा है।

उस समय यह बात नहीं होती कि बच्चेको टूटे-फूटे शब्दोंमें पहले मातासे यह कहना पड़े कि मुझे दूध दो और तब वह उसे दूध पिलावे। वह बिना उसके कहे ही उसकी इच्छा समझ लेती है और उसे पूर्ण भी कर देती है। इसलिए यदि कृपासागर गुरुमें अपने भक्तके प्रति इतना प्रेम दिखाई पड़े तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। अच्छा, अब यह सुनिये कि इस पर भगवान् श्रीकृष्णने क्या कहा।

श्रीभगवानुवाच—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥३॥

सर्वेश्वर श्रीकृष्णने कहा—"जो वस्तु अनेक छिद्रोंसे युक्त इस शरीरमें रहने पर भी उसमेंसे कभी गिरकर बाहर नहीं निकलती, इसके विपरीत जो वस्तु इतनी सूक्ष्म है कि हम उसे शून्य भी नहीं कह सकते और जो आकाशके पल्लेमें से छानी गई हो, परन्तु इतनी विरल और सूक्ष्म होने पर भी जो हिलोरने पर भी प्रपंचकी इस झोलीमेंसे नीचे नहीं गिरती, वह परब्रह्म है। वह ब्रह्म-तत्व ऐसा है कि यदि आकार उत्पन्न भी हो जाय तो भी वह जन्मका विकार नहीं जानता और आकार का लोप हो जाने पर भी उसका लोप नहीं होता। इस प्रकारका जो ब्रह्म-तत्व अपनी स्वयं-सिद्ध अवस्थामें निरन्तर रहता है, हे भाई अर्जुन, उसीको अध्यात्म कहते हैं। स्वच्छ आकाशमें रंग-बिरंगे मेघ-पटल उत्पन्न तो होते हैं, परन्तु उनके सम्बन्धमें कोई यह नहीं जानता कि ये कैसे उत्पन्न होते हैं और कहाँसे आते हैं। इसी प्रकार उस निराकार और शुद्ध ब्रह्मसे प्रकृति और अहंकार आदि भिन्न भिन्न भूत उत्पन्न होते हैं और उन्हींसे ब्रह्मांडकी रचनाका आरम्भ होता है। निर्विकल्प ब्रह्म की भूमिमें ही "अहं बहुस्याम्" वाले संकल्पका बीज पहले-पहल जमकर अंकुर निकालता है और तब वह शीघ्र ही ब्रह्मांडके रूपमें चारों ओर फैलकर भर जाता है। यदि प्रत्येक ब्रह्मांडके गोलकको अच्छी तरह देखा जाय तो वह उस मूल बीजसे ही अर्थात् उस ब्रह्म-तत्वसे ही भरा हुआ दिखाई पड़ता है; परन्तु उनके मध्यमें उत्पन्न होनेवाले तथा नष्ट होनेवाले जीवोंकी गिनती भी नहीं की जा सकती। फिर उन ब्रह्मांडोंके भिन्न भिन्न अंश भी उसी अहं-बहुस्याम् वाले आदि संकल्पका जल्दी जल्दी जप करने लगते हैं, जिससे अनेक प्रकारकी इस अनन्त सृष्टिकी वृद्धि होती है। परन्तु सृष्टिके इन सभी पदार्थोंमें वह एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही ओतप्रोत भरा रहता है। और यह अनेकत्व, यह भेद-भाव उस पर केवल बादलके समान छाया रहता है। इसी प्रकार यह भी समझमें नहीं आता कि इस सृष्टिमें जो सम और विषम भाव दिखाई पड़ते हैं, वे किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। यदि यह कहा जाय कि इस स्थावर-जंगमात्मक विश्वकी रचना व्यर्थ मनोविनोदके लिए ही हुई है, तो उसमें उत्पन्न होनेवाले भूत मात्रकी लाखों जातियाँ दिखाई पड़ती हैं। यदि यों ही देखा जाय तो जीवोंके इन अंकुरोंकी न तो कोई संख्या ही जानी जा सकती है और उनके भेद-भावकी कोई सीमा ही स्थिर की जा सकती है। परन्तु यदि उनके मूलका पता लगाया जाय तो यही जान पड़ता है कि इन सबकी उत्पत्ति उसी शून्य ब्रह्मसे हुई है। इस सृष्टिका मूल कर्ता तो कहीं मिलता ही नहीं;

साथ ही इस सृष्टिका कहीं कोई कारण भी नहीं दिखाई पड़ता। पर बीचमें ही यह सृष्टि रूपी कार्य आपसे आप और बहुत तेजीके साथ बढ़ने लगता है। इस प्रकार बिना किसी कर्त्ताके ही उस निराकार ब्रह्म पर यह जो इन्द्रियगम्य आकारकी छाप पड़ती है, उसीको "कर्म" कहते हैं।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

"अब मैं संक्षेपमें अधिभूतका निरूपण करता हूँ। जैसे मेघ प्रकट होते और नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार जो ऊपरसे तो देखनेमें आता है, परन्तु वास्तवमें नश्वर है, जो पंचमहाभूतोंके अंशोंके परस्पर मिश्रणसे बना हुआ है, जो भूतोंका आश्रय ग्रहण करके और उन्हींमें मिश्रित होकर भासमान होता है, परन्तु जो नाम-रूप आदिसे विशिष्ट भूत-संयोगके बिगड़ते ही नष्ट हो जाता है, उसीको अधिभूत कहते हैं। अधिदैवतसे पुरुषका अभिप्राय समझना चाहिए। प्रकृतिके द्वारा जो जो वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, यह उन सबका उपभोग करता है। यह पुरुष ही चैतन्य अर्थात् बुद्धिका नेत्र अथवा द्रष्टा है, यही इन्द्रियोंके प्रदेशोंका मुख्य अधिकारी अथवा राजा है और यही वह वृक्ष है जिस पर देहके नष्ट होनेके उपरान्त संकल्प-विकल्प रूपी पक्षी जाकर विश्राम करते हैं। यह "अधिदैवत" नामका पुरुष वास्तवमें मूलवाला परमात्मा ही है, परन्तु परमात्मासे कुछ भिन्न हो गया है। यह अहंकार-निद्राके वशमें रहता है और इसी लिए स्वप्न-तुल्य मायाके झगड़ेमें हर्ष और शोक आदिका अनुभव करता है। जिसे लोग साधारणतः जीव कहते हैं, वह इसी पंचभूतात्मक शरीर-पिंडमेंका अधिदैवत है। जो इस-शरीर-रूपी राज्यमें शरीर-बुद्धिका लोप करता है, वह मैं ही हूँ और मुझे ही इस शरीरमेंका अधियज्ञ समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त जो अधिदैव और अधिभूत हैं, वे दोनों भी वस्तुतः मैं ही हूँ। परन्तु जब चोखा और निर्मल सोना घटिया सोनेमें मिल जाता है, तो क्या वह बढ़िया सोना भी हलके मेलका और घटिया सोना नहीं हो जाता? परन्तु फिर भी वह निर्मल सोना स्वयं कभी मलिन नहीं होता और न उस घटिया सोनेका अंश ही होता है। परन्तु जब तक वह हलके और घटिया सोनेके साथ मिला रहता है, तब तक उसे हलका और घटिया सोना ही कहना ठीक है। उसी प्रकार ये अधिभूत आदि जब तक प्रकृति या मायाके परदेसे ढँके हुए हैं, तब तक उन्हें मूल ब्रह्मसे भिन्न ही मानना चाहिए। परन्तु जब अविद्याका परदा दूर हो जाता है और भेद-बुद्धिकी गाँठ टूट जाती है, तब ये अधिभूत आदि सब दृश्य नष्ट होकर और परब्रह्मके साथ मिलकर एक-रूप हो जाते हैं। उस समय उनमें का पारस्परिक भेद भला कैसे रह सकता है? बालोंके जूड़े पर यदि स्वच्छ स्फटिक की शिला रख दी जाय तो नेत्रोंको वह स्फटिक शिला टूटी हुई सी दिखाई पड़ती है। परन्तु यदि उसके नीचेसे बालोंका वह जूड़ा या लट हटा ली जाय तो फिर कौन कह सकता है कि उस स्फटिकशिलाका वह टूटा हुआ रूप कहाँ चला जाता है? क्या उस समय कोई उसके टूटे हुए अंशोंको फिरसे जोड़ देता है? वास्तवमें यह बात तो होती ही नहीं। उस समय भी वह शिला पहलेकी ही

भाँति ज्योंकी त्यों और अखंड रहती है। वह तो केवल बालोंके जूड़े या लटकी संगतिके कारण ही टूटी हुई सी जान पड़ती है और इसी लिए उस जूड़े या लटके दूर होते ही वह फिर ज्योंकी त्यों और अखंड दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार जब अधिभूत आदिका अहंभाव नष्ट हो जाता है, तब परब्रह्मके साथ उसका वह मूलवाला ऐक्य ज्योंका त्यों और पहलेकी ही तरह बना रहता है। जिसमें यह ऐक्य होता है, वही अधियज्ञ मैं हूँ। हे अर्जुन, अपने मनमें यही अभिप्राय रखकर मैंने पहले (अर्थात्, 'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं' आदि श्लोकोंमें) तुम्हें यह बतलाया है कि कर्मोंसे ही सब यज्ञ उत्पन्न होते हैं। समस्त जीवोंकी विश्रान्तिका यह निष्काम ब्रह्म-सुखका गुप्त भांडार मैंने आज तुम्हें खोलकर दिखला दिया है। पहले अच्छी तरह वैराग्यका ईंधन लगाकर इन्द्रियोंकी अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए और तब उसी अग्निमें विषय-द्रव्योंकी आहुति देनी चाहिए। फिर वज्रासनकी भूमि शुद्ध करके इस शरीर-मंडपमें मूलबन्धकी मुद्राकी यज्ञवेदी बनानी चाहिए। इस प्रकारकी सिद्धि हो जाने पर इन्द्रिय-निग्रहके कुंडमें योग-रूपी मन्त्रका घोष करते हुए यथेष्ट मात्रामें इन्द्रिय-द्रव्योंको अर्पित करना चाहिए। फिर मन और प्राण-वायुके निग्रहको ही इस यज्ञ-विधानका समारम्भ मानकर निर्मल ज्ञान रूपी अग्निको सन्तुष्ट करना चाहिए। जब इस प्रकार ज्ञानकी अग्निमें सब कुछ अर्पित कर दिया जाता है, तब वह ज्ञान समस्त ज्ञेय वस्तुओंमें लीन हो जाता है और तब केवल ज्ञेयवाले स्वरूपमें ही सब जगह अवशिष्ट रह जाता है। इस ज्ञेयको ही "अधियज्ञ" कहते हैं।" इस प्रकार सर्वज्ञ श्रीकृष्णने जो बातें कहीं, वे सब तत्काल ही बुद्धिमान् अर्जुनकी समझमें आ गईं। यह देखकर श्रीकृष्णने कहा—"हे पार्थ, तुम अच्छी तरह मेरी बातें सुन रहे हो न?" श्रीकृष्णके ये शब्द सुनकर अर्जुनने अपने आपको परम धन्य समझा। बालककी तृप्ति देखकर माता भी तृप्त होती है और शिष्यका समाधान देखकर गुरुका भी समाधान होता है; और इस बातका ठीक ठीक अनुभव उस माता अथवा उस गुरुको ही हो सकता है; दूसरोंको तो इन बातोंकी ठीक ठीक कल्पना भी नहीं हो सकती। इसी लिए अर्जुनके शरीरमें सात्विक भावोंकी लहर उठनेसे पहले ही स्वयं श्रीकृष्णके शरीरमें सात्विक भावोंकी लहर उठी। वह लहर इतनी प्रबल थी कि किसी प्रकार रोके नहीं रुकती थी। परन्तु फिर भी श्रीकृष्णने किसी प्रकार अपनी बुद्धि ठिकाने रखकर पूर्णताको प्राप्त सुगन्धके समान अथवा अमृतकी परम शीतल लहरोंके समान कोमल और रसाल वचन कहने आरम्भ किये। उन्होंने कहा—"भइया श्रोता-श्रेष्ठ अर्जुन, सुनो। जब एक बार माया इस प्रकार जलने लगती है, तब उस अग्निमें उसे जलानेवाला ज्ञान भी जलकर राख हो जाता है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

"जिसे अधियज्ञ कहते हैं और जिसका वर्णन मैंने अभी तुमसे किया है उस अधियज्ञके सम्बन्धमें जो लोग यह समझते हैं कि वह आदिसे अन्त तक "मैं" ही हूँ, वे अपने शरीरको उसी घरके समान समझते हैं जो अवकाशको अपने भीतरी भागमें भी

भरे रहता है और स्वयं भी बाहरके उसी अवकाशमें रहता है। बस इसी प्रकार वे लोग ब्रह्म-रूप होकर अन्दर और बाहर सब जगह सदा ब्रह्म-स्वरूपमें ही निवास करते हैं। जब वे ब्रह्मानुभवके भीतरी घरमें दृढ़ निश्चयकी कोठरीमें प्रवेश करते हैं, तब उन्हें ब्रह्मके अतिरिक्त बाहरके और किसी पदार्थका कुछ भी स्मरण नहीं रहता। इस प्रकार जो लोग अन्दर और बाहर एक-रूप होकर मद्रूप हो जाते हैं, उनके लिए बाहरका पंचमहाभूतोंवाला देहरूपी आवरण इस प्रकार गिर जाता है कि उन्हें पता भी नहीं चलता। जिस समय यह शरीर खड़ा रहता है, जब उसी समय उन्हें उसकी कोई चिन्ता नहीं रहती, तब फिर यदि वह गिर पड़े तो भला उन्हें उसके गिरनेका क्या दुःख हो सकता है? अब यदि उनका शरीर गिर भी पड़े या नष्ट भी हो जाय, तो भी उनके ब्रह्मानुभवमें तिल मात्रकी भी कमी नहीं होती। उनकी वह अनुभूति मानों एकताकी जीती-जागती पुतली ही होती है। वह पुतली नित्यताके चौखटेमें बैठाई हुई होती है और सम-रसताके समुद्रमें धोकर वह इतनी स्वच्छ की हुई होती है कि फिर उसमें नामको भी कहीं मल बाकी नहीं रह जाता। यदि किसी गहरे जलाशयमें पानीका घड़ा डुबाया जाय तो वह अन्दर भी पानीसे भरा रहता है और बाहर भी चारों ओर पानीसे घिरा रहता है। अब उस अवस्थामें यदि वह घड़ा दैव-योगसे टूट जाय तो क्या उसके साथ वह जल भी टूट जाता है? अथवा जिस समय साँप अपनी केंचुली छोड़ देता है अथवा गरमीके कारण मनुष्य अपने शरीर परके वस्त्र उतारकर रख देता है, उस समय क्या कभी उस साँप अथवा मनुष्यके अंगोंमें भी किसी प्रकारका परिवर्तन या उलट-फेर होता है? ठीक इसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक देह भी नष्ट हो जाता है, परन्तु उसमेंकी ब्रह्म नामक सद्वस्तु उस देह आदिके बिना ही स्व-स्वरूपसे ज्योंकी त्यों बनी रहती है। फिर जो बुद्धि उस ब्रह्म स्वरूपके साथ सम-रस होकर स्वयं ब्रह्म ही बन जाती है, वह किस प्रकार छिन्न भिन्न और अव्यवस्थित हो सकती है? इसी लिए जो लोग इस प्रकार देहावसानके समय मुझे जानते हुए शरीर छोड़ते है, वे मद्रूप ही हो जाते हैं।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७॥

"साधारणतः यही नियम है कि जिस समय मृत्यु आती है, उस समय मनुष्य अपने मनमें जिसका ध्यान या स्मरण करता है, वही वह हो जाता है। जिस प्रकार कोई भयभीत होकर वायु-वेगसे किसी ओर दौड़ने लगे और दौड़ता हुआ अचानक कूएँमें गिर पड़े, उस समय उसके गिरनेसे पहले उसे सँभालनेके लिए आगे कोई वस्तु नहीं रहती, और इसी कारण उसके लिए कूएँमें गिरनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब मृत्युका समय आता है, तब जीवके सामने जो कल्पना आकर खड़ी होती है उसी कल्पनाके रूपके साथ मिल जानेके सिवा उस प्राणीके लिए

और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। इसी प्रकार जागते रहनेकी दशामें जीवको जिस बातका बराबर ध्यान बना रहता है, वही बात आँख लगने पर उसे स्वप्नमें भी दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार जीवित अवस्था में जीवकी जो लालसा पूरी नहीं होती, उसके प्रति मरनेके समय उसका अनुराग बहुत अधिक बढ़ जाता है। और यह नियम है कि मरनेके समय जीवको जिसका स्मरण होता है, उसीकी योनिमें वह जाता है। इसी लिए तुम सदा मेरा ही स्मरण रखा करो। तुम अपनी आँखोंसे जो कुछ देखो, कानोंसे जो कुछ सुनो, मनमें जो कुछ चिन्ता करो अथवा वाचासे जो कुछ बोलो, वह सब अन्दर और बाहर मद्रूप होकर ही देखो, सुनो, चिन्तन करो और बोलो—मद्रूप होकर ही सब प्रकारके आचरण करो। बस फिर सदा और सब जगह मैं ही सहज भावसे सिद्ध रहूँगा। हे अर्जुन, यदि तुमसे ऐसा हो सके तो फिर चाहे देहका नाश ही क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी तुम्हें मृत्युका कुछ भी भय न होगा। फिर भला केवल युद्ध करनेमें तुम्हें क्या डर हो सकता है? यदि तुम वास्तविक रूपमें अपना मन और बुद्धि मेरे आत्मस्वरूपमें अर्पण कर दोगे, तो मैं तुमसे प्रतिज्ञा करता हूँ और तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम मत्स्वरूप ही हो जाओगे। यदि तुम्हारे मनमें अभी तक इस बातकी शंका बनी ही हो कि यह किस प्रकार होगा, तो तुम पहलेसे ही इसका अभ्यास करके अनुभव कर लो। और यदि फल सिद्धि न हो तो तुम खुशीसे मुझपर क्रोध कर सकते हो।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

"इसी प्रकारके अभ्याससे यह कर्म-योग चित्तको निर्मल और समर्थ करता है। जिस प्रकार युक्तिके बल से पंगुल आदमी भी पहाड़ पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार कर्मयोगके अभ्याससे तुम अपना मन परब्रह्मके मार्ग में लगाओ। बस फिर मन और शरीर चाहे रहें और चाहे नष्ट हो जायँ, उससे कुछ भी हानि न होगी। जो चित्त मनुष्यको अनेक प्रकारकी अवस्थाओं में ले जाता है, वह यदि आत्मामें रत हो जाय तो फिर इस बातका ध्यान किसे रह सकता है कि यह शरीर नष्ट हो गया या बचा हुआ है? जो पानी नदीके प्रवाहके साथ जोरोंसे बहता हुआ जाकर समुद्रमें मिल जाता है, क्या वह कभी यह देखने के लिए लौटकर आता है कि पीछे क्या हो रहा है? कभी नहीं। वह तो समुद्रके साथ एक-रूप होकर उसीमें रह जाता है। इसी प्रकार चित्त भी चैतन्य होकर पर-ब्रह्ममें ही रह जाता है।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥

"जिसमें जन्म-मरणके सब झगड़ोंका अन्त हो जाता है, जो परमानन्द-स्वरूप है; जो निराकार होता है, जिसमें जन्म और मरण नहीं होता, जो सर्व-साक्षी है, जो

आकाशसे भी प्राचीन है, जो परमाणुओं से भी कहीं अधिक छोटा है, जिसके सहवास-से विश्वको चेतना प्राप्त होती है, जो इन सब दृश्योंको प्रसव करता है, जिसके कारण यह विश्व जीवित रहता है, जिसके सामने हेतु अर्थात् कार्य-कारणवाला सम्बन्ध खड़ा नहीं रह सकता, जो कल्पनासे भी परे है, जो दिनके समय भी चर्मचक्षुओंके लिए उसी प्रकार अन्धकारके समान अदृश्य रहता है, जिस प्रकार दीपक अग्निमें प्रवेश नहीं कर सकता अथवा जिस प्रकार तेजमें अन्धकारका प्रवेश नहीं हो सकता, जो पूर्ण रूपसे निर्मल किए हुए सूर्य-रूपी किरणोंकी राशि है, जो ज्ञानियोंके लिए सदा उदित रहनेवाले सूर्य के समान है और जिसके लिए लक्षणासे भी "अस्तमान" शब्दका प्रयोग नहीं किया जा सकता, उस निर्दोष और परिपूर्ण स्वरूपवाले ब्रह्मको जो मरनेके समय शान्त चित्तसे और ज्ञानपूर्वक स्मरण करता है, जो इस बाह्य शरीरसे पद्म नामका योगासन लगाकर और उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठता है, जो कर्म-योगका शाश्वत सुख पूरी तरहसे अपने आपमें भरकर अन्दर ही अन्दर एकत्र की हुई मनकी शक्तिसे और ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्तिके प्रेमसे बहुत शीघ्र आत्मस्वरूप प्राप्त करनेके लिए सिद्ध किये हुए योगकी सहायतासे, सुषुम्नाके बीचवाले मार्गसे, जिस समय अग्नि चक्रसे ब्रह्म-रन्ध्रकी ओर जाने लगता है और जिस समय प्राण-वायु महदाकाशमें संचार करने लगता है, उस समय देहादिका और चित्तका संयोग जिसे बहुत ही तुच्छ और ऊपरी दिखाई देता है, परन्तु जो मनकी शान्तिसे सँभला रहता है, भक्तिकी भावनासे भरपूर रहता है और योगकी शक्तिसे अच्छी तरह सिद्ध हुआ रहता है, वही जड़ और अ-जड़का लय करता है और भौंहोंके मध्य भागमें घूमता रहता है। जिस प्रकार घण्टेका नाद घण्टेमें ही लीन हो जाता है अथवा जिस प्रकार किसी बरतनके नीचे दबाकर रखे हुए दीपकके सम्बन्धमें किसीको यह पता नहीं चलता कि वह कब बुझ गया, उसी प्रकार जो ऐसी शान्त अवस्थामें यह शरीर छोड़ जाता है, वही पूर्ण परब्रह्म होता है। परम पुरुष नामका जो मेरा स्वयं-सिद्ध तेजः स्वरूप है, ठीक वही स्वरूप होकर वह रहता है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

जो सर्वश्रेष्ठ ज्ञान सब प्रकारके ज्ञानोंका अन्त और चरम सीमा है, उसी सर्वश्रेष्ठ ज्ञानकी खानि ज्ञानियोंकी बुद्धिने जिसे "अक्षर" कहा है और जो प्रचंड वायुसे भी कभी उड़ नहीं सकता, वही सच्चा आकाश है। यदि यह बात न हो और वह केवल मेघ ही हो, तो भला वह वायुके सामने कैसे ठहर सकता है? इसीलिए ज्ञाता लोग कहते हैं कि जिसका ज्ञान केवल ज्ञानियोंको ही होता है और जिसकी नाप केवल ज्ञान से ही होती है, परन्तु फिर भी जो स्वभावतः अक्षर है, वह कभी जाना नहीं जा सकता। इसी लिए वेदज्ञानी पुरुष जिसे "अक्षर" कहते हैं और जो प्रकृतिसे भी परेका है, जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और जो विषयोंमेंका विषाक्त अंश निकालकर अथवा पीछे छोड़-कर और सब इन्द्रियोंको निर्मल करके उदासीन वृत्तिसे शरीरकी छायामें बैठा हुआ है, वह विरक्त पुरुष भी जिसके लिए सदा उत्सुक रहता है और इच्छाहीन अथवा निरिच्छ

पुरुषोंको भी जिसकी इच्छा होती है, जिसके प्रति होने वाले अनुरागके कारण कुछ लोग ब्रह्मचर्यके कठोर व्रतके संकटोंकी भी परवा न करके कठोरतापूर्वक अपनी इन्द्रियोंको निर्बल कर डालते हैं, वह दुर्लभ, अचिन्त्य और अनन्त पद, जिसके किनारे पर ही वेद डूबते रहते हैं, वही पुरुष प्राप्त करते हैं जो ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे अन्त समयमें मुझे स्मरण करते हैं। अब, हे अर्जुन, मैं फिर एक बार तुम्हें इस स्थितिके सम्बन्धकी बातें बतलाता हूँ।" इस पर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, मैं तो स्वयं ही सोच रहा था कि आपसे यही प्रार्थना करूँ। पर इसी बीचमें आपने स्वयं ही मुझ पर यह कृपा की है कि आप यह बात मुझे फिरसे बतलानेके लिए कह रहे हैं। अतः हे देव, आप अब वह बात मुझे बतलावें। परन्तु आप जो कुछ कहें, वह बहुत ही सरल और सुगम होना चाहिए।" उस समय त्रिभुवनको प्रकाशित करनेवाले श्रीकृष्णने कहा—"अर्जुन, क्या तुम मुझे नहीं पहचानते? मैं संक्षेपमें ही ये बातें तुम्हें बतलाता हूँ; सुनो। परन्तु तुम्हें केवल इस बातका प्रयत्न करना चाहिए कि मनकी जो बाहरकी ओर दौड़नेकी स्वाभाविक टेव है, वह छूट जाय और वह सदा हृदय-रूपी दहमें ही स्थित रहे। बस फिर सब बातें आपसे आप तुम्हारी समझमें आ जायँगी।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥

"परन्तु यह बात होगी कब और कैसे? यह बात तभी होगी जब इन्द्रियोंके सभी दरवाजोंको निग्रह अच्छी तरह बन्द कर देगा। उस अवस्थामें मन सहजमें ही अन्दर ही अन्दर दबकर जम जायगा और वह दबाया हुआ मन हृदयमें ही पड़ा रहेगा। जिस प्रकार वह व्यक्ति कभी अपना घर छोड़कर कहीं नहीं जाता, जिसके हाथ-पैर टूट जाते हैं और जो लूला-लँगड़ा हो जाता है, उसी प्रकार जब मन भी अच्छी तरह अन्दर बन्द हो जाय, तब मनुष्यको प्राण-वायुके द्वारा प्रणव अर्थात् ओंकारका ध्यान करना चाहिए और तब क्रम क्रमसे उस प्राण-वायुको ब्रह्म-रन्ध्र तक ले आना चाहिए। जिस समय प्राणको ब्रह्म-रन्ध्रमें ले आते हैं, उस समय धारणाके बलसे उसे वहाँ इस प्रकार स्थिर रखनेकी आवश्यकता होती है कि वह वहाँ इस तरहसे रहे कि ब्रह्माकाशमें मिलता हुआ-सा हो।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥

"इसके उपरान्त अ, उ और म् इन तीन मात्राओंका जब तक अर्ध-मात्रामें लय न हो, तब तक प्राण-वायुको चिदाकाशमें निश्चल करना चाहिए। इससे ऐक्य प्राप्त होते ही वह सारा ओंकार मूलब्रह्ममें भरा हुआ दिखाई देगा। इससे ओंकारके स्मरणका भी अन्त हो जाता है और प्राण-वायु भी लीन हो जाता है। इसके उपरान्त ओंकारसे भी परे रहनेवाला केवल शुद्ध ब्रह्मानन्द स्वरूप ही बच रहता है। इसलिए ओंकार ही मेरा एकाक्षर ब्रह्म स्वरूप है। जो मेरे इस स्वरूपका चिन्तन करता हुआ

वह जड़ शरीर छोड़ता है, वह निस्सन्देह मेरा शुद्ध शरीर प्राप्त करता है; और जब वह स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब इससे आगे प्राप्त करने योग्य और कोई वस्तु बाकी ही नहीं रह जाती। अब, हे अर्जुन, यदि तुम्हारे मनमें इस प्रकारकी शंका उत्पन्न हो कि—"यह कैसे समझा जाय कि अन्तिम कालमें वह स्मरण होगा ही, जिस समय सब इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हों, जीवनका सारा सुख और समाधान नष्ट हो गया हो, इस प्रकारके स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ने लग गये हों कि अन्दर और बाहर दोनों ओर मृत्युने अच्छी तरह ग्रस लिया है? उस समय आसन लगाकर कौन बैठ सकता है और इन्द्रियोंका निरोध कौन कर सकता है और मनुष्य किसके अन्तःकरणसे ओंकारका चिन्तन करे? ये सब बातें तो असम्भव ही हैं।" तो तुम्हें इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग सदा अखंड रूपसे मेरा चिन्तन करते रहते हैं, उनके अन्तिम समयमें मैं स्वयं ही दासोंको तरह उनके काम आता हूँ।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

"जो लोग विषयोंका अन्त करके और बन्धक कर्म-प्रवृत्तिके पैरोंमें बेड़ियाँ डालकर निरन्तर मुझे ही अपने हृदयमें रखते हैं और मेरे स्वरूपके सुखका उपभोग करते हैं और इस सुखोपभोगका सेवन करनेकी अवस्थामें जिन्हें भूख और प्यास भी नहीं लगती, फिर नेत्र हिलानेके समान छोटी-मोटी बातोंका तो पूछना ही क्या है, और इस प्रकार जो लोग निरन्तर मेरे स्वरूपमें एकाग्र होकर मिले रहते हैं और हृदयसे मेरे साथ लगकर मत्स्वरूप ही हुए रहते हैं, उन लोगोंके सम्बन्धमें भी यदि यही बात हो कि देह-पातके समय जब वे मेरा स्मरण करें, केवल तभी वे मुझे प्राप्त कर सकें, तो फिर उपासनाका महत्व ही क्या रह जायगा? यदि कोई दीन प्राणी संकटमें पड़कर शुद्ध हृदयसे मुझे पुकारे और कहे कि—"हे नारायण, जल्दी आकर मेरी सहायता करो।" तो क्या उसकी यह पुकार सुनकर और उसके दुःखसे विकल होकर मैं उसकी सहायता करनेके लिए नहीं दौड़ पड़ता? अब यदि मैं अपने एकनिष्ठ भक्तोंकी भी ऐसी ही अवस्था होने दूँ और अन्त समयमें तभी उनके पास पहुँचूँ, जब वे मेरा स्मरण करें, तो फिर भक्ति करनेकी कामना किसे रह जायगी? इसी लिए मैं कहता हूँ कि इस प्रकारकी शंकाको तुम क्षण भरके लिए भी अपने मनमें स्थान मत दो। वे भक्त जिस समय मुझे स्मरण करेंगे, उसी समय मुझे दौड़कर उनके पास पहुँचना पड़ेगा। बस एक निष्ठ उपासनाका भार यों ही मुझसे सहन नहीं हो सकता। मेरे सिर पर उन लोगोंकी उस भक्तिका ऋण रहता है और वही ऋण चुकानेके लिए भक्तोंके अन्तिम समयमें उनकी सेवाके लिए मुझे बहुत ही तत्परता-पूर्वक उद्यत होना पड़ता है। मुझे यह भय रहता है कि मेरे उन कोमल भक्तोंको शरीरकी दुर्बलताके कारण कहीं किसी प्रकारकी पीड़ा न हो; और इसी लिए मैं उन लोगोंको आत्म-ज्ञानके पिंजरेमें सुरक्षित रूपसे रखता हूँ;

और उन पर आत्म-स्मरणकी शान्त तथा शीतल छाया रखता हूँ। और इस प्रकार मैं उनकी बुद्धि निरन्तर स्थिर और शान्त कर देता हूँ। इसी लिए मेरे भक्तोंको देहावसान-के समय नामको भी कोई कष्ट नहीं होता। अपने उन परम प्रिय भक्तोंको मैं सहजमें ही अपने स्वरूपकी ओर ले आता हूँ। उनके ऊपर शरीरका जो बाहरी कवच लगा रहता है, उसे मैं हटा देता हूँ, उन परसे झूठे अहं-भावकी धूल झाड़ देता हूँ और उनकी शुद्ध वासनाको निर्लिप्त रखकर उन्हें अपने स्वरूपके साथ मिला लेता हूँ। इसके अतिरिक्त भक्तोंको भी एकताके भावके कारण अपने शरीरके लिए विशेष ममता नहीं होती और इसलिए अपने शरीरका त्याग करते समय उन्हें भी उसके वियोगका दुःख नहीं होता। इसी प्रकार उन भक्तोंके मनमें यह भाव भी नहीं होता कि देह-पात होते ही मैं उनके पास पहुँच जाऊँ और उन्हें आत्म-स्वरूपमें ले आऊँ; क्योंकि देहधारी रहनेकी अवस्था-में ही वे मेरे स्वरूपमें मिले रहते हैं। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस संसारमें उनका जो अस्तित्व होता है, वह शरीर-रूपी जलमें केवल छायाके समान ही होता है। जलमें चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है। पर जब वह जल नष्ट हो जाता है, तब वह प्रतिबिम्ब वास्तवमें आपसे आप चन्द्रमामें ही चला जाता है। ठीक इसी प्रकार जब इस शरीर-रूपी जलका अन्त हो जाता है, तब वे लोग लोग वास्तवमें आत्म-स्वरूपमें ही रहते हैं। इस संसारमें उनका जो अस्तित्व होता है, वह वास्तविक नहीं होता, बल्कि केवल प्रतिबिम्बके समान होता है और उनका वास्तविक स्वरूप ब्रह्म-स्वरूप ही होता है। इस प्रकार जो लोग मद्रूप हुए रहते हैं, उन्हें मैं सदा अनायास ही प्राप्त होता हूँ और इसीलिए देहावसानके समय वे मेरा स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है। फिर जो शरीर क्लेश-वृक्षोंका आगर है, जो आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक तीनों प्रकारके तापोंकी केवल अँगीठी ही है, जो मृत्यु-रूपी काकके आगे रखी हुई केवल बलि है, जो विपुल मात्रामें दीनताका प्रसव या उत्पत्ति करता है, दुःखों-को बढ़ाता है और समस्त दुःखोंका भांडार बनता है, जो दुष्ट बुद्धिका आदि कारण है और भ्रान्तिकी प्रत्यक्ष मूर्ति है, जो संसारका मूल आधार है, जो विकारोंका क्रीड़ा-स्थल और सब प्रकारके रोगोंका खाद है, जो कालकी जूठी खिचड़ी, आशाका आश्रय-स्थल और जन्म तथा मरणका उपजाऊ खेत है, जो भ्रमसे भरा हुआ, विकल्पसे बना हुआ और दुःख रूपी बिच्छुओंसे बिलकुल भरा हुआ है, जो बाघकी गुफा, वारांगनाओंके साथ रहनेवाला और विषय-भोगका सर्वमान्य साधन है, जो यक्षिणीके प्रेमके समान अथवा ठंडे किये हुए विषके घूँटके समान अथवा ठगके दिखौआ विश्वसनीय सद्व्यवहारके समान है, जो कुष्टके रोगियोंका आलिंगन, काल-सर्पकी कोमलता और बहेलियेका स्वाभाविक गान है, जो शत्रु द्वारा किया हुआ आतिथ्य-सत्कार, दुर्जनोंके द्वारा दिखलाया हुआ आदर-सत्कार है, अथवा जो समस्त अनर्थोंका समुद्र है, जो निद्रामें देखे हुए स्वप्नके समान है, जो मृग-जलसे सींचा हुआ वन अथवा धुएँके कणोंसे बना हुआ आकाश है, वह शरीर वे लोग फिर कभी प्राप्त नहीं करते जो एक बार मेरे असीम ब्रह्म-स्वरूपमें पहुँचकर तद्रूप हो जाते हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

"साधारणतः जिन लोगोंको अपने ब्रह्म-ज्ञानका अभिमान होता है, वे भी अपने जन्ममरणके चक्रका कभी अन्त नहीं कर सकते । लेकिन जिस प्रकार मरे हुए आदमीके पेटमें दर्द नहीं होता अथवा जिस प्रकार जाग उठने पर कोई स्वप्नमें देखी हुई बाढ़में नहीं डूब सकता, उसी प्रकार जो लोग मद्रूपमें आ पहुँचते हैं, वे संसारके मलमें कभी नहीं फँसते । व्यावहारिक दृष्टिसे देखने पर जो ब्रह्म-भुवन इस नाम-रूपात्मक संसारका मस्तक है, जो चिरस्थायी गुणोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ है और विश्व रूपी पर्वतका सबसे ऊँचा शिखर है, जिस ब्रह्म-भुवनका एक पहर दिन चढ़ने तक एक इन्द्रकी आयुष्य भी नहीं टिकती और जिसका एक दिन पूरा होनेमें चौदह इन्द्रोंकी पंक्ति क्रम क्रमसे उदित होकर अन्तमें अस्त हो जाती है, चार युगोंकी हजार चौकड़ियाँ बीतने पर जिस ब्रह्म-भुवनका एक दिवस होता है और इसी प्रकारकी और भी एक हजार चौकड़ियाँ बीतने पर जिसकी एक रात होती है और जहाँके दिन और रातका मान इस प्रकारका है, उस ब्रह्म-भुवनमें पहुँचकर भाग्यवान् पुरुष कभी नहीं मरते और वे स्वर्गमें चिरजीवी होकर सब कुछ देखते रहते हैं। वहाँ सामान्य देवगणोंके सम्बन्धमें भला क्या कहा जाय ! जरा यह देखो कि समस्त देवताओंका राजा जो इन्द्र है, स्वयं उस इन्द्रकी ही वहाँ क्या दशा होती है ! एक ही दिनमें चौदह चौदह इन्द्र आते और चले जाते हैं। परन्तु जो लोग ब्रह्मदेवके भी आठ पहरोंवाला दिवस स्वयं अपनी आँखोंसे देखते हैं उन्हें "अहोरात्रविद्" कहते हैं ।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥१८॥

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

"उस ब्रह्म-लोकमें जब दिन निकलता है, तब ऐसे निराकार ब्रह्मका, जिसकी गणना भी नहीं की जा सकती, यह नाम-रूपात्मक साकार विश्व बनता है । जब उस ब्रह्म-भुवनके दिवसके चार पहर पूरे हो जाते हैं, तब इस नाम-रूपात्मक विश्वका पूर्ण रूपसे नाश होने लगता है; फिर जब उस ब्रह्म-भुवनका दिन चढ़ता है, तब इस विश्वका पुनः निर्माण होने लगता है । जिस प्रकार शरद् ऋतुका प्रारम्भ होते ही सब मेघ आकाशमें ही अदृश्य हो जाते हैं और फिर ग्रीष्म ऋतुके अन्तमें जिस प्रकार वे फिर उसी आकाश में उत्पन्न होकर दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार ब्रह्माके दिवसके आरम्भमें इस पंचभूतात्मक सृष्टिका उदय होता है, और जब तक उस दिवसकी सहस्र युग चौकड़ियों-

की संख्या पूरी नहीं हो जाती, तब तक इस सृष्टि-समुदायका अस्तित्व रहता है । फिर जब ब्रह्माकी रात्रिका समय आता है, तब इस भूतात्मक साकार विश्वका उस अव्यक्त ब्रह्म-तत्वमें लोप हो जाता है । ब्रह्माका यह रात्रिकाल भी सहस्र युग चौकड़ियोंका ही है । जब उस रात्रि-कालका अन्त हो जाता है, तब फिर पहलेकी ही तरह नाम-रूपात्मक विश्वकी रचना होने लगती है । परन्तु इन सब बातोंके कहनेका अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यही है कि इस ब्रह्म-भुवनके एक दिवस और रात्रिमें जगतका उदय और प्रलय होता है । इस ब्रह्मभुवनका विस्तार इतना अधिक है कि उसमें समस्त विश्वका बीज सन्निहित है, परन्तु इस ब्रह्म-भुवनको भी अन्तमें जन्म और मरणके चक्रमें पड़ना ही पड़ता है । हे अर्जुन, सच तो यह है कि उस ब्रह्माके नगरका यह विश्व-रूपी बाजार दिन निकलते ही लग जाता है और जब रात्रि-काल आता है, तब यह बाजार आपसे आप उठ जाता है । तात्पर्य यह कि यह अपने मूल बीजमें ही जाकर समा जाता है और उसीके साथ मिलकर एक हो जाता है । जिस प्रकार वृक्ष भी अन्तमें बीजमें ही लीन होता है अथवा जिस प्रकार मेघका पर्यवसान गगन में होता है, उसी प्रकार अनेकत्वका भेद-भाव जिस स्थितिमें एक-रूप होकर समा जाता है, उसी स्थितिका नाम "साम्य" है ।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥
पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥

"इस साम्यमें न तो किसीकी न्यूनता रहती है और न किसीकी अधिकता होती है: इसी लिए उसमें "भूत" शब्दके लिए भी कोई स्थान नहीं रहता । जिस प्रकार दहीका रूप धारण कर लेने पर दूधके नाम और रूपका लोप हो जाता है, उसी प्रकार जब जगतके आकारका उस साम्यमें लोप हो जाता है, तब संसारकी संसारताका भी अन्त हो जाता है । परन्तु फिर भी जिस बीजसे उस साकारकी उत्पत्ति हुई थी, उस बीजमें साम्य स्थितिमें वह ज्योंका त्यों बना रहता है । उस समय स्वभावतः उसका नाम "अव्यक्त" रहता है और उस अव्यक्तसे जिसका आकार बनता है, उसीको "व्यक्त" कहते हैं । ये दोनों नाम केवल समझनेके लिए बतलाये जाते हैं । परन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो ये दोनों कोई अलग अलग वस्तुएँ नहीं हैं । सोना जब यों ही गलाकर ढाल दिया जाता है, तब उसको पासा कहते हैं । परन्तु जब उस सोनेका आभूषण बन जाता है, तब उस पासेका वह पुराना और अनगढ़ आकार नष्ट हो जाता है । परन्तु जिस प्रकार ये दोनों ही विकार उसी मूलभूत और एक स्वरूप सोनेके ही होते हैं, उसी प्रकार व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों विकार भी उस एक परब्रह्ममें ही होते हैं । परन्तु वह परब्रह्म न तो व्यक्त ही है और न अव्यक्त ही है । वह नित्य भी नहीं है और अनित्य भी नहीं है । वह इन दोनों ही विकारोंसे परे और अनादि-सिद्ध है । वह स्वयं ही सारा विश्व हो जाता

है, परन्तु विश्वके नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता। जिस प्रकार लिखे हुए अक्षर यदि पोंछ डाले जायँ तो भी उनका अर्थ नहीं पोंछा जाता अथवा जिस प्रकार लहरें उत्पन्न होती हैं और फिर विलीन हो जाती हैं, परन्तु पानी फिर भी अपने स्वरूपमें अखंड रहता है, उसी प्रकार भूतोंका नाश हो जाने पर भी जो अविनाशी रहता है, अथवा उस अलंकारमें जिसका स्वरूप गलाकर नष्ट किया जा सकता है, वह सोना रहता है जिसका स्वरूप गलाने पर भी नष्ट नहीं होता और किसी न किसी रूपमें बना रहता है, उसी प्रकार जीव-रूपी साकार वस्तुका अन्त हो जाने पर भी जो सदा अमर ही रहता है, जिसे समझानेके लिए यदि चाहें तो कौतुकसे अव्यक्त कह सकते हैं, परन्तु जिसके सम्बन्धमें यह वर्णन या विशेषण उचित नहीं जान पड़ता, क्योंकि वह मन या बुद्धिके अधिकारमें ही नहीं आता और आकार धारण करने पर भी उसकी निराकारताका लोप नहीं होता और आकारका लोप हो जाने पर भी जो शाश्वत रूपसे बना रहता है और इसी लिए जिसे "अक्षर" कहते हैं और इसी नामसे जिसके नाश-रहित होनेका बोध होता है और उसके आगे और कोई मार्ग ही न रह जानेके कारण जिसे परम गति कहते हैं, परन्तु जो इन देह-रूपी नगरोंमें सोया हुआ-सा रहता है, वही अव्यक्त ब्रह्म है। क्योंकि वह न तो कोई कर्म कराता ही है और न स्वयं करता है, पर फिर भी, हे अर्जुन, शरीरके जितने व्यापार तथा व्यवहार हैं, उनमेंसे एक भी व्यापार या व्यवहार बन्द नहीं होता और दसों इन्द्रियोंके मार्ग समान रूपसे चलते रहते हैं। मनके चौराहे पर विषयोंका बाजार खुलता है और उसके सुखों और दुःखोंका राज-भाग अन्दर रहनेवाले जीवको भी प्राप्त होता है। परन्तु फिर भी जैसे राजाके सुखसे सोये रहने पर भी देशके समस्त व्यापार तथा व्यवहार बन्द नहीं हो जाते और प्रजाजन अपनी अपनी रुचिके अनुसार सब उद्योग तथा कार्य करते ही रहते हैं, इसी प्रकार बुद्धिका जानना, मनका लेन देन, इन्द्रियोंके कर्म, वायुका चलन आदि शरीरके समस्त व्यापार उसके न करने पर भी खूब अच्छी तरह चलते रहते हैं। जिस प्रकार सूर्यके न चलाने पर भी समस्त लोक आपसे आप चलते रहते हैं, हे अर्जुन, उसी प्रकार इस शरीरमें सोये हुएके समान रहने पर भी जिसे लोग "पुरुष" कहते हैं और पतिव्रता प्रकृतिके साथ एक पत्नी-व्रतसे रहनेके कारण भी जिसे "पुरुष" कहा जा सकता है और इतनी व्यापक बुद्धि रखनेवाले वेद भी जिसका आँगन तक नहीं देख सकते, फिर प्रत्यक्ष घरकी देखनेकी बात तो बहुत दूर है, और जो इतना अधिक व्यापक है कि समस्त गगनको भी ढँक लेता है, इस प्रकार अपने मनमें लाकर श्रेष्ठ योगीजन जिसे "परात्पर" कहते हैं, जो एकनिष्ठ और एकान्तिक भक्तोंके घर आप ही ढूँढता हुआ आता है, जो काया, वाचा या मनसे भी दूसरी बातकी ओर ध्यान ही नहीं देता, ऐसे एकनिष्ठ भक्तोंको जो निरन्तर फसल देनेवाला उर्वर खेत है, जिसके मनमें इस बातका स्वाभाविक निश्चय हो चुका है कि यह सारा त्रिभुवन केवल ब्रह्म ही है, उस श्रद्धावान भक्तका जो आराम-स्थान है, जो निरभिमानियोंको बड़प्पन या महत्व देता है, जो गुणहीनोंको ज्ञान देता है और जो निस्पृहोंको सुखका साम्राज्य देता है, जो सन्तुष्टोंको अन्नसे भरा हुआ थाल देता है, जो संसारके

विषयोंसे निश्चिन्त रहनेवाले निराश्रितोंकी माताके समान रक्षा करता है और जिसके घर तक पहुँचनेका सरल मार्ग केवल भक्ति ही है, वही वह अव्यक्त और अक्षर ब्रह्म है। हे अर्जुन, इस प्रकारके वर्णन करके मैं क्यों व्यर्थ विस्तार करूँ? तात्पर्य यह कि जिस स्थान पर पहुँचते ही जीव तद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार ठंडकके कारण गरम पानी भी बिलकुल ठंडा हो जाता है अथवा सूर्यके सामने आते ही जिस प्रकार अन्धकार भी प्रकाशमें परिवर्तित हो जाता है, उसी प्रकार जिस स्थान पर पहुँचते ही संसारका बिलकुल मोक्ष ही हो जाता है अथवा जिस प्रकार अग्निमें पड़नेवाली लकड़ी भी अग्निरूप ही हो जाती है, फिर चाहे कुछ ही क्यों न किया जाय और कितना ही क्यों न ढूँढा जाय, पर फिर भी उसका लकड़ी-पन कहीं नहीं मिलता अथवा, हे अर्जुन, एक बार ऊखके रससे शक्कर बन जाने पर चाहे कितना ही बुद्धिमान और कुशल पुरुष क्यों न हो, परन्तु फिर उस शक्करसे ऊख नहीं बना सकता अथवा पारसके स्पर्शसे एक बार लोहेसे सोना बन जाने पर फिर लाख उपाय करने पर भी उस लोहेका वह लोहापन लौटकर नहीं आ सकता जो पहले नष्ट हो चुका होता है, अथवा एक बार दूधसे घी बन जाने पर फिर उससे कभी दूध नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जहाँ पहुँचकर मिल जानेपर फिर जन्म और मृत्युकी आवृत्ति बाकी नहीं रह जाती, वही वास्तवमें मेरा सर्वश्रेष्ठ स्थान है। और अपने हृदयका यह गूढ़ भाव मैं तुम्हें खोलकर और स्पष्ट करके दिखला रहा हूँ।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥

"देहावसानके समय योगी पुरुष मेरे जिस स्वरूपमें मिल जाते हैं, वह स्वरूप और भी एक प्रकारसे सहजमें समझा जा सकता है। यदि कभी अकस्मात् देह-पात हो जाय अथवा किसी अनुचित समयमें देह-पात हो जाय, तो फिर देह धारण करना आवश्यक होता है। परन्तु यदि शास्त्रोक्त शुद्ध समयमें वह देह विसर्जन करे, तो देह विसर्जन करते ही वह ब्रह्म-रूप हो जाता है। परन्तु यदि असमयमें देह-पात हो तो उसे पुनः जन्म और मरणके बन्धनमें पड़ना पड़ता है। इसलिए "सायुज्य" अर्थात् परब्रह्मके साथ एक-रूप होना और पुनरावृत्ति अर्थात् बारबार जन्म और मरणके फेरमें पड़ना ये दोनों ही बातें देह-पातके समय पर निर्भर करती हैं। इसी लिए इस प्रसंगमें मैं तुम्हें देह-पातके समय का तत्व बतला देना चाहता हूँ। हे अर्जुन, सुनो; जिस समय मृत्युकी तन्द्रा आती है, उस समय पंचमहाभूत अपने अपने रास्तेसे निकलकर चलते बनते हैं। अतः जब देह-विसर्जनका समय आवे, तब बुद्धि भ्रान्त न हो, स्मृति अन्धी न हो जाय और शरीरके साथ ही साथ मन भी न मर जाय; ब्रह्म-स्वरूपके अनुभवका कवच मिल जाय और पंच-प्राण नामक यह चेतना-समूह बिलकुल ठीक अवस्थामें रहे और पूरा पूरा काम दे और इसी प्रकार अन्तरिन्द्रियोंका समुदाय भी ठीक अवस्थामें रहे और पूरा पूरा काम दे और प्राणोंके प्रयाणके समय तक ज्योंका त्यों बना रहे, आदि इन सब बातोंके लिए यह बात बहुत ही आवश्यक है कि शरीरके अन्दरकी अग्नि अर्थात् उष्णता बराबर अन्त तक बनी रहे। देखो, यदि हवाके झोंके या पानीके थपेड़ेसे दीपककी ज्योति बुझ जाय और

उसकी दीपकता अर्थात् प्रकाश देनेकी शक्ति नष्ट हो जाय तो फिर यदि अपनी दृष्टि अच्छी भी हो तो भी भला उसे क्या दिखलाई पड़ सकता है ? इसी प्रकार देह-पातके समयके भयंकर वातप्रकोपसे जब शरीरका अन्दर और बाहर सब कफसे व्याप्त हो जाता है, जब शरीरगत उष्णताकी कला बुझ जाती है, उस समय स्वयं प्राणोंमें भी प्राण नहीं रह जाते, फिर बुद्धिका तो कुछ कहना ही नहीं है। बिना शरीर-गत ऊष्णताके शरीरमें जीवन-तत्व रह ही नहीं सकता। जब इस शरीरकी उष्णता ही नष्ट हो गई, तब यह शरीर ही क्यों और कैसे रह सकता है ? उस अवस्थामें तो इसे कीचड़ या गीली मिट्टीका गोला ही समझना चाहिए। ऐसी अवस्थामें आयुष्यका काल अँधेरेमें पड़कर व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है और यह पता ही नहीं चलता कि कब इस शरीरका अन्त होगा। अब ऐसी अवस्थामें जब मनुष्य अपने मनमें यह विचार करता है कि मैं अपना पुराना स्मरण जाग्रत रखूँ और शरीर छोड़कर आत्म-स्वरूपमें मिल जाऊँ, त्योंही कफ आदिके कारण कीचड़ बनी हुई इस शरीरकी जीवन-कला नष्ट हो जाती है और अगली-पिछली सारी स्मृति जाती रहती है। इसी लिए जिस प्रकार धनका भांडार दिखाई पड़नेसे पहले ही किसीके हाथका दीपक बुझ जाय, उसी प्रकार पहलेसे किया हुआ योगाभ्यास मृत्यु आनेसे पहले ही नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि ज्ञानका मूल आधार शरीर-गत उष्णता ही है और प्राणोंके प्रयाणके समय इस शरीरस्थ अग्निके भर-पूर बलकी आवश्यकता होती है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥२४॥

"उस समय शरीरके अन्दर तो अग्निकी ज्योतिका प्रकाश रहना चाहिए और बाहर शुद्ध पक्ष, दिवस और उत्तरायणके छः महीनोंमेंसे कोई महीना होना चाहिए; और इस प्रकार सभी अच्छे योग मिलने चाहिएँ। ऐसे अच्छे योगमें जो ब्रह्मज्ञानी देहत्याग करते हैं, वे ब्रह्म-स्वरूपमें मिल जाते हैं। हे अर्जुन, स्मरण रखो, इस योगका इतना अधिक महात्म्य है और यही मोक्षके नगरमें पहुँचनेका सरल मार्ग है। इस मार्गकी पहली सीढ़ी शरीरगत अग्नि, दूसरी सीढ़ी उस अग्निकी ज्योति, तीसरी सीढ़ी दिनका समय, चौथी सीढ़ी शुद्ध पक्ष और इसके बाद पाँचवीं या सबसे ऊपरकी सीढ़ी उत्तरायणके छः महीनोंमेंसे कोई एक महीना है। इसी पाँच सीढ़ियोंवाले मार्गसे योगी-जन ऐक्यके मोक्ष-सदनमें पहुँचते है। इसी लिए इन्हें देह-पातका उत्तम समय समझो ! इसीको अर्चिरादि (अर्थात् सूर्यकी किरणोंवाला मार्ग) कहते हैं। अब मैं तुम्हें यह भी बतला देता हूँ कि देह-त्यागके लिए अयोग्य समय कौन-सा है। सुनो।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥२५॥

"मरनेके समय वायु और कफका प्रकोप होता है, जिससे अन्तःकरणमें अन्धकार भर जाता है। उस समय सब इन्द्रियाँ लकड़ीकी तरह जड़ हो जाती हैं, स्मृति भ्रममें पड़ जाती है, मन बहुत ही चंचल और क्षुब्ध हो जाता है और प्राण चारों ओरसे दबकर घुटने लगते हैं। शरीरस्थ अग्निका तेज नष्ट हो जाता है और चारों ओर केवल धूआँ ही धूआँ फैल

जाता है जिससे शरीरकी जीवन-कलाका अन्त हो जाता है। जिस प्रकार चन्द्रमाके सामने जलसे भरा हुआ काला बादल आ जाने पर न तो पूरा पूरा अँधेरा ही रहता है और न पूरा पूरा उजाला ही रहता है, बल्कि कुछ कुछ धुँधला-सा प्रकाश रहता है, उसी प्रकार उस समय जीवमें एक ऐसी स्तब्धता-सी आ जाती है जिसमें वह मरा हुआ भी नहीं होता और न होशमें ही रहता है; और उसका जीवन मरनेके किनारे पर पहुँचकर रुक-सा जाता है। इस प्रकार जब उस जीव पर चारो ओरसे मन, बुद्धि और इन्द्रियोंका दबाव पड़ता है, तो फिर जन्म भरके परिश्रमसे प्राप्त किया हुआ फल बिलकुल व्यर्थ हो जाता है। और जब हाथमें आई हुई वस्तु भी गँवा दी जाती है, उस समय यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि वह वस्तु फिरसे उस समय अर्जित की जा सकती है। बस प्राणोंके प्रयाण के समय इसी प्रकारकी दुर्दशा होती है। यह तो हुई शरीरकी भीतरी अवस्था। अब यदि बाहरकी परिस्थिति भी इसी प्रकार प्रतिकूल हो, अर्थात् कृष्ण पक्ष हो, रातका समय हो, और उस पर भी दक्षिणायनके छः महीनोंमेंसे कोई महीना हो, अर्थात् जिसके प्राणोंके प्रयाणके समय जन्म और मरणका चक्र प्रचलित रखनेवाले इस प्रकारके लक्षण एक साथ एकत्र हों, भला उसके कानोंको ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्ति की बात कैसे सुनाई पड़ सकती है ? जिस मनुष्यका देहपात ऐसी दुरवस्थामें होता है, वह यदि बहुत होता है तो केवल चन्द्र-लोक तक ही जा सकता है और फिर कुछ कालके उपरान्त इसी लोकके झगड़ोंमें आकर फँस जाता है। मैंने जिसे प्राण-प्रयाणके लिए "अकाल" कहा है, वह यही है। और जन्म-मरणके ग्राम तक पहुँचानेवाला यही कष्ट-प्रद "धूम्र-मार्ग" है। इसके अतिरिक्त जो दूसरा अर्चिरादि नामका मार्ग है, वह खूब रौनकवाला, स्वतन्त्र, सब प्रकारकी शान्ति और सुखसे युक्त और ठेठ निवृत्ति (अर्थात् मोक्ष) तक पहुँचानेवाला है।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥२६॥

"इस प्रकार शुक्ल और कृष्ण अथवा अर्चिरादि और धूम्र नामके योगी-जनोंके दो मार्ग अनादि कालसे चले आ रहे हैं। इनमेंसे पहला मार्ग सरल या सीधा और दूसरा टेढ़ा-मेढ़ा है, इसी लिए मैंने बुद्धिके द्वारा ही उनका विस्तृत वर्णन करके तुम्हें बतलाया है। इसमें हेतु यही है कि तुम सुमार्ग और कुमार्गको देख लो, अच्छे और बुरेका निर्णय कर लो, हित और अहित समझ लो और तब अपने कल्याणका साधन करो। देखो, यदि किसीको बढ़िया और मजबूत नाव दिखाई पड़ती हो, तो क्या फिर वह कभी किसी अथाह दहमें कूदेगा ? अथवा यदि किसीको कोई सुभीतेका, खूब चलता हुआ और बढ़िया रास्ता मालुम हो, तो क्या वह किसी जंगलके टेढ़े-मेढ़े और खराब रास्ते पर पैर रखेगा ? जो अमृत और विषका भेद समझता हो, वह क्या कभी अमृतको उठाकर दूर फेंक देगा ? इसी प्रकार जिसे सरल मार्ग दिखाई पड़ता हो, वह कभी टेढ़े-तिरछे और खराब रास्ते पर नहीं जायगा। इसी प्रकार अच्छी तरह इस बातकी परख कर लेनी चाहिए कि सत्य क्या है और मिथ्या क्या है अथवा अच्छा क्या है और बुरा क्या है; और जो इस बातको अच्छी तरह परख कर लेता है, कोई विकट प्रसंग आ पड़ने पर उसकी कुछ भी हानि नहीं

होती । और नहीं तो देह-पातके समय बहुत बड़ा अनर्थ हो जाता है और इन दोनों मार्गोंके सम्बन्धमें भ्रान्ति होनेके कारण बड़ी खराबी होती है; और जन्म भर जिस योगका अभ्यास किया जाता है, वह बिलकुल व्यर्थ ही चला जाता है । यदि अन्त समयमें जीव अर्चिरादि मार्ग भूल जाय और धूम्र-मार्गमें लग जाय तो फिर उसे संसारके बन्धनमें बँधना पड़ता है और जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर भटकना पड़ता है । मुझे इन दोनों योग-मार्गोंको इसलिए स्पष्ट करके दिखलानेकी आवश्यकता पड़ी है जिसमें तुम्हारे ध्यानमें इस अवस्थाके महाकष्ट आ जायँ और तुम यह समझ लो कि इन सब कष्टोंका किस तरह बिलकुल अन्त किया जा सकता है । इन दोनों मार्गोंमेंसे एक मार्गके द्वारा जीव ब्रह्म-स्वरूपका महत्व प्राप्त करता है और दूसरे मार्गके द्वारा वह जन्म-मरणके बखेड़ोंमें फँसता है । परन्तु जिसको इन मार्गोंमेंसे जो मार्ग दैव-योगसे प्राप्त हो जाय, वही उसका मार्ग है ।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

"यहाँ इस प्रकारकी शंका हो सकती है कि देहपातके समय ठीक ठीक वही सब बातें तो हो ही नहीं सकतीं जो हम चाहते हैं । जो कुछ हमें प्राप्त होनेको होता है, वही अकस्मात् दैव-योगसे प्राप्त होता है । ऐसी अवस्थामें यह कैसे सम्भव है कि हम इनमेंसे एक ही मार्गसे चलकर ब्रह्म-स्वरूप हो सकें ? इसका उत्तर यह है कि मनुष्यको सदा यही समझना चाहिए कि चाहे शरीर जाय और चाहे रहे, परन्तु हम ब्रह्म-स्वरूप ही हैं । बात यह है कि डोरीमें जो सर्पका आभास होता है उसका मूल कारण भी डोरी ही होती है । क्या कभी पानीको इस बातका भान होता है कि हममें तरंगता है या नहीं ? चाहे उसमें तरंग रहे और चाहे न रहे, पर वह हर समय पानी ही रहता है । वह न तो तरंगके उत्पन्न होनेके साथ उत्पन्न ही होता है और न तरंगका नाश होनेके साथ वह नष्ट ही होता है । इसी प्रकार जो लोग देह-धारण किये रहनेकी अवस्थामें भी ब्रह्म-स्वरूप ही होते हैं, उन्हींको "विदेही" कहना चाहिए । अब यदि ऐसे विदेही पुरुषमें शरीरका नाम-ग्राम ही न बच रहा हो, तब क्या उनका किसी समय मरना सम्भव है ? तात्पर्य यह कि ऐसे लोग वास्तवमें कभी मरते ही नहीं । फिर उन्हें मार्ग ढूँढ़नेकी क्या आवश्यकता है और उनके लिए कहाँसे कहाँ और कब जाना हो सकता है ? क्योंकि उनके लिए तो समस्त देश-काल आत्मरूप ही हुए रहते हैं । और फिर देखो कि जिस समय घड़ा फूटता है, उस समय यदि घटमेंका आकाश सरल मार्गसे जाय, तो भी वह आकाश तत्वमें ही मिलता है । उस घटका आकाश चाहे जिस मार्गसे जाय, पर क्या कभी यह सम्भव है कि आकाश तत्वमें न मिले ? वास्तवमें बात केवल यही है कि जब उस घड़ेका नाश होता है, तब उसका केवल आकार नष्ट होता है और उसमें जो मूल आकाश रहता है, वह घटका आकार बननेसे पहले भी रहता है और घटका नाश हो जाने पर भी वह ज्योंका त्यों बना रहता है । अब जो योगी इस प्रकारके ब्रह्म-ज्ञानकी सहायतासे ब्रह्म-

स्वरूप हो जाते हैं, उनके लिए इस बातका कोई झगड़ा ही नहीं रह जाता कि मार्ग कौन सा है और अ-मार्ग कौन सा है । इसी लिए हे अर्जुन, तुम निरन्तर योग-युक्त होकर रहो । बस इससे तुम्हें आपसे आप ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त हो जायगा । फिर इस देहका बन्धन जब तक चाहे, तब तक रहे और जब चाहे, तब नष्ट हो जाय, पर तुम्हारे अनिर्बन्ध या स्वतन्त्र ब्रह्म-स्वरूपमें तिल मात्र भी बाधा नहीं हो सकती । वह ब्रह्म-स्वरूप न तो विश्व-रचनाके समय ही जन्मके बन्धनमें पड़ता है और न विश्वका प्रलय होने पर भी वह मरण के ही बन्धनमें पड़ता है । और न कल्पादि तथा कल्पान्तके बीचवाले समयमें ही इस प्रकारके मोहमें पड़ता है कि वह स्वर्ग है और यह संसार है । जो इस प्रकारका बोध प्राप्त करके योगी होता है, वही इस बोधका ठीक ठीक और पूरा पूरा उपयोग कर सकता है, क्योंकि वह विषय-भोगों पर लात मारकर आत्म-स्वरूपको प्राप्त होता है । इन्द्र आदि देवताओंकी जो साम्राज्य-सत्ता स्वर्गमें चारों ओर फैली हुई है, उसे वह दूर फेंकने योग्य और कौड़ीके दामकी चीज समझकर उसकी अवज्ञा करता है ।

"यदि कोई सम्पूर्ण वेदोंका अध्ययन करके वेदोनारायण बन जाय अथवा शास्त्रोंमें कहे हुए सब प्रकारके यज्ञ आदि करके अपार फल प्राप्त कर ले अथवा पुरश्चरण करके या दान देकर कोई अपार पुण्य संचित कर ले तो भी इन समस्त पुण्योंका समुदाय या कर्म-फलोंकी पूर्णता भी कभी निर्मल परब्रह्मकी बराबरी नहीं कर सकती । जो स्वर्ग-सुख यदि काँटे पर रखकर तौले जायँ तो वजनमें ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कम नहीं जान पड़ते, वेद और यज्ञ आदि जिन स्वर्ग-सुखोंके साधन हैं, जिन स्वर्ग-सुखोंसे कभी आदमीका जी नहीं भरता अथवा जिन स्वर्ग-सुखोंका कभी अन्त नहीं होता, बल्कि जो स्वर्ग-सुख भोगनेवालेकी इच्छाके अनुसार बराबर व्यापक होते जाते हैं; जो स्वर्ग-सुख अपने बढ़ते हुए गुणोंके कारण ब्रह्म-सुखके सम्बन्धी बल्कि प्रायः सगे भाईके ही समान जान पड़ते हैं, जो स्वर्ग-सुख इन्द्रियोंको सन्तुष्ट करनेके कारण इन्द्रियोंमेंके ब्रह्म-सुखके स्थान पर बैठनेके योग्य समझे जाते हैं, जो स्वर्ग-सुख किसी सौ यज्ञ करनेवालेको जल्दी नहीं मिलते, उन्हीं स्वर्ग-सुखोंको जब श्रेष्ठ योगी अपनी उस दृष्टिसे देखते हैं जो ब्रह्म-ज्ञानके कारण दिव्य हो जाती है और उन स्वर्ग-सुखोंको हाथ पर रखकर तौलते हैं और उनके भारका अनुमान करते हैं, तब उन्हें पता चलता है कि वे स्वर्ग-सुख उस सुखके सामने बहुत ही हलके हैं जो ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिके कारण होता है । उस समय योगी लोग उन स्वर्ग-सुखोंको मिट्टीके समान समझ कर अपने पैरोंके नीचे पायन्दाजकी तरह बिछा लेते हैं और उन्हीं पर पैर रखकर वे परब्रह्मकी पीठ पर आरोहण करते हैं ।" इस प्रकार जो स्थावर-जंगमात्मक सृष्टिके एक स्थान पर एकत्र किये हुए वैभव हैं, जिनकी आराधना स्वयं ब्रह्मा और शंकर भी करते हैं और जो केवल योगी-जनोंके ही भोगनेकी वस्तु हैं, जो समस्त कलाओंको भी कला देनेवाले हैं, जो परमानन्दकी मूर्ति, विश्वके जीवके जीवन, सर्वज्ञताके मूल उद्गम, यादव कुलके दिव्य कुलदीपक हैं उन श्रीकृष्णने पांडुपुत्र अर्जुनसे ये सब बातें कहीं । इस प्रकार कुरुक्षेत्रमें जो जो घटनाएँ हुई थीं, संजय उनका वर्णन राजा धृतराष्ट्रसे कर रहे थे । मैं ज्ञानदेव आप श्रोताओंसे निवेदन करता हूँ कि आप लोग वही वर्णन और आगे सुनें ।

नवाँ अध्याय

हे श्रोतागण, आप लोग केवल एकाग्र मनसे मेरा प्रवचन सुनें। बस इतनेसे ही आप लोगोंको सब प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति होगी, यह मेरा बिलकुल स्पष्ट प्रतिज्ञा-वचन है। परन्तु यह बात मैं अभिमानपूर्वक नहीं कह रहा हूँ, क्योंकि आप सब श्रोता लोग तो सर्वज्ञ ही हैं। परन्तु फिर भी मैं आप लोगोंसे बहुत ही आत्मीयतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग मेरी बातोंकी ओर ध्यान दें। इसका कारण यही है कि जिस प्रकार किसी स्त्रीको सम्पन्न मायका प्राप्त होता है और वहाँ से उसके सब दुलार पूरे होते हैं, उसी प्रकार मुझे आप लोगोंका आश्रय प्राप्त हुआ है और आप ही लोगों से मेरे सब दुलार पूरे होंगे और मेरा मनोरथ सिद्ध होगा। आप लोगोंकी कृपा-दृष्टिकी वृष्टिके कारण मेरी प्रसन्नताका उपवन कुछ अच्छी तरह फल-फूल रहा है; और उस उपवनकी शीतल छाया देखकर संसारके तापसे तप्त मेरा जीव उस छायामें लोट रहा है और उसके तापकी शान्ति हो रही है। आप लोग सुख-रूपी अमृतके गम्भीर दह हैं, इसलिए मैं उसमेंसे जितना चाहूँ, उतना सुख-रूपी अमृत प्राप्त कर सकता हूँ। अब ऐसा सुन्दर अवसर पाकर भी यदि मैं दुलारसे बातें करने में डरूँ, तब फिर मुझे सुख और शान्ति कब प्राप्त हो सकती है? सच तो यह है कि जिस प्रकार अपने बच्चेकी तोतली बातें सुनकर और उसके टेढ़े-तिरछे पड़नेवाले पैरोंको प्रसन्नतापूर्वक देखकर उसकी माता आनन्दित होती है, उसी प्रकार मैं भी आप सन्तजनों का प्रेम प्राप्त करनेकी उत्कंठासे दुलारकी ये सब बातें कह रहा हूँ। और नहीं तो यदि मेरे वक्तृत्वकी योग्यता देखी जाय तो वह कुछ भी नहीं है और आप सब श्रोता लोग सर्वज्ञ ही हैं। ऐसी अवस्थामें यदि मैं आप लोगोंके सामने बैठकर प्रवचन करूँ और आप लोग उसे सुनें, तो मेरा यह प्रयास स्वयं सरस्वतीके पुत्रको पटिया पर पाठ लिखाकर उन्हें शिक्षा देनेके समान ही होगा। देखिए, जुगनूँ चाहे कितना ही बड़ा क्यों न हो, परन्तु फिर भी सूर्यके महातेजके सामने उसकी कुछ भी नहीं चल सकती। भला ऐसा रस-परिपाक कहाँ मिल सकता है जो अमृतकी थालीमें परोसा जा सके? भला यह कभी सम्भव है कि सबको शीतल करनेवाले चन्द्रमाको पंखेसे हवा की जाय? या स्वयं नाद-तत्त्वको गाना सुनाया जाय? या अलंकारको ही अलंकार पहनाया जाय? जो स्वयं सुगन्ध हो, वह भला कौन-सी चीज सूँघे? समुद्र किस दहमें स्नान करने जाय? और ऐसा कौन सा स्थल-विस्तार है, जिसमें सारा आकाश समा सके? इसी प्रकार भला ऐसा वक्तृत्व मैं कहाँसे ला सकता हूँ जिससे आप लोगोंका चित्त सन्तुष्ट हो और आप लोगोंको इतना आनन्द हो कि आप लोगोंके मुखसे इस प्रकारका धन्यताका उद्‌गार निकले कि—"वाह! वक्तृत्व हो तो ऐसा हो।" परन्तु फिर भी क्या सारे विश्वको

प्रकाशित करनेवाले सूर्यकी आरती हाथसे बनाई हुई बत्तीसे न की जाय? अथवा पानीके अपरम्पार संग्रह समुद्रको क्या चुल्लू भर पानीसे अर्घ्य न दिया जाय? आप सब श्रोता लोग शंकरकी मूर्ति हैं और आप लोगोंकी आराधना करनेवाला मैं भक्त दुर्बल हूँ, और मेरी बातें यद्यपि निर्गुण्डीकी पत्तियाँ हैं, फिर भी आप लोग उसका सादर स्वीकार करेंगे ही। बच्चा अपने पिताकी थालीमें हाथ डालता है और अपने बापके मुँहमें ही कौर देने लगता है; और बाप भी बड़े आनन्दसे वह कौर लेनेके लिए मुँह आगे बढ़ाता है। इसी प्रकार यदि मैं लड़क-बुद्धि और दुलारसे निरर्थक और अतिरिक्त आत्मीयता प्रकट करूँ, तो भी प्रेमका यह स्वाभाविक धर्म ही है कि उससे आप लोग सन्तुष्ट ही होंगे। और आप सन्त-जनोंके मनमें अपने आश्रितोंके सम्बन्धमें आत्मीयताके कारण बहुत अधिक प्रेम होता है; इसीलिए मैं दुलारसे जो आत्मीयता दिखला रहा हूँ, वह आप लोगोंको बोझ नहीं मालुम होगा। जब माताके स्तनमें भूखे बालकके मुखका झटका लगता है, तब माताके स्तनमें और भी अधिक दूध भर आता है और वह बालकको दूध पिलानेके लिए और भी अधिक उत्सुक हो जाती है। जो अपनेको प्रिय होता है, वह यदि एक बार क्रोधसे झटकार भी दे, तो उससे प्रेम और भी दूना बढ़ जाता है। इसी लिए मैंने भी यही समझकर ये सब बातें कही हैं कि मुझ सरीखे बालककी बकवादसे आप लोगोंकी सोई हुई कृपालुता जाग उठी है। क्या कभी चाँदनीको पकानेके लिए भी कोई उसे पालमें रखकर ढँकता है? अथवा क्या हवाके बहनेमें कभी किसीने उससे यह कहा है कि तुम इस प्रकार बहो अथवा इस प्रकार उसका कभी नियन्त्रण किया है? या गगनको कभी कोई खोली पहना सकता है? जिस प्रकार पानीको पतला नहीं करना पड़ता, अथवा मक्खनको मथनेके लिए कोई उसमें मथानी नहीं डालता उसी प्रकार गीताके जिस अर्थको देखकर मेरा दुर्बल व्याख्यान लज्जित होकर आपसे आप पीछे हट जाता है, केवल इतना ही नहीं, जो वेद शब्द-ब्रह्म है, वह भी शब्दकी गति समाप्त हो जाने पर जिस गीतार्थ रूपी खाट पर स्तब्ध होकर सो जाता है, वह गीतार्थ देशी भाषामें लानेकी योग्यता भला मुझमें कहाँसे आ सकती है! परन्तु मुझ सरीखे दुर्बलने भी जो यह साहस किया है, उसमें हेतु केवल यही है कि मैं इस ढिठाईसे ही आप सरीखे लोगोंका प्रेम-पात्र बनूँ। इसलिए आप लोगोंके जिस अवधानमें चन्द्रमासे भी बढ़कर शीतलता है और अमृतसे भी बढ़कर जीवित रखनेकी शक्ति है, वह अवधान दान करके आप लोग मेरे मनोरथका पोषण करें। क्योंकि ज्योंही आप लोगोंके कृपा-कटाक्षकी वर्षा होगी, त्योंही मेरे सब मनोरथ सिद्ध हो जायँगे। परन्तु यदि मुझे आप लोगोंका यह कृपा-कटाक्ष प्राप्त न होगा और आप लोग उदासीन रहेंगे, तो मेरे ज्ञानका निकला हुआ अंकुर भी सूख जायगा। महाराज, आप लोग यह बात ध्यानमें रखें कि वक्ताके वक्तृत्वका स्वाभाविक भोजन श्रोताओंकी सावधानता ही है। और यदि उसे यह भोजन प्राप्त होता रहे तो सिद्धांत प्रतिपादक शब्दकी तोन्द फूल जाती है (अर्थात् सिद्धान्त-प्रतिपादक बातें बहुत अधिक मात्रामें निकलने लगती हैं) ज्योंही इस प्रकारके शब्द निकलते हैं, त्योंही अर्थकी प्रतिपत्ति होती है; क्योंकि अर्थ तो शब्दों और वाक्योंकी ही बाट देखते रहते हैं; और

जब अर्थकी प्रतिपत्ति होती है, तब अभिप्रेत अर्थकी परम्परा लग जाती है और बुद्धि पर मानों फूलोंकी ठीक बसन्त ऋतु या बहार आ जाती है। जब इस प्रकार वक्ता और श्रोताके मेलकी अनुकूल वायु चलने लगती है, तब हृदय-रूपी आकाशमें वक्तृत्वके रस-मेघका संचार होता है। परन्तु यदि श्रोता लोग उदासीनताके कारण ठीक तरहसे ध्यान न देंगे, तो वक्तृत्व रसका बना-बनाया मेघ भी छिन्न-भिन्न हो जायगा। यह ठीक है कि चन्द्रकान्त मणि पसीजती है, परन्तु उसको पसीजनेमें प्रवृत्त करनेकी शक्ति चन्द्रमा में ही होती है। इसी प्रकार जब तक योग्य श्रोता न हों, तब तक कोई वक्ता कभी वक्ता हो ही नहीं सकता। परन्तु क्या कभी चावलको खानेवालेसे यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि मुझे मीठा समझकर खाइये? अथवा क्या कभी कठपुतलियोंको अपने नचानेवालेसे यह प्रार्थना करनी पड़ती है कि हमें नचाओ? और फिर कठपुतलियोंका वह सूत्रधार कठपुतलियोंको स्वयं उनके हितके लिए नचाता है अथवा लोगोंमें अपने ज्ञानके महत्वकी प्रसिद्धि करनेके लिए नचाता है? फिर हम लोग इस प्रश्नकी व्यर्थकी मीमांसा क्यों करें? ज्योंही वक्ताने यह कहा, त्योंही श्री सद्गुरुने कहा—"अरे, इन सब बातोंमें क्या रखा है? हम तुम्हारा सब अभिप्राय समझते हैं। अब तुम यह बतलाओ कि श्रीकृष्णदेवने क्या कहा।" यह सुनकर श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्यने बहुत ही आनन्दपूर्वक और उल्लसित मुद्रासे कहा—"जो आज्ञा महाराज। सुनिये, श्रीकृष्णने क्या कहा।"

श्रीभगवानुवाच—

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥

"हे अर्जुन—मैं तुम्हें वह गुप्त रहस्य फिरसे बतलाता हूँ जो मेरे अन्तःकरणके सबसे भीतरी स्थानके समस्त ज्ञानका आदि कारण है। अब यदि तुम अपने मनमें यह सोचते हो कि अन्तःकरणका गुप्त द्वार इस प्रकार खोलकर यह रहस्य प्रकट करनेका ऐसा कौन सा प्रसंग आया है, तो हे सुज्ञ अर्जुन, मैं बतलाता हूँ, सुनो। तुम भक्ति-भावनाके प्रत्यक्ष अवतार ही हो। मैं जो कुछ कहूँगा, तुम कभी उसकी उपेक्षा नहीं करोगे। इसी लिए चाहे मनकी गूढ़ता भले ही नष्ट हो जाय और जो बातें नहीं कहनेकी हैं, वे भी चाहे भले ही कहनी पड़ें; परन्तु फिर भी मैं यही चाहता हूँ कि मेरे अन्तःकरणमें जो कुछ है, वह सब एक बार तुम्हारे अन्तःकरणमें प्रवेश कर जाय। स्तनमें दूध भरा रहता है, परन्तु स्वयं वह स्तनको मीठा नहीं लगता। परन्तु जब कोई एकनिष्ठ प्राणी मिलता है, तब सहज ही यह इच्छा होती है कि उसकी रस-सेवन करनेकी इच्छा पूरी हो। यदि अनाजकी कोठीमेंसे बीज निकाले जायँ, और अच्छी तरह जोती और साफ की हुई जमीनमें उनमेंसे मुट्ठी भर बीज छिड़क दिये जायँ, तो क्या कोई यह कह सकता है कि वे बीज व्यर्थ ही फेंक दिये गये? इसी लिए जिसका मन अच्छा और बुद्धि स्वच्छ है और जो अनिन्दक तथा एकनिष्ठ है, उसे अपने मनकी बात प्रसन्नतासे

बतला देनी चाहिए। और इस अवसर पर मुझे इन गुणोंसे युक्त तुम्हारे सिवा और कोई नहीं दिखाई पड़ता; और इसी लिए तुमसे कोई रहस्य छिपाना ठीक नहीं है। बार-बार यह "गुप्त" शब्द सुनते-सुनते तुम्हारा मन उकता गया होगा, इसलिए अब मैं तुम्हें विज्ञान सहित ज्ञानकी बातें स्पष्ट करके बतलाता हूँ। यदि बहुत से असली और नकली सिक्के एकमें मिल गये हों, तो जिस प्रकार उन्हें छाँटकर उनके अलग-अलग ढेर लगानेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मैं ज्ञान और विज्ञानकी परख करके उन्हें अलग-अलग तुम्हारे सामने उपस्थित करना चाहता हूँ। अथवा जिस प्रकार राजहंस अपनी चोंच रूपी चिमटीसे पानी और दूध अलग-अलग करता है; उसी प्रकार मैं भी ज्ञान और विज्ञानको अलग-अलग करके तुम्हें दिखलाना चाहता हूँ। फिर जिस प्रकार हवाके झोंकेमें पड़कर भूसा नहीं ठहर सकता और केवल अनाजके दानोंका ही ढेर बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जब समझदारीसे ज्ञान और विज्ञानकी परख और पार्थक्य हो जाता है, तब जन्म-मरणके संसारका, इस नाम-रूपात्मक संसारके साथ मेल हो जाता है और वह परम ज्ञान हमें अक्षय मोक्ष-पदके सिंहासन पर ले जाकर बैठा देता है।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

"जो ज्ञान समस्त विद्याओंमें महाश्रेष्ठ आचार्य पद पर पहुँच चुका है, जो समस्त रहस्य ज्ञानके स्वामित्वका भोग करता है, जो समस्त पवित्रोंमें धुरन्धर है, जो ज्ञान-धर्मका मायका (जन्म स्थान) है, जो सर्वोत्तम है, जिसकी प्राप्ति होनेपर जन्म तथा मरणके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता, जो ज्ञान गुरु-मुखसे किंचित् उदित हुआ सा जान पड़ता है, परन्तु वास्तवमें जो प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें स्वयंभू ही होता है और जो चाहे, वह उसे आपसे आप प्राप्त कर सकता है, इसके सिवा आत्मसुखकी सीढ़ी पर चढ़ते ही जिस ज्ञानकी प्राप्ति होती है और फिर तत्काल भोक्ता, भोग्य तथा भोगकी त्रिपुटीका अन्त हो जानेके कारण भोगनेवालेका भोक्तृत्व भी उसीमें लीन हो जाता है, परन्तु उस लयवाली स्थितिकी इधरवाली मेंड़ या सीमा पर ही जिसके कारण हृदय परम सुखसे भर जाता है, वह ज्ञान यद्यपि सुलभ और सहज है, परन्तु फिर भी वह प्रत्यक्ष परब्रह्म ही है। इस ज्ञानका एक विशेष लक्षण यह भी है कि जब एक बार वह हस्तगत हो जाता है, तब फिर वह कभी हाथसे गँवाया नहीं जा सकता और न कभी उसका माधुर्य ही कम होता है। हे अर्जुन, सम्भव है कि तुम अपना तर्क लगाकर इस सम्बन्धमें यह शंका करो कि यदि यह इतनी अधिक अप्रतिम और अमूल्य वस्तु है, तो फिर यह आज तक सब लोगोंके हाथोंसे बची कैसे रह गई और सब लोगोंने इसे प्राप्त क्यों नहीं कर लिया, जो लोग अपने द्रव्यकी वृद्धि करनेके लिए जलती हुई आगमें भी कूद पड़नेका साहस करते हैं, वे इस बिना परिश्रमके ही प्राप्त होनेवाले आत्म-सुखके माधुर्यसे क्यों वंचित रहते हैं, जो आत्मसुख पवित्र, रम्य और सुख-लभ्य है और जो धर्मानुकूल होनेके सिवा आत्म-तत्त्वकी भी प्राप्ति करा देता है और जिसमें सब प्रकारके सुख भरे हुए हैं, वह लोगोंके हाथसे कैसे बचा रहा। तुम्हारे मनमें इस प्रकारकी

शंकाएँ उत्पन्न होना बिलकुल सहज और स्वाभाविक है। परन्तु तुम इस शंकाको अपने मनमें स्थान मत दो।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

"देखो, दूध बहुत पवित्र और स्वादिष्ट होता है और वह गौके स्तनमें बहुत ही पतली त्वचाकी आड़में पास ही संगृहीत रहता है। परन्तु फिर भी उसे छोड़कर स्तनमें लगी हुई किलनी क्या रक्तका सेवन नहीं करती? भौंरे और दादुर दोनों ही कमलके पास रहते हैं, परन्तु कमलके परागका सेवन केवल भौंरे ही करते हैं और दादुरके हिस्सेमें केवल कीचड़ ही आता है। इसी प्रकार कभी-कभी किसी अभागे मनुष्यके घरमें हजारों मोहरोंसे भरे हुए घड़े पड़े रहते हैं; परन्तु वह उसी घरमें रहकर भी भूखों मरता है अथवा अत्यन्त दरिद्रताकी अवस्थामें रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है। उसी प्रकार अन्तरंगमें समस्त सुखोंके भांडार, मुझ आत्मारामके प्रत्यक्ष रहते हुए भी, मायासे मोहित पुरुषोंकी वासना विषय-भोगोंकी ओर ही प्रवृत्त होती है। जैसे अपार मृग-जल देखकर मुखमेंका अमृतका घूँट थूक दिया जाय अथवा पारस पत्थर तो तोड़कर फेंक दिया जाय और एक सीपी उठाकर गलेमें बाँध ली जाय, ठीक उसी प्रकार अहम्मन्यताके फेरमें पड़कर ये बेचारे जीव मेरे पास तक आकर पहुँच नहीं सकते; और इसी लिए जन्म तथा मरणके दोनों तीरोंके बीचमें गोते खाते रहते हैं। और नहीं तो मैं ऐसा हूँ कि सदा आँखों के ठीक सामने ही रहता हूँ। मैं उस सूर्यकी तरह नहीं हूँ जो कभी तो दिखाई पड़ता है और कभी मेघोंकी आड़में छिप जानेके कारण अथवा रातके समय दिखाई नहीं पड़ता। मैं तो सदा आँखोंके सामने चमकनेवाला और निर्मल हूँ।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥

"यदि तुम मेरे विस्तारकी बात पूछो तो क्या यह बात ठीक नहीं है कि यह जो सारा संसार है, वह मैं ही हूँ? जिस प्रकार दूध अपने स्वभावके अनुसार जमकर दही बन जाता है अथवा बीज ही वृक्षके रूपमें प्रकट होता है, अथवा जिस प्रकार सोनेके ही अलंकार बनते हैं, उसी प्रकार एक मेरा ही विस्तार यह सारा संसार है। मेरा निराकार तत्व ही जमकर इस नाम-रूपात्मक विश्वका आकार धारण करता है और मैं अमूर्त ही तत्काल त्रिलोकका विस्तार करता हूँ। जिस प्रकार जलका फेन व्यक्त रूपसे दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार महत्व आदि नाम-रूपात्मक समस्त भूत मुझमें ही दिखाई पड़ते हैं। परन्तु जिस प्रकार उस फेनके अन्दर देखने पर पानी नहीं दिखाई पड़ता अथवा स्वप्नकी अवस्थामें दिखाई पड़नेवाले अनेक प्रकारके आकार जाग्रत अवस्थामें नहीं दिखाई पड़ते, उसी प्रकार यद्यपि ये भूतमात्र मुझमें ही भासमान होते हैं, परन्तु फिर भी इन भूतोंमें मेरा निवास नहीं होता। यह तत्व-विचार मैं इससे पहले भी एक बार तुम्हें बतला चुका हूँ। और इसलिए एक बार बतलाई हुई बातका फिरसे विस्तार

करना ठीक नहीं है, इसलिए यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट है परन्तु तुम्हारी दृष्टि मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट होकर विस्तृत होनी चाहिए।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥

"यदि कार्य और कारणवाली कल्पनाको अलग छोड़कर तुम मेरे उस स्वरूपका विचार करोगे जो महामायाके भी उस पार और उससे परे है, तो यह सिद्धांत मिथ्या ठहरेगा कि सब भूतोंका अस्तित्व मुझमें ही है, क्योंकि सब कुछ मैं ही हूँ और मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है। परन्तु जिस समय प्रथम संकल्पके कारण परब्रह्ममें ज्ञान और अज्ञानका झुटपुटा-सा सन्धि-काल उत्पन्न हुआ, उस समय बुद्धिके ज्ञान-चक्षुमें कुछ अन्धकार सा व्याप्त हो गया; और इसीलिए जो परब्रह्म विकार-रहित और आकार-हीन था, उसमें अविद्या-रूपी सन्ध्याके कारण भूत-मात्र परब्रह्मसे भिन्न भासित होने लगे। परन्तु जिस समय संकल्पजन्य अविद्याकी सन्ध्याका अन्त हो जाता है, उस समय जिस प्रकार शंका दूर होते ही पुष्पमालाके सम्बन्धका वह सर्पाभास नष्ट हो जाता है, जो कुछ कुछ अन्धकार और कुछ कुछ प्रकाश रहनेके समय उत्पन्न होता है, उसी प्रकार भूत-मात्रके सम्बन्धमें होनेवाले भासका अन्त हो जाता है और केवल परब्रह्म ही अपने अखण्ड, अविकृत और शुद्ध स्वरूपमें बाकी रह जाता है। यदि वास्तव में देखा जाय तो क्या जमीनमेंसे मिट्टीके घड़ों और मटकों आदिके अंकुर फूटते हैं? असलमें घड़ों और मटकों आदिकी सृष्टि तो कुम्हारके कल्पना रूपी गर्भसे होती है। अथवा क्या समुद्रके पानीमें लहरोंकी कोई अलग खान होती है? लहरें तो वास्तवमें हवाके चलनेसे ही उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार क्या कपासके डोडेके अन्दर कपड़ोंका सन्दूक रहता है? पहननेवालेकी दृष्टिसे ही कपाससे कपड़े बनते हैं न? यदि सोनेका अलंकार बना डाला जाय तो भी उसका सोना-पन नष्ट नहीं होता। उसमें केवल वाह्यतः अलंकारता होती है और वह भी केवल अलंकार पहननेवालीकी दृष्टिसे ही होती है। प्रतिध्वनि जो उत्तर देती है अथवा दर्पण जो कुछ दिखलाता है, वह हमारी ही कही हुई बात अथवा हमारा ही रूप होता है, अथवा स्वयं उस प्रतिध्वनिका अथवा उस दर्पणका अंग होता है? इसी प्रकार जो मेरे मूलवाले अविकृत तथा शुद्ध स्वरूप पर भूत सृष्टिका आरोप करता है, स्वयं उसीके संकल्प या विचारमें वह भूत-सृष्टि होती है। परन्तु जब उस कल्पना करनेवाली मायाका अन्त हो जाता है, तब भूताभास मूलतः मिथ्या होनेके कारण मेरा केवल शुद्ध, बुद्ध और अविकृत स्वरूप ही बाकी रह जाता है। जिस समय हमें चक्कर आता है, उस समय आस-पासके पहाड़ और चट्टानें आदि घूमती हुई दिखाई पड़ती हैं। ठीक इसी प्रकार अपनी कल्पनाके कारण ही विकारहीन परब्रह्ममें भी भूत मात्रका आभास होता है। परन्तु यदि वही कल्पना दूर कर दी जाय, तब स्पष्ट रूपसे पता चल जाता है कि यह बात स्वप्नमें भी सच माननेके योग्य नहीं है कि मैं भूत-मात्र हूँ और भूत-मात्र मुझमें हैं। इसीलिए लोग जो प्रायः यह कहा करते हैं कि—"केवल मैं ही इन भूत-मात्रको धारण करता हूँ।" अथवा "मैं इन

भूत-मात्रमें रहता हूँ।" सो ये सब संकल्प-रूपी वातके प्रकोपके कारण उत्पन्न होनेवाली भ्रमिष्ट स्थितिमें मुँहसे निकलनेवाली बकवाद या बड़बड़ाहट है। इसी लिए, हे मेरे परम सखा अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि मुझे विश्व मानना अथवा विश्वात्मा मानना मिथ्या भूत-मात्रकी मिथ्या कल्पना है। जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके कारण कुछ न रहनेपर भी मृग-जल भासमान होता है, उसी प्रकार भूत-मात्र भी मुझमें भासमान होते हैं। केवल इतना ही नहीं, बल्कि वे मुझे भी अपनेमें भासमान कराते हैं। इस प्रकार मैं "भूत-भावन" अर्थात् भूतोंके आभासका आधार हूँ। परन्तु जिस प्रकार प्रभा और सूर्य दोनों एक ही है, उसी प्रकार मैं भी भूत मात्रके साथ एक रूप ही हूँ। तत्व-विचारकी इस प्रणालीको ऐश्वर्य-योग कहते हैं। यह बात अच्छी तरह तुम्हारी समझमें आ गई न? अब भला तुम्हीं बतलाओ कि क्या इसमें भेद-भावके लिए कहीं तिल मात्र भी स्थान है? इसी लिए यह सिद्धांत ठीक है कि भूत-मात्र मुझसे भिन्न नहीं है और तुम मुझे भूतोंसे कभी भिन्न मत समझो।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥

"आकाशका जितना विस्तार है, उतना ही विस्तार वायुका भी है; और पंखा आदि हिलानेसे ही वायुका पृथक् रूपसे भास होता है; और नहीं तो वायु सदा गगनके साथ एक-रूप ही रहती है। इसी प्रकार यदि कल्पना की जाय तो भूत मात्रका मुझमें ही भास होता है; और नहीं तो निर्विकल्प अवस्थामें ये भूत-मात्र नहीं रह जाते और केवल मैं ही अपने अविकृत रूपमें बच रहता हूँ। इसी लिए 'नहीं' और 'हाँ' ये दोनों केवल कल्पनाकी ही बातें हैं। जब कल्पना नहीं रह जाती, तब नाम-रूपात्मक विश्व भी नहीं रह जाता; और जब कल्पनाका संचार होता है, तब यह सब कुछ रहता ही है। कल्पनाका नाश या अन्त हो जाने पर 'हाँ' और 'नहीं' वाली बातोंके लिए कहीं कोई आधार ही नहीं रह जाता। इसलिए यह ऐश्वर्य-योग तुम फिरसे अच्छी तरह समझ लो। पहले तुम इस परम ज्ञानके समुद्रमें तरंगाकार बनो। फिर जब तुम देखोगे, तब तुम्हें पता चलेगा कि स्वयं तुम्ही यह सब चराचर जगत हो।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन तुम इस परम ज्ञानसे जाग्रत हो गये न? अब इस जाग्रत अवस्थाके कारण तुम्हारे द्वैतवाले स्वप्नका अन्त हो गया न? और वह स्वप्न नष्ट हो गया न? अब यदि फिर किसी समय बुद्धिको कल्पनावाली नींद आ जाय, तो फिर यह अभेद ज्ञान न रह जायगा, क्योंकि उस समय तुम फिर स्वप्नावस्थामें पहुँच जाओगे। इसलिए अब मैं तुम्हें वह रहस्य-ज्ञान स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ, जिससे इस अविद्या-रूपी निद्राका कहीं नाम भी न रह जायगा और तुम्हारी आत्म-ज्ञानवाली जाग्रति बराबर बनी रहेगी। इसलिए, हे धनुर्धर पार्थ, तुम धैर्यपूर्वक मेरी बातोंकी ओर ध्यान दो। तुम समझ रखो कि प्रकृति ही भूत-मात्रकी सृष्टि और नाश करती है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

"जिसे प्रकृति कहते हैं, उसके दो प्रकार मैं तुम्हें पहले बतला चुका हूँ। उन दोनों प्रकारोंमेंसे पहली अपरा प्रकृति आठ भिन्न भिन्न स्वरूपोंमें व्यक्त होती है और दूसरी परा प्रकृति जीव-रूपमें व्यक्त होती है। इस प्रकृतिके सम्बन्धकी कुछ बातें मैं तुमको पहले बतला चुका हूँ। इसलिए बार बार उसका वर्णन करनेसे कोई लाभ नहीं। महाप्रलयके समय इस मेरी प्रकृतिमें ही निराकार अभेदसे भूत मात्र एक रूपसे विलीन होते हैं। ग्रीष्म ऋतुमें जब खूब गरमी पड़ती है, तब बीज सहित घास भूमिमें ही पूर्ण रूपसे लयको प्राप्त हो जाती है; अथवा वर्षा ऋतुमें दिखाई पड़नेवाले मेघोंका उस समय आकाश में ही लोप हो जाता है जिस समय शरद् ऋतुकी निर्मल शान्तिका गुप्त भांडार खुलता है। आकाशमें चलनेवाली वायुका अन्तमें उसी आकाशमें लय हो जाता है और पानीकी लहरें पानीमें ही लुप्त हो जाती हैं। स्वप्नमें जो दृश्य दिखाई पड़ते हैं; वे जागने पर मन ही मनमें समा जाते हैं। ठीक इसी प्रकार कल्पान्तके समय प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त पदार्थ अर्थात् मायासे भासमान होनेवाले भूतमात्र प्रकृतिमें ही सम-रस होकर समा जाते हैं। फिर नये कल्पके आरम्भमें जो लोग यह कहा करते हैं कि मैं ही फिरसे भूत-सृष्टि उत्पन्न करता हूँ सो अब मैं उसका स्पष्टीकरण करता हूँ। तुम ध्यानपूर्वक सुनो।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥

"जिस प्रकार तन्तुओंका समूह बुनावटके कारण स्वयं ही वस्त्रका रूप धारण करता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी इस मायाको सहज लीलाके रूपमें धारण करता हूँ। फिर जिस प्रकार धागोंकी बुनावटके कारण उनसे छोटे छोटे चौकोर चारखाने बनते हैं, उसी प्रकार मेरी प्रकृतिसे ही नाम-रूपात्मक पांचभौतिक सृष्टि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार जामनके स्पर्शसे दूध जमने लगता है, उसी प्रकार मूल प्रकृतिमें सृष्टिका भाव प्रतिबिम्बित होने लगता है। जब बीजके साथ पानीका संसर्ग होता है, तब उसमें से अंकुर फूटने लगते हैं, और उनसे जो शाखाएँ तथा उपशाखाएँ बनती हैं, वे ही वृक्षका रूप धारण कर लेती हैं। ठीक इसी प्रकार मुझसे प्रकृति-जन्य भूत-सृष्टिका विस्तार होता है। लोग कहते हैं कि राजाने अमुक नगर बसाया; और एक दृष्टिसे लोगोंका यह कहना ठीक भी होता है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो क्या कोई कह सकता है कि उस नगरकी रचनामें राजाका कभी हाथ भी लगा था? इसी प्रकार मैं भी प्रकृतिको उसी तरह स्वीकार करता हूँ, जिस तरह स्वप्नकी स्थितिमें रहनेवाला मनुष्य जाग्रत अवस्थामें प्रवेश करता है। जब स्वप्नावस्थासे मनुष्य जाग्रत अवस्थामें आता है, तब क्या उसके पैरोंको कभी कोई श्रम होता है? अथवा उसे स्वप्नसे चलकर कोई प्रवास करना पड़ता है? इन सब विवरणोंका सारांश यही है कि भूत-सृष्टिकी रचना करते समय मुझे किसी प्रकारकी क्रिया नहीं करनी पड़ती। जिस प्रकार राजाके नियंत्रण में प्रजा रहती है, परन्तु फिर भी प्रजामेंके सब लोग अपनी अपनी रुचिके अनुसार अपने सब व्यापार और व्यवहार करते रहते हैं, उसी प्रकार प्रकृतिका स्वीकार मात्र

मुझमें आता है, बाकी सब व्यवहार स्वयं उस प्रकृतिके ही होते हैं। उनके साथ मेरा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। देखो, जिस समय पूर्णिमाका चन्द्रमा होता है, उस समय समुद्रमें अपरम्पार लहरें उठने लगती हैं। हे अर्जुन, क्या वे लहरें उत्पन्न करनेके लिए चन्द्रमा को समुद्र मथना पड़ता है या उसे उलटना-पुलटना पड़ता है? लोहा यद्यपि जड़ होता है, पर फिर भी जब चुम्बक पत्थरके पास आता है, तब वह उसकी तरफ बढ़ने लगता है। परन्तु क्या कभी लोहेको चलनेमें प्रवृत्त करनेके लिए चुम्बकको किसी प्रकारका परिश्रम करना पड़ता है? बस इसी प्रकार मैं भी मूल मायाको धारण करता हूँ और तत्काल ही भूत-सृष्टि आपसे आप अस्तित्वमें आने लगती है। जिस प्रकार बीजमेंसे शाखाएँ और पत्ते आदि उत्पन्न करनेमें पृथ्वी सहायक होती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि प्रकृतिकी सहायतासे प्रकट होती है। अथवा जिस प्रकार बाल्य आदि अवस्थाओंका मुख्य कारण देह-संग है, अथवा आकाशसे वर्षाकी क्रिया करानेमें जिस प्रकार मेघ-मंडली मूल कारण होती है, अथवा स्वप्नका कारण जिस प्रकार निद्रा होती है, उसी प्रकार, हे नर-श्रेष्ठ पार्थ, इस समस्त भूत-सृष्टिका समर्थ कारण प्रकृति ही है। समस्त चराचर, स्थूल और सूक्ष्म भूत मात्रका मूल कारण यह प्रकृति ही है। इसी लिए भूत-सृष्टिको उत्पन्न करने अथवा उसका प्रतिपालन करने आदिकी क्रियाओंका सम्पर्क मुझसे बिलकुल नहीं होता। पानीमें चन्द्रमाकी जो किरणें पड़ती हैं, वे लहरोंके समान ही लम्बी दिखाई पड़ती हैं; परन्तु उनकी यह बाढ़ कुछ चन्द्रमाकी की हुई नहीं होती। ठीक इसी प्रकार समस्त कर्म मुझ तक पहुँच कर भी मुझसे अलग और दूर ही रहते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

"जिस प्रकार समुद्रमें उठनेवाली पानीकी प्रचंड लहरोंको नमकका बना हुआ बाँध नहीं रोक सकता, उसी प्रकार जिन कर्मोंका अन्तमें मुझमें ही लय होता है, वे कर्म भी मेरे लिए बन्धनकारक नहीं हो सकते। यदि धुएँके क्षुद्र कणोंका बना हुआ ढाँचा वायुको यह कहकर रोक सकता हो कि—"बस रुक जाओ" अथवा सूर्यके प्रभा-मंडलमें यदि कालिमाका प्रवेश हो सकता हो, तो फिर ये कर्म भी मुझे बाँध सकते हैं। जिस प्रकार वर्षाकी धारोंसे पर्वतका अन्तरंग विद्ध नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति जिन कर्मोंका आचरण करती है, वे कर्म मुझे बाँध नहीं सकते। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह प्रकृति जो नाम-रूप आदि विकार उत्पन्न करती है, उनका आधार मैं ही हूँ। पर मैं सदा उदासीन या तटस्थ रहता हूँ; और इसी लिए न तो मैं कोई क्रिया करता ही हूँ और न कराता ही हूँ। यदि किसी घरमें कोई दीपक जलाकर रख दिया जाय तो न तो वह दीपक किसीसे कोई काम कराता ही है और न किसीको कोई काम करनेसे रोकता ही है। वह तो यह भी नहीं देखता कि कौन क्या कर रहा है। जिस प्रकार वह दीपक केवल तटस्थ रहता है, परन्तु फिर भी मकानमें रहनेवाले लोगोंकी क्रियाओंका कारण होता है, उसी प्रकार यद्यपि मैं भूत मात्रमें रहता हूँ, परन्तु फिर भी भूत-मात्रके कर्मोंके साथ मेरा कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥१०॥

"हे सुभद्रानाथ अर्जुन, यह एक ही विचार मैं भिन्न-भिन्न प्रकारसे बार बार तुम्हें कहाँ तक बतलाऊँ! तुम एक बार इतना ही समझ रखो कि जिस प्रकार लोगोंके व्यापारका सूर्य निमित्त मात्र होता है, उसी प्रकार मैं भी जगतकी उत्पत्तिका तटस्थ रूपसे निमित्त मात्र होता हूँ। और इसका कारण यही है कि मैं जो मूल प्रकृतिको धारण करता हूँ, उसीसे इस चराचर विश्वकी उत्पत्ति होती है; और इस दृष्टिसे विचार करने पर मैं ही इस विश्वकी उत्पत्तिका कारण हूँ। अब तुम इस दिव्य ज्ञानके प्रकाशमें मेरे इस "ऐश्वर्य-योग" का तत्व देखो। वह तत्व यह है कि भूत मात्र मुझमें हैं, परन्तु मैं भूत मात्रमें नहीं हूँ। अथवा ये भूत मात्र भी मुझमें नहीं हैं और मैं भी इन भूत मात्रमें नहीं हूँ। भाई अर्जुन, यह मुख्य बात तुम कभी मत भूलो। यह गूढ़ ज्ञान ही मेरा सार और सर्वस्व है; और आज यह बात मैं तुम्हें बिलकुल खोलकर और स्पष्ट रूप से बतला रहा हूँ। अब तुम इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियोंके द्वार बन्द करके अपने मनमें आत्म-चिन्तन करते हुए इस रहस्यके माधुर्यका उपभोग करो। हे अर्जुन, जब तक इस रहस्य का पता नहीं चलता, तब तक इस नामरूपात्मक संसारके कूड़े-करकटमें मेरे यथार्थ रूपका ठीक उसी प्रकार पता नहीं चलता, जिस प्रकार भूसेमें अनाजके दानोंका पता नहीं चलता। साधारणतः ऐसा जान पड़ता है कि तर्कके मार्गसे ही मर्मका पता चलता है; परन्तु वास्तवमें बिना अनुभूतिके इस मर्मका ज्ञान भी व्यर्थ है; क्योंकि मृग-जलकी आर्द्रतासे पृथ्वी कभी भींगकर मुलायम नहीं हो सकती। यदि पानीमें जाल फैला दिया जाय तो ऐसा जान पड़ता है कि चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब उसी जालमें आकर फँस गया है। परन्तु जब वह जाल पानीमेंसे निकालकर किनारे पर रख दिया जाता है, तब उसमेंका चन्द्रमा कहाँ चला जाता है? इसी प्रकार लोग व्यर्थकी वाचालता करके अनुभवकी आँखोंमें धूल झोंकते हैं और अनुभव न होने पर भी वाचालतापूर्वक कह बैठते हैं कि हमें अनुभव हो गया। परन्तु जब यथार्थ बोधका समय आता है, तब उनके उस अनुभवका कहीं कोई ठीक ठौर-ठिकाना ही नहीं रह जाता।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

"यदि तुम्हें सचमुच संसारका भय जान पड़ता हो और वास्तवमें मेरे प्रति तुम्हारा सच्चा अनुराग हो, तो तुम्हें उचित है कि तुम इस तत्व-विचारको अच्छी तरह और प्रयत्नपूर्वक स्मरण रखो। नहीं तो जिस प्रकार नेत्रोंमें कमल रोग व्याप्त होने पर स्वच्छ चाँदनी भी पीली जान पड़ती है, उसी प्रकार मेरा निर्मल रूप भी स-दोष जान पड़ने लगता है। अथवा जिस प्रकार ज्वरके कारण मुखका स्वाद बदल जानेसे दूध भी कड़ुवा लगने लगता है, उसी प्रकार मेरे मनुष्य न रहते हुए भी लोग मुझे मनुष्य मानने लगते हैं। इसी लिए, हे भाई अर्जुन, मैं बार बार तुमसे कहता हूँ कि तुम इस रहस्य-ज्ञानको मत भूलो; क्योंकि बिना इस रहस्यके केवल ऊपरी या स्थूल दृष्टि किसी कामकी नहीं। स्थूल दृष्टिसे मुझे देखना

वास्तवमें कोई देखना ही नहीं है, क्योंकि यदि कोई स्वप्नमें झूठ-मूठका अमृत पी ले, तो उससे वह कभी अमर नहीं हो सकता। साधारणतः लोग मुझे ऊपरसे, स्थूल दृष्टिसे देखते हैं और उसी ऊपरी रूपमें मुझे जानते हैं; परन्तु जिस प्रकार उस हंसका नाश होता है, जो पानीमें पड़नेवाले नक्षत्रोंके प्रतिबिम्बके धोखेमें आ जाता है और उन्हींको रत्न समझकर उन्हें प्राप्त करनेकी आशा करता है, उसी प्रकार यह ऊपरी ज्ञान भी यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिके मार्गमें बाधक होता है। यदि हम मृग-जलको ही गंगा मानकर उसके पास जायँ तो उससे भला हमें किस फलकी प्राप्ति हो सकती है? यदि हम बबूलको ही कल्प-वृक्ष मानकर उसे हाथमें लें तो उससे क्या लाभ होगा? यदि हम काल-सर्पको यह समझकर हाथमें पकड़ें कि यह नील मणियोंका दो-लड़ा हार है, अथवा सफेद पत्थरको ही रत्न समझकर चुनें अथवा खैरके जलते हुए अंगारोंको यह समझकर झोलीमें भर लें कि यह तो गुप्त धनका भांडार खुल गया, अथवा यदि कोई सिंह किसी कुएँमें अपनी परछाँहीं देखकर इस बातका विचार न करे कि यह सचमुचका सिंह है या मेरी परछाँहीं मात्र है और उस कुएँमें कूद पड़े, तो उसका क्या परिणाम होगा? इसी प्रकार जो लोग अपने मनमें उस बातका पक्का निश्चय कर लेते हैं कि मैं परमात्मा सचमुच साकार होकर संसारमें अवतार धारण करता हूँ और यही समझकर इस सांसारिक प्रपंचमें लीन होते हैं, उनके सम्बन्धमें यही समझ लेना चाहिए कि वे पानीमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको ही चन्द्रमा समझकर उसका संग्रह करते हैं। इस प्रकार बुद्धिका अभिष्ट निश्चय केवल व्यर्थ ही होता है। जिस प्रकार कोई माँड़ पीकर उसमें अमृतके गुणकी अपेक्षा करता हो, ठीक उसी प्रकारकी बात यह भी है कि इस नश्वर नाम-रूपात्मक स्थूल रूप पर मनसे पूरा पूरा विश्वास रखा जाय और तब उसीमें मेरा शाश्वत स्वरूप देखा जाय। भला इस प्रकारके प्रयत्नसे मैं कैसे दिखलाई पड़ सकता हूँ? क्या पूर्वकी ओर जानेवाले मार्गसे चलकर कभी कोई पश्चिमी समुद्रके उस पारवाले तट पर पहुँच सकता है? अथवा हे अर्जुन, भूसेको चाहे कितनाही कूटा जाय, पर उसमेंसे क्या कभी अनाजका दाना मिल सकता है? इसी प्रकार जिस स्थूल विश्वका आकार केवल विकारसे बना है, उसीको जानकर मेरा केवल, निराकार और निर्गुण स्वरूप भला कैसे जाना जा सकता है? क्या फेन पीनेसे ही पानी पीनेका फल हो सकता है? इसी प्रकार मनमें मोह उत्पन्न होनेके कारण लोग भ्रमसे यह कल्पना कर लेते हैं कि यह विश्व मैं परमात्मा ही हूँ, और तब यह मान लेते हैं कि यहाँके जो जन्म और मरण आदि कर्म हैं, वे मुझपर भी प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग मुझ नाम-रहित पर नामका, क्रिया-हीन पर कर्मका और विदेह पर देह-धर्मका आरोप कर लेते हैं। मेरे निराकार होते हुए भी वे मुझ पर आकारका आरोप करते हैं, मुझ उपाधि हीन पर उपचार-विधिका आरोप करते हैं, मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझ पर व्यवहारका, वर्ण-हीन होने पर भी वर्णका, निर्गुण होने पर भी गुणका, हस्त-पाद आदिसे रहित होने पर भी हस्तपाद आदिका, अपरिमित होने पर भी परिमाणका और सर्वव्यापी होने पर भी स्थान विशेषका आरोप करते हैं। जिस प्रकार सोया हुआ मनुष्य स्वप्नमें अपने बिछौने पर ही जंगल देखता है, उसी प्रकार वे लोग मुझ श्रवण-हीनके सम्बन्धमें यह समझते हैं कि मुझे श्रवण हैं; और

यद्यपि मुझमें नेत्र, गोत्र, रूप, आकार, इच्छा, तृप्ति, वस्त्र, भूषण और कारण आदि कुछ भी नहीं हैं, परन्तु फिर भी वे मुझमें इन सब बातोंका आरोप या भावना करते हैं। यद्यपि मैं स्वयंसिद्ध हूँ, परन्तु फिर भी वे मेरी मूर्त्ति बनाते हैं; मैं स्वयंभू हूँ, पर फिर भी मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं और मैं सदा सर्वदा अखंड और सर्वत्र व्यापक हूँ, पर फिर भी वे मेरा आवाहन और विसर्जन करते हैं। यद्यपि मैं सदा स्वयंसिद्ध हूँ, परन्तु वे अपनी बुद्धिसे मेरे अविकृत एक-रूपके साथ बाल्य, युवा तथा वृद्धावस्थाका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यद्यपि मैं द्वैतहीन हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझमें द्वैत भावका आरोप करते हैं, मेरे निष्क्रिय होने पर भी मुझमें क्रियाकी सम्भावना करते हैं और मेरे अभोक्ता होने पर भी यह समझते हैं कि मैं भोगोंका उपभोग करता हूँ। यद्यपि मेरा कोई कुल या गोत्र नहीं है, पर फिर भी वे मेरे कुलका वर्णन करते हैं। मेरे अविनाशी होने पर भी मेरी मृत्युकी कल्पना करके दुःखी होते हैं; और यद्यपि मैं सबके अन्दर समान रूपसे ओत-प्रोत रहता हूँ, पर फिर भी मेरे सम्बन्धमें शत्रु और मित्र आदि भावोंकी सम्भावना करते हैं। यद्यपि मैं आत्मानन्दका प्रत्यक्ष आगर हूँ, परन्तु फिर भी वे समझते हैं कि मैं नाना प्रकारके सुखोंकी इच्छा करता हूँ; और यद्यपि मैं सब जगह समान रूपसे व्यापक रहता हूँ, परन्तु फिर भी वे मुझे एकदेशीय कहते हैं; और यह मानते हैं कि मैं अमुक स्थल-विभागमें रहता हूँ। और यद्यपि मैं समस्त चर और अचरकी आत्मा हूँ, पर फिर भी वे मेरे सम्बन्धमें यह प्रसिद्ध करते हैं कि मैं एकका पक्ष लेता हूँ और दूसरे पर क्रोध करके उसे मारता हूँ। तात्पर्य यह कि इस प्रकारके जो अनेक मनुष्य-धर्म हैं, उन्हींको वे "मैं" कहने लगते हैं और उन सबका मुझमें आरोप करते हैं। इस प्रकार उनके ज्ञानका स्वरूप सत्यके बिलकुल विपरीत होता है। वे जब कोई मूर्त्ति अपने सामने देखते हैं, तब उसीको देवता कहने लगते हैं; पर जब वही मूर्त्ति टूट जाती है, तब यह कहकर उसे फेंक देते हैं कि यह देवता नहीं है। तात्पर्य यह कि वे लोग अनेक प्रकारसे यही मानते हैं कि मैं साकार मनुष्य ही हूँ। इस प्रकार उनका वह विपरीत ज्ञान ही सच्चे ज्ञानको अन्धकारमें रखता है और सच्चा ज्ञान उनकी दृष्टिके सामने नहीं आने पाता।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

"इसी लिए ऐसे पुरुषोंका जीवन निष्फल सिद्ध होता है। वर्षा ऋतुके अतिरिक्त अन्य ऋतुओंमें जो मेघ दिखाई पड़ते हैं, अथवा मृग-जलकी जो लहरें उठती हुई दिखाई देती हैं, वे सब दूरसे ही देखने भरकी होती हैं। यदि उनके पास जाकर उनकी परीक्षा की जाय तो कुछ भी अर्थ नहीं सिद्ध होता। ऐसी परीक्षामें वे दोनों ही निस्सार सिद्ध होते हैं। बच्चोंके खेलनेके लिए मिट्टीके जो घुड़-सवार बनाए जाते हैं, अथवा जादू-गर लोग जो अलंकार आदि उत्पन्न करते हैं, अथवा आकाशमें बादलोंके बने हुए जो महल और कोट आदि या गन्धर्वनगर दिखाई देते हैं, वे सब वास्तवमें कुछ न होने पर भी देखनेवालोंको भासमान होते ही हैं। सरपत बराबर सीधा बढ़ता तो रहता है, परन्तु उसमें फल नहीं लगते और उसके कांड भी अन्दरसे पोले ही होते हैं। बकरीके गलेमें

जो स्तन निकलते हैं, वे भी केवल दिखाऊ ही होते हैं। ठीक इसी प्रकारका मूढ़ पुरुषों-का जीवन भी होता है। उनके किये हुए कर्म सेमलके फलोंकी तरह लेने-देनेके कामके नहीं होते और केवल धिक्कारनेके योग्य होते हैं। ऐसे लोग जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह बन्दरके तोड़े हुए नारियलके समान अथवा अन्धेके हाथमें आये हुए मोतियोंके समान निष्फल होता है। तात्पर्य यह कि उनके शास्त्र लड़कियोंके हाथके शस्त्रोंके समान अथवा अशुद्ध पुरुषोंके मन्त्रबीजके समान केवल निरूपयोगी होते हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, उनका समस्त ज्ञान-संग्रह और कर्म-संग्रह दोनों व्यर्थ ही होते हैं, क्योंकि उनके चित्तमें यथार्थ ज्ञानका अभाव होता है। अच्छी-भली बुद्धिको भी ग्रसनेवाली, विवेकका ठौर-ठिकाना नष्ट करनेवाली और अज्ञानके अन्धकारमें संचार करनेवाली तामसी राक्षसी प्रकृति (माया) के चंगुलमें वे लोग फँसे रहते हैं और इसी लिए उनके चित्तके धुर्रे उड़ जाते हैं और वे तमोगुण-युक्त राक्षसीके मुखमें जा पड़ते हैं। उस तामसी राक्षसीके मुखमें आशाकी लारके अन्दर हिंसाकी जीभ लपलपाती रहती है जो असमाधान या असन्तोषके लोथड़े बराबर चबाती रहती है। यह हिंसाकी जीभ होंठ चाटती हुई अनर्थ-के कानों तक बाहर निकलती है। यह राक्षसी दोषोंके पर्वतोंकी दरियोंमें निरन्तर मत्त होकर घूमा करती है। द्वेष ही उसकी दाढ़ें हैं जिनसे वह ज्ञानको चबाकर उसका कचू-मर निकाल देती है। स्थूल बुद्धिवाले मूर्खोंके लिए वह त्वचा और अस्थिके वेष्टनके समान होती है। इस प्रकार इस तामसी माया राक्षसीके मुखमें जो लोग भूतोंको दी हुई बलिके समान पड़ते हैं, वे अज्ञान या भ्रान्तिके दहमें डूबकर नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार जो लोग तमोगुणके गड्ढेमें जा पड़ते हैं, उनके पास तक सहायताके लिए विचारका हाथ पहुँच ही नहीं सकता। ऐसे लोगोंकी तो कोई बात ही नहीं करनी चाहिए; क्योंकि इस बातका पता भी नहीं चलता कि वे कहाँ चले गये। इसी लिए इन मूढ़ लोगोंकी यह व्यर्थकी कहानी अब समाप्त की जाती है। यदि इसका विस्तार किया जायगा तो उससे व्यर्थ ही वाणीको कष्ट होगा।" श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी बातें सुनकर अर्जुनने कहा—"हे महाराज, आप जो कुछ कहते हैं, वह बिलकुल ठीक है।" इस पर श्रीकृष्ण-ने कहा—"हे अर्जुन, अब मैं साधु पुरुषोंकी स्थिति बतलाता हूँ। सुनो।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥

"निरन्तर पवित्र स्थलोंमें रहनेका संकल्प करनेवाला मैं क्षेत्र-संन्यासी जिनके शुद्ध अन्तःकरणमें निवास करता हूँ, जिन्हें वैराग्य कभी निद्राके समय भी छोड़कर कहीं नहीं जाता; जिनकी श्रद्धायुक्त शुद्ध भावनाओंमें धर्मका साम्राज्य रहता है, जिनके मनमें सदा विवेककी आर्द्रता रहती है, जो ज्ञान-गंगामें स्नान कर चुके होते हैं, जो पूर्ण ब्रह्मकी स्थिति तक पहुँचकर समाधान प्राप्त कर चुके होते हैं, जो शान्ति-रूपी बेलमें मानों नये पल्लवके समान निकले हुए होते हैं, जो उस परब्रह्ममें निकले हुए अंकुरके समान होते हैं जिसमें जगतकी परिणति या परिसमाप्ति होती है, जो धैर्यके आधार-स्तम्भ जान पड़ते हैं, जो आनन्द-समुद्रमें डुबाकर भरे हुए पात्रके समान होते हैं, जिनका भक्तिके प्रति

इतना अधिक अनुराग होता है कि उसके सामने मुक्तिसे कहते हैं कि "दूर हो; हमें तेरी आवश्यकता नहीं है।" जिनके सहज आचरणमें भी नीति जीवित रूपसे विहार करती हुई जान पड़ती है, जिनकी समस्त इन्द्रियाँ शान्तिसे शृंगारित होती हैं और जिनका चित्त इतना अधिक विशाल होता है कि वह मुझ सरीखे सर्वव्यापकको भी चारों ओरसे आच्छादित कर लेता है, इस प्रकार जो महासमर्थ महात्मा मेरा वह सत्य स्वरूप पूर्ण रूपसे जान लेते हैं, जो दैवी सम्पत्तिका सौभाग्य ही है और दिन-दूने रात-चौगुने प्रेमसे मेरा भजन करते हैं, परन्तु जिन्हें द्वैत भाव कभी नामको भी स्पर्श नहीं करता, हे अर्जुन, वे लोग मत्स्वरूप ही होकर रहते हैं। वे मेरी सेवा तो करते हैं; परन्तु उस सेवामें जो एक विलक्षणता होती है, वह भी सुनो।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥

"ऐसे भक्त प्रायश्चितका व्यापार तो बन्द कर देते हैं और कीर्तनके समय भक्तिके आवेशमें नाचने लगते हैं। उनका प्रायश्चित्तवाला व्यापार इसलिए बन्द हो जाता है कि उनमें पापका नाम भी नहीं होता! ये यम-दम आदिको निस्तेज कर देते हैं, तीर्थ-क्षेत्रोंके चिन्ह तक मिटा देते हैं और यम-लोकके मार्गका अन्त कर देते हैं। क्योंकि यम कहता है—"इन लोगोंने तो पहलेसे ही इन्द्रियोंको वशमें कर रखा है। फिर मेरे लिए नियमनका काम ही कहाँ बाकी रह जाता है!" ऐसे लोगोंका मनोनिग्रह देखकर दम कहता है—"मैं अब किसका दमन करूँ?" तीर्थ कहते हैं—"इनके अंगोंमें दोष तो इतना भी नहीं है जो औषध भरको भी प्राप्त हो सके। फिर हम अपने पावन गुणसे इनका कौन सा मल दूर करें? इस प्रकार वे महात्मा लोग केवल मेरे नाम-कीर्त्तन के घोषसे ही विश्वके दुखों-का नाश करके समस्त संसारको आत्म-सुखसे भरपूर कर देते हैं। वे बिना प्रभातके ही ज्ञानदिवसका उदय करा देते हैं, बिना अमृतके ही अमर कर देते हैं और बिना योग-साधनाके ही नेत्रोंको मोक्षके दर्शन करा देते हैं। राजा और रंकमें योग्यताके भेद-भावकी कल्पना करना अथवा किसीको छोटा और किसीको बड़ा समझना तो वे लोग बिलकुल जानते ही नहीं। वे ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं करते और आनन्दका बाड़ा सारे संसारके लिए खुला रखते हैं। बैकुण्ठमें तो शायद ही कभी कोई जाता हो, परन्तु वे सारे विश्वको बैकुण्ठ बना डालते हैं। इस प्रकार वे केवल नाम-कीर्तनके घोषसे सारे संसार को स्वच्छ प्रकाशमय बना देते हैं। वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं; परन्तु सूर्यको जो अस्तकालका दोष लगता है, वह दोष उन्हें कभी स्पर्श भी नहीं करता। चन्द्रमा तो केवल पूर्णिमाके दिन ही सम्पूर्ण रूपसे मंडल-युक्त दिखाई देता है, परन्तु वे सदा पूर्णता धारण किये रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि मेघ उदार होते हैं, पर उनकी पूँजी भी कभी न कभी खतम हो जाती है; और इसलिए वे भी उन महात्माओंकी बराबरी नहीं कर सकते। इन्हें सचमुच उड़ते हुए सिंह कहना चाहिए। एक बार मेरा जो नाम मुखपर लानेके लिए हजारों जन्म धारण करने पड़ते हैं, वह नाम उनकी जीभ पर प्रेमके कारण निरन्तर नाचता रहता है। मैं ऐसा हूँ कि मैं बैकुण्ठमें भी नहीं रहता, मैं भानु-मण्डलमें भी नहीं

दिखाई पड़ता और यहाँ तक कि मैं योगियोंके मनको भी पार करके निकल जाता हूँ। तो भी, हे अर्जुन, जिस स्थान पर मेरे अनन्य भक्त प्रेमसे मेरे नाम-संकीर्त्तनका घोष करते रहते हैं, वहाँ मैं जो और कहीं कभी नहीं मिलता, सहजमें मिल जाता हूँ। जरा देखो कि वे लोग मेरे गुणोंमें कहाँ तक और कैसे लीन हो जाते हैं। उन्हें स्थल और कालका भी स्मरण नहीं रह जाता और वे मेरे नाम-कीर्त्तनमें आत्मसुख प्राप्त करते हैं। उनकी कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविन्दकी अखंड माला बराबर चलती रहती है, और वे मेरे सम्बन्धमें मुक्त हृदयसे अध्यात्मकी चर्चा करके जी भरकर मेरे गुणोंके गीत गाते रहते हैं। परन्तु अब इन बातोंका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं है। हे अर्जुन, वे भक्त इस प्रकार मेरा कीर्त्तन करते हुए चराचरमें संचार करते हैं। और हे भाई अर्जुन, वे भक्त अत्यन्त यत्न-पूर्वक पंच-प्राणों और मनको पूरी तरहसे दबाकर उन्हें अपने अधीन रखते हैं। वे बाहरसे तो यम-नियमोंके घेरे खड़े कर देते हैं और अन्दर वज्रासनका कोट बनाकर प्राणायामकी तोपोंसे मोरचेबन्दी करते हैं। उस समय कुंडलिनी शक्तिके जाग्रतिके कारण जो प्रकाश होता है, उसमें मन और प्राण-वायुकी अनुकूलतासे सत्रहवीं कलाके अर्थात् परिपूर्ण आत्मज्ञान रूपी अमृतके सरोवर खुल जाते हैं। उस समय अन्तर्मुख इन्द्रियोंकी एकाग्रताकी परम अवधि हो जाती है (अर्थात् वे एकाग्रताकी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं), विकारोंकी भाषाका अन्त हो जाता है और समस्त इन्द्रियाँ खींचकर हृदयमें बन्द हो जाती हैं। इतनेमें धारणा अर्थात् ध्यानकी परिपक्व दशाके घुड़-सवार दौड़-धूप करके पंचमहाभूतोंको एकत्र करते हैं और वे पंचमहाभूत एकत्र होकर आकाशमें लीन हो जाते हैं और संकल्प-विकल्पकी चतुरंग सेनाका पूर्ण रूपसे नाश हो जाता है। फिर यह प्रचंड जय-घोष होने लगता है कि—"विजय हो गई।" "विजय हो गई।" और उस जय-घोषमें ध्यान-धारणाका नगाड़ा बजने लगता है और ब्रह्मके साथ ऐक्यका एक-छत्र राज्य दिखाई देने लगता है। इसके उपरान्त सम्पूर्ण आत्मानुभवके साम्राज्यमें समाधि-लक्ष्मीका अभिषेक होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार मेरा भजन बहुत ही गम्भीर और गूढ़ रहस्यात्मक है। जो भक्त मेरा इस प्रकारका भजन करते हैं, वे यह समझ लेते हैं कि जिस प्रकार वस्त्रमें एक सिरेसे दूसरे सिरे तक एक-जात तन्तु रहते हैं, उसी प्रकार मैं भी समस्त चराचरमें ओत-प्रोत भरा रहता हूँ। उनकी समझमें यह भी आ जाता है कि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिसमें मेरा निवास न हो। उन्हें इस बातका ज्ञान हो जाता है कि इस संसार-रूपी वस्त्रका एक सिरा ब्रह्मदेव और दूसरा सिरा मशक या मच्छर है; और इन दोनोंके बीचमें जो समस्त भूत सृष्टि है, वह सब मेरा ही स्वरूप है। फिर ये छोटे-बड़े और सजीव-निर्जीवका कोई भेद नहीं करते। उस समय जो वस्तु उनकी दृष्टिमें पड़ती है, उसे वे मद्रूप अर्थात् ब्रह्म-स्वरूप समझकर उसका सरलतापूर्वक आदर करते हैं। उन्हें अपनी श्रेष्ठताका ध्यान ही नहीं रह जाता और न दूसरोंकी योग्यता तथा अयोग्यताकी ही कोई भावना रह जाती है। उन्हें एक सिरेसे समस्त व्यक्तियोंका नम्रतापूर्वक आदर करना ही अच्छा लगता है; जिस प्रकार ऊँचे स्थान पर गिरा हुआ पानी आपसे आप इकट्ठा होकर फिर नीचे स्थान पर आ जाता है, उसी प्रकार

उन भक्तोंका यह स्वभाव ही हो जाता है कि वे भूतमात्रको देखते ही नम्र हो जाते हैं। अथवा जिस प्रकार फलोंसे लदे हुए वृक्षकी शाखाएँ आपसे आप झुककर जमीनकी ओर आ जाती हैं, उसी प्रकार वे भूत-मात्रके सामने स्वाभाविक रूपसे नम्र हो जाते हैं। वे निरन्तर गर्व-रहित रहते हैं। वे नम्रताको ही अपना सारा वैभव समझते हैं और वह सारा वैभव वे जय जय मन्त्रपूर्वक मुझे अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार सदा भूतमात्रके सामने नम्र होते रहनेके कारण उनकी मान और अपमानवाली भावना बिलकुल नष्ट हो जाती है और इसीलिए वे आपसे आप मद्रूप होकर और निरन्तर समरस रहकर उपासना करते रहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें सच्ची और महत्त्वपूर्ण भक्तिकी सब बातें बतला दी हैं। आप जरा उन लोगोंकी भी कुछ बातें सुन लो जो ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करते हैं। हे अर्जुन, भजन करने का कौशल तो तुम जानते ही हो, क्योंकि यह विषय मैं तुम्हें एक बार पहले बतला चुका हूँ।" श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर अर्जुनने कहा—"हाँ महाराज, भक्ति और भजनकी सब बातें मैं सुन चुका हूँ। इस सौभाग्यका प्रसाद मुझे एक बार प्राप्त हो चुका है। तो भी यदि अमृत बार बार परोसा जाय तो क्या कभी कोई यह कह सकता है कि—"बस, अब और नहीं चाहिए।" अर्जुनकी यह बात सुनकर श्रीकृष्णने समझ लिया कि अब इसे इस विषयका चस्का पड़ गया है और ज्ञान-सुखसे इसका अन्तरंग डोलने लग गया है। अतः श्रीकृष्णने कहा—"वाह वाह! अर्जुन, तुमने यह बहुत अच्छी बात कही। और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो इस विषयके विवेचनका यह कोई उचित प्रसंग नहीं था। परन्तु मेरे अन्तःकरणमें तुम्हारे लिए जो स्नेहपूर्ण आदर रहता है, वही मुझे बोलनेमें प्रवृत्त करता है।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—"महाराज, आप यह कैसी बातें कहते हैं! यदि चकोर न हो तो क्या चाँदनी नहीं छिटकती? क्या चाँदनीका यह सहज स्वभाव नहीं है कि संसारके तापका निवारण करे? जिस प्रकार चकोर पक्षी अपने अनुरागके कारण चोंच खोलकर चन्द्रमाकी ओर देखता है, उसी प्रकार मैं भी आपसे थोड़ी-सी प्रार्थना करता हूँ। परन्तु महाराज, आप तो कृपाके प्रत्यक्ष सागर ही हैं। मेघ अपनी सामर्थ्यसे ही संसारकी इच्छा पूरी करता है; और नहीं तो यदि मेघसे होनेवाली वर्षाका विचार किया जाय तो उसके सामने चातककी प्यास कितनी अल्प ठहरती है! परन्तु जिस प्रकार चुल्लू भर पानीके लिए भी गंगा नदीके तटपर जानेकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मेरी माँग चाहे थोड़ी हो और चाहे बहुत, परन्तु हे महाराज, आप सब बातें विस्तारपूर्वक कहें।" अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवानने कहा—"अच्छा, अब इन बातोंको जाने दो। मुझे जो सन्तोष हुआ है, उसके कारण अब तुम्हारे मुखसे निकली हुई स्तुति सहन करनेके लिए अवकाश ही नहीं रह गया। तुम सचमुच मेरी बातें सच्चे भाव से सुन रहे हो; और यही बात मेरे वक्तृत्वके लिए उत्साह-वर्द्धक हो रही है।" इस प्रकारकी प्रस्तावनाके उपरान्त श्रीकृष्णने आगे यों कहना आरम्भ किया—

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥

"अब मैं यह बतलाता हूँ कि ज्ञान-यज्ञका सम्पादन किस प्रकार होता है। परब्रह्ममें जो "अहं बहुस्याम् प्रजायेय" वाला मूल संकल्प उत्पन्न होता है, वह इस यज्ञका यज्ञ-स्तम्भ है। महाभूत यज्ञ मंडप हैं और द्वैत यज्ञ-पशु है। फिर पंचमहाभूतोंके जो विशिष्ट गुण अथवा इन्द्रियाँ और प्राण हैं, वही इस ज्ञान-यज्ञके उपचार-विधानकी सामग्री है। और अज्ञान इस यज्ञमें आहुति देनेका घृत है। इस ज्ञान-यज्ञमें मन और बुद्धिके कुण्डोंमें ज्ञानकी अग्नि धधकती रहती है; और हे सखा अर्जुन, साम्य भावनाको ही इस ज्ञान-यज्ञकी वेदी समझना चाहिये। विवेक बुद्धिकी कुशलता ही मन्त्र-विद्याकी शक्ति है, शान्ति इसका यज्ञ-पात्र है और जीव इसका यज्ञ-कर्त्ता यजमान है। यही यजमान जीव ब्रह्मानुभवके पात्रमेंसे विवेक रूपी महामन्त्रका घोष करता हुआ ज्ञानाग्निके होममें द्वैतकी आहुति देता है। जब अज्ञानका नाश हो जाता है, तब यज्ञकर्त्ता और यज्ञ-विधि दोनोंका अन्त हो जाता है। फिर जिस समय आत्मैक्यके जलमें जीव यज्ञ-समाप्तिका अवभृथ स्नान करता है, उस समय भूतों, विषयों और इन्द्रियोंका विभेद भासमान नहीं होता। आत्मैक्य बुद्धिके पूर्ण रूपसे प्रतिबिम्बित हो जानेके कारण सब एक ब्रह्म-रूप ही हो जाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार नींदसे जागा हुआ मनुष्य कहता है—'सोये रहनेकी अवस्थामें जो स्वप्न मैंने देखा था, उसकी अद्भुत सेना मैं ही बना हुआ था। परन्तु अब मैं जग गया हूँ। वह स्वप्नकी सेना केवल भ्रमजात थी। वह सब कुछ मैं ही था और अब भी मैं ही हूँ।" उसी प्रकार ज्ञान-यज्ञ करनेवालेकी समझमें यह तत्व आ जाता है कि यह सारा विश्व एक अभिन्न ब्रह्म रूप ही है। इससे उसका जीव-भाव ही नष्ट हो जाता है। वह परमात्म-बोधसे ओत-प्रोत भर जाता है और ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है। बस कुछ लोग इसी एक भावसे ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरा भजन करते हैं। कुछ ऐसे भक्त भी होते हैं जो यह मानते हैं कि यह विश्व अनादि है। और इस विश्वमें होते तो सब एक दूसरेके समान ही हैं, परन्तु नाम और रूप आदिके कारण वे भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं। इसी लिये इस विश्वमें भेद-भाव भासमान होता है, परन्तु फिर भी भेद-भावके कारण उनके ज्ञानमें भेद नहीं होता। जिस प्रकार अवयव भिन्न भिन्न होने पर भी वे वास्तवमें एक ही देहके होते हैं अथवा शाखाएँ छोटी बड़ी होने पर भी जिस प्रकार वे एक ही वृक्षकी होती हैं अथवा किरणें असंख्य होने पर भी वे सब एक ही सूर्य की होती हैं, उसी प्रकार उनके लिए तरह तरह की रूपात्मक वस्तुएँ, उनके भिन्न भिन्न नाम, उनके भिन्न भिन्न व्यापार और उन सबसे सम्बन्ध रखनेवाले भेद भौतिक विश्व भरके लिए ही होते हैं; और वे भक्त यह भी जानते हैं कि मैं पूर्ण रूपसे भेद-भावसे रहित हूँ। हे अर्जुन, जो लोग इस भिन्न प्रकारसे अपने ब्रह्म-स्वरूपके ज्ञानको भेद-भाव का स्पर्श नहीं होने देते, वे ही ठीक तरहसे ज्ञान-यज्ञ करते हैं। कारण यह है कि जिस समय और जिस स्थान पर उन्हें जो कुछ दिखाई देता है, उसके सम्बन्धमें पहलेसे ही उनका यह ज्ञान रहता है कि वह मुझ परब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। देखो, जो बुलबुला बनता है, वह जल-रूप ही होता है। अब चाहे वह फूट जाय और चाहे रहे, पर उसके सम्बन्ध में जो कुछ होता है, वह जलसे ही होता है। हवासे धूलके कण भले ही इधर-उधर उड़ने लगें, परन्तु फिर भी उनका पृथ्वी-भाव कभी नष्ट

नहीं होता। और जब वे गिरते हैं, तब पृथ्वी पर ही गिरते हैं। इसी प्रकार चाहे कोई नाम-रूपात्मक वस्तु क्यों न हो, फिर चाहे वह बनी रहे और चाहे नष्ट हो जाय, पर वह निरन्तर ब्रह्म-रूप ही रहती है। मैं जिस प्रकार सर्व-व्यापक हूँ उसी प्रकार उनका ब्रह्मानुभव भी सर्वव्यापक होता है। इस प्रकार वे लोग यह ज्ञान रखकर सब प्रकारके व्यवहार करते हैं कि नाना-विध विश्व एक-विध ब्रह्म ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार इस सूर्य बिम्बको जो देखना चाहता है, वह उसके सामने ही रहता है, उसी प्रकार इस विश्वको अपने ब्रह्म-बोधसे व्याप्त रखनेके कारण वे भी सबको अपने सामने ही दिखाई देते हैं। हे पार्थ, उनके ज्ञानमें नामको भी भेद-भाव नहीं होता। जिस प्रकार गगनमें वायु सब स्थानों पर समान भावसे और पूरी तरहसे भरी रहती है, उसी प्रकार उनका ज्ञान भी सारे विश्वको सम भावसे व्याप्त रखता है। जितनी अधिक मेरी व्याप्ति है, उतनी ही उनके ब्रह्म-बोधकी भी व्याप्ति रहती है; और इसी लिए चाहे वे उपासना सम्बन्धी एक भी काम न करें, परन्तु फिर भी उनके द्वारा मेरी आपसे आप उपासना हो जाती है। यों तो सब जगह एक मैं ही हूँ, फिर भला मेरी उपासना किससे और कब नहीं होती? (अर्थात् सब लोग आपसे आप और निरन्तर किसी न किसी रूपमें मेरी उपासना करते ही रहते हैं।) परन्तु उन सब लोगोंको वह सर्वव्यापक ज्ञान नहीं होता; इसलिए जीव अप्राप्त स्थितिमें रहते हैं—वे मेरे यथार्थ स्वरूपको प्राप्त नहीं होते। परन्तु अब इस विषयका विशेष विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि इस प्रकारके योग्य ज्ञान-यज्ञके द्वारा मेरी उपासना किस तरह की जाती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियोंके द्वारा और भिन्न भिन्न साधनोंसे जिन जिन कर्मोंका आचरण होता है, वे सब अन्तमें मुझे ही अर्पित होते हैं। परन्तु मूढ़ जनोंको इस रहस्य का पता नहीं होता; और इसी लिए वे मेरा शुद्ध स्वरूप प्राप्त नहीं करते।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

"परन्तु जब उस शुद्ध ब्रह्म-ज्ञानका उदय हो जाता है, तब इस बातका ज्ञान हो जाता है कि वेद भी मैं ही हूँ और वेदोंमें बतलाई हुई अनुष्ठान-विधिसे जो क्रतु या यज्ञ किये जाते हैं, वह भी मैं ही हूँ। फिर उन क्रतु-कर्मोंसे जो यथा-स्थित यज्ञ होते हैं, वे सब अंगों और उपांगोंके सहित यज्ञ भी मैं ही हूँ। स्वाहा, स्वधा, सोम आदि औषधियाँ, वल्ली, घृत, समिधा, मन्त्र आहुति, द्रव्य, होता, अग्नि और हवन की हुई वस्तुएँ आदि जो यज्ञमें काम आती हैं, वे सब भी मैं ही हूँ।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

"जिसके सहवाससे आठ प्रकारकी प्रकृति (माया) से यह नाम-रूपात्मक संसार उत्पन्न होता है, उस संसारका पिता भी मैं ही हूँ। अर्द्ध-नारी-नटेश्वरकी मूर्त्तिमेंका जो पुरुष होता है, वही नारी भी होता है; और इसी प्रकार इस चराचर विश्वकी माता भी मैं ही हूँ। फिर उत्पन्न होनेवाला संसार जिसके आधार पर बना रहता और बढ़ता है,

वह आधार भी मेरे सिवा और कोई नहीं है। यह प्रकृति-पुरुष अथवा शिव-शक्तिकी जोड़ी जिसके सहज संकल्पसे अस्तित्वमें आई है, वह त्रिभुवनका पिता भी मैं ही हूँ। और हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, समस्त भिन्न भिन्न ज्ञान-मार्ग अन्तमें जिस एक चौमुहानी पर आकर मिलते हैं, जिसका नाम "वेद्य" अर्थात् जाननेकी वस्तु है जहाँ नाना मत एक-मत हो जाते हैं, जहाँ भिन्न भिन्न शास्त्र आपसमें एक दूसरेको पहचान लेते हैं और जहाँ उनका भेद-भाव नष्ट हो जाता है, जहाँ एक दूसरेसे अलग रहनेवाले ज्ञान-मार्गोंका मेल होता है, जिसे "पवित्र" कहते हैं और आदि संकल्प रूपी ब्रह्म-बीजसे अंकुरित नाद-स्वरूप घोष ध्वनिमय अंकुरका मूल स्थान जो ओंकार है, वह भी मैं ही हूँ। उस ओंकारके पेटमें रहनेवाले जो अ, उ और म ये तीनों अक्षर वेदोंके साथ उत्पन्न हुए हैं, वे अक्षर भी मैं ही हूँ। ऋक्, यजुस् और साम ये तीनों वेद भी मैं ही हूँ। इस प्रकार समस्त साहित्यकी परम्परा मैं ही हूँ।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

"यह सारा चराचर विश्व जिस प्रकृतिमें समाया हुआ है, वह प्रकृति (माया) थक जाने पर जिसमें विश्राम करती है, वह परम धाम भी मैं ही हूँ। जिसके कारण प्रकृति-में जीवन आता है और जिसका स्वीकार करनेसे वह इस विश्वको प्रसव करती है और जो इस प्रकृतिका सहवास करके गुणोंका उपभोग करता है, हे अर्जुन, वह इस विश्व-लक्ष्मीका नाथ भी मैं ही हूँ। इस समस्त त्रिभुवनका मैं ही शास्ता हूँ। आकाश जो अशेष स्थलको व्याप्त करता है, वायु जो क्षण-मात्र भी निश्चल नहीं रहती, अग्नि जो जलाती है, पानी जो बरसता है, पर्वत जो अचल रहते हैं, समुद्र जो अपनी मर्यादाका उल्लंघन नहीं करता, पृथ्वी जो भूत-मात्रका भार सहन करती है, वह सब मेरी ही आज्ञा से। यदि मैं बोलूँ, तभी वेद भी बोलते हैं। मैं चलाऊँ, तभी सूर्य भी चलता है। मैंने गति दी है, इसी लिए संसारको चलानेवाले प्राण भी चलते रहते हैं। मैंने जो नियम बना दिये हैं, उन्हींके आधार पर यम भी भूतोंका संहार करता है।। जिसके कहनेसे ये सब काम होते हैं और जो जगत्‌का सामर्थ्यवान् प्रभु है, वह भी मैं ही हूँ। और गगन-की तरह कुछ भी न करके जो तटस्थ रहनेवाला है, वह भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो इन समस्त नाम-रूपोंमें भरा हुआ है और जो इन समस्त नाम-रूपोंका मूल आधार है, जो इस समस्त भौतिक सृष्टिका उसी प्रकार आधार होकर रहता है, जिस प्रकार जलकी तरंगों का आधार जल ही होता है, वह आधार भी मैं ही हूँ। जो एकनिष्ठ होकर मेरी शरणमें आता है, उसके जन्म-मरणका भी मैं ही अन्त करता हूँ; इसलिए शरणागतोंका शरण्य (अर्थात् जिसकी शरणमें जाना उचित हो) वह भी मैं ही हूँ। मैं ही अनेकत्व धारण करके प्रकृतिके भिन्न भिन्न गुणोंके द्वारा संसारके प्राण रूपसे कर्म करता हूँ। सूर्य कभी इस बातका भेद-भाव नहीं करता कि यह समुद्र है और यह कीचड़से भरा हुआ गड्ढा है। वह समस्त जलाशयों पर समान रूपसे प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़ों तक समस्त भूतोंमें समान भाव और सख्य रूपसे रहनेवाला भी मैं

ही हूँ। हे अर्जुन, मैं ही इस संसारका आधार हूँ और इसकी उत्पत्ति, नाश तथा पुनरु-त्पत्तिका भी मैं ही कारण हूँ। बीज ही समस्त शाखाओंको उत्पन्न करता है, पर फिर भी सारा वृक्षत्व उस बीजमें ही समाया रहता है। इसी प्रकार सारा विश्व आदि संकल्प-से ही उत्पन्न होता है और अन्तमें उसी संकल्पमें समाया रहता है। इस प्रकारका अमूर्त्त वासना रूपी जो संकल्प जगत्‌का बीज है, वह संकल्प कल्पान्तमें लौटकर जिसमें समाता है, वह भी मैं ही हूँ। जिस समय नाम और रूप नष्ट होते हैं, व्यक्तियोंकी विशि-ष्टता नहीं रह जाती, जाति और वर्णका भेद-भाव मिट जाता है और आकार नहीं रह जाता, उस समयसे लेकर आदि संकल्पकी वासनाका फिरसे स्फुरण होनेके समय तक सारा चराचर जिसमें सुखपूर्वक रहता है, वह भी मैं ही हूँ।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥

"जब मैं सूर्य रूपसे ताप उत्पन्न करता हूँ, उस समय जल सूख जाता है। फिर मैं ही इन्द्रके रूपमें वर्षा करता हूँ जिससे सब जगह फिर जल भर जाता है। अग्नि जिस समय लकड़ीको जलाती है, उस समय वह लकड़ी ही अग्नि हो जाती है। उसी प्रकार मरनेवाले भी और मारनेवाले भी दोनों मेरे ही स्वरूप होते हैं। इसी लिए जो लोग मृत्युके मुखमें जाते हैं, वे भी मेरे ही रूप हैं और जो अमर हैं, वे तो स्वभावतः मेरे रूप हैं ही। जो बात बहुत सी लम्बी-चौड़ी वक्तृताके द्वारा बतलाने की है, वह अब मैं तुम्हें एक ही शब्दमें बतला देता हूँ; सुनो। सत् और असत् अर्थात् अविनाशी और विनाशी सब कुछ मैं ही हूँ। इसी लिए, हे अर्जुन, ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ मैं न होऊँ। परन्तु प्राणियोंका भाग्य ही ऐसा खराब है कि मैं उन्हें दिखाई ही नहीं देता। यदि तरंगें यह कहकर सूख जायँ कि पानी नहीं है अथवा सूर्यकी किरणें यह कहकर अन्धी हो जायँ कि दीपक नहीं है, तो यह कितने आश्चर्यकी बात है! इसी प्रकार यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है कि लोग मद्रूप होते हुए भी यह कहकर भ्रान्त होते हैं कि मैं नहीं हूँ। इस समस्त विश्वके अन्दर और बाहर मैं ही व्याप्त हूँ और यह सारा जगत् मेरी ही मूर्त्ति है; परन्तु इन अभागोंका दुर्भाग्य बीचमें ऐसा बाधक होता है कि वे यह कहते हैं कि "मैं नहीं हूँ।" यह बात भी ठीक वैसी ही है, जैसे कोई पहले तो अमृतके कूएँमें गिर पड़े और तब अपने आपको उसमेंसे निकालकर बाहर ले आवे और किनारे पर पहुँच जाय। फिर भला लोगोंके ऐसे अभाग्यके लिए क्या किया जाय? हे अर्जुन, जिस प्रकार कोई अन्धा कौर भर अन्नके लिए इधर-उधर मारा मारा फिरता है और अपने अन्धेपनके कारण पैरमें लगनेवाले चिन्तामणिको इधर-उधर ठुकरा देता है, उसी प्रकारकी अवस्था उन जीवोंकी भी होती है जिन्हें ज्ञान नहीं होता। इसी लिए मनुष्यको जो कुछ करना चाहिए, वह उससे ज्ञान न होनेके कारण नहीं हो सकता। अन्धे गरुड़को भी पंख होते हैं; पर वे किस कामके? इसी प्रकार ज्ञानके बिना सत्कर्मका आयास व्यर्थ जाता है।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥

"हे अर्जुन, ध्यान रखो, जो लोग आश्रम-धर्मके अनुसार स्वयं ही सदाचारकी कसौटी बन जाते हैं, जिनकी यज्ञ-क्रिया देखकर तीनों वेद भी सन्तोषसे सिर हिलाते हैं और जिनके सामने यज्ञ-क्रियाका फल मूर्तिमान होकर खड़ा रहता है, उन सोमपान करनेवाले यज्ञ-कर्त्ताओंके सम्बन्ध में जो स्वयं ही यज्ञ-रूप होते हैं, तुम यही समझ लो कि उन्होंने पुण्यके नामसे पापोंका ही संचय किया है; क्योंकि वे लोग तीनों वेदोंका पठन करके और सैकड़ों यज्ञ करके उस मुझको भूल जाते हैं जिसको समस्त यज्ञ पहुँचते हैं, और मुझे भूलकर वे लोग स्वर्गको स्वीकार करते हैं। जिस प्रकार कोई अभागा पुरुष कल्पवृक्षके नीचे बैठकर अपनी झोलीमें गाँठ लगावे और तब उठकर भीख माँगनेके लिए इधर-उधर भटकता फिरे, उसी प्रकार जब ये लोग भी सैकड़ों यज्ञोंके द्वारा मेरी ही उपासना करके अन्तमें स्वर्ग-सुखकी कामना करते हैं, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि उनके कर्म वास्तवमें पुण्य ही हैं, पाप नहीं हैं? इसी लिए मुझे छोड़कर स्वर्गका संग्रह करना अज्ञानका पुण्य-मार्ग है, परन्तु ज्ञानी लोग इससे केवल उपद्रव अर्थात् कल्याणकी हानि ही समझते हैं। यदि सच पूछो तो नरकके दुःख देखकर ही लोग स्वर्गको सुख समझते हैं। परन्तु वास्तवमें केवल मेरा स्वरूप ही ऐसा है जो दोष-रहित और अविनाशी सुख है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, मेरे पास तक पहुँचनेमें जो दो टेढ़े-तिरछे और बाधक मार्ग हैं, वे यही हैं। स्वर्ग और नरक तो चोरोंके मार्ग हैं। नियम यह है कि पुण्य मिश्रित पापसे लोग स्वर्ग प्राप्त करते हैं, शुद्ध पाप करनेसे नरकमें जाते हैं और शुद्ध तथा निर्दोष पुण्य करके मुझे प्राप्त करते हैं। हे अर्जुन, मुझमें रहते हुए भी जिस कर्मके कारण लोग मुझे प्राप्त नहीं कर सकते, उसी कर्मको पुण्य कहनेवाली जीभके क्या सैकड़ों हजारों टुकड़े नहीं हो जायँगे? परन्तु ये दूसरे विषयकी बातें हैं और अब इन्हें जाने दो। अब अपने विषयको लो। इस प्रकार ये यज्ञकर्त्ता यज्ञके द्वारा मेरी उपासना करके स्वर्ग-भोगकी याचना करते हैं। और फिर अपने उस पाप रूपी पुण्यकी सामर्थ्यसे, जिससे कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती, वे लोग स्वर्ग-लोक प्राप्त करते हैं। उस स्वर्गमें एक अमरत्व ही सिंहासन है। वहाँ बैठनेके लिए ऐरावत और रहनेके लिए राजधानी अमरावती है। वहाँ महासिद्धियोंके संग्रह, अमृतके भांडार और कामधेनुके झुंड हैं। वहाँ सेवाके लिए सदा देवता प्रस्तुत रहते हैं, जमीन पर चिन्तामणिके फर्श बने हैं और क्रीड़ाके लिए चारों ओर कल्पतरुके उपवन हैं। वहाँ गन्धर्व गान करते हैं, रम्भा सरीखी अप्सराएँ नाचती हैं और उर्वशी आदि विलासिनी स्त्रियाँ प्राप्त होती हैं। वहाँ शयनागारमें स्वयं मदन सेवा करता है, चन्द्रमा आँगनमें छिड़काव करता है और वायु सरीखे नौकर-चाकर बराबर इधर-उधर दौड़-दौड़कर सब काम करते रहते हैं। वहाँ ऐसे स्वस्ति-वाचन करनेवाले ब्राह्मण होते हैं जिनमें स्वयं बृहस्पति मुख्य हैं, और भाटोंका काम करनेके लिए जितने चाहिए, उतने देवता मिल जाते हैं। वहाँ सरदारोंकी तरह पंक्तिबद्ध होकर खड़े रहनेवाले लोकपाल होते हैं और उच्चैःश्रवा

सरीखा कोतवाल घोड़ा है। तात्पर्य यह कि जब तक उनकी गाँठमें पुण्य रहता है, तब तक वे इन्द्र-सुखके समान इसी प्रकारके अनेक सुखों का उपभोग करते हैं।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

"जब उनके कमाये हुए पुण्यका आधार नहीं रह जाता और साथ ही इन्द्र-पदका तेज भी उतर जाता है, तब वे लोग फिर इसी मृत्यु-लोक में चले आते हैं। जिस प्रकार कोई व्यसनी पुरुष वेश्याके फेरमें पड़कर अपना सारा धन गँवा देता है और तब उस दरिद्रावस्थामें उसके लिए उस वेश्याके द्वार पर जाना भी असंभव हो जाता है, उसी प्रकार संगृहीत पुण्य समाप्त हो जाने पर उन यज्ञकर्त्ताओंकी जो लज्जास्पद अवस्था होती है, उसका मैं क्या वर्णन करूँ! इस प्रकार जो लोग मेरी शाश्वत आत्माको न पहचानकर अपने पुण्य-कृत्योंकी सहायतासे स्वर्गका भोग प्राप्त करते हैं, उन्हें वास्तविक अमरत्व नहीं प्राप्त होता और अन्तमें उन्हें इस मृत्यु-लोकमें ही आना पड़ता है। वे माताके गर्भाशयमें गन्दगीमें नौ मास तक रहकर बार बार जन्म लेते और मरते हैं। स्वप्नमें द्रव्यका बहुत सा भांडार देखा जाता है, परन्तु ज्योंही नींद खुलती है, त्योंही सारा भांडार न जाने कहाँ चला जाता है। ठीक इसी तरह वेदज्ञोंको मिलने वाला स्वर्ग-सुख भी मिथ्या ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, अनाज निकाल लेने पर जो भूसा बच जाता है, उसे ओसाना बिलकुल व्यर्थ ही होता है। इसी प्रकार चाहे कोई पुरुष वेदवेत्ता भले ही हो जाय, परन्तु यदि उसे मेरे शाश्वत स्वरूपका ज्ञान न हो तो समझ लेना चाहिए कि उसका सारा जीवन व्यर्थ ही गया। इसीलिए यदि मेरा ज्ञान न हो तो समस्त वेदोक्त धर्म निरुपयोगी ही सिद्ध होते हैं। परन्तु यदि तुम्हें मेरे सत्स्वरूपका ज्ञान हो जाय और तब तुम्हें और किसी प्रकार का ज्ञान न भी हो, तो तुम सुखी ही होगे।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥

"जिसने सम्पूर्ण मनोयोगपूर्वक अपने आपको मुझे अर्पित कर दिया है, जो उसी प्रकार मेरे सिवा और किसी दूसरेको अच्छा नहीं समझता, जिस प्रकार गर्भाशयमेंका पिंड और कोई उद्योग नहीं जानता और जिसे समस्त जीवनका ही ज्ञान मेरे नामके रूपमें होता है और इस प्रकार जो एकनिष्ठ होकर मेरा चिन्तन करता है, तथा मेरी उपासना करता है, उसीकी मैं भी बराबर सेवा करता रहता हूँ। जब वह पूर्ण मनोयोगपूर्वक एकीकरण करके मेरी उपासना का मार्ग अंगीकार कर लेता है, उसी समय उसकी सब प्रकारसे सुव्यवस्था करने का भार या चिन्ता मुझ पर आ पड़ती है। तब जो जो बातें उसके करनेकी होती हैं, वे सब बातें उसके लिए मुझे करना आवश्यक हो जाता है। माता पक्षिणी अपने उन्हीं बच्चोंके लिए अपना जीवन धारण करती है जिन बच्चोंके अभी तक पंख नहीं निकले होते। उसे अपनी भूख-प्यासका कुछ भी ध्यान या चिन्ता नहीं रहती। वह सदा केवल अपने बच्चोंके हितके ही सब काम करती है। इसी प्रकार जो लोग सब तरहसे मुझपर विश्वास रखकर मेरी उपासना करते हैं, उनकी सब प्रकारसे

देख-रेख मैं ही करता हूँ। यदि वे मेरे साथ एक-रूप होकर मोक्षकी रुचि रखते हैं, तो उनकी वह रुचि भी मैं ही पूरी करता हूँ। और यदि उन्हें मेरी सेवा ही अच्छी लगती हो, तो मैं उन्हें प्रेमका दान देता हूँ। इस प्रकार वे लोग अपने मनमें जिन जिन बातोंकी इच्छा करते हैं, वे सब मैं उन्हें बार बार देने लगता हूँ। और इस प्रकार जो कुछ मैं उन्हें देता हूँ, उनके लिए उसकी देख-रेख भी मुझे ही करनी पड़ती है। उनका योग-क्षेम मुझे ही करना पड़ता है, क्योंकि उनकी सब बातें मुझ पर ही आश्रित रहती हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

"इसके सिवा और भी अनेक सम्प्रदाय हैं, परन्तु उनके अनुयायी मेरा सर्वव्यापक रूप नहीं जानते। वे अग्नि, इन्द्र, सूर्य और सोमके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं। वे यज्ञ भी मुझे ही प्राप्त होते हैं, क्योंकि यह सारा विश्व मैं ही हूँ। परन्तु यह उपासना-प्रणाली सीधी नहीं बल्कि टेढ़ी है। देखो, वृक्षकी शाखाएँ और पत्ते सब एक ही बीजसे उत्पन्न होते हैं, परन्तु सबके लिए पानी ग्रहण करनेकी क्रिया मूल या जड़ ही करती है, इसलिए जड़में ही पानी देना ठीक है। अथवा मनुष्यके शरीरमें दस इन्द्रियाँ होती हैं और वे सब एक ही शरीर में होती हैं; और वे इन्द्रियाँ जिन विषयोंका सेवन करती हैं, वे भी अन्तमें एक ही स्थानमें जाते हैं। तो भी क्या कोई खाद्य पदार्थ प्रस्तुत करके कानोंमें डालता है? अथवा फूल यदि आँखोंके साथ बाँध दिये जायँ तो काम चल सकता है? नहीं। अन्न मुखमें डालना होगा और सुगन्धका अनुभव नाकसे करना होगा। इसी प्रकार मेरा वास्तविक स्वरूप समझकर ही मेरी उपासना की जानी चाहिए। यदि मेरे आत्म-स्वरूपको बिना जाने हुए मेरा भजन किया जायगा तो वह व्यर्थ किये हुए कामकी तरह निष्फल होगा। अतः कर्मके लिए ज्ञान-दृष्टिकी आवश्यकता होती है और उस दृष्टि-का स्वच्छ तथा निर्मल होना भी आवश्यक है।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तवमें देखा जाय तो यज्ञोंके समस्त उपचारोंका मेरे सिवा और कौन भोक्ता हो सकता है? मैं ही समस्त यज्ञोंका मूल हूँ और मैं ही यज्ञोंकी अन्तिम मर्यादा हूँ। परन्तु इन याज्ञिकोंको इस बातका ज्ञान नहीं है और इसी लिए वे दूसरे देवताओंके भजनमें लगे हुए हैं। जिस प्रकार देवताओं और पितरोंके नामसे गंगाका पानी गंगामें ही अर्पण किया जाता है, उसी प्रकार यज्ञ आदि विधि-विधानोंके द्वारा वे लोग मेरी ही वस्तु मुझको ही अर्पित करते हैं; परन्तु केवल अर्पण-विधि दूसरे देवताओंके उद्देश्यसे करते हैं। इसी लिए, हे अर्जुन, वे इन विधि-विधानोंके द्वारा मुझ तक आकर नहीं पहुँचते, बल्कि याज्ञिक लोग जिन देवताओंके उद्देश्यसे इन सब कर्मोंका आचरण करते हैं, उन्हीं अपने उपास्य देवताओंको वे लोग प्राप्त होते हैं।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५ ॥

"जो लोग अपना मन, वाणी और इन्द्रियाँ इन्द्र आदि देवताओंके भजनमें लगाते हैं, वे शरीर-पात होते ही उन देवताओंका रूप प्राप्त करते हैं। अथवा जिनके मन पितृ-व्रतके आचरणमें रँगे हुए हैं, वे मृत्युके उपरान्त पितृ-स्वरूप होते हैं। जिन लोगोंको बेताल, पिशाच और हीन ग्राम्य देवता ही सबसे श्रेष्ठ जान पड़ते हैं और जारण, मारण आदि मन्त्रों के लिए जो उनकी उपासना अंगीकार करते हैं, उनके शरीका परदा जब मृत्यु उठा देती है, तब वे लोग तुरन्त ही भूत-योनिको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सब लोग अपने अपने संकल्पों या विचारोंके अनुसार ही अपने अपने कर्मोंका फल प्राप्त करते हैं। परन्तु जिनकी आँखोंने मेरे दर्शन किये हैं, जिनके कानोंने मेरा श्रवण किया है, जिनके मनने मेरा ध्यान किया है, जिनकी वाचाने मेरी कीर्तिका गान किया है, जो अपने समस्त अंगोंसे समस्त स्थानों पर मेरे ही उद्देश्यसे नमन करते हैं, जो अपने दान-पुण्य आदि सब काम मेरे प्रीत्यर्थ करते हैं, जिन्होंने मेरा ही अध्ययन किया है, जो अन्दर और बाहर मद्रूप होकर सन्तुष्ट होते हैं, जो अपना सारा जीवन मुझे ही अर्पण करते हैं, जो केवल हरिभक्तोंके लक्षण धारण करनेके लिए ही अहं-भावका स्वीकार करते हैं, जिन्हें केवल मेरा ही लोभ लगा हुआ है, जो केवल मुझे प्राप्त करनेकी इच्छासे ही स-काम रहते हैं, जो मेरे ही प्रेममें व्याकुल होते हैं, मेरे सर्वव्यापी स्वरूपसे भरे होनेके कारण जिन्हें लौकिक भाव भासमान भी नहीं होते, जिनके शास्त्र और मन्त्र-तन्त्र सब मेरे प्रीत्यर्थ होते हैं, तात्पर्य यह कि जो अपने समस्त व्यवहारों और आचारोंमें मेरा ही भजन करते हैं, वे मृत्युके पहले ही मेरा सत्य शुद्ध और बुद्ध स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं। फिर भला मरनेके बाद वे और कहाँ जा सकते हैं? इसी लिए जो अपने समस्त व्यवहार स्वयं ही मेरे स्वरूप अर्पित करते हैं, वे मेरे याज्ञिक या उपासक मेरा ही स्वरूप प्राप्त करते हैं। हे अर्जुन, आत्म-स्वरूपका अनुभव हुए बिना मैं कभी किसीको प्रिय नहीं होता। मैं और किसी उपायसे किसीके लिए साध्य नहीं हो सकता। इन विषयोंमें जो अपने ज्ञानका गर्व करता हो, उसीको अज्ञानी समझना चाहिए। जो अपना बड़प्पन दिखलाता हो, समझ लेना चाहिए कि उसीमें कुछ कमी और कच्चाई है। जो अभिमान-पूर्वक यह कहता हो कि अब मैं परिपूर्ण हो गया हूँ उसके सम्बन्धमें खूब अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उसमें कुछ भी महत्व नहीं है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, जो लोग अपने यज्ञ-याग आदिकी अथवा तपश्चरणकी डींग हाँकते हैं, उनके इन सब कर्मोंका तृण भर भी उपयोग नहीं होता। भला तुम्हीं बतलाओ कि ज्ञानकी सामर्थ्य रखनेमें वेदोंसे भी बढ़कर और कोई समर्थ है? अथवा वक्तृत्व-शक्तिमें सहस्र-वदन शेष-नागसे भी बढ़-कर कोई और कुशल है? परन्तु वह शेष भी मेरे बिछौनेके नीचे दबा बैठा है और वेद भी मेरे स्वरूपका यथा-तथ्य विचार करनेसे घबराते हैं और "नेति नेति" कहकर पीछे हट जाते हैं। इस विषयमें सनक आदि ज्ञाता भी पागल और भौचक्के हो गये हैं। यदि तपश्चरणका विचार करो तो शूलपाणि शंकरके बराबर कठोर तपस्या किसने की है? परन्तु वे तपस्वी-श्रेष्ठ शंकर भी सब अभिमान एक ओर रखकर मेरे चरण-तीर्थ अपने मस्तक पर धारण करते हैं। सम्पन्नतामें लक्ष्मीके समान कौन श्रेष्ठ है? उस लक्ष्मीके घरमें

श्री देवी सरीखी दासियाँ काम करती हैं? उसी लक्ष्मीने खेलवाड़में जो घरौंदा बनाया है, उसीको लोग अमरपुरी कहते हैं। ऐसी अवस्थामें क्या इन्द्र आदि देवाधिपति उन लक्ष्मी-की पुतलियाँ नहीं सिद्ध होते? वह लक्ष्मी जब इस प्रकारके खेलवाड़से ऊबकर वे घरौंदे तोड़ डालती है, तब महेन्द्रादि सब कंगाल हो जाते हैं। वे दासियाँ जिन वृक्षोंकी ओर देख देती हैं, वे वृक्ष कल्पतरु हो जाते हैं। जिस लक्ष्मीके घरमें काम करनेवाली परिचारिकाओं-में भी इस प्रकारकी अलौकिक सामर्थ्य है, उस मुख्य नायिका लक्ष्मीका भी नारायणके सामने कोई विशेष महत्व नहीं है। इस लिए, हे अर्जुन, वे लक्ष्मी मनोयोगपूर्वक मेरी सेवा करती हैं और अभिमान अलग रखकर उन्होंने नारायणके चरण धोनेका सौभाग्य प्राप्त कर लिया है। इसलिए पहले अपने महत्वके सब विचार छोड़ने पड़ते हैं, ज्ञान सम्बन्धी अभिमानका परित्याग करना पड़ता है और मनमें इस प्रकारकी सच्ची भावना रखकर विनयी होना पड़ता है कि मैं संसारके सब जीवोंसे छोटा हूँ। तब जाकर मनुष्य मेरे स्वरूपके समीप पहुँच सकता है। देखो, सहस्र-कर सूर्यकी दृष्टिके सामने चन्द्रमा भी फीका पड़ जाता है। फिर जुगनूँ अपने तेजकी प्रौढ़ताकी डींग क्यों हाँके? इसलिए जहाँ लक्ष्मीका महत्व और शंकरका तप भी कोई चीज न हो, वहाँ मूढ़ और दुर्बल सामान्य मनुष्योंका भला क्या पूछना है! इसी लिए शरीरके अभिमानका विचार छोड़ देना चाहिए, समस्त सद्गुणोंकी प्रतिष्ठा राई-नोनकी तरह उतारकर फेंक देनी चाहिए और सम्पन्नताके मदको निछावर करके उसका अन्त कर डालना चाहिए।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

"ऐसा भक्त जिस समय असीम प्रेम-रसमें भरकर किसी वृक्ष-फल मुझे अर्पित करनेके लिए मेरी तरफ बढ़ाता है, तब मैं बड़ी उत्कंठासे उसे लेनेके लिए अपने दोनों हाथ आगे बढ़ाता हूँ और उस फलका डंठल तोड़नेके लिए भी नहीं रुकता और बड़े प्रेमसे ज्योंका त्यों उसे सेवन करता हूँ। हे अर्जुन, यदि मेरा कोई भक्त भक्तिपूर्वक एक फूल भी मुझे देता है, तो वास्तवमें मुझे वह फूल सूँघना चाहिए; परन्तु उस समय मैं भक्तके प्रेमसे इतना अधिक भर जाता हूँ कि वह फूल भी मैं अपने मुखमें रखकर खा जाता हूँ। परन्तु फूलकी तो बात ही क्या है; यदि मेरा भक्त मुझे किसी ऐसे-वैसे वृक्षका एक पत्ता भी अर्पित करता है, तो मैं यह भी नहीं देखता कि वह पत्ता ताजा है या बासी और सूखा हुआ। मैं तो केवल यही देखता हूँ कि वह प्रेम-रससे भरा हुआ है; और वह पत्ता भी मैं उसी प्रकार सुखसे खाकर पुष्ट होता हूँ, जिस प्रकार कोई भूखा आदमी उतावलेपनसे अमृत पीकर तृप्त होता है। अथवा किसी अवसर पर ऐसा भी होता है कि कहीं कोई पत्ता भी नहीं मिलता। परन्तु पानीकी तो कमी नहीं रहती न? वह तो सब जगह बिना दामकेही मिल जाता है। परन्तु वही मुफ्तमें मिला हुआ पानी मेरा भक्त मुझे अपना सर्वस्व समझकर अर्पित करता है; और उसके इस अल्प समर्पण-से ही मुझे ऐसा जान पड़ता है कि उस भक्तने मानों मेरे लिए वैकुण्ठसे भी बढ़कर कोई निवासस्थान बनवा दिया है अथवा कौस्तुभसे भी बढ़कर निर्मल तेजवाला कोई जड़ाऊ

अलंकार मुझे पहना दिया है; अथवा क्षीर-सागरसे भी बढ़कर सुखदायक दूधके असंख्य नवीन शयन-स्थल मेरे लिए बनवा दिये हैं; अथवा कपूर, चन्दन और कृष्ण अगर इन तीनों वस्तुओंका सुगन्धिमय, बहुत ऊँचा मेरु पर्वत मेरे उपभोगके लिए उत्पन्न कर दिया है; अथवा मेरी दीप-मालामें एक दूसरा सूर्य ही लाकर लगा दिया है; अथवा उसने गरुड़ सरीखे वाहन अथवा प्रत्यक्ष कल्पवृक्षोंके उपवन अथवा कामधेनुके झुंड ही मुझे अर्पित किये हैं; अथवा अमृतसे भी बढ़कर स्वादिष्ट नाना प्रकारके दिव्य पक्वान्न उसने मेरे सामने रखे हैं। जिस समय मेरा भक्त मुझे पानीकी एक बूँद भी देता है, उस समय मुझे इतना ही अपरम्पार सन्तोष तथा आनन्द होता है। हे अर्जुन, यह कुछ आवश्यक नहीं है कि मैं तुम्हें ये सब बातें बतलाऊँ ही; क्योंकि तुम तो प्रत्यक्ष ही यह बात देख चुके हो कि भक्तिपूर्वक लाये हुए तीन मुट्ठी चावलोंके लिए मैंने सुदामाके फटे हुए दुपट्टेकी गाँठें अपने हाथसे खोली हैं। मैं तो केवल भक्ति ही देखता हूँ; और जहाँ भक्ति होती है, वहाँ मैं छोटे और बड़ेके भेद-भावकी कभी कल्पना भी नहीं करता। चाहे कोई हो और चाहे जिस प्रकारका मेरा आतिथ्य करे, परन्तु यदि मुझे उसमें सच्चा भाव दिखलाई पड़ता है तो मैं तुरन्त ही प्रेमपूर्वक उसका स्वीकार करता हूँ। यदि सच पूछो तो पत्र-पुष्प और फल आदि सामान्य वस्तुएँ तो भक्ति प्रदर्शित करनेका साधन मात्र हैं। मुझे वास्तवमें इन निमित्तों और साधनोंसे कोई मतलब नहीं होता। मेरा मुख्य आधार तो भक्तितत्व ही है। इसलिए, हे अर्जुन, इस योगके साधनको मैं एक सहज युक्ति तुम्हें बतलाता हूँ; सुनो। यदि तुम भक्ति-तत्वकी साधना करना चाहते हो तो अपने मनसे कभी मुझे विस्मृत मत होने दो—सदा मेरा स्मरण रखो।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥

"तुम जो कर्म करो, जिन विषयोंका भोग करो, जिन यज्ञोंका सम्पादन करो, जो कुछ दान करो अथवा नौकर-चाकरोंके निर्वाहकी जो व्यवस्था करो, अथवा तप और व्रत आदि-का जो आचरण करो, तात्पर्य यह कि सब प्रकारकी क्रियाएँ ज्यों ज्यों तुम्हारे हाथोंसे होती जायँ, त्यों त्यों वे सब मेरे ही उद्देश्यसे समर्पित करते चलो। परन्तु हाँ, ऐसा करते समय उसमें अहंकारका लेश भी नहीं होना चाहिए। इस प्रकार अहंकारका दोष धो डालना चाहिए और सब कर्मोंको अहंकार-दोषसे निर्मल रखकर मुझे अर्पित करना चाहिए।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥

"जिस प्रकार अग्नि-कुंडमें भूना हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता, उसी प्रकार मुझे अर्पित किये हुए कर्मोंका कभी कोई फल नहीं हो सकता। अर्थात् जो कर्म मुझे अर्पित किये जाते हैं, उनके फलके बन्धनमें कर्ता कभी नहीं पड़ता—वे कर्म उसके लिए कभी बाधक नहीं हो सकते। हे अर्जुन, जब कर्म अवशिष्ट रहते हैं, तभी उनके फल भी उत्पन्न होते हैं; और उन फलोंका भोग करनेके लिए जीवको किसी न किसी शरीर-का आश्रय लेना पड़ता है। परन्तु यदि वे समस्त कर्म पूरी तरहसे मुझे अर्पित कर दिये

जायँ, तो उसी समय जन्म और मरणका सारा आधार ही नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, यह कहनेका कि—"आज ही कौन सी जल्दी है! कल देखा जायगा।" और इस प्रकार आजका काम कल पर टालनेका समय नहीं है; इसी लिए आत्म-स्वरूप प्राप्त करनेका सबसे सहज उपाय फल-संन्यास-युक्त कर्म-योग है और उसका मैंने तुम्हें उपदेश कर दिया है। तुम इस शरीरके बन्धनमें मत रहो और सुख-दुःखके समुद्रमें गोते मत खाओ। और सहजमें इस सुगम मार्गसे चलकर प्रसन्नतापूर्वक मेरे आनन्दमय स्वरूपमें मिलकर रहो।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥

"सम्भव है कि तुम यह प्रश्न करो कि—"वह मैं कैसा हूँ?" तो उसका उत्तर यह है कि मैं समस्त भूतोंमें सम भावसे रहता हूँ। मुझमें अपने और परायेका तिल मात्र भी भेद भाव नहीं है। जो जीव मेरा शाश्वत सत्य स्वरूप पहचान लेते हैं, अहंकारका नाम-निशान भी मिटा देते हैं, समस्त भावों और समस्त कर्मोंके द्वारा मेरा ही भजन करते है, अर्थात् अपना जीवन और समस्त कर्म मुझे अर्पित कर देते हैं, वे चाहे शरीरमें भी रहें, परन्तु वास्तवमें वे शरीरमें नहीं होते, बल्कि वे पूर्ण रूपसे मेरे स्वरूपमें ही रहते हैं और मैं भी उन्हींमें निवास करता हूँ। इतना बड़ा बट-वृक्ष अपने सम्पूर्ण विस्तारके साथ एक छोटे-से बीजमें लीन स्थितिमें रहता है; और वह बीज उसी बट वृक्षमें रहता है। इसी प्रकार मुझमें और ऐसे भक्तोंमें केवल बाहरी और नाम मात्रका अन्तर रहता है; परन्तु यदि अन्दरकी वस्तु स्थितिका विचार किया जाय तो जो कुछ मैं हूँ, वही मेरे भक्त भी हैं और हम दोनोंमें कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार किसी दूसरेसे मँगनी माँगकर लाया हुआ गहना यदि अपने शरीर पर पहन लिया जाय तो भी उसके सम्बन्धमें किसीका यह भाव नहीं होता कि यह गहना मेरा है; उसी प्रकार मेरे भक्त यद्यपि देह धारण करते हैं, परन्तु फिर भी वे कभी उसे अपना नहीं समझते। फूलकी सुगन्ध हवाके साथ मिलकर आगे निकल जाती है और पीछे जो खाली फूल रह जाता है, वह तब तक डंठलके साथ लगा रहता है, जब तक मुरझाकर गिर नहीं जाता। इसी प्रकार वह भक्त भी, जिसके मनसे अपने-पनका विचार निकल जाता है, अन्त काल तक किसी प्रकार अपनी आयुष्य धारण किये रहता है। हे अर्जुन, जो अपने कर्तृत्वके अभिमानका मुझपर आरोप कर देता है, उसका अभिमान मुझमें ही आ जाता है; और फिर वह अभिमान मेरे भक्तके लिए किसी प्रकार बन्धक या बाधक नहीं हो सकता।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥

'जो लोग इस प्रकार निर्मल प्रेम-भावसे मेरा भजन करते हैं, उनका शरीर कुछ भी बाधा नहीं करता, फिर चाहे वे लोग किसी जातिके हों, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं है। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यदि आचरणके विचारसे ऐसा मनुष्य दुराचारी भी हो, तो भी यह नहीं भूलना चाहिए कि जीवनके अन्तमें शरीर-पात होनेके समय वह भक्तिके चबूतरे पर आरोहण कर चुका होता है। अन्त समयमें जैसी बुद्धि होती है, उसीके अनुसार

आगेकी गतिका स्वरूप भी निश्चित होता है। इसी लिए जो अन्त समयमें अपना जीवन भक्तिके हाथमें सौंप देता है, वह पहले चाहे दुराचारी भी रहा हो, परन्तु अब वह अपनी भक्तिकी पावन सामर्थ्यसे सर्वश्रेष्ठ गिना जाना चाहिए। एक बार मनुष्य यदि किसी बड़ी बाढ़में डूब जाय, परन्तु उसमेंसे जीवित ही बाहर निकल आवे, तब उसका पहलेका डूबना जिस प्रकार निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार यदि अन्त समयमें मनुष्य भक्ति ग्रहण कर ले, तो उसके पहलेके आचरित समस्त पाप धुल जाते हैं। इसलिए यदि कोई पुरुष किसी समय दुराचारी भी रहा हो, परन्तु यदि वह पश्चात्तापके तीर्थमें अच्छी तरह स्नान करके शुद्ध हृदयसे मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट हो तो उसका कुल पवित्र ही समझना चाहिए और यह मान लेना चाहिए कि उसकी कुलीनता सचमुच निर्दोष है और सचमुच उसनेअपना जन्म सार्थक कर लिया है। फिर उसके लिए ऐसा हो जाता है कि मानों उसने विद्या, तप, अष्टांग योग आदि सबका संग्रह कर लिया हो। हे अर्जुन, अब इस विषयके विशेष विस्तारकी आवश्यकता नहीं। तात्पर्य यही है कि जिसके मनमें मेरा अखंड अनुराग उत्पन्न हो जाता है, वह पूर्ण रूपसे समस्त कर्मोंसे पार हो जाता है। जो अपने मन और बुद्धिकी समस्त क्रियाएँ एकनिष्ठाके सन्दूकमें भरकर वह सन्दूक पूर्ण रूपसे मेरे अधीन कर देता है, वह इसी प्रकार कर्मातीत हो जाता है।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

"यदि तुम्हारे मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ हो कि—"मेरा भक्त कुछ कालके उपरान्त अर्थात् मृत्युके अनन्तर मेरे समान होगा।" तो मैं तुमसे पूछता हूँ कि जो स्वयं अमृतमें ही निवास करता हो, उसका मरण ही कैसे हो सकता है? जिस समय सूर्य आकाशमें उगा हुआ नहीं रहता, उस समयको रात कहते हैं। इसी प्रकार जो कर्म बिना मेरी भक्तिके किये जायँ, क्या उन्हें महापाप ही नहीं कहना चाहिए? इसलिए, हे अर्जुन, जिस समय उसकी चित्त-वृत्ति मेरे पास आती है, उसी समय वह पूर्ण रूपसे मेरा स्वरूप प्राप्त कर लेता है। यदि किसी एक जलते हुए दीपकसे एक और दूसरा दीपक भी जला लिया जाय तो यह नहीं कहा जा सकता कि इनमेंसे पहलेसे जलनेवाला दीपक कौन सा है और बादमें कौन सा दीपक जलाया गया है। इसी प्रकार जो जीव पूरी तरहसे मेरी भक्ति करता है, वह तत्काल ही मद्रूप हो जाता है। फिर मेरी जो अक्षय शान्त वृत्ति है, वही उसे प्राप्त हो जाती है, जिससे उसकी तेजस्विता बढ़ जाती है; बल्कि यों कहना चाहिए कि वह मेरे जीवनसे ही जीवित रहता है। हे अर्जुन, इस विषयमें अब कहाँ तक चर्वित-चर्वण किया जाय। मुख्य तत्व यही है कि यदि किसीको मेरी प्राप्तिकी इच्छा हो तो उसे पूर्ण रूपसे मेरी भक्ति करना नहीं भूलना चाहिए। वंशकी शुद्धताके महत्वकी ओर ध्यान मत दो, कुलीनताका प्रशंसापूर्ण बखान मत करो और ज्ञानका मिथ्या अभिमान छोड़ दो। रूप-लावण्य अथवा यौवन-बलसे मत्त मत हो और धन-सम्पन्नताकी अहंताका गर्जन मत करो; क्योंकि यदि एक मेरी भक्ति न हो तो ये सभी बातें निष्फल हो जाती हैं। यदि पौधेमें अनाजकी बालें तो बहुत लगी हों, परन्तु उन बालोंमें दाने बिलकुल

न हों, अथवा नगर तो बहुत बड़ा हो, पर वह बिलकुल उजाड़ और वीरान पड़ा हो, तो उसका क्या महत्व है? जैसे हो तो सरोवर, परन्तु सूखा पड़ा हो अथवा जंगलमें किसी दीनकी किसी दूसरे दीनके साथ भेंट हो अथवा वृक्ष तो हो, परन्तु वन्ध्या फूलोंसे लदा हो, बस इसी प्रकार सारा वैभव, कुलका सारा महत्व अथवा जातिका महत्व भी समझना चाहिए। यदि शरीरके सब अंग तो ज्योंके त्यों वर्त्तमान हों, परन्तु वह निर्जीवहो तो उस अवस्थामें वह शरीर बिलकुल निरुपयोगी होगा। ठीक इसी प्रकार जिस प्राणी-में मेरी भक्ति न हो, वह धिक्कारका ही पात्र होता है। क्योंकि इस प्रकार जीवित रहने-वाले मनुष्यों और पृथ्वी-तल पर पड़े हुए पत्थरोंमें अन्तर ही क्या है? जिस प्रकार कँटीले बृहद् वृक्षकी छाया बुद्धिमान् लोग जान-बूझकर बचा जाते हैं और उसकी छायामें नहीं बैठते, उसी प्रकार पुण्य भी अ-भक्तको बचा जाते हैं—उसके पास नहीं जाते। नीमका पेड़ चाहे निबौरीसे भरकर बिलकुल झुक ही क्यों न जाय, पर फिर भी उस पर केवल कौवे ही आनन्द करते हैं। इसी प्रकार भक्ति-हीन पुरुष चाहे बहुत अधिक सम्पन्न और शक्तिशाली क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी वह केवल दोषोंका ही विस्तार करता है। यदि षट्‌रस भोजन किसी ठीकरेमें परोसकर चौराहे पर रख दिया जाय तो उससे कुत्तोंका खौरा रोग ही बढ़ता है (अर्थात् उसे खाकर कुत्ते खौरहे हो जाते हैं)। इसी प्रकार भक्ति-हीन पुरुषका जीवन भी होता है। उससे स्वप्नमें भी पुण्य-कृत्य नहीं होते। वह जीवन ऐसी थालीके समान होता है जिसमें संसारके दुःख रूपी पक्वान्न परोसे हुये होते हैं। इसलिए चाहे उत्तम कुल न हो, चाहे अन्त्यजकी ही जाति हो, यहाँ तक कि यदि पशुका भी शरीर हो, तो भी हर्ज नहीं है। हे अर्जुन, देखो जब ग्राहने गजेन्द्रको पकड़ लिया था, तब गजेन्द्रने मुझे पुकारा था। बस भक्तिपूर्वक मेरा स्मरण करते ही वह मद्रूप हो गया और उसके पशुत्वका उसी समय अन्त हो गया।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

"हे अर्जुन, जिसके नामका उच्चारण भी निन्दनीय है, उस हीन नामवाली जातियों-में भी जो सबसे बढ़कर हीन जाति है उस हीन जातिवाली पाप-योनिमें जिसने जन्म लिया हैं, उस पाप-योनिमें जन्म लेनेके सिवा जो ज्ञानके नामसे केवल पत्थर है, परन्तु फिर भी जिसमें मेरे प्रति पूरी-पूरी भक्ति है, जिसकी वाणी निरन्तर मेरे ही गीत गाती है, जिसकी दृष्टि निरंतर मेरा ही रूप देखती है, जिसका मन निरन्तर मेरे ही संबंधमें संकल्प या विचार करता है, जिसके कान मेरी कीर्त्तिके श्रवणसे कभी खाली नहीं रहते, जिसे मेरी परिचर्या ही अपने शरीरका भूषण जान पड़ती है, जिसे विषयोंका कोई भान भी नहीं होता, जो केवल मुझे ही जानता है और इन सब बातोंके न होने पर जिसे अपना जीना बिलकुल मरनेके समान जान पड़ता है, हे अर्जुन, इस प्रकार जिसने अपनी समस्त वृत्तियोंसे जीवनके लिए केवल मुझे ही अपना आधार बना रखा है, फिर चाहे उसने पाप-योनिमें ही क्यों न जन्म धारण किया हो और चाहे वह विद्या-हीन ही क्यों न हो, तो भी यदि मेरे साथ उसकी तुलना की जाय तो वह मुझसे रत्ती भर भी कम न ठहरेगा। हे अर्जुन, ध्यान रखो कि इस भक्तिसे सम्पन्न होनेके कारण ही दैत्योंने भी देवताओं-

को नीचा दिखलाया है। मेरे भक्त प्रह्लादने दैत्य-कुलमें ही जन्म लिया था; परन्तु उसकी निर्मल भक्तिके कारण मुझे नृसिंह अवतार धारण करना पड़ा था। उस प्रह्लादको मेरे लिए ही बहुत-से लोगोंने अनेक प्रकारके कष्ट पहुँचाये थे। इसीका यह फल हुआ कि जो कुछ मैं उसे दे सकता था, वह सब उसे पहलेसे ही प्राप्त था। नहीं तो उसका कुल बिलकुल दैत्योंका था। परन्तु इन्द्र भी उसकी बराबरी न कर सका। इन सब बातोंका मुख्य अभिप्राय यही है कि यहाँ केवल भक्ति ही काममें आती है, जातिका कुछ भी महत्व या उपयोग नहीं हो सकता। यदि राजा-ज्ञाके अक्षर चमड़ेके किसी टुकड़े पर भी अंकित कर दिये जायँ तो उस चमड़ेके टुकड़ेके बदलेमें भी सब चीजें मिल सकती हैं। परन्तु यदि राजाज्ञाके अक्षरोंका ठप्पा न हो तो सोने-रूपेके टुकड़ोंको भी कोई हाथमें नहीं लेता। अतः यह सिद्ध हुआ कि सारा महत्व राजाज्ञाका ही है। और यदि कोई ऐसा चर्म-खंड मिल जाय जिसपर राजाज्ञाके अक्षर अंकित हों, तो उसकी सहायतासे हम जो वस्तु चाहें, वह मोल ले सकते हैं। इसी प्रकार जब मेरे प्रेमसे मन और बुद्धि पूरी तरहसे भर जाती है, तभी महत्ता और सर्व-ज्ञता भी उपयोगी हो सकती है। इसी लिए कुल और जाति आदि सब व्यर्थकी बातें हैं। हे अर्जुन, वास्तविक धन्यता तो मेरी सच्ची भक्तिमें ही है। फिर वह भक्ति-भाव चाहे जिस प्रकारका हो, एक बार जब उस भक्ति-भावसे भरा हुआ मन मुझमें प्रविष्ट हो जाता है, तब उससे पहलेके समस्त चरित्र पूर्ण रूपसे मिट जाते हैं। नाले आदि तभी तक नाले कहलाते हैं, जब तक वे गंगामें मिल नहीं जाते; परन्तु एक बार गंगा-जलमें मिल जाने पर जिस प्रकार वे गंगाका रूप ही हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार लकड़ियोंके चन्दन, खैर आदि वर्ग तभी तक रहते हैं, जब तक वे आगमें पड़कर उसके साथ एक-रूप नहीं हो जाते, उसी प्रकार जबतक कोई मेरे स्वरूपके साथ मिलकर सम-रस नहीं हो जाता, तभी तक वह क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज आदिके रूपमें भासमान होता है। परन्तु जिस प्रकार समुद्रमें डाला हुआ नमकका डला उसीमें लीन हो जाता है, उसी प्रकार मेरे साथ समरस होते ही जाति-भेदवाले भासका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है। भिन्न भिन्न नदों और नदियोंकी कल्पना तभी तक रहती है, जब तक वे जाकर समुद्रमें मिल नहीं जातीं; और तभी तक उनके सम्बन्धमें यह भेद भी किया जा सकता है कि अमुक नदीका प्रवाह पश्चिमकी ओर है और अमुक नदीका प्रवाह पूर्वकी ओर है। इसलिए कहना यही है कि चाहे जिस निमित्तसे हो, एक बार चित्तका प्रवेश मेरे स्वरूपमें हो जाना चाहिए; बस फिर वह मनुष्य आपसे आप मद्रूप हो जाता है। चाहे पारसको तोड़नेके ही उद्देश्यसे क्यों न हो, परन्तु एक बार लोहेका पारसके साथ स्पर्श हो जाना चाहिए; बस फिर काम हो जाता है, क्योंकि पारसके साथ छूते ही वह भी सोना हो जायगा। हे अर्जुन, देखो, जब प्रेमके निमित्त गोपियोंका अन्तरंग मेरे रंगमें रँगा गया, तब वे तुरन्त ही मद्रूप हो गईं या नहीं? इसी प्रकार भयके निमित्तसे कंस, निरंतर शत्रुता करनेके कारण शिशुपाल आदि शत्रु, सगोत्र और सम्बन्धी होनेके कारण यादव, और ममताके निमित्तसे वसुदेव आदि क्या मेरे साथ मिलकर एक-रूपता नहीं प्राप्त कर चुके हैं? जिस प्रकार नारद, ध्रुव, अक्रूर, शुक और सनत्कुमार आदिके लिए मैं भक्तिके गुणसे

साध्य हो गया, उसी प्रकार, हे अर्जुन, मैं काम-भावनासे गोपियोंको, भय और भ्रान्तिसे कंसको और शिशुपाल आदि दूसरे अनेक लोगोंको उनकी दुष्ट और नष्ट मनोवृत्तियोंके कारण ही प्राप्त हो गया। मैं सबका अन्तिम ध्येय हूँ, फिर चाहे लोग मेरे पास भक्तिसे, चाहे विषय-भावनासे, चाहे वैर-वृत्ति से, चाहे और किसी मनोधर्मके मार्गसे ही क्यों न आवें। इसी लिए, हे अर्जुन, मेरे स्वरूपमें प्रवेश करनेके उपायोंका बिलकुल टोटा नहीं है—वे उपाय अनेक और प्रचुर हैं। मनुष्यका जन्म चाहे जिस जातिमें हुआ हो और वह चाहे मेरी भक्ति करे और चाहे मेरा विरोध करे, पर उसे होना चाहिए मेरा ही भक्त अथवा मेरा ही शत्रु ; बस यही मुख्य तत्व है। चाहे किसी बहाने मनुष्यको मेरा-पन प्राप्त हो जाय, उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि मेरा स्वरूप उसके हाथमें आ गया। इसीलिए, हे अर्जुन, चाहे पाप-योनि हो और चाहे वैश्य, शूद्र अथवा स्त्री हो, सब लोग मेरी उपासनासे ही मेरे स्थान तक पहुँचते हैं।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥

"जब वास्तवमें स्थिति ऐसी है, तब जो ब्राह्मण चातुर्वर्ण्यके राजा, स्वर्गके धनी और मन्त्र-विद्याका जन्म-स्थान हैं, जो भूदेव हैं, जो तपके मूर्तिमन्त अवतार हैं, जिनके योगसे तीर्थोंका भी भाग्य उदय हो जाता है, जो यज्ञ-यागके सदाके आधार हैं, जो वेदोंके निस्सीम अभिमानी हैं और जिनकी कृपा-दृष्टिकी गोदमें ही बैठकर कल्याण भी वृद्धिको प्राप्त होता है, जिनसे सम्मानित होनेके कारण सत्कर्म विस्तार प्राप्त करते हैं, जिनकी इच्छासे ही सत्यका जीवन बना हुआ है, जिनके अभय-वचनसे अग्निने आयुष्य प्राप्त किया है और इसी लिए अग्निके सहज शत्रु समुद्रने भी बड़वाग्निको अपना जल अर्पित करके उसका पोषण किया है, जिनकी चरण-रज प्राप्त करनेके लिए मैंने स्वयं लक्ष्मीको भी एक ओर हटाकर और बीचमें बाधक होनेवाली कौस्तुभ मणिको भी निकालकर और अपने हाथोंमें लेकर अपने वक्षस्थलका पुट उनके चरणोंके आगे रख दिया है और, हे अर्जुन, अपने भाग्यशाली होनेका लक्षण बनाये रखनेके लिए मैं अब तक अपने हृदय पर जिनके पैरकी शुभ मुद्रा रक्षित रखता हूँ, जिनकी क्रोधाग्निमें प्रत्यक्ष रुद्रका निवास है और जिनकी कृपासे अष्ट महासिद्धियाँ सहज ही और बिना मूल्यके प्राप्त होती हैं, उन परम पुण्यवान् ब्राह्मणोंके सम्बन्धमें तो यह कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि मेरे स्वरूपमें लीन रहनेवाले उन ब्राह्मणोंको मेरी प्राप्ति होती है। चन्दनके वृक्षके साथ लगकर जो हवा आती है, उसके संसर्गसे आस-पासके नीमके वृक्ष भी सुगन्धित हो जाते हैं और वे जड़ वृक्ष भी देवताओंके मस्तक पर स्थान प्राप्त करते हैं। फिर जो प्रत्यक्ष चन्दन ही हो, वह भला देवताओंके मस्तक पर कैसे स्थान न प्राप्त करेगा? अथवा उसके सम्बन्धमें यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या है कि उसे देवताओंके मस्तक पर स्थान मिलेगा? यदि शंकर इस आशयसे केवल आधा ही चन्द्रमा सदा अपने मस्तक पर धारण किये रहते हैं कि हलाहल पान करनेसे जो दाह उत्पन्न हुआ है, वह चन्द्रमाके स्पर्शसे शान्त हो जायगा, तो फिर वह चन्दन स्वभावतः शरीरके समस्त अंगोंमें क्यों न लगाया जाय, जिसके दाह शान्त करनेके

गुणका प्रत्यक्ष अनुभव होता है और जो पूर्णता तथा सुवासमें चन्द्रमासे भी बढ़कर है? अथवा जिस गंगाका आश्रय लेकर रास्तेमें बहनेवाला पानी भी जाकर समुद्रमें मिल जाता है, उस गंगाके सम्बन्ध में भला यह कब हो सकता है कि वह समुद्रमें जाकर न मिले? ऐसी अवस्थामें जो राजर्षि अथवा ब्राह्मण शुद्ध हृदयसे मुझे ही अपना शरण्य अर्थात् अपने रक्षणका साधन समझते हैं, इसमें तिल मात्र भी सन्देह नहीं कि उनके अन्तिम शाश्वत सुखका साधन-स्थान मैं ही होता हूँ। ऐसी अवस्थामें उस नावमें मनुष्य निश्चिन्त होकर क्यों पड़ा रहे जिसमें सैकड़ों छेद हो चुके हों? जहाँ शस्त्रों की झड़ी लगी हो, वहाँ मनुष्य अपना बिलकुल खुला हुआ शरीर लेकर क्यों रहे? जहाँ शरीर पर पत्थर गिर रहे हों, वहाँ यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य अपनी रक्षाका कोई साधन अपने हाथमें न ले? जिस समय रोगसे शरीर जर्जर हो रहा हो, उस समय औषधके विषयमें मनुष्य किस प्रकार निश्चिन्त रह सकता है? जिस समय चारों ओर आग लगी हो, उस समय यह कैसे हो सकता है कि बाहर निकलनेका प्रयत्न न किया जाय? इसी प्रकार हे अर्जुन, दुःखों और संकटोंसे भरे हुए इस मृत्युलोक में आने पर यह कैसे हो सकता है कि मनुष्य मेरा भजन न करे? और मनुष्यमें ऐसा कौन सा बल है जिसके भरोसे वह मेरा भजन न करनेकी ढिठाई कर सके? घर-बार और विषय-विलास आदिमें ऐसी कौन सी बात है कि उस पर भरोसा रखकर मनुष्य आनन्दपूर्वक और निश्चिन्त रह सके? क्या बिना मेरा भजन किये मनुष्य अपने मनमें इस बातका भरोसा रख सकता है कि विद्या और यौवनसे ही सुख प्राप्त किया जा सकता है? जितने विषय-भोग हैं, वे सब वास्तवमें शरीरके स्वस्थ रहने पर ही निर्भर करते हैं। और यह शरीर सदा मृत्युके मुखमें पड़ा रहता है। इस मृत्युलोकमें जन्म-मरणका एक ऐसा बाजार लगा हुआ है जिसमें प्रबल दुःख रूपी माल चारों तरफ खुला पड़ा है और मृत्यु-रूपी मालके गट्ठर पर गट्ठर बराबर चले आते हैं। और प्राणी इस बाजारमें आ पहुँचे हैं। ऐसी अवस्थामें, हे अर्जुन, सुखका व्यवहार कैसे हो सकता है? इस लोकमें सुखका सौदा कैसे किया जा सकता है? क्या राखी फूँकने से भी कभी दीया जल सकता है? जिस प्रकार कोई किसी जहरीले कन्दको पीसकर उसमें से रस निकाले और फिर उस रसका नाम "अमृत-रस" रखकर उसे पी जाय और उसके प्रभावसे अमर होनेकी आशा रखे, उसी प्रकारके अमृत-रसके समान विषयोंके द्वारा प्राप्त होनेवाला सुख है जो वास्तवमें केवल महादुःख है। परन्तु किया क्या जाय! जो लोग मूर्ख हैं, वे बिना उन विषयोंका सेवन किये रह ही नहीं सकते। यदि पैरमें घाव हो जाय और उस घाव पर कोई अपना सिर काटकर लगावे, तो यह बात उसके लिए कहाँ तक हितकर हो सकती है? बस मृत्यु-लोकके सब सुखोंको भी इसी प्रकारका कल्याणकारक समझना चाहिये। ऐसी अवस्थामें इस मृत्यु-लोकमें सच्चे सुखकी बात भला किसके कानोंको सुनाई पड़ सकती है? जिस बिस्तर पर बिच्छू हो, उस पर निश्चिन्त होकर कोई कैसे सो सकता है? जिस लोकका चन्द्रमा भी क्षयरोगसे ग्रस्त हो, जिसमें सूर्य भी केवल अस्त होनेके लिए ही निकलता हो, जहाँ केवल दुःख ही सुखका ढोंग रचकर सारे संसारको धोखा

देता हो; जहाँ मंगलके उगते हुए अंकुरोंमें ही तत्काल अमंगलके कीड़े लग जाते हों, जहाँ माताके पेटमेंके गुप्त गर्भाशय तकमें मृत्यु पहुँचकर अपना काम कर डालती हो, जहाँ लोगोंको सदा मिथ्या और असत्य बातोंका ही ध्यान लगा रहता हो, और उसी मिथ्या बात (जीवन) को यमदूत जबरदस्ती ले जाते हों और इस बातका पता भी न लगता हो कि वे उसे कहाँ ले जाते हैं, जहाँ चारों ओर अच्छी तरह ढूँढ़ने पर भी कहींसे निकलनेका कोई मार्ग ही न दिखाई पड़ता हो, जहाँ केवल पुराणों (अर्थात असंख्य मरे हुए लोगों) की ही बातें होती हों, जहाँ ब्रह्माके समान आयुष्य रखनेवाला मनुष्य भी वस्तु मात्रके अशाश्वत होनेका दीर्घ काल तक वर्णन करने पर भी उसका पूरा पूरा वर्णन न कर सकता हो और जिस लोककी ऐसी अशाश्वत स्थिति हो, उस लोकमें जन्म लेकर जीव यदि निश्चिन्त रहे तो यह बात कितनी आश्चर्यजनक और हास्यास्पद है ! जो लोग लौकिक अथवा पारलौकिक लाभके लिए गाँठकी एक कौड़ी भी खर्च करनेके लिए तैयार नहीं होते, वही लोग ऐसी वस्तुओं के लिए, जो पूर्ण रूपसे हानिकारक हैं, लाखों-करोड़ों रुपये खर्च करनेमें भी आगा-पीछा नहीं देखते। जो मनुष्य अनेक प्रकारके विषय-विलासमें फँसा रहता है, उसीके सम्बन्धमें लोग कहते हैं कि यह आजकल बहुत सुखसे रहता है। और जो मनुष्य वासनाओं के भारसे नीचे पूरी तरहसे दबा रहता है, उसीको लोग स-ज्ञान समझते हैं। जिसकी आयु बहुत ही थोड़ी बच रहती है और जिसकी बुद्धि सठिया जानेके कारण बिलकुल नष्ट हो जाती है, उसीको लोग बड़ा कहते हैं और उसके पैरों पर सिर रखकर लोटते हैं। ज्यों ज्यों बच्चा बड़ा होता है, त्यों त्यों माता-पिता आदि सारे आनन्द के नाचने लगते हैं। परन्तु इस विषयमें उनके मनमें कुछ भी खेद नहीं होता कि ज्यों ज्यों बच्चा बढ़ता है, त्यों त्यों उसकी आयुकी डोरी छोटी होती जाती है। जन्म लेते ही मनुष्यको दिन पर दिन कालके और भी अधिक अधीन होना पड़ता है, तो भी लोग जन्म-गाँठका उत्सव खूब धूमधामसे करते हैं और आनन्द की पताकाएँ भी फहराते हैं। लोगोंको मरणका शब्द भी नहीं सुनाई पड़ता। और जब कभी कोई मर जाता है, तब लोग जोर जोरसे रोने लगते हैं। परन्तु वे लोग अपनी मूर्खताके कारण कभी इस बात का विचार भी नहीं करते कि स्वयं हमारी ही आयु दिन पर दिन कम होती चली जा रही है। जब मेढकको साँप निगलने लगता है, तब भी वह मेढक मक्खियोंको खानेके लिए अपने मुँहसे जोरसे पकड़े रहता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भी अपनी वासनाएँ बराबर बढ़ाता चलता है, परन्तु इससे उसे क्या लाभ हो सकता है ? इस मृत्यु-लोककी अवस्था भी कैसी खराब हो रही है ! हे अर्जुन, तुमने अपने कर्मोंकी गतिसे ही इस लोकमें आकर जन्म लिया है। परन्तु फिर भी तुम चटपट इससे अलग होकर मुक्त हो जाओ और उस मार्गमें लगो, जिसपर चलनेसे तुम्हें मेरे निर्दोष अक्षय पदकी प्राप्ति हो सकती है।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

"तुम अपना मन मद्रूप कर लो और मेरे प्रेमके भजनमें रँग जाओ और सब जगह मेरा अस्तित्व मानकर मेरी वन्दना करो। केवल मेरी ही ओर लक्ष रखकर समस्त संकल्पों-

का अन्त कर डालना ही मानों मेरा यजन करना है। जब इस प्रकार तुम मेरे ध्यानसे सम्पन्न हो जाओगे, तभी तुम मेरा स्वरूप प्राप्त कर सकोगे। अपने मनका यह रहस्य आज मैंने तुम पर प्रकट कर दिया है। आज तक मैंने जो बात सब लोगोंसे गुप्त रखी है, उसे प्राप्त करके तुम मुझसे ओत प्रोत भर जाओगे।" संजयने कहा—"भक्तोंके कल्प-वृक्ष उन ब्रह्म-स्वरूप साँवले श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनको उपदेश दिया।" वृद्ध धृतराष्ट्र ये सब बातें शांत होकर सुन रहे थे। जिस प्रकार कोई आलसी भैंसा नदीका जल बढ़ आने पर भी चुपचाप आरामसे बैठा रहता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्र बैठे रहे। उस समय संजयने सिर हिलाकर मन ही मन कहा—"यहाँ अमृतकी लगातार वर्षा हो रही है" और यह बुड्ढा इस प्रकार चुपचाप बैठा हुआ है कि मानों यहाँ मौजूद ही नहीं है। परन्तु फिर भी यह हमारा पालन-पोषण करता है; इसलिए इसके सामने स्पष्ट बात कहकर अपनी वाचाको दूषित करना ठीक नहीं है। इसका कोई उपाय नहीं है, क्योंकि इसका स्वभाव ही ऐसा है। परन्तु फिर भी मैं बहुत बड़ा भाग्यवान् हूँ क्योंकि युद्ध-क्षेत्रका समस्त समाचार सुनानेके लिए श्रीवेदव्यास जी महाराजने मुझे नियुक्त किया है।" इस प्रकार बहुत प्रयत्नपूर्वक अपने मनको दृढ़ करके संजय ये सब बातें अपने मन ही मनमें कह रहे थे कि उस समय सात्विक भक्ति-भावका उनमें आवेश हुआ और वे अपने आपको न सँभाल सके। उनका चित्त चकित हो गया, वाचा स्तब्ध हो गई और सारे शरीरमें रोमांच हो आया। उनकी जो आँखें आधी खुली और आधी बन्द थीं, उनमेंसे आनन्दाश्रु बहने लगे। उनके मनमें सुखकी जो लहर उठी थी, उससे उनका शरीर थरथर काँपने लगा। उनके रोम रोममें स्वेदके निर्मल सूक्ष्म बिन्दु चमकने लगे; और ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों उन्होंने अपने सारे शरीर पर मोतियोंका एक जाल सा ओढ़ लिया है। इस प्रकार महासुखके उस अपरम्पार रसमें डूबनेके कारण उन्हें अपने शरीरका भी ध्यान न रह गया और युद्धका समाचार सुनाने का जो काम श्री वेदव्यासने उन्हें सौंपा था, उसके सम्बन्धमें ऐसा जान पड़ने लगा कि मानों वह काम अब उनसे न हो सकेगा। इतनेमें श्रीकृष्णकी वाणीने उनके कानोंमें प्रवेश किया जिससे संजयके होश फिर ठिकाने हुए और वे फिर युद्धका समाचार सुनानेको उद्यत हुए। इसके बाद उन्होंने अपनी आँखोंके अश्रु पोंछे, सारे शरीरका पसीना भी पोंछा और तब कहा—"हे महाराज, धृतराष्ट्र अब मैं आपको इसके आगेका वृत्तान्त सुनाता हूँ। आप ध्यानपूर्वक सुनें।" श्रीकृष्णके वचन तो सुन्दर बीज हैं ही, पर अब ऐसा सुन्दर अवसर आया है कि संजयकी सात्विक वृत्ति रूपी भूमि उस बीजके बोये जानेके लिए तैयार है। अतः अब इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि श्रोताओं-को सिद्धान्तकी बढ़िया फसल तैयार होकर मिलेगी। हे श्रोतागण, आप लोग इस कथन-की ओर थोड़ा ध्यान दें और मजेमें आनन्दके पुंज पर बैठें। आज आप लोगोंकी श्रवणेन्द्रियोंका भाग्य खुल गया है। अब सिद्धराज श्रीकृष्ण अर्जुनके सामने ईश्वरीय विभूतिके स्थानका निरूपण करेंगे। श्रीनिवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवकी आप लोगों से प्रार्थना है कि वह निरूपण आप लोग सुनें।

दसवाँ अध्याय

हे गुरुदेव, आप ही ब्रह्म-ज्ञानका स्पष्ट बोध करानेमें समर्थ हैं। विद्या-रूपी कमल-का विकास आप ही हैं। परा प्रकृति एक श्रेष्ठ तरुणी है और आप उसके साथ सुखपूर्वक क्रीडा करते हैं। संसार रूपी अन्धकारका नाश करनेवाले सूर्य आप ही हैं। आपका स्वरूप अमर्याद है। आपकी सामर्थ्य अनन्त है। जो तुरीयावस्था अर्थात् आत्म-समाधि अभी हालमें युवावस्थामें प्राप्त होनेको है, सहज रीतिसे उसका लालन पालन करनेवाले आप ही हैं। इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप समस्त संसारका पालन करनेवाले और शुभ कल्याण रूपी रत्नोंका संग्रह हैं। सज्जन रूपी वनको सुगन्धित करने-वाले चन्दन आप ही हैं। आराधना करने योग्य देवता आप ही हैं। इसीलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। जिस प्रकार चकोरके चित्तको चन्द्रमा सन्तुष्ट और शान्त करता है, उसी प्रकार चतुर जनोंके चित्तको आप सन्तुष्ट तथा शान्त करते हैं। आप आत्म-साक्षात्कारके सर्वाधिकारी हैं, वेदके ज्ञान-रसके सागर हैं और समस्त संसारको मन्थन करनेवाला जो काम-विकार है, उस काम-विकारका मन्थन करनेवाले आप हैं। हे गुरुदेव, इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप सद्भक्तोंके भजनके पात्र हैं, संसार रूपी हाथीका गंड-स्थल तोड़नेवाले आप ही हैं और संसारकी उत्पत्तिके आदि-स्थान भी आप ही हैं, इसलिए मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हे महाराज, आपके प्रसाद यही विद्यापति गणेश हैं; और जब उन गणेशजीकी कृपा प्राप्त होती है, तब मूढ़ बालक भी साहित्यके प्रान्तमें प्रवेश कर सकता है। जिस समय गुरुकी वाणी अभय वचन देती है, उसी समय शृंगार आदि नौ रसोंके मधुर समुद्रकी थाह लगती है। हे महाराज, यदि आपकी प्रेमपूर्ण वाणी किसी गूँगे पर भी कृपा करे, तो वह भी ग्रन्थ रचनाके काममें स्वयं बृहस्पतिके साथ प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा कर सकता है। केवल यही नहीं, जिस किसी पर आपकी दृष्टिका प्रकाश पड़ जाता है अथवा आपका कोमल हाथ जिसके मस्तक पर जा पड़ता है, वह जीव होने पर भी शिवकी बराबरीका हो जाता है। जिसके कार्योंका ऐसा माहात्म्य है; उसका मैं अपनी मर्यादित वाणीके बलसे भला कैसे वर्णन कर सकता हूँ! क्या कभी कोई सूर्यके शरीरमें भी उबटन लगा सकता है? फूलोंसे भला कल्प वृक्षका कहाँ तक शृंगार किया जा सकता है? क्षीर सागरका आतिथ्य भला किस-प्रकारके पकवानोंसे किया जा सकता है? कपूरको किस सुगन्धित वस्तुसे सुग-न्धित किया जा सकता है? चन्दन पर किस चीजका लेप लगाया जा सकता है? अमृत का कौन सा अन्न पकाया जा सकता है? क्या आकाशको और भी ऊपर उठानेकी कोई युक्ति हो सकती है? ठीक इसी प्रकार श्रीगुरुदेवके माहात्म्यका पूरा पूरा आकलन करनेके लिए कहाँ और कौन सा साधन प्राप्त हो सकता है? ये सब बातें समझकर ही बिना

किसी प्रकारकी वाचालता किये मैंने उन गुरुदेवको चुपचाप नमस्कार किया है। यदि कोई अपने बुद्धि-बलके अभिमानमें यह कहे कि—"मैं गुरुदेवकी सामर्थ्यका पूरा-पूरा और ठीक ठीक वर्णन करता हूँ।" तो उसका यह काम आबदार मोती पर अबरककी कलई करनेके समान ही हास्यास्पद होगा। अथवा गुरुदेवकी वह जो कुछ स्तुति करेगा, वह स्तुति खरे सोने पर चाँदीका मुलम्मा करनेके समान ही होगी। इसलिए कुछ भी न कहकर चुपचाप गुरुदेवके चरणों पर मस्तक रख देना ही सबसे अच्छा है। फिर मैंने श्री गुरुनाथसे कहा—"हे स्वामी, आपने प्रेमपूर्वक मेरी ओर दृष्टिपात किया है, इसलिए इस कृष्णार्जुन संवादमेंके संगममें मैं भी वैसा ही हो गया हूँ, जैसा गंगा और यमुनाके संगममें प्रयागका वटवृक्ष है। जिस प्रकार प्राचीन कालमें उपमन्युने श्रीशंकरसे दूध माँगा था, तब उन्होंने स्वयं क्षीर-सागर ही उसके सामने दूधके कटोरेकी भाँति रख दिया था; अथवा रूठे हुए ध्रुवको बहुत प्रेमके साथ समझाने और मनानेके लिए वैकुण्ठाधिपतिने उसे ध्रुव-पद रूपी मिठाई दी थी, उसी प्रकार आपने प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उस भगवद्गीताकी टीका करनेमें मुझे समर्थ किया है, जो समस्त अध्यात्म विद्यामें श्रेष्ठ है, जिसमें समस्त शास्त्रोंका मेल होता है और जिसमें समस्त शास्त्रोंकी बातें सुखपूर्वक एकत्र होकर रहती हैं। जिस वाणीके जंगलमें मारे मारे फिरने पर भी सार्थ अक्षरके फलका कहीं नाम भी सुनाई नहीं पड़ता, उस मेरी रूखी वाणीको आपने ही आज विवेककी कल्प-लता बना दिया है। मेरी जो बुद्धि बिलकुल देह-भावमयी हो गई थी, उसे आपने अब ब्रह्मानन्दके भंडारकी कोठरी बना दिया है। मेरा मन गीतार्थ रूपी समुद्रमें आनन्दसे जल-शयन कर रहा है। श्रीगुरुदेवके सभी कृत्य ऐसे ही अलौकिक हैं। फिर भला उनकी निःसीम कृतियोंका वर्णन मुझसे कैसे हो सकता है? तो भी मैंने यहाँ उनकी कुछ कृतियोंका वर्णन करनेका साहस किया है और इसके लिए श्री गुरुदेव मुझे क्षमा करें। आपके कृपा-प्रसादसे मैंने श्री भगवद्गीताके पहले खंडकी टीका बड़े उत्साहसे की है। पहले अध्यायमें अर्जुनके उस खेदका वर्णन है जो उसे अपने सगे-सम्बन्धियोंके नाशकी कल्पनासे हुआ था। दूसरे अध्यायमें कर्म-योगका स्पष्टीकरण किया गया है और साथ ही उसमें और सांख्यके ज्ञान-योगमें जो भेद है, वह भी दिखलाया गया है। तीसरे अध्यायमें कर्मकी महिमाका वर्णन है और चौथे अध्यायमें उन्हीं कर्मोंका ज्ञानके साथ प्रतिपादन किया गया है। पाँचवें अध्यायमें योग-तत्वका महत्व बतलाया गया है। छठे अध्यायमें वह योग-तत्व और अधिक स्पष्ट किया गया है। आरम्भके आसनोंसे लेकर अन्तकी ब्रह्मैक्यवाली स्थिति तककी सब बातें बहुत ही स्पष्ट रूपसे बतलाई गई हैं। इसी प्रकार छठे अध्यायमें यह भी बतलाया गया है कि योग-स्थिति क्या है और योग-भ्रष्टोंको कौन सी गति प्राप्त होती है। इसके उपरान्त सातवें अध्यायमें पहले मायाके स्वरूप आदिका वर्णन किया गया है और उन चार प्रकारके भक्तोंका वर्णन है जो ईश्वरकी उपासना या भजन करते हैं। इसके बाद आठवें अध्यायमें सात प्रश्नोंकी व्याख्या की गई है और अध्यायके अन्तमें इस बातका विचार किया गया है कि मरनेके समय लोगोंकी कैसी बुद्धि रहती है। अपार शब्द-ब्रह्म माने

जानेवाले वेदोंमें जो कुछ तत्व-ज्ञान मिलता है, वही सब एक लाख श्लोकोंवाले महाभारत ग्रन्थमें भी मिलता है। और समस्त महाभारतमें जो ज्ञान भरा हुआ है, वह सब कृष्णार्जुन-संवादमें मिलता है। और कृष्णार्जुन संवादके सात सौ श्लोकोंमें जो कुछ सार है, वह सब गीताके केवल नवें अध्यायमें एकत्र करके भरा हुआ है। उसी नवें अध्यायका अर्थ स्पष्ट करनेमें मैं बिलकुल घबरा गया था। फिर मैं व्यर्थ ही किस लिए गर्व करूँ? गुड़ और चीनी दोनों एक ही ऊखके रससे बने हुए होते हैं; परन्तु फिर भी उनके माधुर्यका स्वाद अलग अलग होता है। इसी प्रकार यद्यपि ये सभी अध्याय गीताके ही हैं, परन्तु फिर भी इनमेंसे कुछ अध्याय ब्रह्म-तत्वको अच्छी तरह समझकर उसका स्पष्ट विवेचन करते हैं, कुछ अध्याय केवल कुछ बातें सुझाकर रह जाते हैं और कुछ अध्यायोंके सम्बन्धमें यह जान पड़ता है कि वे अपने ज्ञानके गुणके साथ ब्रह्ममें मिल गये हैं। गीताके ये सब अध्याय इसी प्रकारके हैं। परन्तु नवें अध्यायका माहात्म्य शब्दोंके द्वारा बतलाया ही नहीं जा सकता। यह केवल गुरुदेवकी ही सामर्थ्यका फल था कि मैं उसका विवेचन कर सका। किसी (वशिष्ठसे अभिप्राय है) का अँगोछा सूर्यकी तरह चमकने लगा, किसी (विश्वामित्रसे अभिप्राय है) ने इस सृष्टिके जोड़की एक दूसरी सृष्टि ही रच डाली, किसी (भगवान् रामचन्द्रसे अभिप्राय है) ने पत्थरोंका पुल बनाकर अपनी सेनाको पैरों चलाकर समुद्रके पार पहुँचाया, किसी (हनुमानजीसे अभिप्राय है) ने सूर्यको अपने हाथसे पकड़ लिया, किसी (अगस्तसे अभिप्राय है) ने अपने एक चुल्लूमें ही सारा समुद्र भर लिया। इसी प्रकार हे गुरुदेव, आपने भी मुझ सरीखे गूँगेके मुखसे आज अगम्य अध्यात्मका वर्णन करा दिया है। परन्तु आपने इस अद्भुत कृत्यकी उपमा ढूँढ़ सकना असम्भव है। यदि कोई पूछे कि राम और रावणका युद्ध कैसा हुआ, तो इसका उत्तर केवल यही दिया जा सकता है कि वह राम-रावणके युद्धके समान ही हुआ। (अर्थात् उस युद्धकी और कोई उपमा ढूँढे नहीं मिल सकती।) इसी प्रकार इस नवें अध्यायमें श्रीकृष्णका जो भाषण है, वह इस नवें अध्यायके भाषणके ही समान है और इसकी दूसरी उपमा कहीं ढूँढनेसे भी नहीं मिल सकती। और जिन लोगोंने गीताका अर्थ बिलकुल अपना सा लिया है, वे तत्वज्ञ लोग यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हैं। इसी प्रकार मैंने भी अपनी बुद्धिके अनुसार गीताके आरम्भके नौ अध्यायोंका विवेचन किया है और अब आप लोग शान्त होकर गीताका उत्तर खंड सुनें। इस खंडके आरम्भमें अर्जुनको श्रीकृष्ण अपनी प्रधान तथा गौण विभूतियाँ बतलावेंगे और अब उसीकी सुन्दर रसपूर्ण कथा सुनाई जायगी। यह है तो देशी भाषा, परन्तु इसके सौन्दर्यके आधार पर शान्त रस शृंगार रससे भी आगे बढ़ जायगा और इस देशी भाषाके सुन्दर साहित्यका उससे शृंगार हो जायगा। मूल संस्कृत श्लोकोंका देशी भाषामें जो आशय बतलाया गया है, उससे अर्थको अच्छी तरह समझ लेनेके उपरान्त श्रोताओंको यह भ्रान्ति होने लगेगी कि इसमें मूल कौन सा है और टीका कौन सी है और वे चकित हो जायँगे। जिस प्रकार सुन्दर शरीर अपने जातीय लावण्यके कारण स्वयं ही आभूषणोंका अलंकार हो जाता है (अर्थात् सुन्दर

शरीरके कारण स्वयं आभूषणोंकी शोभा बढ़ जाती है) और तब यह स्पष्ट रूपसे नहीं कहा जा सकता कि आभूषणोंके कारण शरीरकी शोभा बढ़ी है अथवा शरीरके कारण आभूषणोंकी शोभा बढ़ी है, उसी प्रकार आप लोग शुद्ध और सरल मतिसे यहाँ यह देखें कि देशी भाषा और संस्कृत भाषा प्रकृत विषयमें अर्थके एक ही आसन पर अधिष्ठित होकर कैसे समान रूपसे शोभा दे रही है। ज्योंही कोई भाव आकार प्राप्त करता है, त्योंही रस की वर्षा होने लगती है और चातुर्यकी शोभा बढ़ जाती है और वह अधिक खिलने लगता है। इसी प्रकार देशी भाषाका समस्त सौंदर्य तथा आवेश लूटकर लाया गया है और उसीके द्वारा इस गहन गीता तत्वका प्रतिपादन किया गया है। अब आप लोग यह सुनें कि समस्त चराचरके श्रेष्ठ गुरु और चतुर जनोंके चित्तको सन्तुष्ट करनेवाले उन यादवनाथ श्रीकृष्णने क्या कहा। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, अब आत्मज्ञानका सम्पूर्ण प्रतिपादन सुनने के लिए तुम अपने अन्तःकरणसे सचमुच योग्य हो गये हो।

श्री भगवानुवाच—

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥

मैंने अब तक जो बातें कही थीं, वह सब केवल यही जाननेके लिए कही थीं कि इस विषयकी ओर तुम्हारा कितना ध्यान और अनुराग है। इस परीक्षासे यह सिद्ध हुआ है कि इस विषयकी ओर तुम्हारा ध्यान अधूरा नहीं बल्कि भरपूर है। पहले बरतनमें थोड़ा सा पानी डाला जाता है और तब यह देखा जाता है कि वह पानी उस बरतनमें ठहरता है या उसमेंसे चू जाता है। और जब वह पहलेका डाला हुआ पानी उसमें बना रहता है और चू नहीं जाता, तभी उसमें और अधिक पानी डालकर वह बरतन भरा जाता है। इसीलिए मैंने तुम्हें पहले थोड़ी सी बातें बतलाई थीं और अब यह सिद्ध हो गया है कि तुम्हें सब बातें बतला देना उचित है। जब कोई नया नौकर रखा जाय, तब उसकी परीक्षा करने के लिए कोई मूल्यवान् वस्तु किसी ऐसे स्थान पर रख देनी चाहिए, जहाँ सहजमेंही उसकी दृष्टि उस वस्तु पर पड़े। और जब उसके मनमें उस वस्तुके प्रति अभिलाषा न उत्पन्न हो और इस प्रकार वह अपनी विश्वसनीयताका पूर्ण रूपसे निश्चय करा दे, तब उस नौकरको भंडार या खजानेके काम पर नियुक्त करना चाहिए। इसी प्रकार हे अर्जुन, तुम मेरी कसौटी पर खरे उतरे हो और इसलिए अब तुम मेरे सर्वस्व हो गये हो।" सबके स्वामी श्रीकृष्णने इस प्रकार अर्जुनसे कहा; और तब जिस प्रकार ऊँचे पर्वतोंको देखकर मेघ भर जाता और बरसनेके लिए तैयार हो जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी प्रेमसे भर गये और कहने लगे—"हे वीरवर अर्जुन, सुनो। पहले जो बातें मैं तुम्हें बतला चुका हूँ, वही अब मैं तुम्हें फिरसे बतलाता हूँ। जब आदमी हर साल खेती करता रहता है और हर साल उसे अच्छी फसल मिलती रहती है, तब खेतीके लिए परिश्रम करनेमें उसका जी नहीं घबराता। बार बार आगमें तपाने पर और उसे साफ करने पर सोनेकी कान्ति और भी बढ़ती चलती है। और इसी लिए, हे अर्जुन, लोग यह समझने

लगते हैं कि सोनेको खूब अच्छी तरह तपाकर शुद्ध करना चाहिए। इसी प्रकार मैं तुम पर कोई उपकार नहीं कर रहा हूँ, बल्कि स्वयं अपनी इच्छा और अनुरागसे अपने ही सन्तोषके लिए ये बातें तुमसे बार बार कहता हूँ। लोग छोटे छोटे बच्चोंको गहने पहना देते हैं। भला उन बच्चोंको उन गहनोंका क्या ज्ञान होता है? परन्तु उन गहनोंके सुखका उपभोग माताकी आँखें ही करती हैं। इसी प्रकार ज्यों ज्यों तुमको आत्म-हितका लाभ होता है, त्यों त्यों मेरा सुख भी बराबर दूना होता जाता है। परन्तु हे अर्जुन, अब इन आलंकारिक बातोंको जाने दो। अब तो मैं स्पष्ट रूपसे तुम्हारे स्नेहमें भूल गया हूँ और इसी लिए अब मेरे प्रेमपूर्ण मनकी किसी तरह तृप्ति ही नहीं होती। इसी लिए मैं वही बातें तुमसे बार बार कहता हूँ। पर अब यह प्रस्तावना बहुत हो चुकी। अब तुम अपने मनको एकाग्र करके मेरी बातें सुनो। हे अर्जुन, मेरा रहस्य तत्व सुनो। देखो, मेरे ये अगाध वचन सुनो। इन वचनोंमें स्वयं परब्रह्म अक्षरोंका रूप धारण करके तुम्हें आलिंगन करनेके लिए आ रहा है। परन्तु फिर भी, हे अर्जुन, मेरा वास्तविक और निश्चित ज्ञान अभी तक तुम्हें नहीं हुआ है। जो मैं यहाँ तुमको दिखाई पड़ रहा हूँ, वही मैं यह सारा विश्व हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

"मेरे स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें वेदोंने भी मौन स्वीकार कर लिया। मन अथवा वायुकी भी गति वहाँ तक नहीं है। रात न होने पर भी और दिन रहते भी सूर्य और चन्द्रमा निस्तेज हो गये हैं। जिस प्रकार माताके उदरमें रहनेवाला गर्भ माता का तारुण्य नहीं देख सकता, उसी प्रकार किसी देवताको कभी मेरा ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार मछली अपार समुद्रको नाप नहीं सकती, अथवा मच्छर जिस प्रकार लाँघ कर गगन-मंडलका विस्तार पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार इन महर्षियोंका ज्ञान भी मेरा स्वरूप नहीं देख सकता। मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ और किससे उत्पन्न हुआ हूँ, आदि प्रश्नोंका निर्णय करते करते लोगोंको अनेक कल्प बीत गये। और इसका कारण यही है कि ये जितने देवता, महर्षि और दूसरे समस्त भूत हैं उनका मूल कारण मैं ही हूँ। इसीलिए, हे अर्जुन, उन लोगोंको मेरा ज्ञान होना बहुत ही कठिन है। यदि नीचे की ओर बहता हुआ पानी फिर उलटकर पर्वत पर चढ़ सकता हो अथवा ऊपरकी ओर बढ़ता हुआ वृक्ष यदि फिर अपनी जड़ की ओर चलकर उससे मिल सकता हो तो फिर मुझसे उत्पन्न होनेवाला यह संसार भी मुझे जान सकता है। यदि वट वृक्षमेंसे रसनेवाले जलसे ही सारा वट वृक्ष ढँका जा सकता हो अथवा पानी की तरंगों में सारा समुद्र भरा जा सकता हो अथवा मिट्टी के सूक्ष्म कणोंमें यह सारी पृथ्वी समा सकती हो, तभी ये भूत मात्र, महर्षि तथा देवता आदि, जो मुझसे ही उत्पन्न हुए हैं, मुझे जान सकते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

"लेकिन इतना होने पर भी जो कोई सहज तथा लौकिक प्रवृत्तिकी आगे बढ़ानेवाली चाल छोड़कर इन्द्रियोंसे पराङ्मुख होता है अथवा जिसकी प्रवृत्तिकी वह आगेवाली चाल जारी रहती है, वह भी यदि पीछेकी ओर मुड़कर और अपना देह-भाव भूलकर पंचमहाभूतोंके शिखर पर चढ़ जाता है और वहाँ अच्छी तरह जमकर अपनी आँखोंसे मेरा जन्म-मरण-हीन स्वरूप देखता है और जो इस प्रकार मेरा वह शुद्ध शाश्वत स्वरूप जानता है जो मूल कारणसे परेका और समस्त लोकों का नियन्ता है, उसके सम्बन्धमें तुम्हें यही समझ लेना चाहिये कि वह जीव-रूपी पत्थरोंमें पारसके ही समान है। जिस प्रकार सब रसोंमें अमृत श्रेष्ठ है, उसी प्रकार उसके सम्बन्धमें तुम्हें यह समझ लेना चाहिये कि वह मनुष्यमात्रमें प्रत्यक्ष मेरा ही अंश है। ऐसे पुरुषको चलते-फिरते ज्ञान-सूर्यका मण्डल ही समझना चाहिये। उसके अवयव मानों सुख-रूपी वृक्षके कोमल अंकुर ही होते हैं। उसमें जो मनुष्य-भाव दिखाई पड़ता है, वह वास्तवमें भ्रम है और केवल लौकिक दृष्टिके कारण दिखाई पड़ता है। उसके उस मनुष्य-भावमें सत्यका अंश बिलकुल नहीं है। यदि कपूरमें किसी प्रकार हीरा भी मिल जाय और दोनोंके ऊपर कहींसे पानी आ पड़े तो कपूर तो गल जायगा, परन्तु उसके साथ वह हीरा नहीं गलेगा। इसी प्रकार ऐसा पुरुष मनुष्य-लोक में रहने के कारण भले ही ऊपरसे देखने पर प्रकृत मनुष्यों के समान दिखाई पड़े, परन्तु फिर भी उसमें मायाके दोषकी गन्ध भी नहीं होती। पाप आपसे आप उसे छोड़कर दूर चले जाते हैं; और जिस प्रकार जलते हुए चन्दनके वृक्षको छोड़कर साँप दूर हट जाता है, उसी प्रकार समस्त संकल्प उस मनुष्यको भी छोड़कर दूर चले जाते हैं जो मुझे जानता है। अब यदि तुम्हारे मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मेरा इस प्रकारका ज्ञान मनुष्यको कैसे हो सकता है, तो वह उपाय मैं तुम्हें बतलाता हूँ। तुम सुनो कि मेरे भाव अर्थात् विकार कौन-कौन से हैं, मैं कैसा हूँ और मेरे धर्म कैसे हैं।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

"मेरे जो भाव भिन्न भिन्न समस्त भूतोंमें भरे हैं, वे इस प्रकार तीनों लोकों में फैले हुए हैं कि जहाँ और जिसमें वे रहते हैं, उसकी स्थितिके अनुरूप ही रहते हैं। उन भावों या विकारोंमें पहला स्थान बुद्धिका है। इसके उपरान्त निःसीम ज्ञान, मोहका अभाव, सहनशीलता, क्षमा और सत्य हैं। इसके उपरान्त मनोनिग्रह और इन्द्रिय-नियन्त्रण ये दो बातें हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, संसारके सुख-दुःख और जन्म-मरण भी मेरे ही भावोंमें आते हैं। यहाँ तक कि भय और निर्भयता, अहिंसा और समता, सन्तोष और तप, दान, यश और अपयश आदि जो भाव भूत-मात्रमें दिखाई पड़ते हैं, उनकी उत्पत्ति भी मुझसे ही हुई है। जिस प्रकार सब भूत अलग-अलग हैं, उसी प्रकार यह भाव भी अलग अलग हैं। परन्तु इनमेंसे कुछको तो मेरा ज्ञान होता है और कुछ को नहीं होता। प्रकाश और अन्धकार दोनों ही सूर्यके कारण होते हैं। जब सूर्य उदय

होता है, तब प्रकाश दिखलाई पड़ता है; और जब वह अस्त होता है, तब अन्धकार हो जाता है। इसी प्रकार मुझे जानना अथवा न जानना उन भूतोंके दैव अर्थात् कर्मोंके फलोंके अनुसार होता है। इसी कारण भूत मात्रके लिए मेरे भावोंका अस्तित्व विषम होता है। इस प्रकार, हे अर्जुन, यह सारी भूत-सृष्टि मेरे भावोंमें जकड़ी हुई है। अब इस सृष्टिका पालन करनेवाले और समस्त लोक-व्यवहारको अपने अधीन रखनेवाले ग्यारह भाव और भी हैं। अब उनका वर्णन सुनो।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

"समस्त महर्षियोंमें गुणों और ज्ञानमें श्रेष्ठ जो कश्यपादि सप्तर्षि हैं और चौदह मनुओंमें जो स्वायम्भू आदि चार मुख्य मनु हैं, हे अर्जुन, वही ग्यारह मेरे ये भाव हैं। वे मेरे मनसे उत्पन्न हुए हैं और उनकी उत्पत्तिका हेतु सृष्टिका व्यापार है। जब तक लोकोंकी रचना नहीं हुई थी और जब तक इन तीनों भुवनोंका विस्तार नहीं हुआ था, तब तक महाभूतोंका समूह निष्क्रिय ही था। पीछे इन ग्यारहोंका अस्तित्व हुआ और इन्होंने सब लोकोंको उत्पन्न किया और उन लोकोंमें भिन्न भिन्न आठ लोकपाल अधिपति नियुक्त किये। इस प्रकार ये ग्यारहो राजा हैं और बाकी सारा जगत इनकी प्रजा है। तात्पर्य यह कि तुम इस बातका ध्यान रखो कि यह सारा विश्व मेरा ही विस्तार है। देखो, आरम्भमें केवल एक ही बीज रहता है। फिर उसी बीजके बढ़नेसे जड़ निकलती है। तब उस जड़मेंसे अंकुर निकलता है और तब उन्हीं अंकुरोंसे शाखाएँ निकलती हैं। फिर उन शाखाओंमें भी दूसरी शाखाएँ निकलती हैं; और सब शाखाओंमें पत्ते निकलते हैं। उन्हीं पत्तोंमें फल और फूल आते हैं। इस प्रकार वृक्षत्व पूर्णता प्राप्त करता है। परन्तु यदि इस वृक्षत्वका अच्छी तरह विचार किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि वह सब उसीके छोटेसे बीजका विस्तार है। इसी प्रकार "मैं" भी एक ही मूल तत्व हूँ। उस 'मैं' ने ही मन उत्पन्न किया है और इसी मनसे सातो ऋषि और चारो मनु उत्पन्न हुए हैं। लोकपालोंको यही ग्यारहो अस्तित्वमें लाये हैं। और इन लोकपालोंने अनेक प्रकारके जन उत्पन्न किये हैं; और उन जनोंसे सारी प्रजाने जन्म लिया है। इस प्रकार सारे जगतका मैंने ही विस्तार किया। परन्तु ये सब बातें किसकी समझमें आती हैं? उसीकी समझमें आती हैं जिसके मनमें इन भावोंकी उत्पत्तिके विषयमें श्रद्धा होती है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥

"इस प्रकार, हे अर्जुन, ये भाव मानों मेरी मूर्तियाँ ही हैं और इन्होंने सारा विश्व व्याप्त कर रखा है। इसी लिए ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़ों तक इस सृष्टिमें मेरे सिवा और कोई वस्तु नहीं है। जिसे इस बातका पता लग जाता है, उसमें ज्ञानकी जाग्रति हो जाती है और तब उसे श्रेष्ठ तथा कनिष्ठ, अच्छे और बुरे आदि भेद-भावकी कल्पनाओंके दुष्ट स्वप्न नहीं आते। मैं जो कुछ हूँ, वही मेरी विभूति है और समस्त व्यक्तियाँ मेरी उसी विभूतिके अधीन हैं। इसलिए आत्म-योगके अनुभवसे इन सबको

एक ही आत्म-स्वरूप मानना उचित और आवश्यक है। जो अपने मनोबलकी सहायतासे इस आत्म-योगके द्वारा मेरे साथ मिलकर सम-रस हो जाता है, वह अत्यन्त शुद्ध हो जाता है। इस विषयमें सन्देह करनेके लिए तिल मात्र भी स्थान नहीं है। और हे अर्जुन, जो इस प्रकार अभेद भावसे मेरी भक्ति करता है, उसके भजनके चौखटमें प्रवेश करके मेरा रहना आवश्यक हो जाता है। इसी लिए मैंने जो अभेदात्मक भक्तियोग बतलाया है, उसमें किसी प्रकारकी शंका नहीं हो सकती; और उसमें दुर्बलताके लिए भी कोई स्थान नहीं है। पहले (छठे अध्यायमें) यह बात स्पष्ट रूपसे बतलाई जा चुकी है कि जिस समय यह भक्ति-योग चलता रहे, यदि उसी समय मृत्यु हो जाय तो बहुत अच्छा है। अब यदि तुम्हारे मनमें यह जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती हो कि इस अभेदका स्वरूप क्या है, तो सुनो। मैं तुम्हें उस अभेदका स्वरूप भी बतलाता हूँ।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

"इस सारे संसारका मूल मैं ही हूँ और हे अर्जुन, मुझसे ही इन सबकी स्थिति रहती और गति होती है। लहरें पानीमें उत्पन्न होती हैं और उनका आश्रय तथा जीवनका साधन दोनों पानी ही है। जिस प्रकार बिना पानीके लहरें हो ही नहीं सकतीं, उसी प्रकार इस विश्वमें कोई ऐसी वस्तु नहीं हो सकती जो मेरे बिना हो और जिसमें मेरा निवास न हो। जो लोग मेरा यह विश्वव्यापक स्वरूप जानते हैं, वे चाहे जहाँ रहकर मेरा भजन करें, पर वे वास्तवमें उदित होनेवाले प्रेम-भावसे ही वह भजन करते हैं। ऐसे लोग देश, काल और वर्तमान आदि सबको मुझसे अभिन्न मानते हैं; और जिस प्रकार वायु गगन-रूप होकर गगनमें संचार करती है, उसी प्रकार वे मुझ जगद्रूपको मनमें रखकर अपने आत्म-ज्ञानसे तीनों भुवनोंमें सुखपूर्वक रमण करते हैं। तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ रखो कि भूत मात्रमेंसे जो कुछ दिखलाई पड़े, उसीको भगवानके रूपमें मानना ही मेरा सच्चा भक्ति योग है।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥

"जिनका चित्त मद्रूप हो जाता है, मेरे स्वरूपसे जिनके अन्तःकरणका पूरा पूरा समाधान हो जाता है, और जो आत्म-बोधके प्रेममें पड़कर जन्म और मरण सब कुछ भूल जाते हैं, वे लोग उसी आत्म-बोधके बढ़ते हुए प्रभावसे अद्वैतानन्दके सुखमें नाचने लगते हैं और आपसमें केवल आत्म-बोधका ही लेन-देन करते हैं। जिस प्रकार पास पास रहनेवाले सरोवर बाढ़ आने पर आपसमें मिल जाते हैं और उनकी तरंगोंका निवास एक दूसरेकी तरंगोंमें ही होता है, उसी प्रकार अभेद भक्तिवाले भक्त जब आपसमें मिलते हैं और उनमें एकता स्थापित हो जाती है, तब मानों आनन्दके आगार एक दूसरेके साथ पिरोये जाते हैं और आत्म-बोधको आत्म-बोधके ही द्वारा आत्म-बोधका ही अलंकार

प्राप्त होता है; और इस प्रकार उस आत्म-बोधकी शोभा बढ़ जाती है। जैसे एक सूर्य दूसरे सूर्यकी आरती करे अथवा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमाके साथ प्रेमालिंगन करे अथवा एक ही मानके दो जल-प्रवाह आपसमें एक दूसरेके साथ मिल जायँ, ठीक उसी प्रकार जब भक्ति-योगसे युक्त भक्त आपसमें मिलते हैं, तब उनकी सम-रसताका पवित्र प्रयाग-तीर्थ बन जाता है और तब उस तीर्थके जलमें सात्विक भावोंकी बाढ़ सी आ जाती है और वे एकताके चौराहेके अध्यक्ष गणेश बन जाते हैं। इसके उपरान्त उस आत्मानन्द-के अत्यन्त सुखसे भरे हुए वे भक्तियोगी देह-भानवाली सीमा पार करके और मेरे लाभ-से पूर्ण समाधान प्राप्त करके उच्च स्वरसे घोष करने लगते हैं। गुरु एकान्तमें अपने शिष्य-को जिन मन्त्राक्षरोंका उपदेश करता है, उन्हीं मन्त्राक्षरोंकी घोषणा ये लोग सबके सामने मेघोंकी तरह गरज गरज कर करते हैं। कमलकी कली जिस समय अपनी पूर्णावस्थाको प्राप्त होती है, उस समय वह अपने अन्दरका मधु रस किसी प्रकार दबाकर नहीं रख सकती और वह राजासे लेकर रंक तक सब लोगोंका समान रूपसे आतिथ्य तथा सत्कार करती है। इसी प्रकार वे भक्ति-योगी अतिशय आनन्दमें भरकर विश्वमें मेरा घोष करते हैं और उस कीर्त्तनके घोषसे उत्पन्न होनेवाले सन्तोषसे इतने अधिक भर जाते हैं कि अन्तमें वे कीर्त्तन भूलकर स्तब्ध हो जाते हैं और उसी विस्मृतिमें तन-मनसे रमण करते रहते हैं। इस प्रेमके अतिरेकमें उन्हें दिन और रातका भी ध्यान नहीं रह जाता। इस प्रकार जो लोग मेरे स्वरूप-लाभका निर्दोष सम्पूर्ण सुख प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें मैं जो कुछ देता हूँ, उसका सर्वोत्तम अंश पहलेसे ही उनके अधिकारमें होता है। क्योंकि जिस मार्गसे वे चलते हैं, यदि उस मार्गकी सारी व्यवस्था देखी जाय तो स्वर्ग और मोक्षके मार्ग भी उसके सामने टेढ़े-तिरछे और छोड़ देनेके योग्य जान पड़ते हैं। इसलिए वे लोग अपने मनमें जो प्रेम एकत्र करके रखते हैं, उनका वही प्रेम मैं उन्हें देना चाहता हूँ। परन्तु वह प्रेम भी जो मैं उन्हें देना चाहता हूँ, उसे वे पहलेसे ही सिद्ध तथा प्राप्त कर चुके होते हैं। अब उनके लिए केवल इतना ही बाकी रह जाता है कि उनका वह प्रेम-सुख बराबर बढ़ता रहे; और इसके लिए मुझे केवल इतनी ही व्यवस्था करनी पड़ती है कि उनके उस प्रेम पर कालकी दृष्टि न लगे और वह नष्ट न होने पावे। हे अर्जुन, माता अपने लाडले बालक पर अपनी स्नेहपूर्ण दृष्टिका आच्छादन डालकर उसे रक्षित रखती है; और जब वह इधर-उधर खेलता फिरता है, तब उसके पीछे पीछे दौड़ती रहती है, और तब वह जिन जिन खेलोंके प्रति अपना अनुराग दिखलाता है, उन उन खेलोंके उपयुक्त खिलौने बनाकर वह अपने प्रिय पुत्रके आगे रखती है। ठीक इसी प्रकार अपने भक्ति योगी भक्तोंके लिए मैं भी वही काम करता हूँ जिनसे उपासनाके मार्गका पोषण होता है। उपासनाके मार्गके इस पोषणसे वे लोग सहजमें और निर-पवाद रूपसे मेरे पास आ पहुँचें, बस इसीकी व्यवस्था करना मेरे लिए नितान्त आव-श्यक हो जाता है। भक्तोंका मेरे प्रति बहुत अधिक प्रेम होता है और मुझे भी उनकी अनन्य शरणागतिका पूरा पूरा ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि प्रेमपूर्ण भक्तों पर यदि संकट आवे तो मानों वह संकट स्वयं मेरे घर पर ही आता है। फिर स्वर्ग और मोक्षके

दोनों प्रसिद्ध मार्ग मैं उनकी सेवाके लिए नियुक्त कर देता हूँ। इतना ही नहीं, बल्कि लक्ष्मीके सहित मैं स्वयं अपना सारा शरीर भी उन्हींके काममें लगा देता हूँ। परन्तु देहसे भी भिन्न और सदा ताजा बना रहनेवाला जो आत्म-सुख है, उसे मैं केवल अपने प्रेमपूर्ण भक्तोंके लिए अलग रख देता हूँ। इन सुखकी चरम सीमा तक मैं अपने प्रेमपूर्ण भक्तोंको अनुरागपूर्वक अपने पास रखता हूँ। परन्तु यह बात ऐसी नहीं है जो शब्दोंके द्वारा बतलाई जा सके।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥

"इसीलिए जिन लोगोंने मेरे आत्म-स्वरूपके अस्तित्वको ही अपने जीवनका आश्रम-स्थल बना रखा है और जो लोग मुझे छोड़कर और किसी पर कुछ भी श्रद्धा नहीं रखते, हे अर्जुन, उन श्रेष्ठ तत्वज्ञोंके लिए मैं सदा कपूरकी मशाल जलाकर और उनके लिए स्वयं ही मशालची बनकर उनके आगे आगे चलता हूँ। अज्ञानकी रात्रिमें जो घोर अन्ध-कार रहता है, उसका नाश करके मैं उनके लिए अक्षय प्रकाशका उदय करता हूँ।" जब प्रेमी भक्तोंके प्रेम-निधान श्रीकृष्णने ये सब बातें कहीं, तब अर्जुनने कहा—"मैं अब पूर्ण रूपसे तृप्त हो गया हूँ। हे प्रभु, सुनिये। आपने मेरी संसार-रूपी मैल दूर कर दी है। मैं अब जन्म-मरणकी अग्निसे मुक्त हो गया हूँ। आज मुझे जीवनका सच्चा मर्म ज्ञात हो गया है; और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि आज मेरा जीवन सार्थक हो गया है। आज मेरा जीवन कृतकार्य हो गया है। आज मेरा सौभाग्य खुल गया है, क्योंकि आज परमेश्वरकी प्रसाद-वाणी मेरे कानोंमें पहुँची है। आज इस वाणीके प्रकाशसे मेरे अन्दर और बाहरका भ्रम-पटल दूर हो गया है और इसीलिए इस समय मुझे आपके सच्चे स्वरूपके दर्शन हो रहे हैं।

अर्जुन उवाच—

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥१२॥

"इस विश्वका जो विश्राम-स्थल परब्रह्म है, वह परब्रह्म आप ही हैं। हे जगन्नाथ, आप परम पवित्र हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनों देवताओंके परम देव आप ही हैं। पचीसवाँ तत्व जो पुराण पुरुष है, वह आप ही हैं। आप ही मायाकी पहुँचके बाहर हैं। जो स्वयंसिद्ध विश्वका स्वामी है और जो जन्मके बन्धनसे कभी बँध नहीं सकता, वह आप ही हैं। अब यह बात अच्छी तरह मेरी समझमें आ गई है। भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंके सूत्रधार आप ही हैं। इस जीवात्माके अधिपति आप ही हैं, इस ब्रह्माण्डके पालक आप ही हैं। ये सब बातें अब अच्छी तरह मेरी समझ में आ गयी हैं।

आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥

"इस ज्ञानकी परीक्षा एक और रीतिसे भी हो जाती है। अब तक जो बड़े बड़े श्रेष्ठ ऋषि हो गये हैं, उन्होंने भी आपका ऐसा ही वर्णन किया है। उनके किये हुए वर्णनकी सत्यता अब मुझे अच्छी तरह जान पड़ने लगी है। और ये सब देवता आपके ही प्रसादका फल हैं। यों तो नारद सदा मेरे पास आकर आपके गुणोंके गीत गाया करते थे, परन्तु उनका अर्थ मेरी समझमें नहीं आता था; और इसलिए मुझे केवल उन गानोंके सुखकी मधुरताका ही स्वाद आता था। यदि अन्धोंके गाँवमें सूर्यका प्रकाश आवे तो वे अन्धे केवल सूर्यकी किरणोंका ही सुख भोग सकेंगे। सूर्यके प्रकाशका अनुभव वे कैसे कर सकते हैं? इसी प्रकार जब नारद मेरे पास आकर अध्यात्म-सम्बन्धी गीत गाया करते थे, तब राग-रागिनियोंके द्वारा ऊपर-ऊपर जो माधुर्य उत्पन्न होता था, वही मेरे मनको रुचता था। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता था। असित और देवल नामक ऋषियोंके मुखसे भी मैंने आपके इस स्वरूपका वर्णन सुना था, परन्तु उस समय मेरी मनोवृत्ति विषयोंके विषसे भरी हुई थी। उस विषय-विषकी इतनी अधिक प्रबलता थी कि उस समय मुझे मधुर अध्यात्म भी कड़ुवा लगता था और कटु विषय ही मधुर जान पड़ते थे। अब इस समय औरोंकी बात तो जाने दीजिए, स्वयं महर्षि व्यास भी मेरे घर आकर सदा आपके स्वरूपका ठीक और पूरा वर्णन किया करते थे। परन्तु जिस प्रकार अँधेरेमें चिन्तामणि मिलने पर यह कहकर दूर फेंक दिया जाता है कि यह चिन्तामणि नहीं है और फिर दिन निकलने पर प्रकाशमें उसका स्वरूप पहचानकर कहा जाता है कि यह चिन्तामणि ही है, उसी प्रकार यद्यपि उन व्यास आदि ऋषियोंकी वाणी ज्ञान रूपी रत्नोंकी खानि ही थी, परन्तु फिर भी, हे श्रीकृष्ण महाराज, वह आप नहीं थे जो सूर्यके समान हैं; और इसी लिए आपका प्रकाश भी नहीं था, जिससे मैं उन ज्ञान रूपी रत्नोंको पहचान नहीं सकता था।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥

'परन्तु अब आपकी वाक्य-रूपी किरणों का प्रसार हो गया है और इसी लिए अब मैं उन ऋषियोंके बतलाये हुए मार्गको पहचानने लगा हूँ। हे देव, उनके वचन थे तो ज्ञानके बीज ही, परन्तु वे हृदय रूपी भूमिमें यों ही पड़े हुए थे। परन्तु अब उनपर आपके प्रसादकी वर्षा हो गई है जिससे वे बीज अंकुरित हुए हैं और उनमें एकवाक्यता रूपी फल लगा है। नारद आदि सन्तोंके वचन नदियोंके समान थे, परन्तु उन नदियोंके द्वारा आज मैं एकवाक्यताके सुखका अपरम्पार सागर ही बन गया हूँ। हे प्रभु, मैंने इस जन्ममें जो जो उत्तम पुण्य सम्पादित किये हैं, उन पुण्योंमें, हे सद्गुरु, वह पदार्थ देनेकी बिलकुल सामर्थ्य नहीं है जो पदार्थ आप मुझे दे सकते हैं। और नहीं तो बड़े लोगोंके मुखसे आपकी महिमा मैंने न जाने कितनी बार सुनी थी। परन्तु जब तक एक आपकी कृपा नहीं हुई थी, तब तक कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता था। जिस समय दैव अनुकूल होता है, उस समय जो उद्योग करो, वह आप ही आप सफल हो जाता है। इसी प्रकार सुना और पढ़ा हुआ ज्ञान भी तभी फलदायक होता है, जब गुरुकी कृपा हो।

माली जन्म भर बहुत अधिक परिश्रम करके पौधे सींचता रहता है, परन्तु उन पौधोंमें फल तभी प्राप्त होते हैं, जब वसन्त ऋतु आती है। हे महाराज, जब विषम ज्वर नष्ट होता है, तभी मीठी वस्तुको मिठासका अनुभव होता है। जब रोग नष्ट होता है, तभी रसायनकी मधुरता अच्छी जान पड़ती है। इन्द्रियों, वाचा और प्राणवायुका जन्म कब सार्थक होता है? जब उनमें चैतन्यका संचार होता है, तब। इसी प्रकार साहित्यका लोग जो मन-माना मन्थन करते हैं अथवा योग आदिका जो अभ्यास करते हैं, उन सबका वास्तविक फल कब प्राप्त होता है? जब श्री गुरुराज कृपा करते हैं, तब।" इस प्रकार आत्मानुभवके रंगमें रँगा हुआ अर्जुन निःशंक होकर पुतलीके समान नाचने लगा और कहने लगा—"हे देव, आपकी बातें अच्छी तरह मेरे मनमें बैठ गई हैं। हे परब्रह्म-रूपी श्रीकृष्ण, मुझे अब पूर्ण रूपसे यह निश्चय हो गया है कि देवताओं अथवा दानवोंकी बुद्धि भी आपके सच्चे स्वरूपका आकलन नहीं कर सकती। इस बातका मुझे अच्छी तरह विश्वास हो गया है कि बिना आपके बोध-वचन प्राप्त किये जो केवल अपनी बुद्धिके बल पर ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, उसे केवल निराश ही होना पड़ेगा।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥

"जिस प्रकार आकाशके विस्तारका ठीक ठीक पता स्वयं आकाशको ही होता है अथवा पृथ्वीकी घनताकी नाप स्वयं पृथ्वी ही कर सकती है, उसी प्रकार हे लक्ष्मीनाथ, अपनी अपार शक्तिका सब प्रकारसे आकलन केवल आप ही कर सकते हैं। दूसरे जो वेद आदि हैं, उनकी बुद्धि इस विषयमें व्यर्थ ही इधर-उधर भटकती फिरती है। भला किसमें ऐसी सामर्थ्य है जो वेगमें मनसे भी आगे बढ़ सके अथवा वायुको अपनी मुट्ठीमें पकड़ सके अथवा आदि-शून्य तत्त्वसे आगे बढ़ सके? इसी प्रकार आपका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना भी किसीके लिए सम्भव नहीं है। आपके सम्बन्धका पूरा पूरा ज्ञान केवल आपकी कृपासे ही प्राप्त किया जा सकता है—वह ज्ञान केवल आप प्राप्त करा सकते हैं। केवल आप ही अपने आपको जान सकते हैं और दूसरोंको भी आप ही वह ज्ञान प्राप्त करा सकते हैं! इसी लिए मैं भी अब वह ज्ञान प्राप्त करनेके लिए व्याकुल हो रहा हूँ। आप एक बार मुझे वह ज्ञान प्राप्त कराके मेरी उत्सुकता दूर कीजिए। हे देव, आप ही भूत मात्रके आदि कारण हैं, विश्व-भ्रम रूपी हाथीको नष्ट करनेवाले सिंह आप ही हैं, सारे देवता आपकी ही आराधना करते हैं, आप ही सारी सृष्टिके चालक और पालक हैं और मैंने सुना है कि यदि आपके महत्त्वका ध्यान रखा जाय तो वह इतना अधिक है कि मुझमें आपके पास खड़े होनेकी भी योग्यता नहीं है। परन्तु यदि यही सोचकर मैं संकोच करूँ और आत्म-ज्ञानके बोधके संबंधमें आपसे प्रार्थना करनेमें डरूँ तो उस बोधकी प्राप्तिके लिए मुझे और कोई साधन ही नहीं दिखाई पड़ता। चारों ओर चाहे कितनी ही अधिक नदियाँ और सागर क्यों न भरे पड़े रहें, परन्तु चातककी दृष्टिमें वे सब जलाशय व्यर्थ ही होते हैं; क्योंकि उसके कामका तो वही पानी होता है जो मेघोंमेंसे गिरता है। इसी प्रकार, हे प्रभु, गुरु तो सभी जगह हैं। परन्तु मेरे

कृष्णदेव, मेरे लिए आपके सिवा और कोई आधार नहीं है। परन्तु अब मेरी ये दुर्बल बातें बहुत हो चुकीं। अब आप कृपा करके मुझे अपनी विभूति बतलावें।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

"हे महाराज, अब आप मुझे अपनी वह विभूति दिखलावें जो अपनी दिव्य सामर्थ्यसे सभी जगह व्याप्त हो रही है। अपनी जिन विभूतियोंके योगसे आपने इस अनंत विश्वको व्याप्त कर रखा है, उनमेंसे मुख्य मुख्य विभूतियोंके नाम आप कृपा कर मुझे बतलावें।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥१७॥

"हे देव, आप मुझे यह बतलावें कि आपको किस प्रकार जानूँ और क्या समझकर आपका चिन्तन करूँ। यदि यह कहा जाय कि यह सारा विश्व तो आप ही हैं, तो फिर चिन्तन करनेके लिए कोई जगह ही बाकी नहीं रह जाती। इसी लिए अभी आपने संक्षेपमें जो अपने भाव बतलाये हैं, उनका अब जरा विस्तारपूर्वक विवेचन करें। आप अपने वे भाव मुझे बिलकुल स्पष्ट करके बतलावें जिनके द्वारा आपका चिन्तन करना मेरे लिए कठिन न हो; और इस प्रकार मुझे अपनी प्राप्ति करावें—ऐसा उपाय करें जिसमें मुझे आपकी प्राप्ति हो।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

"हे भूत-मात्र के अधिपति श्रीकृष्णदेव, मैंने आपकी जिन विभूतियोंके संबंधमें प्रश्न किया है, कृपया उन विभूतियोंका वर्णन करें। इसपर कदाचित् आप यह कहें कि–'एक बार तो वह विभूतियाँ मैं तुमको बतला चुका हूँ। इसलिए अब उन्हीं विभूतियोंका मैं दोबारा क्यों वर्णन करूँ?' तो हे देव, आप इस शंकाको तिल मात्र भी स्थान न दें,क्योंकि यदि किसी को थोड़ा सा साधारण अमृत पान करनेको मिले, तो भी उसके लिए कोई "नहीं" नहीं कहता; और फिर वह अमृत भी कैसा? जो हलाहल विषका सगा भाई है और मृत्युसे डरे हुए देवताओंने अमर होनेके लिए जिसका पान किया था, परन्तु जिसके पान कर लेने पर भी ब्रह्माके एक ही दिनमें चौदह इन्द्र अमर राजाओंके सिंहासन पर बैठते और नष्ट हो जाते हैं—जो अमृत इस प्रकार क्षीर समुद्रमेंसे निकला हुआ एक सामान्य रस है और जिसके सम्बन्धमें लोगोंमें यह मिथ्या भ्रम फैला हुआ है कि वह अमृत अर्थात् लोगोंको अमर करने करनेवाला है। जब ऐसे नामधारी अमृतका मधुर अंश भी लोगोंको यथेष्ट नहीं जान पड़ता और उसे पान करनेसे लोग नहीं अघाते और इतनी क्षुद्र वस्तुकी मधुरता भी जब इतना अधिक आदर पाती है, तब फिर आपके इन बोध-वचनोंका तो कहना ही क्या है! ये तो प्रत्यक्ष परमामृत ही हैं। इनके लिए न तो मन्दर पर्वतको मथानी बनाकर ही फिराया गया है और न क्षीर समुद्रको ही मथा गया है। यह तो अनादि और स्वयंसिद्ध है। यह न तो पतला ही है और न गाढ़ा ही; न

इसमें रस अथवा गन्धका ही कहीं नाम है; और इसका स्मरण करते ही सहजमें प्रत्येक व्यक्ति इसे प्राप्त कर सकता है। इस अमृतकी बात सुनते ही सारा संसार निस्सार हो जाता है और सुननेवालेको ऐसी नित्यता प्राप्त होने लगती है जिसका कभी नाश हो ही नहीं सकता। जन्म और मरणकी बात समूल नष्ट हो जाती है और अन्दर बाहर सभी जगह आत्मानुभवके महासुखकी वृद्धि होने लगती है। अब यदि सौभाग्यसे ऐसा परमामृत सेवन करनेके लिए मिल जाय तो वह तुरन्त ही जीवको आत्म-स्वरूप कर डालता है। और वह अमृत जब आप मेरे सामने परोस रहे हों, तो यह सम्भव ही नहीं है कि मेरा चित्त उसके लिए कहे कि—'बस कीजिये'। हे देव, आपका नाम ही मुझे अत्यन्त मधुर जान पड़ता है। तिस पर आपके साथ प्रत्यक्ष मिलाप होता है और आपका सामीप्य भी होता है। इसके सिवा आप बहुत ही आनन्दपूर्वक मेरे साथ बातें भी करते हैं। ऐसी अवस्थामें, हे देव, मैं क्या बतलाऊँ कि यह परम सुख कैसा है। मेरे अन्तःकरणको इतना अधिक सन्तोष हुआ है कि वाणीसे उसका वर्णन हो नहीं किया जा सकता। परन्तु हाँ, इतना अवश्य मेरी समझमें आता है कि आपके मुखसे इस परमामृतकी पुनरावृत्ति होनी चाहिए। नित्य वही सूर्य उदय होता है, परन्तु फिर भी क्या कभी कोई उसके सम्बन्धमें यह कहता है कि—"यह तो वही कलवाला बासी सूर्य है।" सबको पवित्र करनेवाली अग्निके सम्बन्धमें कभी यह कहा जा सकता है कि यह अपवित्र हो गई है; अथवा निरन्तर बहते रहनेवाले गंगाजलके सम्बन्धमें कभी यह कहा जा सकता है कि यह बासी हो गया है? जब आपने अपने मुखसे परमामृत वचनका लाभ कराया, तब मुझे ऐसा जान पड़ा कि आज शब्द-ब्रह्मने स्वयं ही मूर्तिमान होकर अवतार लिया है अथवा चन्दनके वृक्षमें फूल भी लगे हैं और मैं उन फूलोंकी सुगन्धका उपभोग कर रहा हूँ।" अर्जुनकी ये बातें सुनकर श्रीकृष्णके सब अंग समाधान-जन्य प्रेमसे हिलने लगे। वे अपने मनमें कहने लगे—"यह अर्जुन अब भक्ति-ज्ञानका भांडार बननेके योग्य हो गया है।" जिस अर्जुनका श्रीकृष्णने इस प्रकार स्वीकार किया था, उस अर्जुनके परम सन्तोष के कारण श्रीकृष्णके प्रेमका प्रवाह उमड़ पड़ा। परन्तु उस प्रवाहको बड़े प्रयत्नसे रोककर उन्होंने जो कुछ कहा, वह सुनिये।

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णने अब अर्जुनसे इस प्रकार बातें करना आरम्भ किया कि मानों उन्हें इस बातका स्मरण ही नहीं रह गया था कि हम ब्रह्माके पिता हैं। वे बोले—"बाबा अर्जुन, तुमने बहुत अच्छी बात कही है।" इस अवसर पर श्रीकृष्णने अर्जुनको जो "बाबा" कहा, इसके लिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे स्वयं नन्दके पुत्र थे ही। उस समय उनके मुखसे यह शब्द प्रेमके अतिरेकके कारण निकल गया था। अस्तु। श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—"हे धनुर्धर, अब तुम मेरी बातें सुनो। हे सुभद्राकान्त अर्जुन, तुमने मेरी विभूतियोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, परन्तु मेरी विभूतियाँ अपार

हैं। यह ठीक है कि वे सब विभूतियां मेरी ही हैं, परन्तु वे इतनी अधिक हैं कि स्वयं मेरी बुद्धि भी उनका आकलन नहीं कर सकती। जिस प्रकार कोई यह नहीं बतला सकता कि मेरे अपने शरीर पर कितने रोम हैं, उसी प्रकार मैं अपनी विभूतियाँ भी नहीं गिना सकता। मुझे स्वयं ही इस बातका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता कि मैं कितना बड़ा और कितना व्यापक हूँ। इसलिए मैं तुम्हें अपनी केवल मुख्य मुख्य विभूतियां ही बतलाता हूँ। तुम वही सुनो। हे अर्जुन, इन प्रसिद्ध विभूतियोंको जान लेने पर उनके द्वारा दूसरी गौण विभूतियोंका भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार बीज हाथमें आ जाने पर स्वयं वृक्ष ही मानों अपने हाथमें आ जाता है अथवा सारा बाग ही अपने हाथमें आ जाता है अथवा फल-फूल आदि सब आपसे आप प्राप्त हो सकते हैं, उसी प्रकार इन विभूतियोंको देखने पर मानों सारा विश्व ही देखा जा सकता है। और नहीं तो, हे अर्जुन, मेरा विस्तार, मेरी अखिल विभूतियां अपरम्पार ही हैं। देखो, यह गगन इतना निस्सीम है, परन्तु वह भी मुझमें न जाने कहाँ समा जाता है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥

"मस्तक पर घुँघराले बाल धारण करनेवाले और धनुर्विद्यामें दूसरे शंकर, हे अर्जुन, सुनो। मैं भूत मात्रमें आत्म-रूपसे निवास करता हूँ। भूतोंके अन्दर भी मैं ही रहता हूँ और उनके बाहर या ऊपर भी मेरा ही आवरण है। उनका आदि, मध्य और अन्त सब कुछ मैं ही हूँ। जिस प्रकार मेघोंके नीचे भी और ऊपर भी, अन्दर भी और बाहर भी, सब जगह आकाश ही आकाश रहता है, वे आकाश-रूप ही होते हैं और उनका, आधार भी आकाश ही होता है और जब वे विलीन होते हैं, तब भी वे आकाश-रूप होकर रहते हैं, उसी प्रकार समस्त भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति तथा गति सब कुछ मैं ही हूँ। इस प्रकार विभूतियोंके द्वारा मैं नाना प्रकारका और व्यापक हूँ। इसलिए तुम अपनी सारी चैतन्य शक्तिको अपनी श्रवणेन्द्रियोंमें एकत्र करके सुनो। अब मैं तुम्हें अपनी विभूतियां बतलाऊँगा। हे अर्जुन, जो विभूतियाँ बतलानेके लिए मैंने तुम्हें वचन दिया है, उनमेंसे मुख्य मुख्य विभूतियां सुनो।"

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥

इतना कहकर कृपालु श्रीकृष्णने फिर कहा—"बारह आदित्योंमें विष्णु मेरी प्रधान विभूति हैं और प्रकाशमान् पदार्थोंमें मैं सूर्य हूँ। उनचास मरुद्गणोंमें मैं नारायण ही मरीचि हूँ और तारागणोंमें मैं चन्द्रमा हूँ।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥

"मैं वेदोंमें सामवेद हूँ, देवताओंमें मरुद्बन्धु इन्द्र हूँ, इन्द्रियोंमें ग्यारहवीं इन्द्रिय मन हूँ और भूत मात्रमें जो स्वाभाविक चेतना शक्ति है, वह सारी शक्ति भी मैं ही हूँ।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चाऽस्मि मेरु शिखरिणामहम् ॥२३॥

"चौदह रुद्रोंमें मैं मदन-शत्रु शंकर हूँ, यक्षों और राक्षसोंमें शम्भुका मित्र कुबेर हूँ, आठ वसुओंमें अग्नि हूँ और समस्त पर्वतोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ मेरु पर्वत हूँ। सब कुछ मैं ही हूँ।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥

"समस्त पुरोहितोंमें स्वर्गाधिपतिका आधार तथा समस्त ज्ञानका मूल-स्थान बृहस्पति भी मैं ही हूँ। इस त्रिभुवनके सेनापतियोंमें कृत्तिकान्त शंकरसे उत्पन्न महाज्ञाता कार्त्तिक स्वामी भी मैं ही हूँ। सरोवरोंमें जलका अपार संग्रह सागर हूँ और महर्षियोंमें महान् तपस्वी भृगु भी मैं ही हूँ। समस्त साहित्यमें सत्यका क्रीडास्थल मैं ही हूँ। कर्मकांडका त्याग करके ओंकार आदि के द्वारा जिस जप-यज्ञकी साधना की जाती है, वह जप-यज्ञ समस्त यज्ञोंमें मेरी प्रधान विभूति है। नामके जपका यज्ञ अत्यन्त श्रेष्ठ है। इसके लिए स्नान आदि नित्य कर्मोंकी भी अपेक्षा नहीं होती। धर्म और अधर्म दोनों ही नाम-घोषसे पावन होते हैं। वेदार्थसे भी नाम ही परब्रह्म ठहरता है। अटल पर्वतोंमें मैं पुण्य-राशि हिमालय पर्वत हूँ।"

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्णने कहा—"पारिजात तो प्रत्यक्ष कल्प-वृक्ष ही है और चन्दन-का गुण भी बहुत अधिक प्रसिद्ध है। तो भी वृक्षोंकी कोटिमें मेरी प्रधान विभूति पीपल है। हे अर्जुन, देवर्षियोंमें नारद और समस्त गन्धर्वोंमें चित्ररथ भी मैं ही हूँ। हे ज्ञाता अर्जुन, समस्त सिद्ध योगियोंमें कपिलाचार्य मैं ही हूँ और समस्त अश्व जातिमें उच्चैःश्रवा भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो हाथी राजाओंके भूषणके समान जान पड़ते हैं, उनमें ऐरावत भी मैं ही हूँ। समुद्रका मन्थन करने पर देवताओंको जो अमृत रस मिला था, वह भी मैं ही हूँ। जिसकी आज्ञा सारी प्रजा शिरोधार्य करती है, समस्त जनतामें उसी राजाको मेरी प्रधान विभूति समझना चाहिए।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

"सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रके हाथमें जो वज्र रहता है, वह वज्रही समस्त शस्त्रोंमें मेरी प्रधान विभूति है। गौओंमें कामधेनु और उत्पादकोंमें मदन मेरी प्रधान विभूति है। हे अर्जुन, सर्प-कुलमें सर्पाधिपति वासुकी और नाग-गणोंमें अनन्त नामका नाग मैं ही हूँ। समस्त जलचरोंमें जो पश्चिम दिशाका अधिपति वरुण है, वह भी मैं ही हूँ। समस्त पितृ-गणोंमें अर्यमा नामक पितृ-देवता मेरी प्रधान विभूति है। समस्त संसारके शुभाशुभ कर्मों-का लेखा रखनेवाला, सबके अन्तःकरणकी जाँच करनेवाला और उन्हें कर्मानुसार फल-भोग करानेवाला जो नियन्ता है और सबके कर्मोंको निरन्तर देखनेवाला जो यम है, वह भी मेरी प्रधान विभूति है।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

"दैत्योंमें प्रह्लाद मेरी प्रधान विभूति था, इसी लिए उसे दैत्यत्वकी बाधा नहीं हुई। ग्रसकर नष्ट करनेवाला महाकाल और वन्य पशुओंमें सिंह मैं ही हूँ। पक्षियोंमें गरुड़ मेरी प्रधान विभूति है और इसी लिए वह मुझे अपनी पीठ पर सवार कराके उड़ सकता है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

"हे अर्जुन, इस पृथ्वीके असीम विस्तारमें जो बिना एक घड़ी भी लगाये और एक ही उड़ानमें सातों समुद्रोंकी प्रदक्षिणा कर सकता है, वह सबसे बढ़कर वेगवान पवन भी मैं ही हूँ। हे अर्जुन, समस्त शस्त्रधारियोंमें मैं राम हूँ, क्योंकि श्री रामने संकटमें पड़े हुए धर्मका पक्ष लेकर अपनी सहायताके लिए केवल एक धनुष अपने पास रखकर त्रेता युगमें विजय-लक्ष्मीसे अकेले अपना ही वरण कराया था। इसके उपरान्त लंकाके पासके सुवेल पर्वत पर खड़े होकर उन्हीं श्रीरामने लंकाधिपति रावणकी मस्तक-पंक्ति आकाशमें जय-जय कारका घोष करनेवाले भूतोंके हाथों पर बलि-स्वरूप रखी थी। उन्हीं रामने देवताओंके मानकी रक्षा की थी और धर्मका जीर्णोद्धार किया था। वे सचमुच सूर्यवंशके सूर्य ही थे। अतः समस्त शस्त्रधारियोंमें वह सेनापति राम मैं ही हूँ। पुच्छधारी जलचर प्राणियोंमें मैं मकर हूँ। जिस समय गंगाको राजा भगीरथ पृथ्वी-तल पर ला रहे थे, उस समय राजा जह्नु उस गंगाको पान कर गये थे और फिर उन्हीं राजा जह्नुने अपनी जाँघ चीरकर उसमेंसे गंगाको निकाला था। वही तीनों भुवनोंमें बहनेवाली जाह्नवी समस्त जल-प्रवाहोंमें मेरी प्रधान विभूति है। परंतु हे अर्जुन, यदि मैं इस प्रकार सारी सृष्टिकी एक एक विभूति का नाम गिनाने लगूँ तो सैकड़ों जन्म बीत जाने पर भी उनमेंसे आधी विभूतियोंके नाम भी न गिनाये जा सकेंगे।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥
अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥

"यदि समस्त नक्षत्रोंको एकत्र करनेकी इच्छा हो तो जिस प्रकार आकाशकी गठरी बाँधनेकी आवश्यकता होगी अथवा यदि पृथ्वीके अणुओं और रेणुओंकी गणना करनेके लिए सारी पृथ्वीको बगलमें दबानेकी आवश्यकता होगी, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोंको देखनेकी इच्छा हो तो स्वयं मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। जिस प्रकार यदि शाखाओं सहित समस्त फूलों और फलोंको अपने हाथमें लेनेकी इच्छा हो तो जड़ सहित वृक्षको ही उखाड़कर हाथमें लेना पड़ेगा, उसी प्रकार यदि मेरी समस्त विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो मेरे निर्दोष व्यापक स्वरूपका ही ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। और नहीं तो मैं अपनी भिन्न-भिन्न विभूतियाँ कहाँ तक गिनाऊँगा? इसलिए तुम सबका सारांश यही समझ लो कि मैं ही सब कुछ हूँ। जिस प्रकार वस्त्रके आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और नाश इन तीनों अवस्थाओंमें तन्तु ही तन्तु रहते हैं, उसी प्रकार इस सृष्टिकी तीनों अवस्थाओंमें मैं ही ओत-प्रोत भरा हुआ हूँ। जब मेरी इस व्यापकताका ज्ञान न हो, तब फिर अलग अलग सब विभूतियाँ बतलानेकी क्या आवश्यकता है? परन्तु तुममें इतनी सामर्थ्य नहीं है कि तुम मेरी इतनी व्यापकता समझ सको; इसलिए मैंने तुम्हें इतनी बातें बतला दी हैं और तुम्हारे लिए यही बातें यथेष्ट हैं। परन्तु तुमने जिस दृष्टिसे मेरी विभूतियोंके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, उसी दृष्टिसे मैं भी बतलाता हूँ; सुनो। समस्त विद्याओंमें वह अध्यात्म विद्या ही मेरी प्रधान विभूति है जिसका प्रकरण इस समय चल रहा है। बोलनेवालोंमें जो वाद होता है और जिसके सम्बन्धमें न तो कभी समस्त शास्त्रोंकी एकवाक्यता ही होती है और न जिसका कभी अन्त ही होता है, वह वाद भी मैं ही हूँ। दूर करने या मिटानेका प्रयत्न करने पर जो वाद और भी बढ़ता है और जोर पकड़ता है, जिसके कारण सुननेवालोंके मनमें उत्प्रेक्षासे ईर्ष्या बढ़ती है और जिससे वक्ताओंके भाषणमें माधुर्य आता है, वह वाद भी मेरी ही विभूति है। अक्षरोंमें जो पहला अक्षर अ-कार है, वह भी मैं ही हूँ। समासोंमें मैं द्वन्द्व समास हूँ। च्यूँटीसे लेकर ब्रह्मा तक सबको खा जानेवाला काल मैं ही हूँ। जो अनन्त काल मेरु और मन्दर आदि पर्वतोंके सहित सारी पृथ्वीको गला देता है, प्रलय कालमें सारे विश्वको जलमय करनेवाले असीम सागरको भी जो महाकाल जहाँका तहाँ सुखा देता है और आकाश जिसके उदरमें समा जाता है, वह महाकाल मैं ही हूँ। और इसी प्रकार फिरसे सृष्टि उत्पन्न करनेवाला भी मैं ही हूँ।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

"मैं ही समस्त भूतोंको उत्पन्न करता हूँ, मैं ही उन सबका पालन करता हूँ और अन्तमें मैं ही उनका संहार भी करता हूँ; इसलिए मृत्यु भी मैं ही हूँ। अब स्त्री-समूहमें मेरी सात विभूतियाँ हैं; वह भी मैं तुम्हें यों ही बतला देता हूँ। हे अर्जुन, जो कीर्ति कभी नष्ट नहीं होती, वह भी मैं ही हूँ, और उदारताकी जिस संगति प्राप्त हुई है, वह सम्पत्ति भी मैं ही हूँ। जो वाणी न्यायके आधार पर सुखसे विवेकके मार्ग पर चलती रहती है, वह वाणी भी मैं ही हूँ। दिखाई पड़नेवाली वस्तुके साथ ही साथ उसके सम्बन्धकी

समस्त बातोंको याद दिलानेवाली स्मृति भी मैं ही हूँ। इसी प्रकार आत्म-हितका साधन करनेवाली बुद्धि, धैर्यकी वृत्ति और सर्वत्र दिखाई पड़नेवाली क्षमा ये सब मेरी ही प्रधान विभूतियाँ हैं, इस प्रकार स्त्री-समूहमें ये सातों शक्तियाँ भी मैं ही हूँ।" संसार रूपी हस्तीका नाश करनेवाले सिंह श्रीकृष्णने ये सब बातें उस समय अर्जुनसे कहीं।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः॥ ३५॥

इसके उपरांत लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने कहा—"तीनों वेदोंमेंके सामवेदमें जो बृहत् साम है, वह भी, हे सखा अर्जुन, मैं ही हूँ। समस्त छन्दोंमें गायत्री नामक छन्द मैं ही हूँ। इस विषयमें तुम्हें तिल भर भी सन्देह नहीं होना चाहिए। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष और छः ऋतुओंमें वसन्त ऋतु भी मैं ही हूँ।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

"छलनेवाले कामोंमें जो द्यूत कर्म है वे, अर्जुन, वह मैं ही हूँ। इसीलिए जब कोई द्यूत कर्मके द्वारा खुले आम चोरी करके किसी को लूटता है तो उसका कोई निवारण नहीं कर सकता। समस्त तेजस्वी पदार्थोंका तेज मैं हूँ। समस्त कार्य करनेके संकल्पोंमें जो विजय है, वह भी मैं ही हूँ। समस्त उद्योगोंमें न्यायको उज्ज्वल करनेवाला व्यवसाय भी मैं ही हूँ। समस्त सत्वपूर्ण पुरुषोंका सत्व मैं ही हूँ और समस्त यादव-कुलमें जो ऐश्वर्यवान् वसुदेव और देवकीका लड़का था, परन्तु जिसे यशोदाकी लड़कीके बदलेमें गोकुलमें ले गये थे और जिसने पूतनाके दूधके साथ ही साथ उसके प्राणोंको भी पान कर लिया था, जिसने अभी अपनी बाल्यावस्था समाप्त करते करते ही सारी सृष्टिको दैत्य-हीन कर डाला था और गोवर्धन पर्वत नखाग्र पर उठाकर महेन्द्रके महत्वकी परीक्षा की थी, यमुनाके दहमेंसे जिसने कालिय-रूपी शल्य निकाल बाहर किया था, जिसने जलते हुए गोकुल की रक्षा की थी और गौओं तथा बछड़ोंके हरणके समय ब्रह्माको अपनी मायासे पागल बना दिया था, जिसने अपनी बाल्यावस्थाके उदय-कालमें ही कंस सरीखे बड़े बड़े लोगोंको भी सहजमें धूलमें मिला दिया था, परन्तु इतनी बड़ी बड़ी बातोंसे क्या लाभ; हे अर्जुन, जिसके पराक्रमके कृत्य तुमने स्वयं देखे हैं अथवा सुने हैं, वह श्रीकृष्ण इन सब यादवोंमें मेरी प्रधान विभूति है। और चन्द्र वंशमें जन्म लेनेवाले तुम पाण्डवोंमें जो अर्जुन है, उसके सम्बन्धमें भी यही समझ लो कि वह भी मैं ही हूँ और इसी लिए उसके तथा मेरे प्रेम-भावमें कभी अन्तर नहीं होता और उसके साथ कभी मेरा बिगाड़ नहीं होता। तुम संन्यासीका वेष धारण करके मेरी बहन सुभद्राको भगा ले गये थे; परन्तु फिरभी तुम्हारे सम्बन्धमें कभी मेरे मनमें कोई विपरीत भावना नहीं उत्पन्न हुई। क्योंकि मैं और तुम दोनों एक ही स्वरूप हैं।" इसके उपरान्त यादव

श्रेष्ठ श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, समस्त मुनिगणोंमें व्यास मैं ही हूँ और कविवरोंमें शुक भी मैं ही हूँ।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥३८॥

"च्यूँटीसे लेकर ब्रह्मा तक सबका नियन्त्रण करनेवाला जो दण्ड है, समस्त शासनकर्त्ताओंमें वह दण्ड मैं ही हूँ। अच्छे और बुरेका निर्णय करनेवाला और धर्म-ज्ञानका पक्ष लेनेवाला समस्त शास्त्रोंका नीति-शास्त्र मैं हूँ। हे मित्र अर्जुन, समस्त गूढ़ोंमें मैं मौन हूँ, क्योंकि मौन धारण करनेवालेके सामने ब्रह्माकी भी कुछ नहीं चलती। ज्ञानी-जनोंमें जो ज्ञान रहता है, वह भी मैं ही हूँ। परन्तु इन विभूतियोंका कहाँ तक वर्णन किया जाय! इनका कहीं अन्त ही नहीं है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥३९॥
नान्तोऽस्मि मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥४०॥

"हे धनुर्धर अर्जुन, वर्षाकी धारोंकी गिनती की जा सकती है अथवा पृथ्वी परके अंकुरों और तृणोंकी संख्या भी जानी जा सकती है; परन्तु जिस प्रकार समुद्रकी लहरोंका कोई प्रमाण नियत नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मेरी प्रधान विभूतियोंकी भी कोई सीमा नहीं है। इनमेंसे जो पाँच-सात मुख्य विभूतियाँ मैंने तुम्हें बतलाई हैं, हे अर्जुन, वे सब ऊपर ऊपर से तुम्हें परिचय करानेके लिए ही हैं। मेरी बाकी बची हुई विभूतियोंके विस्तारकी कोई सीमा ही नहीं है; इसलिए तुम सुनोगे क्या और मैं बतलाऊँगा क्या? इसलिए अब मैं तुम्हें अपना सारा रहस्य ही बतला देता हूँ। इन समस्त भूतरूपी अंकुरोंमें जिस बीजका विस्तार होता है, वह बीज मैं ही हूँ। इसलिए किसीको कभी छोटा या बड़ा नहीं कहना चाहिए, ऊँच-नीचका भेद-भाव छोड़ देना चाहिए और यह समझ लेना चाहिए कि जितनी वस्तुएँ हैं, वे सब मैं ही हूँ। तो भी सुनो, मैं अब तुम्हें एक साधारण चिह्न बतला देता हूँ। उसी चिह्नसे तुम मेरी विभूतियोंको पहचान सकोगे।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥४१॥

"हे अर्जुन, जिन जिन भूतोंमें ऐश्वर्य तथा दयालुता दोनों गुण एकत्र दिखाई पड़ें, उनके सम्बन्धमें तुम यह समझ लेना कि वे मेरी विभूति हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥४२॥

"आकाशमें सूर्यका केवल एक ही बिम्ब रहता है, परन्तु उसकी प्रभा तीनों भुवनोंमें फैली रहती है। ठीक इसी प्रकार जिस एककी आज्ञाका सब लोग पालन करते हों, उसे तुम कभी अकेला या निर्धन मत समझना। क्या जहाँ जहाँ कामधेनु जाती

है, वहाँ वहाँ उसके साथ सारी वस्तुओंका संग्रह भी बँधा चलता है ? नहीं। परन्तु उससे जो कोई जो पदार्थ माँगता है, वह पदार्थ वह तत्काल प्रसव करने लगती है। इसी प्रकार उस एक विश्वबीजमें विश्वका सारा ऐश्वर्य भरा रहता है उसे पहचानने का लक्षण एक ही है; और वह यह कि सारा संसार उसके आगे नम्र होता है और उसकी आज्ञाका पालन करता है। जिसमें ऐसा लक्षण दिखलाई दे, उसे तुम मेरा अवतार समझो। इस प्रकारके अवतारोंमें किसीको सामान्य और किसीको विशेष उत्कृष्ट समझना और उनमें इस प्रकारका भेद-भाव करना पाप ही है; क्योंकि यह सारा विश्व मैं ही हूँ। ऐसी अवस्थामें साधारण और उत्तमवाले भेदोंकी कल्पना किस दृष्टिसे की जाय ? इस प्रकारके भेद-भावकी कल्पना करना मानो व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको कलंकित करना है। व्यर्थ ही घीको क्यों मथा जाय ? अमृतको औंटाकर आधा करनेसे क्या लाभ है ? क्या वायुमें भी कभी दाहिने और बाएँ अंग होते हैं ? यदि कोई यह देखनेके लिए सूर्यके बिम्ब पर दृष्टि जमावे कि इसका पेट कहाँ है और पीठ कहाँ है तो इसका फल केवल यह होगा कि उसकी दृष्टि ही नष्ट होगी। इसी प्रकार मेरे स्वरूपमें भी साधारण और विशेषवाली भेदमूलक कल्पनाकी गंध भी नहीं है। तुम मेरी एक एक विभूतिको अलग अलग लेकर मेरे असीम स्वरूपको कहाँ तक नापोगे ? इसीलिए, हे अर्जुन, मुझे जाननेका इस प्रकारका प्रयत्न रहने दो। मेरे तो एक ही अंशने इस सारे संसारको पूरी तरहसे व्याप्त कर रखा है, इसलिए तुम समस्त भेद-भाव छोड़कर सम-बुद्धिसे मेरी उपासना करो।" ज्ञानी-जन-रूपी-वनमें फूलनेवाले वसंत और विरक्त जनों के सम्पूर्ण ध्येय उन ऐश्वर्य सम्पन्न श्रीकृष्णने अर्जुनसे इस प्रकार कहा। इस पर अर्जुन-ने कहा—"हे महाराज, आपने तो केवल यही एक रहस्य मुझे बतलाया कि मैं सारा भेद-भाव बिलकुल छोड़ दूँ। अब यदि मैं यह कहूँ कि आपका यह कहना भी वैसा ही अनुचित है, जैसा सूर्यका संसारसे यह कहना कि—"यह अन्धकार दूर कर दो" तो मेरा ऐसा कहना छोटे मुँह बड़ी बात होगी। आपके तो नामका ही इतना माहात्म्य है कि यदि किसीके मुखसे कभी आपका नाम निकल जाय अथवा किसीके कानोंमें ही आपका नाम पड़ जाय तो भेद-भाव उसके हृदयसे तत्कालही निकलकर दूर चले जाते हैं। आपतो स्वयं परब्रह्म ही हैं और वही परब्रह्म इस समय सौभाग्यसे मुझे मिल गये हैं। फिर यहाँ कौनसा भेद-भाव रह सकता है और वह किसके लिए बाधक हो सकता है ? क्या चन्द्र-बिम्बके गर्भमें प्रवेश करने पर भी कहीं गरमी लग सकती है ? परन्तु हे महाराज श्रीकृष्ण, आप अपनी महत्ताके कारण ही इस समय ऐसी बात कह गये हैं।" यह सुनकर श्रीकृष्णको बहुत सन्तोष हुआ और उन्होंने प्रेमपूर्वक अर्जुनको आलिंगन करके कहा—"हे अर्जुन, तुम मेरी बातोंसे नाराज मत हो। मैंने भेदका अंगीकार करके जिन भिन्न भिन्न विभूति-योंका वर्णन किया है, उनके सम्बन्धमें केवल इसी बातकी परीक्षा करनेके लिए मैंने कुछ ऊपरी और बाह्य बातें कही हैं कि उन बातोंकी अभिज्ञता तुम्हारे अन्तःकरणमें अंकित हुई है या नहीं। परन्तु अब मुझे इस बातका अनुभव हो गया है कि तुम्हें मेरी विभूतियोंका अच्छी तरह बोध हो गया है।" इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव, अपनी

बात तो आप ही जानें, परन्तु मैं तो सचमुच यही देखता हूँ कि यह जो सारा विश्व है, वह केवल आपका ही स्वरूप है।" परन्तु संजयने जो यह कहा था कि—"हे राजन्, अर्जुन इस प्रकार आत्म-रूपका अनुभव करने लगा।" सो संजयका यह वचन धृतराष्ट्र बिलकुल चुपचाप सुनता रहा। उस समय संजयको अपने मन में बहुत बुरा मालुम हुआ और उसने मन ही मन कहा—"ऐसा सौभाग्यका फल सामने आया है और फिर भी यह इस धृतराष्ट्रसे इतनी दूर है और यह उसे प्राप्त नहीं कर रहा है! यह भी एक आश्चर्यकी ही बात है। मैं समझता था कि इसकी बुद्धि तो कमसे कम अच्छी होगी। परन्तु नहीं; यह जिस प्रकार बाहरसे चर्म-चक्षुओंका अन्धा है, उसी प्रकार अन्दरसे अन्तश्चक्षुओंका भी अन्धा है।" अस्तु। अब वह अर्जुन अपने आत्म-कल्याणकी मात्रा बराबर बढ़ा रहा था, क्योंकि अब उसके मनमें एक और ही बातकी उत्कंठा उत्पन्न हो गई थी। उसने कहा—"हे देव, मेरे अन्तःकरणमें जो आत्म-स्वरूपका अनुभव प्रति-बिम्बित हुआ है, उसके सम्बन्धमें अब मेरा मन इस उत्कंठासे व्याकुल हो रहा है कि वही अनुभव मैं इस बाह्य जगत्में स्वयं अपनी आँखोंसे करूँ।" अर्जुन बहुत बड़ा भाग्यवान् था और इसी लिए उसके मनमें यह आकांक्षा उत्पन्न हुई थी कि मैं अपने इन दोनों नेत्रोंसे सारे विश्वका आकलन करूँ। हे श्रोतागण, वह अर्जुन स्वयं कल्प-तरुकी शाखा ही था और इसी लिए यह सम्भव नहीं था कि वह बाँझ (अर्थात् फल-हीन अथवा निष्फल) होता। इसी लिए उसके मुँहसे जो जो बातें निकलती थीं वह सब श्रीकृष्ण पूरी करते चलते थे। जिन नारायणने भक्त प्रह्लादकी बात रखनेके लिए विष तकका रूप धारण किया था, वही नारायण इस अर्जुनको सद्गुरुके रूपमें प्राप्त हुए थे। अब आगेके अध्यायमें श्रीनिवृत्तिनाथ का शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओंको यह बतलावेगा कि उस समय उस अर्जुनने किन शब्दोंमें भगवान् श्रीकृष्णसे यह प्रार्थना की थी कि मुझे विश्व-रूप दिखलाइये।

ग्यारहवाँ अध्याय

अब इस प्रस्तुत अर्थात् ग्यारहवें अध्यायमें अर्जुनको विराट् स्वरूपके दर्शन होनेकी जिस कथाका वर्णन है, वह कथा दो रसोंसे भरी हुई है। बात यह है कि इस कथामें मुख्य तो शान्त रस ही है, परन्तु उसके घर अद्भुत रस आतिथ्य स्वीकार करनेके लिए आया है। और दूसरे रसोंको भी उसके साथ सम्मान प्राप्त हुआ है। हे श्रोतागण, जैसे वर और वधूके विवाहके समय बराती भी अच्छे अच्छे वस्त्र और आभूषण पहनकर आनन्दसे घूमते हैं, उसी प्रकार यहाँ देशी भाषाके सुखद आसन पर सब रस सुशोभित हो रहे हैं। परन्तु हरि और हरके समान परस्पर प्रेमपूर्वक गाढ़ आलिंगन किये हुए शान्त और अद्भुत रस इतने अधिक और ऐसे अच्छे ढंगसे हैं कि यों आँखोंसे भी दिखाई पड़ते हैं। अथवा अमावास्याके पर्व-कालमें जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा दोनोंके मंडल एकत्र हो जाते हैं, उसी प्रकार यहाँ इन दोनों रसोंका मिलाप हुआ है। गंगा और यमुनाके प्रवाहोंके मेलकी तरह इन दोनों रसोंका भी संगम हुआ है जिससे यहाँ प्रयाग-क्षेत्र ही बन गया है। अब सारा जगत् इस पवित्र तीर्थमें स्नान करके आनन्दपूर्वक निर्मल हो सकता है। इस अवसर पर गीताको गुप्त सरस्वती समझना चाहिए और केवल उक्त दोनों रस-प्रवाह व्यक्त हैं; अतः हे श्रोतागण, इस अध्यायको मानों त्रिवेणीका संगम ही कहना चाहिए। ज्ञानदेव कहता है कि मेरे उदार दाता श्रीनिवृत्तिनाथने ऐसा सुभीता कर दिया है कि इस त्रिवेणी तीर्थमें केवल श्रवण मार्गसे ही लोग सहजमें प्रवेश कर सकें। इस संस्कृत तीर्थके संस्कृत भाषात्मक तट उतरनेके लिए बहुत ही कठिन हैं, इसलिए श्रीनिवृत्तिदेवने उन्हें तोड़कर देशी भाषाके शब्दोंका ऐसा घाट बाँध दिया है कि जिसमें धर्मके भांडार सहजमें ही प्राप्त हो सकें। अब इस स्थान पर जो श्रद्धालु जन चाहें, वे अच्छी तरह स्नान कर सकते हैं, इस प्रयागमें विराट् रूपी माधवके दर्शन कर सकते हैं और जन्म-मरणकी परम्पराको मजेमें तिलांजलि दे सकते हैं। इस अध्यायमें रसोंकी ऐसी अच्छी बहार है कि संसारको श्रवणानन्दका मानों साम्राज्य ही मिल गया है। इस अध्यायमें शान्त और अद्भुत रस तो प्रधान हैं ही, पर साथ ही दूसरे रसोंका भी बहुत कुछ महत्त्व रखा गया है और केवल ब्रह्मको ही स्पष्ट किया गया है। ऐसा यह ग्यारहवाँ अध्याय है। यह अध्याय स्वयं श्रीकृष्णदेवके विश्राम का स्थान है; परन्तु समस्त भाग्यवान् पुरुषोंमें अर्जुन सचमुच श्रेष्ठ है, क्योंकि उसका इस स्थानमें भी प्रवेश हुआ है। परन्तु हम यह क्यों कहें कि एक अर्जुन ही इस स्थान पर पहुँचा है? अब तो यही कहना ठीक होगा कि जो चाहे, वह यहाँ पहुँच सकता है, क्योंकि अब गीताका अर्थ देशी भाषाके रूपमें प्रकट हो गया है। इसलिए हे श्रोतागण, आप लोग मेरी प्रार्थना सुनें और आप सब सज्जन इस ओर ध्यान दें। इस समय

आप सन्त-जनोंकी सभामें मुझे इस प्रकार की धृष्टताकी बातें नहीं कहनी चाहिएँ; परन्तु फिर भी आप लोग प्रेमपूर्वक मुझे अपना बालक ही समझें। आप यदि किसी तोतेको बोलना सिखलावें और वह तोता आपसे सीखकर बोलने लगे तो आप लोग आनन्दसे सिर हिलावेंगे। अथवा यदि माता किसी बालकको किसी विनोदके काममें लगा दे और वह बालक वह काम करने लगे, तो क्या माता उस बालक पर प्रसन्न नहीं होती? इसी लिए महाराज, मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सब आप ही लोगोंका सिखलाया हुआ है। अतः अब आप लोग अपनी ही सिखलाई हुई बातें सुनें। हे महाराज, यह साहित्यका मधुर वृक्ष आप लोगोंने ही अपने हाथोंसे लगाया है; अतः अब अपने अवधान-रूपी अमृत-जलसे सींचकर आप ही लोग इसे बढ़ा भी करें। यदि आप लोग ऐसा करेंगे तो यह वृक्ष रस-भावोंके फूलोंसे लद जायगा, अनेक अर्थ-रूपी फलोंसे भर जायगा और आपकी कृपासे संसारको सुखी होनेका अवसर मिलेगा। इस भाषणसे सज्जन श्रोताओंको सन्तोष हो गया और उन्होंने कहा—"वाह वाह! तुमने बहुत अच्छा किया। अब यह बतलाओ कि उस अवसर पर अर्जुनने क्या कहा।" इस पर श्रीनिवृत्तिका शिष्य ज्ञानदेव कहता है कि महाराज, श्रीकृष्ण और अर्जुनका वह गहन संवाद मैं निर्बुद्धि क्या बतलाऊँ! हाँ आप ही लोग यह सब बातें मुझसे कहलावेंगे। जंगलके पत्ते खानेवाले बन्दरोंके हाथों भी लंकानाथ रावण तिरस्कारका पात्र बन गया और उसका पराभव हो गया; और उधर अर्जुन बिलकुल अकेला था, पर फिर भी उसने ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंका भंग किया। इसी लिए कहना पड़ता है कि समर्थ जो कुछ चाहते हैं, वह चराचरमें हो ही जाता है। इसी प्रकार आप सन्त लोग भी आज मुझे बोलनेमें प्रवृत्त कर रहे हैं। अब मैं श्रीवैकुण्ठपतिके मुखसे निकली हुई गीताका भावार्थ बतलाता हूँ। आप लोग सुनें। इस गीता-ग्रन्थका भी कैसा माहात्म्य है! वेदोंके प्रतिपादनके जो मुख्य देवता श्रीकृष्ण हैं, वही इस ग्रन्थके वक्ता हैं। इस ग्रन्थका अर्थ-गौरव इतना अधिक है कि स्वयं शंकर भी उसका आकलन नहीं कर सकते। अतः इस अवसर पर हृदयसे उनकी वन्दना करना ही उचित है। अब आप लोग यह सुनें कि वह अर्जुन प्रभुके विश्व-स्वरूप पर ध्यान रखकर क्या कहने लगा। अर्जुनके मनमें इस बातकी बहुत बड़ी अभिलाषा थी कि मेरे मनमें इस सिद्धांत पर जो दृढ़ विश्वास हो गया है कि सारा विश्व ही परमेश्वर है, उसे मैं अपने चर्म-चक्षुओंसे भी देखूँ और इस प्रकार बाहरसे भी इस सिद्धांत पर मेरा पूरा पूरा विश्वास हो जाय। परन्तु अपने मनकी यह अभिलाषा भगवान् पर प्रकट करना बहुत ही कठिन था, क्योंकि वह सोचता था कि विश्व-स्वरूप सरीखे गूढ़ रहस्यके विषयमें मैं खुलकर कैसे प्रश्न करूँ। अर्जुन अपने मनमें सोचने लगा कि जो बात आज तक भगवानके किसी प्रिय भक्तने कभी नहीं पूछी, वह बात मैं एक दमसे कैसे पूछ बैठूँ? यह ठीक है कि मैं श्रीकृष्णका बहुत ही प्रिय सखा हूँ, परन्तु क्या कभी मेरा और इनका प्रेम माताके प्रेमके समान हो सकता है? माता भी विश्व-रूपके सम्बन्धमें प्रश्न करते डरती थीं। मैंने चाहे इनकी कितनी ही मन-पूर्वक सेवा क्यों न की हो, पर फिर भी गरुड़ने इनकी जो सेवा की है, क्या मेरी सेवा उसकी बराबरी कर सकती है? परन्तु वह गरुड़

भी कभी इनसे विश्व-रूपके सम्बन्धमें कुछ नहीं पूछता। क्या मैं सनक आदिकी अपेक्षा भी इनका अधिक समीपी हूँ? परन्तु वे सनक आदि भी कभी विश्व-रूप देखनेका पागलपनवाला आग्रह नहीं करते। क्या मैं श्रीकृष्णके लिए गोकुलके प्रेमपूर्ण बाल-गोपालोंसे भी बढ़कर अधिक प्रिय हूँ? परन्तु उन लोगोंको भी भगवान्ने केवल अपने बाल-भावसे ही प्रसन्न किया था। अम्बरीष आदि अनेक भक्तोंके लिए इन्होंने गर्भ-वासका भी कष्ट सहन किया। परन्तु उनसे भी इन्होंने अपना विश्व-रूप गुप्त ही रखा—कभी किसीको अपना वह गुप्त रूप नहीं दिखलाया। इन्होंने आज तक यह गूढ़ रहस्य अपने अन्तरंगमें ही गुप्त रखा। फिर मैं एकाएक इनसे उसके सम्बन्धमें कैसे कुछ कहूँ? यदि मैं यह समझूँ कि इस विषयमें कुछ न पूछना ही ठीक है तो बिना विश्व-रूपके दर्शन किये मुझे चैन न मिलेगा। यही नहीं, बल्कि इस बातमें भी मुझे सन्देह ही है कि बिना वह दर्शन किये मैं जीवित भी रह सकूँगा या नहीं। इसलिए अब मैं दबी जबानसे ही उसका जिक्र छेड़ूँ। फिर देवको जो कुछ अच्छा जान पड़ेगा, वह करेंगे। इस प्रकार अपने मनमें निश्चय करके अर्जुनने डरते डरते कहना आरम्भ किया। परन्तु उसका वह डरते डरते बोलना भी ऐसी खूबीका था कि उसके केवल एक दो शब्द सुनते ही श्रीकृष्ण अपने समस्त विश्व-रूपका उसे तुरन्त ही दर्शन करा दें। बछड़ेको देखते ही गौ बड़बड़ा जाती है और उससे मिलनेके लिए व्याकुल होने लगती है। पर जब वह बछड़ा आकर स्तनमें मुँह लगा दे, तब भला यह कब सम्भव है कि उसके स्तनोंमें दूध न भर आवे? पांडवोंकी रक्षाके लिए श्रीकृष्ण जंगलों तकमें दौड़े-धूपे थे। अब अर्जुनके इस प्रकार प्रार्थना करने पर वे भला कैसे शांत रह सकते थे? श्रीकृष्ण तो प्रेमके प्रत्यक्ष अवतार ही थे और अर्जुन उस प्रेमका मानों अच्छा खाद्य पदार्थ था। अब यदि ऐसा उत्तम योग होने पर भी वे दोनों अलग अलग रहें तो यह आश्चर्यकी ही बात है। इसलिए अर्जुनके मुखसे ये शब्द निकलते ही श्रीकृष्ण आप ही एक दम विश्व-रूप हो जायेंगे। यही पहला प्रसंग है। आप लोग इसकी ओर ध्यान दें।

अर्जुन उवाच—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे दया-सागर देव, जो बात शब्दोंमें किसी प्रकार नहीं कही जा सकती, उसे आपने मेरे लिए ऐसा स्वरूप प्रदान कर दिया कि वह वाणीके द्वारा समझमें आ सके। जिस समय भूत मात्र ब्रह्म-स्वरूपमें मिल जाते हैं, उस समय और जीवों तथा मायाका कहीं नाम भी नहीं रह जाता। उस समय परब्रह्म जिस स्वरूपमें उतरता है, वही उसका अन्तिम रूप है। अपना जो स्वरूप आपने अपने हृदयके भीतरी भागमें लोभीके धनकी भाँति बन्द कर रखा था और जिसका पता स्वयं वेदोंको भी नहीं चला था, वही अपने हृदयका रहस्य आज आपने मेरे सामने खोल दिया है। श्री शंकरने जिस अध्यात्म-रहस्य परसे सारा ऐश्वर्य निछावर करके फेंक दिया, महाराज, आज वही रहस्य आपने मुझे एक दमसे बतला दिया। परन्तु यदि

मैंने इस बातका उल्लेख किया, तो मैंने आपका व्यापक स्वरूप प्राप्त कैसे किया? परन्तु महामायाके अपरम्पार सागरमें मुझे सिर तक डूबा हुआ देखकर, हे श्रीकृष्ण, आपने स्वयं ही कूदकर मुझे उसमेंसे बाहर निकाला है। अब मेरे लिए इस विश्वमें आपके सिवा और कोई बात ही नहीं रह गई है। परन्तु मेरा भाग्य ही कुछ ऐसा खराब है कि अभी तक मेरे मुखसे यही बात निकल रही है कि—'मैं आप से कोई अलग व्यक्ति हूँ।' अभी तक मेरे साथ एक ऐसा देहाभिमान लगा हुआ था कि मैं समझता था कि इस संसारमें मैं अर्जुन नामका एक पुरुष हूँ। और इन कौरवोंको मैं अभी तक अपना "स्वजन" कहता था। केवल इतना ही नहीं, मैं इस प्रकारका दुष्ट स्वप्न भी देख रहा था कि मैं इन्हें मारूँगा और इस प्रकार मैं पापमें लिप्त होऊँगा। इतनेमें ही आपने मुझे जगा दिया। हे देव लक्ष्मीनाथ, अभी तक मैं सच्ची बस्ती छोड़कर झूठे गन्धर्वनगरमें विचरण कर रहा था; और पानीके धोखेमें मृगजल पी रहा था। कपड़ेका साँप वास्तवमें मिथ्या और नकली था, परन्तु मुझे यह मिथ्या भावना हो गई थी कि सचमुच साँपने ही मुझे डस लिया है, और इसी लिए सचमुच विषकी लहरें चढ़ रही थीं और यह जीव व्यर्थ ही मर रहा था। परन्तु उसे बचानेका श्रेय आपको ही है। जैसे सिंह एक कुएँमें अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर यह समझ रहा हो कि यह मेरा कोई प्रतिस्पर्धी दूसरा सिंह है और इसी भ्रममें वह उस कुएँमें कूदना चाहता हो; और उसी समय कोई बीचमें आकर उसे पकड़कर रोक ले और इस प्रकार उसे आत्म-घात करनेसे बचा ले। बस ठीक इसी प्रकार आज आपने मुझे बचा लिया है। और नहीं तो, हे देव, मैंने तो आज इस बातका पूरा पूरा निश्चय कर लिया था कि चाहे सातों समुद्र एकमें क्यों न मिल जायें, यह सारा संसार प्रलयके जलमें क्यों न डूब जाय, चाहे ऊपरसे आकाश ही क्यों न टूट पड़े, परन्तु मैं अपने इन कुटुम्बियोंके साथ कभी युद्ध न करूँगा। इस प्रकारकी अहम्मन्यताके आधिक्यके कारण मैं आग्रहके दहमें डूब ही गया था; और यदि आप सरीखा समर्थ सखा मेरे पास न होता तो फिर मुझे कौन बचाकर बाहर निकालता? जो वस्तु बिलकुल थी ही नहीं, उसके सम्बन्धमें मैं जबरदस्ती मानता था कि वह है। और उसीका नाम मैंने "गोत्र" रखा था। मुझपर ऐसा विलक्षण भ्रमका पागलपन सवार हुआ था। परन्तु आपने ही मेरी रक्षा की। एक बार आपने ही मुझे जलते हुए लाक्षागृहसे सुखपूर्वक बाहर निकाला था; परन्तु उस समय मेरा केवल शरीर ही संकटमें था। परन्तु आज इस भ्रमके दूसरे अग्नि-संकटमें मेरे चैतन्य (आत्मा) के ही नष्ट हो जानेका भय था। जिस प्रकार हिरण्याक्ष नामक असुरने पृथ्वी बगलमें दबा ली थी, उसी प्रकार इस समय दुराग्रहने भी मेरी बुद्धि अपनी बगलमें दबा ली थी; और इस कारण जो उपद्रव मचा, उससे मेरे अन्दर मोहका समुद्र लहराने लगा। ऐसे कठिन अवसर पर केवल आपकी सामर्थ्यके कारण ही मेरी बुद्धि फिरसे ठिकाने आई है। इसलिए मैं कह सकता हूँ कि आज आपको दोबारा वाराह अवतार ही धारण करना पड़ा। आपकी कृति असीम है और मैं अकेला भला उसका कहाँ तक वर्णन कर सकता हूँ! परन्तु इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं कि आज आपने मेरे पंच प्राण ही मुझे फिरसे लाकर दिये हैं। महाराज, आपका इतना बड़ा

पुण्य-कर्म क्या कभी व्यर्थ जा सकता है ? हे देव, आपको बहुत ही उत्तम यश प्राप्त हुआ है, क्योंकि आपने मेरी माया समूल नष्ट कर डाली है। हे महाराज, आनन्द सरोवरमेंके खिले हुए कमलोंके समान आपके जो ये नेत्र हैं, वे जिसे अपने प्रसादका स्थान बनाते हैं, उस जीवके सम्बन्धमें इस बातकी कल्पना करना बिलकुल पागलपन ही है कि उसका मोहके साथ योग होगा—उसे कभी आकर मोह ग्रस सकेगा। भला बड़वानलके सामने मृग-जल क्या चीज है ? और यदि आप मेरी बात कहें तो मैं तो इस समय आपके कृपा प्रसादके प्रत्यक्ष गर्भगृहमें प्रवेश करके आनन्दपूर्वक ब्रह्म-रसका आस्वादन कर रहा हूँ। यदि इससे मेरा मोह नष्ट हो गया तो इसमें आश्चर्यकी कौन सी बात है ? हे देव, आपके चरणोंके स्पर्शसे आज सचमुच मेरा उद्धार हो गया।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

"हे कमलके समान विशाल नेत्रोंवाले और कोटि सूर्योंके समान तेज धारण करनेवाले महाराज, मैंने आज आपसे ज्ञानका बोध प्राप्त किया है। जिस मायासे ये भूत मात्र उत्पन्न होते हैं और जिसके कारण ये अन्तमें लीन होते हैं, उस मायाका स्वरूप आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है। और फिर मेरी वह माया दूर करके मुझे उस पर ब्रह्मका स्थान दिखला दिया है जिस परब्रह्मका गौरव धारण करके वेद अब तक संसारमें सुशोभित होते थे। और यह जो साहित्यका सागर बढ़ रहा है और टिका हुआ है और धर्म-सिद्धान्तोंके रत्न तथा मोती आदि उत्पन्न कर रहा है, वह भी उस परमात्माके तेजके लाभका ही परिणाम है। इस प्रकार जो समस्त साधन-मार्गोंका ही ध्येय परमात्मा है और जिसके माधुर्यका ज्ञान केवल आत्मानुभवसे ही हो सकता है, उस परमात्माका अनन्त और अपार माहात्म्य आपने मुझे स्पष्ट करके बतला दिया है। जिस प्रकार आकाशके मेघोंका जल बरस जाने पर सूर्यबिम्बके दर्शन होते हैं अथवा ऊपरकी सेवार हाथसे हटाने पर नीचेका पानी दिखाई पड़ने लगता है अथवा चन्दनके वृक्ष पर कुंडली मारकर बैठनेवाले सर्पको हटा देने पर चन्दनका वृक्ष दिखाई पड़ने लगता है अथवा पिशाचोंके भाग जाने पर जमीनके अन्दर गड़ा हुआ खजाना मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार बीचमें परदेके समान पड़ी हुई यह माया आज आपने दूर हटाकर मेरी मति तत्व-निष्ठ कर दी है। इसलिए हे देव, इस विषयमें अब मेरे मनमें पूरा पूरा विश्वास हो गया है; परन्तु अब मेरे मनमें एक और नई बात उत्पन्न हुई है। अब यदि मैं इस समय संकोचके कारण आपके सामने उस बातका उल्लेख न करूँ तो फिर और किससे मैं वह बात पूछने जाऊँ ? आपके सिवा मुझे और किसका आश्रय प्राप्त हो सकता है ? यदि पानीमें रहनेवाले प्राणी अपने मनमें इस बातका संकोच करें कि हमारे अमुक कामसे पानीको कष्ट होगा अथवा बालक यदि डरता और हठपूर्वक स्तन-पानकी याचना न करे तो उसके लिए जीवित रहनेका और उपाय ही कौन सा है ? इस लिए अब मुझसे कुछ भी संकोच नहीं किया जाता। इस समय मेरे मनमें जो बात आवे, वह मुझे आपसे साफ साफ कह देनी चाहिए।" इस पर श्रीकृष्ण बीचमें ही बोल उठे—"हे अर्जुन, अब यह व्यर्थका विस्तार रहने दो। तुम मुझे यह बतलाओ कि अब तुम और क्या चाहते हो।"

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥

अर्जुन ने कहा—"हे देव, आपने मुझे ज्ञानका जो उपदेश किया है, उससे मुझे समाधान प्राप्त हुआ है। अब जिसके आद्य संकल्पसे इस विश्वका निर्माण होता है और यथा-समय लयको भी प्राप्त होता है, जिसे आप स्वयं "मैं" कहते हैं, आपका जो वह मूल स्वरूप है जिससे आप देवताओंके संकटोंका निवारण करनेके लिए द्विभुज, चतुर्भुज आदि अनेक प्रकारके रूप धारण करते हैं, परन्तु जल-शयनके निमित्तसे अथवा मत्स्य, कूर्म आदिके रूपमें किये जानेवाले नाटकोंके समाप्त होने पर आपकी सगुणता जिस स्थानमें लीन होती है, उपनिषद् जिसका गान करते हैं, अपनी दृष्टिको अन्तर्मुख करके योगी जिसे देखते हैं और सनक आदि भक्त जिसे सदा अपने हृदयसे लगाये रहते हैं और आपके जिस अनन्त विश्व-स्वरूपका वर्णन मैं बराबर कानोंसे सुनता आया हूँ, हे प्रभु, आपका वही विश्व-स्वरूप अपनी आँखोंसे देखनेके लिए मेरा मन बहुत अधिक उत्सुक हो रहा है। हे देव, आपने मेरे सब संकट दूर करके अब तक बड़े प्रेमसे मेरी प्रत्येक कामना पूरी की है। अब मेरे मनमें केवल एक ही कामना बाकी रह गई है। मेरे मनमें इस बातकी बहुत बड़ी उत्कंठा है कि आपके उस विश्वस्वरूपके दर्शन मुझे इन आँखोंसे हो जावें।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

"परन्तु हे नारायण, इस विषयमें एक शंका है। यह बात स्वयं मेरी ही समझमें नहीं आती कि आपके विश्व-रूपका दर्शन करनेकी पात्रता मुझमें है या नहीं। हे देव, यदि आप मुझसे यह पूछें कि यह बात क्यों तुम्हारी समझमें नहीं आती, तो मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या कोई रोगी स्वयं ही कभी अपने रोगका निदान कर सकता है ? और मेरी इस इच्छाकी उत्सुकता इतनी प्रबल है कि उसके सामने मैं यह बात भी बिलकुल भूल जाता हूँ कि इस इच्छाके अनुरूप मुझमें योग्यता भी है या नहीं। जिस प्रकार किसी प्यासे आदमीके सामने स्वयं समुद्र भी रख दिया जाय तो भी वह कभी "बस" नहीं कहता, उसी प्रकार इस प्रबल इच्छाके फेरमें मैं अपने आपको संभाल नहीं सकता। इसी लिए जिस प्रकार केवल माता ही जानती है कि मेरे छोटे बालकमें कितनी योग्यता है, उसी प्रकार, हे जगदीश, आप ही मेरी योग्यताका विचार करें और तब मुझे विश्व-रूपके दर्शन कराना आरम्भ करें। हे देव, आप इतनी कृपा अवश्य करें। और नहीं तो यही कह दें कि तुम्हारी यह इच्छा पूरी नहीं हो सकती। यदि किसी बहिरेके सामने व्यर्थ ही संगीतके पंचम स्वरका आलाप किया जाय तो भला उससे उसे क्या सुख हो सकता है ? क्या केवल चातककी प्यास बुझानेके बहानेसे ही मेघ सारे संसार-

के लिए यथेष्ट वर्षा नहीं करता ? परन्तु यदि वह वर्षा भी किसी चट्टान पर हो तो वह व्यर्थ ही जाती है । यह बात नहीं है कि चन्द्रमा केवल उतनी ही चन्द्रिकाका विस्तार करता हो जितनी चकोरके लिए आवश्यक होती है और दूसरोंको उससे वंचित ही रखता हो । परन्तु यदि किसीके आँखें ही न हों तो उसके लिए चन्द्रमाका वह प्रकाश व्यर्थ होता है । इसी लिए मेरे मनमें इस बातका पूरा पूरा विश्वास है कि आप मुझे अपने विश्व-रूपके अवश्य दर्शन देंगे । क्योंकि ज्ञानी और अज्ञानी सभी के लिए आपका स्वरूप सदा अद्भुत और अलौकिक ही है । आपकी उदारता बिलकुल निराले ढंगकी, स्वयं-सिद्ध और अनिर्बन्ध है । आप जब दान देने लगते हैं, तब योग्य और अयोग्य-का कुछ भी विचार नहीं करते । मोक्ष सरीखी पवित्र वस्तु आपने अपने कट्टर शत्रुओं तकको दे डाली है । वास्तवमें मोक्ष प्राप्त होना कितना कठिन है ! परन्तु वह भी आपके चरणोंमें लगा रहता है और इसी लिए आप उसे जिधर भेज देते हैं, वह उधर ही चला जाता है । जो पूतना राक्षसी आपको अपना जहर मिला हुआ दूध पिलाकर मार डालनेके लिए आई थी, उसे भी आपने सनक आदि सनत्कुमारोंकी भाँति ही सायुज्य मुक्तिका मधुर स्वाद चखाया था । फिर हमारे राजसूय यज्ञमें त्रिभुवनके सभासद-मंडलके सामने जिसने सैकड़ों प्रकार के दुष्ट वचन कहकर आपकी अप्रतिष्ठा की थी, उस महादुष्ट अपराधी शिशुपालको भी, हे गोपाल कृष्ण, आपने आत्म स्वरूपमें मिला लिया । उस उत्तानपाद राजाके पुत्रकी क्या ध्रुव (अटल) पद प्राप्त करनेकी इच्छा थी ? वह तो वनमें केवल इसी हेतुसे गया था कि मुझमें अपने पिताकी गोदमें बैठनेकी योग्यता आ जाय । परन्तु आपने उसे स्वयं ध्रुव-पद प्रदान करके चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर श्रेष्ठ बना दिया । इस प्रकार दुःखसे ग्रस्त लोगोंको बिना आगा-पीछा सोचे उदारता-पूर्वक कृपादान देनेवाले एक मात्र आप ही हैं । अजामिलने केवल अपनी ममताके कारण अपने नारायण नामक पुत्रको पुकारा था । परन्तु उसके 'नारायण' नाम उच्चारण करनेके बदलेमें ही आपने उसके पापी चरित्रकी ओर ध्यान न देकर उसे आपने मुक्ति-पद प्रदान कर दिया । जिन भृगु ऋषिने आपकी छाती पर लात मारी थी, उनकी लातका चिह्न आप अब तक भूषणके समान धारण करते हैं; और आपके शत्रु शंखासुरका शरीर जो शंख है, उसे आप अपने हाथमें बड़े आदरसे धारण करते हैं । इस प्रकार आप अपकार करनेवालेका भी उपकार करते हैं । आप अयोग्यके प्रति भी अपनी उदारता दिखलाते हैं । आपने पहले तो राजा बलिसे दान माँगा और तब स्वयं ही उलटे उसके द्वारपाल बन गये । जो वेश्या कभी आपकी भक्ति नहीं करती थी, यहाँ तक कि कभी आपका नाम भी नहीं सुनती थी और केवल अपने मनो-विनोदके लिए अपने तोतेको "राम राम" कहना सिखलाती थी, उसे भी केवल इस नामोच्चारणके निमित्त ही आपने वैकुण्ठका सुख प्राप्त करनेका सुभीता कर दिया । इस प्रकार केवल झूठे बहाने निकालकर आप अपनी इच्छासे ही बलपूर्वक मुक्ति-पदका दान बहुतोंके पल्ले बाँध देते हैं । फिर भला वही आप मेरे लिए अपनी उदारता छोड़कर दूसरे प्रकारका व्यवहार कैसे करेंगे ? जो कामधेनु अपने दूधके प्रभावसे ही सारे संसारके

संकट दूर करती है, क्या स्वयं उसके बच्चे कभी भूखे रह सकते हैं ? इसी लिए मैंने आप-से जो कुछ दिखलानेकी प्रार्थना की है, हे देव, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह आप मुझे अवश्य दिखलावेंगे । परन्तु हाँ, पहले आप उसे देखनेकी पात्रता मुझमें उत्पन्न करें । यदि आप यह समझते हों कि मेरी आँखोंमें आपका वह विश्व-रूप देखनेकी सामर्थ्य है, तो आप मेरी यह कामना पूरी करें ।" जब अर्जुनने इस प्रकारकी खरी खरी और स्पष्ट प्रार्थना की, तब षड्गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न वे श्रीकृष्ण धैर्य धारण न कर सके । श्रीकृष्ण केवल दया-रूपी अमृतसे भरे हुए मेघ थे और अर्जुन मानों समीप आया हुआ वर्षा-काल था । अथवा यदि हम श्रीकृष्णको कोकिल कहें तो अर्जुन उसके लिए वसन्त काल था । अथवा जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाका पूरा पूरा चमकता हुआ बिम्ब देखते ही क्षीर सागर आवेगसे भरकर उछलने लगता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी दूनेसे भी अधिक प्रेमपूर्ण होकर उल्लसित हो गये । फिर चित्तकी उस प्रसन्नताके आवेशमें दयामय श्रीकृष्णने गम्भीर स्वरसे कहा—"हे अर्जुन, यह देखो मेरा असंख्य और अपार स्वरूप ।" अर्जुनकी तो यह इच्छा थी कि मुझे श्रीकृष्णके केवल एक ही विश्वरूपके दर्शन हों; परन्तु श्रीकृष्णने अपने उस विश्व-रूपमें समस्त विश्व दिखला दिये । सामर्थ्यवान् देवकी उदारता अपरिमित ही है । किसीको अपनी इच्छासे माँगनेके लिए तैयार भर होना चाहिए । फिर वे उस याचकको अपना वह सर्वस्व अर्पित कर देते हैं जो उसकी याचनासे हजार गुना बढ़कर होता है । जिस गुप्त रहस्यके दर्शन भगवान्ने शेषनागकी सहस्र आँखोंको भी नहीं होने दिये थे, जो गुप्त रहस्य उन्होंने वेदों पर भी नहीं प्रकट किया था, जिसका पता उन्होंने लक्ष्मीको भी नहीं लगने दिया था, वही रहस्य आज श्रीकृष्णने नाना प्रकारसे प्रकट करके महाभाग्यवान अर्जुनको अपने विश्व-रूपके दर्शन करा दिये थे । जिस प्रकार जागनेवाला पुरुष स्वप्नावस्थामें पहुँचकर उस स्वप्नका ही हो रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी स्वयं ही इस समय अनन्त ब्रह्माण्ड हो रहे हैं । उन्होंने अपने कृष्ण-रूपका बिलकुल अन्त करके और माया-दृष्टिका परदा दूर करके अपना योग-सर्वस्व ही बिलकुल स्पष्ट और अनावृत कर दिया है । उस समय श्रीकृष्णको इस बातका विचार करनेका ध्यान ही नहीं रह गया कि अर्जुनमें मेरा रूप देखनेकी योग्यता भी है या नहीं । उन्होंने प्रेमसे विह्वल होकर कहा—"अच्छा, यह देखो विश्व-रूप" ।

श्रीभगवानुवाच—

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने कहा था कि मुझे केवल विश्व-रूप ही दिखलाओ। परन्तु यदि मैं तुमको केवल वही विश्व-रूप दिखलाऊँ तो इसमें कौनसी बड़ी बात है ! मेरे विश्व-रूपमें जो जो वस्तुएँ भरी हुई हैं, वह सभी तुम इस समय देख लो । देखो, इसमें कितने नाना प्रकारके आकार और रूप हैं ! कोई बहुत ही छोटे हैं तो कोई बहुत ही बड़े; कोई बहुत ही क्षीण हैं तो कोई बहुत लम्बे-चौड़े; कोई अत्यन्त स्थूल हैं तो कोई

अत्यन्त सरल; और कुछ तो केवल अलौकिक ही हैं। कुछ तो बहुत ही अ-वश हैं जिनसे अपना आप सँभाला नहीं जाता और कुछ बिलकुल गरीब और सीधे-सादे हैं; कुछ चंचल हैं तो कुछ निश्चल; कुछ विरक्त हैं तो कुछ ममतापूर्ण और कुछ अत्यन्त तीव्र प्रेमसे युक्त हैं। कुछ मत्त हैं तो कुछ सावधान, कुछ छिछले हैं तो कुछ गम्भीर, कुछ उदार हैं तो कुछ कृपण और कुछ क्रोधी हैं। कुछ शान्त हैं तो कुछ अभिमानसे पूर्ण, कुछ निर्विकार हैं तो कुछ आनन्दित, कुछ गरजनेवाले हैं तो कुछ मौन और कुछ मिलनसार हैं। कुछ स-काम हैं तो कुछ विरक्त, कुछ जागे हुए हैं तो कुछ सोये हुए, कुछ सन्तुष्ट हैं तो कुछ लोभी और कुछ समाधानयुक्त हैं। कुछ सशस्त्र हैं तो कुछ शस्त्र-रहित, कुछ अत्यन्त भयंकर हैं तो कुछ अत्यन्त स्नेहपूर्ण, कुछ भीषण हैं तो कुछ विलक्षण और कुछ समाधिमें ही मग्न हैं। कुछ प्रजा उत्पन्न करनेके कामोंमें लगे हुए हैं तो कुछ प्रेमसे प्रजाका पालन करनेवाले हैं, कुछ क्रोधमें भरकर प्रजाका संहार करनेवाले हैं तो कुछ केवल तटस्थ रूपसे सबका तमाशा देखनेवाले हैं। ऐसे अनेक प्रकारके असंख्य रूप इसमें है। इसके सिवा कुछ तो दिव्य तेजसे दीप्त हो रहे हैं और उनके प्रकाशके रंग भी एक दूसरेसे भिन्न हैं। कुछ तो मानो तपाये हुए खरे सोनेके समान जान पड़ते हैं, कुछ बिलकुल पीले रंगके हैं और कुछके सर्वाङ्ग सिन्दूर पोते हुए आकाशके समान सुशोभित हो रहे हैं। कुछ तो स्वभावतः ऐसे सुन्दर हैं कि मानों मणियों और माणिक्योंसे जड़े हुए ब्रह्माण्डके समान जान पड़ते हैं और कुछ कुमकुमसे रंगे हुए अरुणोदयकी प्रभाके समान चमक रहे हैं। कुछ स्वच्छ स्फटिकके समान निर्मल हैं, कुछ इन्द्रनील मणिके समान नीले हैं, कुछ काजलके समान नितान्त काले हैं और कुछ लाल रंगके हैं। कुछ चमकते हुए सोनेके समान पीले हैं, कुछ वर्षा काल-के बादलोंके समान काले हैं, कुछ सोन-चम्पाके समान गोरे हैं और कुछ केवल हरे रंगके हैं। कुछ तपाये हुए ताँबेके समान लाल हैं, कुछ शुभ्र चन्द्रमाके समान बिलकुल सफेद हैं। इस प्रकार तुम अनेक रंगोंके मेरे रूप देखो। जिस प्रकार ये सब वर्ण अलग अलग तरहके हैं, उसी प्रकार उनके आकार भी भिन्न भिन्न हैं। कुछ तो इतने सुन्दर हैं कि मदन भी लज्जित होकर उनकी शरणमें आता है। कुछकी बनावट ही बहुत हलकी है और कुछके कान्तिमान् शरीर अत्यन्त मनोहर हैं। और कुछके सुन्दर स्वरूप तो मानों शृङ्गार-लक्ष्मीके बिलकुल खुले हुए भंडार ही जान पड़ते हैं। कुछ तो अवयवोंसे पुष्ट और माँसल हैं, तो कुछ अत्यन्त सूखे हुए हैं। कुछ अत्यन्त विकराल रूपवाले हैं; कुछ बहुत लम्बी गरदनवाले हैं, कुछ बहुत बड़े सिरवाले हैं और कुछ बहुत ही विलक्षण तथा बेडौल हैं। और इन आकृतियोंमेंसे प्रत्येक आकृतिके शरीर-प्रदेश पर तुम्हें सारा संसार ही दिखाई पड़ेगा।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

"इन्हीं रूपोंमेंसे जब किसी एक रूपकी दृष्टि खुलती है, तब आदित्य आदि बारह सूर्य प्रकट होते हैं। पर यही दृष्टि जब बन्द हो जाती है; तब वे सब आदित्य एकत्र होकर लीन हो जाते हैं। इन रूपोंके मुखके उष्ण श्वाससे सर्वत्र ज्वाला ही ज्वाला हो जाती है और उसी ज्वालामेंसे पावक आदि आठ वसुओंका जन्म होता है। और इन स्वरूपोंकी तिरछी भौंहोंके सिरे जब क्रोधके कारण आपसमें मिलने लगते हैं, तब ग्यारह रुद्रोंका अवतार होता है। परन्तु जब उन्हींमें सौम्यका आविर्भाव होता है, तब अश्विनीकुमार सरीखे असंख्य जीवनदाता उत्पन्न होते हैं। इन्हींके कानोंमेंसे अनेक प्रकारके पवन निकलते हैं। इस प्रकार एक ही रूपके सहज खेलवाड़से देवता और सिद्ध उत्पन्न होते हैं। और देखो, मेरे विश्व-रूपमें इस प्रकारके असंख्य और अनन्त रूप हैं। जिनका वर्णन करते करते वेद भी बौरे हो गये, कालका आयुष्य भी पूरा न सिद्ध हुआ और प्रत्यक्ष ब्रह्माको भी जिनकी थाह नहीं लगी और जिनकी वार्ता भी कभी वेद-त्रयीके कानों तक नहीं पहुँची, वे अनेक रूप तुम प्रत्यक्ष देखो और आश्चर्यमय आनन्द तथा पूर्ण सफलताका उपभोग करो।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार कल्पवृक्षके नीचे तृणोंके अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार इन मूर्तियोंके रोम-कूपोंमें सृष्टिके अंकुर हैं। जिस प्रकार छतके झरोखोंमेंसे आनेवाली किरणोंमें परमाणु उड़ते हुए दिखाई देते हैं, उसी प्रकार इन मूर्तियोंके अवयवोंके सन्धिस्थानोंमें अनेक ब्रह्माण्ड उड़ते हुए दिखाई देते हैं। इनमेंसे प्रत्येक अवयवके प्रदेश-में विश्वका विस्तार दिखाई पड़ता है। अब यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि इस विश्वके उस पार भी जो कुछ है, उसके भी दर्शन हों, तो यह भी कोई कठिन बात नहीं है, क्योंकि तुम जो कुछ चाहो, वही मेरे इस स्वरूपमें देख सकते हो। दयामय श्रीकृष्णने ये सब बातें तो कहीं, परन्तु उन्होंने जो यह प्रश्न किया था कि—"तुम यह सब देख रहे हो या नहीं ?" उसका अर्जुनने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उस समय श्रीकृष्णके मन-में यह शंका उत्पन्न हुई कि अर्जुन इस प्रकार मूकोंकी तरह स्तब्ध क्यों हो रहा है। इसी विचारसे जब श्रीकृष्णने उस पर दृष्टि डाली, तब उन्होंने देखा की अर्जुन बिलकुल पहले-की तरह और ज्योंका त्यों उत्कंठासे भरा हुआ है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥

श्रीकृष्णने अपने मनमें कहा—"अभी तक इसकी उत्कंठा नहीं मिटी। अभी तक इसे आत्म-सुखका लाभ नहीं हुआ। मैंने अपना जो वास्तविक और सत्य स्वरूप इसे प्रकट करके दिखलाया है, उसका आकलन करनेकी शक्ति इसमें नहीं दिखलाई देती"। यह सोचकर देव हँस पड़े और उन्होंने उस प्रेक्षक (अर्थात् अर्जुन) से कहा—"मैंने तो तुम्हें विश्व-रूप दिखलाया, परन्तु तुम तो उसे देख ही नहीं रहे हो।" देवकी यह बात सुनकर चतुर अर्जुनने कहा—"परन्तु इसमें दोष किसका है ? आप बगलेको चाँदनी चुगानेका निष्फल प्रयत्न कर रहे हैं। आप बिलकुल स्वच्छ किया हुआ दर्पण अन्धेके सामने रख रहे हैं; अथवा हे प्रभु, आप बहिरेके सामने संगीतका आलाप कर

रहे हैं। आप जानबूझकर पुष्पोंके मधुके कणोंका चारा दादुरके सामने डाल रहे हैं और वे कण व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। ऐसी अवस्थामें, हे नारायण, आप दूसरे पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों कर रहे हैं? जो वस्तु इन्द्रियोंकी पहुँचके बिलकुल बाहर है और जिसका अनुभव केवल ज्ञान-दृष्टिसे ही किया जा सकता है, वह वस्तु यदि आप मेरे चर्म-चक्षुओंके सामने रखते हैं तो मैं उसे कैसे देख सकता हूँ? परन्तु आपकी त्रुटियाँ निकालकर आपको दोष देना ठीक नहीं है। इसलिए मेरा चुपचाप रहना ही अच्छा है।" यह सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"भाई अर्जुन, जो कुछ तुम कह रहे हो, वही ठीक है। जब मैं तुम्हें अपना वास्तविक विश्व-रूप दिखलाने चला था, तब उससे पहले मुझे यह उचित था कि मैं तुम्हें वह रूप देखनेकी सामर्थ्य प्रदान करता। परन्तु प्रेमके आवेशमें बातें करते करते मैं यह बात बिलकुल भूल ही गया था। परन्तु उसका फल क्या हुआ? वही जो जमीनको बिना जोते-बोये उसमें बीज बोनेसे होता है। इसमें सारा समय व्यर्थ नष्ट होता है; और वही अब भी हुआ है। पर अब मैं तुम्हें ऐसी दृष्टि देता हूँ जिससे विश्व-रूप देखा जा सके। हे अर्जुन, उस दृष्टिकी सहायतासे तुम मेरे विश्व-व्यापक ऐश्वर्य-योगको प्रत्यक्ष देखकर आनन्दसे आत्मानुभवमें प्रवेश करोगे।" जिनका प्रतिपादन वेद करना चाहते हैं, जो सारे विश्वके मूल बीज हैं और जो सारे जगतके लिए वन्दनीय हैं, उन कृष्णने इस प्रकार कहा।

संजय उवाच—

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे कौरव-कुल श्रेष्ठ राजा, मुझे रह रहकर एक बातका बहुत ही आश्चर्य होता है। देखिये, इस त्रिभुवनमें लक्ष्मी से बढ़कर भाग्यवान् और कौन है? अथवा वेदोंके सिवा दूसरा और कौन सा ऐसा साधन है जिससे आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान हो सके? इसी प्रकार जिसे वास्तविक सेवक-भाव कहते हैं, वह केवल शेषनागमें है। क्यों ठीक है या नहीं? नारायणके प्रति प्रेमसे भरकर आठों पहर योगियोंकी भाँति एकनिष्ठ होकर उनकी सेवा करनेवाला गरुडके समान क्या और कोई भक्त भी है? परन्तु ये सब लोग एक ओर पड़े रह गये; और जिस दिनसे इन पांडवोंका जन्म हुआ, उसी दिन से मानो नारायणको सुखको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला एक नवीन स्थल उदित हुआ है। और इन पाँचों पाण्डवोंमेंसे भी इस अर्जुनके कहनेमें तो ये श्रीकृष्ण स्वयं ही पूरी तरहसे हो गये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि एक विषयी पुरुषको एक लावण्यवतीने लम्पट बना डाला है। शायद कोई सिखाया हुआ पक्षी भी इस तरह न बोलता होगा, और मनोविनोदके लिए लाड़-प्यारसे पाला हुआ हिरन भी इस प्रकारकी क्रीड़ा न करता होगा, जिस तरह ये श्रीकृष्ण अर्जुनके फेर में पड़कर पटापट बातें करते हैं और उसके साथ नाचते और क्रीड़ा करते हैं। कुछ पता नहीं चलता कि इस अर्जुनका ऐसा कौन सा भाग्य उदय हुआ है! स्वयं पूरे परब्रह्मको देखनेका सौभाग्य इसके नेत्रोंने प्राप्त किया है। देखिये, श्रीकृष्ण इसकी बातोंके एक एक शब्दका कैसे प्रेमसे पालन कर रहे हैं। यदि अर्जुन क्रोध भी करता है तो देव

उसे आनन्दपूर्वक सहन करते हैं। यदि अर्जुन रूठता है तो देव उसको मनाते हैं। यह बड़े ही आश्चर्यकी बात है कि अर्जुनके लिए श्रीकृष्ण ऐसे पागल हो रहे हैं। विषय-वासना पर विजय प्राप्त करके जो शुक आदि योगी-जन सामर्थ्यवान् बने थे, वही इन श्रीकृष्णकी रास-लीला और विषय-विलासके वर्णन करते करते इनके स्तुति-पाठक बन गये। योगी लोग आत्म-चिन्तनकी समाधि लगाकर इन श्रीकृष्णका ध्यान करते हैं। परन्तु हे राजा धृतराष्ट्र, मुझे इस बातका बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि वही श्रीकृष्ण आज इस प्रकार अर्जुनके बिलकुल अधीन हो रहे हैं।" फिर इसके उपरान्त तुरन्त ही संजयने कहा—"अथवा हे कौरव-श्रेष्ठ, इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? श्रीकृष्ण जिसका स्वीकार कर लेते हैं, उसका ऐसा ही भाग्योदय होता है। इसी लिए न देवाधिदेवने अर्जुनसे कहा—"हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें दिव्य-दृष्टि देता हूँ। इसकी सहायतासे तुम मेरा विश्व-रूप देख सकोगे।" अभी यह बात श्रीकृष्णके मुँहसे पूरी तरहसे निकलने भी नहीं पाई थी कि एक दमसे अज्ञानका अन्धकार नष्ट होने लगा। वे श्रीकृष्णके मुखसे निकले हुए अक्षर नहीं थे, बल्कि ब्रह्म-स्वरूपके साम्राज्यका जो दीपक है, उसीकी यह ज्ञान-रूपी ज्योति श्रीकृष्णने अर्जुनके लिए जलाई थी। इसके उपरान्त अर्जुनको अलौकिक ज्ञान-नेत्र प्राप्त हो गये और उन्हीं नेत्रोंमें ज्ञान-दृष्टिके अंकुर उत्पन्न हुए। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको अपने विश्व-रूप-योगका वैभव दिखलाया। ईश्वरके भिन्न-भिन्न अवतार जिस सागरकी तरंगोंके समान हैं, जिसकी किरणोंके योगसे यह विश्व-रूप मृगजलका आभास उत्पन्न करता है, जिस अनादि-सिद्ध, स्वयंभू, समान और सपाट भूमिका पर इस चराचरका चित्र अंकित होता है, वही अपना विश्व-रूप वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्णने उस समय अर्जुनको दिखलाया। एक बार बाल्यावस्थामें जब श्रीकृष्णने मिट्टी खाई थी, तब यशोदाने क्रोधमें आकर उनकी कलाई पकड़ ली थी। इस पर इस बातका प्रमाण देने के लिए कि मेरे मुखमें कुछ भी नहीं है, श्रीकृष्ण ने डरते-डरते, अपनी तलाशी देनेके उद्देश्यसे, अपना मुँह खोला था। उस समय उस मुखमें यशोदाको चौदहों भुवनोंके दर्शन हुए थे। अथवा मधुवनमें एक बार श्रीकृष्णने ध्रुव पर भी ऐसी ही कृपा की थी। ज्योंही उन्होंने उसके गालसे अपना शंख स्पर्श कराया था, त्योंही वह धड़ाधड़ ऐसी बातें कहने लगा था जो वेद भी स्पष्ट रूपसे नहीं जानते। हे धृतराष्ट्र, श्रीकृष्णने अर्जुन पर भी इस समय वैसा ही कृपा की थी। इसी लिए उस समय अर्जुनके लिए मायाका मानों कहीं नाम भी नहीं रह गया था। उस समय एक दमसे प्रभु-स्वरूपकी ऐश्वर्य-प्रभा प्रकट हुई और उसे चारों ओर चमत्कार ही चमत्कार फैला हुआ दिखाई दिया। इससे अर्जुनका चित्त आश्चर्यकी भावनामें लीन हो गया। जिस प्रकार मार्कण्डेयके सम्बन्धकी यह कथा है कि ब्रह्माके सत्य-लोक तक पूरी तरहसे भरे हुए जलमें किसी समय केवल मार्कण्डेय ही तैरता था, उसी प्रकार आज विश्वरूपके महोत्सवमें अकेला अर्जुन ही लोट रहा था। वह कहने लगा—"अरे यहाँ कैसा विस्तृत आकाश था! वह सब कौन कहाँ ले गया? स्थावर और जंगमसे युक्त वह भूत सृष्टि कहाँ चली गई? दिशाओंके चिन्ह भी नष्ट हो गये। ऊपर और नीचेकी कल्पना ही नहीं रह गयी। उसके लिए सृष्टिके आकारका भाव

उसी प्रकार लोप हो गया था, जिस प्रकार जागने पर स्वप्नकी सब बातोंका लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार सूर्यके तेजके प्रभावसे चन्द्रमा और तारे अदृश्य हो जाते हैं, उसी प्रकार जान पड़ता है कि मानों प्रभुके इस विश्व-रूपने सृष्टिकी सारी रचनाको निगल लिया है। उस समय उसके मनका मनत्व भी जाता रहा। बुद्धि अपने आपको सँभाल न सकी और इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ उलटकर हृदयमें भर गईं। उस समय स्तब्धता और एकाग्रताकी परम अवधि हो गई, मानों सभी प्रकारके विचारों पर किसीने मोहनास्त्र-का प्रयोग कर दिया था। जब इस प्रकार आश्चर्यमें लीन होकर अर्जुन कौतुकसे देखने लगा, तब उसे अपने सामने चार हाथोंसे युक्त श्रीकृष्णका कोमल स्वरूप दिखाई पड़ा। परन्तु वही रूप चारों ओर अनेक प्रकारके वेशोंमें दिखाई पड़ रहा था। जिस प्रकार वर्षा कालमें मेघोंके समूह बराबर बढ़ते जाते हैं अथवा महाप्रलयके समय सूर्यका तेज बराबर बढ़ता जाता है, उसी प्रकार उस समय प्रभुके विश्व-रूपने अपने सिवा और कुछ भी बाकी नहीं रहने दिया था। पहले तो आत्म-स्वरूपका इस प्रकार साक्षात्कार होने पर अर्जुन समाधान प्राप्त करके स्तब्ध हो रहा। फिर उसने सहज भावसे आँखें खोलीं तो उसे विश्व-रूपके प्रत्यक्ष दर्शन हुए। अर्जुनके मनमें जो इस बातकी बहुत बड़ी कामना थी कि मैं अपनी इन्हीं आँखोंसे विश्व-रूप देखूँ, सो उसकी वह कामना श्रीकृष्णने इस प्रकार पूरी कर दी।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥१०॥

इस विश्व-रूपमें बहुतसे मुख थे। अर्जुनने प्रभुके ऐसे सुन्दर सुन्दर मुख देखे कि मानों वे लक्ष्मीपतिके राजमन्दिर थे अथवा सौन्दर्य-लक्ष्मीके अनेक भांडार थे अथवा बहारसे भरे हुए आनन्दके वन अथवा लावण्यके साम्राज्य थे। परन्तु इन सुन्दर मुखोंके साथ ही साथ उसने बीच बीचमें बहुतसे ऐसे दूसरे मुख भी देखे जो स्वभावतः बहुत भयंकर थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि मानो काल-रात्रिकी सेना ही उमड़ पड़ी हो अथवा स्वयं मृत्युके मुख निकल आये हों अथवा भयके गढ़ बनाये गये हों अथवा प्रलयकी अग्निके कुण्ड ही खुल गये हों। उस विश्वमूर्तिमें वीर श्रेष्ठ अर्जुनने इस प्रकारके बहुत-से विलक्षण, विकराल और भयंकर मुख भी देखे। पर साथ ही उस मूर्तिमें अलौकिक सजे-सजाये अथवा सौम्य मुख भी असंख्य थे। वास्तव में उस ज्ञान दृष्टिको भी कहीं उन मुखोंका अन्त नहीं दिखाई देता था। फिर अर्जुन बड़े कौतुकसे उस विश्व-रूपके नेत्र देखने लगा। वे नेत्र अनेक प्रकारके विकसित कमलोंके वनके समान थे। इस प्रकार सूर्यके रंगके और ऐसे तेजस्वी नेत्र अर्जुनने देखे। जिस प्रकार कल्पान्तके समय काले रंगके घने मेघ समूहमें बिजलीकी चमक दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार उन काली और टेढ़ी भौंहोंके नीचे अग्निके समान पीले रंगकी दृष्टिकी किरणें शोभा पा रही थीं। इस प्रकार उस एक ही रूपमें भिन्न-भिन्न प्रकारके अनेक चमत्कार देखकर अर्जुनको उस रूपकी अनेकता पूर्ण रूपसे विदित हो गई। वह मन ही मन कहने लगा—"इसके पैर कहाँ हैं, मुकुट कहाँ हैं, और हाथ कहाँ हैं।" इस प्रकार उसका विश्व-रूपके दर्शनोंका अनुराग उत्सुकतासे

बढ़ने लगा। उस अवसर पर अर्जुन मानों सौभाग्यका भांडार ही बन गया था। फिर भला उसका कोई मनोरथ निष्फल कैसे हो सकता था? क्या शंकरके तरकशमें भी कभी व्यर्थ जानेवाले बाण होते हैं? अथवा ब्रह्माकी जिह्वापर कभी कोई मिथ्या बात आ सकती है? बस अर्जुनको तत्काल ही उस अपार मूर्तिके संपूर्ण दर्शन होने लगे। जिनकी थाह वेदोंको भी नहीं लगती, उनका एक एक अंग अर्जुन अपनी दोनों आँखोंसे एक ही समयमें और एक साथ ही देखने लगा। चरणसे मस्तक तक उस स्वरूपका ऐश्वर्य देखते समय अर्जुनको ऐसा जान पड़ा कि वह मूर्ति नाना प्रकारके अलंकारोंसे विभूषित है। वह परब्रह्म-स्वरूप देव अपने शरीर पर धारण करनेके लिए स्वयंही अनेक प्रकारके अलंकार और आभूषण बन गये थे। भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि वे आभूषण कैसे और किसके समान थे? जिस तेजसे चन्द्रमा और सूर्य भी प्रकाशमान् होते हैं, और विश्वके जीवन-रूपी महातेजका जो जीवन-सर्वस्व है, वह तेज ही इस विश्व-रूपका शृंगार था। भला उसका ज्ञान किसकी बुद्धिको हो सकता है? और अर्जुनने देखा कि ऐसा ही तेजस्वी शृंगार देवने धारण किया है। जब अर्जुन ज्ञान-दृष्टिसे उस विश्व-रूपके सरल हाथ देखने लगा, तब उसे उन हाथोंमें ऐसे शस्त्र चमकते हुए दिखाई पड़े कि मानों उनमेंसे कल्पान्तकी ज्वाला ही निकल रही हो। उस समय अर्जुनकी समझमें यह बात आई कि इस रूपमें अंग और अलंकार, हाथ और हथियार, जीव और शरीर की जोड़ियोंमेंकी दोनों वस्तुएँ स्वयं देव ही हैं और इसी ठाटसे देवने सारा स्थावर-जंगम विश्व ठसाठस भरकर व्याप्त कर रखा है। उन हथियारोंकी किरणोंकी प्रबल अग्निमें नक्षत्र मानों भुने जानेवाले चनोंकी तरह फूट रहे थे और उसके तापसे अग्नि मानों घबराकर समुद्रमें घुसनेको तैयार हो रही थी। इसके उपरांत अर्जुनने देवके ऐसे असंख्य हाथ देखे, जिनमें ऐसे शस्त्र थे जो मानों कालकूट विषकी लहरोंमें बुझाये हुए थे अथवा प्रचंड विद्युत्से युक्त थे।

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥११॥

मानों भयभीत होकर ही इन शस्त्र-युक्त हाथोंकी ओरसे अर्जुनने अपनी दृष्टि हटा ली और तब वह प्रभुका गला और मस्तक देखने लगा। जिनसे कल्प-वृक्षोंकी उत्पत्ति हुई थी, जो आत्म-प्राप्तिके आदि स्थान ही हैं और जिनमें थकी हुई लक्ष्मी विश्राम लेती है, वे अत्यन्त स्वच्छ और सुन्दर पुष्प उस गले और मस्तक पर धारण किये हुये दिखाई दिए। मस्तक पर गुच्छे, भिन्न भिन्न अवयवों पर फूलोंके जाल, गजरे और झालरें आदि और गलेमें दिव्य पुष्प-मालाएँ लहरा रही थीं। देवके नितम्बपर पीताम्बर इस प्रकार शोभा दे रहा था कि मालूम होता था कि स्वर्गने सूर्यके तेजका परिधान धारण किया हो अथवा मेरु पर्वत सोनेसे ढक दिया गया हो। जिस प्रकार कर्पूरगौर शंकरको कपूर मला गया हो अथवा कैलाशके धवल गिरि पर पारेका लेप चढ़ाया गया हो अथवा क्षीर सागरको दूधके समान सफेद वस्त्र पहनाया गया हो अथवा चाँदनीकी तह लगाकर आकाश पर उसकी खोली चढ़ाई गई हो, उसी प्रकार चन्दनका

उबटन प्रभुके सारे शरीरमें लगा हुआ दिखाई दिया। जिस सुगन्धसे आत्म-स्वरूपका तेज और भी अधिक प्रकाशमान् होता है, जिससे ब्रह्मानन्दका दाह शान्त होता है, जिससे पृथ्वीको चैतन्य प्राप्त होता है, विरक्त संन्यासी भी जिसकी संगति करते हैं और अनंग मदन भी जो अपने सारे अंगमें लगाता है, उस सुगन्धके महत्वका वर्णन भला कौन कर सकता है? इस प्रकार एक एक शृंगारकी शोभा देखता देखता अर्जुन इतना घबरा गया कि उसे इस बातका भी अच्छी तरह पता नहीं चलता था कि प्रभु खड़े हैं अथवा बैठे हैं अथवा सोये हैं। बाहरके चर्म-चक्षु खोलकर देखने पर सब कुछ देवमूर्त्ति-मय ही दिखाई देता था। और जब वह यह निश्चय करके आँखें बन्द कर लेता था कि मैं इन आँखोंसे देखूँगा ही नहीं, तब अन्दर भी उसे सब कुछ देव-मय ही दिखाई देता था। सामने अपरम्पार मुख दिखाई देते थे, इसलिए जब अर्जुन डरकर पीछेकी ओर देखने लगा, तब उसने देखा कि उधर भी देवके मुख, हाथ और पैर आदि सब कुछ वैसे ही हैं। यदि आँखें खोलकर देखने पर ये सब वस्तुएँ दिखाई पड़ती हों तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? परन्तु सुनने योग्य विलक्षण बात यह है कि न देखनेकी अवस्थामें भी, आँखें बन्द किये रहने पर भी, देवके वही दर्शन होते थे। प्रभु-कृपाकी भी यह कैसी विलक्षण करनी है! अर्जुनकी देखनेकी भी और न देखने की भी दोनों ही क्रियायें नारायणने पूर्ण रूपसे व्याप्त कर रखी थीं और इसी लिए उन दोनों क्रियाओंमें उसे नारायणके दर्शन ही होते थे। जब अर्जुन चमत्कारकी एक बाढ़मेंसे निकलकर जल्दी जल्दी किनारेकी ओर आ रहा था, तब इसी बीचमें वह चमत्कारके एक दूसरे महासागरमें जा पड़ा। इस प्रकार उस अनन्त-स्वरूपी नारायणने अपने दर्शन-की अलौकिक सामर्थ्यसे अर्जुनको बिलकुल घबरा दिया। प्रभु तो स्वभावतः ही विश्वतो-मुख (अर्थात् सर्वव्यापी) हैं; और तिस पर अर्जुनने उनसे यह प्रार्थना की थी कि आप मुझे अपना विश्व-रूप दिखलावें; इसलिए देव स्वयं ही सारे विश्वका रूप धारण करके उसके सामने प्रकट हुए थे। और फिर नारायण ने अर्जुनको कोई ऐसी स्थूल दृष्टि तो दी ही नहीं थी कि यदि दीपक अथवा सूर्यका प्रकाश हो, तभी उसे दिखाई पड़े; और यदि दीपक अथवा सूर्यकी सहायता न प्राप्त हो तो उस दृष्टि से दिखाई ही न पड़े। अतः हे राजा धृतराष्ट्र, आप यह बात ध्यानमें रखें कि अर्जुन चाहे अपनी आँखें बन्द रखता और चाहे खुली रखता, दोनों ही अवस्थाओंमें अर्जुनके लिए देखनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं था।" यही बात हस्तिनापुरमें संजय राजा धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं। संजय-ने फिर कहा—"हे राजन्, और नहीं तो कम से कम इतना तो आप अवश्य ध्यानमें रखें कि अर्जुनने प्रभुका विश्व-रूप देखा और वह रूप अनेक प्रकारके अलंकारोंसे भरा हुआ होने पर भी सर्वव्यापी था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

"हे राजन्, मैं क्या बतलाऊँ कि विश्व-रूपके उन अंगों की कान्तिका अद्भुत दृश्य कैसा और किसके समान था! महाप्रलयके समय बारह सूर्य एकत्र होते हैं। यदि

उस प्रकारके हजारों दिव्य सूर्य एक साथ उदय हों तो भी उन्हें उस विश्व-रूपके तेजकी महिमाकी थाह नहीं लग सकती। यदि विश्वकी सारी विद्युत् एकत्र की जाय और कल्पान्तकी अग्निका सारा मसाला एकत्र किया जाय और उनमें प्रसिद्ध दस महातेज भी सम्मिलित कर दिये जावें तो कदाचित् उस विश्व-रूपकी अंग-प्रभाके तेजके सामने वे कुछ अल्प-से ही सिद्ध होंगे; परन्तु ऐसा तेज कदाचित् कहीं न मिलेगा जो ठीक तरहसे उसका पासंग भी ठहरे। इस प्रकारका अपार महत्व इन श्रीकृष्णमें स्वाभाविक ही है। उनके सर्वाङ्गका सर्वत्र फैलनेवाला तेज जो मुझे देखनेको मिला, वह महामुनि व्यासकी ही कृपाका फल है।"

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥१३॥

उसी विश्व-रूपके एक कोनेमें यह सारा जगत् अपने सम्पूर्ण विस्तारके सहित उसी प्रकार पड़ा हुआ था, जिस प्रकार महासागरमें भिन्न-भिन्न बुलबुले दिखाई देते हैं, किंवा आकाशमें भिन्न-भिन्न मेघ होते हैं, अथवा जमीन पर च्यूँटियोंके बने हुए घर होते हैं अथवा मेरु पर्वत पर बहुतसे परमाणु रहते हैं। बस ठीक इसी प्रकार सम्पूर्ण विश्व उन देव-देवके शरीरमें उस समय अर्जुन देख रहा था।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृतांजलिरभाषत ॥१४॥

अर्जुनके मनमें उस समय तक जो इस प्रकारका थोड़ा-सा भेद-भाव बचा रह गया था कि यह विश्व एक अलग वस्तु है और मैं उससे भिन्न दूसरी वस्तु हूँ, सो वह भेद-भाव भी अब नष्ट हो गया और अर्जुनका अन्तःकरण बिलकुल द्रवित हो गया। उसके अन्दर आनन्दका संचार हुआ और बाहरी शरीरके अवयवोंका बल तत्काल बिलकुल नष्ट हो गया और नखसे लेकर शिखा तक सारे शरीरमें रोमांच हो आया। जिस प्रकार बरसातके पहले झोंकेमें पानी बह जानेके बाद पर्वतके सब भाग कोमल तृणोंके अंकुरोंसे आच्छादित हो जाते हैं, उसी प्रकार अर्जुनके सारे शरीर पर रोमांचके अंकुर निकल आये। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंके स्पर्शसे चन्द्रकान्त मणि द्रवित होती है, उसी प्रकार उसका शरीर पसीनेकी बूँदोंसे भर गया। कमलके कोशमें बन्द हो जानेवाले भौंरेके हिलने-डुलनेसे जिस प्रकार कमलकी कली पानी पर हिलने लगती है, अन्तःकरणमें सुखकी लहरें उठनेके कारण बाहरसे उसका शरीर भी उसी प्रकार थरथर काँपने लगा। जिस प्रकार कपूर-कदलीके दल खोलने पर उसमें दबे हुए कपूरके कण निकलकर गिरने लगते हैं, उसी प्रकार अर्जुनकी आँखोंसे टपाटप आँसुओंकी बूँदें गिरने लगीं। चन्द्रमाका उदय होने पर जिस प्रकार भरा हुआ समुद्र और भी अधिक भर जाता है, उसी प्रकार अर्जुनभी आनन्दकी लहरोंसे और भी अधिक भर गया। इस प्रकार आठों सात्विक भाव मानों परस्पर प्रतिद्वन्द्विता करते हुए अर्जुनके अंगोंमें भर गये जिससे उसके जीवको ब्रह्मानन्दका साम्राज्य प्राप्त हो गया। परन्तु इस प्रकारके आत्मानन्दके अनुभवके उपरान्त भी उसकी दृष्टिमें देव और भक्तके द्वैत-भावका अस्तित्व बना ही रहा। इसीलिए अर्जुनने एक ठंडी

साँस लेकर इधर-उधर देखा; और जिस ओर श्रीकृष्ण बैठे हुए थे, उस ओर उसने प्रभुको नमस्कार किया और तब हाथ जोड़कर उसने कहना आरम्भ किया।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥

अर्जुन कहता है—"हे प्रभो, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। सचमुच आपने मुझ पर बहुत ही विलक्षण कृपा की है, क्योंकि उसी कृपाके कारण आज मुझ सरीखे सामान्य जीवको भी यह अद्भुत विश्व-रूप देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। परन्तु महाराज, आपने यह बहुत ही अच्छा काम किया है; और मुझे भी इससे बहुत सन्तोष हुआ है, क्योंकि आज मुझे यह बात प्रत्यक्ष रूपसे दिखाई पड़ी है कि आप ही इस सृष्टिके आधार हैं। हे देव, जिस प्रकार मन्दार पर्वतके पठार पर जगह जगह वनचर पशुओंके दल एकत्र रहते हैं, उसी प्रकार चौदहों भुवनोंके अनेक संघ आपके शरीर पर लटके हुए दिखाई देते हैं। आकाशके विस्तारमें जिस प्रकार तारोंके समूह रहते हैं अथवा किसी विशाल वृक्षमें जिस प्रकार अनेक पक्षियोंके घोंसले लटकते रहते हैं, उसी प्रकार, हे नारायण, आपके इस विश्वमय शरीरमें स्वर्ग और उसमेंके देवगण मुझे दिखाई पड़ रहे हैं। हे प्रभो, इस शरीरमें महाभूतोंके अनेक पंचक और भूत सृष्टिका प्रत्येक भूत-समुदाय मुझे दिखाई दे रहा है। हे महाराज, आपके सारे शरीरमें सत्य-लोक है; फिर भला यह कैसे हो सकता है कि उसमें दिखाई पड़नेवाले ब्रह्मा न हों? यदि दूसरी ओर देखा जाय तो कैलाश भी दिखाई देता है। हे देव, आपके शरीरके एक छोटेसे कोने में गौरी के सहित श्रीशंकर भी दिखाई पड़ते हैं। केवल यही नहीं, हे नारायण, स्वयं आप भी अपने इस विश्व-रूपमें दिखाई देते हैं। इसमें कश्यप आदि समस्त ऋषियोंके कुल और नाग-समुदायके सहित पाताल भी दिखाई देता है। संक्षेपमें यह कि, त्रिभुवन-नाथ, आपके रूपके एक एक अवयवकी भीति पर चौदहों भुवनोंके चित्र अंकित दिखाई पड़ते हैं। इन भुवनोंके प्रत्येक प्रकारके लोक भी इसमें चित्रित दिखाई देते हैं। इस प्रकार आपके अगाध महत्वकी अलौकिकता आज मुझे दिखाई पड़ रही है।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥

"इस दिव्य दृष्टिकी सहायतासे जो मैं चारों ओर देखता हूँ तो मुझे यह दिखाई पड़ता है कि आपके बाहु-दंडोंसे आकाशके अंकुरोंके समान आपके अनेक अग्रहस्त निकले हुए हैं और उनमेंसे प्रत्येक अग्रहस्त सब प्रकारके व्यवहार तथा कार्य कर रहे हैं। जिस प्रकार अव्यक्त ब्रह्मके विस्तारमें अनेक ब्रह्मांडोंके भांडार खुले हुए दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकारके आपके ये अपार उदर मुझे ज्ञात पड़ते हैं। इस शरीरमें एकही समयमें सहस्रशीर्षत्वकी करोड़ों आवृत्तियाँ होती हैं; और ऐसा ज्ञात पड़ता है कि मानों परब्रह्म रूपी वृक्षमें ये हजारों मस्तक रूपी फल अपने भारसे हिल रहे हैं। हे विश्व-रूप देव, इस प्रकारके आपके जितने मुख हैं, वे सब मुझे दिखाई पड़ रहे हैं और उनमेंकी

आँखोंके रंगोंके अनेक समुदाय भी मैं देख रहा हूँ। केवल इतना ही नहीं, स्वर्ग, पाताल, भूमि, दिशा और आकाश आदि सभी बातोंका यहीं अन्त हो जाता है और सब यहीं मूर्तिमान् ही दिखाई देते हैं। मैं चाहता हूँ कि परमाणुके बराबर भी कोई ऐसा अवकाश दिखाई पड़े जिसमें आपका निवास न हो; परन्तु मेरा यह प्रयत्न व्यर्थ हो रहा है, क्योंकि आपने सभीको ओतप्रोत रूपसे व्याप्त कर रखा है। अनन्त प्रकारके इतने महाभूत इसमें एकत्र हैं जिनके विस्तारकी गणना ही नहीं हो सकती; और हे अनन्त देव, उनका वह सारा विस्तार आपमें ही समाया हुआ दिखाई देता है। इस प्रकारका महत्व रखनेवाले आप कहाँसे आये, आप यहाँ बैठे हैं अथवा खड़े हैं, आप किस माताके गर्भमें थे, आपका स्थान कितना बड़ा था, आपका रूप कैसा है, आपकी अवस्था कितनी है, आपके उस पार और क्या है, और आपका मूल आधार क्या है, आदि सब बातें जब मैं देखने और विचारने लगा तो मुझे यही दिखाई पड़ा और यही समझमें आया कि आप स्वयं ही अपने मूल आधार हैं और आपकी उत्पत्ति किसी दूसरेसे नहीं हुई है। इस प्रकार आप अनादि और स्वयं-सिद्ध हैं। आप न तो खड़े ही हैं और न बैठे ही हैं। आप न ऊँचे ही हैं और न ठिगने ही हैं। नीचे, तल पर और ऊपर, हे प्रभु, सब जगह आप ही हैं। हे देव, अपना रूप, तारुण्य, पीठ और पेट सब कुछ स्वयं आप ही हैं। मैं और अधिक क्या कहूँ; हे अनन्त देव, बार बार देखने पर मुझे यही ज्ञात पड़ता है कि अपना सब कुछ आप ही हैं। परन्तु प्रभु, आपके रूपमें केवल एक कमी दिखाई देती है; और वह यह कि उसमें आदि, मध्य और अन्त इन तीनोंमें एक भी कहीं दिखाई नहीं पड़ता। आप सभी स्थानोंमें व्याप्त हैं; परन्तु इसका पता कहीं नहीं लगता। इसी लिए यहाँ निश्चित रूपसे यह निर्णय होता है कि आपमें ये तीनों बातें बिलकुल नहीं हैं। इस प्रकार, हे आदि, मध्य और अन्तसे रहित अनन्त विश्वनाथ, मैंने सचमुच आपका विश्व-रूप देख लिया है। हे देव, आपकी इस प्रचंड मूर्तिमें ही भिन्न भिन्न सभी मूर्त्तियाँ प्रतिबिम्बित हैं और ऐसा ज्ञात पड़ता है कि आपने अनेक रंगोंके ये अँगरखे ही पहन रखे हैं। अथवा ऐसा ज्ञात पड़ता है कि ये भिन्न भिन्न मूर्त्तियाँ आपके शरीर-रूपी महापर्वत पर निकली हुई बेलें ही हैं और वे दिव्य अलंकार रूपी फूलों और फलोंसे भरी हुई हैं। अथवा हे देव, ऐसा ज्ञात पड़ता है कि आप महासागर हैं और इन मूर्ति-रूपी तरंगोंसे हिल रहे हैं अथवा आप कोई विशाल वृक्ष हैं और ये मूर्त्तियाँ उस वृक्षमें फलोंके समान लगी हैं। हे प्रभो, जिस प्रकार भूत मात्रसे भरा हुआ पृथ्वी-तल दिखाई पड़ता है अथवा नक्षत्रोंसे भरा हुआ आकाश होता है, उसी प्रकार अनन्त मूर्तियोंसे भरा हुआ आपका स्वरूप दिखाई देता है। जिन मूर्तियोंमेंसे एक एक मूर्तिके अंगोंसे सम्पूर्ण त्रिभुवन उत्पन्न होते हैं और साथ ही उन्हींके कारण लयको भी प्राप्त होते हैं, वे सब मूर्तियाँ आपके शरीर पर मानों रोमोंके समान दिखाई देती हैं। अब यदि मैं यह जानना चाहूँ कि इतना अधिक विस्तार रखनेवाले आप हैं कौन, तो मुझे यह पता चलता है कि आप मेरे ही सारथी श्रीकृष्ण हैं। अतः हे मुकुन्द, विचार करने पर मुझे ऐसा ज्ञात पड़ता है कि आप सदा ऐसे ही व्यापक

रहते हैं, परन्तु केवल भक्तके प्रेमके कारण इस प्रकारका प्रेममय और मधुर रूप धारण करते हैं। वह चार भुजाओंवाला साँवला स्वरूप देखते ही मन और नेत्र सभी शीतल हो जाते हैं; और यदि आलिंगन करनेके लिए हाथ आगे बढ़ाये जायें तो वह रूप सहजमें प्राप्त भी हो जाता है। हे विश्व-रूप देव, इस प्रकारका सुन्दर रूप आप मुझपर कृपा करनेके लिए ही धारण करते हैं न ? अथवा मेरी वह दृष्टि ही दूषित है जिसे आप ऐसे सामान्य और मधुर दिखाई देते हैं ? जो हो, परन्तु अब तो मेरी दृष्टिका मल बिलकुल दूर हो गया है और आपने सहजमें ही मेरे नेत्रोंको दिव्य-प्रकाशमय कर दिया है; और इसी लिए मैं आपकी वास्तविक महिमाका ठीक ठीक स्वरूप देख सका हूँ। आज मुझे स्पष्ट रूपसे इस बातका पता चल गया है कि मेरे रथके जूएके मकराकार मुखके पीछे-की ओर बैठनेवाले आप ही का यह सारा विश्व-रूप है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

"इतना ही नहीं, हे श्रीकृष्ण, आपके सिर पर इस समय भी वही मुकुट है जो सदा रहता है, परन्तु उसकी इस समयकी प्रभा और विशालता कुछ विलक्षण ही है। और इस ऊपरवाले हाथमें आप उसी प्रकार चक्र धारण किये हुए हैं कि मानों अभी उसे चलाना ही चाहते हैं। हे विश्व-रूप, परन्तु जो बात इसमें पहले सदा दिखाई देती थी, वह इस समय नहीं है। दूसरी ओर जो यह गदा है, क्या यह वही पुरानी और पहचानी हुई नहीं है ? और नीचेके ये दोनों शस्त्र-हीन और खाली हाथ घोड़ोंकी लगाम पकड़ने-के लिए आगे बढ़ रहे हैं। और हे विश्वनाथ, अब यह बात भी मेरी समझमें आ गई है कि मेरे इच्छा करते ही और उतने ही वेगसे जितना वेग उस इच्छामें था, आप एक दमसे विश्व-रूप हो गये। परन्तु यह कितना प्रचंड और अद्भुत चमत्कार है! यह देख-कर चकित होनेके लिए विस्मयके जितने बलकी आवश्यकता होती है, उतना बल भी मुझमें नहीं है। यह आश्चर्य देखकर चित्त बिलकुल पागल हो ही जाता है। मनमें इस बातका भी कुछ ठीक ठीक निश्चय नहीं होता कि यह विश्व-रूप यहाँ है अथवा नहीं है। इस मूर्त्तिकी प्रभाकी नवलताका भला मैं क्या वर्णन करूँ! यह सारा विश्व-समु-दाय इसमें किस प्रकार भरा हुआ रखा है! इस तेजकी विलक्षण प्रखरताका ऐसा चमत्कार है कि इसके सामने अग्निकी दृष्टि भी झप जाती है और सूर्य भी खद्योतके समान फीका पड़ जाता है। इस प्रचंड तेजके सागरमें मानों सारी सृष्टि डूब गई है अथवा कल्पान्त कालकी विद्युत्‌ने सारा आकाश व्याप्त कर रखा है, अथवा विश्व-प्रलयके समयकी अग्नि-ज्वालाको तोड़-मरोड़कर मानों हवामें यह ऊँचा मंडप बनाया गया है। मेरी दिव्य ज्ञान-दृष्टिसे भी यह दृश्य देखा नहीं जाता। इसकी दैदीप्यमान प्रभा प्रति क्षण इतनी बढ़ रही है और इसका तेज तथा दाहकता इतना विलक्षण है कि इसकी ओर देखने पर दिव्य नेत्र भी घबरा जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि महारुद्रके तीसरे नेत्रमें महाप्रलय करनेवाला अग्निका जो भांडार गुप्त था, वही मानों उस नेत्रकी कली खोलकर बाहर निकल पड़ा है। इस प्रकार फैले हुए दाहक प्रकाशमें पंचाग्निकी ज्वाला-

के भँवर उठते ही मानों सारा ब्रह्मांड कोयला हो रहा है। हे देव, आपका इस प्रकार-का अद्भुत पुंजवाला स्वरूप मैंने आज बिलकुल विलक्षण और नया ही देखा है। आपकी व्यापकता और तेजस्विताकी सीमा ही नहीं दिखाई देती।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥१८॥

"हे देव, वेद जिसे ढूँढनेका प्रयत्न करते हैं, वह अक्षर और ओंकारकी साढ़े तीन मात्राओंके उस पारकी वस्तु आप ही हैं। जो सब आकारोंका मूल है और जिसमें सारा विश्व समाया हुआ है, वह अक्षय, गूढ़ और नाश-रहित तत्व आप ही हैं। आप ही धर्म-के जीवन हैं, स्वयं-सिद्ध तथा अविकृत हैं और सारे विश्वके नियन्ता हैं। आप ही छत्तीस तत्त्वोंसे आगेके सैंतीसवें तत्त्व हैं। आज यह बात मेरी समझमें आई है कि जिसे पुराण-पुरुष कहते हैं, वह आप ही हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥

"आप आदि मध्य और अन्त सबसे रहित हैं, आप स्वयं-सिद्ध और अपार हैं और आपकी बाँहें तथा पैर विश्वव्यापी हैं। चन्द्रमा और सूर्य दोनों आपके नेत्र हैं और उनकी कृपा तथा कोपके खेल बराबर होते रहते हैं। आप किसी पर क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए उसपर कोप करते हैं और किसी पर अपनी कृपा-दृष्टिकी छाया करते हैं। हे देव, आपका इस प्रकारका स्वरूप ठीक तरहसे मैं ही देख रहा हूँ। आपका यह मुख मानों प्रलय-कालकी भड़की हुई अग्निका भांडार ही है। पर्वतों पर फैलनेवाली दावाग्निमेंसे जिस प्रकार वस्तु मात्रको जलाती हुई ज्वालाकी लपटें निकलती हैं, उसी प्रकार आपकी जीभ दाढ़ोंको चाटती हुई दाँतोंमें लपलपा रही है। इस मुखके दाह और सारे शरीरके तेजसे यह सारा विश्व उत्तप्त होनेके कारण अत्यन्त क्षुब्ध हो रहा है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

"और मुझे दिखाई दे रहा है कि स्वर्ग, पाताल, पृथ्वी, अन्तराल, दसों दिशाएँ और चारों ओर छाये हुए क्षितिजके वर्तुल, सबको आपने सहजमें व्याप्त कर रखा है। परन्तु आकाशके सहित इन सबको इस भयानक रूपने मानों निगल रखा है। अथवा आपके इस रूपके अद्भुत रसकी लहरोंमें चौदहों भुवन आ पड़े हैं। फिर भला इस प्रकारके अद्भुत दृश्यका मेरी बुद्धि किस प्रकार आकलन कर सकती है ? यह विलक्षण व्यापकता किसी प्रकार मर्यादित नहीं की जा सकती और तेजकी यह प्रखरता सहन नहीं की जा सकती। जगतका सुख तो दूर रहा, वह प्राण-धारण ही बहुत कठिनतासे कर रहा है। हे देव, यह बात भी अच्छी तरह समझमें नहीं आती कि आपका यह स्वरूप देखकर भयकी बाढ़ क्यों आ जाती है। अब इस दुःखकी लहरोंमें तीनों भुवन डूबे जा रहे हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो आपके इस माहात्म्यके दर्शनमें भयका मिश्रण होनेकी क्या आवश्यकता है ? परन्तु आपके दर्शनके जिस गुणका अनुभव मुझे हो रहा

है, इसमें सन्देह नहीं कि उसमें सुख बिलकुल नहीं है। जब तक आपका रूप दिखलाई नहीं पड़ता, तभी तक जगतको सांसारिक सुख मधुर जान पड़ता है। परन्तु अब आपके विश्व-रूपके दर्शन हो जाने पर विषयकी इच्छाकी ओरसे विराग हो गया है और मनमें उद्वेग उत्पन्न हुआ है। आपका यह रूप देखने पर क्या आपको प्रेमपूर्वक आलिंगन किया जा सकता है? और यदि इस प्रकार आलिंगन न किया जा सकता हो तो फिर कोई इस शोक-संकटमें रह ही कैसे सकता है? और यदि आपको छोड़कर कोई पीछे हटता है तो यह जन्म-मरणका अपरिहार्य-संसार मुँह बाए हुए सामने खड़ा दिखाई देता है और उसे पीछे भी नहीं हटने देता। और यदि वह आगे बढ़े तो आपका यह अद्भुत और अतर्क्य रूप सहन नहीं होता। इस प्रकार बीचमें ही संकटमें पड़ा हुआ बेचारा त्रिभुवन कष्ट पा रहा है। इस समय मेरे अन्तःकरणकी ठीक ठीक यही अवस्था हुई है। जैसे कोई आगसे जल जाय और अपने शरीरकी जलन दूर करनेके लिए समुद्र-की ओर जाय और वहाँ समुद्रमें उठनेवाली लहरें देखकर और भी अधिक भयभीत हो तथा घबरा जाय। बस ठीक वही दशा इस संसारकी भी हो रही है। वह आपके दर्शन-से केवल तलमला रहा है।

अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः॥२१॥

"वह देखिये, इसी स्वरूपमें उस ओर देवताओंके बड़े बड़े जमाव हैं। ये आपकी अंग-प्रभासे अपने कर्मोंके बीज नष्ट करके और आपका सद्रूप प्राप्त करके आपके स्वरूपमें लीन हो रहे हैं। और इधर कुछ ऐसे हैं जो स्वभावतः डरे हुए हैं और ये सब प्रकारसे आपकी ओर प्रवृत्त होकर और दोनों हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहे हैं। वे प्रार्थना करते हैं—'हे प्रभो, हम लोग माया-सागरमें पड़े हुए हैं, विषयोंके जालमें फँसे हुए हैं और स्वर्ग तथा संसारके बीचकी विषम अवस्थामें जकड़े हुए हैं। अब आपके सिवा इस संकटसे हमारी रक्षा और कौन कर सकता है? इस लिए हम लोग शुद्ध हृदयसे और सब प्रकार-से आपकी शरणमें आये हैं।' बस इसी प्रकारकी बातें वे देवता आपसे कह रहे हैं। और इधर यह महर्षियों अथवा सिद्धों और अनेक विद्याधरोंके समुदाय "स्वस्ति-वचन" का उच्चारण करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

"रुद्रों और आदित्योंके समूह, आठों वसु, एकसे एक बढ़कर साध्य देव दोनों अश्विनी-कुमार, विश्वदेव और वायु-देव ये सब अपने वैभव सहित और पितृ, देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और इन्द्र आदि देवता तथा सिद्ध आदि भी अपने अपने स्थानसे उत्सुक दृष्टिसे आपकी यह दैदीप्यमान तथा विशाल आकृति देख रहे हैं। और देखते देखते अपने हृदयमें विस्मयपूर्ण होकर अपने मस्तक, हे प्रभो, आपके चरणों पर रख रहे हैं। वे अपने जय-जय शब्दके घोषसे सातों स्वर्गोंको गुँजा रहे हैं और दोनों हाथ जोड़कर अपने मस्तक पर रख कर आपको नमस्कार कर रहे हैं। इस विनय-वृक्षोंके वनमें सात्विक भावोंका वसन्त-काल

सुशोभित हो रहा है और उनके इन जोड़े हुए हस्त रूपी पल्लवोंमें आपका रूप-फल आपसे आप लटक रहा है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

"आज इनके नेत्रोंके भाग्य जागे हैं और मनके लिए सुखका सु-समय आया है, क्योंकि इन्होंने आज आपके विश्व-रूपके दर्शन किये हैं। तीनों लोकोंको व्याप्त करनेवाला आपका यह रूप देखकर देवता लोग भी चौंक पड़ते हैं; परन्तु आज उस स्वरूपके दर्शनों-का सौभाग्य एक पामर को भी प्राप्त हो रहा है। इस प्रकारका यह रूप एक ही है, परन्तु नाना प्रकारके भयंकर मुखों, अनेक नेत्रों, शस्त्र धारण करनेवाले असंख्य हाथों, असंख्य जाँघों, असंख्य बाहुदण्डों और चरणों, अनेक उदरों तथा नाना वर्णोंसे युक्त यह स्वरूप है। प्रत्येक मुखमें कैसा आवेश भरा हुआ है! मानों विश्व-प्रलयके अन्तमें सन्तप्त यमने जहाँ-जहाँ प्रलयाग्निकी भट्ठियाँ सुलगा रखी हैं अथवा ये विश्वका संहार करनेवाले रुद्रके शस्त्रास्त्र अथवा प्रलय उपस्थित करनेवाले भैरवोंकी टोलियाँ अथवा ऐसे पात्र हैं जिनमें भूत मात्रकी खिचड़ी पकानेकी शक्ति है। बस, हे प्रभो, ठीक इसी प्रकार आपके प्रचंड मुख चारों ओर दिखाई दे रहे हैं, जिस प्रकार कोई विशाल सिंह गुफामें न समाता हो और उसकी क्रोध-पूर्ण मुद्रा गुफाके बहुत कुछ बाहर दिखाई पड़ती हो, उसी प्रकार आपके उग्र-दाँत मुखके बाहर निकले हुए दिखाई देते हैं। जिस प्रकार घोर अन्धकार-पूर्ण रात्रिका आश्रय लेकर घातकी पिशाच बड़े आनन्दसे संचारके लिए बाहर निकलते हैं, उसी प्रकार प्रलयके संहारके रक्तसे सनी हुई आपकी दाढ़ें मुखसे बाहर निकल रही हैं। केवल इतना ही नहीं, आपके मुख पर भयंकरता इस प्रकार दिखाई पड़ रही है कि मानों कालने युद्धको निमंत्रण दिया हो अथवा प्रलयने मृत्युका पोषण किया हो। इस बेचारी दीन भूत-सृष्टि पर जब आपकी जरा सी भी दृष्टि पड़ जाती है, तब वह उसी प्रकार दुःखसे त्रस्त दिखाई पड़ती है जिस प्रकार यमुनाके तट पर कालिय-विषसे त्रस्त वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। आप मानों महामृत्युके सागर हैं और उसमें यह त्रिभुवनके जीवन-की नौका शोकके बादलोंसे घिरी हुई और आँधीमें पड़ी हुई बराबर हिल रही है। हे महाराज, यदि इस पर भी आप क्रुद्ध होकर यह कहें कि—"तुम्हें इन लोगोंके लिए इतनी चिन्ता करनेकी क्या आवश्यकता है? तुम आनन्दसे इस विश्वरूपके दर्शनका सुख भोगो।" तो हे देव, इसके उत्तरमें मेरा निवेदन यह है कि मैंने इन लोगोंकी कहानीको ढाल व्यर्थ ही बीचमें रख ली है। और यदि आप पूछें कि मैंने ऐसा क्यों किया है, तो इसका कारण यह है कि मारे भयके स्वयं मेरे ही प्राण थरथर काँप रहे हैं। यह ठीक है कि मुझसे संहार करनेवाला रुद्र भी डरता है और मेरे भयसे स्वयं यम भी छिप जाता है; पर वही मैं इस अवसर पर थरथर काँप रहा हूँ। इस समय आपने मेरी ऐसी ही अवस्था कर रखी है। परन्तु हे दयालु प्रभो, सबसे बढ़कर विलक्षण बात यह है कि चाहे इसका नाम विश्व-रूप भले ही हो, परन्तु वास्तवमें यह एक महामारी ही है। इसने अपनी भयंकरतासे स्वयं भयको भी हार मनवा दी है।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो॥२४॥

"आपके ऐसे अनेक रागपूर्ण मुख हैं जो भयंकरतामें महाकालसे भी स्पर्धा करते हैं। इनके विस्तारके आगे आकाश भी तुच्छ प्रतीत होता है। इनमेंसे वह जलती हुई भाप निकल रही है, जो गगनके विस्तारमें भी नहीं समा सकती और जिसे त्रिभुवनके पवन भी घेर और रोक नहीं सकते; और वह भाप स्वयं अग्निको भी जला रही है। फिर सब मुख एकसे नहीं हैं और उनमें वर्ण-भेद है। ऐसा जान पड़ता है कि प्रलय-कालकी अग्नि विश्वका संहार करनेके लिए मानों इन्हींकी सहायता लेती है। जिस स्वरूपके शरीरकी तेजस्विता इतनी अधिक है कि उसके सामने त्रिभुवन जलकर भस्म हो सकते हैं, उसी स्वरूपमें ये सब मुख हैं और उन मुखोंमें भी ऐसे विशाल और दृढ़ दांत और दाढ़ें हैं। मानों वायुको ही धनुर्वात हो गया हो अथवा स्वयं समुद्र ही किसी बहुत बड़ी बाढ़में पड़ गया हो अथवा बड़वानलको साथ लेकर विषाग्नि ही संहार करनेके लिए उद्यत हुई हो अथवा हलाहल विष अग्निको भक्षण कर रहा हो अथवा सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक रूपमें मृत्युको ही किसी दूसरी मृत्युकी सहायता प्राप्त हुई हो; बस इसी प्रकार इस सर्व-संहारक तेजमें ये मुख निकले हुए जान पड़ते हैं। और मैं क्या बतलाऊँ कि ये मुख कितने बड़े हैं! ऐसा जान पड़ता है कि मानों अन्तरालने टूटकर आकाशको चारों ओरसे घेर लिया हो; अथवा पृथ्वीको बगलमें दबाकर हिरण्याक्ष बिलमें घुसा हो या पातालके महादेवने पातालकी गुफा खोल दी हो। बस इसी प्रकारका इन मुखोंका विस्तार है। और ऐसे मुखोंमें जीभोंकी भयंकरता तो और भी विलक्षण है। ऐसा जान पड़ता है कि यह मूर्त्ति समझती है कि यह सारा विश्व मेरे लिए एक पूरा कौर भी नहीं है और इसी लिए वह कौतुकसे ही इसे निगल नहीं रही है। जिस प्रकार पातालके नागोंकी फुफकारसे विषकी ज्वाला आकाश तक जा पहुँचती है, उसी प्रकार इस फैले हुए मुखके गुफा सरीखे जबड़ेमें यह जीभ दिखाई पड़ती है। जिस प्रकार प्रलय-कालकी विद्युतके जालमें गन्धर्व-नगरमेंके मेघोंके समूह सजे हुए दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार इन होठों पर चमकनेवाली ये टेढ़ी-तिरछी दाढ़ें दिखाई देती हैं। और इस ललाट-पट परकी आँखें तो मानों स्वयं भयको भी भय दिखलाकर उसे दबा रही हैं। ऐसा जान पड़ता है कि महामृत्युके दल घोर अन्धकारमें छिपे हुए बैठे हैं। हे देव, ऐसा भयंकर स्वांग बनाकर आप कौन सा कार्य सिद्ध करना चाहते हैं? और तो कुछ मेरी समझमें नहीं आता, पर यह बात बिलकुल ठीक है कि मुझे अपने मरणका अवश्य भय हो रहा है। हे देव, आपके विश्व-रूपके दर्शन करनेकी जो मैंने कामना की थी, उसका यथेष्ट फल मुझे मिल गया। हे महाराज, आपके दर्शन मुझे हो चुके और अब मेरे नेत्र यथेष्ट तृप्त हो गये हैं। यदि यह जड़ शरीर न रह जाय तो इससे मेरी कोई विशेष क्षति नहीं है; परन्तु अब तो मुझे इस बातकी चिन्ता हो रही है कि मेरा यह चैतन्य भी बचता है या नहीं। और यदि यह बात न हो और भयसे केवल शरीर ही काँपे, क्षण भरके लिए मन भी बहुत अधिक सन्तप्त हो अथवा बुद्धि भी कदाचित् कुछ

देरके लिए भयभीत हो जाय, अथवा अभिमान भी विस्तृत हो जाय, परन्तु इन सबसे भी और जो केवल आनंदकी मूर्त्ति ही है, वह मेरी निश्चल अन्तरात्मा भी आज सिहिर उठी है। इस साक्षात्कारका कैसा चमत्कार है! मेरा सारा बोध आज जाता रहा। अब कौन कह सकता है कि यह गुरु-शिष्यवाला सम्बन्ध भी किस प्रकार बना रह सकेगा! हे देव, आपके इस स्वरूपके दर्शनसे मेरे चित्तमें जिस दुर्बलताका आवि-र्भाव हुआ है, उसे सँभालनेके लिए मैं उस पर धैर्यका जो आवरण डालना चाहता हूँ, तो मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरा सारा धैर्य ही नष्ट हो गया है, क्योंकि उस धैर्यको भी आपके इस विश्व-रूपके दर्शन हो गये हैं। परन्तु जो हो; फिर भी मुझे एक बहुत अच्छा उपदेश अवश्य मिला है। वह उपदेश यह है कि जीव - विश्राम प्राप्त करनेकी इच्छासे इधर-उधर अनेक प्रकारसे भटकता फिरता है, परन्तु उस बेचारेको यहाँ आकर कोई थाह ही नहीं मिलती। इस प्रकार इस विश्व-रूपकी महामारीसे इस चराचरका जीवन नष्ट हो गया है। हे देव, यदि मैं ये सब बातें न कहूँ तो मैं शान्त कैसे रह सकता हूँ?

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास॥२५॥

"जिस प्रकार कोई महाभयंकर घड़ा फूटकर निरन्तर आँखोंके सामने दिखाई पड़ता रहे, उसी प्रकार आपके ये महाविकट और प्रचंड मुख मुझे अपने सामने फैले हुए दिखाई देते हैं। केवल यही नहीं, उनमें दाँतों और दाढ़ोंका विलक्षण जमाव होनेके कारण और होंठोंकी आड़में उनके न समा सकनेके कारण दोनों होठों पर मानों अनेक प्रलयकारक शस्त्रोंकी बाढ़ सी लगी है। जिस प्रकार तक्षकको नवीन विष प्राप्त हो अथवा काली और अँधेरी रातमें भूत संचार करें अथवा अग्निके अस्त्र पर विद्युतका पुट चढ़े, ठीक उसी प्रकार आपके भयंकर मुखमें भरा हुआ आवेश बाहर निकल रहा है; और ऐसा जान पड़ता है कि इस आवेशके रूपमें हम लोगों पर मृत्युकी लहर ही आ रही है। जिस समय विश्वका संहार करनेवाली प्रचंड वायु और महाकल्पान्त करने-वाली प्रलयाग्निका मेल होता है, उस समय भला ऐसी कौन सी वस्तु हो सकती है जो उन दोनोंके योगसे जल न जाय? इसी प्रकार आपके ये भयंकर वदन देखकर भला मेरा धैर्य मुझे छोड़कर क्यों न चला जाय? इस समय मैं इतना अधिक भ्रान्त हो गया हूँ कि मुझे दिशाएँ भी नहीं दिखाई पड़तीं और स्वयं अपना भी भान नहीं होता। मैंने अभी आपका थोड़ा सा ही विश्व-रूप देखा है और इसे देखते ही मेरे सारे सुखोंका अन्त हो गया। बस हे देव, अब आप अपने इस अपरम्पार और फैले हुए विश्व रूपको समेट लें; हे प्रभो, इसे समेट लें। यद्यपि मैं जानता हूँ कि आप शीघ्र ही अपना यह रूप-विस्तार समेट लेंगे, परन्तु यदि आप यह पूछें कि मैं इसके लिए इतना व्याकुल क्यों हो रहा हूँ, तो मैं यही कहूँगा कि अब आप एक बार अपने इस स्वरूपकी संहारक कृतिसे मेरे प्राणोंकी रक्षा करें। हे देव, यदि आप मेरे अनन्त-स्वरूप गुरु हों तो आप मेरे प्राणोंकी रक्षाके लिए अपनी ढाल आगे बढ़ावें और इस महामारीका प्रलय-कारक प्रसार समेटकर फिर इसे पहलेकी ही तरह गुप्त रखें। हे प्रभो, हे देव-देव, आप मेरी

बात पर ध्यान दें। इस विश्वको जीवित रखनेवाले चैतन्य आप ही हैं। परन्तु यह बात भूलकर आज आपने उलटे संहारका ही कार्य आरम्भ कर दिया है। यह क्या बात है? हे देव, अब आप शान्त और कृपालु हों। आप अपनी इस मायाका अन्त करें और मुझे इस प्रचंड भयसे मुक्त करें। मैं इतनी देर तक बार बार आपसे बहुत ही दीनतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ। हे विश्व-रूप देव, आज मैं इतना कायर बन गया हूँ। और यही मैं पहले ऐसा था कि जब इन्द्रकी स्वर्गीय राजधानी पर शत्रुका आक्रमण हुआ था, तब मैंने अकेले ही वह आक्रमण रोका था और प्रत्यक्ष मृत्युका मुख देखने पर भी मुझे आज तक कभी भय नहीं हुआ था परन्तु, हे देव, आजकी यह घटना कुछ ऐसी-वैसी नहीं है। इस समय तो आप कालको भी मात करके सारे विश्वके साथ मुझे भी पी जाना चाहते हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह कोई प्रलयका काल नहीं था। परन्तु न जाने क्यों बीचमें ही आपके इस काल स्वरूपके दर्शन हो गये। और तत्काल ही यह बेचारा त्रिभुवनका गोला अल्पायु हो गया। दैव भी इस समय कैसा उलटा हो गया? मैंने तो शान्ति प्राप्त करनेका प्रयत्न किया था; पर बीचमें यह विघ्न आ उपस्थित हुआ। हाय हाय! अब तो निस्सन्देह विश्वका पूरा संहार हो गया। महाराज, क्या आप सचमुच विश्वको निगल जाना चाहते हैं? क्या मुझे प्रत्यक्ष ही नहीं दिखाई पड़ रहा है कि आप अपने ये असंख्य मुख फैलाकर चारों ओर इन सेनाओंको निगल रहे हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसंघैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

"देखिये, ये कौरव-कुलके सब वीर नष्ट होना चाहते हैं और अन्ध धृतराष्ट्रके लड़के परिवार सहित आपके मुखमें पड़ना ही चाहते हैं। और इनके मित्र जो अनेक देशोंके राजे-रजवाड़े आये हुए हैं, उन सबको इस प्रकार निगल जाना चाहते हैं कि फिर पीछे कोई उनका नाम लेनेवाला भी बाकी न रह जाय। हाथियोंके झुंडके झुंड आप धड़ाधड़ निगलते चले जा रहे हैं और महावतोंकी टोलियाँ भी खाते चले जा रहे हैं। तोप-खानोंके आदमी और पैदल सिपाहियोंके झुंड भी आप बराबर अपने मुखमें भरते चले जा रहे हैं। जो यमके भाई-बिरादर हैं और जिनमेंसे प्रत्येक सारे विश्वको निगल सकता है, उन करोड़ों शस्त्रोंको भी आप स्वाहा करते जा रहे हैं। हाथी, घोड़े, रथ, पैदल सबकी चतुरंगिणी सेनाएँ और घोड़े जुते हुए रथ आप बिना दाँत गड़ाये ही बराबर निगलते चले जा रहे हैं। परन्तु, हे देव, यह पता नहीं चलता कि इसमें कौन सा बहुत बड़ा आनन्द मिलता है। सत्य और शौर्य गुणोंमें जिनकी बराबरीका और कोई नहीं है, उन भीष्मको और ब्राह्मण द्रोणाचार्यको भी आप निगल रहे हैं। सूर्यपुत्र वीरश्रेष्ठ कर्ण भी इसमें समा गया। और मेरे पक्षके मुख्य वीर तो, जान पड़ता है कि आप कूड़े-कर्कट-की तरह साफ करते जा रहे हैं। हे परमेश्वर, आपके कृपा-प्रसादका यह कैसा उलटा परिणाम हो रहा है! मैं आपसे इतनी प्रार्थना करके इस बेचारे दीन जगत पर अच्छा संकट बुला बैठा। पहले देवताओंने आपकी दिव्य विभूतिका थोड़ा-बहुत वर्णन करके उसे स्पष्ट किया था; परन्तु उतनेसे ही मेरी हवस पूरी नहीं होती थी। और मैं और भी अधिक विभूति जाननेका हठ कर बैठा। इसलिए यही मानना पड़ता है कि भाग्यमें जो कुछ भोगना बदा होता है, वह कभी टलता नहीं। और यही बात ठीक है कि जो कुछ होनेको होता है, उसीके अनुसार मनुष्यकी बुद्धि भी हो जाती है। लोग मेरे ही सिर पर इसका ठीकरा फोड़नेको थे। फिर भला यह बात न कैसे होती? प्राचीन काल-में जब देवताओंको अमृत प्राप्त हुआ था, तब उससे भी उनका सन्तोष नहीं हुआ था। इसी लिए जिस प्रकार अन्तमें काल-कूट विष उत्पन्न हुआ था—परन्तु एक हिसाबसे उस काल-कूट विषको भी छोटे ही दरजेका समझना चाहिए, क्योंकि उसका प्रतिकार हो सकता था और उस अवसर पर श्री शंकरजीने किसी प्रकार सब लोगोंका उस संकट-से निस्तार कर दिया था—परन्तु अब इस जलती हुई हवाको कौन रोक सकता है? यह विषसे भरा हुआ गगन अब कौन निगल सकता है? महाकालके साथ लड़नेकी सामर्थ्य भला किसमें हो सकती है?" इस प्रकार दुःखसे भरकर अर्जुन अपने अन्तः-करणमें शोक कर रहा था, परन्तु श्रीकृष्णका अभिप्राय उसे बिलकुल विदित नहीं हुआ। जो अर्जुन यह कह रहा था कि मैं मारनेवाला हूँ और ये सब कौरव मरनेवाले हैं और इस प्रकार वह जो प्रबल मोहके पाशमें पड़ा हुआ था, उसका वह मोह दूर करनेके लिए ही उन अनन्तदेवने अपना यह गुप्त रहस्य उस पर प्रकट किया था। श्रीकृष्ण उस समय विश्व-रूपके बहानेसे अर्जुन पर यह तत्व प्रकट कर रहे थे कि कोई किसीको मारता नहीं। मैं ही सबका संहार करता हूँ। परन्तु अर्जुनको फिर भी इस बातका पता नहीं चलता था कि मेरा यह दुःख निष्कारण है। और इसी लिए उसका वह निष्कारण और निरर्थक कम्प भी बराबर बढ़ने लगा।

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥२७॥

अर्जुन कहने लगा—"वह देखिये, जिस प्रकार आकाशमें बादल समा जाते हैं, उसी प्रकार दोनों पक्षोंकी सेनाएँ तलवारों और कवचोंके सहित आपके मुखमें समा गईं। विश्व-प्रलयके अन्तमें जब सृष्टि पर काल क्रोध करता है, तब वह जिस प्रकार इक्कीसों स्वर्गोंको पातालोंके सहित लपेटकर ग्रस लेता है, अथवा दैवके प्रतिकूल होने पर जिस प्रकार कौड़ी-कौड़ी जमा करनेवालोंकी सारी सम्पत्ति जहाँकी तहाँ आपसे आप नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार शस्त्रों-अस्त्रोंसे सजी हुई ये दोनों सेनाएँ एकमें मिलकर आपके मुखमें समा गई हैं; परन्तु दैवकी गति ऐसी है कि उनमेंसे एक भी इस मुखसे छूटकर बाहर नहीं निकल रहा है। जिस प्रकार ऊँटके चबानेसे अशोकके कोमल अंकुर बिल-कुल व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी आपके मुखमें पड़कर नष्ट हो रहे हैं। दाँतोंकी कैंचीमें पड़े हुए मुकुटोंके सहित सबके सिर किस प्रकार चूर्ण होते हुए दिखाई देते हैं! उन मुकुटोंके रत्नोंमेंसे कुछ रत्न इन्हीं दाँतोंमें फँस गये हैं, कुछ चूर-चूर होकर जीभके मूल पर फैल गये हैं और कुछ दाढ़ोंके अगले भागमें लगे हुए हैं। यह सब देखने पर ऐसा ज्ञान पड़ता है कि विश्व रूप कालने लोगोंके शरीर बलपूर्वक निगल लिये हैं, परन्तु जीव-देहके केवल ये मस्तक बाकी रहने दिये हैं। इसी प्रकार सारे शरीरमें ये

मस्तक ही उत्तम थे और इसीलिए वे महाकालके मुखमें पड़कर भी अन्त तक बच रहे हैं।" इसके उपरान्त अर्जुन फिर कहने लगा—"जिसने जन्म लिया है, उसके वास्ते इसके सिवा और कोई मार्ग ही नहीं है। यह जगत स्वयं ही इस गम्भीर मुखमें प्रवेश कर रहा है। यह बात ठीक है या नहीं? सभी प्रकारकी सृष्ट वस्तुएँ आपसे आप इस मुखके मार्गमें जा रही हैं और यह विश्व-रूप महाकाल चुपचाप अपने स्थान पर पड़ा हुआ है; और जब ये सब वस्तुएँ उसके पास आती हैं, तब वह स्वस्थ भावसे उन सबको निगलता चलता है। ब्रह्मा आदि सब ऊपरवाले ऊँचे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं और ये सामान्य भारतीय वीर इधरवाले छोटे मुखमें प्रवेश कर रहे हैं। दूसरे कुछ भूत ऐसे भी हैं कि वे जहाँ उत्पन्न होते हैं, वहीं ग्रस लिये जाते हैं। परन्तु यह कहीं नहीं दिखाई पड़ता कि कोई इस मुखकी चपेटसे बच निकला हो।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥

"जिस प्रकार बड़ी बड़ी नदियोंका प्रवाह बहुत शीघ्रतासे चलता हुआ समुद्रके विस्तारमें जाकर मिल जाता है, उसी प्रकार सब दिशाओंसे आकर यह जगत इसी मुखमें प्रवेश कर रहा है। ये सभी प्राणी आयुष्यके मार्ग पर रात और दिनकी सीढ़ियाँ बनाकर बड़े वेगसे इस मुखमें प्रवेश करनेकी साधना कर रहे हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥

"जिस प्रकार जलते हुए पर्वतकी गुफाओंमें पतंगोंके झुण्डके झुण्ड आपसे आप आकर गिरते हैं, उसी प्रकार ये सब लोग भी कूद-कूदकर इस मुखमें गिर रहे हैं। परन्तु जिस प्रकार तपा हुआ लोहा पानी सोख लेता है, उसी प्रकार इस मुखमें जो जो पड़ते हैं, वे सब भस्म हो जाते हैं। उन सबके नाम-निशान व्यवहार क्षेत्रसे बराबर मिटते चले जा रहे हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥

"लेकिन इतना अधिक अन्न खाकर भी इसकी भूख तनिक भी कमी नहीं होती, बल्कि उनमें कुछ और भी विलक्षण तीव्रता ही आती है। जिस प्रकार कोई रोगी ज्वरसे मुक्त होने पर अथवा कोई भिखारी अकाल पड़ने पर अपने होंठ चाटता है, उसी प्रकार यह लपलपाती हुई जीभ भी होंठ चाटती हुई जान पड़ती है। फिर इस मुखके सम्बन्धमें एक और बात है। कोई चीज ऐसे नहीं दिखाई देती जो इस मुखके लिए खाद्य न हो—जो कुछ इसके सामने आता है, उन सबको यह खा जाता है। यह भूख भी मनुष्यको बिलकुल चकित करनेवाली और बहुत ही अनोखी है। हे प्रभु, आपके इस स्वरूपका कुछ ऐसा स्वाभाविक भुक्खड़पन दिखाई देता है कि मानों आप हर दम यही सोचते रहते हैं कि इस समुद्रको एक घूँटमें पी जाऊँ या इस पर्वतको एक ग्रासमें निगल जाऊँ या इस ब्रह्मांडको ही एक दमसे अपनी दाढ़के नीचे रख लूँ या इन दसों दिशाओंको ही निगल जाऊँ या इन तारोंको ही चट कर जाऊँ। जिस प्रकार विषयोंके

सेवनसे कामका विकार बराबर और भी बढ़ता ही जाता है अथवा ईंधन डालनेसे आग और भी ज्यादा भड़कती है, उसी प्रकार बराबर भुक्खड़पनसे खाते रहनेवाले इस मुखका भुक्खड़पन भी बराबर बढ़ता हुआ ही दिखाई देता है। इनमेंसे एक ही मुखको देखिये कि वह कैसा खुला हुआ है! इसमेंकी जीभ पर पड़ा हुआ त्रिभुवन बड़वाग्निमें पड़े हुए कैथके समान जान पड़ता है। इस स्वरूपमें इस प्रकारके असंख्य मुख हैं; और यद्यपि इन सबके लिए यथेष्ट आहार मिलना सम्भव नहीं है, पर फिर भी कौन जाने, इनकी संख्या इतनी अधिक बढ़ी हुई क्यों है। हे प्रभो, यह बेचारा जीवलोक इन मुखोंकी ज्वालामें उसी प्रकार फँस गया है, जिस प्रकार दावाग्निके घेरेमें हिरन पड़ जाते हैं। इस समय इस विश्वकी ऐसी ही स्थिति हो रही है। ये देव नहीं हैं, बल्कि कर्मोंके भोग ही प्रकट हुए हैं। अथवा ऐसा जान पड़ता है कि जगत रूपी मछलियोंको काल रूपी जालमें फँसा लिया गया है। अब इस विश्व-रूपके अंगके तेजके पाशमें इस चराचरका किस प्रकार छुटकारा होगा? ये विश्व-रूपके मुख नहीं हैं, बल्कि जगतके लिए जलते हुए लाक्षागृह ही हैं। स्वयं आगकी समझमें कभी यह बात नहीं आ सकती कि आगमें पड़कर जलना कैसा होता है और उससे कितना कष्ट होता है; परन्तु हाँ, जिसे उसका प्रखर ताप लगता है, उसे अवश्य ही अपने प्राण त्याग करने पड़ते हैं। इसके सिवा और किसी तरह उसका छुटकारा ही नहीं होता। अथवा जिस प्रकार शस्त्रको इस बातका ज्ञान नहीं रहता कि मेरी तीक्ष्णताके कारण दूसरोंकी कैसे मृत्यु होती है अथवा जिस प्रकार विष अपना मारक गुण नहीं जानता, उसी प्रकार, हे प्रभो, आपको अपनी भयानक तीव्रताका कुछ भी ज्ञान नहीं है। परन्तु इधरवाले इन मुखोंसे जगतकी बिलकुल खाई बन गई है। हे देव, यदि आप सारे विश्वमें व्याप्त रहनेवाले केवल आत्म-स्वरूप ही हैं, तो फिर आज आप हम लोगों पर कालके समान घातक होकर क्यों टूट पड़े हैं? ऐसा विकट प्रसंग आ उपस्थित हुआ है, इसलिए अब मैंने भी अपने प्राणोंका मोह छोड़ दिया है और आप भी अब बिना किसी प्रकारके संकोचके अपने मनकी सब बातें साफ साफ कह डालें। यह भयंकर रूप अब और कितना बढ़ेगा? हे महाराज, आप विश्वको पालन करनेका अपना व्रत स्मरण करें; और नहीं तो कमसे कम मुझ पर ही कृपा करें।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥

"हे केवल वेदोंके जानने योग्य, त्रिभुवनके मूल बीज और सर्व विश्वके वन्दनीय, एक बार मेरी विनती तो सुनें।" यह कहकर उस वीर पार्थने श्रीकृष्णके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया और तब फिर कहना आरम्भ किया—"हे सर्वेश्वर प्रभो, आप इधर ध्यान दें। मैंने तो केवल अपना समाधान करनेके लिए आपसे यह निवेदन किया था कि मुझे अपने विश्व-रूपके दर्शन कराइये। और आप तो ये तीनों भुवन एक दमसे निगलने लग गये। ऐसी अवस्थामें मैं यह जानना चाहता हूँ कि आप कौन हैं। आपने ये असंख्य भयंकर मुख किस लिए निकाले हैं? और अपने सब हाथोंमें आपने ये सब

हथियार किस लिए धारण कर रखे हैं ? आप तो बढ़ते बढ़ते इतने बड़े हो गए हैं कि आकाश भी अब आपके सामने ठिगना जान पड़ता है। आप ये भयंकर नेत्र फैलाकर मुझे भय क्यों दिखला रहे हैं ? हे प्रभो, आपने इस समय सर्व-भक्षक यमके साथ प्रति-योगिता करना क्यों आरम्भ कर दिया है ? अपने इस कृत्यका हेतु आप मुझे स्पष्ट रूपसे बतलावें।" इस पर अनन्त-स्वरूप श्रीकृष्णने कहा—"तुम यही जानना चाहते हो न कि मैं कौन हूँ और इस प्रकारका उग्र रूप धारणके क्यों इतना बढ़ता चला जा रहा हूँ ?

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥

"अच्छा, तो सुनो। मैं सचमुच काल हूँ और लोगोंका नाश करनेके लिए ही बढ़ रहा हूँ। यह देखो, मेरे असंख्य मुख फैले हुए हैं और अब यह समस्त चराचर मैं निगल जाऊँगा।" यह सुनकर अर्जुनने अपने मनमें कहा—"हाय हाय! उस पहले संकटसे ही इतना घबरा गया था और इसी लिए मैंने इनसे यह प्रार्थना की थी। पर अब यह उससे भी बढ़कर ऐसी उग्रता दिखला रहे हैं जिसके सामने पहलेवाली उग्रता कोई चीज ही नहीं थी।" उधर श्रीकृष्णने भी अपने मनमें सोचा कि मैंने जो यह कठोर उत्तर दिया है, इससे अर्जुन और भी अधिक निराश तथा दुःखी हो जायगा; इसलिए उन्होंने तुरन्त ही यों कहना आरम्भ किया—"परन्तु हे अर्जुन, इन सब कृत्योंमें एक निराली ही खूबी है। वह यह कि इस समय जो प्रलय उपस्थित होनेको है, तुम पांडव लोग उससे बाहर हो।" यह सुनकर अर्जुनको कुछ धैर्य हुआ और उसके जो प्राण निकल जाना चाहते थे, उन्हें उसने किसी तरह सँभालकर रोका। वह उस समय मृत्युके मुखमें पड़ा हुआ था; पर अब उसके होश कुछ ठिकाने हुए और वह फिर श्रीकृष्णकी बातोंकी ओर अच्छी तरह ध्यान देने लगा। उस समय देवने इस प्रकार कहना आरंभ किया—"हे अर्जुन, तुम पांडव लोग मेरे हो। यह बात तुम सदा अपने ध्यानमें रखना। तुम लोगोंको छोड़कर और बाकी सबको निगल जानेके लिए मैं इस समय तत्पर हुआ हूँ। जिस प्रकार बड़वाग्निमें मक्खन-की गोली डाली जाय, उसी प्रकार तुम देख रहे हो कि यह सारा जगत मेरे मुखमें पड़ा हुआ है। और इसमें कुछ भी मिथ्या नहीं है। ये सेनाएँ बड़े अभिमानसे अकड़ रही हैं, परन्तु इनकी सारी अकड़ निष्फल है। इस चतुरंगिणी सेनाके बलका अभिमान मानों महाकालसे स्पर्धा कर रहा है। देखो, इन पर अंगोंके बलका कैसा मद चढ़ा है! ये कहते हैं—"हम एक दूसरी सृष्टिका निर्माण कर सकते हैं। प्रतिज्ञा करके उलटे मृत्युको ही मार सकते हैं। और इस सारे जगतको केवल एक ही घूँटमें पी सकते हैं, सारी पृथ्वीको खा सकते हैं, आकाशको ऊपरही ऊपर जला सकते हैं और अपने बाणोंके बलसे वायुको भी एक ही जगह रोककर उसे जर्जर कर डालेंगे। ये सैनिकोंकी टोलियाँ एकत्र होकर अपने शौर्यकी कृतियोंमें फूली नहीं समातीं, और वीर अपनी सेनाओंकी प्रशंसा करते हुए उन्हें यमसे भी बढ़कर भयंकर बतलाते हैं। इनके शब्द हथियारोंकी अपेक्षा भी तीक्ष्ण हैं, इनकी मुद्रा आगसे भी बढ़कर दाहक है और इनकी घातकताके सामने काल-कूट विष मीठा ही जान

पड़ता है। परन्तु ये सब आकाशमें दिखाई पड़नेवाले बादलोंके गन्धर्वनगर अथवा केवल पोले पिंड ही हैं। ये वीर वास्तवमें चित्रमें बने हुए फलोंके ही समान हैं। हे अर्जुन, यह केवल मृग-जलकी बाढ़ है। यह कोई सेना नहीं है, बल्कि कपड़ेका बनाया हुआ साँप है अथवा सजाकर रखे हुए खिलौने या पुतलियाँ हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥

"वास्तवमें चैतन्यकी तड़प दिखानेवाली जो सेनाएँ हैं, उन वास्तविक सेनाओंको तो मैं पहिले ही निगल चुका हूँ। और अब जो वीर बचे हुए दिखाई देते हैं, वे केवल कुम्हारके यहाँके बने हुए निर्जीव पुतले हैं। जब कठपुतलियोंको बाँधकर रखनेवाली और उन्हें उपयुक्त अवस्थामें रखकर उनसे हाव-भाव और नाच करानेवाली डोरी टूट जाती है, तब वे कठपुतलियाँ आपसे आप उसी प्रकार धड़ाधड़ गिर पड़ती हैं जिस प्रकार धक्का देनेसे कोई गिर जाता है और वे पुतलियाँ गिरकर उलटी-पुलटी हो जाती हैं। ठीक इसी प्रकार अब इन समस्त सेनाओंके उलटकर गिर पड़नेमें कुछ भी विलम्ब न लगेगा। इसलिए, हे अर्जुन, अब तुम तुरन्त उठो और कुछ बुद्धिमत्ता दिखलाओ। तुमने गो-ग्रहणके समय समस्त कौरव सेनाओं पर एक दमसे मोहनास्त्रका प्रयोग किया था और जब उससे सारी सेनाएँ मूर्च्छित हो गई थीं तब विराटके कायर पुत्र उत्तरके द्वारा तुमने सब शत्रुओंके वस्त्र छिनवा लिये थे और उन्हें नंगा करा दिया था। परन्तु इस समयका कार्य तो उससे भी कहीं सूक्ष्म हो गया है। इस रणक्षेत्रकी ये सारी सेनाएँ तो पहले ही मर चुकी हैं। अब इन पहलेसे मरी हुई सेनाओंका संहार कर डालो और यह कीर्ति सम्पादन करो कि अकेले अर्जुनने ही समस्त शत्रुओंको मारकर विजय प्राप्त की थी। और फिर तुम्हें यह कोरी कीर्ति ही नहीं प्राप्त होगी, बल्कि इसके साथ ही साथ समस्त राज्य-लक्ष्मी भी तुम्हारे हाथ आवेगी। सब अब इन सब कार्योंमें, हे भाई अर्जुन, तुम्हें केवल निमित्त ही बननेकी आवश्यकता है।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

"तुम द्रोणकी परवाह मत करो, भीष्मका भय मत मानो और अपने मनमें इस बात-की शंका मत करो कि इस कर्ण पर मैं कैसे हथियार चलाऊँ। अब तुम इस चिन्तामें मत पड़ो कि इस जयद्रथके सामने अब मैं क्या करूँ। इनके सिवा और भी जो बड़े बड़े प्रसिद्ध वीर हैं, उन सबको तुम केवल चित्रोंमें अंकित प्रचंड सिंहके समान ही समझो। और इनका उसी प्रकार नाश कर डालो, जिस प्रकार चित्रोंमें अंकित सिंहोंकी पंक्तियाँ हाथोंसे पोंछ डाली जाती हैं। हे अर्जुन, क्या इतनी बातें बतला देनेके बाद भी रणक्षेत्र-में जमे हुए इन सैनिकोंका कुछ महत्त्व बाकी रह जाता है? अरे यह सब भ्रम मात्र है। जो कुछ वास्तविक था, उस सबको तो मैं पहले ही खा चुका हूँ। जिस समय तुमने इन वीरोंको मेरे मुखमें पड़ते हुए देखा था, उसी समय इनके आयुष्यका अन्त हो चुका था। अब यहाँ जो कुछ दिखलाई पड़ रहा है, वह सब केवल निःसत्त्व भूसा ही है।

इसलिए अब तुम झटपट उठो। जो लोग पहले ही मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं, उन सबको अब तुम मार डालो। व्यर्थ ही कल्पित शोक में पड़कर चिन्ता मत करो। जिस प्रकार खेलमें स्वयं ही कोई लक्ष्य बनाकर खड़ा किया जाता है और फिर स्वयं ही बाण-से उसका वेध किया जाता है, उसी प्रकार मैं स्वयं ही इन सबका कर्त्ता भी हूँ, और मारनेवाला भी हूँ। तुम्हें तो मैंने केवल दिखौआ साधन बना रखा है। हे सखे अर्जुन, तुम्हें जिस बातकी चिन्ता हो रही थी, वह बात अब बिल्कुल नहीं रह गई है। इसलिए अब तुम आनन्दसे उस यशका उपभोग करो जिसमें समस्त राज्य-सुख संचित है। हे भाई अर्जुन, तुम विश्वकी जिह्वा पर इस प्रकारकी लिपि लिखकर विजय सम्पादित करो कि स्वभावतः जो भाई बन्द अपने वैभवके करण मत्त हो रहे थे और जो अपने बलके कारण संसारको भारके समान जान पड़ते थे, उन्हें बिलकुल सहजमें और बिना किसी प्रकार-के परिश्रमके ही अर्जुनने बिलकुल नष्ट कर डाला।"

संजय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्‌गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥

हे श्रोतागण, इस प्रकारकी यह सारी कथा संजय उस निराश कौरवपति धृतराष्ट्रको सुना रहा है। जिस प्रकार सत्य-लोकसे छूटी हुई गंगा प्रचंड घोषसे घड़घड़ाती हुई नीचे आई थी, उसी प्रकार गम्भीर वाणीसे जब श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह कहा अथवा जिस प्रकार भयंकर मेघोंके समूह एक दमसे सिर पर आकर गड़गड़ाने लगते हैं अथवा जिस समय मन्दर पर्वतसे क्षीर सागरका मन्थन किया गया था, उस समय उस मथानीको मथनेसे जैसा भीषण शब्द हुआ होगा, उसी प्रकारकी गम्भीर वाणीमें जब विश्वके बीज-भूत श्रीकृष्णने अर्थात् उन अनन्त स्वरूप भगवानने इन वाक्योंका उच्चारण किया, उस समय भगवानके शब्द अर्जुनको कुछ यों ही से सुनाई पड़े; और न जाने वे शब्द सुननेसे उसे सुख हुआ अथवा भय जान पड़ा, पर यह ठीक है कि उस समय उसका सारा शरीर थरथर काँपने लगा। वह इतना झुक गया कि मानों उसके शरीरकी पोटली बँध गई हो और वह उसी अवस्थामें हाथ जोड़कर बार-बार श्रीकृष्णके चरणों पर अपना मस्तक रखने लगा। उसी समय उसके मनमें आया कि मैं अब कुछ कहूँ; परन्तु उसका गला इतना भर आया था कि उसके मुखसे शब्द ही नहीं निकलता था। अब इसका विचार आप लोग स्वयं ही कर लें कि श्रीकृष्णकी बातें सुनकर उसे सुख हुआ था अथवा उसके मन-में भय उत्पन्न हुआ था। यदि आप यह पूछें कि अर्जुनको उस समयकी इस अवस्थाका पता मुझे कैसे चला, तो मैं यह कहूँगा कि इस श्लोकके शब्दोंसे ही मुझे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि भगवानकी बातें सुनकर उस समय अर्जुनकी ऐसी ही अवस्था हुई होगी।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥३६॥

फिर उसी प्रकार डरते डरते चरण-वन्दना करके अर्जुनने कहा—"हे देव, आपने

अभी यह कहा है कि—'हे अर्जुन, मैं काल हूँ और विश्वको खा जाना मेरा एक खेल है।' हे देव, मैं यह मानता हूँ कि आपकी यह वाणी अटल सत्य है। परन्तु विचारकी कसौटी पर यह बात कुछ ठीक नहीं उतरती कि आज विश्वकी स्थिति या अस्तित्वका समय होने पर भी, प्रलयका समय न होने पर भी, आप अपना काल-स्वरूप प्रकट करके सारे विश्वको ग्रस रहे हैं। अंगोंमें भरा हुआ तारुण्य किस प्रकार निकाला जा सकता है और उसके स्थान पर असमयमें ही शरीरमें वृद्धावस्था भला किस प्रकार लाई जा सकती है? इसी लिए आप जो कुछ कह रहे हैं, वह प्रायः असम्भव सा जान पड़ता है। हे अनन्तस्वरूप देव, क्या चार पहर पूरे होनेसे पहले ही बीचमें भी कभी सूर्य अस्त होता है? यदि वास्तवमें देखा जाय तो आप अस्खलित और सतत काल-स्वरूप हैं और आपके तीन भिन्न-भिन्न कार्योंके लिए भिन्न-भिन्न समय नियत हैं। और उनमें से प्रत्येक समय अपने अपने राज्यमें सर्व-समर्थ रहता है। जिस समय उत्पत्ति होने लगती है, उस समय स्थिति और प्रलयका अभाव रहता है। और स्थिति-कालमें उत्पत्ति और प्रलयके लिए कोई स्थान नहीं रहता। इसके उपरान्त जब प्रलयका समय आता है, तब उत्पत्ति और स्थितिका लोप हो जाता है। यह निश्चित शृङ्खला कभी किसी कारणसे विस्खलित नहीं होती। यह अनादि है। और इस समय संसारका ठीक उप-भोगका स्थिति काल है; और इसी लिए यह बात मेरे मनमें नहीं बैठती कि आप इसी समय उसे ग्रस लेना चाहते हैं और उसका अन्त कर डालना चाहते हैं।" उस समय श्रीकृष्णने संक्षेपमें यह कहा कि—"हे अर्जुन, यह बात मैंने तुम्हें अभी प्रत्यक्ष करके दिखला दी है कि इन दोनों सेनाओंका आयुष्य पूरा हो गया है। परन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह बात ठीक और उपयुक्त समय आने पर ही होगी।" इन सूचक शब्दों-का उच्चारण करनेमें श्रीकृष्णको जितना समय लगा था, उतने समयमें जब अर्जुनने जरा पीछेकी ओर मुड़कर देखा तो उसे सब बातें बिलकुल पहलेकी तरह और ज्योंकी त्यों दिखाई पड़ीं। तब उसने भगवानसे कहा—"हे देव, आप इस विश्वके नाटकके सूत्रधार हैं। मैं देख रहा हूँ कि संसार फिर अपनी पहलेवाली अवस्थामें आ गया है। परन्तु इस समय मुझे आपकी इस कीर्तिका भी स्मरण हो रहा है कि दुःखके समुद्रमें गोते खानेवाले संसारका तारण करनेवाले भी आपही हैं। और समय समय पर इस कीर्तिका स्मरण होनेसे जिस अपरम्पार सुखका अनुभव होता है, उसी सुखके अमृतकी लहरों पर मैं इस समय लहरा रहा हूँ। हे देव, जीवित रहनेके कारण ही यह संसार आप पर प्रेमासक्त रहता है और दुष्टोंका अधिकाधिक नाश होता है। वास्तवमें त्रिभुवन के दुष्ट राक्षसोंको आप बहुत ही भयंकर जान पड़ते हैं और इसी लिए आप दसों दिशाओंके भी बाहर भाग जाना चाहते हैं। और यहाँ आस-पास, हे देव, मानव, किन्नर केवल यही नहीं बल्कि सारा स्थावर और जंगम विश्व आपके दर्शनसे आनन्दित होकर आपको नमस्कार कर रहा है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्॥ ३७॥

"परन्तु हे देव, इसका क्या कारण है कि ये राक्षस आपके चरणोंमें लीन नहीं हो

रहे हैं और आपसे दूर भाग रहे हैं ? परन्तु यह बात मैं आपसे ही क्यों पूछूँ ? यह तो मैं स्वयं भी समझ सकता हूँ । भला सूर्यके सामने अन्धकार ठहर ही कैसे सकता है ? हे देव, आप प्रकाशके उत्पत्ति स्थान हैं और यदि आपके सामने ये राक्षस रूपी मल आपसे आप दूर हो जायँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इतने दिनों तक यह बात मेरी समझमें नहीं आई थी; परन्तु, हे देव श्रीराम, अब आपकी सारी महिमाका पूरा पूरा ज्ञान हो गया है । जिसमेंसे इस विविध सृष्टिकी बेलें निकलती हैं, जिससे इस भूत मात्रकी बेलोंका विस्तार होता है, वह विश्व-बीज महद्ब्रह्म ही आपके मद्दा-संकल्प से उत्पन्न हुआ है । हे देव, जो तत्व अमर्याद और सदा स्वयंसिद्ध है, वह तत्व आप ही हैं । आपके गुण अपार और अनन्त हैं । हे देव, आप ही अत्यन्त साम्यकी अखंडित अवस्था हैं । आप समस्त देवताओंके अधिपति हैं । हे देव,आप ही इन तीनों भुवनोंके जीवन हैं । आप अव्यय तथा नित्य मंगल-स्वरूप हैं । आप सत् और असत् इन दोनोंसे परे रहनेवाले तत्व हैं ।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणास्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

"प्रकृति और पुरुषके उद्गम-स्थान आप ही हैं । महत्तत्त्व जो माया है, उसकी मर्यादा भी आप ही हैं । स्वतः अनादिसिद्ध पुरातन हैं । आप सारे विश्वके जीवन और मूल कारण हैं । भूत और भविष्यका ज्ञान रखनेवाले केवल आप ही हैं । हे भेद-रहित प्रभो, वेद रूपी-नेत्रोंके द्वारा आपके ही स्वरूपके दर्शनोंसे सुख होता है । त्रिभुवनके आधारके आधार आप ही हैं । इसी लिए लोग आपको 'परम महाधाम' कहते हैं महद्ब्रह्म जो महामाया है, वह ब्रह्म-प्रलयके समय आपमें ही प्रवेश करके लीन होती है । यदि संक्षेपमें कहा जाय तो इस समस्त विश्वको आपने ही उत्पन्न करके उसका विस्तार किया है । फिर भला हे अनन्त प्रभो, आपका वर्णन कौन कर सकता है ?

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ३९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

"ऐसी कौन सी वस्तु है जिसमें आप नहीं हैं ? ऐसा कौन सा स्थान है जहाँ आप नहीं हैं ? परन्तु अब इन बातोंको जाने देना चाहिए । आप चाहे जैसे हों, मैं आपको नमस्कार करता हूँ । हे अनन्त, आप वायु हैं, सबका नियमन करनेवाले यम हैं और प्राणी मात्रमें निवास करनेवाले अग्नि भी हैं । वरुण, सोम, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा और उस विश्व पितामह ब्रह्माके जनक सब कुछ आप ही हैं । इसके सिवा और जो जो रूप हों अथवा अ-रूप हों, वह सब भी आप ही हैं । ऐसे जगन्नाथको मैं नमस्कार करता हूँ ।" पार्थने इस प्रकार प्रेमपूर्वक मनसे श्रीकृष्णको नमस्कार करके फिर कहना आरंभ किया— "हे प्रभो, मैं आपकी वन्दना करता हूँ, वन्दना करता हूँ ।" इसके उपरान्त उसने श्रीकृष्णकी मूर्तिको सिरसे पैरों तक अच्छी तरह देखकर बार बार "नमस्ते नमस्ते" कहा । उस मूर्तिके भिन्न भिन्न अवयवोंको देखकर उसे अत्यन्त समाधान हुआ और उसी तरहसे

उसने फिर कहना आरंभ किया—"प्रभो, नमस्ते नमस्ते ।" इस स्थावर और जंगम जगतमेंके जीव मात्रमें उन्हींको देखकर उसने फिर कहा—"प्रभो, नमस्ते नमस्ते ।" उसे इस प्रकार प्रभुके अत्यन्त आश्चर्यजनक अनन्त स्वरूपोंका ज्यों ज्यों स्मरण होने लगा, त्यों त्यों वह "नमस्ते नमस्ते" का गान करने लगा । उसकी समझमें ही नहीं आता था कि इसके सिवा प्रभुकी और कौन सी स्तुतिकी जाय; और उससे चुप भी नहीं रहा जाता था । साथ ही उसे इस बातका भी ध्यान नहीं रह गया कि प्रेमके आवेशमें मैं क्या घोषणा कर रहा हूँ । सब मिलाकर उसने इस प्रकार हजार बार नमस्कार किया । और इसके उपरान्त फिर भी उसने कहा—"हे श्री हरि, मैं आपके सामने नमस्कार करता हूँ । मुझे इस बातसे कुछ भी मतलब नहीं है कि देवके पीठ और पेट हैं या नहीं । परन्तु फिर भी, हे महाराज, मैं आपके पृष्ठ भागको भी नमस्कार करता हूँ । आप मेरी पीठ पर मेरे पक्षमें खड़े हैं, इसी लिए मैं आपके पृष्ठ भागका नाम लेता हूँ; परन्तु वास्तवमें आप न तो संसारके सामने ही हैं और न उसकी पीठके पीछे ही हैं । मैं आपके भिन्न भिन्न अवयवोंका रूपभेदसे पृथक्करण नहीं कर सकता; इसलिए हे सर्वात्मक देव, मैं आपके सर्व-रूपको ही एक दमसे नमस्कार करता हूँ । हे देव, जिसके बलका प्रभाव अनन्त है, जिसके पराक्रमकी कोई नाप-तौल नहीं है, जो भेद-भाव-रहित तथा सर्व-रूप है, उसे मेरा नमस्कार है । जिस प्रकार आकाश ही सारे आकाशको व्याप्त करके अवकाश रूपसे रहता है, उसी प्रकार आप भी अपने सर्वत्वसे सबमें व्याप्त रहते हैं । यहाँ तक कि आप ही समस्त विश्व हैं; परन्तु जिस प्रकार क्षीर सागरमें क्षीरकी ही तरंगें उठती हैं, उसी प्रकारका यह सम्बन्ध है । इसी लिए, हे देव, अब यह बात मेरे मनमें अच्छी तरह बैठ गई है कि आप इस समस्त विश्वसे भिन्न नहीं हैं और यह सब कुछ आप ही हैं ।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥

"परन्तु हे महाराज, आपका यह स्वरूप मुझे अब तक बिलकुल ज्ञात नहीं था, इसी लिए मैं अब तक आपके साथ उसी प्रकारका व्यवहार करता था जिस प्रकारका व्यवहार अपने सगे-सम्बन्धियोंके साथ किया जाता है । यह मुझसे कैसी अनुचित बात हुई ! मैंने अमृतका उपयोग आँगन सींचने में कर डाला । मैंने कामधेनुको घोड़ेका बछेड़ा समझ लिया । मुझे मिला तो था पारस पत्थर, पर उसे तोड़कर मैंने अपने घरकी नींवमें भर दिया । कल्पवृक्ष काटकर उसकी लकड़ीसे खेतका घेरा बना डाला । जिस प्रकार चिन्तामणिकी खान मिलने पर कोई अज्ञानमें उसमेंकी चिन्तामणियोंको कंकड़-पत्थर समझकर उनका उपयोग ढोरों और पशुओंको हाँकनेमें कर डालता है, उसी प्रकार मैंने भी आजतक आपकी संगति आपको केवल अपना सगा-सम्बन्धी समझकर ही की । भला और दूर क्यों जाऊँ; यह आजका ही प्रत्यक्ष प्रसंग देखिये । यह कितना बड़ा युद्ध है और इसमें मैंने आपको अपना सारथी बनाया है ! इन कौरवोंके द्वार पर मैंने आपको मध्यस्थता करनेके लिए भेजा था । इस प्रकार, हे जगदीश्वर, स्वयं अपने लाभके लिए मानो आपको मोल ही ले लिया था । योगी लोग समाधिमें आपका ही ध्यान करके सुख

भोगते हैं। परन्तु मुझ मूर्खको इस बातका कुछ भी पता नहीं लगा। यहाँ तक कि मैं बराबर आपके सामने हँसी-मजाक भी किया करता था।

यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥

"आप इस विश्वके स्वयं-सिद्ध बीज हैं। पर जब आप सभामें बैठे रहते थे, तब मैं आपसदारीके नातेसे विनोद और परिहास भी किया करता था। मैं कभी कभी आपके घर भी जाया करता था और वहाँ आप मेरा जो आदर-सम्मान करते थे, उसका मैं भोग करता था। और यदि उस आदर-सम्मानमें आप कभी अणु मात्र भी त्रुटि करते थे तो मैं अपने दुलारके कारण या घराऊ व्यवहार और अति परिचयके कारण रूठ भी जाया करता था। हे देव शार्ङ्गधर, मैंने आपके साथ अनेक बार इसी प्रकारका व्यवहार किया है, जिसके लिए अब मुझे आपके चरणों पर गिरकर आपसे क्षमा माँगनी चाहिए। स्नेहके नातेसे मैं अनेक बार आपके सामने इस प्रकार उलटा-सुलटा बैठा हूँ, जैसे मुझे नहीं बैठना चाहिए परन्तु हे देव, क्या ऐसा करना मुझे कभी उचित था? छीः छीः। मैंने बहुत बड़ी भूल की। हे देव, कभी कभी मैं आपके गलेमें बाँहें डाल दिया करता था, अखाड़ेमें आपके साथ दंगा-मस्ती और उठा-पटक किया करता था और चौपड़ खेलते समय बेईमानीकी चाल चलकर उलटे आपके साथ झगड़ा करता था। जब कोई अच्छी वस्तु देखता था, तब आपसे यह हठ करता था कि पहले यह चीज मुझको ही मिलना चाहिए। हे भगवान् यहाँ तक कि आपको अक्ल सिखाने में भी मैंने कभी कमी नहीं की। और अनेक बार तो मैंने आपसे इस प्रकारकी उपमर्दक और अपमानजनक बातें भी कहीं हैं कि—'हम तुम्हारे कौन होते हैं?' मेरा यह अपराध इतना बड़ा है कि वह तीनों भुवनोंमें भी नहीं समा सकता। परन्तु हे देव, मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ कि मुझसे ये सब बातें बिलकुल अनजानमें हुई हैं—अपनी अज्ञानताके कारण ही मैं आपके साथ इस प्रकारका व्यवहार करता था। हे देव, आप तो भोजनके समय मुझे स्मरण करते थे, परन्तु मुझमें इतनी कोरी शेखी थी कि आपसे रूठकर बैठ जाया करता था। आपके विश्रामगृहमें मैं आपके साथ आनन्दसे खेला करता था और आपके बिछौने पर आपके साथ सटकर सोया करता था। मैं "कृष्ण!" कहकर आपको पुकारा करता था; आपको भी दूसरे यादवोंके समान ही समझा करता था और जब आप मेरे पुकारने पर मेरी बात अनसुनी करके जाने लगते थे, तब मैं आपको अपनी शपथ देकर रोकता था; और ऐसा प्रायः किया करता था। आपके साथ सटकर एक ही आसन पर बैठा करता था अथवा आपकी बातों पर ध्यान नहीं देता था और आपसदारीके विचारसे इस प्रकारकी धृष्टता मुझसे अनेक बार हुई है। हे देव, इस प्रकारकी बातें मैं कहाँ तक कहूँ! मैं समस्त अपराधोंकी राशि ही हूँ। इसलिए हे प्रभो, मैंने प्रत्यक्ष रूपसे अथवा परोक्ष रूपसे आपके साथ जो कुछ अनुचित आचरण या व्यवहार किये हों, उन सबको आप माताके समान अपनी ममताके उदरमें रख लें और मुझे क्षमा करें। जब कभी कोई नदी गँदला पानी लेकर आती है, तब समुद्रको वह पानी भी ग्रहण करना ही पड़ता

है। इसके सिवा उसके लिए और कोई उपाय ही नहीं होता। इसी प्रकार प्रीतिसे अथवा भूलसे मैंने आपके विरुद्ध जो जो आचरण किये हों, वे सब, हे प्रभो मुकुन्द, आपको अपने क्षमा-गुणके कारण सहन करने ही पड़ेंगे। और हे देव, यदि आप क्षमावान् होंगे, तभी इस भूत-सृष्टिमें यमका राज्य रह सकेगा। इसलिए हे पुरुषोत्तम, इस विषयमें मैं आपसे चाहे कितनी ही प्रार्थना क्यों न करूँ पर वह सब थोड़ी ही होगी। इसलिए हे अतर्क्य भगवन्, मैं आपकी शरणमें आया हूँ और आप मुझे इन सब अपराधोंके लिए क्षमा करें।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥

"परन्तु हे देव, अब आपकी महिमा मेरी समझमें पूरी तरहसे आ गई है। मैं समझ गया हूँ कि आप इस स्थावर और जंगमसे युक्त विश्वके मूल बीज हैं। हरि और हर आदि समस्त देवताओंके परम दैवत आप ही हैं। और वेदों को भी आपसे ही ज्ञान प्राप्त हुआ है। हे प्रभो श्रीराम, आप भूत मात्रके साथ सम भावसे व्यवहार करते हैं। आप सब गुणोंमें अप्रतिम और अद्वितीय हैं। भला यह कहनेकी आवश्यकता है कि आपके समान और कोई नहीं है? आप आकाश हैं और यह सारा विश्व आपमें ही समाया हुआ है। ऐसी अवस्थामें यह कहना केवल लज्जास्पद ही है कि आपकी तरहका और भी कोई सर्वव्यापी है। अब इस विषयमें और अधिक क्या कहा जाय! इसलिए त्रिभुवनमें केवल आप ही अद्वितीय हैं आपकी बराबरीका अथवा आपसे बढ़कर और कोई नहीं है। आपकी महिमा इतनी विलक्षण है कि उसका किसी प्रकार वर्णन ही नहीं किया जा सकता।"

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥

अर्जुनने ये सब बातें कहकर श्रीकृष्णको दंडवत किया और तत्काल ही उसके शरीरमें आठों सात्विक भावोंका संचार हो आया। फिर वह गद्गद स्वरसे कहने लगा—"हे देव, आप प्रसन्न हों। प्रसन्न हों। इस अपराधके समुद्रसे मेरी रक्षा करें। आप सारे विश्वका हित करनेवाले हैं। परन्तु केवल आपसदारीके विचारसे मैंने कभी आपका विशेष सम्मान नहीं किया। हे विश्वेश्वर, आपके साथ मैंने ऐसा आश्चर्यजनक और लज्जास्पद व्यवहार किया है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो प्रशंसाके योग्य स्वयं आप ही थे। परन्तु आपने भरी सभामें मेरी प्रशंसा की और मैं बड़े अभिमानसे बैठा हुआ बड़ी बड़ी बातें बघारता रहा। हे मुकुन्द, मेरे इस प्रकारके अपराधोंका कहीं अन्त ही नहीं है। इस लिए आप इन अपराधोंसे मेरी रक्षा करें। मुझमें तो इस प्रकारकी क्षमा-याचना करनेकी भी योग्यता नहीं है। परन्तु जिस प्रकार बालक अपने पिताके सामने लाड़से बोलता है और यदि बालकका घोर अपराध भी होता है, तो भी जिस प्रकार पिता मनमें परायेपनका भाव न रखकर प्रेमसे उसके सब अपराध क्षमा कर देता है, उसी प्रकार आप भी मेरे सब अपराध क्षमा करेंगे। मित्रका औद्धत्य मित्र ही सहन करते हैं। बस इसी प्रकार आप भी मेरा औद्धत्य सहन करें। अपने मित्र जनोंसे कभी कोई साम्प्रदायिक मान-अपमानकी अपेक्षा नहीं करता। इसी प्रकार, हे देव, आपने जो

मेरे घरमें जूठन उठाई और मैंने आपको उठाने दी, उसके लिए भी आप मुझे क्षमा करें। अथवा जब किसी बहुत घनिष्ठ और प्रिय मित्रसे भेंट होती है, तब उससे संसारमें अनुभव किये हुए सब संकटोंका वर्णन करनेमें कोई संकोच नहीं होता। अथवा जब पतिको ऐसी पतिव्रता स्त्री मिलती है जो अपना मन, शरीर और आत्मा तीनों पूरी तरहसे अपने पतिको अर्पित कर चुकी होती है, तब उसके साथ बिना खुले दिलसे बातें किये रहा ही नहीं जाता। इसी प्रकार, हे सद्गुरु महाराज, मैंने भी आपसे प्रार्थना की है। इसके सिवा ये बातें कहनेका और भी एक कारण है।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

"हे देव, देखिये, मैंने बहुत धृष्टता करके आपसे यह आग्रह किया कि आप मुझे अपने विश्व-रूपके दर्शन करावें और इस विश्वके आप माता-पिताने बहुत प्रेमसे मेरा वह आग्रह पूरा किया। मैंने इस प्रकारके अनेक हठ किये कि मेरे घरके आँगनमें बहुतसे कल्पवृक्ष लग जायँ, कामधेनुके बछड़े मुझे खेलनेको मिलें, मेरे चौपड़ खेलनेके लिए नक्षत्रोंके पासे बनें और मुझे खेलनेके लिए चन्द्रमाका गेंद मिले; और एक प्रेमपूर्ण माताके समान आपने मेरे वे सभी हठ पूरे किये। जिस अमृतका एक छोटा सा कण प्राप्त करनेके लिए भी अपरम्पार कष्ट सहन करना पड़ता है, उस अमृतकी आपने चातुर्मास भर वर्षा की और जमीन जोतकर मानों क्यारी क्यारीमें आपने चिन्तामणियोंकी बोआई कर दी। हे देव, आपने इस प्रकारसे मुझे धन्य किया है और बड़े लाडसे मेरा पालन किया है। जो विश्व-रूप कभी शंकर और ब्रह्माने कानोंसे भी नहीं सुना था, उस विश्व-रूपके आपने मुझे दर्शन कराये हैं। आपके जीवनका जो रहस्य देखना तो दूर रहा, पर जो उपनिषदोंके विचारक्षेत्रमें भी नहीं आ सकता, वही रहस्य आज आपने गाँठ खोलकर मेरे लिए स्पष्ट कर दिया है। हे महाराज, विश्वके आरम्भसे लेकर आज तक मैंने जो जो जन्म धारण किये, यदि उन सब जन्मोंको खूब ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भी कहीं यह पता नहीं चलेगा कि मेरे लिए कभी वह रहस्य देखने या सुननेका प्रसंग आया था। और मेरे अन्तःकरणको भी कभी इस बातकी गन्ध भी नहीं मिली थी। फिर ऐसी बातके आँखोंसे देखनेका तो जिक्र ही क्या है! सारांश यह कि मैंने आज तक कभी यह विश्व-रूप देखा या सुना नहीं था। परन्तु वही विश्व रूप आज आपने मुझे प्रत्यक्ष दिखला दिया जिससे मेरा मन बहुत अधिक आनन्दित हुआ है। परन्तु मेरे मनमें इस समय यह आता है कि मैं आपके साथ जी खोलकर बातें करूँ, आपके पास रहूँ और आपको गले लगा लूँ। अब यदि मैं आपके इस विश्व रूपके साथ ये सब बातें करना चाहूँ तो मेरी समझमें यह नहीं आता कि आपके इन असंख्य मुखोंमेंसे किस मुखके साथ मैं बातें करूँ और किसे आलिंगन करूँ, क्योंकि आपका यह स्वरूप अमर्याद है। ऐसी अवस्थामें भला वायुके साथ कैसे दौड़ा जा सकता है, आकाशको किस प्रकार आलिंगन किया जा सकता है और अगाध समुद्रमें किस प्रकार जल क्रीड़ा की जा सकती है? हे देव, आपके इस स्वरूपसे मुझे भय लगता है, इसलिए अब आप मेरी यह एक इच्छा और

पूरी कर दें कि अपना यह स्वरूप आप समेट लें। कौतुकसे इस स्थावर जंगम विश्वका अवलोकन करनेके उपरान्त जिस प्रकार यह जी चाहता है कि चुपचाप चलकर घर पर पड़े रहें, उसी प्रकार आपका जो सौम्य चतुर्भुज स्वरूप है, वह मुझे विश्राम-स्थल जान पड़ता है। यदि मैंने योग मार्गका अभ्यास किया तो भी अन्तमें मुझे यही अनुभव करना पड़ेगा। और यदि मैं शास्त्रोंका अध्ययन करूँगा तो भी अन्त में यही सिद्धांत मेरे पल्ले पड़ेगा। यदि मैं यज्ञ-याग करूँ तो उनका भी अन्तमें यही फल होगा। तीर्थ-यात्रा भी इसीके लिए की जाती है। इसके सिवा और भी जो जो दान-पुण्य मैं करूँगा, उन सबका फल यही आपका चतुर्भुज रूप है। इस प्रकार उस रूपके दर्शनकी मेरे मनमें बहुत बड़ी कामना है और मैं उसके दर्शन करनेके लिए बहुत अधीर हो रहा हूँ। बस मेरी यह चिन्ता आप बहुत शीघ्र दूर कर दें। हे समस्त जीवोंके मनकी बात जाननेवाले, हे सारे विश्वमें व्याप्त रहनेवाले, हे देवताओंके भी पूज्य, हे देवाधिदेव, अब आप प्रसन्न हों।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥४६॥

"जिसके अंगोंकी कान्ति नीले कमलके लिए भी आदर्श है, जो आकाशके रंगकी भी शोभा बढ़ाती है और नीलमणिमें भी तेजस्विता लाती है, जिसकी कमरकी शोभासे मदनकी शोभा भी उसी प्रकार बढ़ती है, जिस प्रकार मरकत मणिमें मानों सुगंध उत्पन्न हुई हो अथवा आनन्दमें अंकुर निकले हों, जिसके सम्बन्धमें इस प्रकारकी भ्रान्ति होती है कि मस्तककी शोभा मुकुट बढ़ा रहा है अथवा मुकुटकी ही शोभा मस्तक से बढ़ रही है—क्योंकि उस अंगकी शोभा ही शृङ्गारके लिए भूषण हो रही है—जिस प्रकार आकाशमें इन्द्रधनुष पर मेघ दिखलाई पड़ते हैं, उसी प्रकार जिस शाङ्गंपाणिने वैजयन्ती माल धारण कर रखी है और दैत्यों तथा दानवोंको भी मोक्ष दान देनेमें जो गदा इतनी उदार है और हे गोविन्द, जिसका चक्र अप्रतिम सौम्य तेजसे चमक रहा है, वह सुन्दर रूप देखनेके लिए मैं अधीर हो रहा हूँ। इसलिए हे देव, अब आप अपना वही रूप धारण करें। इस विश्व-रूपके दर्शन करके मेरे नेत्र अत्यन्त तृप्त हो चुके हैं और अब वे आपकी सौम्य कृष्ण मूर्त्ति देखनेके लिए बहुत उतावले हो रहे हैं। अब इन नेत्रोंको उस सुन्दर कृष्णमूर्त्तिके दर्शन करनेके सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता। उस मूर्त्तिके सामने इन्हें इस विश्व-रूपका कुछ भी महत्व नहीं जान पड़ता। हम लोगोंको उस कृष्णमूर्त्तिके सिवा और कहीं भोग अथवा मोक्ष नहीं मिल सकता। इसलिए, हे देव, अब आप अपना यह विश्व-रूप समेटकर वही पहलेवाला सगुण रूप धारण करें।

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥

अर्जुनकी ये सब बातें सुनकर उन विश्वरूपी भगवानको बहुत अधिक आश्चर्य हुआ और उन्होंने कहा—"मैंने तुम्हारे समान अविचारी कहीं नहीं देखा। तुम्हें कैसी अलौकिक वस्तु प्राप्त हुई है! परन्तु इस लाभसे भी तुम्हें सुख नहीं होता। न जाने तुम अपनी

कायरतासे ये सब बातें कह रहे हो या अपनी हेकड़ीके कारण। जब मैं सहज रूपसे प्रसन्न होता हूँ, तब केवल इस जड़ मर्यादा तक ही सब कुछ प्रदान करता हूँ; और जब तक सच्चा भक्त न मिले, तब तक यह गूढ़ रहस्य भला और किस पर प्रकट किया जा सकता है ? आज केवल तुम्हारे लिए मुझे अपना यह आन्तरिक रहस्य खोलकर यह विशाल विश्वरूप धारण करना पड़ा है। मेरी समझमें नहीं आता कि मैं तुम्हारे फेरमें क्यों इतना पड़ गया हूँ। परन्तु यह बात बिलकुल ठीक है कि मैं तुम पर प्रसन्न होकर बिलकुल पागल-सा हो गया हूँ। और मैंने अपने भीतरी गूढ़ रहस्यकी मूर्ति संसारके सामने प्रत्यक्ष रूपसे खड़ी कर दी है। मेरा यह स्वरूप अपारसे भी अपार है। कृष्ण आदि अवतार इसी स्वरूपसे उत्पन्न हुए हैं। यह स्वरूप ज्ञान-तेजका सार-सर्वस्व है। यह विश्वरूप शुद्ध, अन्तहीन, निश्चल और सबका मूल बीज है। हे अर्जुन, तुम्हारे सिवा इससे पहले और किसीने यह विश्वरूप नहीं देखा था और न कभी सुना था, क्योंकि यह स्वरूप किसी साधनसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥

"इस स्वरूपके मार्ग तक पहुँचते ही वेद मौन हो गये और यज्ञकर्ता लोग स्वर्गसे लौट आये। जब साधकोंको यह पता चला कि योग-साधनसे भी यह रूप प्राप्त नहीं होता, बल्कि कष्ट ही होता है, तब उन्होंने योगाभ्यास ही छोड़ दिया। इसी प्रकार केवल अध्ययनसे भी यहाँ कोई काम नहीं चलता। बिलकुल प्रथम कोटिके जो पुण्य-कर्म हैं, वे भी बड़े आवेशसे चलकर जैसे-तैसे और मार-पीटकर केवल सत्य-लोक तक ही पहुँच सके हैं। तपने इस स्वरूपका केवल ऐश्वर्य ही देखा है और इतनेसे ही उसकी सारी उग्रता खड़े खड़े न जाने कहाँ चली गई। इस प्रकार जो विश्व-रूप तपके क्षेत्रके बाहर और उससे बहुत दूर है, वह विश्व-रूप आज तुमको बिना परिश्रमके ही देखनेको मिला है, और नहीं तो मनुष्य-लोकमें कभी किसीको इस रूपके दर्शन नहीं होते। इस संसार में केवल तुम्हीं इस रूप-सम्पत्तिके पात्र हुए हो। इस प्रकारका परम भाग्य स्वयं ब्रह्माको भी प्राप्त नहीं हुआ है।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥

"इसलिए इस विश्व-रूपके दर्शन करके तुम आनन्दित हो और इससे तिल मात्र भी मत डरो। अपने मनमें इस बातका तनिक भी विचार मत करो कि इससे बढ़कर और कोई दूसरा पदार्थ हो सकता है। यदि अमृतसे भरा हुआ समुद्र अकस्मात् अपने ऊपर आ पड़े तो क्या कभी कोई इस भयसे उससे दूर भागेगा कि मैं इसमें डूब जाऊँगा ? अथवा यदि किसीको सोनेका पर्वत दिखाई पड़े तो क्या वह कभी यह समझकर उसकी अवज्ञा करेगा कि यह इतना बड़ा पहाड़ यहाँसे हटाकर कैसे ले जाऊँगा ? यदि सौभाग्यसे चिन्तामणि प्राप्त हो जाय तो उसे अंग पर धारण करना चाहिए या यह सोचकर उसे दूर कर देना चाहिए कि यह एक बोझ है ? क्या कभी कोई केवल इसी लिए कामधेनुको घरसे

बाहर निकाल देता है कि हमें इसका पालन-पोषण करना पड़ेगा और वह हमसे नहीं हो सकेगा ? यदि चन्द्रमा घरमें आवे तो क्या कभी कोई उससे यह कह सकता है कि तुम यहाँसे निकल जाओ, तुमसे हमारा शरीर जल गया ? अथवा यदि घरमें सूर्य आवे तो क्या उससे कोई यह कहेगा कि दूर हटो, तुम्हारी परछाँही पड़ती है ? और यदि कोई ऐसा कहे तो क्या उसका ऐसा कथन बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जायगा ? इसी प्रकार मेरे विश्व-रूपका परम तेजस्वी ऐश्वर्य आज सहजमें तुम्हें प्राप्त हुआ है। तुम इस प्रकार इससे घबरा क्यों रहे हो ? परन्तु तुम मूर्ख हो और यह बात तुम्हारी समझमें नहीं आ रही है। हे अर्जुन, अब मैं तुम पर क्या क्रोध करूँ ? परन्तु तुम वास्तविक शरीरको छोड़कर केवल छायाको ही आलिंगन करना चाहते हो। तुम यह बात अच्छी तरह समझते हो कि यही मेरा वास्तविक स्वरूप है और वह वास्तविक स्वरूप नहीं है। और तुम मेरे इस वास्तविक स्वरूपसे डरकर बस चतुर्भुज स्वरूपके साथ प्रेम करते हो जो ऊपरी और नकली है। तो भी, हे अर्जुन, अब अब तुम यह हठ छोड़ दो और इस फेरमें मत पड़ो। यद्यपि यह विश्व-रूप देखनेमें भयंकर जान पड़ता है और यद्यपि इसका विस्तार प्रचंड है, तो भी केवल यही स्वरूप वास्तविक और सच्चा है, यह बात तुम अपने मनमें खूब अच्छी तरह समझ लो—इसे गाँठ बाँध लो। जिस प्रकार किसी भारी मक्खीचूस पुरुषका मन सदा द्रव्यमें ही लगा रहता है और वह केवल शरीरसे ही व्यवहार करता है अथवा जिस प्रकार पक्षिणी अपना जीवन घोंसलेमें पड़े हुए उन बच्चोंके पास, जिनके पंख अभी नहीं फूटे हैं, छोड़कर आकाशमें उड़नेके लिए जाती है अथवा गौ अपने बच्चेके पास अपना वात्सल्यपूर्ण मन छोड़कर जंगलमें चरनेके लिए जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपना प्रेम इसी स्वरूप पर सदाके लिए स्थिर रखो। हाँ, बाहरी मनसे, केवल स्नेह-सुखके लाभके लिए, उस चतुर्भुज कृष्ण-मूर्तिका ध्यान करो; परन्तु फिर भी मैं बार बार तुमसे यही कहता हूँ कि तुम मेरा एक उपदेश कभी मत भूलो। और वह उपदेश यह है कि तुम मेरे इस विश्व-रूप परसे कभी अपनी श्रद्धा मत हटने दो। तुम्हें इस स्वरूपसे केवल इसलिए भय हो रहा है कि इसे तुमने पहले कभी नहीं देखा था। परन्तु तुम वह भय छोड़कर इसी स्वरूप पर अपना सारा प्रेम स्थिर करो।" इसके उपरान्त श्रीकृष्णने कहा—"अब तुम जैसा कहते हो, मैं वैसा ही करता हूँ। वह मेरा पहलेवाला रूप अब तुम खुशीसे मन भरकर देखो।"

संजय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

भगवानने इन शब्दोंका उच्चारण करते ही फिर वह मानवी रूप धारण कर लिया। इसमें तो आश्चर्यकी कुछ भी बात नहीं है, परन्तु अर्जुनके प्रति उनके मनमें जो प्रेम था, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक है। श्रीकृष्ण मानों नगद कैवल्य धाम थे और उनका जो सारसर्वस्व विश्व-रूप था, वह उन्होंने अर्जुनको स्पष्ट रूपसे दिखला दिया था। परन्तु उनका वह रूप अर्जुनको कुछ अच्छा नहीं लगा था। जिस प्रकार लोग पहले तो किसीसे कोई वस्तु माँगते हैं और तब उसे उपेक्षापूर्वक अलग रख देते हैं अथवा कोई रत्न देख-

कर उसमें कुछ दोष निकालते हैं अथवा विवाहके लिए कन्याको देखने जाते हैं, तो उसे देखकर नाक-भौं सिकोड़ते हैं, ठीक उसी तरहका आचरण उस समय अर्जुनने किया था। श्रीकृष्णने तो अर्जुनके प्रति अपना इतना अधिक प्रेम दिखलाया था कि अपने उपदेशका सारांश विश्व-रूप तक उसे दिखला दिया था। भला इससे अधिक वे अर्जुनके लिए और क्या कर सकते थे! सोनेका टुकड़ा गलाकर उससे अपनी इच्छाके अनुसार गहना बनाया जाता है; और यदि वह गहना पसन्द न आवे तो फिरसे गला डालनेके सिवा और उपाय ही क्या है? बस अपने शिष्य अर्जुनके लिए भगवानको भी उस समय ऐसा ही करना पड़ा था। पहले उनका चतुर्भुज कृष्ण-रूप था और उससे उन्होंने अपना विश्व-रूप बनाया था। परन्तु वह रूप शिष्यको पसन्द नहीं आया, इसलिए उन्हें अब फिरसे वही कृष्ण रूप धारण करना पड़ा था। अपने शिष्यका हठ इस सीमा तक माननेवाले गुरु भला और किस देशमें मिलेंगे? संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"परन्तु यह पता नहीं चलता कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके मनमें जो इतना अधिक प्रेम था, वह किस लिए था?" इसके उपरान्त जो दिव्य तेज सारी सृष्टिको व्याप्त करके उसके चारों ओर फैला हुआ था, वह सब अब उस कृष्ण रूपमें समाविष्ट हो गया। जिस प्रकार आत्म-विचार करते समय "त्वम्" (या तू) पद का तत् (या उस) पदमें समावेश हो जाता है अथवा समस्त वृक्ष-स्वरूपका सूक्ष्म बीजमें अन्तर्भाव होता है अथवा स्वप्नकी सब बातें जीवके जागने पर लुप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपने सगुण स्वरूपमें इस विश्व-रूप… योग एकत्र करके रख लिया। यह बात भी उसी प्रकार हुई थी, जिस प्रकार सूर्यकी कान्ति सूर्यमें अथवा मेघ-समूह आकाशमें अथवा समुद्रकी बाढ़ समुद्रमें लीन हो जाती है। कृष्ण मूर्तिके आकारमें विश्व-रूप-वस्त्रकी तह लगी हुई रखी थी; उसे श्रीकृष्णने अर्जुनके प्रेमसे प्रेरित होकर खोलकर अर्जुनको दिखला दिया। पर जब उन्होंने देखा कि उस वस्त्रकी लम्बाई-चौड़ाई और रंग आदि अच्छी तरह देख लेने पर ग्राहकको वह वस्त्र पसन्द नहीं आया, तब उन्होंने उस वस्त्रकी फिर पहलेकी सी तरह तह लगा ली। इस प्रकार जिस स्वरूपने अपने असीम विस्तारके कारण सब कुछ व्याप्त कर रखा था, वह स्वरूप अब शान्त, मनोहर और बिलकुल सौम्य हो गया। तात्पर्य यह कि उन अनन्त भगवानने फिर वही पुराना छोटा रूप धारण कर लिया और भयभीत अर्जुनका फिरसे समाधान किया। जिस प्रकार स्वप्नकी अवस्थामें कोई मनुष्य एक बार स्वर्गमें जाकर सुखी होता है, परन्तु अकस्मात् जाग उठने पर वह विस्मित होता है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था इस समय अर्जुनकी हुई थी। अथवा जिस प्रकार सद्गुरुकी कृपा होने पर सब सांसारिक प्रपंचोंका ज्ञान नष्ट हो जाता है और वास्तविक तत्वका ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकारकी अवस्था श्रीकृष्णकी मूर्तिके दर्शनोंसे उस समय अर्जुनकी हुई थी। उस समय पार्थको ऐसा जान पड़ा कि मेरी आँखोंके सामने विश्व-रूपका जो परदा आ पड़ा था, वह अब हट गया, यह बहुत अच्छा ही हुआ। उस विश्व-रूपके उपरान्त जब अर्जुनने फिरसे श्रीकृष्णका वही पुराना रूप देखा, तब तुरन्त ही उसे इस प्रकारका अपरम्पार आनन्द हुआ कि मानो वह कालसे बाजी जीतकर आया हो अथवा मेघ और

वायुको भी प्रतिद्वन्द्वितामें पीछे छोड़ आया हो अथवा हाथसे पानी चीरता हुआ सातों समुद्र पार कर आया हो। जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर आकाशमें तारे दिखाई पड़ने लगते हैं, उसी प्रकार उसे पृथ्वी और उसमेंके सब लोग दिखाई पड़ने लगे। जब उसने अपने चारों ओर देखा, तब उसे पहलेवाला कुरुक्षेत्र दिखाई पड़ा। उसने अपने दोनों ओर अपने सब भाई बन्दोंको भी देखा। उस रणक्षेत्रमें सब शूर-वीर एक दूसरे पर शस्त्रों और अस्त्रोंकी वर्षा कर रहे थे। उन वीरोंके बाणोंके मंडपके नीचे उसने अपना रथ भी पहलेकी तरह खड़ा हुआ देखा। उसने यह भी देखा कि श्रीकृष्ण तो रथके जूए पर बैठे हैं और मैं नीचे जमीन पर खड़ा हूँ।

अर्जुन उवाच—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥५१॥

वीर्यशाली अर्जुनने श्रीकृष्णसे जिस बातकी प्रार्थना की, उसके उसे इस प्रकार दर्शन हुए। उसने कहा—"अब मेरी जानमें जान आई। नहीं तो अब तक बुद्धिका ज्ञान नष्ट हो गया था और चारों ओर भयका जंगल दिखाई पड़ता था। और अहं-भावके सहित मन दूर भाग गया था। इन्द्रियाँ बिलकुल स्तब्ध और निश्चल हो गयी थी। वाचा भी निष्प्राण होकर गूँगी बन गई थी। मेरे शरीरकी इस प्रकारकी दुर्दशा हो गई थी। परन्तु अब वह सारी जीवनावस्था अपनी ठीक स्थितिमें आ गई है और मानो फिरसे मुझे जीवन प्राप्त हो गया है। इस कृष्ण मूर्तिके दर्शनसे फिर मुझमें प्राण आ गये है।" इस प्रकार अपने मनके समाधानके उद्गार निकालकर उसने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, मैंने आपका यह मानवी रूप देखा। हे देवराज, आपने अपना यह रूप मुझे दिखलाकर मुझ पर उसी प्रकार उपकार किया है, जिस प्रकार माता अपने अपराधी बालकको हृदयसे लगाकर उसे स्तन-पान कराती है। मैं उस विश्व-रूपके दर्शनके समुद्रमें दोनों हाथोंसे लहरोंके साथ लड़ रहा था, पर अब आपकी इस सगुण मूर्ति रूपी तट पर आ पहुँचा हूँ। हे द्वारकानाथ श्रीकृष्ण, आपने मुझे यह दर्शन नहीं दिये हैं, बल्कि सूखे हुए वृक्ष पर मेघवृष्टि की है। मैं स्वाभाविक तृषासे छटपटा रहा था। ऐसे समयमें आपका यह सगुण आकार मुझे अमृतके समान ही मिला है। अब मुझे इस बातका भरोसा हो रहा है कि मैं जीवित हूँ। मेरे अन्तःकरणकी भूमि पर आनन्दकी बेल लहरा रही है और मुझे अत्यन्त सुख प्राप्त हो रहा है।"

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥

अर्जुनकी ये बातें सुनकर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुम यह कैसी बातें कर रहे हो? तुम्हें इस विश्व-रूपके प्रति प्रेम-भाव रखना चाहिए; और तब मेरी इस सगुण मूर्ति की निःशंक होकर सेवा करनी चाहिए। मैंने अभी जो बातें तुमको [illegible]लाई हैं, क्या वे सब बातें तुम भूल गये? हे अन्धे अर्जुन, तुम्हारे हाथमें तो मेरु पर्वत आ गया था,

परन्तु तुमने उसे भूलसे बहुत छोटा या तुच्छ समझ लिया। परन्तु मैंने अभी तुम्हें जिस विश्व-रूपके दर्शन कराये हैं, वह रूप शंकरको भी अपनी सारी तपस्याके बलसे प्राप्त नहीं हो सकता। योगके आठो अंगोंके साधनका कष्ट करनेवाले योगियोंको भी जिस विश्व-रूपके दर्शन नहीं हो सकते, उसके सम्बन्धमें देवताओंका समय भी इस बातकी चिन्ता करते करते बीत जाता है कि किसी प्रकार उस विश्व-रूपका हमें भी थोड़ा सा दर्शन प्राप्त हो जाय। जिस प्रकार आशाके हाथ अपने हृदय रूपी मस्तक पर जोड़कर (अर्थात् बहुत अधिक प्रार्थनापूर्वक और आशा रखकर) चातक मेघकी प्रतीक्षामें आकाशकी ओर टक लगाकर देखता है, उसी प्रकार सभी बड़े बड़े देवता जिस विश्व-रूपके दर्शनों-के लिए आठो पहर चिन्ता करते रहते हैं परन्तु फिर भी जिसके उन्हें स्वप्नमें भी दर्शन नहीं होते, वही विश्व-रूप आज तुमने बहुत सहजमें प्रत्यक्ष देख लिया है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

"हे अर्जुन, ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे इस विश्व-रूपके समीप तक पहुँचने-का मार्ग प्राप्त हो सकता हो। वेद भी और छहो शास्त्र भी इस विषयमें हार गये हैं। हे अर्जुन, बड़े बड़े तपोंके द्वारा भी कोई मेरे विश्व-रूपके मार्ग पर नहीं पहुँच सकता और दान आदि पुण्य-कर्मोंके द्वारा भी इस मार्ग तक पहुँचना बहुत ही कठिन है। तुम्हें मेरा इस समय जो ज्ञान हुआ है, वह यज्ञ-विधानोंसे भी किसीको सहजमें नहीं हो सकता। जिस प्रकार आज मैं तुमको प्राप्त हुआ हूँ, उस प्रकार प्राप्त होनेका एक ही मार्ग है। अब तुम यह सुनो कि वह मार्ग कौन सा है। जब अन्तःकरण प्रेमपूर्ण भक्तिके अधीन होता है, तभी मैं इस प्रकार साध्य होता हूँ।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥५४॥

"परन्तु यह भी सुन रखो कि वह भक्ति कैसी होनी चाहिए। जिस प्रकार वर्षाकी छूटी हुई धार पृथ्वीके सिवा और कहीं जा ही नहीं सकती अथवा जिस प्रकार सारा पानी अपने साथ लेकर नदी समुद्रको ही ढूँढती हुई आगे बढ़ती जाती है और रास्तेमें बिना कहीं रुके सीधे समुद्रमें ही जाकर मिलती है, उसी प्रकार भक्तको उचित है कि वह अपनी समस्त भावनाओंको एकत्र करके प्रेमसे परिपूर्ण होकर मेरी ओर बढ़े, और मुझमें मिलकर मेरे साथ सम-रस हो जाय—मेरे साथ मिलकर एक हो जाय। और भक्तको जिस "मैं" वाले स्वरूपमें मिलकर एक हो जाना चाहिए, वह "मैं" उसी प्रकारका हूँ जिस प्रकार क्षीर-सागरके तट पर भी क्षीर ही होता है और मध्यमें भी क्षीर ही होता है। सच्ची भक्ति वही है जिसमें मनुष्य छोटी सी च्यूँटी को भी "मैं" ही समझे और समस्त स्थावर जंगमको भी मुझसे भिन्न न माने। बस इसके सिवा और किसी प्रकारकी भक्ति सच्ची भक्ति नहीं है। जिस समय इस प्रकारकी ऐक्यवाली अवस्था प्राप्त होगी, उसी समय मेरे स्वरूपका ठीक ठीक ज्ञान हो जायगा। और ज्योंही किसीको स्वरूप-ज्ञान होगा, त्योंही उसे स्वाभाविक रूपसे मेरे दर्शन भी हो जायँगे। फिर जिस प्रकार लकड़ीमें

आग भड़क उठती है और लकड़ीका कहीं नाम भी नहीं रह जाता, क्योंकि वह अग्निका ही रूप हो जाती है, अथवा जब तक प्रकाशका आविर्भाव नहीं होता, तब तक सारा आकाश अन्धकारमय बना रहता है; परन्तु जब एक बार सूर्योदय हो जाता है, तब तुरन्त ही चारों ओर प्रकाश हो जाता है; उसी प्रकार मेरे स्वरूपका साक्षात्कार होते ही अहंकारका अन्त हो जाता है और अहंकारका अन्त होते ही द्वैत-भाव भी आपसे आप मिट जाता है। तब फिर "मैं" और "वह" दोनों स्वभावतः मिलकर एक "मैं" ही हो जाते हैं और वह भक्त मुझमें मिलकर एक-रूप हो जाता है।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

"जो केवल मेरे प्रीत्यर्थ ही समस्त कर्मोंका आचरण करता है, जिसे संसारमें मेरे सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता और जिसके लिए इहलोक और परलोक दोनों मैं ही हूँ और जिसके जीवनको सार्थक करनेवाला मैं ही हूँ, जो "भूत" शब्दको ही बिल-कुल भूल जाता है—क्योंकि उसकी दृष्टिमें सब जगह मैं ही समाया हुआ जान पड़ता हूँ—और इस प्रकार जो अपने मनमें वैर-भावको कुछ भी स्थान न देकर सबको सम-बुद्धिसे देखता है, उस भक्तका जब यह कफ-पित्त-वातात्मक त्रिधातुक जड़ शरीर नष्ट होता है, उस समय, हे अर्जुन, वह भक्त मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एक हो जाता है।"

इतना कहकर संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—"जिसका उदर इतना बड़ा है, जिसमें सारा ब्रह्मांड समा जाय और जो दयाके रससे भरे हुए हैं, उन श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे ये सब बातें कहीं। इसके उपरान्त अर्जुनको बहुत अधिक आनन्द हुआ। श्रीकृष्णकी सच्ची भक्ति करनेकी योग्यता इस संसारमें केवल उस अर्जुनमें ही है। उसने भगवानकी दोनों ही मूर्तियाँ बहुत अच्छी तरह देखी थीं और उसे विश्व-रूपकी अपेक्षा कृष्ण-मूर्त्ति अधिक प्रिय लगी थी। परन्तु देवने उसके इस प्रेम या पसन्दका आदर नहीं किया, क्योंकि विश्व-रूप तो व्यापक है और कृष्ण-मूर्त्ति एकदेशीय अर्थात् दिक् और काल आदिसे मर्यादित है, इसे सिद्ध करनेके लिए श्रीकृष्णने एक दो अच्छे अच्छे उदा-हरण देकर इस विषयका निरूपण किया था। वह स्पष्टीकरण सुनकर सुभद्रा-पति अर्जुन अपने मनमें कहने लगा कि अब मैं यह बात फिर पूछूँगा कि इन दोनों स्वरूपोंमें से वास्तवमें अधिक उत्तम स्वरूप कौन सा है।" इस प्रकार अपने मनमें यह संकल्प करके उसने यह बात कैसी युक्तिसे पूछी, यह कथा श्रोता लोग अगले अध्यायमें सुनें। सीधे-सादे छन्दोंमें मैं यह कथा बहुत प्रेमसे कहूँगा और इस ज्ञानदेवकी यह प्रार्थना है कि श्रोता लोग वह कथा आनन्दसे सुनें। प्रेमकी अंजलिमें मैं इन पंक्तियोंके फूल लेकर प्रभुके विश्व-रूपके दोनों चरणों पर अर्पण करता हूँ।

———

बारहवाँ अध्याय

हे सद्गुरुकी कृपा-दृष्टि, तू शुद्ध सुप्रसिद्ध उदार और अखंड आनन्दकी वर्षा करनेवाली है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ। विषय-रूपी सर्पके दर्शन करने पर अवयव अकड़ने न लगें और विषका वेग उतर जाय, यह प्रताप तेरा ही है। अब यदि प्रसाद रसकी लहरें उठने लगें और उसकी बाढ़ आने लगे तो फिर सन्ताप किसे सन्तप्त कर सकता है और शोक किसे जला सकता है? हे गुरुकी कृपा-दृष्टि, तू अत्यन्त प्रेमपूर्ण होनेके कारण अपने सेवकोंकी ब्रह्मानंदकी कामना पूरी करती है और उनके आत्म-साक्षात्कारके हौसले भी पूरे करती है। मूलाधार चक्र-रूपी शक्तिकी गोदमें उन शिष्य बालकोंको लेकर तू प्रेमपूर्वक उनका संगोपन करती है और हृदयाकाश रूपी पालनेमें उन्हें रखकर आत्म-ज्ञानके झोंके देती है। तू जीवात्मवाले भावोंको उनपरसे निछावर करके मन और प्राण वायु उन्हें खेलनेके लिए देती है और उनके अंगों पर आत्मानन्दके आभूषण चढ़ाती है। सत्रहवीं पूर्णामृत कलाका दूध तू उन्हें पिलाती है, उनके मनोविनोदके लिए तू अनाहत नामक नाद-योगके गीत गाती है और उन्हें समाधि-सुखसे शान्त करके सुलाती है। इस लिए समस्त साधक जनोंका संगोपन करनेवाली माता तू ही है। तेरे चरणोंसे कवित्व-कला उत्पन्न होती है, इसलिए मैं तेरी शीतल छाया कभी न छोड़ूँगा। सद्गुरुकी कृपा-दृष्टि, तेरा दयामृत जिसे प्राप्त होता है, वह समस्त विद्याओंकी निष्पत्ति करनेके कामोंमें ब्रह्मा ही होता है। इसलिए हे माता-गुरु-कृपादृष्टि, तू वैभववाली है और अपने सेवकोंकी कामना पूर्ण करने वाली कल्पलता है तो भी तू मुझे ग्रन्थका निरूपण करनेकी आज्ञा दे। हे माता, तू मेरे द्वारा इस निरूपणमें नौ रसोंका सागर भरवा दे, उत्तम रत्नोंका आगर तैयार होने दे और भगवन्तके सच्चे अर्थका पर्वत उठने दे। इस देशी भाषाके प्रदेशमें वाङ्मय सौन्दर्यकी खान खुलने दे और चारों ओर विवेक रूपी लताएँ लगने दे। ऐसे महासिद्धान्त रूपी वृक्षोंका घना और भरा हुआ बगीचा रचने दे जिसमें एक-वाक्य रूपी फलोंकी समृद्धि हो। नास्तिकोंकी गुफाओं, वितंडावादियोंके टेढ़े-मेढ़े रास्तों और तर्क करनेवालोंके हिंसक-श्वापदोंका पूरी तरहसे नाश होने दे। तू मुझे ऐसी सामर्थ्य प्रदान कर जिसमें मैं श्रीकृष्णके गुणोंका ठीक ठीक वर्णन कर सकूँ और श्रोताओंको भी श्रवणके आनन्दका साम्राज्य प्राप्त होने दे। इस देशी भाषाके नगरमें ब्रह्मविद्याकी भरमार करके लोगोंको इस विद्यानन्दका मनमाना लेन-देन करने दे। हे सद्गुरुकी कृपा-दृष्टि, यदि तू मुझ पर अपने प्रेमपूर्ण आँचलकी छाया करेगी और मेरे भाग्यमें वह छाया प्राप्त करना बदा होगा, तो हे माता, यह सब कुछ मैं तत्काल ही निर्माण कर सकूँगा। दासकी यह प्रार्थना सुनकर गुरुने उसकी ओर प्रसन्न दृष्टिसे

देखा और कहा—"अब गीताके अर्थका निरूपण आरम्भ करो, प्रस्तावनाका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं।" इस पर शिष्यको स्वभावतः बहुत अधिक आनन्द हुआ और उसने कहा—"हे स्वामी, ठीक है, यह आपका महाप्रसाद ही है।" और तब उसने श्रोताओंसे कहा—"अब मैं ग्रन्थका निरूपण करता हूँ। आप लोग इधर ध्यान दें।"

अर्जुन उवाच—

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः॥ १॥

फिर समस्त वीरोंमें श्रेष्ठ और सोम वंशकी विजय-पताका पांडु-नन्दन अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आपने मेरी बात सुन ली न? आपने मुझे जो विश्व-रूप दिखलाया था, वह बहुत ही अद्भुत था, इसी लिए मेरा मन बहुत घबरा गया था। और इस सुन्दर कृष्ण मूर्तिसे मैं सदासे परिचित था, इसलिए मेरा जी यही चाहता था कि मैं इसीका आधार ग्रहण करूँ। परन्तु आपने यह कहकर निषेध कर दिया कि ऐसा मत करो। परन्तु व्यक्त और अव्यक्त (अर्थात् सगुण और निर्गुण) दोनों आपके ही स्वरूप हैं। भक्तिसे सगुण रूपका साधन होता है और योगसे निर्गुण रूपका। हे वैकुण्ठाधिपति, ये दोनों ही मार्ग आपके पास तक पहुँचानेवाले हैं। सगुण और निर्गुण इन मार्गोंके प्रवेश द्वार हैं। कसौटी पर सौ भर सोनेके पासेको कसनेसे जो कस आता है, वही कस उसमेंसे निकाले हुए रत्ती भर सोनेका भी आता है। इसलिए एक देशीय सगुण और सर्वव्यापक निर्गुण दोनोंकी योग्यता समान ही है। अमृतके सागरमें जो सामर्थ्य देखनेमें आती है, वही सामर्थ्य अमृतकी लहरके एक चुल्लूमें भी होती है। हे महाराज, इस प्रकारका निश्चित ज्ञान अब मुझे हो गया है। परन्तु हे योगेश्वर देव, मैंने जो यह प्रश्न किया है, वह केवल इसी लिए कि आपने अभी थोड़ी देरके लिए जो विश्वव्यापक स्वरूप धारण किया था, उसके सम्बन्धमें मेरी यह समझनेकी इच्छा है कि वह स्वरूप वास्तविक था या केवल बनावटी। परन्तु एक तो वे भक्ति-योगी होते हैं, जो सब काम केवल आपके प्रीत्यर्थ करते हैं, केवल आपको ही सर्वश्रेष्ठ समझते हैं, अपना समस्त मनोधर्म आपकी भक्तिसे अंकित कर लेते हैं और सब प्रकारसे आपको अपने हृदयमें रखकर आपकी उपासना करते हैं। और दूसरे वे ज्ञान-योगी होते हैं, जो आत्मैक्य भावसे उस वस्तुकी उपासना करते हैं जो ओंकारसे भी परे है, जो स्पष्ट वाणीके लिए अलभ्य है, जिसकी किसीके साथ उपमा नहीं दी जा सकती और जो अविनाशी, निर्गुण, अवर्णनीय और स्थलहीन है। अतः हे अनन्त प्रभो, आप कृपा कर यह बतलावें कि उन भक्ति-योगियों और इन ज्ञान-योगियोंमेंसे वास्तविक ज्ञान किसको होता है।" अर्जुनकी यह बात सुनकर भगवान्‌को सन्तोष हुआ और उन्होंने कहा—"हे अर्जुन, तुम सचमुच यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हो कि प्रश्न किस प्रकार करना चाहिए।

श्रीभगवानुवाच—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥ २॥

"अच्छा सुनो। पश्चिमकी ओर अस्ताचलके पास पहुँच जाने पर और सूर्यके आड़में हो जाने पर भी जिस प्रकार उस अदृश्य बिम्बके पीछे भी सूर्यकी किरणें संचार करती रहती हैं, अथवा हे पार्थ, जिस प्रकार वर्षा ऋतुके आने पर नदियोंका जल बढ़ने लगता है, उसी प्रकार जब मनुष्य उपासना करता रहता है, तब उसकी श्रद्धा भी दिन पर दिन बढ़ती जाती है। परन्तु नदी जब समुद्रके पास पहुँच जाती है, तब भी उसके पीछेवाले प्रवाहका जोर बराबर ज्योंका त्यों बना रहता है। बस यही नदीके प्रवाहवाली सारी बात प्रेम-भावके सम्बन्धमें भी है। इसी प्रकार जो लोग अपनी समस्त इन्द्रियों समेत अपना मनोभाव मुझमें अर्पण करके रात और दिन समय और असमयका कुछ भी विचार किये बिना, सदा मेरी उपासना करते हैं और इस प्रकार जो भक्त अपना सर्वस्व वहन करते हैं, उन्हींको मैं परम योगयुक्त या श्रेष्ठ योगी समझता हूँ।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

"हे अर्जुन, जो और दूसरे लोग आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करते हैं, वे निर्गुण अविनाशी तत्त्वको देखते हैं। जिसके पास तक मन कभी पहुँच ही नहीं सकता और जिसमें बुद्धिकी किरणका प्रवेश भी नहीं हो सकता, उसका साधन भला इन्द्रियोंसे कैसे हो सकता है? केवल यही नहीं, वह तो ध्यानको भी प्राप्त नहीं होता और इसी लिए वह किसी एक स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता और न किसी आकारमें ही हो सकता है। जो सभी स्थानों पर, सभी भावोंमें और सभी कालोंमें रहता है परन्तु जिसकी कल्पना करते करते चिन्तन-शक्ति भी चिन्तित होने लगती है, जिसके सम्बन्धमें न तो यही कहा जा सकता है कि वह होता है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं होता, जिसके सम्बन्धमें न तो यही कहा जा सकता है कि वह है और न यही कहा जा सकता है कि वह नहीं है और इसी लिए जिसकी साधना करनेमें कोई उपाय नहीं चलता, जो न तो चलता ही है और न हिलता ही है जो न तो कभी समाप्त ही होता है और न कभी दूषित ही होता है, उसे जो लोग-स्वयं अपनी सामर्थ्यसे प्राप्त कर लेते हैं जो, वैराग्यकी प्रखर अग्निमें विषय-समूहको जला देते हैं और इन्द्रियोंकी तपी हुई स्थितिमें बड़े धैर्यसे नियन्त्रित रखते हैं और फिर इन्द्रिय-संयमके बल पर जो लोग अपनी इन्द्रियोंको मोड़कर अपने हृदयकी गुफामें बन्द कर रखते हैं, अपना द्वार अच्छी तरह बन्द करके और अच्छी तरह आसन-मुद्राका साधन करके मूलबन्धका बुर्ज बाँध लेते हैं, जो आशासे सब प्रकारका सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, सब प्रकारके भयका नाश कर डालते हैं और अज्ञान-निद्राकी कालिमा अच्छी तरह दूर करके उसका नाश कर डालते हैं, जो वज्रासनकी अर्थात् मूलबन्धकी अग्निकी ज्वालाओंसे शरीरमें रहनेवाली सातों धातुएँ जलाकर रोगोंके मस्तक पर पटनककी तोपें चलाते और स्फुरित होनेवाली कुंडलिनीकी तेजस्वी दीअट आधार-चक्र पर रखकर उसको प्रभासे मस्तक तक अपना

सारा शरीर देदीप्यमान कर लेते हैं और तब इन्द्रियोंके नौ द्वारों पर निग्रहकी कील लगाकर केवल सुषुम्ना नाड़ीकी खिड़की खुली रखते हैं, प्राण वायुकी शक्ति रूपी चामुंडाके लिए संकल्प रूपी भेड़े काटकर मन रूपी महिषासुरके मुंडका बलिदान करते हैं, जो चन्द्रमा और सूर्य अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियोंका एकीकरण करके नाद घोषकी सहायतासे सत्रहवीं पूर्णामृत कलाका जल शीघ्रतापूर्वक अपने अधिकारमें कर लेते हैं और तब मध्यमा अर्थात् सुषुम्ना नाड़ीके विवर रूपी मार्गसे चलकर अन्तिम ब्रह्मरन्ध्र तक जा पहुँचते हैं, केवल इतना ही नहीं, बल्कि जो मकार अर्थात् सुषुम्नाके विवरकी सीढ़ियाँ चढ़कर और महदाकाशको बगलमें दबाकर ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं और इस प्रकार समबुद्धि होकर जो लोग तत्काल ब्रह्म-साक्षात्कार प्राप्त करनेके लिए योग का बीहड़ मार्ग अपने अधिकारमें कर लेते हैं और जो अपने मनोभावके बदलेमें निर्गुण निराकार शून्य स्वरूप ब्रह्मको चटपट प्राप्त कर लेते हैं, हे अर्जुन, वही लोग आकर मुझमें मिलते हैं। यह बात नहीं है कि उन लोगोंको योग-बलसे इसके सिवा कुछ और अधिक प्राप्त होता हो। हाँ, यदि कुछ अधिक मिलता है तो वह केवल कष्ट ही मिलता है।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥

"जो लोग बिना भक्तिके ही उस निराधार तथा अव्यक्त तत्वको साधना करना चाहते हैं, जो समस्त भूतोंका कल्याण करनेवाला है, उनके मार्गमें महेन्द्र आदि पदोंकी वासनाएँ बाधक होती हैं और ऋद्धि-सिद्धि भी उनके काममें विघ्न उपस्थित करती हैं। उनके मार्गमें काम-क्रोधके उपद्रव बहुत होते हैं और इन सब बातोंके साथ साथ उन्हें शून्य ब्रह्मके बल पर लड़ना पड़ता है। उन्हें प्याससे ही प्यास बुझानी पड़ती है और भूखसे ही भूखको मारना पड़ता है और दिन-रात हाथोंसे हवा करनी पड़ती है। उन्हें दिनमें जागनेकी अवस्थामें ही सोना पड़ता है, इन्द्रिय-निग्रहका सुख भोगना पड़ता है और वृक्षोंके साथ सख्य भाव रखना पड़ता है। उन्हें शीत और उष्णताको ही अपने वस्त्र और ओढ़ना-बिछौना बनाना पड़ता है और वर्षाकी झड़ियोंमें ही अपना निवास-स्थान रखना पड़ता है। हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि यह योग वैसा ही है, जैसा किसी स्त्रीका उस अवस्थामें सती बनकर चिता पर बैठना, जिस अवस्थामें उसका कोई पति हो ही नहीं। इस योगमार्गमें न तो किसी स्वामीका कोई कार्य करना पड़ता है और न किसी प्रकारके कुलाचारका ही पालन करना पड़ता है। परन्तु हाँ, मृत्युके साथ निरन्तर युद्ध करना पड़ता है। इस प्रकार यह मरणसे भी तीव्र विष किस प्रकार पीया जाय? यदि कोई पर्वतको निगलनेके लिए अपना मुँह फैलावे तो क्या उसका मुँह फट जायगा? इसी लिए जो लोग इस योगके मार्ग पर चलते हैं, उनके भाग्यमें दुःखका बहुत अधिक अंश रखा रहता है। हे अर्जुन, देखो, जिसके दाँत झड़ गये हों और मुँह पोपला हो गया हो, यदि उसे लोहेके चने चबाने पड़ें, तो तुम्हीं बतलाओ कि उसका पेट भरेगा या प्राण जायेंगे? क्या केवल बाँहोंके बलसे तैरकर कभी समुद्र पार किया जा सकता है? आकाशमें कभी कोई पैरोंके बल चल सकता है? रण-क्षेत्रमें कूद पड़नेके उपरान्त क्या कभी सम्भव है कि शरीर पर

लकड़ीका एक भी बार सहे बिना कोई सूर्य-लोककी सीढ़ी पर चढ़ सके ? इसलिए हे अर्जुन, जिस प्रकार किसी पंगुलके लिए वायुके साथ प्रतिस्पर्धा करना उचित नहीं है, इसी प्रकार निर्गुणकी उपासनाके लिए शरीरधारियोंका प्रयत्न करना उचित नहीं है। लेकिन फिर भी जो लोग इतनी धृष्टता और दुस्साहस करके शून्यको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होते हैं, उन्हें बहुत अधिक क्लेश सहन करने पड़ते हैं। परन्तु हे अर्जुन, जो योगी भक्ति-मार्गका अवलम्बन करते हैं, उन्हें इन सब दुःखोंका कभी अनुभव नहीं करना पड़ता।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥

"अपने वर्ण-भेदके अनुसार जो कर्म अपने हिस्सेमें आते हैं, वे सब कर्म जो लोग अपनी कर्मेन्द्रियोंके द्वारा सुखपूर्वक करते हैं, सब शास्त्रोक्त कर्म करते रहते हैं और निषिद्ध कर्म छोड़ देते हैं और सब प्रकारके कर्म मुझे अर्पण करके उनके बन्धक गुणोंका नाश कर डालते हैं और इस प्रकार, हे अर्जुन, समस्त कर्मोंकी मुझमें समाप्ति करके उनका नाश कर देते हैं और शरीर, वाचा तथा मनकी जो और और प्रवृत्तियाँ हैं, उन्हें भी जो मेरे सिवा और कहीं जाने नहीं देते और इस प्रकार जो मेरी अखंड उपासना करते हैं, जो ध्यान के निमित्त मेरे निरन्तर निवास-स्थान बन गये हैं, जो अपने प्रेमपूर्ण गुणसे केवल मेरे साथ व्यवहार रखते हैं और विषय-भोग तथा मोक्षपद दोनोंके ही दुर्बल तथा दरिद्र कुल छोड़ देते हैं, और इस प्रकार एकनिष्ठ भक्तियोगसे जो अपने समस्त मनोभाव, अन्तःकरण और शरीर केवल मेरे अधीन कर देते हैं, उनका मैं कहाँ तक वर्णन करूँ ! उनकी समस्त कामनाएँ मुझे पूरी करनी पड़ती हैं।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥

"हे अर्जुन, तुम संक्षेपमें यही समझ लो कि जो माताके पेटमें आता है, वह माताको कितना अधिक प्रिय होता है ! इसी प्रकार वे भक्त भी चाहे जैसे हों, मुझे प्रिय होते हैं। कलि-कालकी सब विघ्न-बाधाओंको उनसे दूर रखकर उनकी रक्षा करनेका मानो मैंने पट्टा ही लिखा लिया है। और यदि ऐसा न हो, तो भी एक ओर तो मेरी भक्ति और दूसरी ओर संसार की चिन्ता। यह कैसी विलक्षण और असम्बद्ध कल्पना है ! क्या किसी सम्पन्न व्यक्तिकी प्रिय स्त्री भी कभी रूखे-सूखे अन्नके लिए किसीसे भिक्षा माँग सकती है ? इसी प्रकार मेरा भक्त भी मेरा प्रेमपात्र होता है। फिर भला क्या उसकी लज्जा मुझे न होगी ? जन्म और मृत्युकी लहरें सारी सृष्टि पर पड़ती हैं। यह देखकर मेरे मनमें यह बात आई कि कौन ऐसा है जो इस संसार-सागरकी लहरोंसे दुःखी न होता हो ? ऐसी अवस्थामें सम्भव है कि मेरे भक्त भी डर जाते हों। इसी लिए, हे अर्जुन, मैं राम और कृष्ण आदिके हजारों नामोंको तुम हजारों नौकाएँ ही समझो। इन नौकाओंको इस संसार-सागरमें सजाकर मैं अपने उन भक्तोंका तारक बन गया हूँ। फिर मेरे जो भक्त संगहीन और सबसे अलग रहनेवाले थे, उनके लिए मैंने अपने ध्यानका

आधार प्रस्तुत किया और जो संसारी या गृहस्थ थे, उन्हें मैंने इन नौकाओं पर बैठाया। कुछ भक्तोंके पेटके नीचे प्रेमकी पेटी बाँधी। और इस प्रकार अपने समस्त भक्तोंको मैंने आत्मैक्यके तट पर ला लगाया। केवल इतना ही नहीं, जिन जिन लोगोंने मेरी भक्ति की, उन सबको, फिर चाहे वे चतुष्पद और पशु ही क्यों न रहे हों, मैंने अपना भक्त मानकर उन्हें वैकुण्ठके साम्राज्यका स्वामी बनाया। इसी लिए मेरे भक्तोंको किसी प्रकार-की चिन्ता कष्ट नहीं पहुँचती और मैं उन्हें तारनेके लिए सदा उद्यत रहता हूँ। ज्योंही भक्त लोग अपनी चित्त-वृत्ति मुझे अर्पित करते हैं त्योंही वे मानों अपने प्रपंच रूपी खेलों-में मुझे भी अपना साथी बनाकर सम्मिलित कर लेते हैं। इसी लिए हे, अर्जुन, तुम निरन्तर इस मन्त्रका पाठ किया करो कि जिस समय जीव इस अनन्य भक्तिका मार्ग ग्रहण करता है, उसी समय वह श्रेष्ठ भक्त हो जाता है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

"बुद्धिसे निश्चय करके मनकी समस्त वृत्तियाँ मेरे स्वरूपमें स्थिर करो। हे अर्जुन, यदि बुद्धि और मन दोनों प्रेमपूर्वक पूर्ण रूपसे मुझमें रमण करने लगें, तब तुम आकर मुझमें मिल जाओगे। क्योंकि यदि मन और बुद्धि दोनों मेरे स्वरूपमें स्थिर होकर विहार करने लगें तो फिर भला "मैं" और "तुम" का भेद ही कहाँ बाकी रह जायगा ? जिस प्रकार आँचलसे हवा करने पर दीपक बुझ जाता है और उसका तेज नष्ट हो जाता है अथवा सूर्य-बिम्बके अस्त हो जाने पर उसका प्रकाश नहीं रह जाता अथवा जब जीव ऊपरकी ओर चलने लगता है, तब उसकी इन्द्रियाँ भी शरीरको छोड़ देती हैं, उसी प्रकार मन और बुद्धिके साथ अहंकार भी आपसे आप मेरी ही ओर आने लगता है। इसी लिए तुम अपने मन और बुद्धिको मेरे स्वरूपमें प्रविष्ट करके उन्हें वहीं स्थिर करो और तब इस कृत्यकी सहायतासे तुम मेरा सर्वव्यापक स्वरूप प्राप्त करोगे। मैं स्वयं अपनी शपथ खाकर तुमसे कहता हूँ कि इस सिद्धान्तमें कोई अपवाद नहीं है।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ॥ ९ ॥

"यदि मन और बुद्धि समेत तुम अपना चित्त पूर्ण रूपसे मेरे अधीन न कर सकते हो तो तुम ऐसा करो कि दिन और रातके आठ पहरोंमेंसे कमसे कम एक अल्प क्षण भरके लिए ही मन और बुद्धिके सहित अपना चित्त मुझे अर्पण करते चलो। फिर जिन क्षणोंमें मेरा सुख भोगनेको मिल सके, कमसे कम उन क्षणोंमें तुम्हारे मनमें विषयोंकी ओरसे विराग उत्पन्न होगा। और तब जिस प्रकार शरत्-काल आने पर नदी धीरे धीरे उतरने लगती है, उसी प्रकार तुम्हारा चित्त भी धीरे धीरे प्रपंचोंके वेगसे बाहर निकलने लगेगा। फिर ऐसा होने पर जिस प्रकार पूर्णिमासे चन्द्रमाका बिम्ब दिन पर दिन घटता घटता अन्तमें अमावस्याके दिन आकर बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार विषय-भोगोंसे बाहर निकलते निकलते और मेरे स्वरूपमें प्रवेश करते करते, हे अर्जुन, तुम्हारा चित्त धीरे धीरे मेरे ही स्वरूपके समान हो जायगा। जिसे अभ्यास-योग कहते हैं, वह

यही है। और इस संसारमें कोई बात ऐसी नहीं है जो इस अभ्यास-योगसे न सध सकती हो। इस अभ्यासके कारण ही कुछ लोग हवामें चलने लगते हैं, कुछ लोग बाघों और साँपोंको अपने वशमें कर लेते हैं, कुछ लोग विष पचा जाते हैं और कुछ लोग समुद्र पर पैरोंसे चलने लगते हैं। इसी अभ्यासके बलसे कुछ लोग वेद-विद्यामें पारंगत हो गये हैं। इसलिए ऐसी कोई बात नहीं है जो अभ्यासके साधनके लिए दुर्लभ हो। इसलिए तुम अभ्यास-योगसे ही मेरी प्राप्ति कर लो।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

"अथवा यदि इस प्रकारका अभ्यास करनेकी सामर्थ्य भी तुममें न हो तो फिर तुम जिस स्थल पर और जिस प्रकार हो, उसी स्थल पर और उसी प्रकार रहो। इन्द्रियोंको मत रोको, भोगोंको मत छोड़ो और अपनी जातिका अभिमान भी मत छोड़ो। कुलाचारका पालन करते चलो और विधि-निषेधका ध्यान रखो। इस प्रकार का आचरण करनेकी तुम्हें खुली आज्ञा दे दी जाती है। परन्तु मनसे, वाचासे, और कायासे जो जो कर्म हों, उनके सम्बन्धमें तुम कभी यह मत कहो कि ये कर्म मैंने किये हैं। करना और न करना तो एक मात्र विश्व-चालक परमात्मा ही जानता है। तुम अपने मनमें कभी इस बातका विचार मत करो कि यह कर्म न्यून है और यह कर्म पूर्ण है और अपने मनोभाव स्वयं अपनी आत्माके साथ एक-रूप करके अपने जीवनके सब काम करो। माली जिस तरफ पानी ले जाता है, वह चुपचाप उसी तरफ चला जाता है। उसी प्रकार तुम भी अपने कर्तृत्वका अभिमान छोड़कर शान्त रहो। तात्पर्य यह कि प्रवृत्ति और निवृत्तिके बोझ अपने चित्त पर मत लादो। अपनी चित्त-वृत्ति निरन्तर मुझमें ही स्थिर रखो। हे अर्जुन, जरा तुम्हीं इस बातको सोचो कि क्या रथ कभी इस बातका विचार करता है कि यह मार्ग सीधा-सादा है और वह मार्ग टेढ़ा तिरछा है? इस प्रकार अपने आपको अलग रखते हुए जो जो कर्म होते चलें, उनके सम्बन्धमें न तो कभी यह कहो कि ये न्यून हैं और न यह कहो कि ये अधिक हैं और शान्तिपूर्वक वे सब कर्म मुझे अर्पित करते चलो। हे अर्जुन, यदि तुम्हारी भावना इस प्रकारकी हो जायगी तो शरीर-पात होने पर तुम मोक्ष प्राप्त कर लोगे।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

"और हे अर्जुन, यदि वह कर्म-समर्पण भी तुम्हारे किये न हो सके तो तुम मेरी भक्ति करो। यदि कर्मके आरम्भ और अन्तमें अपनी सारी बुद्धिसे मुझे स्मरण करना तुम्हें कठिन जान पड़ता हो, तो तुम उसे भी रहने दो। यदि मेरा ध्यान एक ओर रख दिया जाय तो भी काम चल सकता है; परन्तु इन्द्रिय-निग्रहके सम्बन्धमें तुम्हारी बुद्धि अवश्य जाग्रत रहनी चाहिए। और तब जिस समय तुम्हारे द्वारा जो कर्म हों, उसी समय तुम उन सब कर्मोंके फलोंका त्याग करते चलो। जिस प्रकार वृक्ष अथवा बेलें अपने फलोंको अन्तमें नीचे गिरा देती हैं, उसी प्रकार जो जो कर्म सिद्ध होते चलें, उन

सबका तुम त्याग करते चलो—उन्हें अपनेसे दूर और अलग करते चलो। केवल इतना ही नहीं, वे कर्म करते समय मेरा स्मरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है और उन्हें मेरे प्रीत्यर्थ अर्पित करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। तुम आनन्दसे उन कर्मोंको उनके फलों सहित शून्यमें विलीन हो जाने दो। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल अथवा अग्निमें बोये हुए बीज निष्फल होते हैं, उसी प्रकार तुम अपने समस्त कर्मोंको भी स्वप्नवत् निष्फल समझो। जिस प्रकार कोई अपनी कन्याके सम्बन्धमें अपने मनमें विषय-वासना नहीं रखता, ठीक उसी प्रकार तुम्हें भी अपने समस्त कर्मोंके सम्बन्धमें सदा निष्काम रहना चाहिए। जिस प्रकार अग्निकी ज्वाला आकाशमें पहुँचकर नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार तुम भी अपने समस्त कर्मोंको शून्यमें विलीन हो जाने दो। हे अर्जुन, यद्यपि कर्म-फलोंका यह त्याग देखनेमें सुगम जान पड़ता है, तो भी यह समस्त योगोंमें सबसे अधिक श्रेष्ठ योग है। इस फल-त्यागसे जिन कर्मोंका नाश होता है, वे कर्म कभी बढ़ते नहीं—उनसे कभी दूसरे कर्म उत्पन्न नहीं होते। जब बाँसमें एक बार बीज आ जाते हैं, तब वे बाँस बन्ध्या हो जाते हैं और वहींसे उनका अन्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार फल-त्यागके द्वारा जब वर्तमान शरीरका नाश होता है, तब मनुष्यको फिर कभी शरीर नहीं धारण करना पड़ता। केवल यही नहीं, जन्म और मरणका चक्र ही सदाके लिए बन्द हो जाता है। हे अर्जुन, अभ्यासकी सीढ़ियाँ चढ़कर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और ज्ञानकी साधना हो जाने पर ध्यानकी प्राप्ति की जा सकती है। फिर जब ध्यानमें सारी वृत्तियाँ रँग जाती हैं, तब समस्त कर्म-समूह मनुष्यसे अलग हो जाते हैं। इस प्रकार कर्मोंके दूर हो जाने पर आपसे आप फल-त्याग हो जाता और इस फल-त्यागसे मनुष्यको अखंड शान्ति प्राप्त होती है। हे अर्जुन, शान्ति प्राप्त करनेका यह ऐसा मार्ग है जिसमें मनुष्य क्रम क्रमसे चलकर और सीढ़ियाँ पार करता हुआ आगे बढ़ सकता है; इसलिए अभ्यासका अंगीकार करना ही उचित है।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥

"हे अर्जुन, अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानकी अपेक्षा कर्म-फलका त्याग श्रेष्ठ है और कर्म-फल-त्यागकी अपेक्षा शान्ति-सुखकी प्राप्ति श्रेष्ठ है। यही इस मार्गकी बराबर आगे बढ़नेवाली परम्परा है। हे पार्थ, इस प्रकार एक एक कदम आगे बढ़ते हुए शान्ति अथवा ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति की जा सकती है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१४॥

"जो मनुष्य भूत मात्रसे कभी किसी प्रकारका द्वेष नहीं करता, जिसे चैतन्यकी भाँति यह भेद-भाव कभी स्पर्श ही नहीं करता कि यह अपना है और वह पराया है,

जिसके मनमें पृथ्वी माताकी भाँति यह विचार कभी नहीं आता कि उत्तमको तो आश्रय देना चाहिए और नीचको यों ही छोड़ देना चाहिए, जो प्राण-वायुकी तरह अपने मनमें इस बातका कभी कोई भेद-भाव नहीं रखता कि मैं राजाके शरीरमें तो रहूँगी, परन्तु दरिद्रके शरीरको स्पर्श नहीं करूँगी, जो सदा सब पर कृपा रखता है, जिस प्रकार पानी कभी यह नहीं कहता कि मैं गौकी प्यास तो बुझाऊँगा, परन्तु बाघके लिए मैं विष बनकर उसे मार डालूँगा, उसी प्रकार जो प्राणी मात्रको एकरूप समझकर उनके साथ मैत्री रखता है और सम भावसे उन पर कृपा रखता है और जो यह बात कभी जानता ही नहीं कि यह मैं हूँ और यह मेरा है, जिसे सुख-दुःखका विचार कभी कष्ट नहीं देता, जिसमें उतनी ही क्षमा होती है, जितनी सब कुछ सहनेवाली पृथ्वीमें होती है, जो सन्तोषको सदा अपनी गोदमें खेलाता रहता है, जो स्वयं ही सन्तोषसे उसी प्रकार ओत-प्रोत भरा रहता है, जिस प्रकार बिना बरसाती वर्षाके भी समुद्र लबालब भरा रहता है, जो अपने अन्तःकरणको प्रतिज्ञा-पूर्वक अपने अधीन रखता है, जिसका निश्चय सदा अखंड रहता है, जिसमें जीव और शिव दोनों पूर्ण रूपसे एक होकर एकत्र ही निवास करते हैं, और जो इस प्रकार योग युक्त होकर अपना मन और बुद्धि पूर्ण रूपसे मुझे अर्पित कर देता है, अन्दर और बाहर योगके उत्तम रीतिसे दृढ़ हो जानेके कारण जो मेरी प्रेमपूर्ण भक्तिमें रँग जाता है, हे अर्जुन, उसीको भक्त, उसीको योगी और उसीको मुक्त समझना चाहिए। जिस प्रकार पतिको पत्नी प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय होती है, उसी प्रकार वह भक्त भी मुझको प्राणोंसे बढ़कर प्रिय होता है। केवल यही नहीं, उसके प्रति मेरा जो प्रेम होता है, उसका स्वरूप पूर्ण रूपसे इस उपमासे भी स्पष्ट नहीं होता कि वह मुझे प्राणोंके समान प्रिय होता है। परन्तु यह प्रेमकी कथा मानों भ्रममें डालनेवाला जादूका खेल है। यह प्रेम-कथा वास्तवमें शब्दोंमें कही ही नहीं जा सकती। परन्तु यह थोड़ा-सा वर्णन केवल श्रद्धाके बलसे किया गया है। और इसी लिए यह पती-पत्नीके प्रेमकी उपमा मुँहसे निकल गई है। परन्तु इस निस्सीम प्रेमका वास्तविक वर्णन करना किसी प्रकार सम्भव नहीं है। परन्तु हे अर्जुन, इस प्रकारकी बातें बहुत हो चुकीं, क्योंकि जब प्रिय भक्तका प्रसंग चल पड़ा है, तब भक्तके प्रति मेरे मनका प्रेम दूने जोरसे बढ़कर उछलने लगा है। तिस पर यदि श्रोता भी उसी प्रकारका प्रेमपूर्ण मिल जाय तो फिर ऐसा काँटा कहाँ मिलेगा, जिस पर इस विषयका माधुर्य तौला जा सके? इसी लिए, हे अर्जुन मैं तुमसे यह कहता हूँ कि वह प्रिय भक्त और प्रेमपूर्ण श्रोता तुम्हीं हो। तिस पर प्रिय भक्तके वर्णनका प्रसंग भी सहजमें प्राप्त हो गया था, इसी लिए बातें करते करते मैं स्वभावतः इस वर्णनके आनन्दमें लीन हो गया।" इतना कहकर देव तुरन्त ही प्रेमानन्दसे झूमने लगे। फिर उन्होंने कहा—"हे अर्जुन, इस प्रकारके जिस भक्तके लिए मैं अपने अन्तःकरणमें आसन बिछा देता हूँ, अब उस भक्तके लक्षण सुनो।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥

"जिस प्रकार समुद्रके गर्जनसे जल-चरोंको भय नहीं जान पड़ता और जिस प्रकार जलचर कभी समुद्रसे घबराते या उकताते नहीं, वैसे ही जिसे इस जगतकी उन्मत्ततासे कभी खेद नहीं होता और जिससे जगतको भी कभी कोई कष्ट नहीं पहुँचता और, हे अर्जुन, जिस प्रकार शरीर कभी अपने अवयवोंसे नहीं घबराता, उसी प्रकार आत्मैक्य भावसे जो कभी जीव मात्रसे दुःखी नहीं होता, जिसके मनमें यह भावना रहती है कि यह सारा संसार अपना ही है, जिसके मनमें प्रिय और अप्रियका भेद नहीं रह जाता और दुजायगीका भाव न रह जानेके कारण जिसमें हर्ष और शोकका नाम भी नहीं रह जाता, इस प्रकार द्वन्द्व बुद्धिके जंजालसे छुटकारा पाकर जो भय और उद्वेग आदि विकारोंसे अलिप्त हो जाता है और साथ ही जो मेरा भक्त भी है, उस पुरुषके प्रति मेरे मनमें मोह या प्रेम उत्पन्न होता है। उस मोहक प्रेमका भला मैं क्या वर्णन करूँ! वह तो मेरे जीवका भी जीव होता है। जो आत्मानन्दसे तृप्त हो गया है, जो केवल स्वाभाविक परिणाममें जन्मको प्राप्त हुआ है, परन्तु जो पूर्णत्वको प्राप्त होकर मेरा प्रिय बन गया है, हे अर्जुन, जिसके अन्तःकरणमें वासनाका कभी प्रवेश भी नहीं होता है, जिसके अस्तित्वसे ही सुखकी वृद्धि होती है, वही मेरा प्रिय भक्त होता है। काशी क्षेत्र उदारतापूर्वक मोक्ष प्राप्त करा देता है, परन्तु किसको? उसीको जिसका उस क्षेत्रमें शरीर-पात होता है। हिमालय भी पापोंका नाश करता है; परन्तु इस पापोंके प्रक्षालनमें प्राणोंकी हानि होती है। परन्तु सज्जनोंमें जो पवित्रता होती है, वह इस प्रकारकी नहीं होती। गंगाजल अपने पावन गुणसे पवित्र है और वह पापके तापोंका नाश करता है। परन्तु फिर भी इसके लिए उस गंगा-जलमें स्नान करना पड़ता है, जिसमें डूब जानेका भय होता है। परन्तु इस भक्ति-रूपी नदीकी गहराईकी थाह यद्यपि आज तक कभी किसीको नहीं मिली है, तो भी यह ऐसी है कि इसमें भक्त कभी-डूबकर अपने प्राण नहीं गँवाता। वह मरता नहीं, बल्कि जीवित अवस्थामें ही उसे नगद मोक्षकी प्राप्ति होती है। जिन सन्तोंके संसर्गसे गंगामें शुचिता और पावनता आती है, उन सन्तोंकी शुचिता कितनी श्रेष्ठ कोटिकी होनी चाहिए? तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो अपनी शुचिताके कारण तीर्थोंका भी आश्रय बनता है, जो अपने मनकी मैल सब दिशाओंके उस पार भगा देता है, जो अन्दर और बाहर सूर्यके समान स्वच्छ तथा निर्मल है, जो तत्त्वार्थका रहस्य उसी प्रकार जानता है, जैसे पैरोंमें दृष्टिकी शक्ति रखनेवालेको भूमिके अन्दरके द्रव्योंका खजाना साफ दिखाई पड़ता है, वही मेरा भक्त है। आकाश सबको व्याप्त कर लेता है, परन्तु फिर भी वह सबसे अलिप्त रहता है। ठीक इसी प्रकार जिसका मन सदा सर्वत्र व्यापक रहने पर भी सबसे उदासीन रहता है, जो संसारके तापोंसे उसी प्रकार छूट जाता है, जिस प्रकार कोई पक्षी किसी व्याधके हाथसे छूट जाता है और इस प्रकार जो वैराग्यमें पूर्ण पारंगत हो जाता है, सदा आत्म-सुखमें रँगे रहनेके कारण जिसे किसी प्रकारका कष्ट दुःखी नहीं करता, जिसे लज्जा उसी प्रकार स्पर्श नहीं करती, जिस प्रकार किसी मृतकको स्पर्श नहीं करती,

कोई कर्म आरंभ करनेके विषयमें जिसे अहंकारकी कुछ भी बाधा नहीं होती, ईंधन न मिलनेके कारण अग्निमें जिस प्रकारकी शान्ति आपसे आप आ जाती है, मोक्ष-प्राप्तिके लिए आवश्यक वही सहज शान्ति जिसके हिस्सेमें आ पड़ी है, हे अर्जुन जो इस उच्चता तक पहुँचनेके योग्य ब्रह्मैक्य भावसे ओत-प्रोत भरा हुआ है और द्वैतके उस पारके तट तक पहुँच चुका है, अथवा मुक्ति-सुखका अनुभव प्राप्त करनेके लिए जो स्वयं ही दो भागों-में विभक्त हो जाता है और एक भागमें तो स्वयं अपनी सेवकता रखता है और दूसरे भागको "मैं" अर्थात् "देव" का नाम देता है और जो योगी भक्तिहीनोंको भक्ति पर विश्वास करा देता है, उस योगी भक्तसे मुझे बहुत अधिक प्रेम होता है। मैं स्वयं ही ऐसे भक्तोंका ध्यान करता रहता हूँ। ऐसे भक्तके प्राप्त होते ही मुझे बहुत समाधान होता है। ऐसे ही भक्तोंके लिए मैं सगुण रूप धारण करता हूँ, उनके लिए मैं इस संसारमें विचरण करता हूँ और वे मुझे इतने अधिक प्रिय होते हैं कि मैं उन पर जी जान निछावर कर देता हूँ।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥

"जो यह मानता है कि आत्म-स्वरूपकी प्राप्तिके समान उत्तम बात और कोई नहीं है और इसी लिए जिसे किसी प्रकारके विषय-भोगसे आनन्द नहीं होता, जिसे इस बात-का ज्ञान हो जाता है कि मैं ही सारा विश्व हूँ और इस ज्ञानके कारण सहजमें ही जिसका भेदभाव नष्ट हो जाता है, जिसमें द्वेष नामको भी नहीं रह जाता, जिसे इस बातका पूर्ण विश्वास हो जाता है कि हमारे जो वास्तविक तत्व हैं, कल्पान्तमें भी नष्ट नहीं होंगे और इस विश्वासके कारण जो नित्य होती रहनेवाली बातोंका शोक नहीं करता, जिस आत्म-स्वरूपसे बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है, उस आत्म-स्वरूपको प्राप्त कर चुकनेके कारण जो और किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करता, जिसे अच्छे और बुरेका भेद उसी प्रकार कभी नहीं जान पड़ता, जिस प्रकार सूर्यके लिए रात्रि और दिन कभी नहीं होता और इस प्रकार जो ज्ञानकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही बन जाता है और उसमें भी जो मेरा प्रेम-पूर्ण भक्त होता है, उस भक्तके समान मुझे और कुछ भी प्रिय नहीं होता। मैं तुम्हारी शपथ खाकर ये सब बातें बिलकुल सच सच कह रहा हूँ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

"हे अर्जुन, जिसमें विषम भाव नामको भी नहीं होता, जो शत्रुओं और मित्रोंको समान समझता है, जो दीपककी तरह ही रहकर कभी यह विचार अपने मनमें नहीं लाता कि मैं अपने घरके लोगोंके लिए तो प्रकाश करूँगा और बाहरवालोंके लिए अँधेरा ही रखूँगा, वह मेरा परम प्रिय भक्त होता है। कोई तो कुल्हाड़ी लेकर वृक्षको काटने लग जाता है और कोई बीज बोकर वृक्ष लगाता है। परन्तु वृक्ष उन दोनोंको ही समान

रूपसे अपनी शीतल छाया देता है। जो खेतिहर खेतमें पानी डालकर ईख सींचता है, उसे भी ईख अपनी मिठास ही देती है और जो उसे कोल्हूमें डालकर पेरता है, उसे भी वह मिठास ही देती है। यह बात नहीं होती कि वह जल सींचनेवालेको तो मिठास दे और पेरनेवालेको कड़ुई लगे। वह दोनोंके लिए समान रूपसे मीठी रहती है। इसी प्रकार जो अपने शत्रुओंके साथ भी और मित्रोंके साथ भी एक ही प्रकारके और सम भावसे व्यवहार करता है, जो मान और अपमान दोनोंको समान समझता है, जो शीत और उष्णता आदि द्वन्द्वोंमें उसी प्रकार समान और एक-रूप रहता है, जिस प्रकार आकाश तीनों ऋतुओंमें समान और एक-रूप रहता है, जो सहज भावसे प्राप्त होनेवाले सुखों और दुःखोंके मध्यमें उसी प्रकार अचल और विकार-हीन रहता है, जिस प्रकार दक्षिणी वायु और उत्तरी वायु दोनोंके बीचमें मेरु पर्वत और अचल और विकार-हीन रहता है, जो भूत मात्रके साथ उसी प्रकार समान भावसे आचरण करता है, जिस प्रकार चन्द्रमाकी चन्द्रिका राजा और दरिद्र सबके साथ समान रूपसे व्यवहार करके उन्हें प्रिय तथा मधुर लगती है, जिसको त्रिभुवन उसी प्रकार चाहते हैं, जिस प्रकार सारा संसार पानीको चाहता है, जो अन्दर और बाहर विषयोंकी अभिलाषाका संग छोड़कर और स्वयं अपने आपमें ही रमण करता हुआ एकान्तवास करता है, जो निन्दा पर कुछ भी ध्यान नहीं देता और स्तुतिसे भी आनन्दित नहीं होता, जो इन सब बातोंसे उसी प्रकार निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश मेघ आदिसे निर्लिप्त रहता है और निन्दा तथा स्तुतिको एक ही कोटिमें स्थान देता है, जो बस्तीमें भी और निर्जन वनमें भी समान रूपसे और अ-चंचल वृत्तिसे विचरण करता है, जो न तो कभी मिथ्या ही बोलता है और न कभी सत्य ही बोलता है, बल्कि सदा मौन रहता है और उन्मनी नामक ब्रह्म-स्थितिका अनुभव करता रहता है और कभी उससे विमुख नहीं होता, जो सदा समुद्रकी तरह उसी प्रकार भरा-पूरा रहता है, जिस प्रकार वह वर्षा न होने पर भी भरा पूरा रहता है, जो लाभ होने पर भी आनन्दसे फूल नहीं जाता और हानि होने पर भी दुःखसे दुःखी नहीं होता, और जो उसी प्रकार सारे विश्वको अपनी विश्रान्तिका स्थान बनाये रहता है, जिस प्रकार वायु निरन्तर सारे आकाशमें विचरण करती रहती है, जो इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त करके अपना मन सदा स्थिर रखता है कि यह सारा विश्व ही मेरा घर है, बल्कि जो यह जानता और समझता है कि संसारमें जितने चराचर हैं, सब मैं ही हूँ और हे पार्थ, ऐसी अवस्थामें पहुँच जाने पर भी जिसे मेरी भक्तिका शौक और श्रद्धा रहती है, उसे मैं स्वयं अपने मस्तक पर मुकुटके समान धारण करता हूँ। यदि किसी उत्तम और श्रेष्ठ व्यक्तिके सामने सिर झुकाया जाय तो इसमें आश्चर्य ही किस बातका है? परन्तु त्रिभुवन भी उसके चरण-रूपी तीर्थ बड़े आदरसे अपने मस्तक पर रखता है। वह मैं अपने श्रद्धालु भक्तका कितना अधिक आदर करता हूँ, यह ठीक तरहसे समझनेके लिए स्वयं सदाशिव-जैसा ही सद्गुरु होना चाहिए। परन्तु इस सम्बन्धमें इतना ही कथन यथेष्ट है। क्योंकि यदि मैं श्री शंकरके महत्वका वर्णन करूँ तो मानों स्वयं अपनी ही [illegible] करनेके समान होगा और इस

प्रकार मानों अभिमान करता होगा।" इसलिए रमापति कृष्णने कहा—"मैं इस बातका अधिक वर्णन नहीं करता। परन्तु हे अर्जुन, इतना अवश्य कह देता हूँ कि ऐसे भक्तको मैं मस्तक पर धारण करता हूँ। चौथा पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसे तो वह स्वयं अपने हाथोंमें ही लेकर भक्तिके मार्गमें प्रवेश करता है और तब सारे जगतको वह मोक्ष देने लगता है। कैवल्यको तो वह अपने हाथमें ले लेता है और मोक्ष-रूपी द्रव्यको वह जिस प्रकार चाहता है, उसी प्रकार खोलता और बाँधता है और जिस तरह चाहता है, उसी तरह रखता निकालता है। परन्तु फिर भी वह जलके प्रवाहकी तरह अपने लिए तलका स्थान ही स्वीकार करता है और सदा नम्रता धारण करता है। इसी लिए मैं भी ऐसे भक्तको नमन करता हूँ, उसे मुकुटके समान अपने मस्तक पर धारण करता हूँ और उसकी लातकी मार भी अपने वक्ष-स्थल पर सहन करता हूँ। उसके गुणोंका वर्णन करके मैं अपनी वाणीको भूषित करता हूँ और उसके गुण-श्रवणके कुंडल अपने कानोंमें धारण करता हूँ। ऐसे भक्तोंके दर्शनकी बहुत अधिक इच्छा होनेके कारण ही मैं चक्षु न होने पर भी चक्षुओंसे युक्त हुआ हूँ। इस हाथका भूषण होनेवाले कमलसे मैं उसकी पूजा करता हूँ। मैं जो अपनी दो भुजाओंके ऊपर और दो भुजाएँ धारण करके आया हूँ, इसका कारण यही है कि मैं ऐसे भक्तको दोनों भुजाओंसे खूब अच्छी तरह आलिंगन करना चाहता हूँ। ऐसे भक्तकी संगतिका सुख प्राप्त करनेके लिए ही मैं देह-हीन होने पर भी देह धारण करता हूँ। किसी प्रकारकी उपमाके द्वारा मैं यह बात नहीं बतला सकता कि ऐसा भक्त मुझे कितना अधिक प्रिय होता है। यदि ऐसे भक्तके साथ मेरी निर्मल मैत्री हो तो इसमें आश्चर्य ही किस बातका है? जो लोग ऐसे भक्तोंके चरित्र सुनते अथवा उनका गान करते हैं, इसमें सन्देह नहीं कि वे भी मुझे प्राणोंसे भी कहीं अधिक प्रिय होते हैं। हे अर्जुन, आज मैं तुमको भक्ति-योग नामक जो यह सर्वश्रेष्ठ योग पूरी तरहसे बतलाया है, यह वही योग है जिसके कारण मैं अपने भक्तों को प्रिय समझता हूँ, अथवा उनका ध्यान करता हूँ अथवा उन्हें अपने मस्तक पर धारण करता हूँ।

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥

"जिस योगमें इतना अधिक महत्व है, उस योगकी मनोहर, पवित्र और अमृतकी धाराके समान मधुर बात जो लोग सुनकर उसका अनुभव करते हैं, जो लोग अत्यन्त श्रद्धापूर्वक ऐसी बातोंका विस्तार करते हैं और जो इस बातको निरन्तर अपने हृदयमें रखकर इसके अनुसार आचरण करते हैं, ऊपर बतलाई हुई पूरी पूरी मन की स्थिति होने पर उपजाऊ भूमिमें बोये हुए बीजोंसे उत्पन्न होनेवाले उत्तम फल मिलने पर भी जो मुझे अत्यन्त श्रेष्ठ समझते हैं और मेरी भक्तिके प्रति अपना प्रेम रखकर उसीको अपना सर्वस्व मानते हैं, हे अर्जुन, इस संसारमें वही सच्चे भक्त और सच्चे योगी हैं। मुझे निरन्तर उन्हींकी उत्कंठा लगी रहती है। जिन पुरुषोंको भक्ति-सम्बन्धी कथाओंका प्रेमपूर्ण अनुराग होता है, वही तीर्थ और वही क्षेत्र हैं और वही इस संसारमें वास्तवमें

पवित्र हैं। मैं उन्हींका ध्यान करता हूँ, वही मेरे देवार्चन हैं और उनसे बढ़कर अच्छा मुझे और कोई दिखाई नहीं पड़ता। मुझे उन्हींका व्यसन रहता है और वही मेरे द्रव्य-के कोष हैं। यहाँ तक कि ऐसे भक्तोंके प्राप्त हुए बिना मेरे मनको समाधान ही नहीं होता। हे अर्जुन, जो लोग ऐसे प्रेमी भक्तोंकी कथाओंका गान करते हैं, उनका मैं श्रेष्ठ देवताओं-के समान आदर करता हूँ।" भक्तोंको आनन्द देनेवाले और समस्त जगतके मूल कारण भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे ये सब बातें कहीं। ये सब बातें कहकर संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, जो भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध, दोषहीन, दयालु, शर-णागतका प्रतिपालन करने वाले और रक्षक हैं, जो देवताओंकी सदा सहायता करते हैं, लोकोंका लालन-पालन करते हैं, जगतका पालन करना ही जिनका सदाका खेल है, जिनका पवित्र यश अत्यन्त निर्मल है, जो सरल और अपरम्पार उदार हैं, जिनका बल असीम है और जो बलिष्ठोंको बिना अपनी आज्ञामें लाये नहीं छोड़ते, जो भक्तोंके साथ प्रेम करनेवाले, अपने प्रेमियोंके साथ स्नेह करनेवाले, सत्यका पक्ष लेनेवाले और समस्त कला-कौशलके आगर हैं, वे भक्तोंके सम्राट् वैकुण्ठाधिपति श्रीकृष्ण स्वयं ही इस प्रकार-की बातें कह रहे थे और वह भाग्यशाली अर्जुन ये सब बातें सुन रहा था। अब मैं इसके आगेकी कथाका निरूपण करता हूँ। आप सुनें।" इस प्रकार संजयने धृतराष्ट्रसे ये सब बातें कहीं। संजयकी कही हुई वही रसपूर्ण कथा अब देशी भाषामें कही जायगी। श्रोता लोग इस कथाकी ओर ध्यान दें। श्रीनिवृत्तिनाथका शिष्य ज्ञानदेव श्रोताओंसे प्रार्थना करता है कि हे महाराज, स्वामी निवृत्तिदेवने मुझे यही शिक्षा दी है कि आप सन्तजनोंकी सेवामें आकर मैं आप लोगोंकी सेवा करूँ।

तेरहवाँ अध्याय

जिनका स्मरण करते ही शिष्यमें समस्त विद्याएँ आ जाती हैं, उन श्री गुरु-चरणोंकी मैं वन्दना करता हूँ। जिनका स्मरण करते ही काव्य-शक्ति आ जाती है, सब प्रकारकी रसाल वक्तृताएँ जिह्वाके अग्र भाग पर आकर उपस्थित होती हैं, जिनके स्मरणसे वक्तृत्वकी मधुरताके आगे अमृत भी फीका पड़ जाता है, प्रत्येक अक्षरके सामने सब रस सेवकोंकी भाँति हाथ जोड़कर खड़े रहते हैं, उद्दिष्ट अर्थ खुल जाता है, रहस्यका ज्ञान हो जाता है और सम्पूर्ण आत्म-बोध हस्तगत हो जाता है, वे श्री गुरु-चरण ज्योंही आकर अन्तःकरणमें स्थिर होते हैं, त्योंही ज्ञानका प्रकाश अपने वैभवको प्राप्त होता है। इसी लिए उन गुरु-चरणोंको नमस्कार करके अब मैं यह बतलाता हूँ कि जगतके पितामह अर्थात् ब्रह्माके भी जनक रमा-वल्लभ श्रीकृष्णने क्या कहा।

श्रीभगवानुवाच—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ १॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, सुनो। देहको "क्षेत्र" कहते हैं और जिसे इस क्षेत्रका ज्ञान होता है, उसे क्षेत्रज्ञ समझना चाहिए।

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥ २॥

"परन्तु इस प्रसंगमें निस्सन्देह रूपसे तुम यह समझ रखो कि "क्षेत्रज्ञ" मैं ही हूँ, क्योंकि मैं ही समस्त क्षेत्रों अर्थात् शरीरोंका पोषण करता हूँ। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो सच्चा ज्ञान है, वही मेरे मतसे सबसे उत्तम ज्ञान है।

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु॥ ३॥

"अब मैं यह बात बतलाता हूँ कि इस शरीरको "क्षेत्र" कहनेका उद्देश्य क्या है। सुनो। इसे क्षेत्र क्यों कहते हैं, यह कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है और किन किन विकारोंसे इसका विस्तार होता है? यह क्षेत्र यही साढ़े तीन हाथ का छोटा सा ही है? या बड़ा है तो कितना बड़ा है और किस आकारका है? यह अनुर्वर है अथवा उर्वर है? इसका स्वामी कौन है? आदि आदि इस विषयके जितने प्रश्न हैं, अब मैं उन सबका सांगोपांग स्पष्टीकरण करता हूँ, इसलिए तुम इन सब बातोंकी ओर ध्यान दो। हे अर्जुन, इन्हीं प्रश्नोंकी मीमांसा करनेके लिए वेद बड़बड़ाते रहते हैं और तर्कोंका आन्तिक चरखा सदा चलता रहता है। इन्हीं प्रश्नोंका निराकरण करते करते षट् दर्शनोंका

अन्त हो गया, तो भी आज तक वे एक मत नहीं हो सके हैं। इन्हीं बातोंके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें आपसमें झगड़े होते हैं और सारे जगतमें इन्हीं बातोंके सम्बन्धमें अखंड वाद-विवाद होते रहते हैं। इन विषयोंमें किसीकी बात दूसरेकी बातोंसे नहीं मिलती, कोई किसीका मुँह नहीं देखता, मतोंमें आपसमें नहीं पटती, ऊहापोहकी दुर्दशा हो गई है और चारों ओर केवल गड़बड़ी फैली हुई है। अभी तक इस बातका किसीको पता नहीं चला कि इस क्षेत्रका स्वामी कौन है। परन्तु अहम्मन्यता का लोभ इतना प्रबल होता है कि घर घर इसी विषयके झगड़े होते रहते हैं। नास्तिकोंका मुकाबला करनेके लिए वेदोंने बड़े बड़े आडम्बर रचकर खड़े किये हैं और पाखंडियोंने वेदोंके विरुद्ध उल्टी सीधी वाचालता आरम्भ कर दी है। पाखंडी कहते हैं—'इन वेदोंका कोई आधार ही नहीं है, ये झूठमूठके शाब्दिक जाल फैलाते हैं। यदि तुम हमारी बातको झूठ समझते हो तो इसे सिद्ध करनेके लिए हमने यह प्रतिज्ञाका बीड़ा रखा है। यदि साहस हो तो इसे उठा लो। हम भी देख लें।' बहुतसे लोगोंने पाखंडमें प्रवेश करके वस्त्रोंका परित्याग करके लुटिया डुबोई है, परन्तु उनके वितंडावाद आपसे आप स्वयं उन्हींको परास्त कर देते हैं। मृत्युकी परम प्रबल सामर्थ्य देखकर योगी इस भयसे कुछ और आगे बढ़े कि मृत्यु आने पर यह देह-क्षेत्र व्यर्थ हो जायगा। मृत्युसे घबरानेवाले वे योगी मनुष्योंकी बस्तीसे दूर और एकान्त स्थानोंमें रहने लगे और उन्होंने यम-नियमोंके झगड़े अपने साथ लगा लिये। इसी देह-क्षेत्रकी विवेचना करनेके लिए श्रीशंकरने शिव-लोकका परित्याग किया और चारों ओर उपाधियाँ देखकर केवल श्मशान भूमिमें आश्रय लिया। शंकरकी प्रतिज्ञा इतनी प्रबल थी कि केवल दिगम्बर होकर काम या मदनको इसलिए भस्म कर डाला कि वह लोगोंको प्रलोभनोंमें फँसानेवाला है। सामर्थ्य बढ़ानेके लिए ब्रह्माको एकके बदले चार मुख प्राप्त हुए, परन्तु फिर भी इस विषयका उन्हें ज्ञान नहीं हुआ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥ ४॥

"कुछ लोग कहते हैं कि यह देह-क्षेत्र वास्तवमें पूर्ण रूपसे जीवका ही खेत है और प्राण उसमें खेती-बारी करनेवाला खेतिहर या असामी है। इस प्राणके घरमें अपान, व्यान, समान और उदान ये चार भाई काम-धन्धा करनेवाले हैं और मन, उन सब पर मुख्य हल चलानेवाला और बीज आदि बोनेवाला है। इस मनके पास खेत जोतनेके लिए इन्द्रिय रूपी बैल हैं। यह मन न तो दिनको दिन और न रातको रात समझता है और हर दम विषयोंके खेतमें परिश्रम करता रहता है। वह इस प्रकारकी जोताई करके जो मिट्टी ऊपर-नीचे करता है, उसके कारण उसमेंसे कर्त्तव्य कर्मके आचरणका तत्व निकल जाता है और तब वह खेतिहर इस तत्वका नाश करके अन्यायके बीज बोता है और कुकर्मोंकी खाद डालता है। तब उन्हीं बीजों और खादके उपयुक्त पापोंकी फसल पैदा होती है जिससे जीवको करोड़ों जन्मोंतक दुःख भोगना पड़ता है। परन्तु ऐसा न करके यदि कर्त्तव्य-कर्मोंके तत्वको स्थिर रहने दिया जाय और सत्कर्मोंके बीज बोये जायँ, तो वही जीव सैकड़ों जन्मों तक सुख भोगता है। इस पर कुछ और लोग यह

कहते हैं कि यह बात बिलकुल नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि यह देह-क्षेत्र केवल जीवका ही है। इस क्षेत्रके सम्बन्धमें सब बातें हमें जाननी चाहिएँ। यह जीव तो केवल एक प्रवासी है। यह घूमता फिरता आता है और रास्तेमें कुछ समयके लिए इस क्षेत्रमें भी निवास कर लेता है। प्राण इस क्षेत्रका अधिकारी है और वह सदा जागकर इसका पहरा देता रहता है। सांख्य शास्त्रमें जिसे अनादि प्रकृति कहते हैं, वास्तवमें उसीको इस क्षेत्रकी वृत्ति प्राप्त है। इस घरके जितने झगड़े-बखेड़े या प्रपंच हैं, वे सब उसीके हैं। इसलिए इस क्षेत्रकी जोताई-बोआई आदि उसीके कर्मचारी करते हैं। इस संसारमें इस खेती-बारीका काम करनेवाले जो मुख्य तीन गुण हैं, वे इसी प्रकृतिके पेटसे जनमे हुए हैं। रजोगुण जोताई करता है, सत्वगुण पैदावारकी रखवाली करता है और तमोगुण वह फसल काटकर और उसे बरसाकर इकट्ठा करता है। फिर महत्तत्वका खलिहान तैयार किया जाता है और केवल काल स्वरूप बैलोंके द्वारा उस फसलकी दँवाई होती है। प्रायः इसी समय अव्यक्तका सायंकाल हो जाता है।" इस पर कुछ दूसरे समझदार आपत्ति करते हुए कहते हैं—"ये सब बातें तो बहुत हालकी हैं। वास्तवमें परतत्व ब्रह्म ही है। फिर उस ब्रह्मके सामने प्रकृतिको कौन पूछता है! तुम्हारा यह क्षेत्र-सम्बन्धी विचार सुनना मानों व्यर्थकी बकवाद सुनना है। शून्य ब्रह्मके शयनागारमें सत्ववाली अवस्थाके पलंग पर जो आदि संकल्प सोया हुआ था, वह एकाएक जाग उठा। वह बहुत चंचल और उद्यमी था, इसलिए उसने अपने मनकी मौजके अनुसार यह विश्वका ढाँचा तैयार किया। निर्गुण परब्रह्मका मैदान त्रिभुवनके बराबर बड़ा था। उसे इस आदि संकल्पकी करनीसे रंग रूप प्राप्त हुआ। फिर महाभूतोंका जो बहुत बड़ा बंजर पड़ा हुआ था, उसके चार रेखांकित भाग हुए। ये भाग जारज, स्वेदज, अंडज और उद्भिज नामक चार भूत-ग्राम थे। फिर पंचमहाभूतोंका जो एक पिंड था, उसे तोड़कर और उसके अलग अलग विभाग करके पांच भौतिक सृष्टिकी रचना की गई। फिर कर्म और अकर्म रूपी पत्थरोंको एकत्र करके दोनों ओरसे बाँध बाँधे गये और उन्हींमें ऊसर जमीनें और जंगल बने। इस प्रदेशमें आने जानेका क्रम सदा चलता रखनेके लिए जन्म और मृत्युकी दो सुरंगें खोदी गईं। उस आदि संकल्प ने इन सुरंगोंकी रचना इस प्रकार की थी कि ये सृष्टिसे चलकर निरालम्ब ब्रह्म तक पहुँच जावें। फिर इस आदि संकल्पने अहंकारके साथ मेल मिलाकर बुद्धिकी मध्यस्थतासे ऐसी योजना की कि इस क्षेत्रका क्रम सदा चलता रहे। इस प्रकार आरम्भमें उस निर्गुण निरालंब ब्रह्ममें ही आदि संकल्पका अंकुर निकला था, इसलिए यही निश्चित होता है कि इस प्रपंचका मूल वही आदि संकल्प है।" जब इस प्रकार संकल्पवादियोंने अपने मत रूपी मुक्ताफल प्रस्तुत किये, तब तुरन्त ही एक दूसरे मतवाले आगे बढ़कर कहने लगे—"महाराज, आप तो बहुत अच्छे चिकित्सक दिखाई देते हैं! यदि परब्रह्मके यहाँ आदि संकल्पके शयनागारकी ही कल्पना करनी हो तो फिर सांख्य मतकी उस परब्रह्मवाली प्रकृतिको ही वास्तविक और ठीक मान लेनेमें क्या हर्ज है? परन्तु इन सब बातोंको जाने देना चाहिए, क्योंकि यह निश्चित है कि ये बातें ठीक नहीं हैं। भाइयो, तुम लोग इन सब बातोंके फेरमें

मत पड़ो। इस प्रश्नकी समस्त हम वास्तविक उत्पत्ति अब बतलाते हैं। उसे सुनो। आकाशमें मेघोंके समूह कौन भरता है? आकाशमें तारों के समूहको कौन सजाकर स्थापित करता है? आकाशकी छत किसने और कब बनाई? यह आज्ञा किसने दी कि वायुको सदा बहते ही रहना चाहिए? केशों या रोमों की उत्पत्ति किसने की? समुद्रको किसने भरा? वर्षा की धाराएँ कौन चलाता है? जिस प्रकार ये सब बातें अपने स्वाभाविक धर्मसे हुआ करती हैं, उसी प्रकार यह-देह क्षेत्र भी स्वभाव-सिद्ध है। यह किसीको कोई खास जागीर नहीं है। इसमें जो परिश्रम करता है, उसीको उसका फल प्राप्त होता है, दूसरे को वह फल प्राप्त नहीं होता।" जब स्वभाववादी इस सिद्धांतका प्रतिपादन कर रहे थे, तब कुछ और लोग बड़े तावसे आगे बढ़कर बोले—"यदि यह बात मान ली जाय तो फिर इस देह-क्षेत्र पर एक मात्र काल की ही निरन्तर सत्ता क्यों रहती है? आप यह बात तो अच्छी तरह जानते हैं कि इस कालकी सत्ता अनिवार्य है। परन्तु फिर भी आप अपने मतका झूठा अभिमान करते हैं। यह तो मानों क्रुद्ध मृत्यु या सिंहकी गुफा है। परन्तु किया क्या जाय? आप सरीखे बकवादियोंको यह बात भला कैसे ठीक जान पड़े? यह काल-सिंह महाकल्पके उस पार पहुँचकर ब्रह्म-लोक-रूपी हाथी पर भी आक्रमण कर बैठता है। यह काल-सिंह स्वर्गके वनमें भी घुस जाता है और वहाँ पहुँचकर नये नये लोकपालों और दिग्गजोंके समूहका भी संहार कर डालता है। और दूसरे जो जीव रूपी हिरन आदि होते हैं, वे इस काल-सिंहके शरीरकी केवल हवा लगनेसे ही निर्जीव होकर जन्म और मृत्यु रूपी गड्ढोंमें घूमते फिरते हैं। देखो, इस काल-सिंहका जबड़ा कितना फैला हुआ है! इस जबड़ेमें विश्वके आकारका हाथी भी समा जाता है और उसका कहीं पता नहीं लगता। इसी लिए हम कालवादियोंका यह सिद्धांत है कि इस क्षेत्र पर एक मात्र काल की ही सत्ता है।" हे अर्जुन, इस देह-क्षेत्रके सम्बन्धमें इस तरहके अनेक पक्ष प्रस्तुत हो चुके हैं। नैमिषारण्यमें ऋषियोंने इस विषयमें बहुत कुछ भवति न भवति की है और पुराण ग्रंथोंमें भी इस विषयकी ऊहापोह प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है। अनुष्टुप आदि छन्दोंमें इस विषयकी जो विविध प्रकारकी चर्चाएँ की गई हैं, अब भी बड़े आवेशसे उनका आधार ग्रहण किया जाता है। वेदोंमें ज्ञानकी दृष्टिसे बृहत्सामसूत्र बहुत अधिक पवित्र है, परन्तु उसे भी इस क्षेत्र का पूरा पूरा पता नहीं लगा। इसके सिवा और भी बहुतसे दूरदर्शी महाकवियोंने इस क्षेत्रका विचार करनेमें अपनी बुद्धि रूपी सम्पत्ति व्यय की है। परन्तु आज तक किसीकी समझमें यह बात ठीक तरहसे नहीं आयी कि यह क्षेत्र इस प्रकार है अथवा इसका इतना विस्तार है और वह वास्तवमें केवल अमुकका है। अब मैं इस क्षेत्र-का आदिसे अन्त तक सारा स्वरूप तुमको बतलाता हूँ।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

"पाँचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति और दसो इंद्रियाँ और इनके सिवा

एक मन, दसों विषय और सुख-दुःख, द्वेष, संघात, इच्छा, चेतना और धृति इन सबका व्यक्त स्वरूप ही यह क्षेत्र है। मैंने क्षेत्रके तत्वोंकी यह नामावली तुमको बतला दी है। अब मैं तुमको अलग अलग यह बतलाता हूँ कि महाभूत कौन हैं, विषय कौन हैं और इन्द्रियोंका क्या स्वरूप होता है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश इन पाँचोंको महाभूत समझना चाहिए। और जाग्रतिकी अवस्थामें जिस प्रकार स्वप्नकी अवस्थाका अभाव होता है, अथवा जिस प्रकार दिनके समय चन्द्रमा अदृश्य रहता है अथवा प्रौढ़ावस्थाके पास पहुँचे हुए लड़कोंमें जिस प्रकार तारुण्य दबा हुआ रहता है अथवा बन्द कलीमें जिस प्रकार सुगन्ध बन्द रहती है अथवा लकड़ीमें अग्नि जिस प्रकार गुप्त रूपसे निवास करती है, उसी प्रकार जो प्रकृति या मायाके पेटमें छिपा रहता है और फिर शरीरको रुधिर आदि धातुओंमें छिपा हुआ ताप कुपथ्यके निमित्तकी प्रतीक्षा किया करता है और कुपथ्यका वह निमित्त प्राप्त होते ही तत्काल रोगीका अन्दर और बाहर सब कुछ व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार जब पाँचों महाभूत एकत्र होते हैं और इस देहका आकार बनता है, तब जो इस देहको चारो ओर नचाने लगता है, हे अर्जुन, उसीको अहंकार समझो। इस अहंकारकी बातें बहुत ही विलक्षण हैं। यह अज्ञानी लोगोंके पीछे तो बहुत ज्यादा नहीं लगता, परन्तु ज्ञानी लोगोंको खूब जोरसे आलिंगन करता है और उन्हें अनेक प्रकारके कष्टोंमें डालकर नचाता रहता है। अब जिसे बुद्धि कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणोंसे पहचानना चाहिए। हे अर्जुन, मैं तुमको वह लक्षण बतलाता हूँ। सुनो। जब काम-वासना बलवती होती है, तब इन्द्रियोंकी वृत्तियोंका भेद करके विषय-समूह अन्दर घुसते हैं। इसके उपरान्त जीवको सुखों और दुःखोंका जो अनुभव करना पड़ता है, उस व्यवहारमें सुखों और दुःखोंकी जो ठीक ठीक नाप-जोख करती है, जो इस बातका निर्णय करती है कि यह सुख है और यह दुःख है, यह पुण्य है और यह पाप है, यह भला और यह बुरा है, जिसकी सहायतासे अच्छे-बुरे, बड़े-छोटे आदिका ज्ञान होता है और जिसकी दृष्टिके द्वारा जीवको विषयोंकी परख होती है, जो ज्ञान-तेजका मूल कारण और सत्व गुणकी बढ़ती-बढ़ती अवस्था है, जो जीव और शिवका सम्बन्ध स्थापित करती है, हे अर्जुन, उसीको बुद्धि समझना चाहिए। अब अव्यक्त प्रकृतिके लक्षण सुनो। सांख्य शास्त्र और योग शास्त्रके मतोंके अनुसार प्रकृतिके जो दो प्रकार हैं, वे पहले (सातवें अध्यायमें) तुमको बतलाये जा चुके हैं। उनमें दूसरी परा-प्रकृति जो जीव दशा (ज्ञान देवी) है, उसीका यहाँ दूसरा नाम "अव्यक्त" है। जिस प्रकार रात्रिका अन्त होते ही सब नक्षत्र आकाशमें ही लुप्त हो जाते हैं; अथवा दिवसका अन्त होने पर जिस प्रकार प्राणी मात्रका चलना-फिरना बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार देहके नष्ट होने पर किए हुए कर्मोंमें देह आदि समस्त विकार गुप्त रहते हैं अथवा जिस प्रकार बीजके स्वरूपमें सारा वृक्ष गूढ़ स्थितिमें समाया रहता है अथवा जिस प्रकार तन्तु वस्त्रके रूपमें रहते हैं, उसी प्रकार समस्त स्थूल धर्म छोड़कर महाभूत और भूत सृष्टि लयको प्राप्त होकर सूक्ष्म रूपसे जिसमें निवास करती है, हे अर्जुन, उसीका नाम अव्यक्त है। अब इन्द्रियोंका भेद सुनो। कान, आँख, त्वचा, नाक और जीभ इन पाँचोंको ज्ञानेन्द्रिय समझना चाहिए। जब ये

पाँचों इन्द्रियाँ एकत्र होती हैं, तब इन्हींके द्वारा बुद्धि सुख-दुःखका विचार करती है। इनके सिवा वाणी, हाथ, पैर, गुदद्वार और शिश्न ये पाँच पदार्थ और हैं। इन्हें कर्मेन्द्रिय कहते हैं। हे अर्जुन, प्राणोंकी प्रिय सखी और शरीरमें रहनेवाली जो क्रिया शक्ति है, वह इन्हीं पाँचों द्वारोंसे होकर आया-जाया करती है। इस प्रकार पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँचों कर्मेन्द्रियाँ तुमको बतला दीं। अब हे अर्जुन, मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि मन क्या है। सुनो! इन्द्रियों और बुद्धिके बीचकी सन्धि पर रजोगुणके कन्धे पर चढ़कर जो बराबर खेलता रहता है और आकाशके नीले रंग अथवा सूर्यकी किरणोंमेंके मृग-जलकी भाँति जो केवल भासमान होनेवाली वायुकी चमक है, वही मन है। पुरुषके शुक्र और स्त्रीके शोणितके एक स्थान पर मिलनेसे पंचमहाभूतोंकी जो रचना होती है, उसमें वायु तत्वके दस प्रकार होते हैं। फिर उन दश-विध वायुओंका शरीरके दस भागोंमें अवस्थान होता है और वे अपने विशिष्ट धर्मोंसे युक्त होकर अलग अलग रहती हैं। परन्तु उन सबमें एक प्रकारकी चंचलता रहती है जिससे उन्हें रजोगुणका बल प्राप्त होता है। यह चंचलता बुद्धिके बाहर, परन्तु अहंकारकी सीमा पर अर्थात् बीचवाले प्रदेशमें प्रबल होती है। इसीका नाम मन रख दिया गया है परन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो वह, केवल कल्पनाकी ही मूर्त्ति है। जिसकी संगतिके कारण ब्रह्मको जीववाली दशा प्राप्त होती है, जो मायाका मूल है, जिससे काम-वासनाको बल प्राप्त होता है, जो सदा अहंकारको उत्तेजित करता रहता है, जो इच्छाओंको तो पूर्ण करता है, परन्तु आशाओंको बढ़ाता है और भयको पुष्ट करता है, जो द्वैत भावका उत्थान करता है, अविद्याको बढ़ाता है और इन्द्रियोंको विषय भोगमें फँसाता है, जो केवल कल्पनासे ही सृष्टिकी रचना करता है और रची हुई सृष्टिको पुनः नष्ट कर देता है, जो मनोरथोंके घड़े बनाता और फिर उन्हें तोड़ डालता है, जो भ्रमका आगार तथा वायुका सार है। जो बुद्धिका द्वार बन्द कर देता है, हे अर्जुन उसीको मन समझना चाहिए। इसमें संशयके लिए कुछ भी स्थान नहीं है। अब विषयों की बातें सुनो। स्पर्श, शब्द, रूप, रस और गन्ध ये पाँच प्रकारके विषय ज्ञानेन्द्रियोंके हैं। जिस प्रकार हरा चारा देखकर कोई पशु उत्कंठासे विह्वल होकर उसकी ओर दौड़ पड़ता है, उसी प्रकार इन पाँचों द्वारोंसे ज्ञान भी बाहरकी तरफ दौड़ता रहता है। अब स्वर, व्यंजन और विसर्गका उच्चारण करना, किसी पदार्थको पकड़ना या छोड़ना, चलना और मलका उत्सर्ग करना, ये पाँचों कर्मेन्द्रियोंके विषय हैं। इन्हींकी मचान या भरतीके आधार पर क्रियाओंकी प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस शरीरमें दस विषय हैं। अब मैं इच्छाका वर्णन करता हूँ। कोई बीती हुई बात स्मरण होने पर अथवा उसके सम्बन्धकी कोई बात सुनाई पड़ने पर जो भावना क्षुब्ध होती है, इन्द्रियों और विषयोंका संयोग होते ही जो तुरन्त कामका हाथ पकड़कर उठ खड़ी होती है, जिसके उठते ही मन इधर-उधर दौड़ने लगता है और जिस स्थान पर कभी पैर नहीं रखना चाहिए उस स्थान पर इन्द्रियाँ मुँह डालने लगती हैं, जिस भावनाके फेरमें पड़कर बुद्धि पागलोंके समान हो जाती है और जिसे विषयोंकी बहुत अधिक लालसा या चसका रहता है, हे अर्जुन, वही भावना इच्छा है। और जब इन्द्रियोंको उनकी इच्छाके अनुसार विषयोंका

उपभोग प्राप्त नहीं होता, तब इस प्रकारका जो हठपूर्ण विकार उत्पन्न होता है कि वह विषय हमें अवश्य प्राप्त होना चाहिए, उसी विकारको द्वेष कहना चाहिए। अब यह सुनो कि सुख किसे कहते हैं। जिसके कारण जीव और सब बातोंको भूल जाता है, जो मन, वाचा और देहको शपथ देकर बाँध देता है, जो देहकी स्मृतिको निराधार कर देता है, जो जन्म लेते ही प्राणोंको पंगु बना देता है, परन्तु जो सात्विक भावोंका दोहरा लाभ कराता है, इसके सिवा जो समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तियोंको थपकी देकर शान्त भावसे सुला देता है और जिस अवस्थामें जीवको आत्म-स्वरूपका मार्ग प्राप्त होता है, उस अवस्थामें जो भासमान होता है, उसीका नाम सुख है। और हे अर्जुन, जिस अवस्थामें यह योग नहीं होता, उसीको तुम पूर्ण रूपसे दुःखकी अवस्था समझो। जब तक संकल्प-विकल्प रहते हैं, तब तक सुख कभी हो ही नहीं सकता। परन्तु ज्योंही संकल्प-विकल्पोंका नाश होता है, त्योंही सुख स्वयं-सिद्ध रूपसे प्राप्त होता है। अतएव संकल्प-विकल्पोंके होने और न होनेके दो कारणोंसे ही क्रमशः दुःख और सुख होता है। हे अर्जुन, इस शरीरमें जो संग-हीन तथा उदासीन चैतन्यकी शक्ति रहती है, उसीका नाम चेतना है। जो नखसे लेकर शिख तक सारे शरीरमें समान रूपसे जाग्रत रहती है, जो जाग्रति आदि तीनों अवस्थाओंमें अखंड रहती है, जो मन और बुद्धि आदिमें जीवता लाती है और उनको हरा-भरा रखती है, जो प्रकृति रूपी वनकी स्वयं वसन्त-लक्ष्मी ही है, जो सजीव और निर्जीव पदार्थोंमें भी अंश-भेदसे (अर्थात् कहीं कम और कहीं अधिक) सदा संचार करती रहती है, वही चेतना है। हे अर्जुन, इसमें तिल मात्र भी असत्यता नहीं है। हे अर्जुन, राजाको अपने सैनिकोंका व्यक्तिशः या अलग अलग ज्ञान नहीं होता, परन्तु फिर भी उसकी आज्ञा परकीय अथवा शत्रुके चक्रका पराभव करती है। अथवा जब चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओंसे पूर्ण होता है, तब समुद्रमें आपसे आप ज्वार आती है। अथवा जब चुम्बक पत्थर पास रहता है, तब लोहा आपसे आप हिलने लगता है। अथवा जिस समय सूर्य प्रकट होता है, उस समय लोग आपसे आप जाग उठते हैं। अथवा जिस प्रकार कछुएकी मादा अपने बच्चोंके मुखके साथ मुख नहीं लगाती और केवल उसकी दृष्टि से ही उन बच्चोंका पोषण होता है, उसी प्रकार चेतना भी आत्माकी संगतिसे इस शरीर में रहकर जड़को सजीव करती है। यह चेतनाका वृत्तान्त हुआ। अब हे अर्जुन, धृतिका वर्णन सुनो। इस पाँच महाभूत नामक तत्वोंमें स्वभावतः सदा वैर रहता है। यह कभी नहीं होता कि पानीसे पृथ्वीका नाश न हो। पानीको तेज सुखा देता है, तेजका वायुके साथ झगड़ा होता रहता है और गगन बहुत सहजमें वायुको निगल जाता है। इसी प्रकार आकाश किसी दूसरे तत्वके साथ नहीं मिलता, परन्तु फिर भी वह सबमें घुसा रहता है और हर जगह अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है। इस प्रकार इन पाँचों भूतों की एक दूसरेके साथ नहीं पटती; परन्तु फिर भी ये पाँचों भूत इस देह-क्षेत्रमें एकत्र होकर मिलते हैं। वे अपना स्वाभाविक वैर छोड़कर देहमें एक ही जगह रहते हैं और सब अपने अपने गुणोंसे एक दूसरेका पोषण करते हैं। जिस धैर्यके कारण उनमें सहसा न होनेवाला इस प्रकारका मेल होता और बना रहता है उसी धैर्य का नाम धृति है।

और, हे अर्जुन जीवके साथ इन छत्तीसों तत्वोंका जो मेल होता है, उसीको इस प्रकरण-में संघात कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुमको छत्तीसों तत्वोंके लक्षण स्पष्ट करके बतला दिये हैं। इन्हीं सबके योगको क्षेत्र कहते हैं। जिस प्रकार रथके भिन्न भिन्न भागोंकी सजावट या योगको ही रथ कहते हैं, ऊपर और नीचेके समस्त अवयवोंके समूहको जिस प्रकार "देह" कहते हैं, अथवा हाथी घोड़ों आदिके संघटनको जिस प्रकार "सेना" कहते हैं अथवा अक्षरोंके समूहको जिस प्रकार "वाक्य" कहते हैं अथवा मेघोंके समुदायको जिस प्रकार "अभ्र" तथा समस्त लोक-समुदायको "जगत्" कहते हैं अथवा तेल-बत्ती और अग्नि तीनोंका संयोग होने पर जिस प्रकार "दीपक" होता है, उसी प्रकार जिसके कारण ये छत्तीसों तत्व एक-रूप होते हैं, उसी एक-रूपको सामुदायिक दृष्टिसे "क्षेत्र" कहते हैं। और इन्हीं महाभूतोंके एक-रूप होकर कार्य करनेसे इसमें पाप और पुण्यकी फसल होती है और इसी लिए हम भी आलंकारिक दृष्टिसे इसे "क्षेत्र" ही कहते हैं। कुछ लोग इसीको "देह" भी कहते हैं। परन्तु इन बातोंका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। यदि सच पूछो तो इसके अनन्त नाम हैं। परन्तु परब्रह्मके इस पार और स्थावर या जड़ जगतकी सीमा तक जो जो पदार्थ उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, वे सब क्षेत्र ही हैं। परन्तु उनमें देव, मानव और नाग आदि जो योनि-भेद या भिन्न भिन्न वस्तुओंके वर्ग होते हैं, वे सब सत्व, रज और तम गुणों और कर्मोंकी संगतिसे उत्पन्न होते हैं। हे अर्जुन, इन गुणोंकी व्यवस्था मैं तुमको आगे चलकर बतलाऊँगा। अभी मैं तुमको ज्ञानका स्वरूप स्पष्ट करके बतलाता हूँ। क्षेत्र और उसके विकारोंका सम्पूर्ण स्वरूप तुमको बतला चुका हूँ और अब यह बतलाता हूँ कि निर्मल तथा श्रेष्ठ ज्ञान क्या है? जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए योगी लोग स्वर्गका टेढ़ा-तिरछा मार्ग पार करके आकाशको भी निगल जाते हैं, ऋद्धि-सिद्धिके मोहमें न पड़कर योग-साधना सरीखी दुर्घट बात भी सहन करते हैं, तपोंके कठिन पर्वत पार करते हैं, करोड़ों यज्ञ-यागोंको निछावर कर देते हैं और सारा कर्म-कांड उलट-पुलट डालते हैं अथवा बड़े आवेशसे भजन मार्गमें कूद पड़ते हैं और कोई कोई सुषुम्नाकी सुरंग तकमें प्रवेश कर जाते हैं और इस प्रकार जिस ज्ञानकी प्राप्तिके लिए मुनियोंकी आशापूर्ण इच्छा वेद-रूपी वृक्षके पत्ते-पत्ते पर चक्कर लगाया करती है और, हे अर्जुन जिस ज्ञानके लिए इस आशासे सैकड़ों जन्म गुरुकी सेवामें बिताये जाते हैं कि कभी तो वे कृपा करेंगे, जिस ज्ञानके प्राप्त होने पर मोह पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता है, जो ज्ञान जीवको शिवके साथ एक कर दिखलाता है, जो ज्ञान इन्द्रियोंका द्वार बन्द करता है, प्रवृत्तिकी टाँगें तोड़ डालता है और मनका दुःख दूर कर देता है, जिसके कारण द्वैतका अकाल पड़ जाता है और सम-भावना या ऐक्यका सुकाल होता है, जो ज्ञान-मदका आधार ही नष्ट कर डालता है, प्रबल मोहको निगल जाता है और द्वैतका यह भाव कहीं रहने नहीं देता कि यह मैं हूँ और वह दूसरा या पराया है, जो संसारको समूल उखाड़कर फेंक देता है, संकल्पका कीचड़ धोकर साफ कर देता है और ज्ञेय वस्तु अर्थात् परमात्म तत्वसे उसकी भेंट करा देता है, जिसका साधारणतः आकलन करना भी बहुत ही कठिन होता है, जिसका उदय होते ही जगत-

को संचालित करनेवाले प्राण पंगुल (नितान्त निर्बल) हो जाते हैं, जिस ज्ञानके प्रकाशसे बुद्धिकी आँखें खुल जाती हैं और जीव आनन्दकी राशि पर लोटने लगता है, जो ज्ञान अत्यन्त पवित्र है, जिसके कारण दोषोंसे भरा हुआ मन निर्मल हो जाता है, जिसके योगसे आत्माको लगा हुआ जीव-भाववाला क्षय रोग बिलकुल अच्छा हो जाता है, यद्यपि उस ज्ञानका निरूपण करना सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी मैं उसका निरूपण करता हूँ। ज्ञानका यह निरूपण सुनकर बुद्धिसे ही उसे समझना चाहिए, क्योंकि बिना बुद्धिके और केवल आँखोंसे वह कभी दिखलाई ही नहीं पड़ सकता। परन्तु जब एक बार बुद्धिके द्वारा वह जान लिया जाता है और इस शरीर पर वह अपनी सत्ता चलाने लगता है, तब वह इन्द्रियोंकी क्रियाओंके रूपमें नेत्रोंको भी दिखाई देने लगता है। जिस प्रकार वृक्षोंके हरे-भरे और तेजयुक्त होनेसे बसन्तके आगमनका पता चलता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंकी अवस्था देखकर ज्ञानका भी अनुमान किया जा सकता है। वृक्षोंकी जड़को पृथ्वीके गर्भमें भी पानी मिल जाता है और तब वह पानी डालियोंके पत्तोंमें भी अपनी झलक दिखलाता है। अथवा पृथ्वीमें रहनेवाली मृदुता सुन्दर अंकुरोंको भी देखनेसे जानी जाती है। अथवा कुलीन पुरुषोंका महत्व उनके आचरणसे ही समझमें आ जाता है। जब मनुष्य किसीका आदर-सत्कार करनेमें बहुत अधिक व्यस्त होता है, तब उसकी उसी व्यस्ततासे उसका स्नेह प्रकट होता है अथवा शान्त और भव्य आकृतिसे मनुष्यके पुण्यशील होनेका पता चलता है। अथवा जब कपूरकदलीमें कपूर भर जाता है, तब चारों ओर फैलनेवाली सुगन्धसे ही इस बातका पता चल जाता है कि उसमें कपूर भर गया है। अथवा काँचकी कन्दीलमें रखे हुए दीपकका प्रकाश चारों ओर बाहर फैल जाता है। इसी प्रकार जब मनुष्यके हृदयमें ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तब बाहर भी उसके बहुतसे चिन्ह प्रकट होने लगते हैं। अब मैं वही लक्षण तुमको बतलाता हूँ। ध्यान देकर सुनो।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥ ७॥

"जिसे किसी लौकिक विषयमें पूरी तरहसे रँगा जाना अच्छा नहीं लगता, लोगोंमें अपने बड़प्पनके साथ मिलना जिसे संकटके समान जान पड़ता है, जो अपने गुणोंकी स्तुति या प्रशंसा होने पर, अपने सम्मानका आयोजन होने पर अथवा विशेष योग्यताको अपने साथ सम्बद्ध होते देखकर उसी प्रकार घबराता है, जिस प्रकार किसी व्याधके हाथमें पड़ने पर हिरन घबराता और व्याकुल होता है अथवा कोई तैरनेवाला किसी भँवरमें पड़ने पर व्याकुल होता है, हे अर्जुन, जिसे लोगोंके द्वारा किया जानेवाला अपना सम्मान संकटके समान कष्टदायक जान पड़ता है, जो लौकिक महत्वको अपने साथ स्पर्श भी नहीं होने देता, जो अपना सम्मान अपनी आँखोंसे नहीं देख सकता, जो अपनी लौकिक कीर्त्ति नहीं सुन सकता, जिसे यह भी सहन नहीं होता कि लोगोंको मेरा स्मरण हो और वे मेरी चर्चा करें, फिर आदर-सत्कारकी तो भला बात ही क्या है, जिसे उस समय अपनी मृत्यु ही सामने दिखाई पड़ती है, जिस समय लोग उसे

नमस्कार करते हैं, जो बृहस्पतिके समान ज्ञानवान् होने पर भी अपने महत्वके भयसे पागलोंके समान हो जाता है, जो लौकिक प्रसिद्धिसे घबराता है, जो शास्त्रोंके सम्बन्धमें बकवाद करना छोड़कर चुपचाप एकान्तमें पड़ा रहना पसन्द करता है, जो हृदयसे यह चाहता है कि संसार मेरा अपमान और उपेक्षा करे और मेरे सगे-सम्बन्धी मेरी ओर आँख उठाकर देखें भी नहीं, जो अपना आचरण प्रायः ऐसा ही रखता है कि उसमें हीनता और तुच्छता ही शोभा दे और अंगों पर हीनताके ही भूषण पड़ें, जो सदा इस बातकी इच्छा करता है कि मेरे सम्बन्धमें लोगोंकी यही भावना रहे कि यह जीवित नहीं है, यह बिलकुल है ही नहीं, इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, जिसकी चाल-ढाल ऐसी होती है कि लोगोंको देखकर यह भ्रम होता है कि वह चलता है या हवाके साथ लुढ़कता-पुढ़कता चला जा रहा है, जो सदा यही चाहता है कि मेरा अस्तित्व ही न रह जाय, मेरा नाम और रूप भी नष्ट हो जाय, मुझे देखकर भूत मात्र भयभीत होकर दूर भाग जायँ, जो सदा एकान्तमें ही रहता है और निर्जन प्रदेशकी कल्पनासे ही जिसकी जानमें जान आती है, जिसकी केवल वायुके साथ ही पटती है, जिसे आकाश-के साथ बातें करना ही अच्छा लगता है और वृक्ष ही जिसे सबसे ज्यादा अच्छे लगते हैं, हे अर्जुन, जिस पुरुषमें तुम्हें ये सब लक्षण दिखाई पड़ें, उसके सम्बन्धमें यह समझ लो कि वह ज्ञानमें तल्लीन हो गया है। इन्हीं लक्षणोंसे यह जानना चाहिये कि किसी पुरुषमें अमानित्व है या नहीं। अब मैं तुम्हें यह बतलाता हूँ कि "अदंभित्व" की पहचान किस प्रकार की जानी चाहिए। अदंभित्व भी ऊपर बतलाये हुए प्रकारका ही होता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार लोभी मनुष्य प्राण जाने पर भी यह नहीं बतलाता कि मैंने अपने द्रव्यका संग्रह कहाँ छिपाकर रखा है, उसी प्रकार जिसमें अदंभित्व होता है, जिसमें दम्भका अभाव होता है, वह प्राणों पर संकट आने पर भी कभी यह नहीं बतलाता कि मैंने कौन कौनसे पुण्य कर्म किये हैं। हे अर्जुन जिस प्रकार दुष्ट गौ स्तनमें आया हुआ दूध भी चुरा लेती है अथवा वेश्या अपनी उतरी हुई उमर छिपाती है, जंगलमें रास्ता भूल जानेवाला सम्पन्न व्यक्ति जिस प्रकार किसी पर अपनी सम्पन्नता नहीं प्रकट होने देता, कुलीन स्त्री जिस प्रकार अपने सब अंग खूब अच्छी तरह छिपाये रहती है अथवा खेतिहर जिस प्रकार जमीनमें बोये हुए अपने बीज मिट्टी-के नीचे अच्छी तरह छिपा देता है, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य कर्म सदा गुप्त रखता है, जो शरीरके दिखावटी चोंचले नहीं करता, जो लोगोंको प्रसन्न करनेके झगड़ेमें नहीं पड़ता और अपने धार्मिक कृत्योंकी चर्चा नहीं छेड़ता, जो अपने किये हुए उपकारोंका कभी मुँहसे उच्चारण भी नहीं करता, जो अपनी सीखी हुई विद्या लोगोंको दिखाता नहीं फिरता और अपना सम्पादित किया हुआ ज्ञान लौकिक-कीर्त्तिके लिए नहीं बेचता, जो शारीरिक विषयोंका उपभोग करने के लिए कानी कौड़ी भी खर्च नहीं करता, परन्तु धार्मिक कृत्योंके लिए अपना सारा धन व्यय करनेमें भी जो आगा-पीछा नहीं करता, जिसके घरमें तो प्रत्येक बातमें दरिद्रता दिखाई दे और शरीर बिलकुल दुर्बल तथा दीन-हीन दिखाई पड़े, परन्तु जो दान देनेमें स्वयं कल्पतरुके

साथ भी प्रतिज्ञापूर्वक स्पर्धा करता हो, तात्पर्य यह कि जो अपने धार्मिक कृत्योंमें बहुत चतुर हो, दानके समय अत्यन्त उदार हो और अध्यात्म–चर्चामें प्रवीण हो, परन्तु और सब विषयोंमें पागल-सा दिखाई दे, उसीको दम्भ-हीन समझना चाहिए। केलेका तना हलका और अन्दरसे पोला जान पड़ता है, परन्तु रससे भरे हुए बड़े बड़े फल उसीमें लगते हैं। बादल इतने पतले और हलके होते हैं कि जरा सी हवाके झोंकेसे उड़ जाते हैं, परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि उन्हीं बादलोंमेंसे जलकी बड़ी बड़ी धाराएँ बरसती हैं। इसी प्रकार वह परम साधनाका मार्ग तो पूरी तरहसे जानता है परन्तु लौकिक बातोंमें बिलकुल दीन-हीन दिखाई पड़ता है। हे अर्जुन, जिसमें ये सब लक्षण अच्छी तरह दिखाई पड़ें, उसके सम्बन्धमें समझना चाहिए कि ज्ञान इसकी मुट्ठीमें आ गया है। यह अदंभित्वका वर्णन हुआ। अब यह सुनो कि अहिंसा किसे कहते हैं। पहले यह बात समझ रखो कि अहिंसाकी व्याख्या अनेक प्रकारसे की जाती है। सब लोग अपने अपने मतके अनुसार उसका वर्णन करते हैं। परन्तु उन वर्णनोंमें इतनी विक्षिप्तता है कि मानो किसी वृक्षकी शाखाएँ काटकर उसके तनेके चारों ओर बाँध दी गई हों अथवा हाथ तोड़कर उनका मांस पकाया गया हो और फिर उसीसे अपनी भूख शान्त की गई हो अथवा देव-मन्दिर तोड़कर देवताओंके बैठनेके लिए मिट्टीका चबूतरा बनाया गया हो। इसी प्रकार पूर्व मीमांसामें कुछ इस तरहका विलक्षण निर्णय किया गया है कि हिंसा करके अहिंसाका साधन करना चाहिए। उनका मत है कि जिस समय अवर्षाका संकट सामने हो, और वह संकट सारे संसारमें फैलता हुआ दिखाई पड़े, तो वर्षा करानेके लिए अनेक प्रकारके यज्ञ करने चाहिएँ। परन्तु उन यज्ञोंमें स्पष्ट रूपसे पशुओंकी हिंसा होती है। फिर वहाँ अहिंसाका प्रवेश कैसे हो सकता है? शुद्ध हिंसाके बीज बोकर अहिंसाकी फसल कैसे काटी जा सकती है? परन्तु इन याज्ञिकोंका साहस भी कुछ विलक्षण ही है। और हे अर्जुन, जिसे आयुर्वेद कहते हैं, वह भी इसी मार्गसे चलता है। उसका सिद्धान्त ही यह है कि एक जीवके प्राण बचानेके लिए एक दूसरे जीवका घात करना चाहिए। अनेक प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित और रोगोंमें पड़कर लोटनेवाले जीवोंको देखकर उनकी हिंसाका निवारण करनेके लिए रोगकी चिकित्सा करना तो ठीक ही है; परन्तु वह चिकित्सा करनेके लिए पहले तो किसी वनस्पतिका कन्द खोदा जाय और दूसरी किसी वनस्पतिके पत्ते जड़ समेत उखाड़े जायँ, किसी वनस्पतिको बीचसे ही तोड़ लिया जाय और किसी वृक्षकी छाल छील ली जाय और कुछ वनस्पतियोंके कोमल अंकुरोंको बर्तनमें उबाला जाय, तब कहीं जाकर लोगोंकी चिकित्सा होती है। जो वृक्ष जन्मसे ही कभी किसीके साथ वैर नहीं करते, उनका रस निकालनेके लिए उनके सर्वांगमें चीरे लगाये जाते हैं और, हे अर्जुन, इस प्रकार वृक्षोंके प्राण लेकर रोगियोंको रोगोंसे मुक्त किया जाता है। और जंगमों अर्थात् सजीव प्राणियोंको भी चीरकर उनके शरीरमेंसे पित्त आदि पदार्थ निकालकर और उन्हींसे औषध प्रस्तुत करके कुछ रोगियोंके जाते हुए प्राण बचाये जाते हैं। रहनेके लिए बने हुए पक्के मकान तोड़कर उनके मसालेसे मन्दिर बनाना, रोजगारमें गरीबोंको लूटकर

अन्नसत्र चलाना, सिर ढककर घुटने नंगे करना, घर तोड़कर मंडप बनाना, कपड़े जलाकर उनकी आग सेंकना अथवा हाथीको नहलाना अथवा बैल बेंचकर मकान बनाना अथवा तोतेको उड़ाकर पिंजरा बनाना आदि आदि काम हैं या दिल्लगी? इन सब बातोंको देखकर कोई कहाँ तक न हँसे? कुछ लोग पानी छानकर पीते हैं और इसे पुण्य कर्मका मार्ग कहते हैं। परन्तु पानीको छाननेके फेरमें ही बहुतसे जीवोंकी हत्या हो जाती है। कुछ लोग हिंसाके भयसे अन्नका एक कण भी नहीं खाते। परन्तु भूखों रहनेके कारण उनके प्राण छटपटाते रहते हैं। यह भी हिंसा ही है। इसलिए, भाई अर्जुन, कर्म-कांडका जो यह सिद्धान्त है कि हिंसा ही अहिंसा है, सो वह सिद्धान्त इसी प्रकारका है। पहले जब हमने इस अहिंसाका नाम लिया था, तभी यह सहज स्फूर्ति हुई थी कि इस मतका स्वरूप स्पष्ट कर दें। उस समय ऐसा जान पड़ा कि यह मत भी सहजमें ध्यानमें आ गया है। फिर उसका स्पष्टीकरण क्यों छोड़ दिया जाय। यही समझकर हमने ये सब बातें कही हैं। और हमारा अभिप्राय यह है कि तुम भी उसी दृष्टिसे यह बात समझ लो। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऊपर कही हुई बातोंका अहिंसाके विषयके साथ मुख्य रूपसे सम्बन्ध है। यदि यह बात न होती तो हम इस टेढ़े-तिरछे रास्ते पर चलकर इस विषयका व्यर्थ इतना विस्तार क्यों करते? और हे अर्जुन, एक बात यह भी है कि अपने मतको अच्छी तरह स्पष्ट करनेके लिए सामने आए हुए दूसरे मतोंका उचित रूपसे विवेचन करना भी आवश्यक ही होता है। इसलिए अब तक जो निरूपण किया है, वह इसी कारणसे किया है। अब इसके उपरांत मैं स्वयं अपने मतका प्रतिपादन करूँगा। जिस अहिंसाका बाना धारण करने पर अन्तरका ज्ञान व्यक्त होता है, उस अहिंसाका स्वरूप अब स्पष्ट किया जायगा। परन्तु इस बातका पता आचरणसे ही चलता है कि किसीमें अहिंसाका भाव पूर्ण रूपसे आया है या नहीं। जिस प्रकार कसौटी पर सोनेका कस आता है, उसी प्रकार जब ज्ञानका मनके साथ मेल होता है, तब तुरन्त ही मनमें अहिंसाका उदय होता है। अब यह सुनो कि अहिंसाका यह उदय किस प्रकार होता है। तरंगोंको बिना तोड़े, पानीको बिना हिलाये-डुलाये, वेग-सहित परन्तु फिर भी बिलकुल हलके पैरोंसे केवल आमिष (अर्थात् मछली) की ओर ध्यान रखकर जिस प्रकार बगला बहुत ही सावधानीसे पानीमें पैर रखता है, अथवा भ्रमर इस डरसे कमल पर बहुत ही धीरेसे पैर रखता है कि कहीं उसके अन्दरका पराग टूट न जाय, उसी प्रकार अपने मनमें यह समझना कि प्रत्येक परमाणुके साथ बहुत ही छोटे छोटे जीव लगे रहते हैं और इसी लिए बहुत ही धीरे-धीरे पैर रखना अहिंसाका लक्षण है। ऐसा मनुष्य जिस मार्गसे चलता है, वह मार्ग कृपासे पूर्ण हो जाता है और वह जिस दिशामें देखता है, उस दिशाको दया तथा प्रेमसे भर देता है। दूसरे जीवोंकी रक्षा करनेके लिए वह सदा अपना जीवन अर्पित करनेके लिए प्रस्तुत रहता है। हे अर्जुन, ऐसे पुरुषके ध्यानपूर्वक चलनेका किसी प्रकारके शब्दोंसे वर्णन नहीं हो सकता और उसके लिए कोई नाप पूरी नहीं हो सकती। प्रेमसे भरकर बिल्ली जब अपने बच्चोंको अपने मुँहसे पकड़ती है, उस समय वह

अपने दाँतोंकी नोकोंको जितना हलका रखती होगी, अथवा प्रेमपूर्ण माता जब अपने बच्चोंकी प्रतीक्षा करती है, उस समय उसकी दृष्टि में जितनी अधिक कोमलता आ जाती है अथवा कमलके पत्ते हिलनेसे उसकी हवा आँखोंको जितनी कोमल लगती है, उतनी ही कोमलतासे उसके पैर भी जमीन पर पड़ते हैं। वे पैर जहाँ पड़ते हैं, वहाँ रहनेवाले जीवोंको भी सुख ही होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार धीरे धीरे पैर रखनेके समय यदि उसे रास्तेमें कहीं कोई कीड़ा-मकोड़ा दिखाई पड़ता है तो वह धीरेसे पीछे हट जाता है। वह पैर मानों यह कहता है कि यदि मैं जोरसे चलूँगा तो स्वामीकी आत्म-समाधि टूट जायगी और उनकी स्थिर प्रकृतिको आघात लगेगा। इसी चिन्तासे वह पैर पीछे हट जाता है, परन्तु वह किसी जीवको दबा नहीं देता। जहाँ इतना अधिक ध्यान हो कि मनुष्य तृणको भी जीव समझे और इसी लिए उसे अपने पैरोंसे न दबने दे, वहाँ लापरवाहीसे पैर रखनेका कोई जिक्र ही नहीं हो सकता। च्यूँटी से जिस प्रकार मेरु पर्वत लाँघा नहीं जा सकता अथवा मच्छड़ से जैसे तैरकर समुद्र पार नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मार्गमें पड़नेवाला जीव उसके पैरोंसे दब नहीं सकता। जिसके चलनेमें इतनी अधिक कृपा भरी रहती है, उसकी वाणीमें तो तुम्हें मूर्त्तिमती और जीती जागती दया ही दिखाई देगी। उसके श्वास भी बहुत ही मन्द तथा कोमल होते हैं। उसकी मुद्रा मानो प्रेमका मायका (जन्म-स्थान) होती है। उसके दाँत माधुर्यके अंकुर ही होते हैं। जब ऐसे मनुष्यके मुखसे अक्षर निकलते हैं, तब मानों उन अक्षरोंके आगे आगे स्नेह पसीजता चलता है। उसका ऐसा ढंग रहता है कि कृपा आगे आगे चलती है और उसके मुखसे निकले हुए शब्द पीछे पीछे रहते हैं। साधारणतः तो वह कुछ बोलता ही नहीं, परन्तु यदि वह कभी अपने मनमें बोलनेका कुछ विचार करता है, तो उसके शब्द इतने कोमल होते हैं कि उनसे कभी किसीको कुछ भी कष्ट नहीं पहुँचता। जब वह बोलने लगता है, तब कभी कभी बहुत अधिक भी बोल जाता है, परन्तु उसकी बातोंसे कभी किसीके मनको कुछ भी कष्ट नहीं होता और किसीको उससे डर नहीं लगता। उसे सदा इस बातका ध्यान रहता है कि कहीं मेरे बोलनेसे किसीकी कोई बनी-बनाई बात न बिगड़ जाय, कहीं कोई मुझसे डर न जाय या चौंक न पड़े अथवा कहीं कोई मेरे शब्दोंका तिरस्कार या अपमान न करे, इसलिए मुझसे कोई ऐसी बात नहीं होनी चाहिए जिससे किसीको क्लेश हो। मुझसे किसीका बाल भी बाँका न होने पावे। और इन्हीं सब बातोंका ध्यान रखकर वह प्रायः कुछ बोलता ही नहीं। यदि किसीके बहुत अधिक कहने-सुनने पर वह कभी कुछ बोलता भी है, तो श्रोताओंको ऐसा जान पड़ता है कि हमारे माता-पिता बोल रहे हैं। उसके शब्द इतने शुद्ध और कोमल होते हैं कि उन्हें सुनते ही ऐसा जान पड़ता है कि मानों स्वयं नाद-ब्रह्मका अवतार हुआ है अथवा गंगा-जल ही उछल रहा है अथवा पतिव्रताको वृद्धावस्था प्राप्त हुई है। उसके ये नपे-तुले और मधुर शब्द अमृतकी तरंगोंके समान जान पड़ते हैं। उलटा तर्क या बातोंका क्रम, हठ-वाद, जीवको सन्ताप देनेवाली कठोरता, परिहास, छल-वाद, मर्म-स्पर्शी बातें, दूसरोंका विरोध करना या किसीकी बातोंमें बाधक

होना, चिढ़ना, कटुता, आशा दिखलाना, कुशंकाएँ निकालना और बहुत बढ़ बढ़कर बोलना आदि दुर्गुण उसकी बातोंमें बिलकुल नहीं होते। और हे अर्जुन, उसका दृष्टि-पात भी ऐसा होता है कि उसकी भौंहें बिलकुल ढीली छूटी हुई दिखाई देती हैं और उनमें बल नहीं पड़े होते। इसका कारण यही है कि वह यह समझता है कि भूत मात्रमें परब्रह्मका निवास है; और इसी लिए वह किसी वस्तुकी ओर इस भयसे दृष्टि गड़ाकर नहीं देखता कि कहीं मेरी वह दृष्टि किसीको चुभ न जाय। उसकी सदाकी यही वृत्ति रहती है, इसलिए यदि वह अपने हृदयमें उछलनेवाली कृपाके बलसे प्रसन्न होनेवाली आँखें खोलकर किसीकी ओर एकाध बार देखता है, तब जिसकी ओर वह देखता है, उसका उसी प्रकार समाधान होता है, जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बसे निकलनेवाली अमृत-धारा देखते ही चकोरका पेट तुरन्त भर जाता है और उसका समाधान हो जाता है। उसकी कृपा-दृष्टि पड़ते ही सब जीवोंकी यही दशा होती है। यह प्रसिद्ध है कि कछुईकी दृष्टि बहुत ही प्रेम-पूर्ण होती है। परन्तु जो बात ऐसे सत्पुरुषकी दृष्टिमें होती है, वह कछुईकी दृष्टिमें भी नहीं दिखाई देती। भूत मात्रके सम्बन्धमें जिसकी दृष्टि इस प्रकारकी होती है, उसके हाथ भी ठीक उसी प्रकारके होते हैं। कृतार्थ हो जानेके कारण जिस प्रकार सिद्ध पुरुषों-के समस्त मनोरथ जहाँके तहाँ शान्त हो जाते हैं, उसी प्रकार जिसके हाथ निश्चल और निष्क्रिय होते हैं, जिसके हाथ ऐसे होते हैं कि एक तो पहलेसे ही कार्य करनेमें असमर्थ हों और तिस पर उन्होंने संन्यास या कार्य न करनेकी प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली हो अथवा जो हाथ उस ईंधनके समान होते हैं कि पहले तो जलनेका नाम ही नहीं जानता और तिस पर जिसमेंकी आग बुझी हुई रहती है, अथवा उसकी अवस्था ऐसे मनुष्यके समान होती है जो एक तो पहलेसे ही गूँगा हो और ऊपरसे उसने मौन व्रत धारण कर लिया हो; इसी प्रकार जिसके हाथोंको कुछ भी करना बाकी नहीं रह जाता—क्योंकि वे हाथ एक नितान्त व्यापार-शून्य और निष्क्रिय पुरुषके शरीरमें लगे हुए होते हैं—जो अपने हाथोंको इस भयसे हिलने भी नहीं देता कि इससे वायुको धक्का लगेगा अथवा आकाशमें नख गड़ जायगा, फिर यह कहनेकी तो आवश्यकता ही नहीं है कि वह अपने शरीर पर बैठनेवाली मक्खीको उड़ावेगा अथवा आँखोंमें घुसनेवाले पतिंगेको झाड़कर दूर करेगा अथवा पशु-पक्षियोंको डराकर भगावेगा। हे अर्जुन, जो कभी अपने हाथमें डंडा या छड़ी भी न रखता हो, उसके सम्बन्धमें यह कहनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है कि वह शस्त्रोंको कभी छूता भी नहीं। वह कमल या पुष्पमालाको उछालनेके खेल भी नहीं खेलता, क्योंकि उसे डर रहता है कि कहीं मेरे हाथका कमल या पुष्पमाला किसीके ऊपर न जा गिरे और उसे चोट न लग जाय। वह अपने अंग पर इसलिए हाथ नहीं फेरता कि इससे रोम दबेंगे और नखोंको कष्टसे बचानेके लिए उन्हें कटवाता भी नहीं और उन्हें इस प्रकार बढ़ाता चलता है कि उँगलियों पर उनके कुंडल बन जाते हैं। इस प्रकार ऐसे पुरुषके सम्बन्धमें कार्योंका केवल अभाव ही रहता है। लेकिन इतना होने पर भी यदि उसके लिए किसी कार्यके उपक्रमका प्रसंग आता है तो वह अपने हाथोंको ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे ही कार्य करनेका अभ्यस्त होता है। उसके हाथ किसीको अभय

देनेके लिए ही ऊपर उठते हैं, किसीको आश्रय देनेके लिए ही आगे बढ़ते हैं और किसी दु:खीको कोमलतापूर्वक स्पर्श करनेके लिए ही हिलते हैं। और ये सब काम भी उसके द्वारा सिर्फ लाचारीकी हालतमें ही होते हैं। परन्तु दु:खितोंका भय दूर करनेमें उसकी जो शीतलता दिखाई देती है, वह शीतलता चन्द्रमाकी किरणोंमें भी देखनेमें नहीं आती। वे हाथ पशु पर इतने प्रेमसे फेरे जाते हैं कि उनका स्पर्श मानों सुगन्धित और शीतल मलय वायुके स्पर्शके ही समान होता है। वे हाथ सदा निर्लेप और स्वतन्त्र रहते हैं और यद्यपि चन्दनकी शीतल शाखाओंकी भाँति उनमें कभी फल तो नहीं आते, परन्तु फिर भी वे हाथ कभी निष्फल नहीं होते; क्योंकि उनकी शीतलता या प्रेमार्द्रता बहुमूल्य, अक्षय तथा सर्वव्यापी होती है। परन्तु यह शब्द-विस्तार बहुत हो चुका। हे अर्जुन, तुम यही समझ लो कि उसकी हथेलियाँ साधु-सन्तोंके शुद्ध और शीतल शीलके समान होती हैं। अब ऐसे पुरुषके मनका भी कुछ वर्णन होना चाहिए। परन्तु अब तक मैंने ऐसे पुरुषके जिस आचारका वर्णन किया है, वह आचार क्या उसके मनका नहीं है? शाखाएँ क्या वृक्षकी ही नहीं होती हैं? बिना पानीके समुद्र कैसे हो सकता है? क्या तेज और तेजस्वी पदार्थ दोनों कभी एक दूसरेसे भिन्न होते हैं? अवयव और शरीर अथवा रस और पानी कभी अलग अलग रह सकते हैं? इसी लिए अब तक मैंने ऐसे पुरुषके बाह्य आचारके सम्बन्धमें जो बातें बतलाई हैं, उन्हें तुम इन अवयवोंसे युक्त उस मनकी ही बातें समझो। जमीनमें बीज बोया जाता है, वही वृक्षके रूपमें बाहर प्रकट होता है। इसी प्रकार तुम यह भी समझ लो कि अन्दरका मन ही इन इन्द्रियोंके द्वारा बाहर प्रकट होता है। क्योंकि यदि मनमें ही अहिंसाकी कमी हो तो फिर वह मनके बाहर निकलकर कैसे प्रकट हो सकती है? हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि अहिंसाकी भावना सबसे पहले मनमें ही उत्पन्न होती है और तब वह वाणी, दृष्टि तथा हाथमें प्रकट होती है। और नहीं तो जो बात मनमें ही न हो, वह भला वाणीमें किस प्रकार प्रकट हो सकती है? क्या बिना बीजके भी कभी जमीनमें अंकुर निकलते हैं? इसी लिए जब मनका मनत्व नष्ट होता है, उससे पहले ही इन्द्रियाँ बिलकुल दुर्बल हो जाती हैं, क्योंकि सूत्रधारके बिना कठपुतलियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। यदि किसी झरनेका उद्गम ही सूख जाय तो फिर उसके प्रवाहमें पानी कहाँसे आ सकता है? जब जीव ही चला गया तब फिर देहके व्यापार कहाँसे बाकी रह सकते हैं? इसी प्रकार, हे अर्जुन, इन्द्रियोंके समस्त व्यापारोंका मूल मन ही है। इन्द्रियोंके द्वारा मन ही सब व्यापार करता है। अन्तःस्थ मन जिस समय जिस स्थितिमें होता है, उस समय उसी स्थितिमें वह क्रियाओंके रूपमें इन्द्रियोंके द्वारा प्रकट होता है। जिस प्रकार पके हुए फलकी सुगन्ध वेगपूर्वक बाहर निकलती है, उसी प्रकार मनकी वास्तविक अहिंसा भी बढ़ने पर आवेशपूर्वक बाहर निकलती है। और तब उसी अहिंसाकी पूँजी लेकर इन्द्रियाँ अहिंसाके लेन-देनका व्यापार आरम्भ करती हैं। जिस समय समुद्रमें ज्वार आती है, उस समय उसका जल खाड़ियोंको भर देता है। ठीक इसी प्रकार मन भी अपनी सम्पत्तिसे इन्द्रियोंको सम्पन्न कर देता है। परन्तु अब इस विषयका अधिक

विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार गुरुजी लड़केका हाथ पकड़कर स्वयं ही अक्षर लिखते हैं, उसी प्रकार मन भी हाथ-पैर आदि इन्द्रियोंमें प्रवेश करके उनके द्वारा दयापूर्ण कृत्य कराता है और उनसे अहिंसाका आचरण कराता है। इसलिए, हे अर्जुन, अभी मैंने इन्द्रियोंकी क्रियाओंका जो वर्णन किया है, वह वास्तवमें मनके व्यवहारोंका ही वर्णन है। इसलिए जिस पुरुषमें मनसे, शरीरसे और वाचासे किया हुआ हिंसाका पूर्ण त्याग तुम्हें दिखाई पड़े वास्तवमें उसी पुरुषको ज्ञान-विलासी अथवा ज्ञानका निवास-स्थान ही समझना चाहिए। केवल यही नहीं, बल्कि यह समझना चाहिए कि वह मूर्तिमान् ज्ञान ही है। जिस अहिंसाकी महिमा हम कानोंसे सुनते हैं और ग्रंथोंमें जिसका वर्णन होता है, उस अहिंसाको यदि प्रत्यक्ष देखनेकी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम्हें उस पुरुषको देखना चाहिए। बस इसीसे तुम्हारा काम हो जायगा।" इस प्रकार श्रीकृष्ण-देवने अर्जुनसे ये सब बातें कहीं। वास्तवमें इन सब बातोंका मुझे बहुत ही थोड़े शब्दोंमें वर्णन करना चाहिए था; परन्तु विवेचनके आवेशमें बहुत अधिक विस्तार हो गया। इसके लिए आप लोग मुझे क्षमा करें। हे श्रोतागण, कदाचित् आप लोग कहेंगे—"हरा चारा देखकर जिस प्रकार पशु अपना पिछला मार्ग भूल जाता है अथवा वायुके झोंकेके साथ उड़नेवाले पक्षी जिस प्रकार बराबर आकाशमें आगेकी ओर बढ़ते चलते हैं, उसी प्रकार जब एक बार इसके प्रेमका स्फुरण होता है और यह रसाल भावनाओंके प्रवाहमें पड़ जाता है, तब इसका चित्त इसके वशमें नहीं रहता।" परन्तु हे श्रोतागण, वास्तवमें मेरे सम्बन्धमें यह बात ठीक नहीं है। इस विस्तारका कुछ और ही कारण है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो "अहिंसा" शब्द तीन ही अक्षरोंका है। अतः ऊपरसे देखनेमें ऐसा जान पड़ेगा कि इसका अर्थ बहुत ही थोड़ेमें समझाया जा सकता है। परन्तु अहिंसाका पूर्ण, स्पष्ट तथा निःशंक अर्थ बतलानेके लिए अनेक भिन्न-भिन्न मतोंका खंडन करनेकी आवश्यकता होती है। और नहीं तो भिन्न-भिन्न मत सामने दिखाई देते हैं। अब यदि मैं अपने अभिमानके कारण उन सब मतोंको एक ओर रख दूँ और केवल अपना ही विवेचन कर चलूँ तो वह विवेचन आप लोगोंको ठीक नहीं जान पड़ेगा। यदि कोई जौहरियोंके निवास-स्थानमें जाय तो उसे उचित है कि वह वहाँ रत्नोंको परखनेकी गंडकी शिला (अर्थात् शालिग्राम) निकालकर सब लोगोंके सामने रखे। वहाँ स्फटिक मणिकी प्रशंसा करनेसे क्या लाभ हो सकता है? इसके विपरीत जहाँ आटेकी भी बिक्री न होती हो, वहाँ कपूरकी सुगन्धिवाली चीजका क्या आदर हो सकता है? इसी लिए यदि आप सरीखे जानकार सन्तोंकी सभामें वक्तृता पर कुछ अधिक रंग चढ़ गया तो महाराज, उसमें दोषके लिए कुछ विशेष स्थान नहीं रह जाता। यदि सामान्य श्रोताओं और विशेष अधिकारी श्रोताओंका संस्कृति-भेद ध्यानमें न रखा जाय और यदि मैं सरसरी तौर पर उन सबको एक ही मालामें पिरोकर निरूपण कर चलूँ, तो फिर आप लोग उस विवेचनको अपने कानोंका स्पर्श भी न होने देंगे। यदि शुद्ध सिद्धान्तके निरूपणमें शंकाओंका समाधान न हो और विषय जटिलका जटिल ही रह जाय अथवा उसकी जटिलता और बढ़ जाय, तो श्रोताओंका विषयकी ओर जाने-

वाला लक्ष्य पिछले पैरों वहाँसे भाग जाता है। जिस जलमें सेवार भरी हुई रहती है, उसकी ओर हंस कभी उलटकर भी नहीं देखता। अथवा यदि चन्द्रमा मेघोंकी आड़में हो जाता है, तो चकोर पक्षी अपना चंचुपुट उत्सुकतासे ऊपरकी ओर उठाकर नहीं देखता। इसी प्रकार यदि मैं निर्विवाद और निःशंक रूपसे अपना निरूपण न करूँ तो आप लोग भी श्रवणके विषयमें अपना आदर न दिखलावेंगे—इस ग्रन्थको हाथ न लगावेंगे। केवल इतना ही नहीं, बल्कि उलटे आप लोग और भी क्रुद्ध हो जायँगे। जिस विवेचनमें दूसरे मतोंका निराकरण न होगा और जिसमें आक्षेपोंका मुँह बन्द न किया जायगा, वह विवेचन आप लोगोंको कभी ग्राह्य न होगा। और मैं जो इस ग्रंथका गुम्फण कर रहा हूँ, इसमें मेरा उद्देश्य यह है कि आप सन्तजन मुझे सदा प्रेम और कृपाकी दृष्टिसे देखें। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो आप ही लोग इस गीतार्थके निकट सम्बन्धी हैं; और यही जानकर मैंने इस गीताको अपने हृदयसे लगाया है। और इसीलिए मैं यह भी समझता हूँ कि आप लोग अपना ज्ञान-सर्वस्व देकर इसे मेरे पाससे छुड़ा ले जायँगे। यह गीता कोई ग्रन्थ नहीं है, बल्कि यह मेरे पास धरोहरके रूपमें रखी हुई आप लोगोंकी वस्तु है। और यदि आप लोग अपने लोभीपनके कारण अपना ज्ञान-सर्वस्व मुझसे चुराकर रखेंगे और इस गीताको मेरे पास इसी प्रकार रेहन पड़ी रहने देंगे, तो इस गीताका और मेरा एक ही परिणाम होगा। सारांश यह कि मैं आप लोगोंकी कृपा सम्पादित करना चाहता हूँ। और इसी उद्देश्यसे मैंने ग्रंथ-रचना का यह केवल बहाना किया है। इसी लिए मुझे ऐसा शुद्ध और निर्दोष निरूपण करना पड़ता है जो आप लोगोंको अच्छा लगे। और इसी लिए मैं भिन्न-भिन्न मतोंका ऊहापोह करनेके फेरमें पड़ गया था। परन्तु ऐसा करनेमें बहुत अधिक विस्तार हो गया और मूल श्लोकका अर्थ कहाँका कहाँ चला गया। तो भी आप लोगोंको उचित है कि आप इस बालकको क्षमा करें। अन्नके ग्रासमेंकी कंकड़ी निकालनेमें यदि समय लगे तो इसमें कुछ दोष नहीं है; क्योंकि कंकड़ी निकालना तो आवश्यक ही है। यदि बालकको रास्तेमें ठग मिल जायँ और उन ठगोंसे अपना छुटकारा कराके घर आनेमें उस बालकको कुछ देर हो जाय, तो माताको उस बालक पर क्रोध करना चाहिए अथवा उस परसे राई-नोन उतारकर उसे गले लगाना चाहिए? परन्तु अब इस विषयका और अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। आपने मुझे क्षमा कर दिया, बस इसीमें मुझे सब कुछ मिल गया। अब आप लोग यह सुनें कि श्रीकृष्णदेवने क्या कहा।

भगवान्‌ने कहा—"भाई अर्जुन, ज्ञानार्जनके कारण तुम्हारी दृष्टि खुल तो गई है, परन्तु अब तुम सावधान हो जाओ। अब मैं तुमको वास्तविक ज्ञानका परिचय कराता हूँ। जिसमें इस प्रकारकी क्षमा विराजती हो, जिसमें खेदका कहीं नाम भी न हो, तुम समझ लो कि उसीको सच्चा और वास्तविक ज्ञान प्राप्त है। जिस प्रकार गहरे सरोवरोंमें कमल अथवा भाग्यवान् पुरुषोंके घरोंमें सम्पत्ति होती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, सच्चे ज्ञानी पुरुषमें क्षमा भरी हुई रहती है। इस क्षमाको पहचाननेके लक्षण अब मैं तुमको स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ; सुनो। जिस प्रकार कोई बहुत अच्छा लगनेवाला आभूषण

हम बड़े चावसे अपने शरीर पर धारण करते हैं, उसी प्रकार चावसे वह पुरुष सब बातें सहन करता है। यदि तीनों प्रकारके तापोंका पर्वत भी उस पर आ गिरे, तो भी वह तनिक विचलित नहीं होता। इष्ट वस्तुकी ही भाँति अनिष्ट वस्तु भी वह बहुत ही आदरपूर्वक स्वीकृत करता है। वह मान और अपमान सब सहन करता है, सुख और दुःख सबको समान समझता है और निन्दा अथवा स्तुतिसे चल-विचल नहीं होता। वह न तो गरमीसे तप्त होता है और न सर्दीसे काँपता है; और चाहे कैसा ही विकट प्रसंग क्यों न आवे, परन्तु न तो वह भागता ही है और न डरता ही है। जिस प्रकार मेरु पर्वतको अपने शिखरका भार कुछ भी मालूम नहीं होता अथवा जिस प्रकार नारायणके तीसरे अवतार यज्ञ-वराह पृथ्वीके भारको कुछ भी नहीं समझते अथवा असंख्य भूतोंके भारसे जिस प्रकार पृथ्वी नहीं दबती, उसी प्रकार सुख-दुख आदि द्वन्द्वोंके शरीर पर आ पड़नेसे वह बिलकुल नहीं घबराता। जिस प्रकार बहुत-सी नदियों और नदोंके समुदायके साथ आनेवाले अपरम्पार जल-समूहके लिए समुद्र अपना पेट बड़ा कर लेता है और उन सबको अपने उस पेटमें स्थान देता है, उसी प्रकार उसके सम्बन्धमें कभी कोई ऐसी बात नहीं होती जो वह सहन न करे। और इतना होने पर भी उसे इस बातका कभी भान भी नहीं होता कि मैं अमुक अमुक बातें सहन करता हूँ। जो कुछ प्राप्त होता है, वह सब आत्म-स्वरूप जानकर सहन करता है और उसके लिए उस सहनशीलताका अभिमान करनेका कोई कारण नहीं होता। हे सखे अर्जुन, इस प्रकारकी भेद-भाव-रहित क्षमा जिस पुरुषमें विराजती हो, समझ लो कि उस पुरुषके कारण स्वयं ज्ञानका ही महत्व बढ़ता है। हे पार्थ, ऐसा पुरुष ज्ञानका आधार ही होता है। अच्छा अब मैं आर्जवका निरूपण करता हूँ, सुनो। प्राणी मात्रके सम्बन्धमें जिस प्रकार प्राण-तत्व एक ही प्रकारका सौजन्य दिखलाता है, उसी प्रकार आर्जव भी सबके साथ भेद-भाव-रहित व्यवहार करता है। जिस प्रकार सूर्य कभी किसीका मुँह देखकर (अर्थात् किसीको प्रिय समझकर) उसपर अपने प्रकाशका विस्तार नहीं करता अथवा आकाश तत्व जिस प्रकार समस्त आकाशको सम-भावसे व्याप्त रखता है, उसी प्रकार जिसमें आर्जव होता है, उसका मन अलग अलग मनुष्योंके साथ अलग-अलग प्रकारका व्यवहार नहीं करता, बल्कि सबके साथ बिलकुल एक-सा व्यवहार करता है। बात यह है कि ऐसा पुरुष जगतकी स्थिति बहुत अच्छी तरह जान चुका होता है और उसे इस बातका पूरा पूरा ज्ञान हो चुका रहता है कि जगतके साथ मेरा आत्मैक्यका बहुत ही पुराना और बहुत निकटका सम्बन्ध है। और इसी लिए अपने और परायेका उसे कभी भान नहीं हो सकता। वह पानीकी तरह हर एक आदमीके साथ मिल जाता है, वह अपने मनमें किसीके विषयमें भी बुरा नहीं मानता, उसके विचार सदा वायुके प्रवाहके समान बिलकुल सरल रूपसे चलते हैं और उसे किसी प्रकारकी शंका या और कोई भाव स्पर्श ही नहीं करता। जिस प्रकार माताके सामने जानेमें बालकको किसी तरहकी शंका नहीं होती, उसी प्रकार लोगोंके सामने अपनी मनोवृत्ति प्रकट करनेमें भी उसे किसी तरहकी शंका नहीं जान पड़ती है। हे अर्जुन, जब कमल एक बार खिल जाता

है, तब फिर उसका कोई भाग बन्द नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार उसका मन भी बिलकुल खुला रहता है और उसमें कहीं कोई बन्द या छिपा हुआ अंश नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई रत्न एक तो पहलेसे ही स्वच्छ हो और ऊपरसे उसपर तेजस्वी किरण पड़े, उसी प्रकार उसका मन एक तो पहले ही बिलकुल निर्मल होता है और फिर उस मनके साथ होनेवाली क्रियाएँ भी उतनी ही निर्मल होती हैं। उसे कभी किसी बातके सम्बन्धमें इस प्रकारका आगा-पीछा नहीं होता कि मैं यह बात कहूँ या न कहूँ; और वह अपना वास्तविक अनुभव बिलकुल ठीक ठीक प्रकट कर देता है। अपने मनकी आधी बात छिपाना और आधी प्रकट करना वह बिलकुल जानता ही नहीं। उसकी दृष्टिमें कपट नामको भी नहीं रहता और उसकी बातोंमें न तो कोई दुराव ही होता है और न अस्पष्टता ही होती है। वह किसीके साथ तुच्छताका व्यवहार नहीं करता। उसकी दसो इन्द्रियाँ बिलकुल निष्कपट, सरल और शुद्ध होती हैं और दिन-रात उसके प्राणोंके पाँचो द्वार बिलकुल खुले रहते हैं। उसका अन्तरंग अमृतकी धाराके समान सरल होता है। तात्पर्य यह कि जिस पुरुषमें ये सब लक्षण खूब अच्छी तरह दिखाई देते हों, हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, उसके सम्बन्धमें तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि वह आर्जव गुणका पुतला है और उसमें ज्ञान अपना घर बनाकर रहता है। हे चतुर-श्रेष्ठ अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि गुरुकी भक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। ध्यान देकर सुनो। यह गुरुसेवा मानों भाग्यकी जननी है, क्योंकि जिस जीवकी स्थिति परम शोचनीय हो, उसे भी यह ब्रह्म-स्वरूपकी प्राप्ति करा देती है। इसी गुरु-भक्तिके सम्बन्धकी सब बातें मैं तुमको स्पष्ट रूपसे बतलाना चाहता हूँ; इसलिए तुम अपना अवधान बिलकुल एकाग्र करो। जिस प्रकार समस्त जलकी सम्पत्ति अपने साथ लेकर नदी समुद्रकी ओर जाती है अथवा समस्त महासिद्धान्तोंके साथ वेद-विद्या ब्रह्म-पदमें स्थिर होती है अथवा जिस प्रकार सती स्त्री अपने पाँचो प्राण एकत्र करके अपने समस्त गुणों और अवगुणोंके सहित अपने प्रिय पतिको अर्पण करती है, उसी प्रकार जो अपना सर्वस्व गुरु-कुलमें अर्पित कर देता है और जो स्वयं गुरु-भक्ति मायका (जन्म स्थान) बन जाता है, जो गुरु-गृहके स्थानका उसी प्रकार चिन्तन करता है, जिस प्रकार विरहिणी स्त्री अपने पतिका चिन्तन करती रहती है, गुरु-गृहके स्थानकी ओरसे हवाको आते हुए देखकर जो उसका सम्मान करनेके लिए दौड़कर उसके आगे जा खड़ा होता है और उसके सामने जमीन पर लोटकर उससे प्रार्थना करता है कि—"मेरे घरमें आओ।" सच्चे प्रेमके कारण जिसे गुरु-गृहकी दिशाके साथ ही बातें करना अच्छा लगता है और जो अपने जीवको गुरु-गृहका हकदार बना रखता है, जिसका शरीर गुरुकी आज्ञाके साथ बँधा होनेके कारण गुरुसे दूर और अपने घर रहने पर भी उसी प्रकार बन्धनमें पड़ा रहता है, जिस प्रकार बछड़ा रस्सीसे बँधा हुआ गौशालामें पड़ा रहता है, परन्तु फिरभी उसी बछड़ेकी तरह जो निरन्तर अपने मनमें यही कहता रहता है कि यह रस्सीका बन्धन किस प्रकार टूटेगा और किस प्रकार कब मुझे गुरुदेवके दर्शन मिलेंगे, जिसे अपने गुरुके विरहका प्रत्येक क्षण युगसे भी बढ़कर जान पड़ता है और ऐसी

अवस्थामें यदि उसके गुरुके निवासस्थानसे कोई व्यक्ति आता है अथवा उसका गुरु किसी-को उसके पास भेजता है, तो उसे वैसा ही आनन्द प्राप्त होता है, जैसा किसी मरणोन्मुख व्यक्तिको आयुष्य प्राप्त होने पर होता है अथवा सूखे हुए अंकुरको जिस प्रकार अमृतकी वर्षा होनेके कारण प्राप्त होता है अथवा किसी छोटेसे गड्ढेमें रहनेवाली मछलीको समुद्रमें पहुँच जाने पर होता है अथवा किसी परम दरिद्रको कहीं कोई गड़ा हुआ खजाना दिखाई पड़ने पर होता है अथवा अन्धेको दृष्टि प्राप्त होने पर होता है अथवा किसी दरिद्रको इन्द्र पद प्राप्त होने पर होता है। इसी प्रकार वह गुरुकुलका नाम सुनते ही सुखके रससे ओत प्रोत होकर इतना फूल जाता है कि वह आकाशको भी सहजमें आलिगन कर लेता है। गुरु-कुलके प्रति इस प्रकारका प्रेम जिस व्यक्तिमें तुमको दिखाई पड़े, हे अर्जुन, उसके सम्बन्धमें तुम यह बात अच्छी तरह समझ लो कि उसको सेवाका ज्ञान निरन्तर सिद्ध रहता है। वह अपने प्रेम-गुणकी सामर्थ्यसे अपने अन्तःकरणमें अपनी गुरुदेवकी मूर्ति स्थापित करके ध्यानके द्वारा उसीकी उपासना करता है। वह अपने हृदयकी निर्मलताके कोटमें अपने आराध्य गुरुदेवको दृढतापूर्वक स्थापित करके स्वयं बहुत ही भक्ति भावसे उनका सारा परिवार बन जाता है। ज्ञानके चबूतरे पर आत्मानन्दके मन्दिरमें अपने गुरुदेवकीमूर्ति स्थापित करके वह ध्यान रूपी अमृतकी धार पर चढ़ाता है। ब्रह्म-बोधका सूर्योदय होते ही अपनी बुद्धि-रूपी टोकरी सात्विक भावोंसे भरकर अपने गुरुदेव रूपी शंकर पर उन्हीं भावोंकी लक्षौरी चढ़ाता है; दिवसके तीनों कालों अर्थात् प्रातःकाल, मध्यान्ह और सायंकालके शास्त्रोक्त समयोंमें जीव भावका धूप जलाकर ज्ञानके दीपकसे वह सदा गुरुदेवकी आरती करता है। फिर उन्हें समस्त ब्रह्मैक्यका नैवेद्य अर्पित करता है। इस प्रकार वह स्वयं तो पुजारी बनता है और अपने गुरुको आराध्य देवता बनाता है। कभी कभी उसकी बुद्धि जीवकी शय्या पर गुरुराजकी पतिके रूपमें कल्पना करके उनकी संगतिका सुख-भोगती है और प्रेमके आनन्दका अनुभव करती है। कभी कभी उसके अन्तरंगमें प्रेमकी ऐसी लहर उठती है कि वह उसका नाम क्षीर-समुद्र रख देता है। उसके इस प्रेम-समुद्रमें ध्यान-सुखके निर्मल शेष-मंचक पर उसके गुरु-रूपी नारायण जल-संचयमें निद्रा लेते रहते हैं। फिर इन गुरु-रूपी नारायणके पैर चबानेवाली लक्ष्मी वह स्वयं ही बनता है और हाथ जोड़कर पास खड़ा रहनेवाला गरुड़ भी वह आप ही बनता है। उन गुरु-रूपी नारायणके नाभि-कमलसे जन्म लेने वाले ब्रह्माकी भी वह अपने आपमें ही कल्पना करता है। इस प्रकार वह गुरु-मूर्तिके प्रेममें मानसिक ध्यान सुखका अनुभव करता है। कभी कभी वह यह भी कल्पना करता है कि श्री गुरुदेव मेरी माता हैं; और तब वह उनकी गोदमें लोटता है और उनके स्तन-पानका भी कल्पित सुख भोगता है। अथवा हे अर्जुन, कभी कभी वह यह भी कल्पना करता है कि ज्ञान रूपी वृक्षकी शीतल छायामें श्री गुरुदेव धेनु माताके समान हैं और मैं उनका बछड़ा हूँ। अथवा कभी कभी वह यह समझता है कि गुरुदेवकी कृपा तो जल है और मैं उसमेंकी मछली हूँ। अथवा गुरुकी कृपा तो जलकी वर्षा है और मैं उस वर्षासे बढ़नेवाला सेवा-वृत्ति-रूपी

पौधा हूँ। तात्पर्य यह कि अनुरागके इन प्रकारोंका कहीं अन्त ही नहीं है। वह कभी कभी ऐसी कल्पना भी करता है कि मैं पक्षीका एक ऐसा बच्चा हूँ, जिसकी चोंच और पंख अभी अच्छी तरह खुले नहीं हैं और गुरु मेरी माता पक्षिणी है और उनकी चोंचमेंसे मैं चारा लेता हूँ। कभी वह यह कल्पना करता है कि गुरुदेव नौका हैं और मैं उन्हींके आश्रयमें पड़ा हुआ हूँ। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ज्वार आने पर समुद्रमें बराबर लहरें उठती हैं, उसी प्रकार उसके प्रेमकी लहरें भी ध्यानकी परम्परा बराबर चलाती चलती हैं। सारांश यह कि इस प्रकार वह अपने मनमें निरन्तर गुरुकी मूर्त्तिका उपभोग करता रहता है। अब यह सुनो कि वह अपने गुरुदेवकी दृश्य या प्रत्यक्ष सेवा किस प्रकार करता है। उसके मनमें सदा यही भाव बना रहता है कि मैं अपने गुरुदेवकी ऐसी सेवा करूं कि कि वे प्रसन्न होकर कहें—"वाह वा रे शिष्य, तुझे जो वर चाहता हो, वह वर माँग।" वह सोचता है कि जब गुरुदेव सचमुच इस प्रकार प्रसन्न हो जायें, तब मैं उनसे विनयपूर्वक कहूँ—"हे महाराज, मेरी यह इच्छा है कि आपका जो कुछ परिवार हो, वह सारा परिवार एक मैं ही होऊँ। और आपके उपयोग में आने वाले जो जो उपकरण हैं, उन सबके रूप भी मैं ही धारण करूँ।" और जब मैं स्वामीसे इस प्रकारका वर मागूँ, तब वे प्रसन्न होकर "तथास्तु" कहें और एक मात्र मैं ही उनका सारा परिवार बन जाऊँ। वह सोचता है कि जब गुरुदेवकी सेवाके समस्त उपकरण मैं ही बन जाऊँगा, तभी मुझे गुरुकी सेवाका वास्तविक कौतुक देखनेको मिलेगा। यों तो गुरुदेव सभीकी माता हैं, परन्तु मैं उन पर ऐसा दबाव डालूँगा कि वे केवल मेरी ही माता होकर रहें। उनके प्रेमको भी मैं इस प्रकार बेधूँगा कि मेरे साथ एक पत्नी व्रतवाला आचरण करें और उनसे क्षेत्रसंन्यासके व्रतका इस प्रकार आचरण कराऊँगा कि उनका प्रेम निरन्तर मेरी ही सीमामें रहे। जिस प्रकार नित्य बहनेवाली वायु चारों दिशाओंकी सीमाके बाहर नहीं जाती, उसी प्रकार मैं भी पिंजरा बनकर गुरुदेवकी समस्त कृपाको केवल अपनेमें ही आबद्ध रखूँगा। गुरु-सेवा रूपी स्वामिनीको मैं अपने समस्त सद्‌गुणोंके नगोंसे सजाऊँगा। केवल यही नहीं, बल्कि मैं ही गुरु-भक्तिका सारा आच्छादन बन जाऊँगा और दूसरे किसीको वह आच्छादन नहीं बनने दूँगा। जब गुरुके प्रसादकी वर्षा होने लगेगी, तब केवल मैं ही पृथ्वी बनकर उसके नीचे रहूँगा। वह अपने मनमें सदा इसी प्रकारके अनेक मनोरथोंकी रचना करता है। वह कहता है कि मैं गुरुदेवका घर बनूँगा और उस घरमें आप ही दासके समान रहकर उनके सब काम करूँगा। उदार और दाता गुरुदेव आने जानेमें जो डेवढ़ियाँ लाँघेंगे, वह डेवढ़ियाँ भी मैं ही बनूँगा और द्वारपाल बनकर मैं ही द्वार पर पहरा भी दूँगा। मैं ही उनकी पादुका बनूँगा और मैं ही उन्हें वह पादुका पहनाऊँगा। मैं ही उनके ऊपर छाया करनेके लिए छाता भी बनूँगा और छत्र लगानेवालेकी सेवा भी मैं ही करूँगा। मैं ही रास्तेकी ऊँची-नीची भूमि बतलानेवाला चोबदार बनूँगा। मैं ही हाथ पकड़नेवाला बनूँगा और मैं ही उनके आगे मशाल लेकर चलनेवाला मशालची बनूँगा। मैं ही उनकी झारी बनूँगा और मैं ही उन्हें कुल्ला भी कराऊँगा; और वे जो कुछ कुल्ला करके मुँहसे फेंकेंगे, उसे धारण करनेवाला

पीकदान भी मैं ही बनूँगा। मैं ही उनका पानदान बनूँगा और पान खाकर जब वह थूकेंगे, वह भी मैं ही लूँगा। उनके स्नानकी तैयारी भी मैं ही करूँगा। मैं ही उनका आसन, अलंकार, वस्त्र और चन्दन आदि उपचार भी बनूँगा। मैं ही उनका रसोइया बनकर उनके आगे अन्नका महानैवेद्य लगाऊँगा और मैं ही अपनी आत्मासे उनकी आरती उतारूँगा। जिस समय श्री गुरुदेव भोजन करने बैठेंगे, उस समय उनकी पंक्तिमें मैं ही बैठूँगा और भोजनके उपरान्त मैं ही आगे बढ़कर उन्हें पानोंके बीड़े दूँगा। उनकी जूठी थाली और बरतन आदि भी मैं ही उठाऊँगा, मैं ही उनका बिस्तर बिछाऊँगा और मैं ही उनके पैर दबाऊँगा। मैं ही उनके बैठनेके लिए मंच या सिंहासन बनूँगा और जब उस मंच पर गुरु महाराज बैठेंगे, तब अपनी गुरु-सेवाकी पराकाष्ठा समझूँगा। जिन चमत्कारपूर्ण बातों और मनोविनोद आदिमें गुरुदेवका मन रमेगा, वे सब बातें भी मैं ही बनूँगा। जिस समय उनका ग्रन्थ-श्रवण होगा, उस समय शब्दोंका समूह भी मैं ही बनूँगा; और जिस समय वे अपना कोई अंग खुजलावेंगे, उस समय उनके स्पर्श-ज्ञानका रूप भी मैं ही धारण करूँगा। जिन जिन रूपोंको गुरुदेव स्नेह-पूर्ण दृष्टिसे देखेंगे, वे सब रूप भी मैं ही बनूँगा। उनकी जिह्वाको जो जो रस अच्छे लगेंगे और उनकी नाकको जो जो सुगन्धियाँ अच्छी लगेंगी वे रस और सुगन्धियाँ भी मैं ही बनूँगा। इस प्रकार शिष्य अपनी दृश्य सेवाके संबंधमें अपने मनमें बराबर यही कहता रहता है कि अपने गुरुके उपयोगकी समस्त वस्तुएँ मैं ही बनूँगा और समस्त गुरु-सेवाको मैं अकेला ही व्याप्त कर लूँगा। जब तक शरीर रहता है, तब तक तो इस प्रकार सेवा की जाती है, और जब देह-पात हो जाता है, तब गुरु-सेवाका कुछ और ही प्रकार उसकी बुद्धिको सूझता है। वह कहता है कि देह-पात होने पर मैं अपने इस शरीरकी मिट्टी उसी भूमिमें मिलाऊँगा जिस पर गुरु अपने चरण रखकर खड़े होंगे। मेरे गुरुदेव जिस पानीको सहजमें स्पर्श करेंगे, उसी पानीमें मैं अपने शरीरका जलीय अंश मिला दूँगा। जिस दीपकसे गुरुदेव आरती करेंगे अथवा जो दीपक उनके घरमें जलेगा, उस दीपकके तेजमें मैं अपने शरीरका तेजवाला अंश मिला दूँगा। गुरुदेवके चँवर या पंखेमें मैं अपना प्राण-वायु रखूँगा जिससे मुझे गुरुदेवकी सेवा और स्पर्श दोनोंका ही सौभाग्य प्राप्त होगा। जिन जिन स्थलोंमें गुरुमूर्ति रहेगी, उन उन स्थलोंके आकाश तत्वमें मैं अपने शरीरका आकाशवाला अंश लीन करूँगा। चाहे मैं जीता रहूँ और चाहे मर जाऊँ, परन्तु गुरु-सेवाका यह व्रत मैं कभी न छोड़ूँगा। मैं इस प्रकारकी सेवा कल्पान्त कोटि तक करता रहूँगा और क्षण भरके लिए भी वह सेवा किसी दूसरेको करने न दूँगा। जिस शिष्यमें इस प्रकारका धैर्य होता है और जिसकी गुरु-सेवाके लिए स्थल या कालकी कोई सीमा अथवा मर्यादा नहीं होती, जो सेवा करनेमें रात और दिनका कुछ भी ध्यान नहीं करता और उसके सम्बन्धमें कभी यह नहीं कहता कि यह सेवा थोड़ी हुई या बहुत; उलटे गुरुदेवके बतलाये हुए कार्यकी कठिनतासे और भी ताजा और हृष्ट-पुष्ट होता है, गुरुका बतलाया हुआ काम चाहे आकाशसे भी बड़ा हो, परन्तु फिर भी जो अकेला ही वह काम पूरा कर डालता है, किसी कार्यके सम्बन्धमें

गुरुदेवकी आज्ञा होते ही मनसे पहले जिसका शरीर आगे दौड़ पड़ता है, उसे पूरा करनेके लिए मनके साथ प्रतियोगिता करके जो चटपट काम पूरा कर डालता है, गुरुके मुँहसे केवल परिहासमें ही निकली हुई बात पूरी करनेके लिए भी जो अपना सारा जीवन निछावर कर देता है, जो गुरुकी सेवामें ही अपना शरीर कृश कर डालता है और फिर गुरुके प्रेमसे ही पुष्ट होता है, जो गुरुकी आज्ञाके लिए अकेला ही आधार बनता है, जो गुरु-कुलके द्वारा ही अपने आपको कुलीन समझता है, जो अपने गुरुभाइयोंके साथ सौजन्यपूर्ण व्यवहार करनेमें ही सुजनता मानता है, जिसे केवल गुरुकी सेवाका ही व्यसन होता है, गुरु-सम्प्रदायका नियम ही जिसके लिए वर्णाश्रम धर्म होता है, गुरु-भक्ति ही जिसका नित्य कर्म है, जो गुरुको ही क्षेत्र-देवता और माता-पिता आदि सब कुछ मानता है और जो आत्म-कल्याणके लिए गुरु-सेवाके सिवा और कोई मार्ग जानता ही नहीं, गुरुका द्वार ही जिसके लिए सार और सर्वस्व है—वास्तविक सत्य तत्व है—जो अपने गुरुके सेवकोंके साथ सगे भाइयोंका-सा प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, जिसके मुख पर सदा गुरुके नामका मन्त्र रहता है और गुरुके वाक्योंको छोड़कर जो और किसी शास्त्र पर ध्यान नहीं देता, जो गुरुके चरणोंके जलको ही त्रिभुवनके समस्त तीर्थोंसे श्रेष्ठ समझता है, जो किसी अवसर पर गुरुका जूठा अन्न मिल जाने पर उसके सामने आत्म-समाधिका भी कोई महत्व नहीं समझता, हे अर्जुन, गुरुदेवके चलनेके समय उनके पैरोंसे धूलके जो कण पीछेकी ओर उड़ते रहते हैं, उनमेंका एक कण भी जो मोक्ष सुखके बदलेमें ग्रहण करनेके लिए उत्सुक रहता है, वही वास्तवमें गुरुका सच्चा सेवक और शिष्य होता है। परन्तु इन सब बातोंका कहाँ तक विस्तार किया जाय! वास्तवमें गुरुकी भक्तिकी कोई सीमा ही नहीं है। गुरु-भक्तिका प्रसंग आ जानेके कारण इतना अधिक विस्तार करना पड़ा है। परन्तु बहुत विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिसके मनमें इन भक्तिके लिए अनुराग होता है, जिसके मनमें इसके लिए उत्कंठा होती है, जिसे गुरु-सेवाके सिवा और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वही पुरुष तत्व-ज्ञानका आधार है और उसीके कारण ज्ञानका अस्तित्व होता है। केवल यही नहीं, वह ज्ञानी भक्त प्रत्यक्ष देवता ही होता है। वास्तवमें ऐसे भक्तके पास ज्ञान अपने सब द्वार मुक्त करके रहता है और उसका ज्ञान इतना अधिक रहता है कि वह सारे संसारको भरनेके उपरान्त भी बाकी रहता है।" हे श्रोतागण, इस प्रकारकी गुरु-सेवाके प्रति मेरे अन्तःकरणमें उत्कट उत्कंठा है और इसी लिए मैंने इस विषयका इतना अधिक विस्तार किया है। और नहीं तो मैं हाथ होने पर भी लूला हूँ, भजनके विषयमें अन्धा हूँ और गुरु-सेवाके काममें पंगुलोंसे भी बढ़कर पंगुल हूँ। गुरुकी महिमाके वर्णनके काममें मैं गूँगा हूँ और मुफ्तका माल खाकर पड़ा रहनेवाला पक्का आलसी हूँ। परन्तु फिर भी इतना है कि मेरे मनमें सच्चा गुरु-प्रेम है और उसी प्रेमके कारण मुझे इस प्रसंगका इतना अधिक विस्तार करना पड़ा है। मैं ज्ञानदेव आप लोगोंसे यही बात कहता हूँ। हे श्रोतागण, मैंने अब तक जो कुछ कहा है, उसे आप लोग कृपा कर सहन करें और मुझे ऐसा अवसर दें कि मैं आप लोगोंकी और भी

अधिक सेवा करूँ। अब आगे मैं ग्रन्थका अर्थ ही अच्छी तरह और विशद रूपसे बतलाऊँगा। श्रोता-गण सुनिये, सारी सृष्टिका भार सहन करनेमें समर्थ नारायणके पूर्ण अंश श्रीकृष्ण कहते हैं और अर्जुन सुनते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, सुनो। जिसमें इतनी अधिक शुचिता है कि मानों उसके सब अंग और मन कपूरके ही बने हुए हैं अथवा जिसका अन्दर और बाहर रत्नके पिंडके समान स्वच्छ होता है अथवा जो सूर्यके समान अन्दर और बाहर समान रूपसे तेजस्वी होता है, जो बाहर तो अपने कर्मोंके आचरणके कारण और अन्दर ज्ञानके कारण उज्वल होता है और इसलिए जो दोनों तरफ समान रूपसे निर्मल होता है, वेद-मन्त्रोंका उच्चारण करनेसे तथा मिट्टी और पानीके योगसे जिस प्रकार बाह्य शुद्धि होती है, जिस प्रकार प्रत्येक काममें बुद्धि ही बलवती होती है, जिस प्रकार बालू दर्पणको स्वच्छ करता है अथवा धोबीके मसालेसे जिस प्रकार कपड़े परका दाग धुलकर साफ हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो बाहरसे निर्मल होता है और अन्तरंगमें भी ज्ञानका दीपक प्रज्वलित होनेके कारण जो शुद्ध हो चुका रहता है वही ज्ञानी है। और नहीं तो—हे अर्जुन, यदि अन्तरंग शुद्ध न हो तो बाहरी कर्मोंका आडम्बर केवल दूसरोंको धोखा देनेके लिए ही होगा। यह सब वैसा ही होगा, जैसे मृतकका शृंगार करना, गधेको तीर्थमें स्नान कराना, कड़ुए तूँबेके ऊपर गुड़का लेप करना, उजड़े हुए और टूटे-फूटे घरको तोरण और बन्दनवारसे सजाना, भूखों मरते हुए मनुष्यके अंग पर अन्नका लेप करना, विधवाको कुंकुम लगाना, पोले कलशके ऊपर मुलम्मा चढ़ाना या मिट्टीके बने हुए फलको रँगना। बस दिखावटी कर्मकांड ऐसा ही होता है। जिसमें रस नहीं होता, उसका अधिक मूल्य नहीं लगता। शराबका घड़ा गंगा-जलसे धोने पर भी शुद्ध नहीं हो सकता। इसी लिए हृदयमें ज्ञान होना चाहिए। यदि हृदयमें ज्ञान हो तो बाह्य शुद्धिकी प्राप्ति आपसे आप हो जाती है। परन्तु क्या यह भी कभी देखनेमें आया है कि शुद्धिकी ऊपरी और दिखावटी क्रियाओं-से ज्ञान प्राप्त हुआ हो? इसी लिए अच्छे कर्मोंके द्वारा जिसका बाह्य भाग अच्छी तरह शुद्ध और स्वच्छ हो जाता है, और साथ ही ज्ञानसे जिसका अन्तरंग भी निष्कलंक हो जाता है, उसमें अन्दर और बाहरका कोई भेद ही नहीं रह जाता और सब जगह समान निर्मलता दिखाई देती है। तात्पर्य यह कि उसमें शुचिता आवश्यकतासे कहीं अधिक होती है और इसी लिए जिस प्रकार काँचके आवरणके अन्दर रखे हुए दीपकका तेज बाहर भी खूब फैल जाता है, उसी प्रकार उसके अन्तरंगका शुद्ध भाव भी इन्द्रियोंके द्वारा बाहर प्रकट होता रहता है। जिन विषयोंके कारण संशय उत्पन्न होता है, व्यर्थ-के विचारोंका संचार होता है और कुकर्मोंके बीज अंकुरित होते हैं, यदि ऐसे विषयोंको वह देखे या सुने अथवा वे विषय आकर उससे संलग्न भी हो जायँ, तो भी जिस प्रकार मेघोंके रंगके कारण आकाश कभी मैला नहीं होता, उसी प्रकार उसके मनपर विषयों-का कुछ भी संस्कार उत्पन्न नहीं होता। यों तो वह इन्द्रियोंके समूहके सहित विषयोंमें लिप्त ही दिखलाई देता है, परन्तु विकारोंका लेप उसमें तिल मात्र भी नहीं होता। यदि रास्तेमें कोई सुन्दर परन्तु छोटी जातिकी स्त्री जाती हुई दिखाई पड़े तो जिस प्रकार उसके

लिए कोई अपने मनमें अभिलाषा नहीं करता, उसी प्रकार वह भी विषयोंके प्रति अपना व्यवहार बिलकुल निस्पृह रखता है। एक ही स्त्री पतिको भी आलिंगन करती है और पुत्रको भी; परन्तु उसके पुत्र-प्रेममें जिस प्रकार कामके विकारका कभी प्रवेश नहीं हो सकता, उसी प्रकार हृदय शुद्ध होने पर उसमें संकल्प-विकल्पकी दाल नहीं गलती; परन्तु फिर भी वह अच्छी तरह यह बात जानता है कि कौन सा काम करने योग्य है और कौन सा करनेके योग्य नहीं है। जिस प्रकार पानीसे हीरा नहीं भींगता अथवा अदहनमें जिस प्रकार कंकड़ नहीं सीझते, उसी प्रकार उसके मनके भाव भी विकल्पोंसे दूषित नहीं होते। हे अर्जुन, इसी प्रकारकी स्थितिको शुचित्व कहते हैं; और जहाँ यह शुचित्व होता है, वहाँ तुम समझ रखो कि ज्ञान भी अवश्य ही होता है। और जिस पुरुषमें स्थिरता अपना घर बनाकर मजेमें रहती है, उस पुरुषके सम्बन्धमें तुम समझ लो कि वह ज्ञानको जीवित रखता है। शरीर अपनी ओरसे बाह्य आचरण करता रहता है, परन्तु उस आचरणके कारण उसका मन तनिक भी विचलित नहीं होता। जिस प्रकार गौ का वात्सल्य भाव अपने बछड़ेको छोड़कर जंगलोंमें भटकनेके लिए नहीं जाता और पतिव्रताका विलास जिस प्रकार वैषयिक प्रेमसे युक्त नहीं होता, अथवा जिस प्रकार किसी लोभीके दूर चले जाने पर भी उसका सारा ध्यान अपने गाड़े हुए धनकी ओर ही लगा रहता है, उसी प्रकार शारीरिक कार्योंसे स्थिर पुरुषके मनकी निश्चलता कभी नष्ट नहीं होती। जिस प्रकार तेजीसे दौड़नेवाले मेघोंके साथ आकाश नहीं दौड़ता, अथवा तारागणके घूमनेके कारण ध्रुव तारा कभी घूमने नहीं लगता अथवा रास्ता चलनेवालोंके कारण रास्ता स्वयं कभी चलने नहीं लगता, अथवा हे अर्जुन, उस रास्तेके आस-पासके वृक्ष आदि कभी चलने नहीं लगते, उसी प्रकार इस पंचभूतात्मक शरीरके सब व्यापारोंके कारण किसी भूतके बल-से भी उसका अन्तरंग कभी विचलित नहीं होता। जिस प्रकार आँधीके वेगके कारण पृथ्वी नहीं हिलती, उसी प्रकार सुख-दुःख आदि उपाधियोंके भीषण उपद्रवसे भी वह स्थिर पुरुष कभी विचलित नहीं होता। वह कभी दीनताके दुःखोंसे सन्तप्त नहीं होता, भय या शोकसे कभी नहीं काँपता और यहाँ तक कि यदि उसके शरीरके लिए कभी मृत्यु भी आ जाय, तो भी वह कभी नहीं घबराता। वासना और इच्छाके आवेशसे अथवा विविध रोगोंके उपद्रवसे उसका सरल चित्त कभी उलटा या टेढ़ा नहीं होता। निन्दा, अपमान अथवा दंड होने पर अथवा काम-क्रोधके उपद्रवोंसे भी उसके स्थिर मनका कभी बाल भी बाँका नहीं होता। चाहे आकाश टूट पड़े और चाहे पृथ्वी फट जाय, परन्तु उसकी चित्तवृत्ति कभी पीछे नहीं मुड़ती। जिस प्रकार फूलोंसे मारने पर हाथी कभी इधर-उधर नहीं हटता, उसी प्रकार दुष्ट वचनोंके बाणोंसे भी वह कभी विचलित नहीं होता। जिस प्रकार समुद्र-मन्थनके समय क्षीर सागरकी लहरोंके आगे मन्दर पर्वतने अपना सिर नहीं झुकाया था अथवा जिस प्रकार वनमें लगनेवाली आगसे कभी आकाश नहीं जलता, उसी प्रकार सुख-दुःख आदिकी चाहे कितनी ही लहरें क्यों न उठें, तो भी उसका मन कभी विचलित नहीं होता और चाहे स्वयं कल्पान्त ही क्यों न आ जाय, तो भी उसका धैर्य अपनी सामर्थ्यके कारण ज्योंका त्यों बना रहता है। जिस गुणका स्थैर्यके

नामसे उल्लेख किया गया है, हे अर्जुन, वह गुण इसी प्रकारकी मानसिक अवस्था है। जिस पुरुषके शरीर और मनको इस प्रकारकी अटल स्थिरता प्राप्त हो जाती है, उसे तुम ज्ञान-रूपी धनका खुला हुआ भांडार ही समझो। जिस प्रकार पिशाच अपने रहनेके वृक्षको, द्वन्द्व युद्ध करनेवाला अपने हथियारको अथवा लोभी अपने धनको अपनी आँखोंकी ओट नहीं होने देता अथवा जिस प्रकार माता अपने एकमात्र पुत्रको सदा अपने कलेजेसे लगाये रहती है अथवा जिस प्रकार मधु-मक्खीको सदा मधुका अनिवार्य लोभ रहता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो अपने अन्तःकरणका निरन्तर और खूब जी लगाकर यत्न करता है और उसको इन्द्रियोंके द्वार पर पैर भी नहीं रखने देता, (अर्थात् इन्द्रियोंके वशमें बिल-कुल नहीं होने देता), जो इस कल्पनासे सदा डरता रहता है कि यदि मेरे इस बालकका नाम भी काम-रूपी हौवेके कानमें पड़ जायगा या आशा-रूपी डाकिनीकी नजर इसे लग जायगी, तो इसकी जान ही निकल जायगी, अथवा जिस प्रकार अपनी दुश्चरित्रा स्त्रीको उद्दण्ड और प्रबल पति सदा अपने बन्धनमें रखता है, उसी प्रकार जो अपनी प्रवृत्तियोंको भली भाँति अपने बन्धनमें रखता है, जो उस समय भी अपनी इन्द्रियोंको भली भाँति निग्रहमें रखता है, जिस समय सजीव देह बहुत कृश हो जाता है और प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, जो अपने मनके मुख्य द्वार पर अथवा वृत्तिके पहरे पर अपने शरीर रूपी दुर्गमें शम-दमको सदा पहरेदारोंकी भाँति नियुक्त और जाग्रत रखता है, जो मूलाधार, मणिपूर या नाभि-स्थान और विशुद्ध या कंठ-स्थानके तीन चक्रोंमें वज्र, उड्डीयान और जालन्धर नामक तीनों बन्धोंकी गश्त बैठाकर अपने चित्तको इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियोंकी सन्धिमें प्रविष्ट करता है, समाधिकी शय्या पर अपने ध्यानको अच्छी तरह सुलाये रखता है और जिसका चित्त चैतन्यके साथ एक रूप होकर सदा उसीमें रमता रहता है, उसके सम्बन्धमें तुम यह समझ लो कि उसने अपने अन्तःकरणका पूर्ण रूपसे निग्रह कर लिया है। अन्तःकरणका इस प्रकारका निग्रह मानों ज्ञानकी विजय ही है। जिस पुरुषकी आज्ञा उसका अन्तःकरण बिलकुल चुपचाप और सम्मानपूर्वक पालन करता है, उस पुरुषको मूर्तिमान् ज्ञान ही समझना चाहिए।

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

जिसके मनमें विषयोंके प्रति पूर्ण रूपसे विरक्ति जाग्रत रहती है, वही ज्ञानी होता है। जिस प्रकार वमन किये हुए पदार्थको देखकर किसीकी जीभसे लार नहीं टपकती अथवा जिस प्रकार किसी मृत पुरुषको आलिंगन करनेके लिए कोई आगे नहीं बढ़ता अथवा विषको कोई नहीं निगलता अथवा जलते हुए घरमें कोई प्रवेश नहीं करता अथवा बाघकी गुफामें कोई अपना निवास स्थान नहीं बनाता अथवा गले हुए लोहेके खौलते हुए रसमें कोई नहीं कूदता अथवा अजगरको तकिया बनाकर कोई उस पर नहीं सोता, उसी प्रकार विषयकी बातें जिसे अच्छी नहीं लगतीं और जो इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका ग्रहण नहीं करता, जिसका मन विषयोंकी ओरसे सदा उदासीन रहता है, जिसका शरीर अत्यन्त कृश रहता है और शम दमके सम्बन्धमें जिसके मनमें बहुत उत्साह रहता है,

हे अर्जुन, जिसमें समस्त तपोव्रत एकत्र रहते हैं और गाँव या नगरकी भरी हुई बस्तीमें रहना जिसे कल्पान्तके समान दुःखद जान पड़ता है, जिसे योगाभ्यासकी बहुत अधिक लालसा रहती है, जो निर्जन और एकान्त स्थानकी ओर दौड़ता हुआ जाता है और मनुष्योंके समाजका जिसे नाम भी अच्छा नहीं लगता, जो ऐहिक विषयोंके भोग-विलास-को उतना ही बुरा और त्याज्य समझता है, जितना बाणोंकी शय्या पर सोना अथवा पीबके कीचड़में लोटना, जो स्वर्गके सुखोंका वर्णन सुनकर उन सुखोंको कुत्तोंके सड़े हुए मांसके समान समझता है, उसका यह वैराग्य ही उसके लिए आत्मलाभका वैभव होता है। इसी प्रकारके वैराग्यके द्वारा जीव ब्रह्मानन्दका सुख भोगनेका पात्र बनता है। इस प्रकार जिसमें ऐहिक और पारलौकिक सुखोंके उपभोगके सम्बन्धमें पूरी पूरी विरक्ति दिखलाई पड़े, उसके सम्बन्धमें तुम यह समझ लो कि उसीमें विपुल ज्ञान निवास करता है। जो किसी स-काम मनुष्यकी भाँति ही कुएँ और घाट आदि बनवानेके सभी लोकोपयोगी काम करता है, परन्तु उनके कर्तृत्वका अभिमान अपने शरीरको छूने भी नहीं देता, जो वर्णाश्रम धर्मके पालनके लिए आवश्यक नित्य और नैमित्तिक कर्म किये बिना नहीं रहता, परन्तु फिर भी जिसमें इस प्रकारकी भावना तिल मात्र भी नहीं रहती कि मैंने अमुक कार्य सिद्ध किया है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार वायु अपने स्वाभा-विक गुणके कारण सभी स्थानोंमें संचार करती है अथवा सूर्य अहंकाररहित बुद्धिसे उदय होता है अथवा वेद सहज रूपसे ज्ञानका कथन करते हैं अथवा गंगा बिना किसी हेतुके ही सदा बहती रहती है, उसी प्रकार जो अभिमान-रहित होकर सब प्रकारके आचरण और व्यवहार करता है, जो ठीक उसी प्रकार अहंभावसे रहित होकर नित्य कर्मोंका आचरण करता है, जिस प्रकार उपयुक्त ऋतु आने पर वृक्ष फल तो देते हैं, परन्तु इस प्रकारका अहंकारपूर्ण ज्ञान उन्हें नहीं होता कि हम दूसरोंको फल दे रहे हैं और इस प्रकार जिसके मन, कर्म और वचनमें अहंकारका पूर्ण रूपसे नाश हो जाता है, वही सच्चा ज्ञानी है। जिस प्रकार किसी हारको पिरोनेवाली डोरी निकल जाती है अथवा आकाशमें मेघोंके इधर-उधर चलते रहने पर भी आकाश पर उन मेघोंका दाग नहीं लगता, उसी प्रकार जिसके शरीरसे कर्म तो हो जाते हैं, परन्तु फिर भी जो उन कर्मोंसे निर्लिप्त रहता है; जिस प्रकार मद्यपान करनेवालेको अपने शरीर परके वस्त्रोंकी अथवा चित्रको अपने हाथमें रखे हुए शस्त्रकी अथवा बैलको अपनी पीठ पर लदे हुए शास्त्रीय ग्रन्थोंकी कुछ भी सुध नहीं होती, उसी प्रकार जिसका अहं-भाव बिलकुल व्यर्थ हो जाता है और उस अहं-भावका जिसे स्मरण भी नहीं रह जाता, उस पुरुषकी इस स्थितिको निरहंकारता कहते हैं। जिस मनुष्यमें इस प्रकारकी निरहंकारता पूर्ण रूपसे दिखाई देती है, उसीमें ज्ञानका निवास होता है, इसमें तिल मात्र भी सन्देह नहीं। जो जन्म और मृत्यु आदि दुःखोंको और रोग तथा वृद्धावस्था आदि संकटोंको अपने शरीरमें लगने नहीं देता और निर्लिप्त होकर उन सबकी ओर देखता रहता है और वह भी किस प्रकार देखता है जिस प्रकार कोई साधक पुरुष पिशाचको, योगी पुरुष उपाधिको अथवा राहुलको सहायतासे गिरती दीवारकी सीधको बिना स्वयं अपने स्थानसे हटे हुए देखता रहता

है, उसी प्रकार जो मृत्यु और रोग आदिको निर्विकार होकर देखता रहता है, जो अपने पिछले जन्मके दोषोंका उसी प्रकार स्मरण करता रहता है, जिस प्रकार साँप अपने मनमें पिछले जन्मका भी बैर बनाये रखता है और उसे किसी प्रकार दूर नहीं होने देता, जिसे पूर्व जन्मके दुःख आदि उसी प्रकार खटकते रहते हैं, जिस प्रकार आँखोंमें बालूका कण खटकता रहता है, अथवा घावमें बाणकी गाँसी खटकती रहती है, जो निरंतर यही कहता रहता है कि मैं पीबके गड्ढेमें पड़ा था, मूत्र-द्वारसे मैं बाहर निकला हूँ और हाय हाय, मैंने स्तनपरका पसीना बड़े स्वादसे चाटा है और उन्हीं सब बातोंका विचार करके जिसे जीवनसे सदा घृणा बनी रहती है और जो अपने मनमें इस बातका निश्चय कर लेता है कि अब मैं ऐसा काम कभी नहीं करूँगा जिससे मुझे फिरसे जन्म धारण करना पड़े, जिस प्रकार गँवाया हुआ धन फिरसे प्राप्त करनेके लिए जुआरी फिर दाँव लगानेके लिए तैयार हो जाता है अथवा अपने पिताके बैरका बदला चुकानेके लिए पुत्र सदा अवसर ढूँढ़ता रहता है अथवा मारनेसे चिढ़कर जिस प्रकार कोई क्रोधपूर्वक मारनेवालेका पीछा करता रहता है और उससे उस मारका बदला चुकाना चाहता है, उसी प्रकार जो हाथ धोकर और आवेश-पूर्वक जन्मका बन्धन तोड़नेके पीछे पड़ा रहता है अथवा जन्म धारण करनेकी लज्जा जिसके मनमें सदा उसी प्रकार खटकती रहती है, जिस प्रकार किसी प्रतिष्ठित पुरुषके मनमें अपनी मान-हानि खटकती रहती है अथवा, हे अर्जुन, जब किसी तैरनेवालेसे यह कह दिया जाता है कि आगे बहुत गहरा गड्ढा है, उस समय वह तैरनेवाला जिस प्रकार किनारे पर ही खूब अच्छी तरह अपनी लाँग कस लेता है और जलमें उतरनेका विचार छोड़ देता है अथवा जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष रणमें जाकर खड़े होनेसे पहले ही अपने होश-हवास ठिकाने कर लेता है अथवा घाव लगनेसे पहले ही जिस प्रकार ढाल आगे करनी पड़ती है अथवा जिस प्रकार यह पता लगने पर कि प्रवासमें कल हम जहाँ चलकर ठह-रेंगे, वहाँ कोई भारी आपत्ति आनेकी सम्भावना है, मनुष्य एक दिन पहलेसे ही सावधान हो जाता है अथवा प्राण निकलनेसे पहले ही जिस प्रकार औषधके लिए दौड़-धूप करनी पड़ती है, इसी प्रकार जो यह समझकर तत्काल ही सावधान हो जाता है कि मृत्यु चाहे आज हो और चाहे कल्पान्तमें हो, परन्तु वह होगी अवश्य, और यदि इस प्रकार मनुष्य पहलेसे ही सावधान न हो तो उसकी अवस्था उसी मनुष्यके समान हो जाती है, जो जलते हुए घरमें पड़ा रह जाता है और जिसे फिर उस समय कुआँ खोदनेका अवसर ही नहीं मिलता और वह डरकर उसी तरह जहाँका तहाँ रह जाता है, जिस प्रकार गहरे जलमें फेंका हुआ पत्थर चुपचाप पड़ा रह जाता है और किसीको उसकी पुकार भी नहीं सुनाई पड़ती और इसी लिए जो उसी प्रकार आठों पहर सावधान रहता है, जिस प्रकार किसी बड़े बड़े पुरुष सावधान रहता है, जिसका बलवानके साथ बहुत प्रबल बैर हो जाता है अथवा जिस प्रकार विवाहके योग्य कन्या पहलेसेही अपने मायकेके वियोगके लिए तैयार हो जाती है अथवा संन्यास लेनेवाले पुरुष पहलेसे ही संसारका त्याग करनेके लिए तैयार रहता है, उसी प्रकार जो पुरुष मरनेसे पहले ही मृत्यु पर ध्यान रखकर अपने सब व्यवहार और आचरण करता है और इस प्रकार जो पुरुष अपने

इसी जन्मसे अपने समस्त भावी जन्मोंका और इसी जन्ममें होनेवाली मृत्युसे भावी जन्मोंकी मृत्युका अन्त कर डालता है और स्वयं केवल आत्म-स्वरूपसे बचा रहता है, उसके घरमें ज्ञानकी कभी कोई कमी नहीं रहती। जिसके लिए जन्म और मृत्युका कोई खटका नहीं रह जाता, जिसके शरीरको वृद्धावस्था कभी स्पर्श नहीं करती और इसी लिए जो सदा अपने आपको यौवनावस्थाकी उमंगोंमें ही रखता है, वही ज्ञानी है। वह अपने आपसे कहता है कि आज मेरे जिस शरीरमें पुष्टि दिखाई देती है, वह शीघ्र ही सूखी हुई कचरीके समान हो जायगा, अभागे पुरुषके व्यवहारकी तरह कभी न कभी ये हाथ-पैर थककर व्यर्थ हो जायँगे और इस बलकी अवस्था ऐसे राजाके समान हो जायगी, जिसे परामर्श देनेवाला कोई मंत्री नहीं होता। जिस मस्तकको आज-कल फूलोंका इतना शौक है, वही यह मस्तक शीघ्र ही ऊँटके घुटनेके समान हो जायगा। आषाढ़ मासकी हवा लगनेके कारण पशुओंके खुरोंकी रोगी होनेसे जैसी दुर्दशा हो जाती है, वैसी ही दुर्दशा मेरे इस मस्तककी भी होगी। आज तो मेरे ये नेत्र कमलकी पंखड़ियोंके साथ स्पर्धा कर रहे हैं, परन्तु शीघ्र ही ये पके हुए चिचड़ेके समान निस्तेज हो जायँगे। ये भौंहोंके परदे पुरानी छालके समान लटकने लगेंगे और यह वक्षस्थल नेत्रोंके जलसे भींगकर सड़ने लगेगा। जिस प्रकार बबूलके पेड़ पर आने-जानेवाले गिरगिट गोंदसे लिपटे रहते हैं, उसी प्रकार मेरा यह मुख भी थूकसे लिथड़ा रहेगा। जिस प्रकार रसोई-घरके सामनेके गड्ढे गन्दे और राखके पानीसे भरे रहते हैं, उसी प्रकार यह नाक कफसे भरी रहेगी। जिस मुखके होंठोंको मैं रँगता हूँ, हँसते समय जिसमेंके दाँत दिखलाता हूँ और जिससे मैं सुन्दर-सुन्दर बातें कहता हूँ, उसी मुखसे कलको लारका प्रवाह बहने लगेगा और सब दाँतोंके साथ साथ दाढ़ें भी गिर जायँगी। जिस प्रकार ऋणके भारसे दबे हुए खेतिहर अथवा बरसातकी झड़ीके कारण पशु चुपचाप दबे हुए पड़े रहते हैं और किसी प्रकार उठना जानते ही नहीं, उसी प्रकार लाख प्रयत्न करनेपर भी यह जीभ किसी तरह हिल या उठ न सकेगी। जिस प्रकार सूखी हुई घासके पूले हवाके झोंकोंसे जमीन पर इधर-उधर उड़ते रहते हैं, उसी प्रकारकी दुर्दशा मुँहके अंदरकी दाढ़ोंकी होगी। जिस प्रकार आकाशकी वर्षाके कारण पहाड़ियोंके शिखरों परसे पानीके झरने बहते रहते हैं, उसी प्रकार मेरे मुँहकी खिड़कीमेंसे लारकी नदियाँ बहने लगेंगी। वाचा कुछ बोल न सकेगी, कान बहरे हो जायँगे और सारा शरीर एक बहुत बड़े बंदरके समान दिखाई देने लगेगा। जिस प्रकार घास-फूसका बनाया हुआ और खेतमें खड़ा किया हुआ पुतला हवाके झोंकोंसे बराबर आगे और पीछेकी तरफ हिलता या झूलता रहता है, उसी प्रकार मेरा यह सारा शरीर भी थरथर काँपने लगेगा। चलनेमें पैर टेढ़े-तिरछे पड़ेंगे, हाथ टेढ़े और बेकाम हो जायँगे और तब मानों सौन्दर्यका एक बढ़िया स्वाँग खड़ा होकर नाचने लगेगा। मल और मूत्रके द्वारोंमें निरोधकी शक्ति नहीं रह जायगी और सब लोग यही मानने लगेंगे कि मैं किसी तरह मर जाऊँ जिससे उनका पीछा छूटे। सारा संसार मेरी ओर देखकर थूकने लगेगा, मृत्युसे बार बार कहना पड़ेगा कि तू किसी तरह जल्दीसे आकर मुझे उठा ले जा और मेरे सगे-सम्बन्धी भी मुझसे ऊब जायँगे। स्त्रियाँ मुझे भूत कहेंगी और लड़के-

बच्चे मुझे देखकर घबरा और डर जायँगे और इस प्रकार मैं सबकी घृणाका पात्र बन जाऊँगा। कफकी प्रबलता होने पर जब मैं खों-खों करके खाँसूँगा, तब अड़ोसी-पड़ोसियोंकी नींद टूट जायगी और वह कहने लगेंगे कि यह बुड्ढा अभी न जाने और कितने लोगोंको सतावेगा। इस प्रकार जो व्यक्ति युवावस्थामें ही अपनी भावी वृद्धावस्थाके लक्षणोंका ध्यान रखता है और तब अपने मनमें उन सब लक्षणोंसे घृणा करने लगता है, वही ज्ञानी है। वह अपने मनमें कहता है कि अन्तमें शरीरकी इसी प्रकारकी दुर्दशापूर्ण अवस्था होगी और शारीरिक भोगोंको भोग चुकनेके उपरान्त इस शरीरका अन्त हो जायगा, तब अपने कल्याणका साधन करनेके लिए मेरे पास बच ही क्या जायगा? इसी लिए जब तक बहरापन न आवे, उससे पहले ही सब कुछ सुन लेना चाहिए और जब तक शरीरमें पंगुता न आवे, तबतक सब जगहकी यात्रा आदि कर लेनी चाहिए। जब तक नेत्रोंमें दृष्टि है, तब तक जो कुछ देखते बने, वह देख लेना चाहिए और जब तक वाचा मूक न हो, तब तक मधुर भाषण कर लेना चाहिए। हमें यह बात अभीसे अच्छी तरह मालूम हो गई है कि आगे चलकर हमारे ये हाथ लूले हो जायँगे। लेकिन इन हाथोंके लूले होनेसे पहले ही दान आदि समस्त पुण्य-कर्म इन हाथोंसे करा लेने चाहिएँ। आगे चलकर जब इस प्रकारकी हीन अवस्था आवेगी, तब चित्त बिलकुल पागलोंके समान हो जायगा। इसलिए ऐसी अवस्था आनेसे पहले ही शुद्ध ज्ञानका संग्रह कर लेना आवश्यक है। यदि आज हमें यह पता लग जायगा कि कल चोर आकर हमारी सारी सम्पत्ति लूट ले जायँगे, तो अच्छा यही है कि आज ही हम उसकी रक्षाकी व्यवस्था कर लें। दीपकके बुझनेसे पहले ही उसे हवासे बचानेके लिए ढक देना चाहिए। जब वृद्धावस्था आवेगी, तब यह सारा शरीर व्यर्थ हो जाएगा, इसलिए आजसे ही इस शरीरसे बिलकुल निर्लिप्त होकर रहना आरम्भ कर देना ही उचित है। जो यह जानता है कि आगे नाकेबन्दी या रक्षाका प्रबन्ध नहीं है अथवा यह देखता है कि आकाशमें मेघ घिर रहे हैं, लेकिन फिर भी जो इन सब बातोंकी ओर ध्यान न देकर घरसे बाहर निकल पड़ता है, उसका अवश्य ही घात होगा। इसी प्रकार जब वृद्धावस्था आवेगी, तब वह शरीर धारण करना बिलकुल व्यर्थ हो जायगा। ऐसी अवस्थामें यदि मनुष्यकी आयु सौ वर्षोंकी भी हो तो भी यह समझमें नहीं आता कि उसके इतने दीर्घजीवी होनेमें क्या लाभ है। जिन तिलोंके डंठलोंमेंसे एक बार झाड़े जानेके कारण तिल निकल जाते हैं, वे डंठल यदि फिर झाड़े जायँ तो उनमेंसे तिल नहीं निकलते। अग्नि भले ही हो, परन्तु वह राखको नहीं जला सकती। इसलिए जब एक बार वृद्धावस्था आ जाती है, तब उस मनुष्यके हाथसे भी कुछ भी नहीं हो सकता जिसकी आयु सौ वर्षोंकी होती है। इसलिए जो मनुष्य सदा यह स्मरण रखता है कि वृद्धावस्था आनेवाली है और यौवन कालमें ही इस बातका प्रयत्न करता है कि मैं उस वृद्धावस्थाके हाथोंमें न पड़ने पाऊँ, उसी पुरुषके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि इसमें सच्चा ज्ञान है। इसी लिए जब तक नाना प्रकारके रोग आकर सामने खड़े नहीं हो जाते, तब तक वह अपने इस नीरोग शरीरका पूरा-पूरा उपयोग कर लेता है। जिस प्रकार साँपके मुँहसे उगली हुई जमकी गोली बुद्धि-

मान् मनुष्य दूर फेंक देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी वह सारा ऐहिक ममत्व दूर कर देता है, जिसके वियोगसे दुःख, संकट और शोक आदिका पोषण होता है और वह आत्म-सुखसे पूर्ण होकर तथा निस्पृह होकर रहता है। क्योंकि जिन द्वारोंसे होकर दोष इस शरीरमें प्रवेश करते हैं, उन सब द्वारोंको वह यम-नियमोंकी सहायतासे बिलकुल बन्द कर देता है। इस प्रकार जो बहुत युक्तिसे और सावधान होकर सब काम करता है, केवल उसीको ज्ञान-रूपी सम्पत्तिका स्वामी समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब मैं तुम-को एक और लक्षण बतलाता हूँ, सुनो।

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

"जो अपने इस शरीरकी ओरसे उसी प्रकार उदासीन रहता है, जिस प्रकार यात्री उस धर्मशालासे उदासीन रहता है जिसमें वह जाकर एक-दो दिनके लिए निवास करता है और मार्गमें चलते समय वृक्षकी छायाके साथ मनुष्यका जितना ममत्व होता है, उतना ममत्व भी जिसे इस घर अथवा शरीरके सम्बन्धमें नहीं होता, जिसे स्त्रीका उसी प्रकार बिलकुल लोभ नहीं होता, जिस प्रकार किसीको सदा अपने साथ रहनेवाली छायाका लोभ नहीं होता और कभी उसका स्मरण भी नहीं होता, जो अपने आगे बालबच्चोंके रहते हुए भी उनके सम्बन्धमें सदा यही समझता है कि ये मार्ग चलनेवाले यात्रियोंकी तरह कुछ समयके लिए मेरे पास आ ठहरे हैं अथवा जो उन बाल-बच्चोंको वृक्षकी छाया-में आकर खड़े होनेवाले पशुओंके झुंडके समान समझता है, हे अर्जुन, सम्पत्तिकी राशि पर लोटते रहने पर भी जो केवल मार्ग चलनेवाले पराये आदमीकी तरह उसका साक्षी मात्र रहता है, जो पिंजरेमें बन्द रहनेवाले तोतेकी तरह वेदोंकी आज्ञा और मर्यादाका पालन करता हुआ नीतिपूर्वक आचरण और व्यवहार करता है, परन्तु फिर भी जो स्त्री और बाल बच्चोंकी माया और ममताके जालमें नहीं फँसता, उसीके सम्बन्धमें समझना चाहिए कि वह ज्ञानका पालन करनेवाला है। समुद्र जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुमें भी और वर्षा कालमें भी समान रूपसे भरा रहता है, उसी प्रकार जो अनिष्ट और इष्ट सब कुछ होने पर भी सदा अविकृत रहता है, वही ज्ञानसे सम्पन्न है। लोग दिनके तीन भाग करते हैं, परन्तु सूर्य उन तीनों भागोंमें कभी तीन तरहका नहीं होता। इसी प्रकार सुख और दुःखके कारण जिसमें भिन्नत्व उत्पन्न नहीं होता, जिसमें गगनके समान ही सदा पूरा-पूरा सम-भाव दिखाई देता है, हे अर्जुन उसीके सम्बन्धमें तुम समझ लो कि उसका ज्ञान पूरा है और सदा ठीक रहता है।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥

"मेरे सम्बन्धमें जिस मनुष्यने अपने मनमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि मुझ (अर्थात् श्रीकृष्ण) से बढ़कर संसारमें और कोई नहीं है, जिसका शरीर, वाणी और मन इस दृढ़ निश्चयका [illegible] प्राप्त कर चुके होते हैं वे और जो मेरे सिवा किसी दूसरेकी ओर नहीं देखता, [illegible] निरन्तर मेरे समीप रहनेके कारण जो मेरे साथ एक ही

शय्या पर सोता है, जो मेरे पास उसी प्रकार खुले मनसे आता है, जिस प्रकार कोई धर्म-पत्नी अपने पतिके पास खुले मनसे और बेधड़क होकर जाती है, जो मेरे स्वरूपके साथ ठीक उसी प्रकार सम-रस हो जाता है, जिस प्रकार गंगाजल जाकर समुद्रमें मिल जाता और उसके जलके साथ सम-रस हो जाता है, जो पूर्ण रूपसे मेरी ही भक्ति करता है, सूर्यके साथ ही साथ उदित होने और उसके साथ ही साथ अस्त होनेके कारण सूर्यकी प्रभाको सूर्यके साथ जिस प्रकारकी एकता शोभा देती है, और जिस प्रकार पानीके पृष्ठ-भाग परका अंश यदि सहज रूपसे हिलता है, तो उसीको लोग 'लहर' कहते हैं, परन्तु वास्तवमें वह पानी ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो एकनिष्ठ भक्त मेरे साथ एक-रूप होकर मेरी सेवा करता है, वह केवल ज्ञानका पुतला ही होता है। जिस पुरुषको तीर्थों, पवित्र नदियोंके किनारों, शुद्ध तपोवनों, जंगलोंकी गुफाओं और इसी प्रकारके दूसरे एकान्त स्थानोंमें रहनेका शौक होता है, जो पर्वत-मालाओंकी गुफाओं या सरोवरोंके पासके प्रदेशोंका बहुत आदरपूर्वक सेवन करता है और जो नगरोंमें कभी नहीं आता, जिसे एकान्त-वास बहुत अच्छा लगता है और मनुष्योंकी बस्तीसे जो सदा दूर रहना चाहता है, उस पुरुषको मनुष्य-देह-धारी ज्ञान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, तुम्हें ज्ञानका अच्छी तरह स्पष्टीकरण करानेके लिए मैं एक और लक्षण बतलाता हूँ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

"जिस ज्ञानकी सहायतासे परमात्मा अर्थात् वह एकमेवाद्वितीय वस्तु दिखाई देती है, केवल वही ज्ञान सच्चा है। इसके सिवा संसार और स्वर्ग आदिके सम्बन्धके जो ज्ञान हैं, उन सबको जो अपने मनमें निश्चयपूर्वक वास्तवमें अज्ञान समझ लेता है, जो स्वर्ग सम्बन्धी ज्ञानको तिलांजलि दे देता है, जो सांसारिक विषयोंकी बातोंको कभी अपने कानों तक पहुँचने ही नहीं देता और केवल निर्मल भावनासे अध्यात्म-ज्ञानमें निमग्न रहता है, जो और सब ज्ञानोंको एक ओर रखकर अपनी बुद्धिको ठीक उसी प्रकार अध्यात्म ज्ञान-के मार्गमें आगेकी ओर बढ़ाता है, जिस प्रकार कोई यात्री मार्ग भूल जाने पर टेढ़ी-तिरछी गलियाँ छोड़कर राज-मार्ग पर चलना आरम्भ करता है, जो अपने मनमें कहता है—"यही एकमात्र सत्य है और दूसरे समस्त विषयोंका ज्ञान कोरा भ्रम है।" और यही समझकर जो दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने मनमें मेरु पर्वतके समान स्थिर रहता है, इस प्रकार आकाशके ध्रुव नक्षत्रके समान जिसका निश्चय अध्यात्म-ज्ञानके द्वार पर अचल रूपसे स्थित रहता है, उसीमें ज्ञानका निवास होता है। इस वचनमें कभी कोई बाधा नहीं आ सकती, क्योंकि जब किसीका मन ज्ञानमें स्थिर हो जाय, तभी यह समझना चाहिए कि वह ज्ञान-स्वरूप हो गया है। भोजन पर बैठनेके कुछ देर बाद जो कुछ होता है (अर्थात् भोजनका जो स्वाद और आनन्द आता है) उसका पता भोजन पर बैठनेके समय तुरन्त ही नहीं लग जाता। परन्तु फिर भी पुरुषकी मति ज्ञानमें स्थित होतेही उसकी जो स्थिति होती है, वह प्रायः पूर्ण ज्ञानवान्‌की स्थितिके समान ही होती है। इसके सिवा शुद्ध तत्त्व-ज्ञानका जो एक मात्र फल ज्ञेय वस्तु है, वह उसे [illegible]में दिखाई देने लगती है। और

नहीं तो ज्ञानका बोध हो जाने पर भी यदि मनको ज्ञेय वस्तु न दिखाई दे तो यह नहीं माना जा सकता कि ज्ञानका लाभ हुआ। यदि अन्धा अपने हाथमें दीपक ले ले तो उसके लिए उसका क्या उपयोग हो सकता है? इसी प्रकार यदि ज्ञेय वस्तु न दिखाई पड़े तो फिर यही समझना चाहिए कि सारा ज्ञान निश्चय व्यर्थ ही गया। यदि ज्ञानके प्रकाशसे परमात्म तत्व न दिखाई पड़े तो वह ज्ञान-स्फूर्ति ही बिलकुल अन्धी ठहरती है। इसलिए बुद्धिमें इतनी निर्मलता आनी चाहिए कि ज्ञान जो जो वस्तुएँ दिखलावे, वे सब परमात्म वस्तुके स्वरूपमें ही दिखलाई पड़ें। इसी लिए जिसे इस प्रकारकी निर्मल स्फूर्ति हो जाती है, उसे निर्दोष ज्ञानका दिखलाया हुआ पर-तत्व दिखाई देने लगता है। जिसे इतना विशद ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह उसकी सहायतासे परमात्म तत्वको देख सके, उसकी बुद्धि भी उतनी ही विशद होती है। और ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमें फिर स्पष्ट शब्दोंमें यह कहनेकी विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती कि वह पुरुष ज्ञान-स्वरूप हो जाता है। वास्तवमें ज्ञान-तेजके साथ जिसकी बुद्धि ज्ञेय वस्तु तक जा पहुँचती है, वह मानों आत्म तत्वको प्रत्यक्ष हाथसे ही स्पर्श कर लेता है। ऐसी अवस्थामें, हे अर्जुन, यदि ऐसे पुरुषको प्रत्यक्ष ज्ञान ही कहा जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है! सूर्य तो सूर्य ही ठहरा। भला उसके स्पष्टीकरणकी भी कभी कोई आवश्यकता होती है।"

इतनी बातें सुनकर श्रोताओंने कहा—"अब इस विषयका बहुत अधिक विस्तार न करो। ग्रन्थके निरूपणमें ये इधर-उधरकी और फालतू बातें क्यों लाते हो? तुमने ज्ञानके विषयमें इतने विस्तारके साथ जो कुछ कहा, उससे हम लोगोंका वाग्विलाससे यथेष्ट आतिथ्य हो चुका। कवियोंका यह मन्त्र तुमने सीख लिया है कि निरूपणमें रसालताकी खूब अधिकता होनी चाहिए। परन्तु हम लोगोंको निमन्त्रित करके ठीक और उपयुक्त प्रसंग आने पर इधर-उधरकी बातें बढ़ाकर हमें अपना शत्रु बनानेका विचार तुम क्यों करते हो? जब बैठकर भोजन करने का समय हो, तब जो व्यक्ति आगे परोसा हुआ अन्न लेकर भाग जाता हो, उसका और प्रकारसे किया हुआ आदर-सत्कार भला किस काम आ सकता है? जिस गौमें और सब बातें तो ठीक हों, परन्तु सन्ध्याको दूध दूहनेके समय जो दूहनेवालेको अपने थनके पास बैठने भी न देती हो, उस केवल लात चलानेवाली गौको भला कौन पालेगा? इसी प्रकार ज्ञानमें बुद्धिका प्रवेश न होनेके कारण दूसरे निरूपणकर्त्ता तरह तरहकी बातें कह जाते हैं और यह भी नहीं समझते कि हम क्या कह गये। परन्तु इन सब बातोंको जाने दो। तुम्हारा निरूपण अवश्य अच्छा हुआ है। जिस ज्ञानका एक कण प्राप्त करनेके लिए भी लोग योग-साधन आदि अनेक प्रकारके कष्ट सहते हैं, वास्तवमें वही ज्ञान समाधानकारक होता है। और तिसमें भी तुम्हारे समान रसपूर्ण निरूपण हो तो फिर भला कहना ही क्या है! यदि अमृत-वर्षाकी झड़ी लग जाय तो उसमें बुराई ही क्या है? यदि सुखके करोड़ों दिन प्राप्त हों तो क्या कभी कोई इस विचारसे वे दिन गिनने बैठता है कि ये दिन कब समाप्त होंगे? यदि पूर्णिमाकी रात पूरे युग भर बनी रहे तो भी क्या चकोर पक्षी उसकी ओर टक लगाकर निरन्तर देखता नहीं रहेगा? इसी प्रकार ज्ञानका विषय, और फिर उसका ऐसा रस-

पूर्ण निरूपण यदि सुननेको मिले तो क्या कभी कोई यह कहेगा कि महाराज, अब बस करो। रहने दो।" जब ऐसा उत्तम योग हो कि भाग्यवान् अतिथि आवे और अच्छी सुघड़ परोसनेवाली हो फिर भोजन कितनी ही देर तक क्यों न होता रहे, तो भी वह समय थोड़ा ही जान पड़ता है। बस ठीक वही प्रसंग आज भी उपस्थित हुआ है, क्योंकि एक तो पहलेसे ही हम लोगोंको ज्ञानकी लालसा थी और तिस पर आपको भी निरूपण करनेका उत्साह है। इसलिए इस कथाके प्रति हम लोगोंका अवधान चौगुना हो गया है। और इसी लिए हम लोगोंसे यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि तुम ज्ञान-द्रष्टा हो। इसलिए अब तुम अपनी बुद्धिमें प्रवेश करके उसके प्रभावसे इसके आगेवाले "अज्ञानं यदतोऽन्यथा" पद का उपयुक्त निरूपण करो।"

सन्त जनोंकी ये बातें सुनकर निवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा—"महाराज, मेरे मनमें भी यही बात है। तिस पर आप सब समर्थ सन्तोंने भी यही आज्ञा दी है। तो अब मैं व्यर्थ वक्तृताका विस्तार नहीं करना चाहता।" इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको ज्ञानके अठारह लक्षण बतलाये थे! श्रीकृष्णने कहा—"मेरा मत है कि इन्हीं लक्षणोंसे ज्ञानकी पहचान करनी चाहिए। और समस्त ज्ञानियोंका भी यही मत है। जिस प्रकार हथेली पर रखा हुआ आँवला स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है, उसी प्रकार मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि ज्ञानको किस प्रकार स्पष्ट रूपसे देखना और पहचानना चाहिए। अब, हे अर्जुन, जिसे लोग "अज्ञान" कहते हैं, उसका स्वरूप भी मैं तुमको लक्षणोंके सहित बतलाता हूँ। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जब मनुष्यकी समझमें ज्ञानका स्वरूप अच्छी तरह आ जाता है, तब सहज में ही यह बात भी उसकी समझमें आ जाती है कि अज्ञान किसे कहते हैं, क्योंकि हे अर्जुन जो "ज्ञान" नहीं है, वह आपसे आप "अज्ञान" सिद्ध हो जाता है। जब दिन समाप्त हो जाता है, तब फिर रातकी ही बारी आती है; उस समय और किसी तीसरी बातका होना सम्भव ही नहीं होता। इस प्रकार जहाँ ज्ञान न हो, वहाँ समझ लेना चाहिए कि अज्ञान ही वर्त्तमान है। तो भी मैं तुम्हें अज्ञानको पहचाननेके कुछ फुटकर लक्षण बतला देता हूँ। जो केवल महत्व या प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ही जीता है, जो केवल मानकी ही प्रतीक्षा करता रहता है और आदर-सत्कार होनेसे ही जिसका सन्तोष होता है, जो पर्वतके शिखरकी भाँति सदा ऊपर ही रहना चाहता है और अपने उच्च पदसे कभी नीचे नहीं उतरना चाहता, उसके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए कि उसमें अज्ञानकी ही समृद्धि है। जिस प्रकार लोग रस्सीमें पीपलके पत्ते बाँधकर तोरण बनाते है, उसी प्रकार जो अपने दान आदि पुण्य-कर्मोंका तोरण बड़े-बड़े शब्दोंसे प्रस्तुत करके टाँगता है (आडम्बरपूर्ण शब्दोंमें अपने पुण्य-कर्मोंकी घोषणा करता रहता है) जो जान-बूझकर मन्दिरकी चँवरीकी तरह सदा सिर उठाये खड़ा ही रहता है, जो अपनी विद्याका विस्तृत वर्णन करता रहता है, अपने पुण्य-कर्मोंका ढिंढोरा पीटता रहता है और प्रत्येक कार्य केवल लौकिक कीर्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही करता है, जो अपने शरीरका ऊपरी ठाटबाट बहुत बढ़िया रखता है, परन्तु उन लोगोंको सदा धोखेमें रहता है जो उसके फेरमें पड़ते या उसके

अनुगामी बनते हैं, उसे अज्ञानकी खान ही समझना चाहिए। जिस समय वनमें दावाग्नि फैलने लगती है, उस समय जिस प्रकार उस वनमें रहनेवाले समस्त प्राणियों और वनस्पतियोंको समान रूपसे उसका दाह सहन करना पड़ता है, उसी प्रकार जिसके आचरणसे सारे संसारको दुःख भोगना पड़ता है, जिसका सहज भाषण भी सब लोगों पर कुल्हाड़ीकी तरह आघात करता है और जो अपने छिपे हुए उद्देश्यकी सिद्धि करनेके लिए विषसे भी बढ़कर घातक होता है, उसके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए कि उसमें बहुत अधिक अज्ञान भरा हुआ है; बल्कि उसे अज्ञान का भांडार ही समझना चाहिए, क्योंकि उसका जीवन केवल हिंसामय होता है। जिस प्रकार वायुके अन्दर भर जाने पर भाथी फूल जाती है और दबानेसे वह फिर पचक जाती है, उसी प्रकार जो संयोग और वियोगके कारण बराबर उठता और गिरता या बढ़ता और घटता रहता है, जो अपनी स्तुति होने पर उसी तरह आनन्दसे आकाश पर चढ़ जाता है, जिस प्रकार हवाके झोंकेके कारण धूल आकाशमें पहुँच जाती है, परन्तु अपनी जरा सी भी निन्दा सुनाई पड़ने पर जो सिर पर हाथ रखकर बैठ जाता है, मान और अपमानके कारण जिसकी अवस्था उसी कीचड़के समान हो जाती है जो पानीकी दो चार बूँदें पड़ने पर तो भीग जाता है और जरा सी हवा लगनेसे फिर सूख जाता है, तात्पर्य यह कि जो किसी प्रकारका मनोविकार बिलकुल सहन नहीं कर सकता, उसके सम्बन्धमें समझ लेना चाहिए कि उसमें पूरा-पूरा अज्ञान भरा हुआ है। जिसके मनमें गाँठ रहती है, जो ऊपरसे तो खूब खुलकर बातें करता और देखता है, परन्तु एकको आलिंगन करता है और अन्तःकरणसे दूसरेकी सहायता करता है, जो उसी प्रकार दिखावटी सरलता और अनुराग दिखलाकर दूसरोंके अन्तःकरण अपने वशमें कर लेता है, जिस प्रकार मृग आदि पशुओंकी हत्या करनेके विचारसे व्याधा उन्हें लुभानेके लिए उनके आगे चारा डालकर उन्हें अपने अधिकारमें कर लेता है, जिसकी दिखावटी वृत्ति उसी प्रकार भली और सीधी-सादी होती है जिस प्रकार सेवारसे ढका हुआ पत्थर होता है अथवा पककर पीली हो जानेवाली नीमकौड़ी होती है, इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं कि उसमें अज्ञान पूरी तरहसे भरा रहता है। अपने गुरुकुलका ध्यान करनेसे जिसे लज्जा होती है, जिसे गुरु-भक्ति अच्छी नहीं जान पड़ती, जो गुरुसे विद्या प्राप्त करके उलटे उन्हींसे अपनी विद्याका अभिमान करता है, मुँहसे उसका नाम लेना मानों शूद्रका अन्न खाने के समान होता है; परन्तु ये लक्षण बतलानेके लिए फिर भी उसका नाम विवश होकर लेना ही पड़ता है। अब मैं गुरु-भक्तोंका नाम लेकर इस दूषित जिह्वाका प्रायश्चित करता हूँ, क्योंकि गुरु-भक्तोंका नाम सूर्यकी तरह चारों ओर प्रकाश का विस्तार करता है। गुरु-द्रोही मनुष्योंके नामका उच्चारण करनेसे पापका जो भार आ पड़ा है, उस भारसे वाणीको मुक्त करनेके लिए इतना प्रायश्चित करना आवश्यक है। आज तक गुरुद्रोहियोंके नामका उच्चारण करनेसे जितना पाप हुआ होगा, वह सब गुरुभक्तोंके नामोंका उच्चारण करनेसे साफ धुल जायगा। अच्छा, अब अज्ञानके दूसरे लक्षण सुनो। आचरणमें जो सदा विचलित और अस्थिर रहता

है, जो सदा संशयसे भरा रहता है, जो मनुष्य अन्दर और बाहर जंगलके उस कूएँकी तरह घृणित और त्याज्य रहता है, जिसके ऊपर तो झाड़-झंखाड़ और काँटे होते हैं और जिसके अन्दर केवल हड्डियाँ ही भरी रहती हैं, जो द्रव्य प्राप्त करनेके लोभमें पड़कर अपने और परायेका उसी तरह कोई विचार नहीं करता, जिस तरह उदरकी ज्वालासे व्याकुल कुत्ता खुले और ढके हुए अन्नका कोई विचार नहीं करता और जहाँ जो कुछ मिलता है, वह सब खा जाता है, जो कुत्तेकी ही तरह नीति और अनीतिका कुछ भी विचार नहीं करता और अविचारपूर्वक जहाँ चाहता है, वहीं रमण करने लग जाता है, जो कर्त्तव्य-कर्मका समय चूक जाने पर अथवा नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके छूट जाने पर भी मनमें तनिक भी दुःखी नहीं होता, जिसे पापका आचरण करनेमें कुछ भी लज्जा नहीं जान पड़ती, पुण्यके लिए जिसमें कुछ भी उत्साह नहीं रहता और जिसके चित्तमें सदा संशय बना रहता है, उसे स्पष्ट रूपसे अज्ञानका पुतला ही समझना चाहिए। जिसकी दृष्टि सदा धनकी ही प्राप्ति पर रहती है, जो जरा-से स्वार्थ के लिए उसी प्रकार धैर्यसे विचलित हो जाता है, जिस प्रकार च्यूँटीके जरा-से धक्के से घासका बीज हिल जाता है, जो भयका नाम सुनते ही उसी प्रकार विचलित हो जाता है, जिस प्रकार पैर रखते ही गड्ढेका पानी गंदला हो जाता है, जो अपने मनोरथोंकी लहरोंके साथ अपने मनको उसी तरह बहाये चलता है, जिस तरह बाढ़में पड़ी हुई तूँबी बहती है, जो दुःखकी बात सुनते ही उसी प्रकार अपने निश्चित स्थानसे बहुत दूर पहुँच जाता या विचलित हो जाता है, जिस प्रकार हवाका झोंका लगनेसे धूल बहुत दूर चली जाती है, जो कभी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता और बादलोंकी तरह इधर-उधर हटता-बढ़ता रहता है, जिसके मनमें कभी किसी क्षेत्र, तीर्थ या नगरमें रहनेका विचार नहीं आता या जो कभी एक जगह नहीं ठहरता, जो सदा उसी प्रकार व्यर्थ इधर-उधर घूमता रहता है, जिस प्रकार पागल गिरगिट कभी वृक्षकी फुनगी पर चढ़ जाता है और कभी वहाँसे उतरकर नीचे जड़के पास आ जाता है, जिसकी अवस्था उस मिट्टीकी नांदकी तरह होती है जो केवल उसी अवस्थामें स्थिर रहती है, जब कि वह जमीनमें गाड़ दी जाती है और नहीं तो बराबर इधर-उधर लुढ़कती रहती है और इसी कारण जो केवल उसी अवस्थामें एक स्थान पर स्थिर रहता है, जब कि वह लेटा रहता है और नहीं तो बराबर इधर-उधर घूमता रहता है, उसीमें अज्ञान खूब अच्छी तरह भरा रहता है। वह बन्दरके समान चंचल होता है। और हे धनुर्धर, जिसके अन्तःकरणमें निग्रहका बल नहीं होता, जो निषेधको सामने पाकर उससे उसी प्रकार भयभीत नहीं होता, जिस प्रकार नालेमें आई हुई पानीकी बाढ़ बालूके बाँधसे कुछ भी भयभीत नहीं होती और उसे बहा ले जाती है, जो अपने आचारसे व्रतका खंडन करता है, अपने धर्मको पैरोंसे कुचलता है और यम-नियमोंको निराश करता है, जो पापसे बिलकुल नहीं डरता और पुण्यके प्रति जिसका अनुराग नहीं होता, जो लज्जाकी बेलको जड़से ही उखाड़ फेंकता है, जो अपनी कुल-परम्पराकी कुछ भी परवाह नहीं करता, जो वेदोंकी आज्ञाको अपनेसे सदा दूर ही रखता है और इस बातका निर्णय करना कभी जानता

ही नहीं कि कौन-सा काम करने योग्य है और कौन-सा करनेके योग्य नहीं है, जो उसी प्रकार मनमाने नाच नाचता है, जिस प्रकार साँड़ बिना किसी बन्धनके चारों तरफ नाचता फिरता है अथवा वायु विस्तारपूर्वक बहती रहती है अथवा निर्जन स्थानमें नदी-नाले मनमाने ढंगसे बहते रहते हैं, जिसका चित्त विषयोंमें उसी तरह सब प्रकारके बन्धनोंको तोड़कर भरमता रहता है, जिस प्रकार अन्धा हाथी चारों तरफ घूमता रहता है अथवा पर्वत पर दावाग्नि चारों तरफ जलती रहती है, वही पूरा पूरा अज्ञानी होता है। भला कूड़ेखानेमें कौन-सी चीज नहीं फेंकी जाती? जंगली पशुओंको कौन पकड़ता है? गाँवकी सीमा कौन नहीं लाँघता? अन्नसत्रका अन्न जो चाहे, वह जाकर खा सकता है; और जब वेश्यामें तारुण्यका तेज आता है, तब उसका आनन्द जो चाहे, वह भोग सकता है और बनियेकी खुली हुई दूकानमें जो चाहे, वही जा सकता है। इसी प्रकार जिसका अन्तःकरण हो, उसमें सभी प्रकार के अज्ञानकी समृद्धि होती है। यह बात तुम ध्यानमें रखो। जो चाहे जीता रहे और चाहे मर जाय, परन्तु फिर भी विषय-वासना किसी अवस्थामें नहीं छोड़ता, जो यह सोचकर इसी लोकमें सब विषयोंका सुख भोग लेता है कि आगे चलकर स्वर्गमें तो विषयोंका भोग करना ही पड़ेगा, जो सदा विषय-भोगोंका ही जप करता है, जिसका अनुराग सदा सकाम कर्मोंके आचरण करनेकी ओर ही रहता है और जो विरागी मनुष्योंके दर्शन होते ही इतना बुरा मानता है कि अपने सब कपड़े धोकर स्नान कर डालता है, जो उस दशामें भी विषयोंका भोग करता रहता है, जब कि स्वयं विषय ही उससे विरक्त हो जाते हैं और विषयोंका उसी प्रकार सेवन करता रहता है, जिस प्रकार कोई महारोगी अपने हाथ सड़ जाने पर भी उस सड़े हुए हाथसे बराबर अन्न खाता रहता है और जो कभी अपने कल्याणके विषयमें सावधान नहीं होता, जो उसी तरह विषयोंके पीछे लगा रहता है, जिस तरह गधा अन्धा होकर गधीके पीछे लगा रहता है और गधीके बार-बार लात मारने पर भी पीछे नहीं हटता, जो विषयोंका भोग करनेके लिए जलती हुई आगमें भी कूद पड़ता है और अनेक प्रकारके व्यसनोंको अलंकारोंकी भाँति धारण करता है, विषयोंकी प्राप्तिके लिए जिसकी अवस्था उस मृगके समान होती है जो पानीके लालचमें तब तक दौड़ता रहता है, जब तक उसकी छाती फट नहीं जाती, परन्तु फिर भी जिसके मनमें कभी इस बातका विश्वास नहीं होता कि यह जल नहीं है, बल्कि मृग-जलकी माया है, जो जन्मसे लेकर मृत्यु तक विषयोंसे अनेक प्रकारसे पीड़ित होने पर भी कभी उनसे उकताता नहीं, बल्कि उलटे उन्हें और भी अधिक प्रेमपूर्वक प्राप्त करनेका प्रयत्न करता रहता है, वही अज्ञानी है। पहले तो बाल्यावस्थामें उसके सिर पर माता-पिताका पागलपन सवार रहता है; और जब वह पागलपन हट जाता है, तब वह स्त्रीके देहके फेर में पड़ जाता है; और जब स्त्रीकी संगतिमें बहुत-सा समय बिता चुकनेके उपरान्त वृद्धावस्था आने लगती है, तब उसके सिर पर बाल बच्चोंका प्रेम और पागलपन सवार होता है। बिल्ली या कुतियाके बच्चे जब जन्म लेते हैं, तब उस समय तक चुपचाप मुँह-सिर छिपाये और लुण्ड-मुण्ड बने पड़े रहते हैं, जब तक उनकी आँख नहीं खुलती। इसी तरह जो सदा

अपनी स्त्री और बच्चोंके फेरमें ही पड़ा रहता है और फिर भी जब तक मर नहीं जाता तब तक विषयोंसे बिलकुल नहीं उकताता, हे अर्जुन, यह समझ रखो कि उस मनुष्यके अज्ञानकी सीमा ही नहीं है। अब मैं अज्ञानके कुछ और भी लक्षण बतलाता हूँ। जो अपने मनमें यह भाव रखकर कर्मका आरम्भ करता है कि देह ही आत्मा है, जो अपने आचरण किये हुए अच्छे और बुरे सभी तरहके कर्मोंका ध्यान करके हर्षसे प्रफुल्लित हो जाता है, जो अपनी विद्या और यौवनावस्थाके कारण उसी प्रकार तनकर चलने लगता है, जिस प्रकार कोई भक्त उस समय गर्वसे तनकर चलने लगता है, जिस समय उसके सिर पर देवताकी प्रतिमा रख दी जाती है, जो बराबर यही कहता है—"मेरी बराबरीका और कोई नहीं है। यदि सम्पत्तिशाली हूँ तो केवल मैं ही हूँ। भला मुझसे बढ़कर उत्तम आचरण करनेवाला और कौन है? मेरे समान बड़ा और कोई नहीं है। मैं सर्वज्ञ हूँ और जो कुछ मैं कहता हूँ, वही सब जगह माना जाता है।" और इस प्रकार जो गर्वसे अपने विषयके समाधानसे फूला नहीं समाता, जो उसी प्रकार किसी दूसरेकी भलाई नहीं देख सकता, जिस प्रकार व्याधि ग्रस्त मनुष्यको किसी प्रकारका भोग सहन नहीं होता, जो गुण अर्थात् अच्छी भावनाओंको उसी प्रकार नष्ट करता है, जिस प्रकार दीपक गुण (अर्थात् सूतकी बत्ती) को नष्ट करता है, जो स्नेह (अर्थात् प्रेम) को उसी प्रकार जलाता है, जिस प्रकार दीपक स्नेह (अर्थात् तेल) को जलाता है और जो उसी प्रकार चारों तरफ दुःखकी कालिमा फैलाता है, जिस प्रकार दीपक किसी स्थान पर रखे जाने पर चारों ओर अपनी कालिमा फैलाता है, जिसकी अवस्था उस दीपकके समान होती है जो पानीके छींटे पड़ने पर चट चट करता है, जरा सी हवा लगनेसे बुझ जाता है और सहजमें यदि किसी चीजके साथ लग जाय तो सारे घरको जलाकर राख कर देता है और एक तिनका भी बाकी नहीं छोड़ता, जो लाख समझाने पर किसी तरह नहीं मानता, उलटे लड़ाई-झगड़ा करने लगता है और अवसर मिलते ही दूसरोंका घात करनेसे नहीं चूकता, जो अपनी केवल थोड़ी सी विद्याके कारण ही उसी प्रकार सब लोगोंके लिए असह्य हो जाता है, जिस प्रकार थोड़ा सा प्रकाश करनेवाला दीपक भी केवल उतने ही प्रकाशसे भारी ताप उत्पन्न करता है, गुणी होने पर भी मत्सरके कारण जिसकी अवस्था उस दूधके समान होती है जो औषध रूपमें पीए जाने पर भी नए ज्वर को कुपित कर देता है अथवा जो उस दूधके समान विषाक्त होता है जो सर्पके आगे रखा जाता है, तात्पर्य यह कि जो इस प्रकार सद्गुणी होने पर भी सबके साथ मत्सर करता है, ज्ञानी होने पर भी अहंकार करता है और जिसे अपनी तपस्या तथा ज्ञानका अपरम्पार गर्व होता है, जो गर्वसे उसी प्रकार फूला रहता है, जिस प्रकार अन्त्यज राजगद्दी पर बैठनेसे फूल जाता है अथवा अजगर खम्भा निगलकर फूल जाता है, जो बेलनके समान कभी किसीके आगे नहीं झुकता और पत्थरकी तरह कभी नहीं पसीजता और जो उसी प्रकार किसी गुणी मनुष्यके दबावमें नहीं रहता, जिस प्रकार फुफकारनेवाला साँप किसी मान्त्रिक या झाड़ फूँक करनेवालेके वशमें नहीं रहता, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि मैं तुम्हें निश्चित रूपसे यह

बतलाता हूँ कि जिस पुरुषमें ये सब बातें होती हैं, उसमें ऐसा अज्ञान भरा रहता है जो सदा बढ़ता ही जाता है। और हे अर्जुन, जो इस शरीर-रूपी घरका ही सदा लालन-पालन करता रहता है और अपने पिछले अथवा भावी जन्मोंका कभी कोई विचार ही नहीं करता, वही अज्ञानी है। कृतघ्न मनुष्यके साथ किया हुआ उपकार, चोरके हाथमें दिया हुआ धन अथवा निर्लज्ज पुरुषको दी हुई चेतावनी जिस प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार घरमें घुस आनेवाले कुत्तेको यदि उसके कान और दुम काटकर घरसे भगा दिया जाय तो भी वह कुत्ता कान और दुमका रक्त सूखनेसे पहले ही फिर उसी प्रकार निर्लज्जतापूर्वक घरमें घुस आता है अथवा जिस प्रकार साँपके मुखमें जाते समय भी मक्खियोंको पकड़नेके लिए मेंढक अपनी जीभ बाहर निकाले रहता है, उसी प्रकार जिस पुरुषको उस अवस्थामें भी खेद नहीं होता, जब कि उसके शरीरकी नौ इन्द्रियोंके द्वार बराबर बहते रहते हैं, शरीरमें नाशक घुन लगा रहता है, जो माताके पेट रूपी गुफामें मल-मूत्रमें नौ महीने तक पड़ा रहने पर भी गर्भावस्थाके दुःखों अथवा जन्म धारण करनेके समय होनेवाले कष्टोंका भी स्मरण नहीं करता, जो बच्चोंको मल-मूत्रके कीचड़में लोटते हुए देखकर भी घृणा नहीं करता और इस तरहकी बातोंसे नहीं घबराता या उकताता, जो कभी इस बातका विचार नहीं करता कि अभी कल ही पिछला जन्म समाप्त हुआ है और फिर कल ही नया जन्म आनेवाला है, जिसे अपने जीवनके अच्छे दिनोंमें मृत्युका स्मरण नहीं होता, जो अपने मनमें सदा यही विश्वास रखता है कि मैं इस समय जैसी अच्छी अवस्थामें हूँ, वैसी ही अच्छी अवस्थामें सदा बना रहूँगा और इसी विश्वासके कारण जिसकी समझमें ही यह नहीं आता कि मृत्यु भी कोई चीज है, जिसकी अवस्था किसी छोटे-से गड्ढेमें रहनेवाली उस मछलीके समान होती है जो यह समझती है कि यह गड्ढा कभी सूखेगा ही नहीं और यही सोचकर जो किसी गहरे दहमें नहीं जाती अथवा जिसकी अवस्था उस हिरणके समान होती है, जो शिकारीके गीतमें ही इतना मग्न हो जाता है कि उस शिकारीको देखना भी भूल जाता है अथवा उस मछलीके समान होती है जो बंसीमेंका काँटा नहीं देखती और उसपरका आमिष खानेका प्रयत्न करती है अथवा जिसकी अवस्था उस पतंगके समान होती है जो दीपककी लौ देखते ही इतना भूल जाता है कि उसे इस बातका ध्यान ही नहीं रह जाता कि यह दीपक मुझे जला डालेगा, वही अज्ञानी है। जिस प्रकार घरके जलनेके समय भी मूर्ख मनुष्य सोता ही रहता है अथवा अनजानमें विष मिला हुआ अन्न खा जाता है, उसी प्रकार अज्ञानी पुरुष भी राजस सुखमें मग्न होकर यह नहीं जानता कि इस जीवनके रूपमें मुझ पर यह मृत्युका ही वार हुआ है। वह दिन-रात अपने शरीरका ही पालन-पोषण करता रहता है और विषय सुख-के वैभवको ही सच्चा मानता है। परन्तु उस बेचारे मूढ़की समझमें यह बात नहीं आती कि वेश्याको अपना सर्वस्व अर्पण करना ही मानों अपना नाश करना है अथवा ठगके साथ मित्रता करना ही अपने प्राण गँवाना है अथवा दीवार पर रंगसे बनाये हुए चित्र-को स्वच्छ करनेके लिए धोना ही मानों उस चित्रको मिटाना है और पाँडु रोगके कारण अंगोंका फूलना ही मानों उनका नष्ट होना है। बस ठीक इसी प्रकार वह आहार-निद्रामें

भूलकर बुद्धिहीन हो जाता है। जिस प्रकार सामने खड़े की हुई सूलीकी ओर दौड़ने-वालेके लिए प्रत्येक पग पर मृत्यु पास आती जाती है, उसी प्रकार ज्यों ज्यों उसका शरीर बढ़ता है, ज्यों ज्यों दिन बीते जाते हैं और ज्यों ज्यों विषय-भोगका सुभीता होता जाता है, त्यों त्यों आयुष्य पर मृत्युकी छाया बराबर बढ़ती जाती है। जिस प्रकार पानीसे नमक गल जाता है, उसी प्रकार वह जीवन भी गलता चला जा रहा है और मृत्यु समीप आती जाती है। परन्तु फिर भी यह प्रत्यक्ष बात उसकी समझमें नहीं आती। हे अर्जुन, सारांश यह कि जिससे विषयोंके फेरमें सदा शरीरके साथ लगी रहनेवाली मृत्यु नहीं दिखाई देती, उसके विषयमें इसके सिवा और कोई मत हो ही नहीं सकता कि वह पुरुष अज्ञानके राज्यका अधिपति है। जिस प्रकार ऐसे मनुष्यको जीवनके सुखोंके फेरमें मृत्युका स्मरण ही नहीं होता, उसी प्रकार अपने यौवनके मदमें वह वृद्धा-वस्थाको कोई चीज ही नहीं समझता। जिस प्रकार पर्वतकी चोटी परसे ढलती हुई गाड़ी अथवा पहाड़ीके ऊपरसे गिरा हुआ पत्थर यह नहीं देखता कि सामने क्या है, उसी प्रकार वह भी सामनेसे आनेवाली वृद्धावस्थाको नहीं देखता। अथवा जब जंगल-के नालेमें पानी बहुत बढ़ने लगता है और बाढ़ आने लगती है अथवा जब भैंसे मस्त हो जाते हैं, तब उन्हें अपने सामनेकी कोई चीज नहीं दिखाई देती और वे मनमाने तौर पर चारो तरफ दौड़ने लगते हैं। इसी प्रकार वह भी यौवनके मदमें अन्धा हो जाता है। यद्यपि उसके अंग निर्बल होते जाते हैं, तेज कम होता जाता है, मस्तक झूलने लगता है, दाढ़ी पक जाती है और गरदन हिलने लगती है, परन्तु फिर भी वह अपनी माया या धन सम्पत्तिका विस्तार करता ही जाता है। जैसे अन्धे आदमी-को सामनेसे आनेवाला मनुष्य तब तक दिखलाई नहीं देता, जब तक वह उसकी छाती पर नहीं आ जाता अथवा आलसी मनुष्य उस समय भी आनन्दसे पड़ा रहता है; जिस समय घरमें लगी हुई आगकी चिनगारियाँ आकर उसके मुँह पर गिरने लगती हैं, उसी प्रकार जिस पुरुषको आजकी युवावस्थाका भोग करते समय कल आनेवाली वृद्धावस्था दिखलाई नहीं देती, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्तिमान अज्ञान ही होता है। जो किसी अशक्त अथवा कुबड़ेको देखकर अभिमानपूर्वक उसे चिढ़ाने और उसकी नकल उतारने लगता है, परन्तु जो यह नहीं समझता कि आगे चलकर मेरी भी यही अवस्था होनेवाली है और मृत्युकी सूचना देनेवाले वृद्धावस्थाके लक्षण शरीरमें दिखाई पड़ने पर भी जिसका यौवन-कालका भ्रम दूर नहीं होता, उस पुरुषको अज्ञानका जन्म-स्थान ही समझना चाहिए। हे अर्जुन, अज्ञानके कुछ और भी लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई पशु किसी ऐसे जंगलमें जाकर चर आता है जिसमें बाघ रहता है और जो भाग्य-वश किसी प्रकार बाघसे बचकर लौट आता है और इसी भरोसे पर वह फिर उसी जंगलमें चरनेके लिए जाता है अथवा जिस प्रकार कोई मनुष्य एक बार साँपके बिलमें रखा हुआ धन साँपके दंशसे किसी प्रकार बचकर उठा लाता है और तब यह कहने लगता है कि उस बिलमें साँप है ही नहीं अथवा यदि वह है भी तो काटता ही नहीं, उसी प्रकार जो एक दो बार कुपथ्य करके भी यह देखता है कि मेरा शरीर स्वस्थ है

और इसी लिए जो रोगका अस्तित्व ही नहीं मानता अथवा जो अपने बैरीको सोया हुआ देखकर स्वस्थ और निश्चिन्त हो जाता है और सोचता है कि अब तो उसके साथ मेरा बैर भी और उससे होनेवाला संकट भी दूर हो गया है और अन्तमें अपने बाल-बच्चोंके प्राणोंके साथ अपने भी प्राण गँवा बैठता है, अथवा जो आदमी तब तक रोगकी ओरसे निश्चिन्त रहता है, जब तक उसका आहार और निद्रा नियमित रूपसे चलती रहती है और रोग उसके शरीरमें पूरी तरहसे घर नहीं कर लेता, वही अज्ञानी होता है। वह अपनी स्त्री, पुत्र, परिवार आदिके साथ ज्यों ज्यों अपनी सम्पत्तिके द्वारा अधिकाधिक विषय सम्पादित करता जाता है, त्यों त्यों उसकी धूलसे वह और भी अधिक अन्धा होता जाता है। जिसे यह भावी दुःख दिखाई नहीं देता कि अचानक इन विषयोंके साथ मेरा वियोग होगा और एक क्षणमें मुझ पर भारी आपत्ति आ पड़ेगी, हे अर्जुन, वह पुरुष केवल अज्ञान ही है। और वह पुरुष भी अज्ञान ही है जो इन्द्रियों-का उदर विषय रूपी अन्नसे खूब मनमाने ढंगसे भरता रहता है। जो यौवनावस्थाके आवेश और सम्पत्तिकी संगतिसे सेव्य और असेव्यका कुछ भी विचार नहीं करता और सबका अन्धाधुन्ध सेवन करता चलता है, जिसका मन वही काम करता है जो करना नहीं चाहिए, जो असम्भव बातोंकी आशा करता है और जो ऐसी बातोंका चिन्तन करता है, जिनका कभी विचार भी नहीं करना चाहिए, जहाँ शरीर और मनको प्रवेश नहीं करना चाहिए, वहाँ उन्हें प्रविष्ट करता है, जो नहीं लेना चाहिए, वह माँगता है, जिसे भूलकर भी नहीं छूना चाहिए, उसीका निरन्तर स्पर्श करता रहता है, जो वहीं जाता है जहाँ नहीं जाना चाहिए, जो नहीं देखना चाहिए, उसीको देखता है, जो नहीं खाना चाहिए, उसीको खाकर आनन्दित होता है, जिसका संग नहीं करना चाहिए, उसीका संग करता है, जिसके साथ संलग्न नहीं होना चाहिए, उसीके साथ संलग्न होता है, जिस मार्ग पर नहीं जाना चाहिए, उसी मार्ग पर जाता है, जो न सुनने योग्य बातें सुनता और न कहने योग्य बातें कहता है और यह नहीं जानता कि इस प्रकारके आचरणमें कितना दोष होता है, हे अर्जुन, जो किसी बातके केवल मनको रुचनेके कारण ही इस बातका कभी तिल मात्र भी विचार नहीं करता कि अमुक काम करनेके योग्य है अथवा नहीं करनेके योग्य है, जो ऐसे-वैसे काम अपना कर्त्तव्य मानकर करता है, परन्तु जो इस बातका कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक कार्य करनेसे मुझे पाप होगा और आगे चलकर नरककी यातना भोगनी पड़ेगी, उस पुरुषकी संगतिसे इस संसारमें अज्ञान इतना अधिक बलवान हो जाता है कि वह ज्ञानी लोगोंके साथ भी दो-चार हाथ लड़ सकता है। परन्तु अब इस विषयको छोड़ देना चाहिए। अब मैं कुछ और ऐसे लक्षण बतलाता हूँ जिनसे अज्ञानकी बिलकुल ठीक ठीक पहचान हो सके। तुम वह लक्षण सुनो। घर-गृहस्थीमें जिसकी प्रीति उसी प्रकार लगी हो, जिस प्रकार नये निकले हुए सुगन्धित परागमें भृंगीकी रहती है, जिसकी इच्छा उसी प्रकार स्त्रीकी आज्ञाके अनुसार या मरजीके मुताबिक काम करनेकी होती है, जिस प्रकार चीनी पर बैठी हुई मक्खीकी सदा चीनी पर ही बैठे रहनेकी होती है और उस

घरसे उसका किसी तरह उठनेको भी नहीं चाहता, जिसका जीव, मन और प्राण घर-गृहस्थीके झमेलोंसे उसी प्रकार बाहर नहीं निकल सकते, जिस प्रकार पानीके गड्ढेसे मेंढक नहीं निकलना चाहता अथवा मच्छड़ जिस प्रकार नाकसे निकले हुए कफको नहीं छोड़ना चाहता अथवा ढोर जिस प्रकार सदा कीचड़में ही पड़ा रहना चाहते हैं, जो घर-गृहस्थीको उसी प्रकार पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार साँप किसी बंजर या खाली जमीन पर जमकर पड़ा रहता है और वहाँसे किसी तरह हटना नहीं चाहता, जो अपनी घर-गृहस्थीको उसी प्रकार खूब जोरोंसे पकड़कर बैठा रहता है, जिस प्रकार कोई स्त्री अपने प्राणनाथको अपनी सारी शक्तिसे आलिंगन करके बैठी रहती है, जो घर गृहस्थीकी रक्षाके लिए निरन्तर उसी प्रकार परिश्रम करता रहता है, जिस प्रकार मधु प्राप्त करनेके उद्देश्यसे भृंग सदा परिश्रम करता रहता है, जिसका घर-गृहस्थी पर उतना ही अधिक अनुराग होता है, जितना उन माता-पिताका अपने उस एकलौते पुत्ररत्न पर होता है जो उन्हें दैवयोगसे वृद्धावस्थामें प्राप्त होता है और जो अपनी स्त्रीके सिवा और किसीको कुछ जानता या समझता ही नहीं, जो केवल स्त्रीके ही शरीरका भजन और उपासना करता है और इस बातका जिसे नामको भी ज्ञान नहीं होता कि मैं कौन हूँ और मुझे क्या करना चाहिए, जो अपनी समस्त इंद्रियोंसे उसी प्रकार स्त्रीमें एकाग्र भावसे अपना अनुराग रखता है, जिस प्रकार महाज्ञानी पुरुषका चित्त केवल ब्रह्ममें ही रमण करता है और उस ब्रह्मके सामने उसके दूसरे समस्त व्यवहारोंका लोप हो जाता है, जो स्त्री सम्बन्धी अनुरागके सामने लज्जा अथवा हानिको कोई चीज ही नहीं समझता और न लोकापवाद ही सुनता है, जो सदा स्त्रीकी इच्छाकी आराधना करता है (अर्थात् स्त्रीकी ही इच्छाके अनुसार चलता है) और उसके फेरमें पड़कर उसी प्रकार नाचता है जिस प्रकार मदारीका बन्दर नाचता है, जो दान-पुण्यमें उसी प्रकार कंजूसी करता है जिस प्रकार कोई बड़ा भारी लोभी स्वयं कष्ट उठाकर अपने इष्ट मित्रोंको भी दुःखी करके कौड़ी कौड़ी जमा करता है, जो अपने रिश्ते-नातेके लोगोंको तो धोखा देता है और उनके आदर सत्कार में त्रुटि करता है, परन्तु अपनी स्त्रीकी सभी इच्छाएँ पूरी करता है और उसमें रत्ती भर भी कमी नहीं होने देता, जो बहुत ही थोड़े से व्ययमें आराध्य देवताओंको सन्तुष्ट करना चाहता है, गुरुजनोंको भी ही चकमा देता है और अपने माता पिताके सामने भी व्यय करनेमें अपनी असमर्थता ही प्रकट करता है, परन्तु अपनी स्त्रीके उपभोगके लिए वह जो उत्कृष्ट वस्तु देखता है, उसे बहुत अधिक व्यय करके भी प्राप्त करता है, जो अपनी स्त्रीकी उसी प्रकार उपासना करता है, जिस प्रकार कोई प्रेमपूर्ण भक्त अपने कुल-देवताकी उपासना और भजन करता है, जो असल और बढ़िया चीजें तो अपनी स्त्रीके लिए रख छोड़ता है और दूसरों को सामान्य निर्वाहके योग्य भी कोई वस्तु नहीं देता, जो यह समझता है कि यदि कोई मेरी स्त्रीकी ओर आँख उठाकर देखेगा या उसका विरोध करेगा तो मानो प्रलयके समान अनर्थ हो जायगा, जो अपनी स्त्रीकी बहुत छोटी सी बात भी उसी प्रकार आग्रह-पूर्वक पूरी करता है, जिस प्रकार दाद या चकत्ते होनेके डरसे लोग देवीको चाँदीके

नाग चढ़ानेकी मन्नत आग्रहपूर्वक पूरी करते हैं, हे अर्जुन, तात्पर्य यह कि जो अपनी स्त्रीको ही सब कुछ समझता है और जिसका प्रेम केवल उन्हीं बाल बच्चोंके हिस्सेमें पड़ता है जो उस स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न होते हैं और जिसे अपनी स्त्रीका सारा वैभव अपने प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय होता है, वह पुरुष अज्ञानका मूल होता है, उसके कारण अज्ञानका तेज बढ़ता है और वह प्रत्यक्ष अज्ञान ही होता है। जिस प्रकार विक्षुब्ध समुद्रमें बिलकुल खुली और छूटी हुई नाव लहरोंके साथ ऊपर नीचे होती रहती है, उसी प्रकार प्रिय वस्तुके प्राप्त होने पर तो जिसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वह सारे आकाशमें भी नहीं समा सकता, परन्तु कोई अप्रिय बात होने पर जो दुःखी होकर मानों रसातलमें पहुँच जाता है और इस प्रकार जिसका अन्तःकरण भेद भावनाके बन्धनमें पड़ा रहता है, फिर वह चाहे कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो उसे अज्ञानका स्वरूप ही समझना चाहिए। जो अपने मनमें किसी प्रकारके फलकी आशा रखकर मेरी भक्ति उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई द्रव्य सम्पादित करनेके उद्देश्यसे वैराग्यका वेष धारण करता है अथवा जिस प्रकार कोई व्यभिचारिणी स्त्री अपने यारके पास जानेका सुभीता पानेके लिए अपने पतिका सन्तोष करके और उसका मन भरकर उसे झूठा विश्वास दिलानेके लिए ऊपरसे अपना शुद्ध व्यवहार और आचरण दिखलाती है, इसी प्रकार, हे अर्जुन जो ऊपरसे दिखलानेके लिए तो मेरी भक्ति करता है, परन्तु वास्तवमें जिसकी सारी दृष्टि विषय सुखोंको सम्पादित करनेकी ओर रहती है और जब इस प्रकारकी भक्ति करने पर इच्छित विषय प्राप्त नहीं होता तब जो यह कहकर तत्काल ही मेरी भक्ति छोड़ देता है कि यह सारी भक्ति निरर्थक है, जो उसी प्रकार नित्य नये नये देवताओंकी आराधना करता है, जिस प्रकार कोई कृषक नित्य नई नई जमीनें लेकर जोतता है और अपने प्रत्येक नये देवताकी अपने पुराने देवताकी ही तरह सेवा करता है, जो किसी नये गुरु-सम्प्रदायका विशेष ठाट बाट देखकर उसीके फेरमें पड़ जाता है और उसीका मन्त्र लेता है और दूसरोंको क्षुद्र समझ-कर उनका स्वीकार नहीं करता, जो सजीव प्राणियोंके साथ निर्दयतापूर्ण व्यवहार करता है, परन्तु वृक्ष और पाषाण आदि स्थावर पदार्थोंको देवता समझ कर उनकी पूजा करता है और इस प्रकार जिसकी एकनिष्ठ श्रद्धा किसी पर नहीं होती, जो मेरी मूर्ति तो प्रस्तुत करता है, परन्तु उस मूर्तिको अपने मकानके किसी कोनेमें स्थापित करके स्वयं दूसरे देवताओंके दर्शन और यात्राके लिए निकल जाता है, जो सदा मेरा पूजन करता है, परन्तु मंगल कार्योंमें कुल-देवताओंका अर्चन करता है और कुछ विशेष पर्वोंके समय दूसरे देव-ताओंकी आराधना करता है, जो घरमें तो मेरी मूर्ति स्थापित करता है, परन्तु मन्नतें दूसरे देवताओंकी मानता है और फिर श्राद्धके समय अपने पितरोंका भक्त हो जाता है, जो एकादशीके दिन मेरा जितना मान करता है, उतना ही श्रावण शुक्ला पंचमीके दिन नागोंका भी मान करता है, जो भाद्रपदकी शु.. चतुर्थीके दिन गणपतिका भक्त हो जाता और चतुर्दशी आने पर दुर्गाकी भक्ति ..ने लग जाता है, जो नवमीका आयोजन करके नवचण्डीका अनुष्ठान करने बैठ जाता है अ.. रविवारको कालभैरवका

खिचड़ी बाँटने लगता है, और फिर सोमवार आने पर बेल-पत्र लेकर शिव-लिंगकी ओर दौड़ पड़ता है, तात्पर्य यह कि इस प्रकार जो पुरुष नाना प्रकारके और सभी देवताओंकी आराधना और उपासना करता है और इस प्रकारकी धाँधलीसे जो निरन्तर भक्ति करता है और क्षण भर भी शान्त नहीं रहता और बराबर सभी देवताओंकी ओर दौड़ता हुआ दिखाई देता है, उसके सम्बन्धमें तुम निश्चित रूपसे यह समझ लो कि वह भक्त मूर्तिमान् अज्ञान ही है। निर्जन और स्वच्छ तपोवन, तीर्थ और नदी-तटको देखकर जिसके मनमें घृणा या अरुचि उत्पन्न होती है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिसे मनुष्योंकी भीड़-भाड़में ही रहना अच्छा लगता है, जो सांसारिक झगड़ोंमें ही भूला रहता है और जो लौकिक विषयोंके सम्बन्धमें अनुरागपूर्वक बातें करता है, वह भी मूर्तिमान् अज्ञान ही है। जिस विद्याके द्वारा आत्मदर्शनकी प्राप्ति होती है, उस विद्याकी चर्चा होने पर जिस विद्वानमें उसका उपहास करनेकी बुद्धि होती है, जो उपनिषदोंकी ओर कभी भूलकर भी नहीं देखता, योग-शास्त्र जिसे अच्छा नहीं लगता और अध्यात्म-ज्ञानकी ओर जिसके मनकी प्रवृत्ति नहीं होती, जिसमें आत्म-चर्चा सम्बन्धी श्रद्धाका नितान्त अभाव होता है और जो यह समझता है कि यह विषय विचार करनेके योग्य ही नहीं है और जिसका मन रस्सा तुड़ाकर भागनेवाले पशुकी तरह मुक्त और स्वेच्छाचारी रहता है, जो कर्म-कांडमें निपुण होता है, जिसे सब पुराण कंठस्थ होते हैं और जो ज्योतिषमें भी पारंगत होता है, जो शिल्प-कर्मोंमें चतुर होता है, पाक विद्यामें निष्णात होता है और अथर्वण वेदके अघोरी मन्त्र तन्त्रोंमें कुशल होता है, जिसके लिए कामशास्त्रकी और कोई बात सीखनेके लिए बाकी नहीं होती, जिसे महाभारतकी सब बातें ज्ञात होती हैं और मूर्त्तिमान् वेद ही जिसके हाथमें आ जाते हैं, जिसे नीति-शास्त्रका ज्ञान होता है, वैद्यकका ज्ञान होता है और काव्यों तथा नाटकोंके ज्ञानमें जिसके मुकाबलेका और कोई नहीं होता, जो स्मृतियोंकी चर्चा करता है, गारुड़ी विद्याका मर्म जानता है और शब्द-कोषको जिसने अपनी बुद्धिका मानों दास ही बना रखा है, व्याकरण-शास्त्रमें जिसका ज्ञान अगाध है, तात्पर्य यह कि जो सभी विषयोंका बहुत अच्छा ज्ञाता है, परन्तु फिर भी एक मात्र अध्यात्म-विद्यामें जो सचमुच जन्मान्ध है, जो अध्यात्म-शास्त्रको छोड़कर बाकी सभी शास्त्रोंके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन कर सकता है, उसके इस प्रकारके ज्ञानमें आग लग जाय। ऐसे ज्ञानके किसीको उसी लड़केके समान दर्शन तक न होने चाहिएँ जो माता-पिताका घात करनेवाले मूल नक्षत्रमें जन्म लेता है। मोरके सारे शरीरमें पंख होते हैं और उन सभी पंखों पर नेत्र भी होते हैं। परन्तु जिस प्रकार उन सभी नेत्रोंमें दृष्टिका अभाव होता है, उसी प्रकार इस ज्ञानमें भी वास्तविक दृष्टिका अभाव होता है। यदि संजीवनी बेलकी जरा-सी जड़ भी हाथ लग जाय तो फिर दूसरी औषधियों तथा वनस्पतियोंकी गाड़ियाँ लादनेकी क्या आवश्यकता है? यदि सौन्दर्यके बत्तीसों लक्षण हों, परन्तु एक मात्र आयुष्य न हो अथवा यदि बहुत-से आभूषण आदि तो हों, परन्तु मस्तक ही न हो अथवा बहुत-से बाजे बजाने-वाले और बधाइयाँ देनेवाले तो हों परन्तु वर और वधू ही न हों तो उन सबका भला

क्या उपयोग हो सकता है ? इसी प्रकार एक अध्यात्म-शास्त्रके बिना दूसरे समस्त शास्त्र अपनी अपूर्णताके कारण केवल निष्फल और भ्रामक होते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, जिस पढ़े-लिखे मूर्खको अध्यात्म-ज्ञानका बोध न हो, उसके शरीरको अज्ञानका मन्दिर ही समझना चाहिए। उसके समस्त ज्ञान एक मात्र अज्ञान रूपी वल्लीके ही फल होते हैं। उसके प्रत्येक वचनको अज्ञानका पुष्प ही समझना चाहिए और जो पुण्य-फल उसे प्राप्त होते हैं, वे भी अज्ञान ही होते हैं। जिसके मनमें अध्यात्म-शास्त्रके सम्बन्धमें आदर नहीं होता, उसके सम्बन्धमें यह बतलानेकी आवश्यकता ही नहीं है कि उसे ज्ञान-वस्तु कभी दिखाई ही नहीं देती। जो नदीके इस पारवाले तट पर भी न आता हो और पीछेकी ओर लौटकर भाग जाता हो, भला उसे उस पारकी बातोंका कैसे ज्ञान हो सकता है ? अथवा दरवाजेकी ड्योढ़ी पर ही जिसका सिर दबा दिया गया हो, भला उसे घरके अन्दरकी बातें कैसे मालूम हो सकती हैं ? इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिसका अध्यात्म-ज्ञानके साथ कुछ भी परिचय न हो, उसके लिए सत्य ज्ञान प्राप्त होनेकी जगह ही कहाँ बाकी रह जाती है ? इसीलिए, हे अर्जुन, अब बहुत ही अधिक विवेचनपूर्वक तुम्हें यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं है कि ऐसे पुरुषको वास्तविक ज्ञानका कुछ भी तत्व ज्ञात नहीं होता। जिस प्रकार गर्भिणी स्त्रीके आगे अन्न परोसने-का फल यही होता है कि उसके पेटमें रहनेवाला पिंड या बालक बढ़ता है, उसी प्रकार ऊपर बतलाये हुए ज्ञान-पदोंमें ही अज्ञान-पदका भी विवेचन या अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार यदि किसी अन्धेको निमन्त्रण दिया जाय तो वह अपने साथ किसी सुझाखे आदमीको लेकर आता है, उसी प्रकार जब अज्ञानके लक्षण बतलाये जाते हैं, तब उनके साथ साथ ज्ञानके लक्षण भी आपसे आप ही समझमें आने लगते हैं। इसी लिए प्रस्तुत प्रकरणमें अमानित्व आदि ज्ञान-लक्षणोंके विपरीत ही अज्ञानके लक्षणोंका भी प्रतिपादन किया गया है। ऊपर ज्ञानके जो अठारह लक्षण बतलाये गये हैं, वे सब यदि उलट दिये जायँ तो वे आपसे आप अज्ञानके लक्षण हो जाते हैं।" पिछले श्लोकके एक (अर्थात् चौथे) चरणमें श्रीकृष्णने यह बतलाया था कि यदि ज्ञानके लक्षणोंको उलट दिया जाय तो वे आपसे आप अज्ञानके लक्षण हो जाते हैं। इसी लिए मैंने इस प्रणालीका अनुकरण करके इस विषयका स्पष्टीकरण किया है। मूलमें इस प्रणालीका अनुकरण नहीं किया गया था; परन्तु फिर भी पानी डालकर दूध बढ़ानेवाले सिद्धान्तके अनुसार अपनी ओरसे व्यर्थकी बातें बढ़ाकर मैं विषयका विस्तार न करता। मैंने तो मूल श्लोकोंके शब्दोंकी मर्यादा न छोड़कर मूलमें ध्वनित किये हुए अर्थका ही स्पष्टी-करण करनेका प्रयत्न किया है। यह सुनकर श्रोताओंने कहा—"स्पष्टीकरण बहुत हो चुका। इस प्रकारके समर्थनकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है। हे कविपोषक, तुम्हें व्यर्थ ही यह भय क्यों हुआ कि तुम्हारे इस विवरण-विस्तारके कारण लोग उकता गये हैं ? तुम्हें तो श्रीकृष्णने आज्ञा दी है कि गीतामें मैंने जो अर्थ गर्भित कर रखे हैं, उन्हें तुम स्पष्ट करके लोगोंको बतला दो। तुम भगवानका वही मनोरथ आज पूर्ण कर रहे हो। परन्तु यदि यही बात तुमसे कही जाय तो तुम्हारा चित्त प्रेमसे गद्गद हो जायगा।

इसी लिए हम लोग ये सब बातें तुमसे नहीं कह रहे हैं। तो भी इतना कह देना आव-श्यक है कि इस श्रवणसुखके द्वारा आज हम लोगोंको ज्ञान-रूपी नौका प्राप्त हुई है। अब तुम जल्दी हमें यह बतलाओ कि इसके उपरान्त श्री हरिने क्या कहा।" सन्तोंके ये वचन सुनते ही श्री निवृत्तिनाथके दास ज्ञानदेवने कहा—"हे श्रोतागण, सुनिये।" श्रीकृष्णदेवने कहा—"हे अर्जुन, तुम्हें अन्तमें जो लक्षण मैंने बतलाये हैं, वे सब अज्ञानके ही हैं। तुम इसी अज्ञानकी ओरसे मुँह मोड़कर ज्ञानके विषयमें दृढ़ निश्चय करो।" जब इस प्रकार ज्ञानका स्पष्टीकरण हो गया, तब अर्जुनको यह जाननेकी इच्छा हुई कि मनको उस ज्ञेयकी प्राप्ति कैसे होती है। उस समय सर्वान्तरसाक्षी श्रीकृष्णने उसका यह संकेत या अभिप्राय समझकर उससे कहा—"अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि ज्ञेय क्या है। सुनो।"

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥

"ब्रह्म वस्तुको लोग जो ज्ञेय कहते हैं, उसका कारण केवल यही है कि ज्ञानके सिवा और किसी उपायसे उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। और जिसका ज्ञान हो जाने पर फिर और कोई कार्य बाकी नहीं रह जाता, जिसका ज्ञान हो जाने पर उसीके साथ तद्रूपता उत्पन्न हो जाती है, जिसका ज्ञान हो जाने पर संसारको तीर पर रखकर ज्ञानी लोग नित्यानन्दके सागरमें गोता लगाकर उसीमें मिल जाते हैं, वह ज्ञेय ऐसा है कि उसका कोई आदि नहीं है (अर्थात् वह सनातन है)। परन्तु उसका कोई नाम भी होना चाहिए, इसलिए लोग उसे परब्रह्म कहते हैं। यदि कोई कहे कि वह है ही नहीं, तो हम कहते हैं कि वह विश्वके रूपमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। और यदि उसे विश्व कहें तो यह विश्व केवल मायिक और आभासवत है। जिसमें आकार, रंग आदि भेद, और दृश्यत्व तथा द्रष्टत्व आदि भाव ही न हों, उसके सम्बन्धमें भला कोई यह कैसे कह सकता है कि उसका अस्तित्व है ? और यदि वह वास्तवमें न हो, तब यह प्रश्न होता है कि उसके बिना महत्तत्वका स्फुरण कहाँसे और किससे होता है ? इसी लिए कहते हैं जिसका ज्ञान हो जाने पर "है" अथवा "नहीं है" का कोई झगड़ा या प्रश्न ही नहीं रह जाता और विचार शक्ति उसके पास तक पहुँच ही नहीं सकती, जो सभी पदार्थों और सभी आकारोंमें ठीक उसी प्रकार निवास करता है, जिस प्रकार हंडी, मटके और घड़े आदिमें पृथ्वी तत्व स्वयं उन्हीं पदार्थोंके आकारमें रहता है, स्थल और कालसे बिना भिन्न हुए समस्त स्थलों और समस्त कालोंमें जो क्रिया स्थूल और सूक्ष्म सभी भूतोंके द्वारा होती है, वह क्रिया जिस ब्रह्म-वस्तुके हाथमें है, उसी वस्तुको विश्व बाहु कहते हैं। और इसका कारण यही है कि वह ब्रह्म वस्तु ही सर्वाकार होकर सदा सब क्रियाएँ करती रहती है। और हे अर्जुन, वह वस्तु सभी स्थानोंमें और सदा एक साथ ही प्राप्त होती है और इसी लिए उसे विश्वांघ्रि भी कह सकते हैं। जिस

प्रकार सूर्यके बिम्बमें नेत्रके रूपमें कोई अलग अंग नहीं होता, बल्कि सारा बिम्ब ही प्रकाशके स्वरूप होता है, उसी प्रकार जो वस्तु अपने सारे स्वरूपसे विश्वकी द्रष्टा होती है (अर्थात् विश्वको प्रकाशमान् करके देखती है), उसी अ-चक्षु (अर्थात् नेत्र-हीन) ब्रह्म-वस्तुको वेदोंने अत्यन्त आदरपूर्वक "विश्वतश्चक्षु" के नामसे सम्बोधन किया है। विश्वके मस्तक पर जो सदा-सर्वदा आत्म-सत्तासे विराजमान रहता है, उसीको विश्वमूर्धा कहते हैं। जिस प्रकार अग्निकी सारी मूर्त्ति ही उसका मुख होती है, उसी प्रकार जो अपने सर्वस्वसे शेष भूत मात्रका उपभोग करता है, उसीको, हे अर्जुन, विश्वतोमुख कहना उचित होता है। और जिस प्रकार वस्तुओंसे आकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जो वस्तु शब्द मात्रमें व्याप्त रहती है, उसी ब्रह्मवस्तुको हम "सब कुछ सुननेवाला" कहते हैं। इसी प्रकार जो वस्तु समस्त विश्व में व्याप्त रहती है और सबको देखती रहती है, वही "विश्वतश्चक्षु" है। हे बुद्धिमान् अर्जुन, यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वेदों आदिने उसको "विश्वतश्चक्षु" कहकर उसका जो वर्णन किया है, वह केवल ब्रह्म-वस्तुकी व्यापकता दिखलानेके लिए और केवल रूपकके तौर पर किया है (अर्थात् अमूर्तका मूर्त्तिके रूपमें आलंकारिक वर्णन किया है)। बात यह है कि उस ब्रह्म-वस्तुमें वास्तवमें हाथ-पैर, आँख, आदि अंग बिलकुल नहीं हैं, इसलिए इन सबसे सम्बन्ध रखनेवाली बातें उसके लिए प्रयुक्त हो नहीं हो सकतीं। केवल यही नहीं, यदि शून्यत्व या अभावके रूपमें उसका वर्णन किया जाय तो वह वर्णन भी उसके लिए ठीक ठीक उपयुक्त नहीं होता। उदाहरणके लिए यदि हम यह बात किसी तरह समझ लें कि जलकी एक तरंगने दूसरी तरंगको निगल लिया, तो भी क्या उस निगलनेवाली और दूसरी निगली जानेवाली तरंगमें स्वरूपतः कोई भेद होता है? इसी प्रकार जब कि वह एक ब्रह्मवस्तु ही सत्य है, तो फिर उसमें व्याप्त करनेवाले और व्याप्त होनेवालेका भेद भला कहाँसे आ सकता है? परन्तु फिर भी केवल इसी लिए इस प्रकारका भेद करना पड़ता है कि कहने या समझानेमें सुभीता हो। देखो, यदि किसीको शून्य दिखलाना होता है तो इसके लिए एक बिन्दी बनानी या लिखनी पड़ती है। इसी प्रकार यदि शब्दोंके द्वारा अद्वैतका निरूपण करना हो तो द्वैतकी भाषाका प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। हे अर्जुन, यदि ऐसा न किया जाय जाय तो गुरु और शिष्यके सम्प्रदायका ही लोप हो जायगा और सब प्रकारके कथनोंका ही अन्त हो जायगा। इसी लिए वेदोंने अद्वैतका वर्णन करने के लिए द्वैतवाली आलंकारिक भाषाका प्रयोग करनेकी परिपाटी चलाई है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य होनेवाले जितने आकार हैं, उन सबमें वह ब्रह्म-वस्तु किस प्रकार व्याप्त है। सुनो।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥

"हे अर्जुन, इस प्रकार अवकाशको आकाश व्याप्त कर लेता है अथवा पटके रूपमें भासमान होकर जिस प्रकार तन्तु उस पटको व्याप्त किये रहते हैं, उसी प्रकार यह

ब्रह्म-वस्तु भी सारे विश्वको व्याप्त किये रहती है। उदकके रूपमें रस तत्व जिस प्रकार उदकमें रहता है, दीपकके रूपमें प्रकाश तत्व जिस प्रकार दीपकमें रहता है, कपूरके रूपमें गन्ध तत्व जिस प्रकार कपूरमें रहता है, शरीरके रूपमें कर्म तत्व जिस प्रकार शरीरमें रहता है, सारांश यह कि, हे अर्जुन, सोनेके कणमें जिस प्रकार सोना ही रहता है, उसी प्रकार वह ब्रह्म-वस्तु भी सर्व-स्वरूप होकर सबमें अन्दर और बाहर व्याप्त रहती है। परन्तु सोना जब तक रवेके रूपमें रहता है, तब तक हम उसे सोनेका रवा ही कहते हैं; परन्तु जब उसका वह रवेवाला रूप नष्ट हो जाता है, तब वह रवा ही सोना हो जाता है। अथवा प्रवाहका रूप भले ही टेढ़ा-तिरछा हो, परन्तु पानी फिर भी सदा सरल ही रहता है। अथवा जब अग्निसे तपाये जाने पर लोहा लाल हो जाता है, तब अग्नि कभी लोहा नहीं बन जाती। घटकेके गोल आकारके कारण उसमेंका आकाश भी गोल दिखाई देता है और झोपड़ीकी चौकोर बनावटके कारण वह चौकोर दिखाई देता है। परन्तु वह गोल अथवा चौकोर आकार वास्तवमें आकाशका नहीं होता। इसी प्रकार यदि ब्रह्मवस्तुमें किसी तरहका विकार दिखाई दे तो भी वास्तवमें वह कभी विकार-युक्त नहीं होता। हे अर्जुन, ऊपरसे देखनेमें ऐसा जान पड़ता है कि यह ब्रह्मवस्तु मन आदि इन्द्रियों और सत्व आदि तीनों गुणोंके कारण भिन्न भिन्न आकारोंके रूपमें दिखाई देती है। परन्तु जिस प्रकार गुड़की मिठास उसके भेलीवाले आकारमें नहीं होती, उसी प्रकार गुण तथा इन्द्रियाँ वास्तवमें असली ब्रह्म तत्व नहीं हैं। जब तक दूधका वास्तविक स्वरूप बना रहता है, तब तक घी भी उसी दूधके आकारमें रहता है, परन्तु फिर भी कोई यह नहीं कह सकता कि घी भी वही है जो दूध है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो कि गुण और इन्द्रियोंके कारण ब्रह्म-वस्तुमें जो विकार दिखाई देते हैं, उनके कारण वास्तवमें ब्रह्म-वस्तुमें कभी कोई विकार नहीं होता। सोने-को अनेक प्रकारके आकार देकर हम उन आकारोंको फूल-पत्ती आदि या अलग-अलग गहने आदि कहते हैं। परन्तु जो वास्तविक सोना होता है, वह चाहे जिस आकारमें रहे, सदा सोना ही रहता है। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, यदि हम सीधी-सादी और सबके समझने योग्य भाषामें कहें तो ब्रह्म-वस्तु वास्तवमें गुणों और इन्द्रियोंसे बिलकुल भिन्न और स्वतंत्र ही है। नाम और रूप आदि सम्बन्ध और जाति तथा क्रिया आदिके भेद आकारोंमें ही होते हैं और उन आकारोंके सम्बन्धमें जो बातें कही जाती हैं, वे ब्रह्मवस्तु पर ठीक नहीं घटतीं। यह ब्रह्म गुण नहीं है। उसमें तो गुणकी गन्ध भी नहीं होती। बात केवल इतनी ही है कि वे गुण ब्रह्ममें केवल भासमान् होते हैं। परन्तु, हे अर्जुन, इसी भास-मान् होनेके कारण मोहमें फँसे हुए लोग यह मानते हैं कि वे सब विकार ब्रह्ममें ही होते हैं। परन्तु ब्रह्ममें ये सब विकार उसी तरह होते हैं, जिस प्रकार आकाशमें बादल आते हैं अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्ब आता है अथवा पानी जिस प्रकार सूर्यका प्रतिबिम्ब धारण करता है अथवा किरणें मृग-जलका रूप धारण करती हैं। वह निर्गुण ब्रह्म भी सब प्रकारके विकारोंको बिना उसके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध रखे धारण करता है। परंतु ब्रह्ममें होनेवाले ये सब विकार निष्फल ही होते हैं और वे केवल दृष्टिको दिखाई देते हैं,

परन्तु वास्तवमें वे असत्य होते हैं। और निर्गुण जो गुणोंका भोग करता है, वह उसी प्रकार करता है, जिस प्रकार कोई दरिद्र व्यक्ति स्वप्नमें किसी राज्य पर शासन करता है। इसी लिए निर्गुणके सम्बन्धमें कभी यह नहीं कहना चाहिये कि गुणोंके साथ उसका किसी प्रकारका सम्बन्ध है अथवा वह गुणोंका उपभोग करता है।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

"हे अर्जुन, जो स्थावर और जंगम आदि सभी भूतोंमें रहता है और जो सभी पदार्थों तथा जीवोंमें उसी प्रकार शाश्वत रूपसे और सूक्ष्म अवस्थामें व्याप्त रहता है, जिस प्रकार अग्नियाँ चाहे भिन्न भिन्न हों, परन्तु उन सबमें उष्णता समान रूपसे वर्तमान रहती है, उसको इस प्रकरणमें "ज्ञेय" समझना चाहिए। जो केवल एक होने पर भी अन्दर और बाहर, पास और दूर सब जगह रहता है और जिसके स्वरूपमें कभी कोई अन्तर नहीं होता, वही "ज्ञेय" है।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥

"यह बात नहीं है कि क्षीर सागरका माधुर्य उसके गहरे और मध्य भागमें तो अधिक होता हो और किनारेके पास कम होता हो। उसी प्रकार जो सर्वत्र समान रूपसे व्याप्त रहता है, जो जारज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज्ज इन चारों प्रकारके जीवोंमें सदा पूर्ण रूपमें व्याप्त रहता है और फिर भी इस व्यापकताके कारण जिसकी स्थितिमें कभी कोई भाग या खंड नहीं होता, इसके सिवा, हे श्रोतृ-शिरोमणि अर्जुन, हजारों मटकोंके पानियोंमें चन्द्रमाके प्रकाशके प्रतिबिम्बित होने पर भी जिस प्रकार उस प्रकाश-में कभी किसी तरहका कोई भेद-भाव नहीं उत्पन्न होता अथवा नमककी सभी राशियों-में से प्रत्येक राशिमें व्याप्त रहनेवाला खारापन या नमकीनी एक ही प्रकारकी रहती है अथवा ऊखके पट्टेमेंके प्रत्येक ऊखमें एक ही प्रकारकी मधुरता रहती है, उसी प्रकार जो भिन्न भिन्न सभी भूतोंमें एक रूपसे वर्तमान रहता है, और हे, सुज्ञ अर्जुन, जो इस विश्व-रूपी कार्यका मूल कारण है और ये नाम-रूपात्मक भूत मात्र जिससे उसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार सागरसे तरंगें उत्पन्न होती हैं, उन सबका वह ब्रह्म उसी प्रकार आधार है, जिस प्रकार उन तरंगोंका आधार सागर होता है। जिस प्रकार बाल, तारुण्य और वृद्धत्व इन तीनों ही अवस्थाओंमें शरीर एक ही रहता है, उसी प्रकार भूत मात्रके आदि, मध्य और अवसान इन तीनों ही अवस्थाओंमें वह अभिन्न रूपसे रहता है। जिस प्रकार सन्ध्याकाल, प्रातःकाल और मध्याह्न आदि दिन-मानके क्रमशः चलते रहने पर भी आकाशमें कभी किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्ममें भी कभी किसी प्रकारका परिवर्तन नहीं होता। हे सखे अर्जुन, विश्वकी उत्पत्तिके समय जिसका नाम ब्रह्मा पड़ा था, विश्वकी स्थितिके समय जिसे विष्णु कहते हैं और अन्तमें इस नाम-रूपात्मक विश्वका लोप होनेके समय जिसे रुद्र कहते हैं और इन तीनों गुणोंके लुप्त हो जाने पर जो शून्यके रूपमें बाकी रह जाता है और जो गगनका शून्यत्व नष्ट करके और

सत्व आदि तीनों गुणोंका लोप करके शून्य रूपमें अवशिष्ट रह जाता है, वही वेदों द्वारा प्रतिपादित महाशून्य है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

"जो अग्निका प्रकाश और चन्द्रमाका प्रभा-रहस्य है, जिसके द्वारा सूर्यमें देखने की शक्ति आती है, जिसके तेजसे तारा-गण चमकते हैं और जिसके आधार पर महातेज सुखपूर्वक सारे संसारमें प्रकाशित होता है, जो आदिका भी आदि, वृद्धिकी भी वृद्धि करनेवाला, बुद्धिकी भी बुद्धि, जीवका भी जीव, मनका भी मन, नेत्रोंका भी नेत्र, कानोंका भी कान, वाचाकी भी वाचा, प्राणोंका भी प्राण, गतिके भी पैर, क्रियाकी भी क्रिया-शक्ति आकारोंका भी आकार, विस्तारोंका भी विस्तार, संहारोंका भी संहार पृथ्वीका भी पृथ्वी, जलका भी जल, तेजका भी तेज, वायुका भी श्वासोच्छ्वास और गगनका भी गगन है, अर्थात् हे अर्जुन, जो इन सबका चैतन्य बीज है और जिसके कारण इन सबका स्फुरण होता है, हे अर्जुन, जो एक मात्र होकर भी सबमें सर्व-स्वरूप है और जिसमें द्वैतकी गन्धका भी होना सम्भव नहीं है, जिसके दर्शन होते ही दृश्य और द्रष्टा आपसमें मिलकर एक-रस हो जाते हैं, वही ज्ञान होता है। फिर वही ज्ञान और ज्ञेय दोनों हो जाता है और ज्ञानके द्वारा लोग जिस स्थलको प्राप्त करना चाहते हैं, वह स्थल भी वही हो जाता है। जब कोई हिसाब ठीक तरहसे लग जाता है, तब उन भिन्न-भिन्न अंकोंमें कोई भिन्नता या भेद नहीं रह जाता, जिन अंकोंके द्वारा वह हिसाब लगाया जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उस ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, तब साध्य और साधन आदि सभी मिलकर एक हो जाते हैं। हे अर्जुन, जिसके विषयमें द्वैतका कोई उल्लेख ही नहीं किया जा सकता और जो सबके हृदयमें निवास करता है, वही ब्रह्म है।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

"हे सुज्ञ अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुमको पहले यह बात स्पष्ट करके बतला दी है कि क्षेत्र किसे कहते हैं। साथ ही क्षेत्रके प्रकरणमें ज्ञानके लक्षण भी बतला दिये हैं। फिर अज्ञानके स्वरूपका भी मैंने इतने विस्तारके साथ वर्णन किया है कि जिसे सुनते सुनते तुम चकित हो गये। और अब मैंने खूब अच्छी तरह और स्पष्ट करके तुम्हें ज्ञेयका स्वरूप भी बतला दिया है। हे अर्जुन, जब ये सब बातें बहुत अच्छी तरह समझमें आ जाती हैं, तब मेरे भक्तोंके मनमें मुझे प्राप्त करनेकी उत्कंठा उत्पन्न होती है। जो लोग शरीर आदि समस्त विषयोंका संन्यास या परित्याग करके अपने प्राण मेरी सेवामें अर्पित कर देते हैं, हे अर्जुन, वे मेरा ब्रह्म-स्वरूप पहचानकर अन्तमें अपना व्यक्तित्व भी भूल जाते हैं और मेरे रूपमें मिलकर मद्रूप हो जाते हैं। तुम यह बात अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो कि मैं तुम्हें मद्रूप होनेका बहुत सीधा उपाय बतला दिया है। जिस प्रकार शिखर

आदि पर चढ़नेके लिए सीढ़ियाँ बनानी पड़ती हैं अथवा ऊँचे होनेके लिए मंच बनाना पड़ता है अथवा बाढ़ आने पर डूबनेसे बचनेके लिए नावकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार सद्रूप होनेके लिए भी ये सब काम करने पड़ते हैं। नहीं तो हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, यदि केवल यह कह दिया जाय कि सब कुछ आत्मा ही है, तो इस प्रकारके कथनसे तुम्हारे मनको कभी सन्तोष न होगा। इसी लिए मैंने तुम्हारी बुद्धिकी मन्दताका ध्यान रखकर एक ही परब्रह्मके चार विभाग करके उन सबका अलग अलग वर्णन किया है। जिस प्रकार बच्चोंको भरमानेके लिए एक ही ग्रासके दस बीस अलग अलग छोटे छोटे ग्रास बनाने पड़ते हैं, उसी प्रकार मैंने एक ब्रह्मके चार विभाग करके उन सबका अलग अलग वर्णन किया है। तुम्हारी ग्रहण-शक्तिका अनुमान करके मैंने ब्रह्मके क्षेत्र, ज्ञान, ज्ञेय और अज्ञान ये चार विभाग किये हैं। और हे अर्जुन, यदि इतना करने पर भी यह व्यवस्था ठीक तरहसे तुम्हारी समझमें न आई हो तो मैं फिर एक बात तुमको बतलाता हूँ। परन्तु अब मैं ब्रह्मके ये चार विभाग नहीं करता और उन चारोंकी एकता-का भी प्रतिपादन नहीं करता, बल्कि आत्मा और अनात्माका एक साथ ही विचार करता हूँ। परन्तु मैं जो कुछ माँगता हूँ, वह देनेके लिए तुम्हें तैयार रहना चाहिए। मेरी माँग केवल यही है कि तुम खूब अच्छी तरह मन लगाकर और कान देकर मेरी बात सुनो।" श्रीकृष्णकी ये बातें सुनकर अर्जुनको मारे आनन्दके रोमांच हो आया। उस समय देवने कहा—"तुम शान्त हो और इस प्रकार प्रेमसे विह्वल मत हो जाओ।" इस प्रकार अर्जुनका हृदय भर आया, तब श्रीकृष्णने कहा—"अब मैं तुमको प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धकी कुछ बातें बतलाता हूँ। तत्वज्ञानके जिस सम्प्रदाय या प्रणालीको योगी लोग सांख्य योग कहते हैं और जिसका महत्व प्रसिद्ध करनेके लिए मैंने कपिलका अवतार धारण किया था, अब तुम प्रकृति और पुरुषका वही निर्दोष प्रसंग सुनो।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान्॥१९॥

"तुम यह बात समझ रखो कि दिन और रातकी जोड़ी की तरह पुरुष और प्रकृति ये दोनों भी अनादि हैं। हे अर्जुन, रूप मिथ्या नहीं है, परन्तु सच्चे रूपके साथ ही साथ उसकी छाया भी आती ही है। अथवा फसलके दानोंमें अनाजके कणोंके साथ साथ उसका भारी छिलका भी बराबर बढ़ता ही रहता है। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति दोनों एक दूसरेके साथ बहुत ही घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध हैं और उनका यह सम्बन्ध अनादि-सिद्ध है। इसी प्रकार "क्षेत्र" शब्दसे जो कुछ प्रदर्शित किया गया है, वह सब भी प्रकृति है। और इसलिए अब तुम्हें अलगसे यह बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती कि जो कुछ क्षेत्रज्ञ है, वह पुरुष ही है। यद्यपि इनके ये अलग अलग नाम हैं, तो भी इनमें निरूपणका जो तत्व है, वह एक ही है। यह बात भूल नहीं जानी चाहिए; और इसी लिए मैं बार बार तुमको बतलाता हूँ। हे अर्जुन, इसमें जो सत्ता अर्थात् सत्यका अंश है, उसीको पुरुष समझना चाहिए और उसके आधार पर होनेवाली क्रियाको प्रकृति समझना चाहिए। बुद्धि, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदि विकार उत्पन्न करनेवाली शक्ति और

सत्व आदि जो तीन गुण हैं, उन सबका समूह प्रकृतिसे ही हुआ है और वही सब प्रकार-की क्रियाओंका मूल है।

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥२०॥

"इस व्यवस्थामें प्रकृति सबसे पहले अहंकारके साथ साथ इच्छा और बुद्धि उत्पन्न करती है और तब उन्हें कारणकी धुनमें लगा देती है। फिर इस प्रकार आरम्भ किये हुए कर्मोंको सिद्ध करनेके लिए जो भिन्न भिन्न युक्तियोंके धागे और डोरे तानने पड़ते हैं, उन्हीं-का नाम कार्य है। फिर इच्छाके उन्मादके द्वारा वह प्रकृति मनको संचालित करती है और तब वह चलायमान मन इंद्रियोंको संचालित करता है। इसीको प्रकृतिका कर्तृत्व कहते हैं।" इसी लिए सिद्ध जनोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण कहते हैं कि कार्य, कर्तृत्व और कारण इन तीनोंका मूल केवल प्रकृति ही है। इस प्रकार इस त्रिपुटीके द्वारा प्रकृति कर्मोंका रूप धारण करती है, परन्तु सत्व आदि तीनों गुणोंमेंसे जिस गुणका विशेष उत्कर्ष हुआ रहता है, उसी गुणसे वह रँगी रहती है। जो कर्म सत्व गुणसे होते हैं, वे सत्कर्म कहलाते हैं; रजोगुणसे जो कर्म होते हैं, वे मध्यम कर्म कहलाते हैं; और जो कर्म केवल तमोगुणसे होते हैं, वे अधम कर्म होते हैं और उन सबको निषिद्ध समझना चाहिए। इस प्रकार भले और बुरे सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं और उन्हीं कर्मोंसे सुख तथा दुःख उत्पन्न होते हैं। दुष्ट या बुरे कर्मोंसे दुःख उत्पन्न होते हैं और सत्कर्मोंसे सुख उत्पन्न होते हैं; और पुरुष उन दोनोंका ही उपभोग करता है। जब तक ये सुख और दुःख सत्य-से जान पड़ते हैं, तब तक प्रकृति उन सुखों और दुःखोंकी उत्पत्तिका काम बराबर करती रहती है और पुरुष भी बराबर उन सबका उपभोग करता रहता है। यदि इन पुरुष और प्रकृति के घरकी व्यवस्था बतलाई जाय तो वह बहुत ही विचित्र है। इसमें स्त्री जो कुछ उपार्जन करती है, वह पति चुपचाप बैठा खाता है। ये पत्नी और पति कभी एक साथ मिलकर नहीं रहते और इनकी कभी ठीक तरहसे संगति नहीं होती। परन्तु फिर भी यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है कि उसी स्त्रीके पेटसे सारा संसार उत्पन्न होता है!

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥२१॥

"यह जो वर या पुरुष है, वह निराकार, निष्क्रिय, केवल, निर्गुण और पुराना, पुराना क्या बल्कि पुरानेसे भी पुराना है। उसको यों ही नाम मात्रके लिए पुरुष कहते हैं। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो वह स्त्री भी नहीं है और नपुंसक भी नहीं है। बल्कि सच तो यह है कि यह भी निश्चय नहीं है कि वह क्या है। उसे आँख, कान, हाथ, पैर, वर्ण, नाम आदि कुछ भी नहीं है। हे अर्जुन, इस प्रकार जिसके सम्बन्धमें यह कहा ही नहीं जा सकता कि उसे कुछ है, वही प्रकृतिका पति या पुरुष है और उस प्रकृतिके कारण उसके पति या पुरुषको भी सुख-दुःख आदि भोगने पड़ते हैं। स्वयं पति या पुरुष तो कुछ भी नहीं करता, क्योंकि वह बिलकुल उदासीन रहता है और उसे भोगकी कुछ भी वासना नहीं होती; परन्तु यह पतिव्रता प्रकृति ही बलपूर्वक उससे भोग भोगवाती है।

वह अपने रूप और गुणोंके कारण थोड़ी सी चुलबुलाहट दिखलाती है और जिस प्रकारके नाच चाहती है, उस प्रकारके नाच उसे नचाती है। उस प्रकृतिका नाम ही गुणमयी है; बल्कि कहा जा सकता है कि वह गुणोंकी प्रत्यक्ष मूर्त्ति ही है। वह क्षण क्षण पर अपने रूप और गुणोंके नये नये ढंग दिखलाती है और उसीके कारण जड़ पदार्थ भी मत्त हो जाते हैं। यही नामोंको प्रसिद्ध करती है, यही प्रेमको प्रेमपूर्ण बनाती है और यही इन्द्रियोंको जगाती है। इस मनको हम नपुंसक कैसे कहें? क्योंकि यह प्रकृति इस मनको तीनों लोकोंके भोग भोगवाती है। इस स्त्रीका चरित्र कुछ ऐसा ही विलक्षण है। यह भ्रमका असीम प्रदेश है, अमर्यादाकी मूर्त्ति है और सभी प्रकारके विकार उत्पन्न करती है। यह वासना रूपी वल्लीकी वह छतरी या मंडप है जिस पर वह बेल चढ़ती और फलती-फूलती है; यह भ्रान्तिके वनकी वसन्त-लक्ष्मी है और इसी लिए इसका सुप्रसिद्ध नाम दैवी माया रखा गया है। शब्द-सृष्टिका विस्तार यही करती है, नाम रूपात्मक जगत् की सृष्टि भी यही करती है और सब प्रकारके प्रपंचोंकी रचना भी बराबर यही करती रहती है। कला, विद्या, इच्छा, ज्ञान और क्रिया आदि सबकी उत्पत्ति इसीसे होती है। नाद रूपी सिक्के ढालनेवाली टकसाल यही है, चमत्कारका मंदिर भी यही है, यहाँ तक कि सारे विश्वके नाटककी रचना भी इसीने की है। विश्वकी उत्पत्ति और लय मानों इस प्रकृतिकी प्रातः संध्या और सायं संध्या है। तात्पर्य यह कि यह प्रकृति एक अद्भुत मोहिनी है। यह अद्वैतकी जोड़ीदार है और संग-रहितोंकी रिश्तेदार है, क्योंकि यह शून्यमें घर बनाकर उसीमें आनन्दपूर्वक निवास करती है। इसकी सामर्थ्यका विस्तार इतना अधिक है कि जिस पुरुषका सहसा आकलन भी नहीं किया जा सकता, उसी पुरुषको यह अपने वशमें करके रखती है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो उस पुरुषमें कुछ भी नहीं है और वह पूर्ण रूपसे उदासीन रहता है। परन्तु यह प्रकृति स्वयं ही उसका सब कुछ बन जाती है। उस स्वयंभूकी उत्पत्ति, उस निराकारकी मूर्त्ति और स्थिति यह प्रकृति ही होती है। यह प्रकृति ही उस वासना-रहितकी वासना, स्वयंपूर्णका सन्तोष, अजातकी जाति और गोत्र, अनामीका नाम, अजन्माका जन्म, निष्कर्मीका कर्म, निर्गुणका गुण, चरणहीनके चरण, अकर्णके कान, नयनहीनके नेत्र, अभावका भाव, अवयव रहितके अवयव, यहाँ तक कि उस पुरुषका सब कुछ यह प्रकृति आप ही बन जाती है। इस प्रकार इस प्रकृतिके व्यापक विस्तारके कारण वह विकार-हीन पुरुष भी विकारोंसे लिप्त हो जाता है। इस पुरुषमें जो पुरुषत्व रहता है, वह केवल इस प्रकृतिके अस्तित्वके ही कारण होता है। जिस प्रकार अमावस्याके हाथमें पड़ने पर चंद्रमा भी काला हो जाता है अथवा बहुत ही खरे सोनेमें भी रत्ती भर राँगा या जस्ता आदि मिलाने पर उस सारे सोनेका कस हलका होकर पन्द्रहसे पाँच पर आ पहुँचता है अथवा जिस प्रकार पिशाचका संचार होने पर सज्जन पुरुष भी निन्दनीय तथा घृणित आचार व्यवहार करने लगता है अथवा मेघोंकी संगतिके कारण सुदिन भी दुर्दिन हो जाता है अथवा जिस प्रकार पशुके पेटके अन्दर दूध छिपा रहता है अथवा लकड़ीके अन्दर अग्नि दबी रहती है अथवा रत्नदीप वस्त्रसे ढका रहता है अथवा राजा जैसे दूसरे आदमियोंके फेरमें पड़ जाता है अथवा

सिंह किसी रोगसे जर्जर हो जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृतिकी संगतिमें पड़कर पुरुष भी अपना सारा तेज गँवा बैठता है। जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य एक क्रमसे निद्राके वशमें होकर स्वप्नकी वासनाओंके चक्करमें पड़ जाता है, उसी प्रकार इस प्रकृतिके संसर्गके कारण पुरुषको भी गुणोंका भोग भोगना पड़ता है। जिस प्रकार विरक्त पुरुष भी स्त्रीके योगसे सांसारिक बन्धनोंसे जकड़ा जाता है, उसी प्रकार यह जन्म-रहित, शाश्वत पुरुष भी प्रकृतिके योगसे अनेक प्रकारके बन्धनोंमें बँध जाता है और गुणोंके संगके कारण उस पर भी जन्म और मृत्युके वार होते रहते हैं। परन्तु हे अर्जुन, यह बात कुछ उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार तपाये हुए लोहे पर घनकी जो चोटें पड़ती हैं, उनके सम्बन्धमें साधारण लोग यही समझते हैं कि ये चोटें अग्नि पर पड़ती हैं; अथवा जिस प्रकार पानीके हिलने पर उसमें चन्द्रमाके एक प्रतिबिम्बके बदलेमें अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ते हैं, और उन प्रतिबिम्बोंके अनेकत्वका अविचारी लोग उस प्रतिबिम्बित होनेवाले चन्द्रमामें आरोप करते हैं। अथवा जिस प्रकार दर्पणके बहुत समीप होने पर प्रतिबिम्बके कारण उसमें एकके बदले दो मुख दिखाई पड़ते हैं अथवा कुंकुम लग जानेके कारण स्वच्छ स्फटिकमें भी कुछ लाली और कुछ कालिमा दिखाई देने लगती है, उसी प्रकार गुणोंके संगके कारण ऐसा ज्ञान पड़ता है कि उस अजन्माके भी अनेक जन्म होते हैं। परन्तु जब गुणोंके साथ उसका संग नहीं होता, तब यह बात नहीं होती। यों तो संन्यासी जाति-हीन होता है, परन्तु कभी कभी स्वप्नमें उसे इस प्रकारका भी भास हो सकता है कि मैं अन्त्यज आदि किसी जातिका हूँ। इसी प्रकार तुम समझ लो कि उस पुरुषके सम्बन्धमें भी ऐसा भास होता है कि वह उच्च और नीच योनियोंमें आता जाता है। इसी लिए वास्तवमें वह केवल-रूपी और निस्संग पुरुष कभी किसी प्रकारका भोग नहीं भोगता। इस भोग-प्रकरणका सारा मूल बीज गुणोंका संग ही है।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

"जूहीकी बेलको सँभाले रहनेवाला खम्भा जिस प्रकार बिलकुल सीधा खड़ा रहता है, उसी प्रकार यह पुरुष भी प्रकृतिकी मायामें सदा बिलकुल सीधा खड़ा रहता है। इसमें और प्रकृतिमें आकाश और पातालका अन्तर है। प्रकृति रूपी नदीके तट पर पुरुष मेरु पर्वतके समान रहता है। प्रकृतिका तो जन्म और नाश होता रहता है, परन्तु पुरुष शाश्वत होता है और इसीलिए वह ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़ों तक सभीका शास्ता और नियन्ता होता है। प्रकृतिको इसी पुरुषसे जीवनकी प्राप्ति होती है और इसीकी सामर्थ्यसे वह संसारकी उत्पत्ति करती है। यही प्रकृतिका भर्ता है। हे अर्जुन, कालके अखंड प्रवाहमें प्रकृति जो जो सृष्टियाँ उत्पन्न करती रहती है, वे सब कल्पान्तके समय इसी पुरुषके पेटमें लीन हो जाती हैं। यह महद्ब्रह्म उस प्रकृतिका स्वामी है और इसी ब्रह्मांडके सब सूत्र इसी महद्ब्रह्मके हाथमें रहते हैं। इसकी व्यापकता इतनी असीम है कि वह इन समस्त प्रपंचोंका माप कर सकता है। इस शरीरमें रहनेवाली जिस वस्तुको लोग

परमात्मा कहते हैं, वह यही पुरुष है। हे अर्जुन, लोग जो यह कहा करते हैं कि इस प्रकृतिसे परे एक और वस्तु है, वह वस्तु वास्तवमें यही पुरुष है।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥

जो मनुष्य इस पुरुषका स्वरूप स्पष्ट रूपसे जानता है और साथ ही जो इस बातका भी ध्यान रखता है कि त्रिगुणात्मक सृष्टि इसी प्रकृति रूपी मायासे उत्पन्न हुई है और हे अर्जुन, जो इस प्रकारका निर्णय कर सकता है कि यह मूल वस्तु है और यह उसका प्रतिबिम्ब है और यह माया-रूपी पानी या मृग-जल है और इस प्रकार जो प्रकृति और पुरुषकी व्यवस्था खूब अच्छी तरह समझ लेता है, वह मनुष्य इस देह-प्राप्तिके कारण भले ही सब प्रकारके कर्म किया करे, परन्तु फिर भी वह कर्मोंसे ठीक उसी प्रकार अलग और निर्लिप्त रहता है, जिस प्रकार आकाश कभी धूलसे मैला नहीं होता और सदा उससे अलग और निर्लिप्त रहता है। जब तक उसका यह शरीर रहता है, तब तक वह कभी इस शरीरके मोहमें नहीं फँसता; और जब उसका देह-पात होता है, तब फिर दोबारा उसका जन्म भी नहीं होता। इसलिए प्रकृति और पुरुषका जो विवेक इतने अधिक कल्याणका साधन करनेवाला है, वह विवेक या विचार तुम सदा करते रहो। ऐसे अनेक उपाय हैं जिनसे इस विवेकका अन्तःकरणमें सूर्यके प्रकाशके समान उदय हो। अब वे उपाय मैं तुमको बतलाता हूँ; सुनो।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

"हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, कुछ लोग विचारकी आग सुलगाकर आत्मा और अनात्माके हलके सोने पर ज्ञानका अच्छा सोना चढ़ाते हैं और इस प्रकार भिन्न भिन्न छत्तीस कसोंके भेद बिलकुल मिटाकर उसमेंसे ब्रह्म-तत्वमें निर्मल सोना ढूँढ़ निकालते हैं। और तब वे आत्म-ध्यानकी दृष्टिसे उस ब्रह्म-तत्वमें स्वयं अपने आपको ही देखने लगते हैं। कुछ लोग दैव-वशात् सांख्य योगके अनुसार ब्रह्म-तत्वकी ओर ध्यान लगाते हैं और कुछ लोग कर्मको अंगीकार करके उस साध्यकी साधना करते हैं।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

"इस प्रकार यह बात ठीक है कि लोग भिन्न भिन्न मार्गोंसे इस भव-भ्रमके चक्करसे बाहर निकलते हैं। परन्तु कुछ लोग ऐसा भी करते हैं कि सब प्रकारका अभिमान छोड़कर श्रद्धापूर्वक किसीके उपदेशको अपना आधार और आश्रय बना लेते हैं। जिन सत्पुरुषोंको हित और अहित स्पष्ट रूपसे दिखाई देता है, जो परम दयालु होते हैं, जो दूसरोंसे पूछ-पूछकर उनके क्लेश हरण करते हैं और उन्हें सुख देते हैं, उन सत्पुरुषोंके मुखसे जो उपदेश निकलते हैं, वे उपदेश वे लोग बहुत ही शुद्ध आदरपूर्वक तथा श्रद्धासे सुनकर अपनी मनोवृत्ति तद्रूप करते हैं। वे श्रद्धापूर्वक यह बात मानते हैं कि इस उपदेश-श्रवणमें ही सब कुछ है और उपदेशोंके अक्षरोंके अनुसार पूरा पूरा आचरण करते हैं।

हे अर्जुन, इस प्रकारके श्रद्धावान् श्रवण-मार्गी भी इस जन्म मरणके सागरसे अच्छी तरह उस पार पहुँचकर सुरक्षित हो जाते हैं। इसलिए उस एक ही ब्रह्मको प्राप्त करनेके अनेक भिन्न भिन्न मार्ग हैं। परन्तु इन सब बातोंका बहुत कुछ विस्तार हो चुका। इस प्रकारके सारे मन्थनसे महासिद्धान्तका जो सारभूत नवनीत निकलता है, वही अब मैं तुम्हारे हाथ पर रख देना चाहता हूँ और उसीसे सब काम हो जायेंगे। हे अर्जुन, इतनेसे ही तुम्हें बहुत सहजमें ब्रह्मका अनुभव हो जायगा और तुम्हारे लिए और किसी प्रकारका आयास करनेकी आवश्यकता न रह जायगी। इसी लिए अब मैं उसी बातका विवेचन करता हूँ और नाना प्रकारके मतोंके वाद तोड़कर सबके अन्दरका बिलकुल शुद्ध और सत्य सिद्धान्त तुमको बतलाता हूँ।

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

मैंने क्षेत्रज्ञ नामका जो आत्म-तत्व तुम्हें बतलाया है और जिन सबको क्षेत्र बतलाया है, उन दोनोंके सम्मेलनसे ही भूत मात्रकी उत्पत्ति हुई है। जिस प्रकार वायुके संयोगसे पानीमें लहरें उठती हैं और सूर्यके तेज और रेतीली जमीनके संयोगसे मृगजलकी लहरोंका आभास होता है अथवा मेघकी धाराके पृथ्वी पर बरसनेसे जैसे अनेक प्रकारकी वनस्पतियोंके अंकुर उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार वे सब स्थावर और जंगम, जिन्हें हम लोग जीव कहते हैं, इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके योगसे उत्पन्न होते हैं। इसलिए हे अर्जुन, इनमेंसे जो प्रधान या मुख्य तत्व क्षेत्रज्ञ है, उससे यह नाम-रूपात्मक भूत सृष्टि अलग नहीं है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

"पटत्व वास्तवमें तन्तु नहीं है, परन्तु फिर भी उसका भास तन्तुओंके ही कारण होता है। इसी प्रकार इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी एकताको बहुत गम्भीर दृष्टिसे देखना चाहिए। तुम्हें इस बातका अनुभव करना चाहिए कि ये सब भूत उस एकके ही अनेक रूप हैं और वे सब वास्तवमें एक ही हैं। इन सब भूतोंके अलग अलग नाम हैं और इनकी स्थिति-गति और इनके रूप-रंग सब अलग अलग दिखाई देते हैं। परन्तु हे अर्जुन, यदि ये सब विभेद देखकर तुम अपने मनमें भेद-भावको स्थान दोगे तो फिर करोड़ों जन्म धारण करने पर भी इस संसारसे कभी बाहर न हो सकोगे। जिस प्रकार तूँबी या लौकीकी बेलमें लम्बे, टेढ़े और गोल आदि अनेक प्रकारके उपयोगमें आनेवाले फल लगते हैं अथवा जिस प्रकार बेरके फल चाहे टेढ़े-तिरछे और बेढंगे हों और चाहे सरल हों परन्तु फिर भी वे बेरके ही फल कहे जाते हैं और उनका नाम नहीं बदलता. उसी प्रकार भूत चाहे कितने ही भिन्न भिन्न आकार और प्रकारके क्यों न हों, परन्तु उन सब भूतोंका आधार और मूल कारण जो परम वस्तु है, वह बिलकुल सरल और सीधी-सादी ही है। अंगारोंके कण चाहे कितने ही अधिक भिन्न भिन्न क्यों न हों, परन्तु जिस प्रकार उष्णता उन सबमें समान ही होती है, उसी प्रकार जीव चाहे कितने

ही अधिक प्रकारके क्यों न हों, परन्तु फिर भी परमात्मा एक-रूप है। पावसकी धाराएँ चाहे आकाश भरमें क्यों न फैली हुई हों, परन्तु जल उन सबमें एक-रूप ही रहता है। ठीक इसी प्रकार सब भूतोंके भिन्न भिन्न आकारोंमें वह परमात्मा भी सब जगह समान रूपसे रहता है। भूतोंका यह समुदाय चाहे भिन्न भिन्न रूप-रंगोंका क्यों न हो, परन्तु फिर भी उन सबसे वह परमात्मा उसी प्रकार समान रूपसे रहता है, जिस प्रकार घट और मठ आदि सबमें आकाश समान रूपसे रहता है। जिस प्रकार बाहु-भूषण आदि अलंकार अलग अलग बनावटके और समय समय पर बदलते रहनेवाले होते हैं, परन्तु उनमेंका सोना सदा सोना ही रहता है और कभी बदलता नहीं, उसी प्रकार यद्यपि भासमान होनेवाला भूतोंका नाम-रूपोंवाला यह खेल नश्वर है, परन्तु फिर भी उन सबमें निवास करनेवाली आत्मा शाश्वत ही है। इस प्रकार जो मनुष्य आत्म-तत्वको जीव-धर्मसे अलिप्त परन्तु फिर भी जीवसे अभिन्न समझता है, उसीको समस्त ज्ञानियोंमें वास्तविक नेत्रोंवाला और वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिए। हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, वह पुरुष ज्ञानकी दृष्टि ही होता है और उसे समस्त देखनेवालोंमेंसे वास्तविक देखनेवाला समझना चाहिए। यह स्तुति कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वह मनुष्य वास्तवमें बहुत बड़ा भाग्यशाली होता है।

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

"यह शरीर गुणों और इन्द्रियोंकी थैली है और इसमें कफ, वात और पित्त तीनों धातुओंका त्रिकूट है। इसीमें पाँचों महाभूतोंका मिश्रण हुआ है और यह बहुत ही भयंकर है। स्पष्टतः यह पाँच डंकोंवाले बिच्छूके समान है अथवा इसे पाँच तरफोंसे सुलगनेवाली भयंकर आग ही समझना चाहिए। अथवा इस जीव रूपी हिंसक सिंहको मानों गरीब हिरनोंके रहनेकी जगह ही मिल गई है। इस प्रकारके शरीरमें रहकर भला कौन ऐसा होगा जो नित्य बुद्धिकी छुरी अनित्य भावके पेटमें भोंककर निश्चिन्त न हो जायगा? परन्तु हे अर्जुन, जो मनुष्य ज्ञानी होता है, वह जब तक इस शरीरमें निवास करता है, तब तक कभी आत्माका घात नहीं करता और शरीर-पात होने पर वह उसी आत्म-तत्वमें मिलकर एक-रूप हो जाता है। योगी-जन अपने योग-ज्ञानकी सामर्थ्यसे करोड़ों जन्मोंको उल्लंघन करके जिस स्थानमें प्रवेश करते हैं और कहते हैं कि हम इस स्थानसे फिर निकलकर बाहर नहीं जायँगे, जो नाम-रूपात्मक भूत सृष्टिसे परे या उस पार है, जो नादके उस पारका और तुरीयावस्थाका जन्मस्थान है, जिसे परब्रह्म कहते हैं, जिसमें उसी प्रकार मोक्ष आदि समस्त परम गति लीन हो जाती है, जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्रमें लीन हो जाती हैं, उस परब्रह्मकी प्राप्तिका आनन्द और सुख आपसे आप उन लोगोंके चरण धोनेके लिए आ पहुँचता है जो भूतोंके भेद-भावको अपने मनमें स्थान नहीं देते और आत्म-बुद्धिके द्वारा सबके साथ सम भावसे व्यवहार करते हैं जिस प्रकार करोड़ों दीपकोंमें तेज एक-सा और सम भावसे निवास करता है, उसी प्रकार वह अनादि

परमात्मा भी सदा और सर्वत्र समान रूपसे निवास करता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अपनी जीवन-अवस्थामें ही इस प्रकारकी समताका अनुभव करता है, वह फिर कभी जन्म और मरणके बन्धनमें नहीं पड़ता इसी लिए मैं भी उस भगवान् पुरुषको बार बार स्तुति करता हूँ, क्योंकि उसकी दृष्टि सदा सम भाव पर ही लगी रहती है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥

"जो मनुष्य सचमुच और अच्छी तरह यह बात जानता है कि मन और बुद्धि आदि समस्त कर्मेन्द्रियोंके द्वारा प्रकृति ही सब कर्म करती है, जो यह जानता है कि जिस तरह घरमें रहनेवाले आदमी ही सब काम धन्धे करते हैं और स्वयं घर कोई काम नहीं करता अथवा जिस प्रकार आकाशमें मेघ तो खूब मनमाना संचार करते हैं, परन्तु स्वयं आकाश हिलता-डुलता नहीं, उसी प्रकार प्रकृति भी आत्माके तेजसे और त्रिगुणोंकी सहायतासे अनेक प्रकारके खेल खेलती है, परन्तु उन खेलोंमें आत्मा केवल केन्द्रीय स्तम्भकी भाँति उदासीन रहती है और वह इन सब खेलोंको बिलकुल जानती ही नहीं; और इस प्रकारके निश्चित ज्ञानका प्रकाश जिसके अन्तःकरण पर पड़ा हो, उसीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि उसे इसी कर्तृत्वहीन आत्माका वास्तविक तत्व ज्ञात है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥३०॥

"हे अर्जुन, यदि वास्तवमें देखा जाय तो जिस समय मनुष्यकी दृष्टिमें भूत-संघकी आकृतियोंको नामत्व या भेद नहीं रह जाता और वे सब आकृतियाँ एक-रूप दिखाई देने लगती हैं, उसी समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ब्रह्म-स्वरूप ही हैं। जिस प्रकार पानीमें लहरें, स्थलमें पार्थिव द्रव्योंके कण, रवि-मंडलमें किरणें, शरीरमें अवयव, मनमें भिन्न भिन्न भाव अथवा एक ही अग्निमें अनेक साकार चिनगारियाँ होती हैं, ठीक उसी प्रकार जब ज्ञान-दृष्टिको यह दिखलाई पड़ने लगता है कि ये सब भूताकार उस एक ही आत्माके हैं, तभी मनुष्यको ब्रह्म-सम्पत्तिका जहाज हाथ आता है। उस समय मनुष्य जिधर देखता है, उधर ही उसे केवल ब्रह्मका स्वरूप दिखाई देता है और उससे अपरम्पार सुखकी प्राप्ति होती है। हे अर्जुन, केवल इतना ही विवेचन करके मैंने तुम्हें प्रकृति और पुरुषकी व्यवस्था समझा दी है और उसकी प्रत्येक दिशाका यथा-स्थित अवस्थान दिखला दिया है। तुम यह समझ लो कि जिस प्रकार अमृतका चुल्लू प्राप्त होता है अथवा कहीं छिपाकर रखा हुआ धन दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार तुम्हें यह परम योग्यताका लाभ हुआ है। परन्तु हे अर्जुन, जब तक तुम्हें इस बातका ठीक ठीक अनुभव न हो जाय, तब तक तुम्हारे मनमें इसका दृढ़ निश्चय नहीं हो सकता। तो भी मैं तुमको महत्वकी एक दो बातें बतला देना चाहता हूँ। परन्तु पहले तुम अपना ध्यान मेरी ओर करो और तब मेरी बातें सुनो।" जब श्रीकृष्ण ये सब बातें कहकर और आगेकी बातें कहने लगे, तब अर्जुन भी चित्तको एकाग्र करके सुनने लगा।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, जिसे परमात्मा कहते हैं, वह ऐसा है, जैसा वह सूर्य जिसका प्रतिबिम्ब तो पानीमें पड़ता है, परन्तु फिर भी जिस पर उस पानीका लेप नहीं होता। और इसका कारण यह है कि सूर्य तो पानीके होनेसे पहले भी था और उसके बाद भी रहेगा; और हे अर्जुन, केवल बीचवाले समयमें वह प्रतिबिम्बके रूपमें दूसरे लोगोंको पानीमें पड़ा हुआ जान पड़ता है, परन्तु वह स्वयं जैसेका तैसा रहता है। इसी प्रकार यह कहना भी ठीक नहीं है कि आत्मा शरीरमें रहती है, क्योंकि वह तो सदा जहांकी तहाँ, स्वयं अपने आपमें और अपने स्थान पर रहती है। जिस प्रकार दर्पणमें प्रतिबिम्ब पड़ने पर लोग कहते हैं कि दर्पणमें मुख है, उसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि शरीरमें आत्मा रहती है। यह कहना बिलकुल निरर्थक है कि आत्माके साथ शरीर-का सम्बन्ध होता है। भला क्या कभी वायु और बालूका भी संयोग हो सकता है? भला वह ऐसा कौन-सा डोरा है जिसमें आग और कपास दोनोंको एक साथ ही पिरो या बाँध सकें? आकाश और पाषाणका सम्बन्ध भला कैसे बैठाया जा सकता है? इनमेंसे एककी गति पूर्वकी ओर है और दूसरेकी पश्चिमकी ओर। बस शरीर और आत्माका भी उसी प्रकारका सम्बन्ध है जिस प्रकार दो विपरीत दिशाओंमें जानेवाले यात्रियोंका मार्गमें आमना-सामना हो जाता है। प्रकाश और अन्धकार या जीवित और मृतमें जितनी समानता है, उतनी ही समानता शरीर और आत्मामें भी है। रात और दिन या सोने और कपासमें जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर शरीर और आत्मामें भी है। यह शरीर पांच भूतोंसे बना हुआ है, कर्मके बन्धनोंसे जकड़ा हुआ है और जन्म तथा मृत्युके चक्कर पर सदा घूमता रहता है। काल रूपी अग्निके मुखमें पड़ी हुई मक्खनकी छोटी-सी गोलीके ही समान शरीर है। मक्खीको पंख झाड़नेमें जितनी देर लगती है, उतनी ही देरमें इसका नाश हो जाता है। यदि यह शरीर संयोगसे आगमें पड़ जायगा तब तो भस्म ही हो जायगा; पर यदि कहीं कौओं और कुत्तोंके हाथमें जा पड़ा तो फिर यह विष्ठाके ही रूपमें होकर रहेगा। और यदि इन दोनोंमेंसे एक भी बात न हुई तो फिर यह कीड़ोंकी राशि हो जायगा। परन्तु हे अर्जुन, शरीरका इनमेंसे चाहे जो परिणाम हो, परन्तु वह होता बुरा ही है। बस यही इस शरीरकी कहानी है। परन्तु आत्मा ऐसी है कि वह अनादि होनेके कारण शाश्वत और स्वयंपूर्ण है। वह निर्गुण होनेके कारण न तो कला-सहित या पूर्ण ही है और न कला-रहित या अपूर्ण ही है। वह अक्रिय भी नहीं है और सक्रिय भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है और स्थूल भी नहीं है। वह अरूप है, इसलिए हम उसे आभास अथवा निराभास, प्रकाश अथवा अप्रकाश, अल्प अथवा विस्तृत आदि कुछ भी नहीं कह सकते। वह शून्य स्वरूप है और इसी लिए वह खोखली भी नहीं है और ठोस भी नहीं है, किसीके सहित भी नहीं है और किसीसे विरहित भी नहीं है, मूर्तिमान भी नहीं है और अमूर्त भी नहीं है। वह केवल आत्म-रूप है और इसी लिए उसमें आनन्द भी नहीं है और आनन्दका अभाव भी नहीं है, एकता भी

नहीं है और अनेकता भी नहीं है, वह मुक्त भी नहीं है और बद्ध भी नहीं है। वह अलक्ष्य है, इस लिए उसके सम्बन्धमें यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह इतनी है या उतनी है, वह आपसे आप बनी हुई है या किसीकी बनाई हुई है और बोलती है अथवा गूँगी है। न तो वह सृष्टिके साथ उत्पन्न ही होती है और न उसके संहारके साथ उसका नाश ही होता है, क्योंकि वह उत्पत्ति और नाश दोनोंका लय-स्थान है। वह अव्यय है और इस लिए न तो वह नापी ही जा सकती है और न उसका वर्णन ही किया जा सकता है; वह न तो बढ़ती ही है और न घटती ही है, न वह फैली हो पड़ती है और न कभी समाप्त ही होती है। ऐसी अवस्थामें जब कि आत्माका स्वरूप ऐसा है, तब जो लोग यह कहते हैं कि वह शरीरमें रहती है, उनका कथन, हे सखे अर्जुन, वैसा ही है, जैसा मठके आकारके अनुसार आकाशका नामकरण करना। आत्मा भी उसी आकाशकी तरह सर्वव्यापक है। शरीरकी आकृतियाँ तो बनती-बिगड़ती रहती हैं, परन्तु आत्मा सदा ज्योंकी त्यों रहती है। जिस प्रकार दिन और रातका सदा आना-जाना लगा रहता है, उसी प्रकार आत्माकी सत्तासे शरीर भी सदा बनते और नष्ट होते रहते हैं। इसीलिए वह आत्मा इस शरीरमें रहने पर भी न तो कुछ कराती ही है और न करती ही है, और न सामने आये हुए कर्मोंके साथ ही उसका किसी प्रकारका सम्बन्ध होता है। इसी लिए उसके स्वरूपमें न तो कभी किसी प्रकारकी त्रुटि ही होती है और न पूर्णता ही आती है; और वह शरीरमें रहने पर भी शरीरके भावोंसे कभी लिप्त नहीं होती।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥

"कभी ऐसा नहीं होता कि आकाश किसी स्थान पर न हो, परन्तु फिर भी किसी स्थानका मल या दोष कभी उसको मलिन या दूषित नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्मा भी सभी स्थानों और सभी शरीरमें ओत-प्रोत है, परन्तु फिर भी वह कभी किसी स्थान अथवा शरीरके संग-दोषके कारण मलिन नहीं होती। मैं बार बार इस लक्षणको इसलिए स्पष्ट करता हूँ कि तुम्हारी समझमें यह बात अच्छी तरह आ जाय कि क्षेत्रज्ञ वास्तवमें क्षेत्र-हीन है।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

"चुम्बक पत्थरका संसर्ग होनेके कारण लोहा हिलता है, परन्तु लोहा कभी चुम्बक पत्थर नहीं हो जाता। ठीक यही बात क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धमें भी है। दीपकके प्रकाशमें घरके सब काम-काज होते हैं, परन्तु फिर भी दीपक और घरमें अपार अन्तर है। हे अर्जुन, लकड़ीके अन्दर अग्नि रहती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अग्नि ही लकड़ी है। बस इसी दृष्टिसे क्षेत्रज्ञका भी विचार करना चाहिए। आकाश और मेघ या सूर्य और मृग-जलमें जो अन्तर है, अच्छी तरह विचार करने पर यह बात समझमें आ जाती है कि क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रमें भी वही अन्तर है। परन्तु इस विषयकी अभेद्य बातें

हो चुकी। आकाशमें रहनेवाला सूर्य जिस प्रकार भिन्न भिन्न समस्त भुवनोंको प्रकाशित करता है, उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ भी भासमान होनेवाले समस्त क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है। अब इस प्रकार और कोई प्रश्न या शंका करनेकी जगह बाकी नहीं रह जाती।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्॥३४॥

"जिस बुद्धिको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके अन्तरका ज्ञान हो जाता है, वही बुद्धि वास्तवमें दृष्टिसे युक्त होती है और वही शब्दार्थका ठीक ठीक सारांश ग्रहण करती है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका भेद जाननेके लिए ही बड़े बड़े बुद्धिमान् लोग ज्ञानी जनोंके द्वारकी पूजा करते और उनका आश्रय लेते हैं। इसीकी प्राप्तिके लिए सन्त लोग शान्ति रूपी धनका संचय करते हैं और शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं। इसी ज्ञानकी आशासे कुछ लोग योगाभ्याससे आकाशमें उड़नेका साहस करते हैं। कुछ लोग शरीर आदि समस्त परिग्रहोंको तिनकेके समान समझकर सन्तोंकी चरण-सेवामें रत होते हैं। इस प्रकार लोग भिन्न भिन्न मार्गोंसे ज्ञानकी लालसासे प्रेरित होकर आगे बढ़नेका प्रयत्न करते हैं। फिर इस प्रकारके प्रयत्नोंके द्वारा जो लोग सचमुच क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के भेदका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनकी मैं बड़े प्रेमसे आरती करता हूँ। और महाभूत आदिके अनेक भेद-भावोंसे युक्त जो यह मायावी प्रकृति विस्तृत है, जो शुक-नलिका न्यायसे वास्तवमें बन्धक न होने पर भी अपनी अपनी भावनाओंके अनुसार उन लोगोंके लिए बन्धक होती है, जो अपने अन्तःकरणमें यह बात उसी प्रकार पूरी तरहसे समझ लेते हैं कि प्रकृति वास्तवमें पुरुषसे भिन्न और अलग है। जिस प्रकार मालाके सम्बन्धमें होनेवाला सर्पका सपभिास दूर हो जाने पर नेत्रोंको इस बातका सत्य ज्ञान हो जाता है कि यह वास्तवमें माला ही है अथवा जिस प्रकार सीपीके सम्बन्धमें चाँदीके होनेका भ्रम दूर हो जाने पर सत्य रूपसे यह दिखाई पड़ने लगता है कि यह वास्तवमें सीपी ही है, वही लोग ब्रह्मका स्वरूप प्राप्त करते हैं। जो आकाशसे भी विशाल है, जो अव्यक्त प्रकृतिके उस पारवाले तट पर है, जिसके प्राप्त हो जाने पर साम्य और असाम्यका कुछ भी भेद-भाव बाकी नहीं रह जाता, जिसमें आकार, जीवत्व और द्वैत कभी रह ही नहीं सकता, जो शुद्ध द्वैत-हीन है, उस परम तत्वका स्वरूप वही लोग प्राप्त करते हैं जो आत्म और अनात्मकी व्यवस्था जानते हैं और जो राजहंसकी भाँति असारमेंसे भी केवल सार ग्रहण कर सकते हैं।"

इस प्रकार श्रीकृष्णने अपने परम प्रिय अर्जुनको आत्म और अनात्मका तत्व सभी तरहसे स्पष्ट करके समझा दिया। जिस प्रकार एक कलशका जल किसी दूसरे कलशमें उँडेला जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णने अपना सारा आत्म-ज्ञान, उसमेंसे कुछ भी बिना अपने पास बाकी रखे, अर्जुनको दे दिया। परन्तु आखिर यहाँ देने वाला कौन है और लेनेवाला कौन है? क्योंकि नर अर्थात् अर्जुन भी नारायण ही हैं और इसलिए इन दोनोंमें किसी प्रकारका भेद हो नहीं किया जा सकता। फिर श्रीकृष्ण भी स्वयं ही यह बात कहते हैं कि अर्जुन भी मैं ही हूँ। परन्तु जाने दो, इस व्यर्थके विषय-विस्तारकी कोई

आवश्यकता नहीं। जब यह बात कोई पूछता ही नहीं, तब मैं क्यों बतलाऊँ? सारांश यही है कि इस प्रसंगमें भगवानने अपना ज्ञान-सर्वस्व ही अर्जुनको अर्पित कर दिया। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनके मनकी किसी प्रकार तृप्ति ही नहीं होती थी। उसकी ज्ञान श्रवणकी लालसा बराबर और भी अधिक होने लगी। जिस प्रकार कज्जलो झाड़ देने पर और तेल भर देने पर दीपकका प्रकाश और भी अधिक हो जाता है, उसी प्रकार इस श्रवणसे अर्जुनके अन्तःकरणकी उत्सुकता भी और अधिक हो गई। जब भोजन परोसनेवाली गृहिणी चतुर, सुघड़ और उदार होती है और भोजन करनेवाले भी भोजनके रसज्ञ होते हैं, तब परोसनेवालीके हाथ भी और खानेवालेके हाथ भी बराबर चलते रहते हैं। बस ठीक वही अवस्था इस समय श्रीकृष्णकी हुई थी। अर्जुनकी श्रवण-सम्बन्धी उत्सुकता देखकर भगवानको भी व्याख्यान देनेकी चौगुनी स्फूर्ति हो आई। जिस प्रकार अनुकूल पवन चलने पर बहुतसे मेघ आकर आकाशमें एकत्र हो जाते हैं, अथवा चन्द्रमाके दर्शनसे जिस प्रकार समुद्रमें ज्वार आती है, उसी प्रकार श्रोताओंके उत्साह दिखलाने पर वक्ताको भी स्फूर्ति होती है। उस समय संजयने कहा—"हे राजा धृतराष्ट्र, अब श्रीकृष्ण सारे विश्वको आनन्दसे परिपूर्ण करनेको हैं। आप उसका वृतान्त सुनें।" इस प्रकार महाभारतमें श्री व्यासदेवने अपनी अगाध बुद्धिसे जो कथा भीष्म पर्वमें कही है, उसीमें का यह श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद मैं सुन्दर और शिष्ट देशी भाषामें स्पष्ट करके बतलाता हूँ। अब मैं जो कुछ कहनेको हूँ, वह शुद्ध शान्त रसकी कथा है; परन्तु इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह शृंगार रसको भी अपने सामने तुच्छ सिद्ध करेगी। मेरी भाषा तो देशी ही होगी, परन्तु फिर भी मैं उसकी योजना ऐसे कौशलसे करूँगा कि वह ललित साहित्यकी संजीवनी ही होगी और अपने माधुर्यके सामने अमृतको भी फीका कर देगी। देशी भाषामें कही हुई ये बातें अपनी रसाई शीतलताके कारण चन्द्रमाकी बराबरीकी ठहरेंगी और इसकी रसालताके चक्करमें पड़कर स्वयं नाद-ब्रह्म भी लीन हो जायगा। इस शब्द रचनासे पिशाच तकके अन्तःकरणमें भी सात्विक वृत्तिका स्रोत उमड़ पड़ेगा और इसके श्रवणसे सन्तोंके मनकी तो आत्म-समाधि ही लग जायगी। मैं इस समय ऐसा वाग्विलास प्रकट करूँगा जिससे यह सारा विश्व गीतार्थसे ओत-प्रोत भर जायगा; और मैं सारे संसारके लिए एक आनन्दमय मन्दिर ही खड़ा कर दूँगा। इस समय मैं ऐसा व्याख्यान करूँगा जिसे सुनकर विवेक भी बोलने लगे, कान और मन सार्थक हो जायँ, हर किसीको ब्रह्म-विद्याकी प्राप्ति हो सके, सब लोगोंको इन्हीं आँखोंसे परमात्म तत्वके दर्शन होने लगें, सबके लिए सुखका पर्व हो और सारे विश्वको ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्तिका सुभीता हो जाय। बात यह है कि परम श्रेष्ठ श्रीनिवृत्तिनाथका कृपाप्रसाद मुझे प्राप्त हुआ है। इसीलिए मैं उपमा और श्लेष आदिके ढेर लगा दूँगा और ग्रन्थके प्रत्येक पदका अर्थ बिलकुल स्पष्ट कर दूँगा। इसके उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिए मेरे सम्पन्न गुरुदेवने मुझे वाणीकी प्रगल्भता और अर्थ-ज्ञानसे परिपूर्ण कर दिया है। अपने गुरुदेवकी कृपाकी सहायतासे मैं जो कुछ कहता हूँ, वह सभी मान्य होता है; और इसी लिए मैं आज

आप सरीखे अधिकारी श्रोताओंके सामने भी गीतार्थका प्रवचन करनेके लिए उद्यत हुआ हूँ। तिस पर मैं आप सन्तजनोंके चरणोंके समीप आया हूँ; और इसीलिए अब मेरे मार्गमें कोई अड़चन नहीं रह गई है। महाराज, भला क्या सरस्वतीके पेटसे कभी भूलसे भी गूँगा बालक उत्पन्न हो सकता है ? क्या यह भी कभी सम्भव है कि प्रत्यक्ष लक्ष्मीमें सामुद्रिकके किसी शुभ लक्षणकी कमी हो ? इसलिए आप सरीखे सन्तजनोंके पास आने पर अज्ञानकी बात भी कभी मुँहसे नहीं निकलनी चाहिए। इस लिए मैं कहता हूँ कि मैं अपने व्याख्यानसे नौ रसोंकी बिलकुल झड़ी ही लगा दूँगा। आप लोग मुझे बोलनेका अवसर मात्र प्रदान करें; फिर यह ज्ञानदेव गीता ग्रन्थका सारा अर्थ अच्छी तरह स्पष्ट करके कह डालेगा।

चौदहवाँ अध्याय

हे आचार्य देव, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। सब देवोंमें आप ही श्रेष्ठ हैं। बुद्धि रूपी प्रभात-समयके आप ही सूर्य हैं। सुख का उदय आपसे ही होता है। सबके विश्रामके स्थान आप ही हैं। आत्म-भावनाका साक्षात्कार आप ही कराते हैं। इस नाना स्वरूपवाली पंचभूतात्मक सृष्टिकी लहरें जिस समुद्रपर उठती हैं, वह समुद्र आप ही हैं। आपके ऐसे स्वरूपका मैं जय-जयकार करता हूँ। हे दुःखितोंके बान्धव, अखंड कृपाके समुद्र और शुद्ध आत्म-विद्याके प्रिय स्वामी तथा गुरुदेव, आप सुनें। आप जिनकी दृष्टि-में दिखाई नहीं देते, उन्हींको आप यह मायिक विश्व दिखलाते हैं और उन्हीं पर यह नाम-रूपात्मक वस्तु-जात प्रकट करते हैं। दूसरेकी दृष्टिमें भ्रम उत्पन्न करनेको ही नजर-बन्दी कहते हैं। परन्तु आपका यह अद्भुत कौशल ऐसा है कि आप स्वयं अपना ही स्वरूप छिपाते हैं। हे गुरु-राज, आप ही इस विश्वके सर्वस्व हैं। यह सब आपका ही नाटक है जो आप किसीको तो मायाका भास कराते हैं और किसीको आत्मबोध कराते हैं। आपके ऐसे स्वरूपको मैं नमस्कार करता हूँ। मेरी बुद्धिमें तो केवल यही आता है कि इस संसारमें जिसे 'अप' (जल) कहते हैं, उसे आपके ही शब्दोंसे मधुरता प्राप्त हुई है। पृथ्वीको क्षमावाला गुण भी आपसे ही प्राप्त हुआ है। सूर्य, चन्द्रमा आदि जो तेजस्वी सिपाही संसारमें उदित होते हैं, उनके तेजको आपकी प्रभासे ही तेज प्राप्त होता है। वायुकी चंचलता भी आपकी ही दिव्य सामर्थ्य है और आकाश भी आपका ही आश्रय पाकर यह आँख-मिचौलीका खेल खेलता है। सारांश यह कि आपकी ही सामर्थ्यसे यह सारी माया उत्पन्न होती है और ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त होती है। परन्तु अब इस वर्णनका यहीं अन्त करना चाहिए, क्योंकि वेद भी इस प्रकारका वर्णन करते करते थक जाते हैं। जब तक आपके आत्म-स्वरूपके दर्शन नहीं होते, तब तक तो वेदोंकी वर्णन-शक्ति ठीक तरहसे काम देती है, परन्तु जब आपके आत्म-स्वरूपके पासकी कोई मंजिल या पड़ाव आ जाता है, तब फिर वेद भी और मैं भी दोनों मूक होकर एक ही पंक्तिमें बैठ जाते हैं—दोनोंकी अवस्था समान हो जाती है। जिस समय चारों ओर सागर ही सागर फैल जाता हो और एक बुलबुला भी अलग न दिखाई देता हो, उस समय बड़ी-बड़ी नदियोंका पता लगाने की तो बात ही नहीं छेड़नी चाहिए। जब सूर्य उदय होता है, तब चन्द्रमा जुगनूकी तरह फीका पड़ जाता है। इसी प्रकार आपके आत्म-स्वरूपमें वेद और मैं दोनों ही एक-से हो जाते हैं। फिर जहाँ द्वैतका नाम-निशान भी मिट जाता हो और परा वाणी के साथ वैखरी वाणीका भी लोप हो जाता हो, वहाँ भला मैं किस मुँहसे आपका वर्णन कर सकता हूँ ! इसी लिए अब मैं आपकी स्तुति करनेके फेरमें नहीं पड़ता और निःशब्द होकर आपके चरणों पर सिर झुकाना ही अच्छा समझता हूँ। इसलिए हे

गुरुदेव, आपका चाहे जो स्वरूप हो, मैं उसी स्वरूपकी वन्दना करता हूं। हे स्वामी, आप मुझ पर ऐसी कृपा करें जिसमें मैं इस ग्रंथ-रचनाके उद्योगमें सफल हो सकूं। अब आप अपनी कृपा रूपी पूंजी खोल दें और उसे मेरी बुद्धि रूपी थैलीमें भर दें और मुझे ज्ञान-पद की प्राप्ति करा दें। फिर इस प्राप्तिके आधार पर मैं व्यवहारमें आगे पैर बढ़ाऊँगा और सन्त जनोंके कानोंमें विवेक-वचन रूपी कर्ण-भूषण पहनाऊँगा। आप गीताके गूढ़ अर्थका भांडार खोल दें, यही मेरी इच्छा है। आप मेरे नेत्रोंमें अपना कृपा रूपी दिव्य अंजन लगावें। आप अपनी निर्मल करुणाके सूर्यका इस प्रकार उदय करें, जिसमें मेरी बुद्धिके नेत्र अच्छी तरह खुल जायँ और साहित्य रूपी सम्पत्ति मुझे स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगे। हे समस्त स्नेह करने करनेवालोंमें श्रेष्ठ, आप स्वयं ही ऐसा बसन्त काल बन जायँ जिसके प्रभावसे मेरी बुद्धि रूपी बेलमें काव्य रूपी फल लगने लगें। हे महाराज आप अपनी उदार कृपा-दृष्टिसे ऐसी वर्षा करें जिससे मेरी बुद्धि रूपी गंगा नदीमें तत्त्व-सिद्धांतकी लहरोंकी भरपूर बाढ़ आ जाय। हे विश्वके विश्रामस्थल श्री गुरुदेव, आपके अनुग्रहरूपी चन्द्रमासे मुझे स्फूर्तिकी पूर्णिमा प्राप्त हो। और उस पूर्णिमाके दर्शन होते ही मेरे ज्ञान रूपी सागरमें ऐसी ज्वार आवे जो मेरे नौ रसोंके स्रोतको पूरी तरहसे भरकर ऊपर उछल पड़े और बाहर निकलकर बहने लगे।

यह सुनकर श्री गुरुदेवने कहा—"प्रार्थना करनेके बहानेसे तुमने फिर मेरी स्तुति करना आरम्भ कर दिया है। परन्तु अब इस व्यर्थकी स्तुतिको रहने दो। ज्ञानकी सुगन्धिसे भरा हुआ अपना ग्रन्थ और आगे चलाओ और व्यर्थ हमारी उत्सुकता खंडित मत करो।" श्री गुरुदेवके ये वचन सुनकर मैंने कहा—"ऐसा क्यों? महाराज, मैं तो इसी बातकी प्रतीक्षा कर रहा था कि आपके श्रीमुखसे ये शब्द निकलें कि तुम अपना ग्रन्थ आगे चलाओ।" एक तो दूर्वाके अंकुर स्वभावतः अमर होते हैं; तिस पर यदि उनके ऊपर अमृतकी लहर आ जाय तो फिर पूछना ही क्या है! ठीक यही बात यहाँ भी है। तो भी मैं आपके कृपा-प्रसादसे विस्तारपूर्वक तथा स्पष्ट रूपसे मूल ग्रंथके शब्दोंका विवरण करता हूँ। परन्तु अब मेरी यही इच्छा है कि गुरु-कृपाके घरकी भिक्षासे मेरी वाणीमें इस प्रकारकी मधुरता प्रतिबिम्बित हो जिसके कारण जीवके मनमें रहनेवाली सन्देहकी नौका डूब जाय और तब श्रवणके सम्बन्धमें लोगोंकी उत्सुकता बढ़े।" अस्तु पिछले तेरहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह कहा है कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे जगतका निर्माण होता है; और गुणोंका संग होनेके कारण आत्मा संसारी बनती है। और प्रकृतिके चंगुलमें फँसने पर वही आत्मा सुख और दुःख भोगती है और अपने कैवल्य स्वरूप से वह आत्मा गुणोंसे बिलकुल परेकी है। ऐसी अवस्थामें इस असंगको संगकी प्राप्ति किस प्रकार होती है? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् पुरुष और प्रकृतिका मेल या संयोग किस प्रकार होता है? उस क्षेत्रज्ञको सुख और दुःख आदि भोग किस प्रकार भोगने पड़ते हैं? गुण कितने हैं? उनका स्वरूप क्या है और वे किस प्रकार बन्धक होते हैं? और गुणातीतके लक्षण कौनसे हैं? बस इस चौदहवें अध्यायमें इन्हीं सब प्रश्नोंका स्पष्टीकरण किया गया है। अब आप लोग यह सुनें कि इस विषयमें वैकुण्ठ-पति श्रीकृष्णदेव क्या कहते हैं।

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥

भगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन, अपना लक्ष बिलकुल एकाग्र करके इस ज्ञानसे भिड़ना पड़ता है। इस ज्ञानके सम्बन्धकी बहुत-सी बातें मैंने अनेक युक्तिवादोंके द्वारा तुम्हें बतलाई हैं; परन्तु अब मैं फिरसे तुमको उनकी उपपत्ति बतलाता हूं और इसी लिए मैं उस "पर" की उपपत्ति भी तुम्हें फिरसे बतलाता हूँ जिसे वेदोंने बार बार सबके परे बतलाया है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो यह ज्ञान स्वयं अपना ही है; परन्तु वह इसलिए पर अर्थात् परकीय हो गया है कि लोगोंने व्यर्थ ही इहलोक और स्वर्ग-लोकका एक झगड़ा लगा रखा है। और मैं इसे पर अर्थात् सबसे उत्तम भी कहता हूँ; और इसका कारण यही है कि और सब प्रकारके ज्ञान तो तिनकोंके समान हैं और यह ज्ञान उन सबको जलाकर भस्म कर देनेवाली अग्निके समान है। जो ज्ञान-मृत्यु-लोक और स्वर्ग-लोकको सत्य मानते हैं और यह कहते हैं कि केवल यज्ञ-कर्म ही अच्छे हैं, और भेद-भावके कारण जिन्हें द्वैत ही सत्यके समान जान पड़ता है, वे सब ज्ञान इस ज्ञानके हो जाने पर स्वप्नके समान मिथ्या सिद्ध होते हैं। जिस प्रकार हवाके झोंके अन्तमें आकाशमें जाकर लीन हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्यके उदय होने पर चन्द्रमा आदिका तेज फीका पड़ जाता है अथवा प्रलय कालके जलका प्रसार होने पर जिस प्रकार समस्त नद और नदियाँ उसीमें लीन हो जाती हैं और उनका कहीं पता भी नहीं रह जाता, उसी प्रकार इस ज्ञानका उदय होने पर बाकी और सब प्रकारके ज्ञान बिलकुल विलीन हो जाते हैं। इसी लिए, हे अर्जुन, इस ज्ञानको और सब ज्ञानोंसे उत्तम समझना चाहिए। हे पांडव, हमारी जो मूलकी स्वयं सिद्ध मुक्त स्थिति है, उसीको मोक्ष कहते हैं। जिसके योगसे यह मोक्ष हमें प्राप्त होता है, वही यह ज्ञान है और उस ज्ञानका अनुभव हो जाने पर विचारवान् शूर पुरुष जन्म और मृत्यु रूपी संसारको सिर ऊपर नहीं उठाने देते। जो लोग मनसे ही मनका निग्रह करके स्वाभाविक विश्रान्ति प्राप्त कर लेते हैं, वे देहधारी होने पर भी देहके अधीन नहीं होते। वे देहके बन्धनसे बिलकुल छूट जाते हैं और मेरी बराबरीके हो जाते हैं।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥ २॥

"हे पार्थ, ऐसे लोग मेरी नित्यतासे ही नित्य होते हैं और मेरी परिपूर्णतासे ही परि-पूर्ण होते हैं। मैं जिस प्रकार शाश्वत आनन्दसे वास्तवमें पूर्ण रूपसे सिद्ध हूँ, उसी प्रकार वे भी सिद्ध हो जाते हैं। फिर मुझमें और उन लोगोंमें कोई भेद बाकी नहीं रह जाता। मेरा स्वरूप जैसा और जितना होता है, उनका स्वरूप भी वैसा और उतना ही हो जाता है। जिस प्रकार घटके फूट जाने पर उसमेंका आकाश भी आकाश तत्वमें ही मिल जाता है अथवा दीपककी अनेक ज्योतियोंके बुझने पर वे सब ज्योतियाँ उस मूल ज्योति या तेजमें मिल जाती हैं, उसी प्रकार हे अर्जुन, द्वैतके सब झगड़ोंके मिट जाने पर और हम तथा तुम आदिका भेद नष्ट हो जाने पर समस्त नाम-रूपात्मक पदार्थ आकर एक ही

पंक्तिमें बैठ जाते हैं और सब एक-से हो जाते हैं। इसी लिए जब फिरसे पहली सृष्टि उत्पन्न होती है, तब भी उन्हें उसके फेरमें नहीं फँसना पड़ता—उस नई सृष्टिमें भी उन्हें जन्म नहीं धारण करना पड़ता। फिर आदि सृष्टिके समय ही जिन्हें देह-बद्ध नहीं होना पड़ता, भला प्रलय कालमें उनके लिए मृत्यु कहाँसे आ सकती है? हे अर्जुन, इसी लिए जो लोग इस ज्ञानका अनुसरण करते हैं, वे जन्म और मृत्युकी परम्परासे उस पार पहुँच जाते हैं और मेरे स्वरूपमें विलीन हो जाते हैं।"

इस प्रकार श्रीकृष्णने ज्ञानका महत्व इसलिए बड़े प्रेमसे अर्जुनको बतलाया जिसमें उसके मनमें इस ज्ञानको प्राप्त करनेकी उत्सुकता और अनुराग बढ़े। श्रीकृष्णके मुखसे यह वर्णन सुनकर इधर अर्जुनकी कुछ विलक्षण ही अवस्था हो रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानों उसके रोम रोममें कान उत्पन्न हो गये हैं और उनकी एकाग्रताके कारण वह तन्मय हो रहा था। अब भगवानके प्रेमने अर्जुनको इस प्रकार व्याप्त कर लिया था कि उसके निरूपणकी मर्यादा आकाशमें भी नहीं समाती थी। फिर देवने अर्जुनसे कहा—"हे बुद्धिमान् अर्जुन, आज मेरा वक्तृत्व धन्य हुआ है, क्योंकि मेरी वाणीके योग्य श्रोता एक तुम्हीं मुझे आज मिले हो। अच्छा अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि यह त्रिगुण रूपी पारधी मूलके एक स्वरूप अर्थात् मुझको किस प्रकार देहके पाशमें फँसाता है और मायाके संगके कारण मैं ही किस प्रकार अनेक जगतोंका निर्माण करता हूँ। तुम ध्यान देकर सुनो।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

"प्रकृतिको क्षेत्र कहनेका कारण यह है कि वह मेरे संग रूपी बीजसे भूत रूपी फसल उत्पन्न करती है। इसी प्रकृतिका नाम महद्ब्रह्म है; और इसका कारण यह है कि महत् आदि जितने तत्व हैं, उन सबका यह विश्रान्ति-स्थान है। हे अर्जुन, इसीके कारण विकारोंको नाना प्रकारके बल प्राप्त होते हैं; और इसी लिए इसको महद्ब्रह्म कहते हैं। अव्यक्तवादी इसीको अव्यक्त कहते हैं और सांख्य मतकी प्रकृति भी यही है। वेदान्ती लोग इसीको माया कहते हैं। परन्तु हे ज्ञाता अर्जुन, इस प्रकारके नाम और अभिधान व्यर्थ कहाँ तक बतलाये जायँ। तुम समझ लो कि यह प्रकृति ही अज्ञान है। हे अर्जुन, अपने आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जाना ही इस अज्ञानका स्वरूप है। इसके सिवा इसमें एक दूसरी विशेषता यह है कि जिस प्रकार दीपक जलाकर देखने पर अन्धकार नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार विचारका स्फुरण होने पर अज्ञान भी नहीं ठहरता। यदि दूधको आग पर रखकर चलाते रहें तो उसकी मलाई नष्ट हो जाती है; परन्तु यदि दूधको स्थिर रहने दिया जाय तो उस पर मलाई जम जाती है। जिस प्रकार गाढ़ निद्राकी वह अवस्था होती है, जिसमें न तो जाग्रति ही होती है, न स्वप्न ही होता है और आत्म-स्वरूप-समाधि ही होती है अथवा वायुका संचार न होने पर जिस प्रकार आकाश तत्व बिलकुल शान्त और स्थिर रहता है, उसी प्रकार इस अज्ञानकी भी अवस्था है। सामने जो कुछ दिखलाई पड़ता है, उसके सम्बन्धमें यह दृढ़ निश्चय तो होता ही नहीं कि वह खम्भा है या मनुष्य

है, केवल यही भावना होती है कि कुछ दिखाई पड़ता है, पर न जाने वह क्या है। इसी प्रकार आत्म-वस्तुका यथार्थ ज्ञान तो होता नहीं, पर साथ ही इस बातका भी कोई दृढ़ निश्चय नहीं होता कि वह ठीक अमुक वस्तु ही है। जिस प्रकार सन्ध्याके समय न तो पूरा दिन ही रहता है और न पूरी रात ही रहती है, उसी प्रकार यह अज्ञान भी न तो आत्म-वस्तुके विरुद्ध ही होता है और न अनुकूल ही होता है। इस प्रकार सत्य ज्ञान और विरुद्ध ज्ञानके बीचकी जो सन्देहवाली अवस्था होती है, उसीको अज्ञान कहते हैं; और इस अज्ञान में फँसे हुए आत्म-तत्वको ही क्षेत्र कहते हैं। अज्ञानकी वृद्धि करने और आत्म स्वरूपको विस्मृत करनेको ही क्षेत्रज्ञका विशिष्ट लक्षण समझना चाहिए। हे अर्जुन, प्रकृति और पुरुष अथवा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका योग जिसे कहते है, वह यही है। यह योग आत्म-तत्वका स्वाभाविक धर्म ही है। अब इस अज्ञानका अनुसरण करके आत्मा आत्म-स्वरूपको ही देखती है, परन्तु उसे उसके अनेक स्वरूपोंका भास होता है और उसकी समझ में यह बात नहीं आती कि इनमेंसे कौन-सा स्वरूप सच्चा और वास्तविक है और कौन-सा मिथ्या या अवास्तविक। जैसे कोई दरिद्र पागल होकर यह कहने लगे कि—'जा रे जा, मैं ही राजा हूँ।' अथवा मूर्च्छित होनेवाला मनुष्य सावधान होने पर कहने लगे कि—'मैं तो स्वर्गलोकसे हो आया।' उसी प्रकार एक बार दृष्टिके भ्रमपूर्ण होने पर जो जो पदार्थ भासमान होते हैं, उन्हीं सबका नाम सृष्टि है। यह सृष्टि मुझसे अर्थात् मूल आत्मा तत्वसे उत्पन्न होती है। जिस प्रकार स्वप्नमें एक ही आदमी भ्रमसे यह समझने लगता है कि हम बहुत-से आदमी है, उसी प्रकारकी दशा आत्म-स्वरूपका विस्मरण होने पर आत्माकी भी होती है। अब मैं यही सिद्धान्त ऐसे ढंगसे स्पष्ट करता हूँ जिसमें तुम्हें कुछ भी शंका न रह जाय। तो भी तुम स्वयं इसका अनुभव करो। मेरी यह अविद्या नामकी कान्ता अनादि, सदा युवती रहनेवाली और अवर्णनीय गुणोंसे युक्त है। यह कभी और किसी तरह नहीं कहा जा सकता कि इसका स्वरूप केवल अमुक प्रकारका ही है, इसके सिवा और किसी प्रकारका नहीं है। इसकी व्यापकता असीम और अपरम्पार है। यह सोये हुए लोगों के पास रहती है और जागे हुए लोगोंसे दूर रहती है। जब मैं स्वयं सोया रहता हूँ, तभी यह जागती रहती है और आत्म-सत्ताके साथ संयोग होने पर ही यह गर्भ धारण करती है। फिर यह मूल माया अपने उदरमें प्रकृति-जन्य आठ विकारोंके गर्भकी वृद्धि करती है। इन प्रकृति और पुरुषका संयोग होने पर पहले बुद्धि तत्व उत्पन्न होता है और तब उस बुद्धि-तत्वसे ओत-प्रोत भरा हुआ मन जन्म लेता है। जब इस मनकी यौवनावस्था आती है, तब यह अहंकार तत्वको उत्पन्न करता है और उस अहंकारसे महाभूतोंका अस्तित्व होता है। भूतोंका यह स्वभाव ही है कि वे विषयों और इन्द्रियोंके साथ आपसे आप संलग्न रहते हैं और इसी लिए भूतोंके साथ ही साथ इन्द्रियाँ और विषय भी उत्पन्न होते हैं। जब इस प्रकार विकारोंकी वृद्धि होती है, तब तीनों गुण उनकी पीठ पर आपसे आप खड़े रहते हैं और उनके साथ ही साथ वासना भी जन्म धारण करती है। जिस प्रकार पानी मिलते ही बीजका कण वृक्ष उत्पन्न करनेका उपक्रम करने लगता है, उसी प्रकार मेरे संगकी प्राप्ति होते ही अविद्या या मूल माया आपसे आप अनेक

नाम-रूपात्मक जगतके अंकुर उत्पन्न करने लगती है। अब हे सुजन-श्रेष्ठ, तुम यह सुनो कि उस गर्भको रूप किस प्रकार प्राप्त होता है। उसमें अंडज, स्वेदज, उद्भिज्ज और जारज ये चार विभाग उत्पन्न होते है। आकाश और वायुके योगसे मणिज या अंडज नामका विभाग उत्पन्न होता है। जब उदरमें तम और रज नामक गुणोंसे युक्त होकर तेजके साथ जल-तत्वकी प्रबलता होती है, तब स्वेदज विभाग उत्पन्न होता है। जल और पृथ्वी नामक तत्वोंकी प्रबलता होने पर जब उसमें केवल तमोगुण रहता है, तब निम्न कोटिका स्थावर वर्ग उत्पन्न होता है; और उसीको उद्भिज्ज नामक विभाग समझना चाहिए। जब पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ परस्पर सहायक होने लगती है और मन तथा बुद्धि आदिसे युक्त हो जाती हैं, तब जारज विभाग सिद्ध होता है। इस प्रकार मूल मायाके घर एक ऐसा विलक्षण पुत्र उत्पन्न होता है जिसके ये चारों विभाग चार सरल हाथ पैर समझने चाहिएँ और मूलकी अष्टधा प्रकृतिको जिसका मस्तक मानना चाहिए, प्रवृत्ति जिसका बड़ा हुआ पेट है, निवृत्ति सीधी पीठ है, आठ देव-योनियाँ जिसके शरीरके ऊपरी भाग है, स्वर्ग जिसका विकसित होनेवाला कंठ प्रदेश है, मृत्यु-लोक जिसकी कमर है और पाताल लोक जिसकी कमरके नीचेका नितम्बवाला भाग है। तीनों लोकोंका विस्तार इस बालककी बढ़ती हुई बाल्यावस्था है। चौरासी लाख योनियाँ उसकी हड्डियोंकी और पसलियोंकी सन्धियाँ है। बस यह बालक दिन पर दिन बढ़ने लगा। यह माया उस बालक के अंगों पर नाना प्रकारके नाम-रूपोंके अलंकार पहनाकर उसे नित्य नया अज्ञान रूपी दूध पिलाने लगी। उस बालकके हाथोंमें उसने भिन्न भिन्न सृष्टि रूपी अँगूठियाँ पहनाई। उनमेंसे प्रत्येक अँगूठीकी चमक कुछ निराली ही है। इस प्रकार अपने इस इकलौते चराचर स्वरूप और अप्रतिम सुन्दर बालकका प्रसव करके वह प्रकृति अपने आपको धन्य समझने लगी। इस बालकका प्रभात काल ब्रह्मा है, मध्याह्न काल विष्णु है और सन्ध्या काल शंकर है। जब यह खेल खेलकर थक जाता है, तब महाप्रलयके बिछौने पर स्वस्थ होकर सोता है; और फिर जब नवीन कल्पका उदय होता है, तब विपरीत ज्ञानसे अर्थात् अज्ञानके मोहसे जाग्रत होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार अज्ञानके घरमें यह बालक क्रीड़ाएँ और कौतुक करता हुआ युग-परम्पराके डग भरने लगता है। संकल्प और विकल्प इस बालकके प्रिय मित्र हैं और अहंकार खेल खेलनेमें इसका साथी है। इस बालकका अन्त केवल सत्य ज्ञानसे ही होता है। परन्तु इस विषयका बहुत अधिक विस्तार हो चुका। इस प्रकार मायाने इस विश्वकी रचना की है और इस काममें मेरी सत्ताका उसने उपयोग किया है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४॥

इसलिए, हे अर्जुन, मैं तो पिता हूँ; महद्ब्रह्म मूल माया माता है और यह भासमान जगत हम लोगोंका लड़का है। परन्तु तुम संसारमें अनेक प्रकारके शरीर देखकर अपने मनमें भेद-भाव मत उत्पन्न होने दो, क्योंकि मन और बुद्धि आदि सब एक-रूप ही हैं। क्या एक ही शरीरमें भिन्न भिन्न अवयव नहीं हुआ करते? इसी प्रकार नाना

रूपोंमें भासमान होनेवाला यह विश्व मूलतः एक ही है। जिस प्रकार एक ही बीजसे वृक्षकी बड़ी और छोटी अनेक प्रकारकी टहनियाँ उत्पन्न होती हैं, अथवा जिस प्रकारके सम्बन्धके कारण मिट्टीसे घट नामक बालक उत्पन्न होता है अथवा कपासके तन्तुओंके गर्भसे पट नामक पोता उत्पन्न होता है अथवा जिस सम्बन्धके द्वारा सागरको तरंगोंके रूपमें सन्तानें होती हैं, इस चराचर जगतके साथ मेरा भी उसी प्रकारका सम्बन्ध है। इसी लिए जिस प्रकार अग्नि और ज्योति दोनों केवल अग्नि ही हैं, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी मैं ही हूँ। यह सच्चा और निर्दोष ज्ञान तुम अपने मनमें खूब अच्छी तरह बैठा लो। मैं स्वयं अपने आपको ही भिन्न भिन्न शरीरोंमें अलग अलग भासित कराता हूँ; और यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि इसका कारण मेरा उत्पन्न किया हुआ तीनों गुणोंका बन्धन ही है। हे अर्जुन, जिस प्रकार हम स्वप्नमें स्वयं अपना ही मरण भोगते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोग होने पर पीली तो स्वयं रोगीकी आँखें होती हैं, परन्तु उसे संसारकी सभी वस्तुएँ पीली दिखाई देने लगती हैं अथवा सूर्यका प्रकाश प्रकट होने पर मेघ दिखाई देते हैं और जब मेघोंसे सूर्य ढँक जाता है, तब भी वे मेघ सूर्यके प्रकाशसे ही दिखाई देते हैं अथवा स्वयं हमसे जो छाया उत्पन्न होती है, उसीको देखकर हम डर जाते हैं, परन्तु वास्तवमें वह छाया हमसे भिन्न नहीं होती, उसी प्रकार मैं ही अनेक प्रकारके शरीर दिखलाकर भेद-भावको प्राप्त होता हूँ। इस कार्यमें मेरे लिए एक बन्धन होता है; यह भी सुन लो। हमारे आत्म-स्वरूपके अज्ञानके कारण ही यह भ्रम होता है कि मैं बद्ध हूँ अथवा मुक्त हूँ। इसलिए, भइया अर्जुन अब तुम यह भी सुन लो कि किन गुणोंके कारण मैं स्वयं अपने आपको बद्धके समान दिखाई पड़ता हूँ। अब तुम यह सारा रहस्य सुनो कि गुण कितने हैं, उनके धर्म कौन कौन-से हैं, उनके लक्षण तथा नाम क्या हैं, और उनकी उत्पत्ति कहाँसे होती है।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५॥
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ॥ ६॥

"ये गुण तीन हैं और इनके नाम सत्व, रज और तम हैं। इनकी उत्पत्ति प्रकृतिसे ही होती है। इनमेंसे सत्व गुण उत्तम है, रजोगुण मध्यम है और तमोगुण अधम है। ये तीनों गुण एक ही मनोवृत्तिमें भी हो सकते हैं। जिस प्रकार एक ही शरीरमें बाल्यावस्था युवावस्था और वृद्धावस्था तीनों ही विकार दिखाई पड़ते हैं, अथवा खरे सोनेमें ज्यों ज्यों खोट अधिक मिलाया जाता है, त्यों त्यों कसौटी पर कसनेसे उसका कस मद्धिम पड़ता जाता है और पन्द्रह कसका सोना अन्तमें पाँच ही कसका बन जाता है अथवा जब सावधानता आलस्यमें डूब जाती है, तब निद्रा आकर अपना अधिकार जमा लेती है, उसी प्रकार अज्ञानका आलिंगन करके जो वृत्ति विस्मृत होती है, वह सत्वगुण और रजोगुणसे अंकित होकर अन्तमें तमोगुणसे भी पूर्ण हो जाती है। हे अर्जुन, इनका नाम तो गुण है ही, परन्तु अब यह भी सुन लो कि ये गुण बन्धक किस प्रकार होते हैं। जब आत्मा

क्षेत्रज्ञवाली दशामें अर्थात् जीवात्म स्वरूपमें शरीरमें जरा-सा भी प्रवेश करती है, तब वह यही कहना आरम्भ करती है कि यह शरीर ही मैं हूँ। फिर जन्मसे लेकर मरण पर्यन्त सभी देह-धर्मोंके विषयमें उसका सदा यही अभिमान बना रहता है। मछलीके मुँहमें ज्योंही आमिष पड़ता है, त्योंही मछुआ उसे पकड़कर खींच लेता है। ज्योंही इस प्रकारका तनिक भी अभिमान होता है, त्योंही सत्व रूपी व्याधा सुख और ज्ञानका जाल खींचने लगता है और जीवात्मा उस जालमें हिरनकी भाँति अच्छी तरह फँस जाती है। वह ज्ञानके अभिमानसे बड़बड़ाती है, ज्ञातृत्वके कारण छटपटाती है और हाथमें आया हुआ आत्म-सुख गँवा बैठती है। उस अवस्थामें यदि कोई उसकी विद्वत्ताका आदर करता है तो उसका बहुत सन्तोष होता है; यदि उसे थोड़ा-सा सुख प्राप्त होता है तो बहुत आनन्द होता है और तब उसे इस बातका अभिमान होने लगता है कि मैं वास्तवमें सुखी हूँ। उस समय जीवात्मा कहता है—'क्या सचमुच यह मेरा सौभाग्य नहीं है? भला मेरे समान और कौन सुखी है?' इस तरहकी बातें कहते कहते ही उसमें आठों सात्विक भावोंका वेगपूर्वक संचार होने लगता है। परन्तु यह गाड़ी यहीं नहीं रुक जाती। इसके मार्गमें एक और अड़चन आ खड़ी होती है। वह यह कि विद्वत्ताके भूतकी हवाएँ उसके अंगोंमें खेलने लगती हैं। उसे इस बातका कुछ भी दुःख नहीं होता कि मैं मूलतः ज्ञान-स्वरूप था और मैंने अपना वह मूल स्वरूप नष्ट कर दिया है। और इसका कारण यही है कि वह स्वयं अपने ज्ञानसे फूलकर आकाशके समान हो जाता है। जिस प्रकार कोई राजा स्वप्नमें भिखारी हो जाता है और उस दीनावस्थामें स्वयं अपनी राजधानीमें प्रवेश करके अन्न और भिक्षा मिलने पर गर्वसे कहने लगता है—"क्या मैं इन्द्रके समान भाग्यवान् नहीं हूँ?" उसी प्रकार निराकार केवलात्मा जब देहवान् जीवात्माका रूप धारण कर लेती है तब वह भी बाह्य ज्ञानसे भ्रमिष्ठ हो जाती है। वह व्यवहार शास्त्रमें चतुर हो जाती है, याज्ञिकी विद्याका उसे अच्छा ज्ञान हो जाता है; केवल यही नहीं बल्कि अपने ज्ञानके गर्वके कारण उसे स्वर्ग भी तुच्छ जान पड़ने लगता है। फिर वह शेखी हाँकता है कि मेरे सिवा और कोई ज्ञानी नहीं है। जिस प्रकार आकाशमें चन्द्रमा विलास करता है, उसी प्रकार मेरे चित्तमें चातुर्य विलास करता है। इस प्रकार सत्वगुण जीवात्माको सुख और ज्ञानकी डोरीमें बाँध लेता है और उसकी दशा अपाहिजके बैलके समान कर देता है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि वही शरीरधारी जीवात्मा रजोगुणसे किस प्रकार बाँधा जाता है। सुनो।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

"इसे रज कहनेका कारण यह है कि इससे जीवात्माका रंजन होता है। यह सदा विषय वासनाओंसे लिप्त रहता है। जब यह रज बहुत ही थोड़ी मात्रामें भी जीवात्मामें अपना प्रवेश कर लेता है, तब वह विषय-भोगकी इच्छाके मार्ग पर चल पड़ता है और वासनाकी वायु पर आरूढ़ हो जाता है। जिस प्रकार घी से सींचा हुआ और दहकते हुए अंगारों से भरा हुआ होम-कुंड सदा थोड़ा-बहुत सुलगता ही रहता है, उसी प्रकार

विषयोंके प्रति होनेवाला अनुराग भी बराबर बना रहता और बढ़ता चलता है, दुःख मिश्रित विषय भी मीठे लगने लगते हैं और यदि स्वयं इन्द्रका भी वैभव प्राप्त हो जाय तो वह भी थोड़ा ही जान पड़ता है। जब यह तृष्णा अच्छी तरह प्रबल हो जाती है, तब यदि मेरु पर्वत भी हाथ आ जाय तो विषयोंकी प्राप्तिके लिए जीव उससे भी कहीं अधिक भयंकर साहसका कृत्य करनेको उद्यत हो जाता है। इस प्रकारके कार्योंके लिए वह अपने प्राणोंको बिलकुल तुच्छ समझकर उन्हें निछावर कर देनेके लिए तैयार हो जाता है; और यदि उस प्रयत्नमें एक तिनका भी उसके हाथ आ जाता है तो वह अपना जन्म सार्थक मानने लगता है। वह सोचता है कि मेरे हाथमें इस समय जो कुछ है, वह सब यदि मैं आज ही व्यय कर दूँ तो भी हर्ज नहीं है, पर कल क्या करूँगा? और इस प्रकारकी विलक्षण आशा मनमें रखकर वह अपने व्यवहारका विस्तार करता है। वह कहता है कि स्वर्ग जाना तो उचित ही है, परन्तु स्वर्ग-लोकमें जाने पर वहाँ खाऊँगा क्या? और आगेको इसी चिन्ताके कारण वह यज्ञ-कर्मोंके फेरमें पड़ता है। अब वह व्रतोंका क्रम आरम्भ करता है और सार्वजनिक कुएँ और तालाब आदि बनवाता और इष्टपूर्तिके कृत्य करता है। परन्तु मनमें कामिक वासना रखे बिना वह कभी कोई काम नहीं करता। हे अर्जुन, जिस प्रकार ग्रीष्म-ऋतुकी वायु विश्राम करना जानती ही नहीं, उसी प्रकार वह जीव भी विश्राम करना नहीं जानता और दिन-रात व्यवहारकी धुनमें लगा रहता है। वासनाओंसे पूर्ण रूपसे लिप्त वह जीव इतनी तीव्रता और वेगसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिमें लगता है कि उसके सामने मछली की चंचलता भी अथवा कामिनीके कटाक्षकी चंचलता भी कोई चीज नहीं है। इस प्रकारकी विलक्षण धाँधली और वेगसे ऐहिक और पारलौकिक विषयोंका लोभी वह जीव क्रिया-कर्मोंकी अग्निमें कूद पड़ता है। इस प्रकार वह देहधारी जीवात्मा वास्तविक शरीरसे भिन्न होने पर भी स्वयं ही वासनाओंकी बेड़ियाँ डाल लेता है और नाना प्रकारके व्यवसायोंकी शृङ्खलाएँ अपने गलेमें पहन लेता है। इस प्रकार रजोगुणका भयंकर बन्धन इस देहमें रहनेवाले और इसे धारण करनेवाले जीवात्माको कसकर बाँध लेता है। अब तुम तमोगुणकी बन्धक शक्तिका वर्णन सुनो।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ ८॥

"जिस परदेके कारण व्यवहार-ज्ञानकी दृष्टि भी मन्द हो जाती है, जो मोह रूपी अँधेरी रातके घर काले मेघोंके समान है, जिसमें अज्ञानका ही जीवन सदा लगा रहता है, जिसके भुलावेमें पड़कर यह विश्व मदान्ध होकर नाचता रहता है, जो अविचारका मूल मन्त्र है, जो मूर्खता रूपी मदिराका प्याला है, यहाँ तक कि जो जीवोंके लिए केवल मोह-नास्त्र हो गया है, हे अर्जुन, वही तम है। वह अपनी युक्तिसे देहाभिमानियोंको चारों ओरसे खूब कस कर जकड़ लेता है। जब वह अकेला ही स्थावर और जंगममें एक बार बढ़ने लगता है, तब वहाँ और किसी गुणका कुछ भी वश नहीं चलता। इसके कारण सब

इन्द्रियोंमें जड़ता आ जाती है, मूर्खता आकर मनको दबा लेती है और आलस्यकी वृद्धि होने लगती है। तब वह जीव अपने अंगोंको ऐंठने लगता है, काम-धन्धेकी ओरसे उसे अरुचि हो जाती है और उसे केवल जँभाइयों पर जँभाइयाँ आने लगती हैं। हे अर्जुन, उस अवस्थामें आँखें खुली रहने पर भी उस जीवको कुछ भी दिखाई नहीं देता; और यदि उसे कोई आवाज न भी दे, तो भी वह इतना अधिक भ्रमित हो जाता है कि स्वयं आप ही "हाँ" कहकर उठ खड़ा होता है। जिस प्रकार पत्थर एक बार जमीन पर गिरनेके उपरान्त कभी अपने स्थानसे हिलना-डुलना नहीं जानता, उसी प्रकार जब वह मनुष्य एक बार पड़ जाता है, तब फिर वह करवट बदलना भी नहीं जानता। पृथ्वी चाहे धँसकर पाताल चली जाय और चाहे ऊपर उठकर आकाश तक पहुँच जाय, परन्तु वह पत्थरकी तरह अपनी जगह पर पड़ा रहता है और उठनेका नाम भी नहीं जानता। जब वह एक बार चुपचाप आरामसे पड़ जाता है, तब उसे इस बातका भी ध्यान नहीं रह जाता कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। उसके मनमें केवल यह इच्छा रह जाती है कि मैं जहाँका तहाँ पड़ा हुआ लोटता रहूँ। वह या तो हाथ उठाकर उस पर गाल रख लेता है और या घुटनोंमें ही अपना सिर छिपा लेता है। उसे निद्राकी इतनी अधिक लालसा रहती है कि जब एक बार उसे नींद आ जाती है, तब वह यही समझने लगता है कि मानों मुझे स्वर्ग ही मिल गया। उसका केवल यह जी चाहता है कि मुझे ब्रह्माके समान आयुष्य प्राप्त हो और मैं वह सारी आयुष्य केवल सोनेमें बिता दूँ। यदि वह रास्ता चलते समय बीचमें कहीं जरा-सा रुक जाता है, तो वहीं बैठकर ऊँघने लगता है। जब एक बार वह निद्राके वशमें हो जाता है, तब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि यदि उसे कोई प्रत्यक्ष अमृत भी देने लगे तो उसे इतना होश भी नहीं होता कि उठकर वह अमृत हाथमें ले सके। यदि कभी बहुत जबरदस्ती उसे कोई काम भी करना पड़ता है तो वह क्रोधसे मानों अन्धा हो जाता है। उस समय उसकी समझमें भी कुछ भी नहीं आता कि कब किसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, किसके साथ किस तरहकी बातें करनी चाहिएँ और अमुक कार्य हो सकनेके योग्य है या नहीं। जिस प्रकार कोई पतिंगा केवल अपने पंखोंकी सहायतासे ही जंगलमें लगी हुई आग बुझानेका हौसला अपने मनमें रखता है, उसी प्रकार वह भी साहसमें प्रवृत्त होता है और धृष्टतापूर्वक असम्भव कार्योंमें हाथ डाल बैठता है। केवल अविचार करना ही उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार निद्रा, आलस्य और अविचारके तीनों बन्धनोंसे तमोगुण उस आत्माको कसकर बाँध लेता है जो मूलतः निरंजन और शुद्ध होती है। जब किसी लकड़ीमें आग लग जाती है, तब वह आग उस लकड़ीके आकार और रूपमें ही भासमान होती है और घड़ेके अन्दर समाया हुआ आकाश घटके आकारका ही भासमान होता है और उसे लोग घटाकाश ही कहते हैं। भरे हुए सरोवरमें चन्द्रमाका बिम्ब पड़ा हुआ दिखाई देता है। ठीक इसी प्रकार इन गुणोंसे युक्त होने पर आत्म-तत्व भी बद्ध-सा जान पड़ता है।

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत॥ ९॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ १०॥

जब कफ और वातको निर्बल करके शरीरमें पित्त प्रबल होता है, तब शरीरमें ताप हो आता है। जब पावस और ग्रीष्मका बल तोड़कर शीतलता आती है, तब वातावरणमें शीतका संचार होता है। जब स्वप्न और जाग्रति दोनों ही अवस्थाओंका लोप हो जाता है और केवल सुषुप्तिकी ही दशा बाकी रह जाती है, तब चित्त-वृत्ति कुछ देरके लिए सुषुप्ति-मय ही हो जाती है। ठीक इसी प्रकार जब सत्व-गुण प्रबल होता है, तब वह रज और तम दोनोंको दबा देता है और जीवके मुखसे इस प्रकारका उद्गार निकलवाता है कि—"मैं कितना अधिक सुखी हूँ।" ठीक इसी प्रकार जब सत्व और रजको दबाकर तमोगुण बढ़ जाता है, तब वह जीवको सहजमें ही प्रमादके वशमें कर देता है। इसी प्रकार जब सत्व और तमको दबाकर रजोगुण प्रबल होता है, तब देहका स्वामी जीवात्मा यह मानने लगता है कि कर्मसे बढ़कर अच्छी और कोई बात नहीं है।" इन तीनों गुणोंकी वृद्धिका विषय तीन श्लोकोंमें बतलाया गया है। तो भी आप लोग अब सावधान होकर यह सुनें कि सत्व आदि तीनों गुणोंकी वृद्धि किस प्रकार होती है।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥ ११॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥ १२॥
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥ १३॥
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते॥ १४॥
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥ १५॥

"जिस समय रज और तमको दबाकर सत्व इस शरीर पर अपनी एकतन्त्री सत्ता स्थापित कर लेता है, उस समय मनुष्योंमें नीचे लिखे लक्षण दिखाई देने लगते हैं। वसन्त-ऋतुमें कमलकी सुगन्ध स्वयं कमलमें ही न समाकर जिस प्रकार चारों ओर फैलने लगती है, उसी प्रकार उस मनुष्यका ज्ञान अन्दर न समा सकनेके कारण बाहर निकलने लगता है। सभी इन्द्रियोंमें विवेक बुद्धि बसी रहती है; और हम यह भी कह सकते हैं कि उसके कारण हाथों और पैरोंको एक अद्भुत दृष्टि प्राप्त हो जाती है। यदि राजहंसके सामने यह प्रश्न उपस्थित हो कि दूध कौन सा है और पानी कौन सा है, तो जिस प्रकार उसकी चोंच ही इस प्रश्नका निर्णय कर सकती है, उसी प्रकार योग्य और अयोग्य, पाप और पुण्य आदिको परखकर उनका निर्णय करनेका काम उसकी इन्द्रियाँ आपसे आप करने लगती हैं और नियम अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह तो मानों उसका सेवक ही हो जाता है। जो बात

सुननेके योग्य नहीं होती, उसे उसके कान आपसे आप टाल जाते हैं, जो चीज नहीं देखने-के योग्य होती, उसका बहिष्कार उसकी दृष्टि स्वयं ही कर देती है और जो बात नहीं कहनेके योग्य होती, उसकी ओर उसकी जीभ कभी प्रवृत्त ही नहीं होती। जिस प्रकार दीपककी ज्योतिके सामने से अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म भी उसकी इन्द्रियोंके सामने ठहरते ही नहीं और तुरन्त भाग जाते हैं जिस प्रकार वर्षा-ऋतुमें कोई बड़ी नदी खूब बढ़ जाती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सब शास्त्रोंमें पूर्ण रूप से संचार करती है। जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाकी प्रभा खूब जोरोंसे आकाशमें फैलती है, वैसे ही उसकी वृत्ति भी ज्ञानके प्रान्तमें खूब स्वतंत्रतापूर्वक चारों ओर विहार करती है। वासना वृत्ति एक स्थानमें स्थिर हो जाती है, प्रवृत्तियाँ आगेकी ओर बढ़नेसे रुक जाती है और मन विषय-भोगोंकी ओरसे विरक्त हो जाता है। तात्पर्य यह कि जब सत्व गुणको वृद्धि होती है, तब मनुष्यमें ही यही सब लक्षण स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगते हैं। और यदि इसी अवस्थामें उसकी मृत्यु हो जाय तो मानों वैसा ही आनन्दका योग उपस्थित होता है, जैसा सुकाल पड़ने पर और घरमें उत्तम पक्वान्न बनने पर और स्वर्गसे किसी प्रिय अतिथिके आ जाने पर होता है। घरमें जैसी सम्पत्ति होती है, यदि अन्तरंगकी वृत्ति भी वैसी उदार और अघोर हो तो भला परलोक-साधनके साथ ही साथ इह-लोक साधन भी क्यों न हो? हे अर्जुन, भला ऐसे पुरुषकी उपमा कहाँ मिल सकती है? इसी प्रकार जो सत्व गुणसे सम्पन्न हो, उसकी इसके सिवा और कौन सी गति हो सकती है? कारण यह है कि जीवात्मा जब चरम सीमा तक पहुँचा हुआ शुद्ध सत्व साथ लेकर यह भोग-साधक देह-रूपी घोंसला छोड़कर बाहर निकलता है और इस प्रकारकी सत्व-सम्पन्न स्थितिमें अक-स्मात् इस शरीरसे छूटता है, वह केवल सत्वकी ही मूर्ति होता है और आगे चलकर वह ज्ञानी जनोंमें जन्म लेता है। हे अर्जुन, यदि राजा अपना सारा वैभव अपने साथ लेकर किसी पर्वत पर चला जाय तो तुम्हीं बतलाओ कि क्या वहाँ उसके महत्वमें किसी तरहकी कमी हो सकती है? अथवा हे अर्जुन, यदि एक गाँवका दीपक उठाकर किसी दूसरे गाँवमें पहुँचा दिया जाय तो भी क्या वह दीपक ही नहीं बना रहता? ठीक इसी प्रकार उस शुद्ध सत्वके कारण ज्ञानकी विलक्षण वृद्धि होती है और बुद्धि विवेकरूपी सागरमें तैरने लगती है। फिर महद् आदि समस्त तत्वोंका यथा-सांग विचार करके अन्तमें जो जीव आत्म-स्वरूपमें मिलकर सम-रस हो जाता है और उस शुद्ध ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है, जो छत्तीसों तत्वोंसे भी परेका सैंतीसवाँ तत्व है (देखो ऊपर तेरहवें अध्यायका आरम्भ) अथवा जो सांख्यमें बतलाये हुए चौबीसों तत्वोंसे परेका पचीसवाँ तत्व है, जो गुण-त्रय, देह-त्रय और अवस्था त्रय आदि सबसे आगे या परेका और चौथा है और जो शुद्ध सत्व है वह उस सर्वोत्तम सत्वके बल पर पर ऐसा शरीर प्राप्त करता है, जिसकी इस संसारमें कोई उपमा ही नहीं है। इसी प्रकार तम और सत्व इन दोनों गुणोंको दबाकर जब रजोगुण बलवान् होता है, तब वह अपने कार्य-क्रमसे इस देह-रूपी ग्राममें धमा-चौकड़ी मचा देता है। उस समय मनुष्यमें जो लक्षण उत्पन्न होते हैं, वह भी सुन लो। जिस प्रकार आँधी आरम्भ होने पर बहुत-सी चीजों को एकत्र करके आसमानमें उड़ा ले जाती है, उसी प्रकार जब रजोगुण का आवेश या प्रबलता होती है, तब वह इन्द्रियोंको

विषयोंका भोग करनेके लिए बिलकुल मुक्त कर देता है। पराई स्त्री पर कामुकतापूर्ण दृष्टिसे देखनेको वह नीति-विरुद्ध नहीं समझता और बकरीके मुँहकी तरह वह अपनी इन्द्रियोंको अनिर्बन्ध रूपसे चारों ओर चरने देता है। उसकी विषय-लालसा इतनी अधिक बढ़ जाती है कि उससे केवल वही चीज बच सकती है, जो किसी तरह उसके हाथमें नहीं आ सकती। हे अर्जुन, उसके सामने जो उलटा-सीधा काम आता है, उसकी प्रवृत्ति उस कार्यकी ओर हुए बिना नहीं रहती। कभी कभी उसके सिर पर ऐसी बेढब धुन भी सवार हो जाती है कि कोई बहुत बड़ा भवन या मन्दिर बनवाना चाहिए अथवा अश्वमेध यज्ञ करना चाहिए। वह यह भी सोचता है कि कोई नगर बसाना चाहिए, वापी या जलाशय आदि बनवाने चाहिएँ अथवा अनेक प्रकारके बड़े बड़े बाग लगवाने चाहिएँ। वह इस प्रकारके बहुत बड़े बड़े कार्य आरम्भ करता है। उसकी पारलौकिक तथा ऐहिक सुखोंकी लालसा कभी पूरी नहीं होती। उसके अन्तःकरणमें सुखकी ऐसी अपरम्पार और प्रचंड अभिलाषा सदा भरी रहती है जिसके सामने महासागरका असीम विस्तार और गहराई कोई चीज नहीं होती और जिसके आगे अग्निकी दाहक शक्तिका भी कोई मूल्य या महत्व नहीं रह जाता। उसके मनके आगे आगे भोग-लालसा आशाके वशीभूत होकर बराबर दौड़ लगाती रहती है और वह भोग-लालसा भटकती हुई सारे संसारको अपने पैरों तले रौंद डालती है। जब इस प्रकार मनुष्यमें रजोगुणका विस्तार होता है, तब ऊपर बतलाये हुए सब चिह्न मनुष्यमें सहजमें ही उत्पन्न हो जाते हैं; और इस प्रकारकी गड़बड़ी मचने पर जब देह-पात होता है, तब वह इन सब गड़बड़ियोंको अपने साथ लेकर ही दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है, परन्तु उसे मनुष्य-योनि ही प्राप्त होती है। यदि कोई भिखारी सब प्रकारके सुखों और वैभवोंसे युक्त होकर किसी राज-भवनमें जा बैठे तो भी क्या वह कभी राजा हो सकता है? बैलको खानेके लिए सदा कड़बी ही मिलेगी, फिर चाहे वह बैल किसी बहुत बड़े सम्पन्न और धनवान व्यक्तिकी बरातमें ही क्यों न आया हो। इसी लिए वह केवल ऐसे ही लोगोंकी पंक्तिमें बैठाया जाता है, जिनके सांसारिक व्यवहार रात-दिन चलते रहते हैं और जिन्हें कभी क्षण भरका भी विश्राम नहीं मिलता। तात्पर्य यह कि जो मनुष्य रजोगुणकी वृत्तियोंमें मग्न रहनेकी अवस्थामें मृत्युको प्राप्त होता है, वह फिर भी कर्मठोंमें ही जन्म धारण करता है। इसी प्रकार रज और सत्व दोनोंको स्वाहा करके तमोगुण बलवान् होता है। उस अवस्थामें शरीरके अन्दर और बाहर जो लक्षण दिखाई देते हैं वह भी सुन लो। इस तमोगुणके कारण मन अमावस्याकी रात्रिके उस आकाशके समान हो जाता है जिसमें न तो सूर्य ही होता है और न चन्द्रमा ही। उसी अमावस्याकी रात्रिके आकाशकी भाँति उसका अन्तःकरण शून्य, निश्चेतन और उदासीन रहता है। उस अवस्थामें उसके मनमें विचारके लिए कोई स्थान ही नहीं रह जाता। उसकी बुद्धिकी मृदुता इतनी अधिक नष्ट हो जाती है कि कठोरतामें पत्थर भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता। उसकी स्मरण शक्ति तो बिलकुल ही भ्रष्ट हो जाती है। अविचारका उद्दाम और प्रबल वेग उसके सारे शरीरमें अन्दर और बाहर सब जगह भरा रहता है। वह जीव

निरन्तर केवल मूर्खताका ही लेन-देन करता रहता है। सदाचारका उल्लंघन सदा मूर्तिमान होकर उसकी इन्द्रियोंके सामने खड़ा रहता है और इसी लिए चाहे उसे मरणके तुल्य यातना भी क्यों न प्राप्त हो, परंतु फिर भी वह अपनी अनाचारपूर्ण और घातकी क्रियाएँ बराबर करता रहता है। इसमें एक और मजेकी बात यह है कि जैसे उल्लूको केवल अँधेरेमें ही दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार उस तामस जीवको सदा दुष्ट कर्म करनेमें ही सबसे अधिक आनन्द मिलता है। इसी प्रकार यदि कभी उससे कह दिया जाय कि अमुक कार्य निषिद्ध है, तो फिर वही कार्य करने की उत्कट कामना उसके मनमें उत्पन्न होती है और उस कामनाके साथ ही साथ उसकी इन्द्रियाँ भी वह काम करनेकी ओर दौड़ पड़ती हैं। ऐसा जीव बिना मद्य पिये हुए भी मद्यपोंकी तरह झोंके खाता रहता है, शरीरमें वायुका वेग न रहने पर भी बड़बड़ाता रहता है और हृदयमें प्रेम न होने पर भी पागलोंकी तरह मोहमें फँसा रहता है। यह ठीक है कि उसका चित्त ठिकाने नहीं रहता, पर साथ ही वह उन्मनी अवस्थामें भी नहीं रहता। इस प्रकार वह सदा मादक मोहसे आक्रान्त रहता है। तात्पर्य यह कि जिस समय तमोगुण अपने परिवारके सहित बलवान रहता है, उस समय वह ये सब चिह्न प्रबल रूपसे उत्पन्न करता है। और यदि इसी अवस्थामें उस जीवके लिए मृत्युका आमन्त्रण आवे तो वह अपने सिर पर इस तमोगुणका भार लिए हुए ही इस शरीरसे निकलता है। राई अपना राई-पन (अर्थात् अपना विशिष्ट गुण) और स्वरूप अपने बीजमें रखकर स्वयं सूख और मर जाती है। पर फिर जब वह बीज अंकुरित होता है तब क्या उसमेंसे राईके सिवा कभी और कुछ भी उत्पन्न हो सकता है? जिस अग्निसे दीपककी ज्योति जलती है, वह मूल अग्नि यदि बुझ भी जाय तो क्या हो सकता है? जब तक उसकी जलाई हुई दीपककी ज्योति जलती रहती है, तब तक उस मूल अग्निका सारा स्वरूप उस ज्योतिमें वर्त्तमान रहता है। इसी प्रकार जब जीव अपने संकल्पोंको तमकी गठरीमें बाँधकर और अपने सिर पर वह गठरी लादकर इस शरीरसे बाहर निकलता है, तब वह फिर तामस शरीर ही प्राप्त करता है। परन्तु अब इस विषयका व्यर्थ और अधिक विस्तार करनेसे क्या लाभ? तमोगुण बढ़े रहनेकी अवस्थामें जब मनुष्य मरता है, वह पशु-पक्षी अथवा कीड़े-मकोड़ेकी योनिमें जाता है।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्॥ १६॥

"इसी लिए श्रुति कहती है कि जो सत्त्व गुणसे उत्पन्न होता है, वह कृत अर्थात् पुण्य कृत्य है। और इसी लिए उस निर्मल सत्त्वसे सुख और ज्ञानका जो अपूर्व फल सहजमें प्राप्त होता है, उसे सात्त्विक फल कहते हैं। रजोगुणकी क्रिया अर्थात् फलको इन्द्रायणके फलके समान समझना चाहिये, क्योंकि वह फल इन्द्रायणके फलके समान ही बाहरसे तो सुन्दर सुखोंसे युक्त दिखलाई देता है, परन्तु अन्तमें वह इन्द्रायणके फलके समान ही कटु दुःखोंसे युक्त सिद्ध होता है। अथवा नीमका फल जिस प्रकार ऊपरसे देखनेमें तो बहुत अच्छा रहता है, परन्तु अन्दरसे विषाक्त और कड़ुआ होता है, उसी प्रकार राजस क्रियाओंके फल भी ऊपरसे देखनेमें अच्छे, पर अन्दरसे बहुत

ही बुरे होते हैं। जिस प्रकार विषाक्त वृक्षके फल भी विषाक्त ही होते हैं, उसी प्रकार तामस कर्मोंका फल भी अज्ञान ही होता है।

सत्त्वात्संजायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च॥१७॥

"इसी लिए, हे भाई अर्जुन, जिस प्रकार दिन-मानका कारण सूर्य होता है, उसी प्रकार ज्ञानका कारण सत्त्व गुण है। इसी प्रकार जैसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृतिसे द्वैतकी उत्पत्ति होती है, वैसे ही रजोगुणसे लोभकी उत्पत्ति होती है। और हे सुविज्ञ अर्जुन, मोह, अज्ञान और प्रमाद आदि जो बहुतसे दोष एकत्र दिखाई देते हैं, उन सबका कारण सदा तमोगुण ही होता है। जिस प्रकार हाथ पर रखा हुआ आँवला स्पष्ट दिखाई देता है, उसी प्रकार इन तीनों गुणोंके लक्षण मैंने अलग अलग इस तरह तुम्हें बतला दिये हैं कि वे भी तुम्हें हाथ पर रखे हुए आँवलेके समान ही स्पष्ट दिखाई दें। रज और तमका अधःपात केवल सत्त्व ही कर सकता है। सत्त्वके सिवा और कोई गुण जीवात्माको ज्ञानकी ओर नहीं ले जा सकता। इसी लिए जिस प्रकार कुछ लोग अपना सर्वस्व परित्याग करके चौथी भक्ति अर्थात् संन्यास भक्तिको अंगीकार करते हैं, उसी प्रकार बहुत-से लोग जन्म भर केवल सात्त्विक वृत्तिके व्रतका ही आचरण करते हैं।

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥१८॥

"इसी प्रकार जो लोग केवल सात्त्विक वृत्तिसे ही अपने सब व्यवहार करते हैं, वे देह-पात होनेपर स्वर्गके राजा होते हैं। जो लोग रजोगुणमें ही जीवित रहते और उसीमें मरते हैं, वे मरने पर फिर इसी मर्त्य-लोकमें मनुष्य-योनिमें जन्म लेते हैं। वे लोग इस लोकमें एक ही थालीमेंसे सुख और दुःखकी खिचड़ी खाते हैं और उनके मार्गमें बाधक होनेवाली मृत्यु कभी अपने स्थानसे हटती ही नहीं। अर्थात् उनके सुख सदा दुःखोंसे मिश्रित रहते हैं और वे मृत्युसे कभी बच नहीं सकते—सदा जन्म लेते और मरते रहते हैं। और जो लोग तमोगुणमें ही बढ़े होते हैं और उसी तमोगुणवाली अवस्थामें जिनके इस भोग-क्षम शरीरका पात होता है, वे तामस स्थितिको प्राप्त होते हैं और उन्हें मानो सदा नरक भूमिमें रहनेका पट्टा ही मिला रहता है—वे कभी नरकसे मुक्त नहीं होते। हे अर्जुन, इस प्रकार ब्रह्मकी सत्तासे उत्पन्न होने और बढ़नेवाले इन तीनों गुणोंके स्वरूप और शक्तियाँ मैंने तुमको स्पष्ट रूपसे बतला दी है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो ब्रह्मके स्वरूपमें कभी कोई भेद होता ही नहीं; परन्तु वह ब्रह्म ही स्वयं भिन्न-भिन्न अवसरों पर इन गुणोंके लक्षणोंके अनुसार क्रिया करता है। जब कभी कोई पुरुष स्वप्नमें राजा होता है और तब यह देखता कि मुझपर किसी दूसरे राजाने आक्रमण किया है और तब स्वप्नमें ही वह विजयी अथवा पराजित होता है, तब स्वयं वह पुरुष ही उस राज्य और जय अथवा पराजयका भोग करता है। इसी प्रकार इन गुणोंके मैंने जो उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन वृत्ति-भेद बतलाये हैं, वे केवल ऊपरी और दिखावटी हैं; और यदि वास्तवमें देखा जाय तो वह ब्रह्म इन भेद-दृष्टियोंसे बिलकुल अलग, अचंचल और शुद्ध ही है।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१९॥

"परन्तु अब इस विस्तारका यहीं अन्त हो जाना चाहिए। बात केवल यह है कि उस एक ब्रह्मके अतिरिक्त तुम और किसी वस्तुको मत मानो। अब मैं पहले बतलाई हुई बात ही तुम्हें फिरसे बतलाता हूँ; सुनो। तुम यह बात ध्यानमें रखो कि ये तीनों गुण इस देहको निमित्त बनाकर ही अपनी अपनी सामर्थ्य दिखलाते हैं। अग्नि जिस प्रकार वही रूप धारण करती है जो रूप ईंधनका होता है अथवा पृथ्वीके अन्दर रहनेवाला रस जिस प्रकार वृक्षके रूपमें दिखाई देता है अथवा दहीके रूपमें जिस प्रकार दूध रूपान्तरित होता है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊखको निमित्त बनाकर और उसके रूपमें प्रकट होती है, उसी प्रकार ये तीनों गुण भी अन्तःकरणसे युक्त इस शरीरका रूप धारण करते हैं और इसी लिए वे बन्धनके कारण बनते हैं। हे अर्जुन, इसमें एक बहुत बड़ी विलक्षण बात यह है कि इन तीनों गुणोंका शरीरके साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध होता है, उसके कारण जीवात्माकी सहज स्वतन्त्रतामें कभी नामको भी कमी नहीं होती। ये तीनों गुण अपने अपने धर्मोंके अनुसार शरीरके संचित और क्रियमाण कर्मोंका आचरण करते रहते हैं, परन्तु फिर भी उनके कारण निर्गुण आत्म-तत्वमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं आने पाती। अब मैं तुमको यह बतलाना चाहता हूँ कि इन गुणोंके झमेले बने रहने पर भी जीवात्माको सहजमें मुक्ति प्राप्त हो सकती है। और इसका कारण यह है कि तुम ज्ञान रूपी कमलमें रमण करनेवाले रसिक भृंग हो। मैंने तुम्हें पहले (अध्याय तेरहका आरम्भ) यह रहस्य बतलाया है कि गुणोंके मध्यमें रहनेवाला चैतन्य तत्व कभी गुणोंके समान नहीं होता। बस ठीक यही बात यहाँ भी है। इसलिए हे अर्जुन, जिस समय जीवको आत्म-बोध होता है, उस समय वह यह बात समझने लगता है। जिस प्रकार जाग्रत होने पर स्वप्नका मिथ्यात्व प्रतीत होता है अथवा जब हम तट पर शान्तिपूर्वक बैठे रहते हैं, तब इस बातका ज्ञान होता है कि जलकी लहरोंमें जो कुछ हिलता हुआ दिखाई देता है, वह हमारा शरीर नहीं है, बल्कि उसका प्रतिबिम्ब है अथवा अभिनय-कलामें अत्यन्त निपुण होने पर भी जिस प्रकार स्वयं नट कभी अपने संबंधमें धोखा नहीं खाता और यह नहीं समझता कि मैं वही व्यक्ति हूँ, जिसका मैं इस समय अभिनय कर रहा हूँ, उसी प्रकार जीवात्माको भी उचित है कि वह अपने आपको इन तीनों गुणोंसे अलग रहकर देखे। आकाश भिन्न भिन्न तीनों ऋतुओंको अंगीकार करता है, परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह स्वयं अपने स्वरूपमें कभी किसी तरहकी भिन्नता या मिथ्यात्व नहीं आने देता, उसी प्रकार जो इन तीनों गुणोंमें रहकर भी उनसे परे या अलग रहता है, वह स्वयं सिद्ध आत्म-तत्वका सदा अहं ब्रह्माऽस्मिके मूल पीठ पर आरूढ़ रहता है। उस मूल पीठ परसे देखता हुआ वह आत्म-तत्व कहता है—"मैं केवल साक्षी हूँ और मैं कुछ भी नहीं करता। ये गुण ही इन कर्मोंके व्यूहकी रचना करते हैं।" सत्व, रज और तमके भिन्न भिन्न लक्षणोंसे कर्मकी व्यापकताका विस्तार होता रहता है और यह कर्मकांड मानों इन गुणोंका ही विकार है। और गुणों तथा कर्मोंके मिश्रणमें मैं किस प्रकार हूँ? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार वनमें दिखाई

पड़नेवाली वन-शोभाका मूल कारण वसन्त होता है अथवा जिस प्रकार नक्षत्र पहले तो फीके पड़ते हुए दिखाई देते हैं और तब अदृश्य हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार सूर्य-कान्त मणि प्रज्वलित होती है अथवा कमल फूलते हैं अथवा अन्धकार नष्ट होता है अथवा सूर्योदय होने पर उसके साथ होनेवाले इसी प्रकारके और कार्य होते हैं। जिस प्रकार सूर्योदयके साथ होनेवाले ये सब कार्य कभी सूर्यके अंग नहीं होते, उसी प्रकार मैं भी अपनी सामर्थ्यसे सब प्रकारके कर्मोंका हेतु होने पर भी सदा अकर्ता रहता हूँ और मुझमें इन कर्मोंका लेप नहीं होता। मेरे प्रकट करनेके कारण ही गुण प्रकट होते हैं और उनमें मैं ही सामर्थ्य उत्पन्न करता हूँ; परन्तु इन गुणोंके निःशेष होने पर जो तत्व बाकी रह जाता है, वह निर्गुण और शाश्वत तत्व मैं ही हूँ। हे अर्जुन, जो पुरुष इस प्रकारकी विवेक बुद्धिसे उन्नत होता है, वह परम गति प्राप्त करके गुणोंकी सीमाके उस पार पहुँच जाता है।

गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥

"ऐसा पुरुष उस स्वतन्त्र तत्वको बिलकुल पूरी तरहसे जानता है जो सब गुणोंसे परे है; और इसका कारण यह है कि उस पर ज्ञानकी छाप पूरी तरहसे पड़ी रहती है। हे अर्जुन, सारांश यही है कि जिस प्रकार कोई नदी समुद्रमें मिलकर उसके साथ एक-रस हो जाती है, उसी प्रकार ऐसा ज्ञानी पुरुष मेरे साथ एक-रस होकर सारूप्य प्राप्त करता है। नलिका-यन्त्रके भ्रमणसे छुटकारा पानेवाला तोता जिस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक वृक्षकी शाखा पर जा बैठता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी जीव मायासे छुटकारा पाकर अहं ब्रह्माऽस्मिके मूल अहं तत्व पर स्थित हो जाता है। और हे अर्जुन, इसका कारण यह है कि अब तक अज्ञानकी निद्रामें पड़ा हुआ जो जोर जोरसे खर्राटे ले रहा था, वही अब आत्म-स्वरूपका बोध प्राप्त करके जाग उठता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, जब बुद्धि-भेद उत्पन्न करनेवाला मोहका दर्पण उसके हाथसे गिर पड़ता है, तब उसे प्रतिबिम्बका आभास कभी हो ही नहीं सकता। जब देहाभिमान रूपी पवनके झोंके बन्द हो जाते हैं, तब लहरों और सागरके समान जीव और शिव दोनों मिलकर एक-रूप हो जाते हैं। इसी लिए जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके अन्तमें मेघ आकाशमें लीन हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म तत्वमें लीन होकर तद्रूप हो जाता है। और इस प्रकार ब्रह्म-भावकी प्राप्ति हो जाने पर यदि वह देहान्त होने तक इसी शरीरमें रहता है, तो भी शरीरसे उत्पन्न होनेवाले गुणोंकी बातोंके फेरमें वह कभी नहीं पड़ता। जिस प्रकार काँच अथवा अबरकके आच्छादनसे दीपकका प्रकाश कभी रोका नहीं जा सकता अथवा समुद्रके जलसे जिस प्रकार बड़वाग्नि कभी बुझ नहीं सकती, उसी प्रकार गुणोंके संचारके कारण जीवका बोध कभी मलिन नहीं हो सकता। जिस प्रकार आकाशका चन्द्रमा जलमें प्रतिबिम्बित होने पर भी जलसे सदा निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार चाहे वह देहमें रहता हुआ भले ही दिखाई पड़े, परन्तु फिर भी उसमें देहके धर्म नहीं लगते। तीनों गुण अपनी अपनी सामर्थ्यसे शरीर के स्वाँग प्रस्तुत करके उसे नचाते रहते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष उनको ओर देखनेके लिए कभी भूलकर भी अपना अहं ब्रह्माऽस्मि वाला भाव क्षण-मात्रके लिए भी अपनेसे

अलग नहीं करते। उनके अन्तःकरणमें आत्म-स्वरूपका निश्चय इतना अधिक दृढ़ होता है कि उन्हें कभी इस बातका भान भी नहीं होता कि हम इस शरीरमें रहकर कुछ करते भी हैं या नहीं। जब साँप एक बार अपनी केंचुली छोड़कर अपने गहरे बिलमें चला जाता है, तब फिर उस केंचुलीका वह भला कब ध्यान करता है? ठीक वही बात यहाँ भी होती है। अथवा जब कोई सुगन्धित कमल खिलता है, तब उसकी सारी सुगन्धि आकाशमें मिलकर लीन हो जाती है और वह फिर कभी लौटकर उस कमल-कोशमें नहीं आती। इसी प्रकार जब ब्रह्मका सारूप्य प्राप्त हो जाता है, तब इस बातका भान ही नहीं रह जाता कि यह शरीर क्या है और इसके धर्म क्या हैं। इसी लिए शरीरके जन्म, जरा, मरण आदि जो छः गुण हैं, वे शरीरमें ही रहते हैं और ज्ञानी जीवके साथ उनका सम्पर्क नहीं होता। जब घड़ा टूट जाय और छोटे छोटे ठीकरोंके रूपमें परिवर्तित हो जाय, तब यही समझना चाहिए कि घटाकाश आपसे आप तत्काल ही महदाकाशमें सम्मिलित होकर उसीका रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जब देहका अभिमान लुप्त हो जाय और अपने आत्म-स्वरूपका स्मरण हो जाय, तब भला उस आत्म-स्वरूपके अतिरिक्त और क्या बाकी रह सकता है? इस अत्यन्त श्रेष्ठ आत्म-बोधसे युक्त होकर जो वह शरीरमें निवास करता है, इसीसे मैं उसे गुणातीत कहता हूँ।" भगवानके ये वचन सुनकर अर्जुनको उसी प्रकारका अत्यन्त आनन्द हुआ, जिस प्रकारका आनन्द उस मोरको होता है जिसे मेघ स्वयं ही गरज कर पुकारता है।

अर्जुन उवाच—

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥२१॥

इस प्रकारका सन्तोष प्राप्त करके अर्जुनने पूछा—"हे भगवान्, जिसे इस प्रकारका आत्म-बोध हो जाता है, उसमें कौन-से लक्षण दिखाई पड़ते हैं? वह अपनी वृत्तिको किस प्रकार निर्गुण रखता है? वह गुणोंके बन्धनसे किस प्रकार छूटता है? हे कृपा-निधि, आप ये सब बातें मुझे बतला दें।" षड्गुणोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनकी इन शंकाओंका समाधान करते हुए कहने लगे—"हे अर्जुन, मुझे इस बातका बहुत ही आश्चर्य हो रहा है कि तुमने केवल ये सब शंकाएँ की हैं। तुम गुणातीतके आचारके सम्बन्धमें पूछते हो। परन्तु जिसमें आचार हो, क्या उसे गुणातीत कहना ही अनुचित नहीं है? जिसे गुणातीत कह सकते हों, वह गुणोंके क्षेत्रमें कभी जाता ही नहीं। अथवा यदि वह कदाचित् गुणोंके क्षेत्रमें आचरण करता हुआ दिखाई पड़े तो भी वह कभी गुणोंके हाथोंमें नहीं पड़ता। हाँ यदि तुम्हारे मन में यह शंका हो कि गुणोंके सब व्यापारोंके चलते रहने पर भी उन गुणोंके मध्यमें रहकर सब प्रकारके कार्य करने-पर भी वह किस प्रकार गुणोंके हाथोंमें नहीं पड़ता, तो इसके सम्बन्धमें अवश्य ही तुम प्रसन्नतापूर्वक पूछ सकते हो। अब तुम इसी शंकाका उत्तर सुनो।

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥२२॥

"रजोगुणकी रंगत चढ़ने पर शरीरमें कर्मके अंकुर उत्पन्न होते हैं और जीव प्रवृत्तियोंसे घिर जाता है। उस अवस्थामें जिस व्यक्तिको इस प्रकारका अभिमान छू भी नहीं जाता कि केवल मैं ही कर्म करनेवाला हूँ अथवा अपने कर्मोंके निष्फल होने पर भी जिसे कोई दुःख नहीं होता अथवा जिस समय सत्व गुणकी वृद्धि होनेके कारण समस्त इन्द्रियों पर ज्ञानके तेजका प्रसार होता है, उस समय विद्याके अभिमान अथवा सन्तोषसे जो फूल नहीं जाता अथवा तमोगुणकी वृद्धि होने पर भी जो मोहके फेरमें नहीं पड़ता और मनमें अज्ञानका खेद नहीं करता, जो मोहका प्रसंग पड़ने पर ज्ञानके लिए उत्कंठित नहीं होता और ज्ञानका प्रसंग पड़ने पर कर्मोंका परित्याग नहीं करता और अपने हाथोंसे कर्म ही जाने पर भी दुःखी नहीं होता, जो ठीक उसी प्रकार कोई भेद नहीं करता, जिस प्रकार सूर्य प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकालका कोई काल-भेद नहीं करता, उस पुरुषमें ज्ञान उत्पन्न करनेके लिए भला किसी दूसरेके ज्ञान रूपी प्रकाशकी क्या आवश्यकता है? क्या कभी समुद्रको भरनेके लिए वर्षा-ऋतुकी भी आवश्यकता हुआ करती है? अथवा यदि वह कर्मोंका आचरण भी करे तो क्या कभी कर्मठता उसके साथ संलग्न हो सकती है? हे अर्जुन, तुम्हीं बतलाओ कि क्या हिमालय भी कभी सरदीसे काँपता है? अथवा मोहका प्रसंग प्राप्त होने पर वह कभी ज्ञानका परित्याग कर सकता है? ग्रीष्म चाहे कितना ही अधिक उग्र और तीव्र क्यों न हो, परन्तु क्या वह कभी अग्निको भी जला सकता है?

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

"ठीक इसी प्रकार इन गुणोंका कार्य भी आपसे आप ही होता है और वे आत्म-सत्तात्मक हैं, इसी लिए वह उन गुणोंका विश्लेषण या विवेचन करनेके फेरमें नहीं पड़ता। उसे इस प्रकारका पूर्ण ज्ञान हो चुका रहता है, इसलिए वह इस शरीरका उसी प्रकार आश्रय लेता है, जिस प्रकार कोई यात्री रास्ता चलते समय मार्गमें किसी धर्मशालामें कुछ समयके लिए ठहर जाता है। जिस प्रकार युद्धकी भूमि हार और जीतमें किसी प्रकार सम्मिलित नहीं होती, उसी प्रकार वह भी लाभ और हानिका हिस्सेदार नहीं होता। न तो वह गुणोंके साथ मिलता ही है और न कर्तृत्वको ही अंगीकार करता है। जिस प्रकार शरीरमें रहनेवाले प्राण अथवा दूसरेके घरमें अतिथिके रूपमें आकर रहनेवाला ब्राह्मण अथवा चौरस्ते पर गड़ा हुआ खम्भा अपने आस-पास और चारों तरफ होनेवाली बातोंकी ओरसे सदा बिलकुल उदासीन रहता है, उसी प्रकार वह ज्ञानी भी अपने शरीरमें बिलकुल उदासीन भावसे रहता है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार मृगजल-की लहरोंसे मेरु पर्वत विचलित नहीं होता, उसी प्रकार गुणोंके गमनागमनके उपद्रवसे वह ज्ञानी पुरुष भी विचलित नहीं होता। अब यह बात और अधिक विस्तार करके कहाँ तक बतलाई जाय। वायुके झोंकोंसे आकाश कभी उड़ाया नहीं जा सकता और अन्धकारसे सूर्यको कभी छिपाया नहीं जा सकता। स्वप्न कभी जागते हुए मनुष्यको धोखा नहीं दे सकता। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषको गुण भी कभी बाँध नहीं सकते। वह कभी गुणोंके हाथमें नहीं पड़ता; परन्तु जिस समय दूरसे तटस्थ होकर उनकी ओर देखता है,

उस समय उसका गुणोंका अवलोकन उसी प्रकारका होता है, जिस प्रकार नाटकगृहके दर्शक तटस्थ होकर कठपुतलियोंका नाच देखते हैं। सत्व सदा शुद्ध कर्मोंमें, रज सदा वैषयिक कर्मोंमें और तम सदा मोह और अज्ञान आदिमें ही विहार करता है; परन्तु वह रहस्य स्पष्ट रूपसे समझ रखो कि गुणोंका यह विहार केवल आत्म-तत्वकी सत्तासे ही होता है। और इसकी उपमा या उदाहरण यही है कि सूर्य सब लोगोंके व्यापारों और व्यवहारोंका संचालन तो करता ही है, पर उन सबको वह बिलकुल तटस्थ रहकर देखता है। अथवा जब चन्द्रमाका उदय होता है, तब समुद्रमें बाढ़ आती है, चन्द्रकान्त मणि पसीजने लगती है और कुमुद विकसित होते हैं; परन्तु चन्द्रमा उन सबसे अलग और निर्लिप्त रहता है। वायु चाहे खूब जोरोंसे बहे और चाहे शान्त भावसे धीरे धीरे चले, परन्तु आकाश सदा अविचल और अविकृत ही रहता है। ठीक इसी प्रकार गुणोंके संसर्गके कारण ज्ञानी पुरुष कभी विचलित नहीं होता। हे अर्जुन, गुणातीतको इन्हीं सब लक्षणोंसे पहचानना चाहिए। अब यह सुनो कि उसका आचरण कैसा होता है।

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥२४॥

"हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्रके अन्दर और बाहर सूतोंके सिवा और कुछ भी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी यह देखता है कि यह स्थावर और जंगम विश्व आत्म-तत्वके सिवा और कुछ भी नहीं है। जिस प्रकार परमेश्वर अपने वैरियोंको भी और भक्तोंको भी एक ही प्रकारकी परम-गति देता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सुख और दुःख दोनोंको एक समान समझता है। वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो यदि जीव इस शरीरमें उसी प्रकार विहार करे; जिस प्रकार मछली जलमें विहार करती है, तो उसे सुख और दुःखका सहज ही अनुभव होना चाहिए। परन्तु ज्ञानी पुरुष सुख और दुःख सबको पूरी तरहसे छोड़ चुका होता है और सदा आत्म-स्वरूपमें निमग्न रहता है। जब खेतमें फसल तैयार हो जाती है, तब जिस प्रकार बालोंमें दाने भरकर बाहर निकलने लगते हैं अथवा जिस समय नदी अपना प्रवाह छोड़कर समुद्रमें मिल जाती है, उस समय जिस प्रकार उसकी सारी उछल-कूद ठंढी पड़ जाती है, उसी प्रकार मनुष्य जिस समय आत्म-स्वरूपमें रमण करने लगता है, उस समय उसे शरीरके सुख और दुःख का भान ही नहीं होता और वे सब उसके लिए समान हो जाते हैं। जिस प्रकार किसी खम्भेके लिए रात और दिन दोनों समान होते हैं, उसी प्रकार आत्म-स्वरूपमें रमण करनेवाले मनुष्यके लिए शरीरके सुख और दुःख, हानि और लाभ आदि द्वन्द्व एक-से हो जाते हैं। जो मनुष्य गहरी नींदमें सोया रहता है, उसके लिए सर्पका स्पर्श भी वैसा ही होता है, जैसा उर्वशी सरीखी किसी अप्सराके अंगका स्पर्श। ठीक इसी प्रकार आत्म-स्वरूपमें मग्न रहनेवाले पुरुषके लिए शारीरिक द्वन्द्व भी समान ही होते हैं। इसी लिए ऐसे पुरुषकी दृष्टिमें सोने और गोबर अथवा हीरे और पत्थरमें कोई भेद नहीं रह जाता। चाहे स्वर्गका सुख स्वयं चलकर उसके घर आ पहुँचे और चाहे उसपर बाघ आकर आक्रमण करे, परन्तु उसकी ब्रह्मैक्यवाली स्थितिमें तनिक भी अन्तर नहीं पड़ता।

जो आदमी मारकर गिरा दिया जाता है, वह फिर कभी उठकर खड़ा नहीं होता; और जो बीज एक बार भून डाला जाता है, वह फिर कभी अंकुरित नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार उसकी वृत्तिकी समता भी कभी भंग नहीं होती। चाहे कोई उसे "ब्रह्मा" कहकर उसकी खूब स्तुति करे और चाहे उसे "नीच" कहकर उसकी बहुत अधिक निन्दा करे, परन्तु वह राखके ढेरकी तरह न तो कभी जलता ही है और न कभी बुझता ही है। जिस प्रकार सूर्यके घरमें न तो कभी अँधेरा ही रहता है और न कभी दीपक ही जलता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषके लिए न तो निन्दाका ही कुछ अर्थ होता है और न स्तुतिका ही।

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥२५॥

"चाहे कोई उसे "ईश्वर" कहकर उसकी पूजा करे और चाहे उसे "चोर" कहकर उसकी निन्दा करे, चाहे उसे बैलों और हाथियोंके पैरमें रखे और चाहे राजा बना दे, चाहे उसके पास उसके मित्र आकर एकत्र हों और चाहे बहुत-से शत्रु आकर उसे चारों ओरसे घेर लें, तो भी उसका मन उसी तरह कभी विषमतासे मलिन नहीं होता, जिस तरह सूर्यके तेजके लिए न तो कभी रात ही होती है और न कभी तड़का ही होता है; अथवा जिस प्रकार वसन्त आदि छओं ऋतुओंके आने जाने पर भी आकाश सदा निर्लेप ही रहता है। आचारका एक और लक्षण उसमें यह दिखाई देता है कि उसे इस बातका कभी भास ही नहीं होता कि वह कोई व्यापार अथवा कार्य कर रहा है। वह समस्त कर्मोंको हटाकर दूर फेंक देता है और प्रवृत्तिका मूल ही नष्ट कर डालता है। उसके कर्मोंके समस्त फल जल कर राख हो जाते हैं, क्योंकि अपने ज्ञानके कारण वह स्वयं अग्निके ही समान हो जाता है। किसी प्रकारकी ऐहिक अथवा पारलौकिक कामना उसके मनमें कभी उत्पन्न ही नहीं होती इसलिए उसे सहजमें अथवा स्वाभाविक रूपसे जो कुछ मिल जाता है, उसे वह उदासीनतापूर्वक अंगीकार कर लेता है। वह न तो सुखसे सुखी ही होता है और न दुःखसे दुःखी ही होता है। उसका मन पत्थरके समान होता है और वह सब प्रकारके संकल्प-विकल्प छोड़ चुका होता है। परन्तु अब यह वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक हो चुका। जिसमें इस प्रकारका आचार दिखलाई दे, उसीको वास्तवमें गुणातीत समझना चाहिए।" इसके उपरान्त भगवान् श्रीकृष्णने कहा—अब तुम ये उपाय सुनो जिनसे जीव गुणातीत हो सकता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥

"हे अर्जुन, जो पुरुष अव्यभिचार भावसे और भक्ति योगसे मेरी सेवा करता है, वही इन सब गुणोंको जला सकता है और इन सब बातोंका विवेचन कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि इसमें कहा हुआ "मैं" कौन है "मेरी भक्ति" किस प्रकारकी होती है और "अव्यभिचार भाव" का अर्थ क्या है। तो भी, हे अर्जुन, मैं तुमको यह बतला देता हूँ कि जिस प्रकार रत्नकी प्रभा और रत्न दोनों एक ही होते हैं, उसी प्रकार इस विश्वमें 'मैं' हूँ। अथवा जिस प्रकार पातालका अर्थ पानी या अवकाशका अर्थ आकाश या मधुरता का अर्थ

शक्कर अथवा ज्वालाका अर्थ अग्नि अथवा दलका अर्थ कमल अथवा डालियों और फलों आदिका अर्थ वृक्ष अथवा हिमकी राशिका अर्थ हिमालय अथवा जमे हुए दूधका अर्थ दही होता है, उसी प्रकार इस विश्वका अर्थ भी "मैं" ही है अर्थात् "मैं" ही यह विश्व हूँ। जिस प्रकार चन्द्रमाके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए चन्द्रमाके बिम्बको छीननेकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा जमा हुआ घी यदि गरम करके पिघलाया न जाय तो भी वह घी ही होता है अथवा कंकण यदि गलाया न जाय तो भी वह सोना ही होता है अथवा वस्त्रकी तह यदि खोली न जाय तो भी वह मूलतः तन्तुओंका समूह ही होता है अथवा घट यदि तोड़ा-फोड़ा न जाय तो भी जैसे वह सदा मिट्टीका ही होता है, उसी प्रकार यह सारा विश्व भी "मैं" ही हूँ। इसी लिए यह बात नहीं है कि पहले यह विश्व-भावना नष्ट की जाय और तब मेरा लाभ या प्राप्ति हो; क्योंकि यह सब कुछ केवल "मैं" ही हूँ। इस प्रकारका ज्ञान होना ही मानों मेरी अव्यभिचारी भक्ति है। यदि इस ज्ञानमें किसी प्रकारका भेद-भाव या न्यूनता हो तो वही व्यभिचार है। इसी लिए सब प्रकारके भेद-भाव छोड़कर बिलकुल एकाग्र मनसे अपने सहित मुझे जानना चाहिए। हे अर्जुन, यदि सोनेका दाना सोने पर ही बैठाया जाय तो उसमें किसी प्रकारकी भिन्नता नहीं हो सकती। ठीक इसी प्रकार विश्वको अपनेसे भिन्न मानना उचित नहीं है। तेजका जो अंश तेजसे निकल कर फिर तेजमें ही लीन हो जाता है, उसीको किरण कहते हैं। बस ठीक इन्हीं किरणोंकी ही तरह आत्म रूप भी है। पृथ्वी-तलमें जिस प्रकार सूक्ष्म कण होते हैं अथवा हिमालयमें जिस प्रकार हिमके कण होते हैं, उसी प्रकार मुझमें अहं है। बस यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। लहर चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हो, परन्तु वह सागरसे कभी भिन्न नहीं होती। ठीक इसी प्रकार "मैं" भी ईश्वरसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारकी एकताकी भावनासे दृष्टिकी जो आनन्दपूर्ण वृत्ति होती है, उसीको मैं भक्ति कहता हूँ। समस्त-ज्ञानका सार और योगका सर्वस्व यही प्रफुल्लित दृष्टि है। जिस प्रकार सागर और मेघोंके बीचमें अखंड धाराओंकी वृष्टि होनेके कारण वे दोनों एक दिखाई देते हैं, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह उल्लासपूर्ण वृत्ति भी होती है। कुएँके मुख या ऊपरी भाग और आकाशमें कोई जोड़ नहीं लगा रहता, परन्तु फिर भी वे दोनों एकमें मिले हुए रहते हैं। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी बिना किसी प्रकारके जोड़ या सन्धिके उस परम पुरुषके साथ मिला हुआ रहता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बसे लेकर बिम्ब तक सरल रूपसे प्रभा फैली हुई रहती है, उसी प्रकार यह सोऽहं वृत्ति भी जीवात्मासे लेकर परमात्मा तक पहुँची हुई होती है। जब इस प्रकारकी सोऽहं वृत्ति एक बार बन जाती है, तब मनुष्य उस वृत्तिके सहित आपसे आप परमात्म तत्वमें विलीन हो जाता है। जिस प्रकार नमकका ढेला जब एक बार समुद्रमें पड़कर गल जाता है, तब फिर उसका गलना बन्द हो जाता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार तिनकोंको जला चुकनेके उपरांत स्वयं अग्नि भी बुझ जाती है, उसी प्रकार जब एक बार ज्ञानके द्वारा भेद-बुद्धि नष्ट हो जाती है, तब फिर वह ज्ञान भी बाकी नहीं रह जाता। तब यह कल्पना नष्ट हो जाती है कि "मैं" परे अथवा उस पारका है और यह भावना भी नष्ट हो जाती है

कि भक्त इधर या इस पारका है और उन दोनोंकी जो मौलिक शाश्वत एकता है, केवल वही बाकी रह जाती है। हे अर्जुन, जब इस प्रकार ब्रह्मैक्यका आलिंगन हो जाता है, तब फिर गुणोंको जीतनेकी कोई बात ही बाकी नहीं रह जाती। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, इसी स्थितिको ब्रह्मत्व कहते हैं और यही ब्रह्मत्व मेरे भक्तोंको प्राप्त होता है। मैं फिर तुमसे यह बात कहता हूँ कि इस संसारमें मेरा जो इस प्रकारका भक्त होगा, उसकी सेवा यह ब्राह्मी अवस्था पतिव्रता स्त्रीके समान करेगी। जिस प्रकार नदीमें जोरोंसे बहनेवाले पानीके लिए सागरके अतिरिक्त और कोई उपयुक्त स्थान नहीं होता, उसी प्रकार जो ज्ञानपूर्ण दृष्टिसे मेरी सेवा करता है, वह बिना ब्रह्मत्ववाली दशाको सुशोभित किये नहीं रह सकता। इसी ब्रह्मत्वको सायुज्य कहते हैं और इसीको चौथा पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष कहते हैं। यह ठीक है कि मेरी सेवा ही ब्रह्मत्वकी प्राप्तिका साधन है, परन्तु इतनेसे ही तुम यह न समझो कि मैं साधन मात्र हूँ। सम्भव है कि तुम्हारे मन में इस प्रकारकी भावना उत्पन्न हो; इसी लिए मैं तुमको बतला देता हूँ कि ब्रह्म कभी "मैं" से भिन्न नहीं है।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

"हे अर्जुन, "ब्रह्म" का अर्थ "मैं" है और इस प्रकारके सब शब्दोंसे मेरा ही अभिप्राय होता है। भाई मर्मज्ञ अर्जुन, जिस प्रकार चन्द्रमा और उसका मंडल दोनों अलग अलग पदार्थ नहीं होते, उसी प्रकार "मैं" और "ब्रह्म" में अणुमात्रका भी भेद नहीं है। जो वस्तु शाश्वत, अचल, स्पष्ट, धर्म स्वरूप, आनन्दमय, अपार और एकमेवाद्वितीय है, समस्त कामनाओंको छोड़कर विवेक जो पद प्राप्त करता है और ज्ञानकी जो परम सीमा है, वह सब "मैं" ही हूँ।" भक्तोंका पक्ष लेनेवाले और उनकी सहायता करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकारकी बातें अर्जुनसे कह रहे थे। यह सुनकर राजा धृतराष्ट्रने कहा—"हे संजय, ये सब बातें तो तुमसे किसीने पूछी भी नहीं थीं। फिर तुम ये सब निरर्थक बातें क्यों कह रहे हो? इस समय मेरे मनमें जो चिन्ता हो रही है, पहले वह चिन्ता तुम दूर करो। तुम पहले मेरे दुर्योधनकी विजयी-वार्ता मुझे सुनाओ।" इस पर संजयने अपने मनमें कहा—"विजयकी बातोंको इस समय रहने दो।" धृतराष्ट्रकी ये बातें सुनकर संजयको मनमें बहुत अधिक आश्चर्य हुआ। उसने मन ही मन कहा—"हाय हाय! इसके मनमें भगवानके प्रति कितना द्वेष बैठा हुआ है। फिर भी वे कृपालु देव इस पर कृपा करें और यह विवेक रूपी औषधका पान करे जिसमें इसका मोह रूपी महारोग नष्ट हो जाय।" जब संजयके मनमें यह विचार आया, तब श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादकी बातें स्मरण करते करते उसके अन्तःकरणमें आनन्दका विलक्षण उद्रेक हो आया। इसलिए अब भी वह बराबर बढ़ते हुए उत्साहसे श्रीकृष्णका भाषण ही कथन करेगा। उस भाषणके शब्दोंका भावार्थ मैं आप लोगोंके मनमें बैठानेका प्रयत्न करूँगा। हे श्रोतागण, श्री निवृत्तिनाथका दास यह ज्ञानदेव आप लोगोंसे प्रार्थना करता है कि आप लोग इस ओर ध्यान दें।

———

पन्द्रहवाँ अध्याय

अब मैं अपने हृदयको चौकी बनाकर उस पर श्री गुरुदेवके चरणोंकी स्थापना करता हूँ। समस्त इन्द्रियोंके वही किंचित् खिले हुए फूल ऐक्य भावसे अपनी अंजलीमें भरकर यह पुष्पांजलि मैं अर्घ्यके रूपमें श्री गुरुदेवको अर्पित करता हूँ। जो एकनिष्ठ वासना अनन्य भक्ति-रससे शुद्ध हो चुकी है, उसीको चन्दनके रूपमें मानकर मैं श्री गुरुदेवको उसका अखंड तिलक लगाता हूँ। निर्मल प्रेम रूपी खरे सोनेके नूपुर मैं श्री गुरुदेवके सुकुमार चरणोंमें पहनाता हूँ। जो दृढ़ और प्रबल प्रेम अव्यभिचार भावसे शुद्ध हो चुका है, उसीके छल्ले बनाकर मैं उन चरणोंकी उँगलियोंमें पहनाता हूँ। आनन्दकी सुगन्धसे सुगन्धित अष्ट सात्विक भावोंका खिला हुआ अष्ट-दल कमल मैं उन पर चढ़ाता हूँ। अब मैं उनके आगे अहंकार रूपी धूप जलाकर उन गुरु-चरणोंके आगे सोऽहं रूपी दीपकसे आरती करता हूँ और सम-रस भावसे निरन्तर उन्हें आलिंगन करता हूँ। मैं अपने शरीर और प्राण दोनोंके खड़ाऊँ बनाकर अपने गुरुदेवके चरणोंके नीचे रखता हूँ और भोग तथा मोक्षका राई-नोन उन परसे उतारता हूँ। अपने गुरुदेवके चरणोंकी सेवा करनेसे मुझमें इतनी पात्रता आ जाय कि समस्त पुरुषार्थके अधिकार मुझे उसीमें प्राप्त हो जायँ। इससे ब्रह्मत्वके विश्राम धाम तक मेरे ज्ञानका तेज इस प्रकार सहजमें और सीधा जा पहुँचे कि उसके कारण मेरी वाणीमें सुधाके समुद्रकी मधुरता आ जाय। उस समय मेरे विवेचनके प्रत्येक अक्षरको ऐसी मधुरता प्राप्त हो कि उस वक्तृत्व परसे करोड़ों पूर्ण चन्द्र निछावर किये जा सकें। जिस प्रकार पूर्वमें सूर्यका उदय होने पर वह समस्त जगतको प्रकाशका साम्राज्य अर्पित करता है, उसी प्रकार यह वाणी भी श्रोताओंके समाजको दीपावलीका-सा प्रकाश दिखला सके। जिस सौभाग्यसे ऐसे शब्द मुँहसे निकलते हैं कि उनके सामने स्वयं वेद भी बहुत ही निम्न कोटिके दिखाई देते हैं, और कैवल्य तत्व उनकी बराबरी नहीं कर सकता, जिस सौभाग्यसे वाणीकी बेल इस प्रकार लहलहाने लगती है कि श्रवण-सुखके मंडपके नीचे सारे विश्वको अखंड वसन्तकी शोभाका अनुभव होता है, जिस सौभाग्यके कारण ऐसा चमत्कार दिखाई देता है कि जिस परमात्माका पता न लगनेके कारण मनके साथ वाचाको भी निराश होकर लौट आना पड़ता है, वही परमात्मा शब्दोंके लिए भी गोचर हो जाता है, जिस सौभाग्यसे उस इन्द्रियातीत ब्रह्म-तत्वका शब्दोंमें वर्णन किया जा सकता है जो साधारणतः ज्ञानके लिए अगम्य और ध्यानके लिए असाध्य होता है, वही परम सौभाग्य श्री गुरुदेवके चरण-कमलोंकी धूलका एक कण प्राप्त होते ही वाणीमें आ सकता है। अब इससे अधिक मैं और क्या कहूँ ? मैं ज्ञानदेव स्पष्ट रूपसे कहता हूँ कि इस गुरु प्रेमके समान प्रेम माताके सिवा और कहीं या किसीमें प्राप्त ही नहीं हो सकता। क्योंकि मैं बहुत ही छोटे-से बालकके समान हूँ और श्री गुरुदेव ऐसी माताके समान हैं जिसका एक ही

इकलौता लड़का होता है; इसलिए उनकी कृपाका प्रवाह सदा समान रूपसे एक-मार्गी होकर मेरी ही ओर बहता रहता है। हे श्रोतागण, जिस प्रकार मेघ अपनी सारी जल-सम्पत्ति चातकोंके लिए उलट देता है, उसी प्रकार श्री गुरुदेवने भी मुझपर अपनी करुणा की वर्षा की है। इसीका यह परिणाम है कि जब मैं व्यर्थकी बकवाद करने लगा, तब उस बकवादमेंसे भी गीताका मधुर रहस्य निकल पड़ा। यदि भाग्य अनुकूल हो तो बालू भी रत्न हो जाता है; और यदि आयु अभी पूरी न हुई हो तो मारनेवाला भी दया और प्रेम करने लगता है। जब जगदीश्वर अपने मनमें किसीका पेट भरनेका सुभीता करना चाहता है, तब यदि अदहनमें कंकड़ पत्थर भी डाल दिये जायँ, तो वे भी अमृतके समान मधुर चावल बन जाते हैं। ठीक इसी प्रकार यदि श्री गुरुदेव भी कृपापूर्वक अंगीकार कर लें तो यह सारा संसार ही मोक्षमय हो जाता है। देखिये, उन जगतके वन्दनीय पुराण-पुरुष नारायणके अवतार भगवान् श्रीकृष्णने पांडवोंके लिए कभी किसी बातकी कोई कमी होने दी थी ? ठीक इसी प्रकार श्रीनिवृत्तिनाथजी महाराजने मेरे अज्ञानको भी ज्ञानकी बराबरीका बना दिया है। परन्तु इस प्रकारकी बातें यथेष्ट हो चुकीं। बोलते बोलते मेरा प्रेम बहुत अधिक उमड़ पड़ा है। परन्तु यदि वास्तवमें देखा जाय तो ऐसा ज्ञान भला किसका हो सकता है जो गुरुदेवके महत्वका यथार्थ वर्णन कर सके ? अब उन्हीं गुरुदेवके प्रसादसे मैं आप सन्त श्रोताओंके चरणोंमें गीताका अर्थ समर्पित करना चाहता हूँ। अभी जो चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ है, उसके अन्तमें कैवल्य-धाम श्रीकृष्णने यह सिद्धान्त बतलाया था कि जिस प्रकार स्वर्गकी सम्पत्तिका स्वामी इन्द्र होता है, उसी प्रकार मुक्ति-का स्वामी और अधिकारी ज्ञानी पुरुष होता है। अथवा सैकड़ों जन्मों तक जो ब्रह्म कर्म करता रहता है, वही अन्तमें ब्रह्मा होता है, दूसरा कोई ब्रह्मा नहीं हो सकता। और सूर्यके प्रकाशका अनुभव जिस प्रकार आँखोंवाले आदमीको हो सकता है, उस प्रकार बिना आँखोंवालेको कभी हो ही नहीं सकता। ठीक इसी प्रकार मोक्षका परमानन्द भी केवल ज्ञानके ही हिस्सेमें आता है। अब जब भगवान् इस बातका विचार करने लगे कि ज्ञान प्राप्त करनेकी योग्यता किसमें होती है, तब उन्हें इसके लिए केवल एक पुरुष योग्य दिखाई दिया। आँखोंमें दिव्य अंजन लगा लेने पर पृथ्वीके अन्दर रखा हुआ गुप्त धन स्पष्ट रूपसे दिखाई देने लगता है; परन्तु साथ ही उस गुप्त धनको देखनेके लिए ऐसा आदमी होना चाहिए जो पैरोंके बल और उलटा जनमा हो। ठीक इसी प्रकार यह भी सत्य है कि ज्ञानसे निस्सन्देह मोक्षकी प्राप्ति होती है। परन्तु जिस मनमें ज्ञान रह सके, वह मन भी अत्यन्त शुद्ध होना चाहिए। और फिर भगवानने बहुत ही विचारपूर्वक यह सिद्धान्त भी बतला रखा है कि बिना विरक्तिके ज्ञान कभी स्थिर रह ही नहीं सकता। फिर भगवानने इस बातका भी विचार किया है कि मनमें किस प्रकार पूर्ण रूपसे विरक्ति आती है। यदि भोजन करनेवालेको यह बात मालुम हो कि विष मिलाकर भोजन तैयार किया गया है, तो वह थाली एक तरफ खिसकाकर भोजन परसे उठ जाता है। ठीक इसी प्रकार जब मनमें यह बात अच्छी तरह बैठ जाती है कि यह संसार अ-शाश्वत और नश्वर है, उस समय यदि कोई विरक्तिको अपने पाससे हटा भी दे तो भी वह आपसे आप पीछे हो लेती

है। अब इस पन्द्रहवें अध्यायमें भगवान एक वृक्षके रूपकके द्वारा यह बतलाते हैं कि इस संसारकी अनित्यता कैसी है। यदि किसी वृक्षको जड़ समेत उखाड़ लिया जाय और उसकी जड़ ऊपरकी ओर करके वह उलटा रख दिया जाय तो वह सूख जाता है। परन्तु इस संसार रूपी वृक्षके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। इस प्रकार एक रूपकके कौशलसे ही भगवान् इस संसारका आवागमन बन्द कर रहे हैं। इस पन्द्रहवें अध्यायका कथन इसी उद्देश्यसे किया गया है कि संसारकी निरर्थकता सिद्ध हो जाय और स्व-स्वरूपी अहं ब्रह्मास्मिवाली अवस्था स्थायी और दृढ़ हो जाय। अब ग्रन्थका यह गूढ़ रहस्य मैं बहुत ही मन लगाकर स्पष्ट करना चाहता हूँ; तो भी आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें। अब परमानन्दके समुद्रमें ज्वार उत्पन्न करनेवाले पूर्ण चन्द्रमा भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकाधीश कहने लगे—"भाई अर्जुन, मेरे स्वरूपकी प्राप्तिके मार्गमें जो विश्व भ्रम बाधक होता है, उसे यह विश्व ही न समझ लेना चाहिये। तुम यही समझ रखो कि यह संसार एक प्रचंड वृक्ष है। परन्तु सामान्य वृक्षोंकी भाँति इस वृक्षकी जड़ें नीचे और डालियाँ ऊपर नहीं हैं और इसी लिए यह बात सहसा किसीकी समझमें नहीं आती कि यह भी कोई वृक्ष है। यदि किसी वृक्षकी जड़में आग लग जाय या कुल्हाड़ीका प्रहार हो तो फिर चाहे उस वृक्षका ऊपरी विस्तार कितना ही अधिक क्यों न हो, परन्तु वह जड़से ही उखड़ जानेके कारण सहजमें गिर पड़ता है। परन्तु यह संसार रूपी वृक्ष इस प्रकार सहजमें नहीं गिराया जा सकता। हे अर्जुन, इस संसारके सम्बन्धमें यह एक बहुत ही अद्भुत और चमत्कारपूर्ण बात है कि इसका विस्तार बराबर नीचेकी ओर ही खूब बढ़ता जाता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत अधिक ऊँचाई पर होता है और उसकी किरणोंका जाल नीचेकी ओर फैलता है, उसी प्रकार इस संसार रूपी वृक्षका भी बहुत ही चमत्कारिक रूपसे बराबर नीचेकी ओर ही विस्तार बढ़ता जाता है। जिस प्रकार प्रलय कालका जल सारे आकाशको व्याप्त कर लेता है, उसी प्रकार यह संसार रूपी वृक्ष इस विश्वके कोने-कोनेको भर देता है। अथवा जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर रात्रि अन्धकारसे भर जाती है, उसी प्रकार सारा आकाश भी संसार रूपी वृक्षसे ठसाठस भरा हुआ और पूर्ण रूपसे व्याप्त है। यदि खाना चाहें तो इसमें कोई फल नहीं होता और यदि सूँघना चाहें तो कोई फूल नहीं होता। हे अर्जुन, यह केवल वृक्ष ही वृक्ष है। इसकी जड़ तो ऊपरकी ओर ही हैं, पर यह कोई उखाड़कर उलटा रखा हुआ वृक्ष नहीं है और इसी लिए यह सदा खूब हरा-भरा रहता है। और यही कारण है कि इसे ऊर्ध्वमूल कहते हैं। यद्यपि इसके सम्बन्धमें यह बात बिलकुल ठीक है, तथापि नीचेकी ओर भी इसकी असंख्य जड़ें रहती हैं। आसपास और चारों ओर निकलनेवाली कोंपलोंके बलसे बड़ और पीपलकी तरह इसके भी बीजों और कोंपलोंसे बहुत-सी नई नई शाखाएँ निकलती हैं। और हे अर्जुन, यह बात नहीं है कि इस संसार रूपी वृक्षमें केवल नीचेकी ओर ही डालें होती हों, बल्कि ऊपरकी ओर भी इसकी अनगिनत शाखाएँ फैली हुई होती हैं। इसे देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि मानों आकाश ही पल्लवित हुआ है अथवा वायुने ही वृक्षका आकार धारण कर रखा है अथवा उत्पत्ति, स्थिति और लय इन तीनों अवस्थाओंने ही यह

अवतार धारण कर रखा है। इस प्रकार यह एक विश्व-रूपी प्रचंड ऊर्ध्वमूल वृक्ष अस्तित्वमें आया है। अब इस "ऊर्ध्व" का क्या अर्थ है, इसकी जड़ोंके लक्षण क्या हैं, यह अधोमुख अर्थात् उलटा क्यों है, इसकी शाखाएँ कैसी हैं अथवा नीचेकी ओर इस वृक्षकी जो शाखाएँ हैं, वे कौन-सी हैं, इसमें ऊपरकी ओर जो शाखायें हैं, उनका स्वरूप क्या है, और इसका नाम अश्वत्थ क्यों रखा गया है, इत्यादि प्रश्नों का निर्णय आत्मश्रेष्ठोंने किया है। अब मैं यही बातें ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें तुमको बतलाता हूँ जिसमें ये सब तुम्हारी समझमें खूब अच्छी तरह आ जायें। भइया भाग्यशाली अर्जुन, यह प्रकरण तुम्हारे ही सरीखे लोगोंके सुनने योग्य है, इसलिए तुम हृदयको स्तब्ध करके और इस प्रकार एकाग्र-चित्त तथा सावधान होकर सुनो, मानों तुम्हारे प्रत्येक अवयव में श्रवण-शक्ति आ गई हो।" जब यादव-श्रेष्ठ भगवानने इस प्रकार प्रेम-रसमें भरकर ये सब बातें कहीं, तब अर्जुन मानों सावधानताका मूर्तिमान रूप ही बन गया। उस समय अर्जुनकी श्रवण करनेकी कामना इतनी अधिक बढ़ गयी कि मानों वह आकाशको दसों दिशाओंको गाढ़ आलिंगन करना चाहती हो, और इसी लिए भगवानका किया हुआ निरूपण उसे बहुत ही अल्प जान पड़ने लगा। यद्यपि श्रीकृष्णकी उक्ति समुद्रके समान अनन्त और असीम थी, परन्तु फिर भी यह अर्जुन एक नये अगस्त ऋषिके रूपमें उत्पन्न हुआ था; और इसी लिए वह भगवानके समस्त वचन-सागरको एक ही घूँटमें पान कर जानेका विचार करने लगा। उस समय अर्जुनके हृदयकी उत्कण्ठा इतनी अधिक बढ़ी कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता। जब भगवान्ने उसकी यह अवस्था देखी, तब उन्होंने अत्यन्त सन्तोषपूर्वक उसकी बलाएँ लीं।

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥

इसके उपरांत भगवानने कहा—"हे अर्जुन, वह ब्रह्म ही इस वृक्षका ऊर्ध्व है और इसी वृक्षके सम्बन्धके कारण उसे यह ऊर्ध्वता या उच्चता प्राप्त हुई है। यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो जो एक-रूप, अद्वैत, कैवल्य तत्त्व है, उसमें ऊर्ध्व, मध्य और अध (अर्थात् ऊपरी भाग, बीचका भाग और नीचेका भाग) का कोई भेद हो ही नहीं सकता, जो ऐसा नाद है जो कभी कानोंसे सुना ही नहीं जा सकता, जो मकरन्दकी ऐसी सुगन्ध है जिसका घ्राणेन्द्रिय कभी अनुभव कर ही नहीं सकती, जो ऐसा आनन्द है जो बिना विषयोंका सेवन किये हुए ही प्राप्त होता है, जो अपने इस पार भी और उस पार भी, अपने आगे भी और पीछे भी केवल स्वयं ही है, जो अदृश्य रहता है और बिना देखनेवालेके ही दिखाई देता है, जो उपाधिके सम्बन्धसे ही नाम-रूपात्मक विश्व होता है, जो ज्ञाता और ज्ञान-वस्तुके बिना ही ज्ञान है, जो सुखसे पूर्ण रूपसे भरा हुआ होने पर भी शून्य गुण आकाश ही है, जो कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है, जो द्वैत भी नहीं है और अद्वैत भी नहीं है, जो केवल स्वयं ही और आत्म स्वरूप रहता है, वही अद्वितीय तत्त्व इस संसार रूपी वृक्षका ऊर्ध्व है। अब मैं तुमको

बतलाता हूँ कि इस ऊर्ध्व जड़में अंकुर किस प्रकार उत्पन्न होते हैं। बन्ध्याके पुत्रके वर्णन की तरह जिसे झूठ-मूठ और व्यर्थ ही माया कहते हैं, जो सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, जो विचारके सामने नहीं ठहरता (अर्थात् विचार में नहीं आ सकता) परन्तु इतना होने पर भी जिसे अनादि कहते हैं, जो भेद-भावका सन्दूक है, जिसमें ये नाना लोक उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार आकाशमें मेघ रहते हैं, जो समस्त साकार वस्तु रूपी वस्त्रकी असली तह है, जो संसार रूपी वृक्षका सूक्ष्म बीज है, जो प्रपंचकी जन्म भूमि और मिथ्या ज्ञान (अर्थात् मोह) की प्रकाशमान् ज्योति है, वह माया उस निर्गुण ब्रह्ममें इस प्रकार रहती है कि मानों है ही नहीं; और फिर वह जो जो व्यवहार करती है, वह सब उस ब्रह्मके तेजके प्रभावसे ही करती है। जिस समय हमें नींद नहीं आती है, उस समय जिस प्रकार हम स्वयं ही अपने आपको ज्ञान-शून्य कर लेते हैं अथवा दीपक जिस प्रकार कजली उत्पन्न करके स्वयं ही अपनी प्रभा मन्द कर लेता है अथवा जिस प्रकार स्वप्नमें कोई पुरुष यह देखता है; मेरे सामने सोई हुई तरुणी जाग उठी है और वह वास्तवमें आलिंगन न होने पर भी यही कल्पना करता है कि वह तरुणी मुझे आलिंगन कर रही है और तब वह कामविकारसे क्षुब्ध होता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, उस निर्गुण ब्रह्ममें जो माया उत्पन्न हुई है और अपने मूल स्वरूपकी जो विस्मृति हुई है, वही इस संसार-रूपी वृक्षकी पहली जड़ है। मूल वस्तुको जो यह अपने वास्तविक स्वरूपकी विस्मृति हुई है, वही इस वृक्षका ऊँचाई पर रहने-वाला प्रधान स्कन्द है; और इसीको वेदान्तमें "बीज भाव" कहते हैं। जो पूर्ण अज्ञान-मय और सुषुप्तिवाली अवस्था है, उसीका नाम बीजांकुर भाव है। दूसरी जो स्वप्न और जाग्रतिवाली दशायें है, उन्हें उस सुषुप्तिका फल-भाव कहते हैं। इस सम्बन्धमें वेदान्तके निरूपणकी यही परिभाषा है। अस्तु; इस समय केवल इतना ही कहना है कि इस संसार रूपी वृक्षका मूल अज्ञान है। इसका जो ऊर्ध्व भाग है, वह निर्मल आत्मा है, और उसके नीचेकी जो जड़ें बतलाई गई हैं, वह मायाके योगसे बननेवाले थाँवलेमें खूब अच्छी तरह बढ़ी और फैली हुई हैं। इसके उपरान्त और भी नीचेकी ओर अनेक प्रकारके असंख्य शरीर उत्पन्न होते हैं और उनके चारों ओर अंकुर निकलते हैं जो नीचेकी ओर बराबर बढ़ते जाते हैं। इस प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी जड़ अपने ऊर्ध्व भागमें अद्वैत ब्रह्मसे बल प्राप्त करके नीचेकी ओर केवल अंकुर ही अंकुर निकालती चलती है। इनमेंसे पहला अंकुर अन्तःकरणकी वृत्तिका होता है। यही महत्तत्त्वका विकसित कोमल पत्ता है। फिर इसमेंसे नीचेकी ओर तीन पत्तोंवाला एक अंकुर निकलता है। यही अंकुर अहंकार है और सत्व, रज तथा तम इसके तीनों पत्ते हैं। यही अहंकारका अंकुर आगे चलकर बुद्धिकी डाली या शाखा उत्पन्न करता है और अनेक प्रकारके भिन्न भिन्न भावोंको बढ़ाकर मनकी शाखा हरी-भरी रखता है। इस प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षमें ऊपरवाले मूलकी सामर्थ्यसे विकल्प-रससे भरा हुआ चित्त-चतुष्टयका अंकुर उत्पन्न होता है। फिर आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी इन पाँचों महाभूतोंके रूपमें सुन्दर और सीधी कोंपलें इसमें निकलती हैं। फिर इन्हीं कोंपलोंमें

कर्ण आदि पाँचों इन्द्रियाँ और उनके विषय भी अनेक प्रकारकी और विचित्र कोमल पत्तियोंके रूपमें उत्पन्न होते हैं। जब उसमें शब्द-कर्णका अंकुर निकलता है, तब कर्णेन्द्रियकी बुद्धि दूनी हो जाती है और भिन्न भिन्न वासनाओंके समूह उसके सामने आने लगते हैं—अनेक प्रकारकी बातें सुननेकी वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। अंग रूपी बेल और त्वचाके पल्लवोंमें स्पर्श-ज्ञानके अंकुर निकलते हैं, जिससे बहुत से नये नये विकार उत्पन्न होते हैं। इसके उपरान्त रूपके पल्लव उत्पन्न होते हैं और चक्षुरिन्द्रिय दूर तक दौड़ लगाती है जिससे मोह और भ्रान्तिकी उत्पत्ति होती है। जब रसकी शाखा वेगसे और खूब बढ़ती है, तब जिह्वा पर लालसाके असंख्य पल्लव निकल आते हैं। ठीक इसी प्रकार जब गन्धका अंकुर बढ़ता है, तब घ्राण रूपी शाखा बढ़कर खम्भेके समान हो जाती है और उसके नीचे लोभ आकर आनन्दपूर्वक निवास करने लगता है। इस प्रकार महत्तत्त्व, अहंकार, मन और महाभूत इस संसार-रूपी वृक्षको खूब जोरोंसे बढ़ाते चलते हैं। बस महत्तत्व आदि आठ अंगोंमें ही इसके अधिकाधिक अंकुर निकलते हैं। परन्तु जब सीपीको देखकर चाँदीका भ्रम होता है, तो वह चाँदी उतनी ही बड़ी दिखाई देती है, जितनी बड़ी सीपी होती है। अथवा सागरका जितना अधिक विस्तार होता है, उतनी ही दूर तक तरंगें भी उठती है। ठीक इसी प्रकार यह अद्वैत ब्रह्म इस अज्ञान-जन्य संसार-वृक्षका रूप धारण करता है। जिस प्रकार स्वप्नमें हम अकेले रहने पर भी स्वयं ही अपना सारा परिवार बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार इस संसार-वृक्षका विस्तार और प्रसार वह ब्रह्म-तत्व ही है। परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकी। इस प्रकार ऐसे ठाटका यह विलक्षण वृक्ष उत्पन्न होता है और इसमें महत्तत्व आदि अंकुर निकलनेके कारण नीचेकी ओर इसकी शाखाएँ बराबर बढ़ती जाती हैं। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि ज्ञाता लोग इसको अश्वत्थ क्यों कहते हैं। तुम ध्यान देकर सुनो। श्वः का अर्थ है उषा या प्रभात काल; और यह संसार रूपी वृक्ष दूसरे प्रभात-काल तक भी एक-सा नहीं रहता। जिस प्रकार क्षण भर बीतने पर ही मेघमें एकके अनेक रंग हो जाते हैं अथवा विद्युत् जिस प्रकार पल भर भी अखंड या शान्त नहीं रह सकती अथवा सदा काँपता रहनेवाला पत्ता जल पर क्षण भर भी शान्त होकर नहीं रहता अथवा जिस प्रकार पीड़ित या व्याकुल व्यक्तिका चित्त कभी स्थिर नहीं हो सकता, उसी प्रकार यह संसार-रूपी वृक्ष भी कभी स्थिर या एक-सा नहीं रहता। यह क्षण क्षण पर नष्ट होता रहता है और इसी लिए इसे अश्वत्थ कहते हैं।" कुछ लोग इस प्रसंग में अश्वत्थका अर्थ सामान्य पीपलका वृक्ष बतलाते है, परन्तु भगवान श्रीकृष्णका कभी यह अभिप्राय नहीं है। परन्तु यदि इसे पीपल ही कहा जाय तो भी इस प्रसंगमें इसकी अच्छी संगति बैठाई जा सकती है। परन्तु इन सब बातोंको जाने दो, क्योंकि लौकिक बातोंके झगड़ेमें पड़नेसे हमें क्या मतलब? इसलिए हे श्रोतागण, अब आप लोग यह अलौकिक ग्रन्थ ही सुनें। "इसकी क्षण भंगुरताके कारण ही इस संसार-रूपी वृक्षको अश्वत्थ कहते हैं। इस संसार-रूपी वृक्षकी "अक्षय" के नामसे भी अधिक ख्याति है, परन्तु इसका जो कुछ गर्भित अर्थ है, वह भी सुन लो। जिस प्रकार समुद्र एक ओरसे

तो मेघोंके द्वारा सोखा जाता है और दूसरी ओरसे नदियोंके द्वारा भरा जाता है और इसी लिए न वह कभी घटता ही है और न बढ़ता ही है, हाँ मेघों और नदियोंका क्रम नहीं खुलना चाहिए (तात्पर्य यह कि यदि वर्षाका होना और नदियोंका मिलना बन्द हो जाय तब पता चले कि समुद्र कैसे नहीं सूखता है।) इसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी स्थिति और लय बहुत जल्दी जल्दी होनेके कारण लोगोंकी समझमें नहीं आता और इसी लिए लोग इसे "अव्यय" या "अक्षय" कहते हैं। जिस प्रकार दानशील पुरुष अपना धन व्यय करके ही पुण्य संचय करता है, उसी प्रकार यह वृक्ष भी अपना व्यय करते रहनेके कारण ही अव्यय जान पड़ता है। रथका पहिया जब बहुत जोरों से घूमता है, तब ऐसा जान पड़ता है कि मानों वह घूमता ही नहीं अथवा जमीनमें ही लगा हुआ है। इसी प्रकार जब कालके प्रभावसे इस संसार-रूपी वृक्षकी कोई भूत शाखा सूखकर गिर जाती है, तथा उसी स्थान पर करोड़ों दूसरी शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु जिस प्रकार आषाढ़के मेघोंके सम्बन्धमें यह पता नहीं चलता कि कब एक मेघ हटता है और कब उसके स्थान पर और बहुत से मेघ आ जाते हैं, उसी प्रकार इस संसार-वृक्षके सम्बन्धमें भी यह पता नहीं चलता कि कब इसकी एक शाखा टूटी और कब उसके स्थान पर करोड़ों नई शाखाएँ उत्पन्न हुईं। महाकल्पके अन्तमें अस्तित्व धारण करनेवाली सारी सृष्टि लयको प्राप्त हो जाती है, परन्तु उसके साथ ही बहुत-सी नई सृष्टियोंका भी जंगल बन जाता है। प्रलयके समय संहार करनेवाली वायुके कारण ज्योंही विश्वकी एक छाल भस्म हो जाती है, त्योंही नवीन कल्पोंको आरम्भ करनेवाली नई नई पत्तियोंके समूह निकल आते हैं। जिस प्रकार ऊखके एक कांडमेंसे ही और बहुतसे कांड उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार एक मनुके उपरान्त दूसरा मनु और एक वंशके उपरान्त दूसरा वंश उत्पन्न होता है; और इस प्रकार मन्वन्तरों और वंशान्तरोंकी परम्परा बराबर बढ़ती चलती है। कलियुगके अन्तमें ज्योंही युगोंकी चौकड़ीकी नीरस छाल गिर जाती है, त्योंही कृतयुगकी नई छाल तुरन्त उत्पन्न हो जाती है। जब प्रचलित वर्षका अन्त होता है, तब वह आनेवाले वर्षको मानो निमन्त्रण देता है। जिस प्रकार यह बात स्पष्ट रूपसे समझमें नहीं आती कि आजका दिन समाप्त हो रहा है और कलका दिन आ रहा है, अथवा जिस प्रकार वायुके झोंकोंमें कहीं कोई सन्धि नहीं दिखाई देती, उसी प्रकार यह बात भी समझमें नहीं आती कि कब और कहाँसे इस वृक्षकी कितनी शाखाएँ गिरती हैं और कब कहाँ कितनी नई शाखाएँ उत्पन्न होती हैं। जब एक शरीरका अंकुर टूटता है, तब अनेक नये शरीरोंके अंकुर उत्पन्न होते हैं। और इसी लिए यह संसार-रूपी वृक्ष अव्यय या अक्षय-सा जान पड़ता है। जिस प्रकार बहता हुआ पानी बराबर आगेकी ओर बढ़ता रहता है, पर साथ ही उसके पीछे आनेवाला पानी तुरन्त ही आकर उसका स्थान ले लेता है, ठीक उसी प्रकारकी बात सदा इस वृक्षके सम्बन्धमें भी होती रहती है; और इसी लिए लोग इस नश्वरको भी शाश्वत मानते हैं। जितनी देरमें एक बार पलक झपकती है, उतनी ही देरमें समुद्रमें करोड़ों तरंगें उठती हैं और इसी लिए अज्ञानियोंको तरंगें नित्य या अक्षय-सी जान पड़ती हैं। कौएकी आँखें तो दो होती हैं, परन्तु पुतली एक ही होती

है; परन्तु उस पुतलीको वह कौआ एक ही क्षणमें दोनों आँखोंमें समान रूपसे घुमाता रहता है और इसी लिए लोगोंका यह भ्रम होता है कि कौएकी दोनों पुतलियाँ होती हैं। जब लट्टू खूब जोरसे घूमता हुआ किसी एक ही स्थान पर खड़ा होकर घूमने लगता है, तब देखनेवालोंको यह भ्रम होता है कि वह जमीन पर सीधा खड़ा हुआ है और बिल्कुल स्तब्ध है। परन्तु इस भ्रमका कारण यही होता है कि वह लट्टू उस समय बहुत अधिक वेगसे घूमता है। दूर क्यों जायँ, जब घेरेमें बनेठी खूब जोरसे घुमाई जाती है, तब प्रकाशकी केवल एक चक्राकार रेखा ही दिखाई देती है। ठीक इसी प्रकार सहजमें इस बातका पता नहीं चलता कि इस संसार-रूपी वृक्षकी शाखाएँ कब टूटती हैं और कब नई निकलती हैं; और इसी लिए मूढ़ लोग इसे अव्यय समझते हैं। परन्तु जिसकी समझमें इसका वेग आ जाता है, उसे इसकी क्षणभंगुरताका भली भाँति ज्ञान हो जाता है। ज्ञानी लोग यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि एक ही निमेषमें इसमें करोड़ों बार स्थिति और लयके विकार होते हैं। जिसकी समझमें यह बात आ जाती है कि इस संसार-रूपी वृक्षका मूल अज्ञानके सिवा और कुछ भी नहीं है, इसका अस्तित्व मिथ्या है और यह वृक्ष ही क्षणभंगुर है; हे अर्जुन, उसीको मैं सर्वज्ञ ज्ञानी कहता हूँ। वेदोंके सिद्धान्तका भी वही ज्ञान विषय है। सारा योग-साधन केवल इसी प्रकारके ज्ञानीके लिए उपयोगी होता है। बल्कि यह भी कहा जा सकता है कि ऐसा पुरुष ही ज्ञानको जीवित रखता है। परन्तु अब इस विषयका अधिक विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। जो यह जानता है कि यह संसार-रूपी वृक्ष क्षण-भंगुर है, उसका वर्णन भला कौन कर सकता है?

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

इसके अतिरिक्त नीचेकी ओर शाखाएँ निकालनेवाले इस संसार-रूपी वृक्ष की सीधी ऊपरकी ओर जानेवाली शाखाएँ भी बहुत-सी हैं। फिर नीचेकी ओर जो शाखाएँ आई हैं, उनमें भी जड़ें निकली हैं और उन जड़ोंके नीचे भी बेलें और पत्तियाँ निकलकर फैल रही हैं। यह बात अभी आरम्भमें बतलाई जा चुकी है। पर इस समय वही बात और अधिक स्पष्ट करके बतलाई जाती है। इस वृक्षका जो दृढ़ मूल अज्ञान है, जिससे महत्तत्त्व आदि आठ प्रकारकी माया उत्पन्न होती है और ज्ञानके घोर जंगल निकल आते हैं। परन्तु पहले इस वृक्षकी जड़मेंसे स्वेदज, जारज, उद्भिज्ज और अंडज ये चार प्रबल शाखाएँ निकलती हैं। फिर इनमेंसे एक एक शाखामेंसे ये चौरासी लाख योनियाँ उत्पन्न होती हैं; और फिर इस वृक्षकी जीवोंवाली शाखा पर अंकुरोंके रूपमें अपरम्पार जीवोंके समूह उत्पन्न होते हैं। कुछ शाखाएँ सीधी जाती हैं और उनमें टेढ़ी-तिरछी और नाना प्रकारकी सृष्टियोंकी जो टहनियाँ निकलती हैं, वही जीवोंकी भिन्न भिन्न जातियोंकी परम्पराएँ होती हैं। ये जीव नाना प्रकारके विकारोंके कारण अपने आपमें स्त्री, पुरुष और नपुंसकके भेद लगाने लगते हैं। जिस प्रकार वर्षाके दिनोंमें आकाशको घोर काले मेघ व्याप्त कर लेते हैं, उसी प्रकार अज्ञानकी दशामें सब जीव

साकार बनने लगते हैं। फिर इस संसार-रूपी वृक्षकी शाखाएँ अपने भारी बोझके कारण नीचेकी ओर झुकने लगती हैं और एक दूसरीमें खूब अच्छी तरह उलझ जाती हैं, जिससे गुण क्षुब्ध हो जाते हैं और उन क्षुब्ध गुणोंकी हवाएँ चारों तरफ बहने लगती हैं। फिर उन गुणोंके प्रचंड झोंकोंमें पड़कर यह ऊर्ध्व-मूल वृक्ष तीन जगहोंसे घिर जाता है। इनमेंसे रजोगुणकी वायुका झोंका बहुत जोरोंसे आता है जिसके कारण मानव जातिवाली शाखा खूब जोरोंसे मजबूत और बड़ी होने लगती है। वह न तो ऊपर की ओर ही जाती है और न नीचेकी ओर ही झुकती है, बल्कि बीचमें ही रुकी रहती है और उसमेंसे चातुर्वर्ण्यकी टेढ़ी-तिरछी शाखाएँ निकलती हैं। उसमें विधि और निषेध आदिके विधानोंसे विस्तृत होनेवाली वेद-वचनोंकी मधुर और लहलहाती हुई शाखाएं निकलने लगती हैं। अर्थ और कामका भी यथेष्ट विस्तार होता है और उनमें नये नये अंकुर निकलते हैं जिससे ऐहिक सुखोपभोगके नये नये परन्तु क्षण-भंगुर स्थलोंका निर्माण होता है। उनमें प्रवृत्ति बहुत अधिक बढ़ी हुई होती है, जिसके कारण उनमें भले और बुरे क्रिया-कर्मोंकी जो अनेक शाखाएँ निकलती हैं, उनकी कोई गिनती ही नहीं हो सकती। जो शरीर अपना भोग भोगकर दुर्बल और पुराने हो जाते हैं, वे सूखी हुई डालोंके समान गिर पड़ते हैं और उनके स्थान पर बहुत-से नये शरीर उत्पन्न होकर सुशोभित होते हैं। इसी प्रकार शब्द आदि विषयोंके स्वाभाविक रंगोंसे चमकनेवाले नित्य नये नये सुन्दर पल्लव उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार रजोगुणकी वायुके भयंकर झोंकोंसे मानव शाखाओंकी बहुत अधिकता हो जाती है जिससे मनुष्य-लोक सज जाता है। फिर जब रजोगुणके ये बादल कुछ शान्त होते हैं, तब तमोगुणका घोर प्रभंजन चलने लगता है। उस समय इसी मानव शाखा पर नीचेकी ओर अधम वासनाओंकी पत्तियाँ निकलने और दुष्कर्मोंकी शाखाएँ फैलने लगती हैं। फिर कुमार्ग-की कोंपलें निकलती हैं जो सीधी होने पर भी मजबूत होती हैं और उनमें पत्तोंसे भरी हुई दोषोंकी डालियाँ लहलहाती हुई दिखाई देती हैं। विधि और निषेधका विधान करनेवाले ऋक्, यजुः और साम ये तीनों वेद इस शाखाके सिरे पर झूलनेवाले पत्ते ही माने जाने चाहिएँ। जारण और मारणके बीज-मन्त्रोंका उपदेश देकर पर-पीड़क होनेवाले अथर्वण वेदके पल्लव इसके बाद निकलते हैं जिससे वासनाकी बेल हरी-भरी होती है। ज्यों ज्यों ये सब बातें होती चलती हैं, त्यों त्यों कुकर्मोंकी बेलें विस्तृत होती जाती हैं और जन्मवाली शाखा बराबर आगे बढ़ती चलती है। फिर चांडाल आदि हीन और दुष्कर्मी जातियोंकी एक लम्बी और बड़ी शाखा निकलती है और भ्रम में पड़े हुए कर्म-भ्रष्ट लोग इस शाखाके जालमें फँसते हैं। अब पशु-पक्षी, सूअर, बाघ, बिच्छू, साँप आदि असंख्य जीवोंकी टेढ़ी-तिरछी शाखाओंका भी विस्तार होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार ये शाखाएँ सब जगह हरी-भरी दिखाई देती हैं और इन पर नरक-भोगके फल लद जाते हैं। निरन्तर हिंसा आदि कर्मोंका संचालन करनेवाले ये अंकुर अनेक जन्मों तक समान-रूपसे लहलहाते रहते हैं। इसी प्रकार वृक्ष, तृण, लोहा, मिट्टी, पत्थर आदिकी शाखाएँ भी उत्पन्न होती हैं और उन पर भी इसी प्रकारके फल

लगते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मानव शाखासे लेकर नीचेवाली शाखाओंके स्थावर वर्ग तक वृद्धि होती है। इसलिए वहींसे यह संसार-रूपी वृक्ष नीचेकी ओर बढ़ने लगता है। नहीं तो, हे अर्जुन, यदि ऊर्ध्व भाग में रहनेवाले इसके आरम्भिक मूलका ध्यान रखा जाय तो ये नीचेकी ओरकी शाखाएँ मध्यमें रहनेवाली शाखाएँ ही गिनी जानी चाहिएँ। परन्तु सदसद् क्रिया-रूपी जो तमोगुण और सत्व गुणकी शाखाएँ इस वृक्षमें ऊपर और नीचेकी ओर फैली हुई हैं और वेद-त्रयीकी जो शाखा विकसित है, उनका, हे अर्जुन, मनुष्यके बिना अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसलिए मानव-तन यद्यपि ऊपरके मूलसे निकली हुई शाखा है, तो भी कर्मकी वृद्धिका मूल कारण यही शाखा होती है। दूसरे वृक्षोंकी भी यही अवस्था होती है। ज्यों ज्यों उनकी शाखाएँ बढ़ती जाती हैं, त्यों त्यों उनकी जड़ भी बराबर और नीचेकी ओर जाती और मजबूत होती चलती है। और ज्यों ज्यों जड़ मजबूत होती चलती है, त्यों त्यों वृक्षका विस्तार भी बढ़ता जाता है। यही बात इस शरीरके सम्बन्धमें भी है। जब तक कर्म करते हैं; तब तक देहकी परम्परा भी रहती है और जब तक देहका अस्तित्व रहता है, तब तक कर्मोंका कभी खंड नहीं होता—कर्म भी बराबर होते और चलते रहते हैं। इसी लिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि यह मानव शरीर ही संसारके विस्तारका फल है। जब तमोगुणके प्रचंड झोंके कुछ शान्त होते हैं तब सत्वगुणकी जोरोंकी आँधी शुरू होती है। उस समय उसी मानव शाखामें सुवासनाके अंकुर उत्पन्न होते हैं और उसमें सत्कर्मोंकी बहुत-सी कोंपलें लगने लगती हैं। ज्ञानका यथेष्ट प्रकाश हो जानेके कारण बुद्धि की तीव्र सामर्थ्यसे एक ही क्षणमें बहुत-सी नई नई शाखाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। बुद्धिकी सरल और दृढ़ शाखाएँ निकलती हैं और उनमें स्फूर्तिके अंकुर उत्पन्न होते हैं और बुद्धिका प्रकाश विवेक-विचारका आश्रय लेता हुआ आगे बढ़ता है। फिर बुद्धिके रससे भरे हुए भक्तिके पल्लवोंमेंसे सद्वृत्तिके सुन्दर और कोमल अंकुर निकलते हैं। इस सदाचारके विपुल अंकुरोंके अग्र भाग पर वेद-वचनोंका घोष होता रहता है। फिर शिष्टाचार वेदोक्त विधि और यज्ञादि कर्मोंके असंख्य पत्तोंमेंसे और भी अनेक नये नये पत्ते निकलने लगते हैं। फिर तपस्याकी ऐसी शाखाएँ निकलती हैं जिनमें यम-दम आदि लटकते रहते हैं और आगे चलकर वही कोमल परन्तु विशाल वैराग्यकी शाखाएँ उत्पन्न करते हैं। फिर धैर्य-रूपी अंकुरके तीक्ष्ण सिरे पर भिन्न-भिन्न व्रतोंकी टहनियाँ निकलती हैं और वे सीधी ऊपरकी ओर बहुत अधिक ऊँचाई तक चली जाती हैं। इन्हींमें वेदोंकी बहुत बड़ी शाखा रहती है; और जिस समय सत्व गुणकी हवाएँ बहुत जोरोंसे चलने लगती हैं, उस समय यह टहनी सुविद्याकी सरसराहट करती रहती है। फिर धर्मकी शाखा बढ़ने लगती है और उसीमेंसे जन्मवाली सरल शाखा निकलती है और साथ ही स्वर्ग-सुख आदिकी टेढ़ी-तिरछी शाखाएँ भी निकलकर खूब बढ़ती और फैलती हैं। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा आदि ग्रह, पितर, ऋषि, विद्याधर आदिकी उपशाखाओंका भी प्रसार होने लगता है। इनके और ऊपर बहुत अधिक ऊँची और फलोंसे लदी हुई इन्द्र-लोक आदिकी शाखाएँ होती हैं। और इनसे भी ऊपर मरीचि और कश्यप आदिने तपोज्ञानके बलसे अपनी विशाल

शाखाएँ ऊँची कर रखी हैं। इस प्रकार एक पर एक ऐसी बहुत-सी शाखाएँ बराबर अधिकाधिक फैलती जाती हैं जो मूलकी ओर तो बहुत छोटी होती हैं, परन्तु जो आगे चलकर बहुत बड़ी हो जाती हैं और जिनमें फलोंकी खूब बहार रहती है और जो अत्यन्त महत्वकी तथा विशाल होती हैं। इसके अतिरिक्त इन ऊपर जानेवाली शाखाओंमें जो बहुत से फल लगते हैं, उनके अग्र भागोंसे हे अर्जुन, ब्रह्मा और शंकर आदि तक समस्त अंकुर निकलते हैं। फिर फलोंके बहुत अधिक भारके कारण ये शाखाएँ झुककर दोहरी हो जाती हैं और अपने मूल पर ही आ ठहरती हैं। साधारण वृक्षोंमें भी यही बात होती है। जब उनकी शाखाओं पर फलोंका भार बहुत अधिक हो जाता है, तब शाखाएँ आपसे आप झुकने लगती हैं और जड़ पर ही आ ठहरती हैं। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, जिस मूलसे इस संसार-रूपी वृक्षकी उत्पत्ति होती है, उसी मूल पर बढ़ते हुए ज्ञानके भारके कारण उसका विस्तार फिर आकर ठहरता है। इसी लिए ब्रह्म-लोक और शिव-लोकसे आगे जीवकी वृद्धि या उन्नतिके लिए और कोई गति नहीं होती और इन लोकोंकी प्राप्ति होने पर जीव ब्रह्म-स्वरूप ही हो जाता है। परन्तु अब इन बातोंको जाने दो। वे ब्रह्मा आदि देवता भी अपनी सामर्थ्यसे उस ऊर्ध्व-मूलकी बराबरी तक नहीं पहुँच सकते। इनसे भी ऊपर सनकादिक नामकी और भी अनेक प्रसिद्ध शाखाएँ हैं। परन्तु उन शाखाओं पर फलोंका भार नहीं होता और इसी लिए वे मूलकी ओर न लौटकर सीधी ऊपर ही ऊपर चलकर ब्रह्ममें प्रवेश करती हैं। इस प्रकार मनुष्यसे लेकर ऊपर ब्रह्मा आदि तक इन सब शाखाओंकी वृद्धि बहुत अधिक ऊँचाई तक हुई है। हे अर्जुन, ये ऊपरकी ओर ब्रह्मा आदिकी जो शाखाएँ हैं, इनकी उत्पत्ति मानव शाखासे ही हुई है। और इसी लिए मानव शाखाको नीचेवाला मूल या जड़ कहा गया है। इस प्रकार मैंने तुम्हें इस अलौकिक संसार-रूपी वृक्षकी कहानी कह सुनाई है जिसकी शाखाएँ ऊपरकी ओर भी गई हैं और नीचेकी ओर भी और जिसके ऊपरी भागमें मुख्य मूल या जड़ है। साथ ही इस वृक्षकी जो मूल या जड़ें नीचेकी ओर हैं, उनका भी मैंने स्पष्ट रूपसे विवेचन कर दिया है। अब तुम यह सुनो कि यह संसार-रूपी वृक्ष किस प्रकार उखाड़कर फेंका जा सकता है।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥

"परन्तु, हे अर्जुन, कदाचित् तुम्हारे मनमें यह शंका उत्पन्न होगी कि क्या कोई ऐसा साधन भी हो सकता है जिससे यह इतना बड़ा और विशाल वृक्ष उखाड़कर फेंका जा सकता है? यदि ऊपरकी ओर जानेवाली इसकी शाखाओंको देखा जाय तो वे ब्रह्म-लोक तक जा पहुँची हैं और इनका मूल तो स्वयं निर्गुणमें ही है। अपनी नीचेवाली शाखाओंके कारण यह वृक्ष स्थावरके अन्तिम भाग तक पहुँचा हुआ है और इसके मध्य भागमें जो मानव रूपी मूल हैं, वे अलग। इतने दृढ़ और विशाल वृक्षका भला कौन नाश कर सकता है? परन्तु इस प्रकारका दुर्बल विचार तुम अपने मनमें नामको भी मत घुसने दो। यह वृक्ष भले ही बहुत दृढ़ और विशाल हो, परन्तु फिर भी इसका

उन्मूलन करनेमें बहुत बड़े श्रमकी क्या आवश्यकता है? भला बच्चोंको क्या कभी इस बातकी आवश्यकता होती है कि वे हौवेको भगाकर दूसरे देशमें पहुँचा दें? क्या कभी किसीको गन्धर्वनगरी गिरानेकी, खरगोशके सींग तोड़नेकी अथवा आकाश-कुसुम तोड़नेकी भी कोई चिन्ता करनी पड़ती है? ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, यह संसार-रूपी वृक्ष भी बिलकुल वास्तविक या सचमुचका नहीं है। फिर भला इसे उखाड़ फेंकना कौन बहुत बड़ी बात है? मैंने इसके मूलों और शाखाओंका जो वर्णन किया है, उसे वन्ध्याके पुत्रोंसे घर भरनेके वर्णनके समान ही समझना चाहिए। स्वप्नमें होनेवाली कोई घटना हमारे जाग्रत होने पर भला हमारा क्या बिगाड़ सकती है? इसी प्रकार तुम इस वृक्षकी सारी कहानीको भी बिलकुल निर्मूल ही समझो। क्योंकि यदि यह बात न मानी जाय और इस वृक्षका मैंने जैसा वर्णन किया है, उसीके अनुसार यह वृक्ष और इसका मूल वास्तवमें इतना ही प्रबल और दृढ़ हो, तो फिर भला ऐसा कौन माईका लाल हो सकता था जो इसे उखाड़ सकता? अरे फूँक मारकर कभी आकाश भी उड़ाया जा सकता है? इसी लिए, हे अर्जुन मैं तुमको बतलाता हूँ कि कछुवीको कभी दूध ही नहीं होता; और इसी लिए इस संसार-रूपी वृक्षका अभी मैंने जो वर्णन किया है, वह वैसा ही मायासे पूर्ण है जैसा यह कहना कि कछुवीके दूधका मक्खन निकालकर और उसका घी तैयार करके किसी राजाके आगे खानेके लिए परोसा गया था। दूसरे मृग-जलसे भरे हुए जलाशय तो अवश्य दिखाई देते हैं, परन्तु क्या उस जलकी सहायतासे धानके पौधे रोपे जा सकते हैं या केलेके पौधे लगाये जा सकते हैं? यदि मूलतः अज्ञान ही मिथ्या है तो फिर उस अज्ञानके द्वारा होनेवाला कार्य भला कहाँ तक मिथ्या न होगा? और इसी लिए जब इस संसार-रूपी वृक्षका भली भाँति विचार किया जाता है, तब यह बिलकुल मिथ्या ही सिद्ध होता है। और जो लोग यह कहते हैं कि इस वृक्षका नहीं अन्त ही नहीं है और न कभी इसका नाश होता है, तो उनका कहना भी एक दृष्टिसे ठीक ही है। जब तक मनुष्य जाग्रत नहीं होता, तब तक क्या कभी निद्राका अन्त होता है? जब तक रात्रि समाप्त न हो, तब तक भला क्या कभी तड़का हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जब तक विवेकसे मायाको उड़ा नहीं दिया जाता, तब तक इस संसार-रूपी अश्वत्थका कभी अन्त नहीं होता। जोरोंसे बहनेवाली हवा जब तक शान्त नहीं होती, तब तक सागरकी तरंगें बराबर अनन्त ही जान पड़ती हैं। इसी लिए जब सूर्यका अस्त होता है, तभी मृग-जल भी अदृश्य होता है अथवा जब दीपक बुझाया जाता है, तभी प्रभा नष्ट होती है। ठीक इसी प्रकार जब मूल मायाको मिटा डालनेवाला ज्ञान आकर उपस्थित होता है, तभी इस संसार-रूपी वृक्षका अन्त होता है; और नहीं तो कभी अन्त नहीं होता। इस संसारको जो अनादि कहा जाता है, वह भी कुछ मिथ्या नहीं है। ऐसा कथन भी ऊपरके विवेचनके आधार पर ठीक ही है। क्योंकि जब यह संसार-रूपी वृक्ष स्वयं ही वास्तविक या सत्य नहीं है, तो फिर भला इसका आरम्भ कहाँ हो सकता है और कौन हो सकता है? जो वास्तवमें किसी स्थान पर उत्पन्न होता है, उसके सम्बन्धमें तो यह कहना अवश्य शोभा देता है कि इसका आदि है; परन्तु जो बिलकुल

है ही नहीं, उसका भला मूल या आदि कहाँ हो सकता है ? जिसका कभी जन्म ही न होता हो, उसके सम्बन्धमें भला यह कैसे बतलाया जा सकता है कि इसकी माता कौन है ? तात्पर्य यह कि यह संसार-रूपी वृक्ष वास्तवमें बिलकुल है ही नहीं और इसी लिए यह अनादि ठहरता है। भला वन्ध्याके पुत्रकी जन्मपत्री कहाँसे आ सकती है ? आकाशमें नीले रंगकी पृथ्वीकी कल्पना किस प्रकार की जा सकती है ? हे अर्जुन, आकाश-पुष्पका डंठल भला कौन तोड़ सकता है ? जिस संसारका वास्तवमें अस्तित्व ही न हो, उसका आदि, आरम्भ या जन्म कहाँसे हो सकता है ? जिस प्रकार घटका मिथ्यात्व स्वयंसिद्ध है, उसी प्रकार यह मूल सहित संसार-रूपी वृक्ष मिथ्या होनेके कारण अनादि है। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि न तो इसका आदि ही है और न अन्त ही है। मध्यमें यह कुछ कुछ अवश्य भास होता है, परन्तु वह भास भी मिथ्या ही है। मृग-जलका स्रोत न तो किसी पर्वतसे निकलता ही है और न जाकर किसी समुद्रमें गिरता ही है। हाँ मध्यमें ही उसका कुछ भास होता है। उसी मृग-जलकी भाँति इस संसारका भी न तो कोई आदि ही है और न अन्त ही और न कभी वास्तवमें इसका कोई अस्तित्व ही होता है। इस संसारका मिथ्या वैलक्षण्य केवल मध्यमें ही भासमान होता है। जिस प्रकार इन्द्र धनुष अनेक प्रकारके रंगोंसे रँगा हुआ होता है, उसी प्रकार अज्ञानसे यह संसार रँगा और सजा हुआ दिखाई देता है। जिस प्रकार चतुर नट अपने वेषसे लोगोंको भ्रममें डालता है, उसी प्रकार यह संसार भी अपने मध्यवाले आभासके द्वारा लोगोंको भ्रममें रखता है। आकाशमें वास्तवमें कुछ भी न होने पर कभी कभी गन्धर्व-नगर दिखाई देता है, परन्तु क्षण ही भरमें वह फिर नष्ट हो जाता है। स्वप्नमें दिखाई देनेवाले मिथ्या दृश्योंको भी यदि सत्य मान लिया जाय तो भी क्या जाग्रत अवस्थाके व्यवहारोंमें उनका कोई उपयोग हो सकता है ? इसी प्रकार क्षण भरके लिए होनेवाला यह आभास वास्तवमें बिलकुल मिथ्या ही है। बन्दरको जलमें अपना प्रतिबिम्ब तो अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ करता हुआ दिखाई देता है, परन्तु जब वह उसे पकड़ने लगता है, तब उसके हाथमें कुछ भी नहीं आता। इसी प्रकार यह संसार भी दिखाई तो पड़ता है, परन्तु वास्तवमें इसका कोई अस्तित्व नहीं है। यह आभास इतनी जल्दी होता है और इतनी जल्दी इस आभासका लोप होता है कि इसके सामने तरंगोंकी चंचलता तुच्छ सिद्ध होती है और विद्युत् भी इसकी बराबरी नहीं कर सकती। जिस प्रकार वर्षा-कालके आरम्भकी वायु चारों तरफसे चलती है और इस बातका पता नहीं चलता कि यह हवा सामनेकी तरफसे आ रही है या पीछे की तरफ से, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी भी वास्तविक और सच्ची स्थिति नहीं है। न तो इसका आदि है, न अन्त है, न स्थिति है और न रूप है। फिर भला इसे उखाड़ फेंकने-के लिए बहुत अधिक परिश्रम या प्रयत्नकी क्या आवश्यकता है ? यह केवल हमारे अज्ञान-के कारण ही इतना बलवान् है, इसलिए इस पर आत्म-ज्ञानकी कुल्हाड़ीसे प्रहार करके इसे गिरा देना चाहिए। एक ज्ञानको छोड़कर इसे गिरानेके लिए तुम और जितने उपाय करोगे, वे सभी तुम्हें इस वृक्षमें और भी अधिक फँसावेंगे। फिर तुम इसकी शाखा शाखा पर ऊपर नीचे कहाँ तक घूमते रहोगे ? हाँ यदि तुम सत्य ज्ञानके साधनसे इसके मूलमें रहने

वाला अज्ञान ही नष्ट कर डालोगे तो सारा काम आपसे आप हो जायगा। रस्सीको साँप समझकर उसे मारनेके लिए लकड़ी लेकर इधर-उधर घूमनेकी ही तरह क्या यह सारा परिश्रम व्यर्थ नहीं है ? जो मृग-जलको नदी समझकर उसे पार करनेके लिए नाव तैयार करनेके उद्देश्यसे जंगलमें इधर-उधर भटकता है, वह सचमुच ही किसी नालेमें गिरकर डूब जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन इस मिथ्या संसारका नाश करनेके लिए जो अनेक प्रकारकी विवेचनाएँ करता है, जो आत्म-ज्ञानसे रहित होकर रहता है, उसका संसार-सम्बन्धी भ्रम बराबर और भी बढ़ता ही जाता है। इसी लिए, हे अर्जुन जिस प्रकार स्वप्नमें लगनेवाले घावको अच्छा करनेका उपाय केवल जाग्रत होना है उसी प्रकार इस अज्ञान मूलका नाश करनेके लिए केवल ज्ञान ही कुठार है। और यह कुठार ज्यों ज्यों सहजमें चलाया जाता है, त्यों त्यों बुद्धिको वैराग्यकी नई नई शक्ति प्राप्त होती है। ज्यों ही वैराग्यका आविर्भाव होता है, त्योंही धर्म, अर्थ और कामके त्रिवर्गसे मनुष्यका उसी प्रकार छुटकारा हो जाता है, जिस प्रकार कुत्ता बहुत गरम अन्न खाकर तुरन्त ही उसे वमन करके उसके तापसे मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, यह वैराग्य इतना प्रबल होना चाहिए कि मनुष्यको प्रत्येक पदार्थसे अत्यन्त घृणा हो जाय। इसके उपरान्त देहाभिमान-का वेष्टन एक दमसे फेंक कर यह शस्त्र प्रत्यग्बुद्धि अर्थात् आत्म-भावनाके हाथमें खूब मजबूतीके साथ पकड़ लेना चाहिये। विवेककी सानपर चढ़ाया हुआ और अहं ब्रह्माऽस्मिके आत्मबोध पर खूब अच्छी तरह चोखा किया हुआ यह शस्त्र पूर्ण बोधके चूर्णके साथ खूब अच्छी तरह रगड़ना चाहिये। और इसके उपरान्त यह देखनेके लिए कि हमारे निश्चय की मुट्ठीमें कितनी शक्ति है, एक दो बार इसका प्रयोग भी करके देखना चाहिये। फिर मननके बलसे यह शस्त्र तौलकर धारण करना चाहिये। इसके उपरान्त जब निदिध्यासनके साधनसे यह शस्त्र और हम दोनों बिलकुल एक-रूप हो जायँ, तब फिर इसके प्रहारके सामने कुछ भी नहीं ठहर सकता। अद्वैत तेजके निर्णयसे आत्मज्ञानका यह शस्त्र संसार रूपी वृक्षको कहीं न रहने देगा। जिस प्रकार शरद ऋतुके आरम्भकी वायु आकाशमें बादलोंका कूड़ा-कर्कट नहीं रहने देती अथवा उदित होने-वाला सूर्य जिस प्रकार सारी कालिमा और अन्धकारको निगल जाता है अथवा जिस प्रकार जाग्रत होते ही स्वप्नके समस्त खेलोंका अन्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-ज्ञानकी तीक्ष्ण धार भी बहुत जल्दी अपना काम करती है। फिर जिस प्रकार चन्द्रमाके प्रकाशमें मृग-जल नहीं दिखाई देता, उसी प्रकार इस संसार-रूपी वृक्षकी न तो ऊपर-वाली जड़ ही कहीं दिखाई देती है और न नीचेकी ओर उसकी शाखाओंका फैला हुआ जाल ही कहीं रह जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार आत्म-ज्ञानके शस्त्रसे इस ऊर्ध्वमूल संसार-वृक्षको तोड़ डालना चाहिए।

> ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता निवर्तन्ति भूयः।
> तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥

"इतना हो जाने पर मनुष्यको उस आत्म-स्वरूपका प्रत्यय होता है, जिसके सम्बन्धमें यह निर्देश नहीं किया जा सकता कि "यह है" या "वह है" और जो अपने

बिना ही स्वयं-सिद्ध होता है। परन्तु दर्पणका आधार लेकर मूर्ख लोग यह समझते हैं कि एक मुखकी जगह दो मुख हैं। ठीक यही बात द्वैत की भी होती है। इसलिए तुम द्वैतको कभी अंगीकार मत करो। इस आत्म-स्वरूपको ठीक तरहसे देखनेका ढंग यही है। कूआँ खोदनेसे पहले भी जमीनके अन्दर पानीका सोता अपनी जगह पर मौजूद रहता है। अथवा जब पानी हट जाता है या नहीं रह जाता, तब पानीमें पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी फिर लौटकर अपने मूल बिम्बमें आकर लीन हो जाता है; अथवा घटके फूट जाने पर जिस प्रकार घटाकाश फिर आकाशमें मिल जाता है अथवा जलना समाप्त होने पर जिस प्रकार अग्नि फिर अपने मूल स्वरूपमें जाकर लीन हो जाती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, यह आत्मस्वरूप भी देखना चाहिए। यह बात भी ठीक उसी प्रकारकी है, जिस प्रकार जीभ स्वयं अपना ही स्वाद चखे अथवा नेत्र स्वयं अपनी ही पुतली देखे। अथवा जिस प्रकार तेजमें तेज मिल जाता है, आकाशमें आकाश समा जाता है अथवा जलाशयमें जल जा मिलता है, उसी प्रकार अद्वैतकी दृष्टिसे अपना आत्म-स्वरूप भी देखा जाता है। जिसे बिना देखे और बिना द्रष्टा बने देखना चाहिए और जिसे न जानते हुए भी जानना चाहिए और जिस वस्तुको आद्य पुरुष कहते हैं, उसके सम्बन्धमें उपाधिका आश्रय लेकर श्रुति ग्रन्थ व्यर्थ ही तरह तरहकी बातें बनाते हैं; और फिर व्यर्थ ही उसके नामों और रूपोंका वर्णन करने लगते हैं। जो मुमुक्षु लौकिक सुखोंसे भी और स्वर्गके सुखोंसे भी बिलकुल ऊब जाते हैं, वे इस बातकी प्रतिज्ञा करके योग-ज्ञानकी ओर प्रवृत्त होते हैं कि हम इस स्वरूपमें प्रवेश करके फिर कभी लौटकर इधर नहीं आवेंगे। ऐसे लोग वैराग्यकी बाजी जीतकर संसारके बखेड़ोंसे बहुत दूर निकल जाते हैं और ब्रह्मलोकका पर्वत पार करके उससे भी बहुत आगे पहुँच जाते हैं। फिर वे लोग अहंकार आदि भावनाओंसे बिलकुल रहित होकर जिस स्थान पर जानेका आज्ञापत्र प्राप्त करते हैं, जिस मूल वस्तुसे आगे मनुष्यकी सूखी आशाके समान इतनी बड़ी विश्व-मालिकाका विस्तार बाहर निकलता है, जिस वस्तुका ज्ञान न होनेके कारण ही इस संसारकी, जो वास्तवमें बिलकुल मिथ्या है, इतनी अपरम्पार व्याप्ति दिखाई देती है, और "मैं" तथा "तुम" का द्वैत अपना प्रभाव दिखलाता है, हे अर्जुन, उस आद्य वस्तुको, उस अपने आत्म-स्वरूप को स्वयं इस प्रकार देखना चाहिये, जिस प्रकार बरफसे ही बरफ जमाते हैं। हे अर्जुन इस स्वरूपको पहचान लेने-का एक और लक्षण है, और वह यह कि जब एक बार इस स्वरूपके दर्शन हो जाते हैं, तब फिर मनुष्य उस स्वरूपसे लौटकर कभी आ ही नहीं सकता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि इस स्वरूपके दर्शन होते किसे हैं? सो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार प्रलय-कालका जल सभी जगह ओत-प्रोत भरा रहता है, उसी प्रकार जिस मनुष्यके अङ्ग अङ्ग में ज्ञान बिलकुल पूरी तरहसे भरा रहता है, उसीको इस आत्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥ ५॥

"जिस प्रकार वर्षा-ऋतुके अन्तमें आकाशमें बादल बिलकुल नहीं रह जाते, उसी प्रकार जिन पुरुषोंके मनमें मान और मोह आदि विकार बिलकुल नहीं रह जाते, जो लोग विकारोंके फेरमें उसी प्रकार नहीं पड़ते, जिस प्रकार किसी दरिद्र और निष्ठुर मनुष्यके फेरमें उसके नाते-रिश्तेके लोग भी नहीं पड़ते, आत्म-प्राप्तिके कारण जिनकी समस्त क्रियाएँ धीरे-धीरे उसी प्रकार नष्ट हो जाती हैं, जिस प्रकार फल लगते ही केलेके वृक्षके जीवनका अन्त हो जाता है, जिन्हें सब प्रकारके संकल्प-विकल्प उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार कटे हुए वृक्षको पक्षी लोग छोड़ देते हैं, जिनमें उस भेद-बुद्धिका नाम भी नहीं होता, जिस भेद-बुद्धिकी भूमि पर दोषोंकी वनस्पति बहुत जोरोंसे उत्पन्न होती है, जिनकी देहाभिमानबुद्धि अविद्याके सहित उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जिस प्रकार सूर्यका उदय होते ही रात्रि नष्ट हो जाती है, जो लोग अज्ञानमय द्वैतको उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार शरीर उस जीवको अकस्मात् छोड़ जाता है, जिसकी आयुष्य समाप्त हो जाती है, जिनके लिए द्वैत भावका सदा उसी प्रकार अकाल रहता है, जिस प्रकार पारसके लिए लोहेका अथवा सूर्यके लिए अन्धकारका अकाल होता है, जिनके सामने देहको ज्ञान पड़नेवाले सुखों और दुःखोंका द्वन्द्व क्षण मात्र भी नहीं ठहरता, जिन पर हर्ष और शोकका उसी प्रकार कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिस प्रकार जाग्रत होने पर मनुष्य पर स्वप्नमें होनेवाले, राज्य-लाभ अथवा मरणके प्रसंगका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जिन पर सुखों और दुःखोंके द्वन्द्व उसी प्रकार कोई प्रहार नहीं कर सकते, जिस प्रकार गरुड़ पर सर्प कभी प्रहार नहीं कर सकता, जो अनात्म पदार्थ रूपी जलको अलग करके और आत्मानन्द रूपी दूध पीकर सुविचारके राजहंस बन जाते हैं, जो अज्ञानके कारण चारों ओर फैली हुई आत्म-वस्तुको ज्ञानकी दृष्टिसे अखंड स्वरूपमें उसी प्रकार एकत्र करते हैं, जिस प्रकार सूर्य पृथ्वी-तल पर जलकी वर्षा करके उसे फिर अपनी किरणोंके द्वारा अपने ही बिम्बमें ले आता है, आत्म-निर्णयमें जिनका विवेक उसी प्रकार सम-रस हो जाता है, जिस प्रकार समुद्रमें मिलकर गंगाका जल सम-रस हो जाता है, जिन्हें सब जगह केवल आत्म-स्वरूप ही दिखाई देता है और जिनके लिए आत्म-स्वरूपसे बाहर निकलना उसी प्रकार सम्भव नहीं है, जिस प्रकार आकाशके लिए यहाँसे और कहीं जाना सम्भव नहीं है और इसी लिए जिनके साथ विषय-वासनाओंका कभी कोई सम्पर्क ही नहीं हो सकता, जिनके हृदयमें विकारोंका उसी प्रकार कभी उदय नहीं होता, जिस प्रकार ज्वालामुखी पर्वत पर बीजोंमें अंकुर नहीं उत्पन्न होते, जिनका चित्त काम आदि विकारोंसे उसी प्रकार रहित और निश्चल होता है, जिस प्रकार क्षीर सागर उस समय निश्चल हुआ था, जिस समय घर्र-घर्र घूमनेवाला मन्दराचल उसमेंसे निकाल लिया गया था, जिनमें काम आदिका कोई दोष उसी प्रकार नहीं दिखाई देता, जिस प्रकार सोलहों कलाओंसे युक्त होने पर चन्द्रमाके किसी अंगमें कोई न्यूनता नहीं दिखाई देती, परन्तु इस विस्तृत वर्णनका और कहाँ तक विस्तार किया जाय, सारांश यह कि जिनके सामने विषयोंका उसी प्रकार ठिकाना नहीं लगता, जिस प्रकार वायुके सामने सूक्ष्म कणका ठिकाना नहीं लगता और इस प्रकार जो लोग ज्ञानकी अग्निसे अपने सारे दोषों और मलोंको जलाकर पूर्ण रूपसे निर्मल हो

जाते हैं, वे खरे सोनेमें खरे सोनेके ही समान पूरी तरहसे वहाँ जाकर मिल जाते हैं। यदि तुम यह पूछो कि मेरे इस कथनमें "वहाँ" का क्या मतलब है, तो तुम यही समझ लो कि वहाँका अर्थ है—उस अव्यय वस्तुमें। यह वस्तु ऐसी है जो कभी दृष्टिका विषय नहीं होती (अर्थात् कभी देखनेमें नहीं आती) और न कभी ज्ञानका ही विषय होती है। उसके सम्बन्धमें कभी यह नहीं कहा जा सकता कि वह अमुक वस्तु है।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ ६॥

"दीपकके उज्ज्वल प्रकाशमें जो कुछ दिखाई देता है अथवा चन्द्रमा जिसे प्रकाशित करता है अथवा जो वस्तु सूर्यकी प्रखर प्रभासे चमकती है, उन सब वस्तुओंकी दृश्यता उस वस्तुके न दिखाई पड़नेके कारण भासमान होती है (अर्थात् ये सब सांसारिक वस्तुएँ तभी तक दिखाई देती हैं, जब तक वह अव्यय वस्तु नहीं दिखाई देती)। वह वस्तु स्वयं अदृश्य रहकर सारे विश्वको प्रकाशित करती है। ज्यों ज्यों सीपीके भावका ज्ञान मन्द होता जाता है, त्यों-त्यों उसमें होनेवाला चाँदीका भास ठीक और वास्तविक जान पड़ने लगता है अथवा ज्यों-ज्यों रस्सीके ज्ञानका लोप होता है, त्यों त्यों उसके सम्बन्धमें होने-वाला साँपका भ्रम दृढ़ होता जाता है। ठीक इसी प्रकार जिस वस्तुका प्रकाश पड़नेके कारण ही चन्द्रमा और सूर्य आदि प्रचंड तेजसे प्रकाशित होते हैं, वह वस्तु केवल तेजकी राशि ही है। वह समस्त भूतोंमें व्याप्त है और चन्द्रमा तथा सूर्यको भी प्रकाश देती है। चन्द्रमा और सूर्य अपना जो प्रकाश फैलाते हैं, वह प्रकाश वे इसी ब्रह्म नामक वस्तुसे प्राप्त करते हैं; और इसी लिए चन्द्रमा तथा सूर्य आदि तेजस्वी पिंडोंका तेज उस ब्रह्म-वस्तुका ही एक अंश है। सूर्योदय होने पर जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ साथ और सब नक्षत्रोंका लोप हो जाता है, उसी प्रकार इस ब्रह्म-वस्तुके प्रकाशके उदित होते ही उस प्रकाशमें सूर्य और चन्द्रमाके साथ सारे जगत्का लोप हो जाता है। अथवा जिस प्रकार जाग्रत होनेकी अवस्थामें स्वप्नकी सारी धूमधामका अन्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार सन्ध्या काल होते ही कहीं मृग-जल बाकी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिस वस्तुका प्रकाश होते ही और किसी वस्तुके आभासके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता; वही वस्तु मेरा मुख्य स्थान है। जो लोग उस स्थान पर आ पहुँचते हैं, वे सागरमें लीन होनेवाले जल-प्रवाहके समान फिर कभी वहाँसे लौटकर नहीं आते। अथवा जिस प्रकार नमककी बनाई हुई हाथीकी मूर्त्ति खारे समुद्रमें डालनेपर फिर किसी प्रकार लौटकर बाहर नहीं आ सकती अथवा अग्निकी ज्वाला आकाशमें चली जाने पर फिर लौटकर नहीं आती अथवा तपे हुए लोहे पर डाला हुआ पानी, जिस प्रकार फिर हाथ नहीं आ सकता, ठीक उसी प्रकार जो व्यक्ति शुद्ध ज्ञानसे आकर मुझमें मिलता और एक-रूप हो जाता है, उसका फिर वापस लौटना सदाके लिए बन्द हो जाता है। श्रीकृष्णकी ये बातें सुनकर बुद्धिमान् अर्जुनने कहा—'हे देव, आपने मुझपर बहुत बड़ी कृपा की है। परन्तु फिर भी आपसे मेरी एक प्रार्थना है। उसकी ओर आप ध्यान दें। जो लोग

आपमें मिलकर एक रूप हो जाते हैं और फिर लौटकर वापस नहीं आते, वे आपसे भिन्न रहते हैं या अभिन्न रहते हैं? यदि वे अनादि परम्परासे भिन्न रहते हों तो यह बात ठीक नहीं सिद्ध होती कि वे फिर लौटकर नहीं आते; क्योंकि भ्रमर फूलोंके पास जाते हैं, वे क्या फूल ही हो जाते हैं? बाण जिस पर छोड़े जाते हैं, उससे वे भिन्न होते हैं और जिस पर छोड़े जाते हैं उससे जाकर स्पर्श करते हैं और फिर पीछे लौटकर गिर पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार वे जीव भी आपको स्पर्श करके फिर अवश्य ही लौट आवेंगे। अथवा यदि आप और वे जीव स्वभावतः एक ही हों तो फिर कौन किसमें मिलता है? शस्त्र आप ही अपने आपको कैसे काट सकता है? इसी लिए जिस प्रकार शरीरके साथ अव-यवोंके होनेवाले संयोग और वियोगकी बात नहीं कही जा सकती, ठीक उसी प्रकार जो जीव आपसे भिन्न ही नहीं हैं, उनका आपके साथ संयोग और वियोग होनेकी बात समझमें नहीं आती। और जो सदा आपसे भिन्न ही हैं, वे कभी आपमें मिलकर एकरूप नहीं हो सकते। और ऐसी अवस्थामें इस बातका विचार करना बिलकुल व्यर्थ हो जाता है कि वे आपके पाससे फिर लौटकर आते हैं या नहीं। इसी लिए, हे देव, आप यह बात मुझे स्पष्ट रूपसे बतलावें कि जो आपके साथ मिलकर एक हो जाते हैं और फिर लौटकर नहीं आते, वे कौन हैं।" अर्जुनका यह प्रश्न सुनकर उन सर्वज्ञ-श्रेष्ठ भगवानको बहुत अधिक सन्तोष हुआ, क्योंकि अपने शिष्यके इस प्रश्नसे उनको उसकी बुद्धिमत्ता अच्छी तरह दिखाई देने लगी। भगवान् श्रीकृष्णने कहा—"भाई बुद्धिमान् अर्जुन, जो लोग मुझ तक पहुँचकर फिर नहीं लौटते, वे मुझसे भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं। यदि विवेकपूर्वक गम्भीर विचार किया जाय तो मैं और वे स्वभावतः बिलकुल एक ही हैं—हम दोनों अभिन्न ही हैं। लेकिन यदि केवल ऊपरी दृष्टिसे विचार किया जाय तो यह भी जान पड़ता है कि वे मुझसे अलग हैं। जिस प्रकार जल पर उठनेकी अवस्था-में तरंगें उससे भिन्न जान पड़ती हैं, परन्तु यदि वास्तवमें विचार किया जाय तो यही मानना पड़ता है कि वे लहरें भी पानी ही हैं अथवा जिस प्रकार अलंकार सोनेसे भिन्न दिखाई देते हैं, परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अलंकार भी बिलकुल सोना ही होते हैं, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, यदि ज्ञानकी दृष्टिसे देखा जाय तो वे मुझसे अभिन्न ही हैं; और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह केवल अज्ञानके कारण है। और यदि ब्रह्म-वस्तुका ठीक ठीक विचार किया जाय तो ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो मुझ एकमेवाद्वितीयसे भिन्न मानी जा सके और जो भिन्नताके विचारसे मुझसे अलग की जा सके? यदि सूर्यका बिम्ब सारे आकाशको व्याप्त करके एक ही गोला बन जाय तो फिर उसका प्रतिबिम्ब कहाँ पड़ेगा? और उसकी किरणें जायँगी तो कहाँ जायँगी? प्रलय कालके सर्वव्यापी जलमें भी क्या कभी छोटी छोटी धाराएँ आकर मिलती हैं? ठीक इसी प्रकार मुझ विकारहीन तथा एकमेवाद्वितीयके अंश कैसे हो सकते हैं? परन्तु सीधा बहनेवाला पानी भी दो धाराओंके एक जगह मिलने पर कुछ टेढ़ा हो जाता है अथवा जलकी उपाधिके कारण सूर्य भी प्रतिबिम्ब रूपसे एककी जगह दो दिखाई देने लगता है। भला यह कैसे कहा जा सकता है कि आकाश चौकोर है या गोल है? परन्तु जब

वही आकाश किसी घट या मठमें व्याप्त रहता है, तब हम उसे गोल या चौकोर भी कह सकते हैं। जब कोई मनुष्य स्वप्नमें यह देखता है कि मैं राजा हो गया हूँ, तब निद्राके बल पर क्या वह अकेला ही सब व्यक्ति और सब वस्तुएँ नहीं बन जाता और सारे संसारको अपने ही आपसे नहीं भर देता? घटिया सोना या और कोई मेल मिलाने पर जिस प्रकार चोखा सोना भी कुछ और ही प्रकारका कस दिखलाने लगता है, ठीक उसी प्रकार मेरा शुद्ध स्वरूप भी जब मायासे वेष्टित हो जाता है, तब अज्ञानकी उत्पत्ति होती है। वह अज्ञान है—"कोऽहं" (अर्थात् मैं कौन हूँ)। इसी अज्ञानसे मनमें यह विकल्प उत्पन्न होता है कि मैं कौन हूँ, और तब इसी बात पर विचार करके जीव यह निश्चय करता है कि—"मैं देह हूँ"।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

"इस प्रकार आत्म-ज्ञान जब शरीरसे मर्यादित होता है, तब अल्पताके कारण उस शरीरमें मेरा अंश भासमान होता है। हवा चलनेके कारण समुद्र तरंगमय दिखाई देता है; और इसी लिए संकुचित विचारवालों जीवोंको ऐसा जान पड़ता है कि वे तरंगे भी समुद्रका अंश ही हैं। इसी प्रकार जड़को चैतन्य प्रदान करनेवाला और देहका अभिमान उत्पन्न करनेवाला मैं भी इस जीव-लोकमें जीवके रूपमें ही भासमान होता हूँ। जीवकी मर्यादित बुद्धिको अपने आस पास जो अनेक प्रकारके व्यापार होते हुए दिखाई देते हैं, उन्हींके लिए "जीव-लोक" शब्दका व्यवहार होता है। जन्म लेने और मरनेको वास्तविक और सच्चा माननेको ही मैं जीव-लोक अथवा संसार कहता हूँ। अब यह सुनो कि इस जीव-लोकमें तुम मुझे कैसे देख सकते हो। पानीमें प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमा वास्तवमें पानीके बाहरका ही होता है, अथवा यदि स्फटिक मणिको कुंकुम पर रख दें तो सामान्य मनुष्यको वह लाल रंगका जान पड़ता है, परन्तु वास्तवमें वह लाल रंगका नहीं होता। ठीक इसी प्रकार बिना अपनी अनादिता और क्रियाहीनतामें कोई बाधा पहुँचाये ही मैं जो कर्त्ता और भोक्ताके रूपमें भासमान होता हूँ, उसे केवल भ्रम ही समझना चाहिए। इन सब बातोंका तात्पर्य यही है कि शुद्ध आत्म-ब्रह्म ही प्रकृतिके साथ मिलकर स्वयं ही इस मायिक संसारका प्रवाह आरम्भ करता है। फिर वह आत्मा यही समझकर अपने सब व्यवहार करने लगता है कि मन आदि छओ इन्द्रियाँ और कान आदि माया-जनित अवयव सब मेरे ही हैं। जिस प्रकार कोई संन्यासी स्वप्नमें स्वयं ही अपना परिवार बन जाता है और फिर उस परिवारकी चिन्ताके कारण लोभमें पड़कर इधर-उधर दौड़ने लगता तथा अनेक प्रकारके सांसारिक व्यवहार करने लगता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी स्वयं अपने आपको भूल जाता है और तब अपने आपको प्रकृति अथवा मायाके समान ही समझकर उसीमें अनुरक्त हो जाता है और उसीके हितके सब काम करने लगता है। इसके उपरान्त वह मनके रथ पर बैठता है, कानके रन्ध्रोंमें प्रवेश करता है और शब्दोंके वनमें घुसकर चक्करमें पड़ जाता है। उसी प्रकृतिकी बागडोर पकड़कर वह जीवात्मा त्वचाके मार्ग पर चल पड़ता है और स्पर्श-विषयके घोर जंगलमें

प्रवेश करता है। कभी कभी वह नेत्रोंमें प्रवेश करके रूप-विषयके पर्वतोंमें मनमाना भटकता है। अथवा, हे अर्जुन, वह जिह्वामें संचार करके अपने आपको रस-विषयकी गुफामें पहुँचा देता है। अर्थात् जब यह देहाभिमानी जीवात्मा घ्राणेन्द्रियमें प्रवेश करता है, तब वह गन्ध-विषयके प्रचंड वनमें भी चला जाता है। इसी प्रकार यह देहाभिमानी जीव मनको गले लगाकर शब्दादिक विषय-समुदायोंका उपभोग करता है।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

"परन्तु जिस समय जीवात्मा एकसे अधिक शरीरमें संचार करता है, उस समय उसे ऐसा जान पड़ता है कि मैं ही कर्त्ता और भोक्ता हूँ। हे अर्जुन, जिस समय कोई पुरुष राजकीय विलासोंसे सम्पन्न किसी स्थानमें निवास करता है, उस समय उसे देखनेसे ऐसा जान पड़ता है कि वह बहुत धनवान् और विलासी है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा जब शरीरका आश्रय ग्रहण करता है, तब उसकी अहं-कर्त्ता-वाली भावना बहुत अधिक बलवती हो जाती है और विषयों तथा इन्द्रियोंकी चमाचौकड़ी आरम्भ हो जाती है। अथवा जब जीवात्मा शरीरका त्याग करता है, तब वह इन्द्रियोंका सारा साज-सामान भी अपने साथ ही लेता जाता है। जिस प्रकार अतिथिका अपमान होने पर वह उस गृहस्थकी पुण्यकी सम्पत्ति हरण कर ले जाता है, जिसका वह अतिथि होता है अथवा कठपुतलियोंका चलना-फिरना आदि उनको चलानेवाली डोरी अपने साथ ले जाती है अथवा अस्त होनेवाला सूर्य जिस प्रकार लोगोंके नेत्रोंका प्रकाश भी अपने साथ ही लेता जाता है अथवा वायु जिस प्रकार फलों और फूलोंका परिमल लूट ले जाती है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, शरीरको छोड़कर जानेके समय उसका स्वामी जीवात्मा भी मन और श्रोत्र आदि छओ इन्द्रियोंको अपने साथ ही ले जाता है।

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥

"फिर इस मृत्यु-लोकमें अथवा स्वर्ग-लोकमें जहाँ कहीं और जो शरीर वह जीवात्मा धारण करता है, वहीं और उसी शरीरमें वह उन्हीं मन आदि इन्द्रियोंका विस्तार करता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार बुझने पर दीपक अपनी प्रभा अपने साथ ही लेता जाता है, परन्तु फिरसे जलाने पर वही प्रभा लेकर प्रकट होता है, ठीक उसी प्रकार इस जीवात्मा और शरीरके सम्बन्धमें भी होता है। तात्पर्य यह कि जो लोग गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते, हे अर्जुन, उन लोगोंकी दृष्टिमें व्यवहारका यही प्रकार दिखाई देता है। कारण यह है कि वे लोग यह मानते हैं कि आत्मा सचमुच इस शरीरमें आती है, सचमुच वह विषयोंका भोग करती है और सचमुच फिर इस शरीरको छोड़कर चली जाती है। परन्तु यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो स्वयं आत्मा यही मानती है कि यह सब आना, जाना, करना और भोगना आदि केवल माया है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥

"परन्तु लोग जब यह देखते हैं कि शरीरका आकार सामने उपस्थित है, उसमें चेतना शक्ति आई है और उस चेतना शक्तिके कारण वह शरीर चलता फिरता है, तब वे यही कहते हैं कि शरीरमें आत्मा आई है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, इस शरीरकी संगतिसे भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ अपने विषयोंमें जो संचार करती हैं, उसीको लोग भोगना कहते हैं। इसके उपरान्त भोगके कारण क्षीण हो जानेवाला शरीर जब आपसे आप निश्चेष्ट हो जाता है, तब यह पुकार मचाई जाती है कि—"अरे जीव चला गया ! जीव चला गया !" परंतु हे अर्जुन, जिस समय वृक्ष हिलता हो, केवल उसी समय यह समझना कि हवा चल रही है और जिस समय वृक्ष हिलता न हो, उस समय यह समझना कि हवा नहीं चल रही है, क्या कभी ठीक और युक्ति-युक्त हो सकता है ? अथवा जिस समय दर्पण सामने रखा हो, क्या उसी समय यह मानना चाहिये कि हमारा रूप हमें प्राप्त हुआ है और इससे पहले हमारा रूप था ही नहीं ? अथवा जिस समय वह दर्पण दूर हटा दिया जाता है और उसमें दिखाई पड़नेवाले प्रतिबिम्बका आभास नष्ट हो जाता है, उस समय क्या मनुष्यको यह समझना चाहिए कि हमारे रूपका ही वास्तवमें लोप हो गया ? शब्द वास्तवमें आकाशका गुण है; परन्तु जब मेघोंकी गड़गड़ाहट सुनाई देती है, तब उस गड़गड़ाहटका आरोप मेघोंमें किया जाता है। अथवा वास्तवमें तो बादल ही चन्द्रमाके सामने वेगपूर्वक दौड़ते हैं, परन्तु साधारणतः यही समझा जाता है कि चन्द्रमा ही दौड़ रहा है। ठीक इसी प्रकार जो लोग अन्धे होते हैं, वे केवल भ्रमके कारण उस विकार-हीन स-आत्म सत्ता पर शरीरके जन्म लेने और मरनेका बिलकुल व्यर्थ ही आरोप करते हैं। इन सभी अवस्थाओंमें आत्मा निरन्तर अपने ही स्थान पर रहती है और शरीरके धर्म शरीरमें ही रहते हैं। परंतु इन सब बातोंको ठीक तरहसे और वास्तविक रूपमें देखनेवाले विवेकशील पुरुष कुछ दूसरे ही होते हैं। ज्ञान प्राप्त हो जानेके कारण जिनके नेत्र इस शरीरके ऊपरी आवरणमें ही नहीं फँसे रहते, ग्रीष्म-कालके सूर्यकी किरणोंकी भाँति विवेकका विस्तार होनेके कारण जिनके अन्दर स्वरूपका स्फुरण हो चुका होता है, केवल वही ज्ञानी पुरुष उस शुद्ध आत्माको जानते हैं। नक्षत्रोंसे भरे हुए आकाशका जब समुद्रमें प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब यह बात स्पष्ट रूपसे समझमें आती है कि आकाश टूटकर समुद्रमें नहीं आ पड़ा, बल्कि यह केवल उसका प्रतिबिम्ब है। आकाश जहाँ रहना चाहिये और जहाँ सदा रहता है, वहीं है; और नीचे दिखाई देनेवाला उसका यह आभास केवल मिथ्या जान पड़ता है। ठीक इसी प्रकार आत्मा यद्यपि इस शरीरके साथ सम्बद्ध दिखाई देती है, परंतु फिर भी उसका ऐसा दिखाई देना केवल आभास है। प्रवाहमें जो हलचल दिखाई देती है, वह प्रवाह भरमें ही होती है; और यद्यपि उस प्रवाहमें चन्द्रमाकी चन्द्रिका हिलती-डुलती दिखाई देती है; तो भी वास्तवमें वह चन्द्रिका स्वयं चन्द्रमामें ही स्थित रहती है। अथवा पानीका गड्ढा कभी तो भर जाता है और कभी सूख जाता है। जब वह भरा रहता है, तब उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब दिखाई देता है; और जब वह सूख जाता है, तब उसमें प्रतिबिंब नहीं दिखाई

देता। परन्तु सूर्य सदा ज्योंका त्यों रहता है। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी लोग यह देखते और समझते हैं कि शरीर चाहे जन्म ले और चाहे मर जाय, पर मैं सदा ज्योंका त्यों और अविकृत रहता हूँ। घट अथवा मठ चाहे बने और चाहे नष्ट हो जाय, परन्तु आकाश सदा ज्योंका त्यों और स्वयं सिद्ध ही रहता है। ठीक इसी प्रकार आत्म-सत्ता भी सदा अखंड और अक्षय रहती है और केवल अज्ञानके द्वारा कल्पित शरीर ही जन्म लेता और मरता है; और ज्ञानी लोग ही वास्तवमें यह बात जानते हैं। ज्ञानी लोग अपने निर्मल आत्म-ज्ञानके कारण यह समझते हैं कि चैतन्य न तो किसीमें भरा ही जाता है और न किसीमेंसे निकलता ही है और न वह कोई कर्म करता ही है और न कराता ही है। अब चाहे कितना ही अधिक ज्ञान क्यों न प्राप्त हो जाय, परमाणुका भी पता लगानेवाली सूक्ष्म बुद्धि क्यों न प्राप्त हो जाय और समस्त शास्त्रोंमें पारंगतता क्यों न प्राप्त हो जाय, परन्तु जब तक इस प्रकारकी विद्वत्ताके जोड़का वैराग्य मनमें न उत्पन्न हो, तबतक मेरे सर्वात्मक स्वरूपकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। हे अर्जुन, यदि ऐसी अवस्था हो कि मनुष्य मुँहसे तो विवेककी बहुत-सी बातें करता हो, परन्तु उसके अन्तःकरणमें विषयोंका दृढ़ और स्थायी निवास हो तो यह बात निश्चित है कि मेरे स्वरूपकी कभी प्राप्ति नहीं हो सकती। भला स्वप्नमें बड़बड़ानेवाले मनुष्यके रचे हुए ग्रन्थसे क्या कभी व्यवहारकी समस्याओंका निराकरण हो सकता है ? अथवा क्या कभी किसी पुस्तकको हाथ लगानेसे ही उसे पढ़नेका फल प्राप्त हो सकता है ? अथवा क्या आँखें बन्द करके और केवल नाकके साथ मोती लगाकर उसका दाम आँका जा सकता है ? ठीक इसी प्रकार यदि चित्तमें अहंकार भरा हो और मनुष्य सब प्रकारके शास्त्रोंको चर्चा करता हो, तो करोड़ों बार जन्म लेने पर कभी मेरी प्राप्ति नहीं हो सकती। जो एक मात्र मैं ही समस्त भूतोंमें व्याप्त रहता हूँ, वह अपनी व्याप्ति मैं तुम्हें स्पष्ट रूपसे बतलाता हूँ; सुनो।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२ ॥

"सूर्य समेत यह सारा विश्व जिस तेजसे प्रकाशित होता है, वह सब तेज मेरा ही है। हे अर्जुन, जब सूर्य जलका अंश सुखाकर अस्त हो जाता है, तब सूखे हुए जगत-को जो चन्द्रमा आर्द्रता पहुँचाता है, उस चन्द्रमाकी चन्द्रिकाएँ भी मेरा ही तेज हैं। और अग्निका जो बढ़ता हुआ तेज जलाने और सिझाने आदिके अनेक कार्य करता है, वह तेज भी मेरा ही है।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥

"मैं ही इस पृथ्वी-तलमें प्रवेश करके उसे सँभाले रहता हूँ; और इसी लिए वह मिट्टीके ढेलेके रूपमें होने पर भी महासागरके जलमें गल नहीं जाती। और पृथ्वी अपनी जिस शक्तिके कारण असंख्य भूतोंका भार सहन करती है, वह शक्ति भी मैं ही उसमें प्रवेश करके उसे प्रदान करता हूँ। हे अर्जुन, आकाशमें चन्द्रमाके रूपमें मैं ही अमृत-के चलते-फिरते सरोवरके समान हुआ हूँ। वहाँसे मेरी जो किरणें नीचेकी ओर आती हैं,

उन्हें मैं ही अमृतसे भरकर समस्त वनस्पतियोंका पोषण करता हूँ। इस प्रकार मैं धान्य आदिका सुकाल करके अन्नके द्वारा भूत मात्रके जीवनका निर्वाह करता हूँ। यद्यपि इस प्रकार अन्नकी तो यथेष्ट प्रचुरता हो जाती है, परन्तु उस अन्नको पचाकर जीवोंको सुखी करनेवाला जठराग्निकी जो शक्ति है, वह कहाँ से आती है ?

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥

"इसी लिए प्राणी मात्रके शरीरमें नाभि कन्द पर अँगीठी सुलगाकर उनके जठरमें मैं ही अग्नि बनकर रहता हूँ। और प्राण तथा अपान वायुकी भाथियाँ दिन-रात चलाकर प्राणियोंके जठरोंमें मैं जितने पदार्थ पचाता हूँ, उनकी कोई गिनती ही नहीं है। कड़े, मुलायम, अच्छी तरह पके हुए और भुने हुए इस प्रकार चारों तरहके अन्न मैं पचाता हूँ। तात्पर्य यह कि जितने जीव हैं, वे सब मैं ही हूँ और इन जीवोंको जो जीवन प्राप्त है, वह जीवन भी मैं ही हूँ। और उस जीवनको चलानेवाली जठराग्नि भी मैं ही हूँ। ऐसी अवस्थामें मैं अपनी व्यापकताका चमत्कार तुम्हें कहाँ तक बतलाऊँ ! बात यह है कि इस विश्वमें मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं। केवल मैं ही सब जगह हूँ। कदाचित् तुम्हारे मनमें यह प्रश्न उत्पन्न होता हो कि यदि यही बात है, तो फिर क्या कारण है कि कुछ जीव तो सदा सुखी रहते हैं और कुछ जीव सदा दुःखोंमें ही डूबे रहते हैं ? यदि सारे नगरमें एकही दीपकका प्रकाश है तो फिर कुछ स्थानोंमें अन्धकार और कालिमा क्यों दिखाई देती है ? इसलिए अब मैं तुम्हारी इस शंकाका भी समाधान कर देता हूँ। यदि वास्तवमें देखा जाय तो सब जगह केवल मैं ही हूँ और इस संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मुझसे भिन्न हो। परन्तु प्राणियोंकी कल्पनामें मैं उन्हें उनकी बुद्धिके अनुसार ही भासता हूँ। आकाश ध्वनि नामक गुण एक-रूप ही है, परन्तु बाजोंके भेदोंके अनुसार आपसे आप भिन्न भिन्न प्रकारके नाद होते हैं। लोगोंके व्यवहारोंमें बिलकुल अलिप्त और अलग रहनेवाला सूर्य उदित होता है और वह सबसे बिलकुल दूर और अलग रहता है, परन्तु फिर भी वह लोक-व्यवहार चलानेमें उपयोगी होती है। बीजोंके धर्मके अनुसार ही जल किसी वृक्षके रूपमें रूपान्तरित होता है। ठीक इसी प्रकार जीवके रूपमें मेरा स्वरूप परिणत होता है। एक पुरुष मूर्ख है और दूसरा बुद्धिमान् है। दोनोंके सामने नील मणियोंका एक दो-लड़ी हार रखा है। मूर्खको तो वह साँप जान पड़ता है और उसको भयभीत करनेका कारण होता है। परन्तु बुद्धिमानकी समझमें उसका वास्तविक स्वरूप आ जाता है और उसके लिए वह हार आनन्ददायक होता है। जिस प्रकार स्वाती नक्षत्रका जल सीपीमें पहुँचकर मोती होता है परन्तु साँपके शरीरमें पहुँचकर वही जल विष होता है, ठीक उसी प्रकार मैं ज्ञानियोंके लिए सुख हो जाता हूँ और अज्ञानियोंके लिए दुःख बन जाता हूँ।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५ ॥

"यदि वास्तवमें देखा जाय तो प्राणियोंके मनमें दिन रात यह बात आती है कि—

"मैं अमुक हूँ, वह अमुक वस्तु मैं ही हूँ।" परन्तु सन्तोंकी संगति करनेसे, योग-ज्ञानका अभ्यास करनेसे और वैराग्यसे सम्पन्न होकर गुरुके चरणोंकी सेवा करनेसे और इस प्रकारके दूसरे सत्कर्मोंका आचरण करनेसे जिन लोगोंका अशेष अज्ञान नष्ट हो जाता है और जिनका अहं-भाव मुझमें आकर रमण करने लगता है, वे लोग आपसे आप मुझे पहचान लेते हैं और मुझे अर्थात् आत्म-तत्वको पहचानकर सुखी होते हैं। उन्हें इस प्रकारकी सुख-सम्पन्न स्थितिमें पहुँचानेके लिए भला मेरे सिवा दूसरा और कौन कारण हो सकता है ? सूर्यका उदय होने पर जिस प्रकार हम लोग उस सूर्यके प्रकाशसे ही उसे देखते हैं, उसी प्रकार मेरे ही साधन से मेरा ज्ञान होता है। इसके विपरीत देहाभिमानसे जकड़े रहनेके कारण और सदा संसारकी ही बड़ाई सुनते रहने के कारण जिनकी अहं-भावना शरीरमें ही डूबी रहती है, वे लोग ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करनेके लिए कर्म-कांडकी अनेक क्रियाएँ करने लगते हैं; और इसलिए उनके हिस्सेमें दुःखका ही विशिष्ट अंश पड़ता है। परन्तु जिस प्रकार जाग्रत अवस्थामें देखी हुई बातें ही स्वप्नका कारण होती हैं, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, उनके इस अज्ञान-जन्य भ्रमका भी मैं ही कारण और आधार हूँ। मेघोंके कारण दिनमें अन्धकार छा जाता है, परन्तु वे मेघ भी दिनके कारण ही दिखाई पड़ते हैं। ठीक इसी प्रकार मेरा स्वरूप जो परदेसे ढक जाता है और प्राणियोंको केवल सांसारिक विषय ही दिखाई देते हैं, वह भी मेरी ही सत्ताके आधारसे दिखाई देते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार निद्राका भी और जागृतिका भी हेतु जाग्रत अवस्था ही है, ठीक उसी प्रकार इन जीवोंके ज्ञानका भी और अज्ञानका भी मैं ही मूल कारण हूँ। जिस प्रकार सर्पके आभासका भी और डोरीके ज्ञानका भी मूल कारण डोरी ही होती है, ठीक उसी प्रकार यह बात भी सिद्ध है कि ज्ञानका भी और अज्ञानका भी तथा अज्ञानके कारण दिखाई देनेवाले समस्त सांसारिक प्रसारका भी मैं ही मूल कारण हूँ। इसी लिए, हे अर्जुन, वास्तवमें मेरा स्वरूप है, उस स्वरूपकी कल्पना न होने पर जिस समय वेद मुझे जाननेके लिए आगे बढ़े, उस समय उनमें भिन्न-भिन्न शाखाएँ निकलने लगीं। तो भी यही समझना चाहिए कि वे भिन्न-भिन्न शाखाएँ भी मेरा ही ज्ञान कराती हैं, क्योंकि चाहे पूर्व-गामिनी नदी हो और चाहे पश्चिम-गामिनी नदी हो, दोनों ही अन्तमें समुद्रमें जाकर मिलती हैं। जिस प्रकार सुगन्धि के सहित हवाके झोंके आकाशमें लीन होते हैं, ठीक उसी प्रकार शब्दोंके सहित श्रुतियाँ भी अहंब्रह्मास्मिवाले महा सिद्धान्तमें लीन होती हैं। और फिर इस प्रकार समस्त श्रुतियाँ जो लज्जित होकर स्तब्ध हो जाती हैं, सो यह कार्य भी मेरे ही प्रकाशसे होता है। इसके उपरान्त जो निर्मल ज्ञान होने पर श्रुतियोंके सहित सारा जगत लीन हो जाता है, उस ज्ञानको जाननेवाला भी मैं ही हूँ। जिस प्रकार सोकर उठने पर स्वप्नकी कोई बात मनुष्यमें नहीं रह जाती और वह समझ लेता है कि केवल मैं ही हूँ, ठीक उसी प्रकार बिना किसी तरहके द्वैतका भास हुए मैं स्वयं अपनी अद्वैतता जानता हूँ। और आत्म-बोधका कारण भी मैं ही हूँ। इतना होने पर जिस प्रकार कपूरमें अग्नि लगने पर, हे अर्जुन, न तो काजल ही बाकी रह जाता है और न अग्नि ही बच रहती है, उसी प्रकार जो ज्ञान समस्त अविद्याको

भस्म कर डालता है, स्वयं वह ज्ञान ही जिस समय लुप्त हो जाता है, उस समय होना और न होना या जन्म और मरण कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। जो चोर अपने साथ सारे विश्वको ही चुरा ले गया हो, भला उसका पता कैसे लगाया जा सकता है ? ठीक इसी प्रकारकी जो एक अवर्णनीय शुद्ध अवस्था है, वह अवस्था भी मैं ही हूँ। इस प्रकार जब केवल स्वरूपी ब्रह्म जड़ और अ-जड़ सबको व्याप्त कर लेता है, तब उस अनुपाधिक निरंजन आत्म-स्वरूप तक पहुँच हो जाती है।" श्रीकृष्णने जो ये सब बातें बतलाई थीं, उनकी छाप अर्जुनके अन्तःकरण पर उसी प्रकार पड़ी, जिस प्रकार दुग्धके समुद्रमें आकाशके चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा जिस प्रकार किसी चमकती हुई दीवार पर उसके सामनेके चित्रका प्रतिबिम्ब पड़ता है। बस ठीक इसी प्रकार भगवानके उपदेशका अर्जुनके अन्तःकरण पर प्रतिबिम्ब पड़ रहा था। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें एक ऐसा विलक्षण गुण है कि ज्यों ज्यों वह ज्ञान होता जाता है, त्यों-त्यों उसका चसका भी बराबर बढ़ता जाता है। इसलिए अनुभव-सिद्धोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने भगवानसे कहा—"हे महाराज, अपनी व्यापकताका विवेचन करते समय बातोंके आवेशमें आप अपने जिस उपाधि-रहित स्वरूपका उल्लेख कर गये, उस स्वरूपका आप मेरे लिए एक बार बिलकुल निर्दोष तथा स्पष्ट रूपसे वर्णन करें।" इस पर द्वारकाधीश श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने बहुत अच्छी बात पूछी है। यदि सच पूछो तो, हे अर्जुन, मुझमें भी प्रेमपूर्वक निरन्तर बोलते रहनेकी बहुत चाह रहती है। परन्तु क्या करूँ, तुम्हारे समान प्रश्न करनेवाला मुझे कोई मिलता ही नहीं। आज तुम्हारे रूपमें मुझे अपने मनोरथका फल प्राप्त हुआ है; क्योंकि तुम बिना संकोच किये मुझसे जी भरकर प्रश्न करते हो। अद्वैत तक पहुँचने पर भी जिस निर्मल अनुपाधिक स्वरूपका अनुभव हो सकता है, उसी स्वरूपके सम्बन्धमें आज तुमने प्रश्न करके मुझे परम सुखी किया है। जिस दर्पणके सामने आने पर स्वयं ही अपने नेत्र दिखाई देते हैं, ठीक उसी दर्पणके समान तुम्हारे समान प्रश्न-कुशल और निर्मल श्रेष्ठ साथी आज मुझे बात-चीत करनेके लिए मिला है। हे सखे अर्जुन, यह बात नहीं है कि तुम तो अज्ञान बनकर सब बातें पूछो और मैं शिक्षक बनकर तुम्हें सब बातें सिखलाऊँ।" यह कहकर भगवान-ने अर्जुनको आलिंगन किया और तब उन्होंने उसकी ओर कृपापूर्वक देखकर जो कुछ कहा, वह सुनो। श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, चाहे बोलनेवाले होंठ दो हों, परन्तु फिर भी उन दोनोंसे बात एक ही निकलती है; और चलने वाले पाँव चाहे दो हों, परन्तु फिर भी उनसे चलना एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार तुम्हारा प्रश्न करना और मेरा समाधान करना दोनों एक ही है। तुम और मैं दोनों एक ही अर्थ या अभिप्राय पर दृष्टि रखते हैं, इसलिए इस समय प्रश्न करनेवाला और उत्तर देनेवाला दोनों एक ही हैं।" इतना कहते कहते भगवान प्रेमसे पूर्ण हो गये और उन्होंने अर्जुनको फिर गले लगा लिया। परन्तु फिर वे जरा डर कर अपने मन में कहने लगे—"प्रेमका यह मोह दूर करना चाहिए। यद्यपि गुड़में मिठास ही मिठास होती है, परन्तु फिर भी उस मिठासको नष्ट होनेसे बचानेके लिए उसमें थोड़ा-सा

क्षार† मिलाना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार यदि प्रेमका वह मोह इस समय दूर न किया जायगा तो हाथमें आया हुआ यह संवाद-सुख गँवाना पड़ेगा। पहलेसे ही यह नर है और मैं नारायण हूँ। हम दोनोंमें भेद के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। परन्तु फिर भी प्रेमका यह आवेश इस समय मुझे अन्दर ही अन्दर रोकना चाहिए।" यह सोचते भगवानने चट अर्जुनसे पूछा—"भाई अर्जुन, तुम क्या पूछ रहे थे ?" यह सुनते ही जो अर्जुन अद्वैत-प्रेमसे भगवान श्रीकृष्णके स्वरूपमें लीन होनेका उपक्रम कर रहा था, उसके होश फिर ठिकाने आ गये और वह फिर श्रवणानन्दकी ओर प्रवृत्त हुआ। उसने गद्‌गद् होकर कहा—"महाराज, मैंने यही कहा था कि आप मुझे अपना उपाधि-हीन स्वरूप बतलावें।" यह सुनकर भगवान शार्ङ्गधरने पहले उपाधिके दो प्रकारोंका वर्णन करना आरम्भ किया। इस पर कुछ लोग यह प्रश्न कर सकते हैं कि जब अर्जुन-ने उपाधि-रहित वस्तुके सम्बन्धमें प्रश्न किया था, तब भगवानने इस प्रकरणमें उपाधियों-का झगड़ा क्यों खड़ा कर दिया ? इसका उत्तर यह है कि मठेमेंसे सारांश निकालना ही मक्खन निकालना कहलाता है और निकृष्ट अंशको जलाना ही सोनेको तपाकर खरा करना है। जब सेवार हाथसे हटाकर एक तरफ कर दी जाती है, तभी पानी मिल सकता है। मेघ जब नहीं रह जाते, तभी केवल आकाश अवशिष्ट रह जाता है। जब ऊपरकी भूसी हटा दी जाय, तब अनाजका कण प्राप्त होनेमें क्या विलम्ब हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार जब विचार के द्वारा उपाधि-युक्त वस्तुकी उपाधियोंका अन्त होता है, तब किसीको यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि निरुपाधिक क्या है। जब किसी युवती स्त्रीसे भिन्न-भिन्न अनेक नामोंका उच्चारण करनेके लिए कहा जाता है, तब उस प्रकरणमें यदि कहीं उसके पतिका नाम आ जाता है, तो वह उस नामका उच्चारण नहीं करती, बल्कि चट समझ जाती है कि मुझे लज्जित करने के लिए ही मेरे पति देवका नाम मेरे सामने लाया गया है। ठीक इसी प्रकार उस निर्गुण, निरुपाधिक और निराकार आत्माका स्वरूप वाणी केवल स्तब्ध होकर प्रकट करती है। इसी लिए जो बात कही नहीं जा सकती, जब वही बात कहने का प्रसंग आया, तब भगवानने पहले उपाधियोंका ही विवेचन आरम्भ किया। प्रतिपदाके चन्द्रमाकी सूक्ष्म रेखा दिख-लानेके लिए जिस प्रकार किसी ऊँचे वृक्षकी शाखाका उपयोग किया जाता है, उसी प्रकार इस अवसर पर उपाधियों की चर्चाका उपयोग होगा।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥

भगवानने कहा—"भाई अर्जुन, इस संसार-रूपी नगरकी बस्ती बहुत ही छोटी अर्थात् केवल दो पुरुषोंकी है। जिस प्रकार सारे आकाशमें केवल दिन और रात यही दोनों रहते हैं, उसी प्रकार इस संसार-रूपी नगरमें भी केवल दो ही पुरुष रहते हैं। एक और तीसरा पुरुष भी है, परन्तु उसे इन दोनोंका नाम भी अच्छा नहीं लगता। जब उस

† दक्षिण-प्रांतमें गुड़में क्षार मिलाया जाता है।

पुरुषका उदय होता है, तब वह इन दोनोंको नगर समेत खा जाता है। परन्तु इन सब बातोंको जाने दो। इस समय तो इन्हीं दोनों पुरुषोंकी कहानी सुनो। ये दोनों पुरुष इसी संसार-रूपी नगरमें निवास करनेके लिए आये हैं। इनमेंसे एक तो अन्धा, मूढ़ और पंगु है और दूसरा सब अंगोंसे दुरुस्त और हट्टा-कट्टा है। परन्तु एक ही नगरमें निवास करनेके कारण इन दोनोंमें स्नेह हो गया है। इनमेंसे पहलेको क्षर और दूसरेको अक्षर कहते हैं। इन्हीं दोनोंने यह संसार खूब कसकर भर दिया है। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि क्षर कौन है और अक्षर कौन है। हे अर्जुन, महत्तत्वसे लेकर तृणके अग्र भाग तक जितनी छोटी बड़ी चराचर वस्तुएँ इस संसारमें हैं अथवा मन या बुद्धिमें जितने विषय आ सकते हैं, जो जो वस्तुएँ पंच-महाभूतोंसे बनी हैं जिन जिनका नाम और रूप है, जो-जो तीनों गुणोंकी व्याप्तिमें आती हैं, जिस सोनेके भूत-मात्र रूपी सिक्के बनते हैं, जिन कौड़ियोंके सहारे काल-रूपी जुआरीका खेल होता है, विपरीत ज्ञान अर्थात् भ्रम या मोहसे जिन जिन बातोंका ज्ञान होता है, जो कुछ प्रत्येक क्षणमें उत्पन्न होता या नष्ट होता रहता है, जिस भ्रांति-रूपी जंगलको छानकर न होने भर भी सृष्टिका रूप खड़ा किया जाता है, तात्पर्य यह कि जिसे लोग जगत कहते हैं, जो प्रकृति या माया के कारण आठ प्रकारके भेदोंसे युक्त हुआ है, जो देह-क्षेत्रके द्वारा उन छत्तीस भिन्न तत्वोंसे बना है जिनका पहले वर्णन हो चुका है – उनका अब और कहाँ तक वर्णन किया जाय–अभी संसारके वृक्षवाले रूपकमें जिन सबका वर्णन हुआ है, उन सबके सम्बन्धमें यह कल्पना कर लेनी चाहिये कि यह हमारे रहनेका नगर है और तब यह समझ लेना चाहिए कि चैतन्यने ही ये सब आकार धारण किये हैं। जिस प्रकार सिंहका प्रतिबिम्ब किसी कूएँमें पड़ता है और उस प्रतिबिम्बको देखकर वह सिंह यह समझता है कि यह दूसरा सिंह है और यही समझकर वह क्रोधमें आकर गुर्राता है और उस कूएँमें कूद पड़ता है अथवा जिस प्रकार पानीमें रहनेवाले आकाश तत्व पर ही आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार अद्वैत भी द्वैतका स्वीकार करता है। हे अर्जुन, इस प्रकार साकार नगरकी कल्पना करके आत्मा अपने मूल स्वरूपको भूल जाती है और उसी विस्मृतिमें सो जाती है। फिर जिस प्रकार कोई स्वप्नमें शयनागार देखे और उसीमें सो जाय, उसी प्रकार आत्मा भी इस कल्पित नगरमें सो जाती है। फिर उसी निद्राके आवेशमें वह यह समझने लगती है कि मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ। और तब स्वप्नमें ही अहंताके शब्दोंमें बड़-बड़ाने लगती है। वह सोचने लगती है कि यह पिता है, यह माता है। मैं गोरा हूँ अथवा बहुत ही दीन और दुर्बल हूँ। यह पुत्र है, यह स्त्री है। क्या ये सब मेरे ही नहीं हैं? इसी स्वप्नमें पड़कर वह इहलोक और परलोकके स्वप्नमें पड़ती है। हे अर्जुन, इसी चैतन्यको "क्षर पुरुष" कहते हैं अब जिसे "क्षेत्रज्ञ" कहते हैं, जिसकी अवस्थाको जगतके सब लोग जीव कहते हैं, जो अपने आपको भूलकर भूत-मात्रके अधीन होकर व्यवहार करता है, उसी आत्माको "क्षर पुरुष" कहते हैं। जिस दृष्टिसे वह पूर्ण रूपसे ब्रह्म ही है, उस दृष्टिसे उसे "पुरुष" नाम शोभा देता है। इसके अतिरिक्त वह शरीर भरमें निद्रावस्थामें रहता है और इसलिए भी वह पुरुष कहलानेका पात्र है। परन्तु

वह उपाधिसे अंकित होता है और इसी लिए उस पर व्यर्थ ही क्षरता, सव्ययता या नश्वरताकी छाप लगाई गई है। जिस प्रकार लहराते हुए पानीके साथ चन्द्रमाका प्रकाश भी आगे और पीछेकी ओर झोंके खाता हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार यह भी उपाधिके विकारोंके कारण चंचल-सा दिखाई देता है। परन्तु जब वह लहराने वाला पानी सूख जाता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित होनेवाला चन्द्रमाका प्रकाश भी लुप्त हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब उपाधिका नाश हो जाता है, तब उसके उपाधि-जन्य विकार भी लुप्त हो जाते हैं। इस प्रकार उपाधिकी सामर्थ्यसे ही इसे क्षण-भंगुरता प्राप्त होती है और इसी दुर्बलताके कारण लोग इसे "क्षर" कहते हैं। इसी लिए जीव या चैतन्य या जीवात्माको क्षर पुरुष समझना चाहिए। अब मैं तुमको स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि अक्षर पुरुष किसे कहते हैं। हे वीर अर्जुन, अक्षर नामका जो यह दूसरा पुरुष है, वह केवल उसी प्रकार मध्यस्थ और साक्षी रूपसे देखनेवाला है, जिस प्रकार पर्वतोंमें मेरु है। जिस प्रकार पृथ्वी, पाताल और स्वर्गके स्थलभेदोंके अनुसार मेरु कभी तीन प्रकारका नहीं होता, उसी प्रकार यह अक्षर पुरुष भी ज्ञान और अज्ञानके अंगोंमें लिप्त नहीं होता। न तो वह शुद्ध ज्ञानसे एकता ही प्राप्त करता है और न ज्ञानके कारण उसमें द्वैत भाव हो जाता है। उस प्रकार केवल ज्ञातृत्व युक्त तटस्थता ही इसका स्वरूप है। जब मिट्टीका मिट्टीपन नष्ट हो जाता है, तब उससे घड़े या पुरवे आदि बरतन कभी बन नहीं सकते। ठीक उसी मिट्टी-पनसे रहित पिंडकी तरह यह मध्यस्थ पुरुष है। जब सागर या जलाशय सूख जाता है, तब न तो उसमें लहरें ही रह जाती हैं और न पानी ही रह जाता है। उसी सूखे हुए सरोवरके समान इस मध्यस्थकी निराकार स्थिति है। हे अर्जुन इसे निद्राकी उसी झपकीके समान समझना चाहिए, जिसमें जाग्रति तो चली जाती है, परन्तु स्वप्नवाली अवस्था पूरी तरहसे नहीं आती। जो केवल उस अज्ञानवाली अवस्थामें रहता है, जिसमें विश्वाभास मिट जाता है, परन्तु आत्मज्ञानका तब तक उदय नहीं होता, उसीको "अक्षर" कहना चाहिए। सोलहों कलाओंसे विरहित अमावस्याके चन्द्रमाका जो रूप होता है, उसीके समान इस अक्षरके लक्षण भी समझने चाहिएँ। समस्त उपाधियोंका नाश हो जाने पर जीव-दशा जिसमें लीन होती है, उपा-धियाँ नष्ट हो जाने पर जिसमें उसी प्रकार लीन होकर रहती हैं, जिस प्रकार फल लगने पर वृक्ष बीज रूपसे उसमें समाविष्ट रहता है, उसीको अव्यक्त कहते हैं। गाढ़ अज्ञानको सुषुप्ति कहते हैं और स्वप्न तथा जाग्रतिको उसके फलोंके रूपमें समझना चाहिए। वेदान्तमें जिसे बीज-स्थिति कहते हैं, वह इस अक्षर पुरुषका ही स्थान है। जहाँसे विपरीत ज्ञान उत्पन्न होकर जाग्रति और स्वप्नके द्वारा अनेक तर्क-वितर्कोंके वनमें संचार करता है, और, हे अर्जुन, जहाँसे विश्वासका उत्थान होता है और जहाँ व्यक्त तथा अव्यक्तका मेल होता है, वही अवस्था अक्षर पुरुष है। दूसरा जो क्षर पुरुष है वही इस विश्वमें जाग्रति और स्वप्नके खेल खेलता है। जाग्रति और स्वप्नकी दोनों अवस्थाएँ जहाँसे उत्पन्न होती हैं और ब्रह्म-प्राप्तिकी अपेक्षा कुछ निम्न कोटिकी जो अवस्था है और जो अज्ञानकी गाढ़ निद्राके नामसे प्रसिद्ध है और, हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, यदि इसके उपरान्त

स्वप्न और जाग्रतिवाली अवस्थाओंकी उत्पत्ति न हुई होती तो यथार्थतः जिस अवस्थाका नाम ब्राह्मी स्थिति रखा जाता, परन्तु जिसके आकाशमें प्रकृति और पुरुष ये दोनों मेघ उत्पन्न होते हैं, और जिसमें क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका स्वप्नाभास होता है, तात्पर्य यह कि अपनी शाखाओंका प्रसार करनेवाले इस संसार-रूपी वृक्षका जो मूल है, उसीको इस अक्षर पुरुषका स्वरूप समझना चाहिए। परन्तु जब यह पूर्ण रूपसे आत्म-स्वरूपमें रहता है, तब इसे पुरुष क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि यह मायाके नगरमें सोया रहता है और इसी लिए पुरुष कहलाता है। इसी प्रकार विकारोंकी जो हलचल होती है, वह भी अज्ञानका ही एक प्रकार है। जिस अवस्थामें उस अज्ञानकी अनुभूति नहीं होती, वही इसकी सुषुप्तिवाली अवस्था है। इसी लिए यह स्वयं कभी नष्ट नहीं होता और ज्ञानके अतिरिक्त और किसी बातसे इसका नाश नहीं किया जा सकता। इसी लिए वेदान्तने महा-सिद्धान्तके प्रान्तमें इसकी "अक्षर" के नामसे प्रसिद्धि की है। सारांश यह कि जीव-रूपी कार्यका जो कारण है और मायाकी संगति जिसका लक्षण है, उसीको अक्षर पुरुष अर्थात् स्वयं चैतन्य ही समझना चाहिए।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥१८॥

"अब इस विपरीत ज्ञानसे लोगोंमें जाग्रति और स्वप्नकी जो दो अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं, वह मूल गाढ़ अज्ञानमें लीन हो जाती हैं। और जब उस मूल अज्ञानका ज्ञानमें लोप हो जाता है और ज्ञान सामने आकर उपस्थित होता है, तब ज्ञान भी उसी प्रकार अज्ञानका नाश कर डालता है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ीको जला देती है; और तब वह ज्ञान आत्म-वस्तुकी प्राप्ति कराके स्वयं भी उसी प्रकार अपने आपको नष्ट कर डालता है, जिस प्रकार लकड़ीको जलाकर अग्नि अन्तमें स्वयं भी नष्ट हो जाती है। और उस अवस्थामें ज्ञानके अतिरिक्त और जो कुछ बाकी रह जाता है, उसीको, हे अर्जुन, उत्तम पुरुष समझना चाहिए। पहले जो क्षर और अक्षर नामके दो पुरुष बतलाये गये हैं, अन्तमें यही सिद्धान्त आकर स्थिर होता है कि यह उन दोनोंसे भिन्न एक तीसरा ही पुरुष है। हे अर्जुन, सुषुप्ति और स्वप्न इन दोनों अवस्थाओंसे भिन्न जाग्रत अवस्था होती है—जाग्रति इन दोनोंसे अलग एक तीसरी ही अवस्थाको कहते हैं। किरण और मृगजल दोनोंसे भिन्न ही सूर्य-मंडलका विस्तार होता है। ठीक यही बात उत्तम पुरुषके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिए—वह भी क्षर और अक्षर दोनोंसे भिन्न होता है। केवल इतना ही नहीं, बल्कि जिस प्रकार काठमें रहनेवाली अग्नि काठसे भिन्न होती है, उसी प्रकार यह उत्तम पुरुष भी क्षर और अक्षर दोनोंसे भिन्न है। जिस प्रकार प्रलय-कालमें प्रलयका जल एक अनन्त रूप धारण कर लेता है और समस्त सीमाओंको पार करके समस्त नदों और नदियोंको एक रूप कर देता है, उसी प्रकार जिसके सामने स्वप्न, सुषुप्ति और जाग्रति तीनों अवस्थाओंकी कहीं गन्ध भी बाकी नहीं रह जाती, जो समस्त अवस्थाओंका उसी

प्रकार लय कर देता है, जिस प्रकार प्रलय-काल अपने संहारक तेजसे दिन और रात दोनोंको निगल जाता है और इसीलिए जिसमें कहीं द्वैत और अद्वैतका भान भी नहीं होता, उसीको उत्तम पुरुष समझना चाहिए। परन्तु परमात्माको भी केवल उसी अवस्थामें उत्तम पुरुष कहा जा सकता है, जब कि बिना उसमें मिले जीव-दशाका आश्रय लिया जाय। हे अर्जुन, पानीमें डूबनेकी बात तभी कही जा सकती है, जब मनुष्य स्वयं पानीमें न डूबे और किनारे पर खड़ा रहकर किसीको डूबते हुए देखे। ठीक इसी प्रकार वेद भी विवेकके किनारे पर खड़े होकर इस पार और उस पारकी अथवा उत्तम और कनिष्ठकी बात कह सकते हैं। इसीलिए वे क्षर और अक्षर दोनों पुरुषोंको निम्न कोटिके मानकर और इन दोनोंसे ऊपर रहनेवाले इस पुरुषको परमात्म-रूप कहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार तुम यह बात ध्यानमें रखो कि "परमात्मा" शब्दसे पुरुषोत्तमका ही बोध कराया जाता है। यदि वास्तवमें कहा जाय तो जो ऐसी वस्तु है, जिसमें न बोलना ही बोलनेके समान होता है, कुछ न जानना ही जिसमें ज्ञान होता है और कुछ न होना ही जिसमें होना होता है, जिसमें सोऽहंवाली भावना भी नहीं रह जाती, जिसमें कथन करनेवाला कथितके साथ और ज्ञाता ज्ञेयके साथ मिलकर एक रूप हो जाता है, जिसमें द्रष्टा और दृश्य दोनोंका ही लय हो जाता है, वही वह उत्तम पुरुष है। बिम्ब और प्रतिबिम्बके बीचकी प्रभा यदि हमारे देखते देखते नष्ट हो जाय तो भी हमें यह नहीं कहना चाहिए कि वह प्रभा है ही नहीं अथवा नष्ट हो गई है। अथवा यदि घ्राणेन्द्रिय और फूलमें रहनेवाली सुगन्ध हमें दिखाई न देती हो तो हमारे लिए यह कहना उचित नहीं है कि वह सुगन्ध बिलकुल है ही नहीं। ठीक इसी प्रकार यह कहना भी प्रमाण-सिद्ध नहीं है कि द्रष्टा और दृश्यका लोप हो जाने पर फिर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। और इसी लिए ऐसी अवस्थामें जो कुछ अनुभवमें आता है, उसीको उस उत्तम पुरुषका स्वरूप समझना चाहिए। जो प्रकाशित होनेके योग्य नहीं है, बल्कि प्रकाश है, जो नियमित नहीं किया जा सकता, बल्कि नियन्ता है, जो स्वतः ही अवकाश बनकर फिर भी उसी अवकाशको व्याप्त करता है, जो नादका भी नाद, स्वादका भी स्वाद और आनन्दका भी आनन्द होता है, जो पुरुषोत्तम पूर्णताकी भी पूर्णता और विश्रान्तिकी भी विश्रान्ति है, जो सुखका भी सुख, तेजका भी तेज, और शून्यका भी शून्य है, जो विकासको भी पूर्ण करके बाकी बच रहता है, जो ग्रासको भी ग्रस लेता है, जो बहुतसे भी बहुत अधिक है और जो बिना अपना स्वरूप छोड़े और बिना विश्वमें मिले ही उसी प्रकार विश्वाभास का आधार होता है, जिस प्रकार सीपी चाँदी न होने पर भी अज्ञानियोंको चाँदीका प्रत्यय करा देती है, अथवा सोना बिना अपना सोनापन छिपाये ही अलंकारोंका रूप धारण करता है, अथवा जो इस भासमान होनेवाले जगतका उसी प्रकार स्वयं ही आधार बना है, जिस प्रकार पानी और उसमें उत्पन्न होनेवाली लहरें एक होती हैं और उनमें कोई भेद नहीं होता, वह वही उत्तम पुरुष है। पानीमें पड़नेवाले अपने प्रतिबिम्बके संकोच और विकासका मुख्य कारण जिस प्रकार स्वयं चन्द्रमाका बिम्ब ही होता है, उसी प्रकार यह भी विश्वके रूपसे कुछ कुछ प्रकट होता है। परन्तु हाँ, जब विश्वका लोप हो जाता है, तब स्वयं

इसका लोप नहीं होता। जिस प्रकार रात और दिनके कारण सूर्यमें कभी कहीं दो प्रकार का भाव नहीं उत्पन्न होता, जिसका किसी स्थान पर दूसरे किसीके साथ व्यय नहीं हो सकता, जिसके साथ तुलना करनेके लिए स्वयं उसके सिवा और कोई नहीं है, हे अर्जुन, जो स्वयं ही अपने आपको प्रकाशित करता है, और अधिक कहाँ तक कहा जाय, जिसमें दूसरी कोई बात या और कुछ है ही नहीं, वही मैं उपाधिहीन क्षर तथा अक्षरसे श्रेष्ठ और एकमेवाद्वितीय हूँ। और इसी लिए वेद तथा लोग मुझे पुरुषोत्तम कहते हैं।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१९॥

परन्तु इन बातोंका यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, जिन लोगोंके लिए ज्ञान रूपी सूर्यका उदय हो चुका है और इसलिए जिन्होंने यह समझ लिया है कि मैं पुरुषोत्तम हूँ, ज्ञानकी जागृति होने पर जिन्हें यह दृश्य जगत् स्वप्नके समान मिथ्या जान पड़ने लगा है अथवा जो मेरा सत्य ज्ञान हो जानेके कारण मिथ्या प्रपंचोंके फेरसे उसी प्रकार दूर रहते हैं, जिस प्रकार माला हाथमें ले लेने पर उसके कारण होनेवाला सर्पका आभास तत्काल दूर हो जाता है, जिन्होंने मेरा सच्चा स्वरूप जानकर भेद-भावका उसी प्रकार परित्याग कर दिया है, जिस प्रकार वह मनुष्य अलंकारत्वको मिथ्या कहता है जो यह जानता है कि अलंकार सोनेका है, जो यह कहता है कि मैं ही सर्वव्यापक, अद्वितीय और स्वयंसिद्ध सच्चिदानन्द हूँ, जो स्वयं अपने आपको मुझसे भिन्न नहीं समझता और जो मेरा आत्म-स्वरूप पहचानता है, उसीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि उसने सब कुछ जान लिया है। परन्तु यह कहना भी यथेष्ट नहीं है; क्योंकि शब्दोंका विषय होनेवाला जो द्वैत है, वह उसमें बिलकुल बाकी नहीं रह जाता। इसलिए हे अर्जुन, ऐसा ही पुरुष मेरी भक्ति करनेके योग्य होता है। देखो, आकाशमें अच्छी तरह से मिल जानेके लिए केवल आकाश ही उपयुक्त होता है। जिस प्रकार क्षीरसागरका आतिथ्य केवल क्षीरसागर ही कर सकता है अथवा अमृत ही अमृतमें मिलकर एक-रस हो सकता है अथवा चोखा सोना जब चोखे सोनेमें मिलाया जाता है, तब उन दोनोंका मिश्रण भी चोखा सोना ही होता है, ठीक उसी प्रकार जो मद्रूप होता है, वही मेरी भक्ति कर सकता है। देखो, यदि नदी सागरमें मिलकर एक रूप न हो सकती तो वह भला उसमें कैसे मिल सकती? इसी प्रकार जो मेरे स्वरूपमें मिलकर ऐक्य नहीं प्राप्त कर सकता, वह मेरे साथ भक्तिका सम्बन्ध कैसे स्थापित कर सकता है? तरंग जिस प्रकार सागरमें सभी तरहसे तन्मय हो जाती है, उसी प्रकार हे अर्जुन, जो अनन्य होकर मेरा भजन करता है, उसकी भक्तिका मेरे साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्धकी उपमा प्रभा और सूर्यसे ही अच्छी तरह दी जा सकती है।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥

"इस प्रकार इस अध्यायके आरम्भसे यहाँ तक समस्त शास्त्रोंसे सम्मत महातत्व प्रतिपादित किया गया है जो कमलों की सुगन्धके समान, उपनिषदोंको सुगन्धित करता

है और जो शब्द-ब्रह्मके आलोड़नसे प्राप्त होनेवाला अर्थ-सर्वस्व है, वह श्रीमान् व्यास ऋषीकी बुद्धिकी सहायतासे निकाला हुआ सार मैंने आप लोगोंकी सेवामें उपस्थित किया है। यह ज्ञान-रूपी अमृत की गंगा है अथवा आनन्द-रूपी चन्द्रमाकी सत्रहवीं कला है अथवा विचार-रूपी क्षीर-सागरसे निकली हुई नई लक्ष्मी ही है। इसी लिए वह अपने पद (शब्द-समूह) वर्ण (अक्षर) और अर्थ-रूपी जीवनसे मेरे सिवा और कुछ जानती ही नहीं। इस लक्ष्मीके सामने क्षर और अक्षर दोनों ही खड़े रहते हैं, परन्तु यह भूल-कर भी उनकी ओर नहीं देखती और उसने अपना सर्वस्व मुझ पुरुषोत्तमको ही अर्पित कर दिया है। इसी लिए इस संसारमें यह गीता मेरी (अर्थात् आत्माकी) एक-निष्ट पतिव्रता है। और उसीका श्रवण आज तुमने किया है। यह गीता-शास्त्र मुखसे कहने के योग्य नहीं है, परन्तु संसारको जीतनेवाला यही एक शस्त्र है। जिन मन्त्राक्षरोंसे आत्माका स्फुरण होता है, वे इसी गीताके हैं। परन्तु हे अर्जुन, आज जो मैंने तुमको यह शास्त्र बतलाया है, सो यह कृत्य कैसा हुआ है? आज मैं मानों अपने गुप्त धनका संग्रह तुम्हारे सामने खोल बैठा हूँ। चैतन्य रूपी शंकरके मस्तक पर जो गीता रूपी गंगा मैंने छिपा रखी थी, हे अर्जुन, उसे आस्थापूर्वक बाहर निकालनेवाले तुम आज दूसरे गौतम हुए हो। ठीक तरहसे मेरा शुद्ध स्वरूप दिखलानेके लिए, हे अर्जुन, आज तुम मेरे सामने रखे हुए दर्पणके समान ही हो रहे हो। अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा और नक्षत्रोंसे भरा हुआ आकाश, सागर अपने जलमें प्रतिबिम्ब रूपसे ले आता है, ठीक उसी प्रकार आज तुमने गीताके सहित मुझे भी अपने अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित कर लिया है। हे अर्जुन, तुममें तीनों गुणों का जो मल था, वह दूर हो गया है और तुम गीताके सहित मेरे निवास-स्थान बन गये हो। परन्तु इस गीताका मैं क्या वर्णन करूँ। जो मेरी इस ज्ञान-रूपी लताको जानता है, वह समस्त मोहोंसे मुक्त हो जाता है। हे अर्जुन, जिस प्रकार अमृतरूपी नदीका सेवन करनेसे वह समस्त रोगोंका परिहार करके अमरता प्रदान करती है और मनुष्यको सब प्रकारसे सुखी करती है, ठीक उसी प्रकार इस गीताका ज्ञान हो जाने पर यदि मोह नष्ट हो जाता हो तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि यह गीता जो आत्म-ज्ञान करा देती है, उससे मनुष्य-को आत्म-स्थिति भी प्राप्त होती है। और जब मनुष्यको वह आत्म-ज्ञान हो जाता है, तब उसके कर्म भी यह समझकर बड़े आनन्दसे लयको प्राप्त हो जाते हैं कि अब इस ज्ञानके कारण हमारी आयु भी पूरी हो गई। जिस प्रकार खोई हुई वस्तु मिल जाने पर उसे ढूँढ़नेका कार्य भी समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार जब कर्म-रूपी मन्दिर पर ज्ञानका कलस चढ़ता है, तब कर्म भी आपसे आप बन्द हो जाते हैं। इसी लिए ज्ञानी मनुष्यके करनेका और कोई कर्म बाकी नहीं रह जाता।" बस यही सब बातें अनाथोंके पुष्ट-पोषक भगवान श्रीकृष्णने कहीं। श्रीकृष्णके इस वचनामृतसे अर्जुनका अन्तःकरण पूरी तरहसे भर गया और वह अमृत उस अन्तःकरणसे बाहर निकलकर प्रवाहित होने लगा; और वही अमृत व्यासदेवके प्रसादसे संजयको प्राप्त हुआ था। संजयने वही अमृत राजा धृतराष्ट्रके सामने प्राशनके लिए उपस्थित किया था और इसी अमृतकी

कृपासे मरण समयमें धृतराष्ट्रका परिणाम अच्छा हुआ था। यदि साधारणतः गीताके श्रवणके समय कभी कभी यह जान पड़े कि कोई श्रोता अनधिकारी या अपात्र है, तो भी अन्तमें उसके लिए भी यह गीता उपयोगी ही होती है। यदि द्राक्षाकी बेलोंकी जड़में दूध डाला जाय तो साधारणतः यही जान पड़ता है कि वह दूध व्यर्थ गया। परन्तु जब उन बेलोंमें द्राक्षा-फल लगते हैं, तब उनकी जड़ोंमें डाले हुए दूधसे दूनी प्राप्ति या लाभ होता है। बस इसी न्यायसे भगवानके मुखसे निकले हुए वचन संजयने बहुत उत्साहसे अन्धे धृतराष्ट्रको सुनाये थे; और आगे चलकर उसी वचनामृतकी कृपासे वह अन्धा मरनेके समय सुखी हुआ था। श्रीकृष्णका वही वचनामृत मैंने देशी भाषामें उल्टी-सीधी रीतिसे और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्यके अनुसार यहाँ सब लोगोंके सामने रखा है। यदि सेवतीके फूलका रूप देखा जाय तो उसमें कोई ऐसी बात नहीं दिखाई देती जो अ-रसिकोंके लिए विशेष रूपसे मोहक हो। परन्तु जो लोग भ्रमरोंके समान रसज्ञ होते हैं, वे उन फूलोंके रसोंका आस्वादन करना जानते हैं और मनमानी तरहसे उन्हें लूटते हैं। इसीलिए जो सिद्धान्त प्रमाणकी कसौटी पर ठीक उतरते हों, उन्हें तो आप लोग स्वीकृत कर लें और जिनमें किसी प्रकारकी त्रुटि या न्यूनता हो, उन्हें मेरे ही पास रहने दें, क्योंकि ठीक ठीक समझ न होना मुझ सरीखे बालकोंका स्वभाव ही है बालक चाहे अज्ञान ही क्यों न हो, परन्तु उसे देखते ही माता-पिताको इतना अधिक आनन्द होता है, जो उनके अन्तःकरणमें नहीं समा सकता और वे उस बालकका लाड़ करके बहुत ही सुखी होते हैं। ठीक इसी प्रकार आप सब सन्तजन मेरे मायाके समान हैं। आप लोगोंसे भेंट होने पर मैं बहुत लाड़की बातें करता हूँ और इस गीता ग्रन्थका व्याख्यान भी उन्हीं लाड़ोंका एक उदाहरण है। अब इस ज्ञानदेवकी यही प्रार्थना है कि हे विश्व-स्वरूप मेरे गुरुराज श्रीनिवृत्तिनाथ जी, आप मेरी यह वाणी-रूपी सेवा स्वीकृत करें।

सोलहवाँ अध्याय

जगत्-रूपी भासको नष्ट करके अद्वैत-रूपी कमलको विकसित करनेवाला यह श्री सद्गुरु-रूपी अद्भुत सूर्य उदित हुआ है और अब मैं इसकी वन्दना करता हूँ। जो सूर्य अज्ञान-रूपी रात्रिका अन्त करके और ज्ञान तथा अज्ञान-रूपी प्रकाशको नष्ट करके ज्ञानी पुरुषोंको आत्म-बोधका शुभ दिवस दिखलाता है, जिस सूर्यके प्रभावसे प्रभात होते ही जीव-रूपी पक्षियोंको आत्म-ज्ञानकी दृष्टि प्राप्त होती है और वे शरीर-रूपी घोंसला छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, जिस सूर्यका उदय होनेके कारण वासनात्मक शरीर-रूपी कमलके कोषमें बन्द पड़ा हुआ चैतन्य-रूपी भ्रमर एक दमसे बन्धन-मुक्त हो जाता है; भेद-भावनाकी नदीके दोनों तटों पर शब्दोंके बखेड़ेमें फँसकर और पारस्परिक वियोगके कारण पागल होकर आक्रोश करनेवाले बुद्धि-रूपी चक्रवाक पक्षियोंके जोड़ेको पूर्ण एकताका लाभ करा देता है, जो सूर्य चैतन्य-रूपी आकाशको उसी प्रकार प्रकाशित करता है, जिस प्रकार दीपक घरको प्रकाशित करता है, जिस सूर्यके उदित होते ही भेद-बुद्धिका अन्धकारपूर्ण चोरीका समय समाप्त हो जाता है और योग-मार्गके यात्री आत्म-प्रत्ययके मार्ग पर चलने लगते हैं, जिस सूर्यकी विवेक-रूपी किरणोंका स्पर्श होते ही ज्ञान-रूपी सूर्यकान्त मणिसे तेजकी चिनगारियाँ बाहर निकलकर संसार-रूपी वनको भस्म कर देती हैं, जिस सूर्यके किरण-जालके कठोर होकर आत्म-स्वरूपकी भूमि पर स्थिर होते ही महासिद्धिके मृगजलकी बाढ़ आ जाती है, परन्तु इसके उपरान्त जो सूर्य आत्म बोधके मस्तक पर पहुँचकर ब्रह्म-भावके मध्याह्नमें तपने लगता है और जिसके इस प्रकार तपनेसे आत्माकी भ्रान्ति-रूपी छाया उसीके नीचे दबकर छिप जाती है और उस समय वहाँ मायाकी रात्रि ही न होनेके कारण विश्वके भास और विपरीत ज्ञानकी निद्राका कोई ठिकाना या आश्रय ही नहीं मिलता और इसलिए अद्वैत ज्ञान-रूपी नगरमें चारों ओर आनन्द ही आनन्द भर जाता है और सुखानुभवके लेन-देनकी मन्दी हो जाती है, तात्पर्य यह कि जिस सूर्यके प्रकाशसे इस प्रकारके कैवल्य-मुक्तिके शुभ दिवसका निरन्तर लाभ होता है, जो सूर्य आत्म-भाव रूपी आकाशका स्वामी है और जो सूर्य उदित होते ही पूर्व आदि दसों दिशाओंके सहित उदय और अस्तका भी नाम-निशान मिटा देता है, जो ज्ञान और अज्ञान दोनोंको नष्ट करके उनमें छिपा हुआ आत्म-तत्त्व अत्यन्त स्पष्ट रूपसे प्रकट कर देता है, और अधिक क्या कहा जाय, इस प्रकार जो सूर्य एक विलक्षण और नया प्रातःकाल ला उपस्थित करता है, दिन और रातके प्रान्तोंके उस पार रहनेवाले उस ज्ञान-सूर्यकी ओर देखनेमें भला कौन समर्थ हो सकता है? जो प्रकाशित होनेके योग्य वस्तुओंके बिना ही प्रकाशका गोला है, उन ज्ञान-मार्तण्ड श्री निवृत्तिनाथकी मैं बार बार वन्दना करता हूँ, क्योंकि यदि मैं शब्दोंके

द्वारा उनकी स्तुति करने लगूँ तो मुझे अपनी वाणीकी दुर्बलताका ही पता चलता है। देवकी स्तुति तो तभी अच्छी तरहसे की जा सकती है, जब देवकी महिमा अन्तःकरणमें भली-भाँति अंकित हो और जिस वस्तुकी स्तुति की जाय, वह वस्तु और बुद्धि दोनों मिलकर एक-जीव हो जायं। जिसका ज्ञान उसी समय होता है, जब कि नाम-रूपात्मक वस्तुओंका ज्ञान समूल नष्ट हो जाय, जिसका वर्णन मौनके आलिंगनमें ही हो सकता है और जिसका पता स्वयं लयको प्राप्त होनेवाले जीवको ही अनुभवसे चलता है, जिन गुरुराजके लक्षण कहते कहते परा वाणीके सहित वैखरी वाणी भी पश्यन्ती और मध्यमा वाणियोंके गर्भमें घुसकर वहीं लयको प्राप्त हो जाती हैं, उन आप गुरुराजको मैं अपने मनमें अपने लिए सेवक भावकी कल्पना करके वाचिक स्तोत्रके साजसे सज्जित कर रहा हूँ। यदि मैं यह कहूँ कि आप इस सज्जाको सदय होकर ग्रहण करें तो इस प्रकारका कथन भी अद्वैत-आनन्दमें न्यूनता लानेके समान ही होगा। परन्तु जिस प्रकार अमृत-सागरके दर्शन होने पर कोई दरिद्र भिखारी भौचक्का हो जाता है और अपनी योग्यता तथा अयोग्यताका विचार भूलकर उस अमृत-सागरका स्वागत करनेके लिए शाक-भाजीका आतिथ्य करनेका उपक्रम करने लग जाता है और ऐसे अवसर पर जिस प्रकार उस शाक-भाजीका ही स्वागत करके उस अमृत-सागरके लिए उस दरिद्रके आनन्द और उल्लासका ही ध्यान रखना उचित होता है, ठीक उसी प्रकार यदि आप भी अपना दिव्य तेज छिपाकर मेरी भक्तिकी इस सामान्य आरतीकी ही ओर ध्यान दें, तो मेरा सारा काम हो जायगा। यदि छोटा बालक ही यह समझ ले कि उचित क्या है और अनुचित क्या है, तो फिर उसका लड़कपन ही कहाँ रह जाय? परन्तु फिर भी उसकी माता उसकी अटपटी बातोंसे सन्तुष्ट होती है या नहीं? जब किसी नालेका पानी आकर गंगाके पीछे लग जाता है, तब क्या गंगा कभी यह कहकर उसे पीछे लौटा देती है कि चल, दूर हट? हे महाराज, भृगु ऋषिने भगवानको लात मारकर कितना बड़ा अत्याचार किया था! परन्तु उसी पद-चिन्हको भूषण मानकर उसकी महत्तासे शार्ङ्गधर नारायण सन्तोष ही मानते हैं न? अथवा जब कालिमा या अन्धकारसे भरा हुआ आकाश सूर्यके सामने आता है, तब क्या सूर्य कभी यह कहकर उसका तिरस्कार करता है कि चल, दूर हट? ठीक उसी प्रकार यदि किसी अवसर पर भेद-बुद्धिके फेरमें पड़कर और सूर्यके रूपकका तराजू खड़ा करके मैंने सूर्यके साथ आपकी तुलना की हो, तो हे गुरुराज, आप कृपाकर एक बार उस तुलनाको भी सहन कर लें। जिन्होंने ध्यान और समाधिके द्वारा आपके दर्शन किये हैं और जिस वेद-वाणीने आपका वर्णन किया है, उनके ये सब कृत्य आपने जिस प्रकार सहन किये हैं, यदि उसी प्रकार इसे भी आप सहन कर लें और उसी न्यायका मेरे लिए भी प्रयोग करें तो काम हो जायगा। हे महाराज, आज मैं आपके गुणोंका वर्णन करने लग गया हूँ, परन्तु आप कृपाकर इसे मेरा अपराध न मानें। आप जो चाहें सो करें, परन्तु फिर भी जब तक इस कामसे मेरा जी न भर जायगा और मेरा हौसला पूरा न हो जायगा, तब तक मैं किसी तरह यह भाटपनका काम बन्द न करूँगा। ज्योंही मैं गीता नामके आपके इस प्रसादामृतका

बड़े उत्साहसे वर्णन करने लगा हूँ, त्योंही मेरे परम सौभाग्यसे मुझे दूना बल प्राप्त हो गया है। मेरी वाणीने अनेक कल्पों तक सत्य बोलनेके तपका आचरण किया था; और हे गुरु महाराज, उसी तपस्याका अनन्त फल आज वह प्राप्त कर रही है। आज तक मैंने कोई बहुत ही अलौकिक पुण्य सम्पादित किया था और उसी पुण्यने आज आपका गुण-गान करनेकी बुद्धि देकर मुझे इस कार्यमें उत्तीर्ण किया है। मैं इस जीवावस्थाके वनमें प्रविष्ट होकर मृत्युके गाँवमें फँस गया था, परन्तु वह दुर्दशाका फेर आज बिलकुल दूर हो गया है। कारण यह है कि आपकी जो कीर्त्ति गीताके नामसे प्रसिद्ध है और जो इस उद्दंड विश्वके भासके पूर्ण रूपसे नष्ट कर देती है, आपकी उसी कीर्त्तिका वर्णन मेरे हिस्सेमें आया है। जिसके घरमें महालक्ष्मी स्वयं ही आकर आनन्द-पूर्वक बैठ जाय, क्या उसे कभी दरिद्र कहा जा सकता है? अथवा यदि अन्धकारके घरमें सौभाग्यसे सूर्य अतिथिके रूपमें आ पहुँचे तो क्या वह अन्धकार ही इस संसारमें प्रकाश नहीं बन जायगा? जिस देवके पासंगमें यह अनन्त विश्व परमाणुके बराबर भी नहीं ठहरता, वही देव यदि भक्तिकी लहरोंमें आ पड़ें तो फिर वे भक्तके लिए भला कौन-सा रूप नहीं धारण करते? ठीक इसी प्रकार गीता पर मेरा व्याख्यान देना भी आकाश-कुसुमकी सुगन्ध लेनेके समान ही असम्भव है; परन्तु आप समर्थ हैं और इसलिए आपने अपनी सामर्थ्यसे मेरी वह वासना भी पूरी कर दी है। इसी लिए आपका यह शिष्य ज्ञान-देव भी कहता है कि हे महाराज, आपकी कृपासे मैं गीताके गम्भीर श्लोकोंका अर्थ भी बहुत ही स्पष्ट और सुगम करके निवेदन करूँगा। पिछले अर्थात् पन्द्रहवें अध्यायमें श्रीकृष्णने अर्जुनको समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त स्पष्ट करके समझाये थे। जिस प्रकार कोई चतुर वैद्य किसी रोगीके अंगोंमें घुसे हुए रोगोंका निदान करता है, उसी प्रकार वृक्षके रूपकके द्वारा श्रीकृष्णने आलंकारिक भाषा में उपाधि रूपी सम्पूर्ण विश्वका विवेचन किया था। और विश्वका जीवात्मा जो अक्षर पुरुष है, उसके भी लक्षण बतलाये थे। उसीकी उपाधिसे चैतन्य साकार हुआ है। अन्तमें उत्तम पुरुषका विवेचन करते समय निर्मल आत्म-तत्व भी दिखलाया गया है। इसके उपरान्त श्रीकृष्णने यह कहा था कि आत्म-प्राप्तिका अन्तस्थ और प्रबल साधन ज्ञान ही है। इसलिए अब इस सोलहवें अध्यायमें प्रतिपादन करनेके योग्य कोई विशेष बात बाकी नहीं रह गई। अब केवल गुरु और शिष्यका स्नेह-सम्बन्ध रह गया है। इस प्रकरणमें ज्ञानियोंका तो पूर्ण रूपसे सन्तोष हो चुका है और वे सब बातें अच्छी तरह समझ चुके हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त आत्म-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले जो और मुमुक्षु जन हैं, वही संशयमें पड़े हुए हैं। विश्वाधिपति श्रीकृष्णने कहा है कि जो भाग्यवान् पुरुष ज्ञानके द्वारा मुझे अर्थात् पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है, वही सर्वज्ञ है और वही भक्तिके शिखर तक पहुँचा है। और उक्त अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इसी ज्ञानके महत्वका अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है। शुद्ध ज्ञानके अधिपति भगवान श्रीकृष्णने स्वयं ही कहा है कि ज्ञानके सिवा कोई और ऐसा प्रभावशाली साधन नहीं है जो प्रपंचोंको निगलकर देखनेवालेको दृष्ट वस्तुके साथ मिलाकर एक-रूप कर दे, उसी दृष्ट वस्तुमें उसे लीन कर दे, जीवको आनन्द

साम्राज्यका धनी या मालिक बना दे और इस प्रकारके दूसरे चमत्कार दिखला सकें। इसलिए जो लोग आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उत्सुक थे, उनके चित्तको तो सन्तोष हो गया और इसी लिए उन लोगोंने बहुत ही आदरपूर्वक उस ज्ञान परसे अपना जीवन निछावर कर दिया। जिस विषयके प्रति मनमें अनुराग होता है, उस विषयका अन्तः-करणमें बराबर अधिकाधिक संचार होने लगता है और इसीको प्रेम कहते हैं। इसीलिए जिज्ञासुओंमेंसे जिन लोगोंको ज्ञानके सम्बन्धका यह प्रेमानुभव नहीं हुआ है, उन लोगोंके मनमें इस बातकी चिन्ता उत्पन्न होना ही स्वाभाविक है कि हमें यह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होगा और प्राप्त हो जाने पर वह हममें किस प्रकार स्थायी हो सकेगा। इसलिए पहले इस प्रकारके प्रश्नों पर विचार करना चाहिए कि वह शुद्ध ज्ञान किस तरह प्राप्त होगा? प्राप्त होने पर वह ज्ञान किस प्रकार बढ़ेगा? अथवा वह ज्ञान हमें क्यों नहीं प्राप्त हो रहा है? अथवा ज्ञानके मार्गमें अवरोध करनेवाली ऐसी कौन-सी प्रबल बात है जो ज्ञान उत्पन्न नहीं होने देती अथवा प्राप्त ज्ञानको टेढ़े-तिरछे मार्गमें लगाती है? फिर जो बातें ज्ञानके लिए विरोधक हों, उन्हें तो अलग कर दिया जाय और जिन बातोंसे ज्ञानकी वृद्धि हो, उनका मन लगाकर विचार किया जाय। ज्ञानके जिज्ञासु जिन श्रोताओंके मनमें इस प्रकारकी इच्छा हो, उनकी यह इच्छा पूरी करनेके लिए अब भगवान श्रीकृष्ण भाषण करेंगे। उस दैवी सम्पत्तिके वैभवका गुण-गान होगा जो ज्ञानको जन्म देती है और साथ ही शान्तिकी भी वृद्धि करती है। साथ ही उस आसुरी सम्पत्तिके भयंकर स्वरूपका भी वर्णन किया जायगा जो विषय-वासना और राग-द्वेष आदि दुष्ट विकारोंको आश्रय देती है। यही दोनों सम्पत्तियाँ इष्ट और अनिष्ट कार्य करती हैं और इस विषयकी प्रस्तावना पहले नवें अध्यायमें की जा चुकी है। उसी अवसर पर इस विषयका प्रत्यक्ष और उचित विचार होनेको था; परन्तु बीचमें एक दूसरा ही विषय सामने आ गया और यह प्रकरण वहीं रह गया। इसलिए अब भगवान वही प्रकरण इस अध्यायमें स्पष्ट करेंगे। इसलिए इस सोलहवें अध्यायको पिछले भागका पूरक समझना चाहिए। परन्तु यह प्रस्तावना अब बहुत हो चुकी। प्रस्तुत विषय यह है कि इन्हीं दोनों सम्पत्तियोंकी सामर्थ्यके कारण ज्ञानको इष्ट अथवा अनिष्ट रूप प्राप्त होता है। अब पहले उस दैवी सम्पत्तिके लक्षण सुनिए जो मुमुक्षुओंके लिए मार्ग-दर्शक होती है और दीपककी ज्योतिकी भाँति मोह-रात्रिका अन्धकार दूर करके उसे प्रकाशित करती है। जो अनेक पदार्थ एक दूसरेके लिए पोषक होते हैं, उन सबको एकत्र करनेको ही लोकमें "सम्पत्ति" कहते हैं। दैवी सम्पत्ति सुख उत्पन्न करनेवाली होती है। वह दैव-योगसे ही किसी किसीको प्राप्त होती है और इसी लिए उसे "दैवी" कहा जाता है।

श्रीभगवानुवाच—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥ १॥

"अब इस दैवी सम्पत्तिके गुणोंमें, जिसे सबसे पहला स्थान मिलता है, वह "अभय"

है। जो बहुत बड़ी बाढ़में नहीं कूदता, उसे डूबनेका भय छू भी नहीं जाता। अथवा जो पथ्यसे रहता है, उसके सामने रोगका ज्यादा जोर नहीं चलता। ठीक इसी प्रकार कर्म और अकर्मके मार्गोंमें अहंकारको नहीं घुसने देना चाहिए और संसारका भय छोड़ देना चाहिए। अथवा यदि अद्वैतकी भावना बढ़ जाय तो उसे छोड़कर सब विषयोंमें आत्म-भाव रखना चाहिए और भयकी बात मनसे दूर हटा देनी चाहिए। इसका परिणाम यह होता है कि अद्वैत-बुद्धि आ जानेके कारण सब कुछ उसी प्रकार आत्म-मय जान पड़ने लगता है, जिस प्रकार जल यदि नमकको डुबानेके लिए आवे तो नमक स्वयं ही जल बन जाता है; और इससे भयका नाश होता है। हे अर्जुन जिसे "अभय" कहते हैं, वह यही है। अर्थात् सच्चे ज्ञानके मार्गकी यह बात है। अब जिसे "सत्व-शुद्धि" कहते हैं, उसे आगे बतलाये हुए लक्षणोंसे पहचानना चाहिए। जिस प्रकार राख का ढेर न तो जलता ही है और न बुझता ही है अथवा जिस प्रकार मध्यम अवस्थाका चन्द्रमा सूक्ष्म रूपसे अविकृत रहता है और उसमें न तो प्रतिपदाकी बढ़नेवाली कला ही होती है और न अमावास्या-का क्षय ही होता है, अथवा जिस प्रकार वह नदी मध्यम अवस्थामें शान्त होकर बहती रहती है जिसमें न तो वर्षा-ऋतुकी बाढ़ ही होती है और न ग्रीष्म-ऋतुवाला जलका अभाव ही होता है, ठीक उसी प्रकार रजोगुण तथा तमोगुणसे भरे हुए अनेक प्रकारके मनोरथोंका ध्यान छोड़कर बुद्धि केवल स्वधर्मके विषयोंमें ही अनुराग रखती है और इन्द्रियोंको अच्छे चाहे बुरे किसी प्रकारके विषय दिखाये जायँ, परन्तु मन तनिक भी विचलित नहीं होता। प्रिय पतिके विदेश जाने पर जिस प्रकार पतिव्रता पत्नीका विरहसे व्याकुल मन किसी प्रकारकी हानि या लाभकी ओर नहीं रहता, बल्कि केवल उदासीन रहता है, उसी प्रकार केवल आत्म-स्वरूपकी लगन लगनेके कारण बुद्धि जो इस प्रकार तन्मय हो जाती है, उसीको केशिमर्दन श्रीकृष्ण "सत्व-शुद्धि" कहते हैं। अब आत्मप्राप्तिके लिए ज्ञान-योगमें अपना सामर्थ्यसे स्थिर रहने और उस स्थितिमें चित्त-वृत्तिको पूर्ण रूपसे त्याग देनेको ही ज्ञान-योगकी व्यवस्थिति कहते हैं। जिस प्रकार यज्ञकी अग्निमें बिना किसी प्रकारकी कामना मनमें रखे ही पूर्णाहुति डाली जानी चाहिए अथवा जिस प्रकार कुलीनके लिये यह उचित है कि वह कुलीनको ही अपनी कन्या दे अथवा जिस प्रकार लक्ष्मी केवल मुकुन्दमें ही निश्चय भावसे रमण करती है, ठीक उसी प्रकार समस्त संकल्प-विकल्प छोड़कर निश्चित रूपसे योग और ज्ञानमें ही जीवन-वृत्ति लगानेको श्रीकृष्णजी तीसरा गुण अर्थात् ज्ञान-योग-व्यवस्थिति कहते हैं। यदि अपना परम शत्रु भी दुःखमें पड़ा हो तो उसे देखकर शरीर, वाणी, मन और धनसे सहायता किये बिना न रहना और हे अर्जुन, यदि कोई दुःखी या पीड़ित हमारे पास आवे तो उसकी सहायता-में अपना धन-धान्य आदि सब कुछ उसी प्रकार अन्तःकरणपूर्वक लगा देना, जिस प्रकार मार्गमें लगा हुआ वृक्ष यात्रियोंको अपने पत्ते, फूल, छाया, फल और मूल आदि देनेमें तनिक भी संकोच नहीं करता, "दान" कहलाता है। इस प्रकारके दानको मोक्षका गुप्त धन दिखलानेवाला दिव्य अंजन ही समझना चाहिए। अच्छा अब "दम" के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कोई तलवार चलानेवाला वीर अपने शत्रुका सिर तुरन्त काट डालता है;

उसी प्रकार विषयों और इन्द्रियोंके संयोगको बिलकुल जड़से काट डालना "दम" कहलाता है। इन्द्रियोंको विषयोंके मेघोंके अन्धकारसे रोकनेके लिए उन्हें अच्छी तरह बांधकर प्रत्याहारके अधीन कर दिया जाता है। उस समय चित्तकी शक्तिसे घबराकर "प्रवृत्ति" अन्दरसे बाहर निकलती है और तब उन्हीं इन्द्रियोंके दसों दरवाजों से वैराग्य शरीरके अन्दर प्रवेश करता है। जो पुरुष इस प्रकारके कठोर व्रतोंका श्वास और उच्छ्वासकी अपेक्षा भी अखंड चलनेवाला आचरण करता है और बिना कुछ भी विश्राम किये रात-दिन उन व्रतोंका पालन करता है, उसके इस प्रकारके आचरणको ही "दम" कहते हैं। इसके लक्षण अच्छी तरह समझ लो। अब मैं तुम्हें संक्षेपमें यज्ञ या यागका अर्थ बतलाता हूं। एक ओर तो सबसे पहले गिने जानेवाले ब्राह्मण होते हैं और दूसरी ओर सबके अन्तमें गिनी जानेवाली स्त्रियाँ आदि होती हैं। और इन दोनोंके मध्यमें जो अनेक अधिकारी आदि होते हैं, उनमेंसे प्रत्येक अपने लिए अत्यन्त उचित तथा वेद-धर्मके मार्गका अनुसरण करता है। इनमेंसे वेदों और शास्त्रोंमें कही हुई प्रणालीसे षट्कर्म करनेवाले ब्राह्मण और उन ब्राह्मणोंको नमस्कार करनेवाले शूद्र दोनों ही समान रूपसे अपने अपने आचारोंका पालन करते हैं और इस प्रकार वे लोग यागका सम्पादन करते हैं और उन यागोंका उन्हें समान रूपसे फल प्राप्त होता है। इस प्रकार अपने अधिकारोंके अनुरूप यज्ञ करना सभी का कर्त्तव्य है परन्तु हाँ, यज्ञ करते समय उन यज्ञोंकी फलकी आशाके विषसे विषाक्त नहीं करना चाहिए; और देहाभिमानसे अपने मनमें इस प्रकारकी अहं-भावना नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए कि "हम कर्त्ता हैं"। साथ ही सब लोगोंको वेदोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार "यज्ञ"शब्दका सब जगह यही आशय रहता है। इस प्रकारका यज्ञ मोक्षके मार्ग में एक जानकार साथी ही होता है। गेंद जो जमीन पर फेंका जाता है, वह जमीनको मारनेके लिए नहीं फेंका जाता बल्कि इसलिए फेंका जाता है कि वह फिर लौटकर हमारे हाथमें आ जाय। खेतमें जो बीज बोये जाते हैं, वह इसी लिए कि उनसे फसल तैयार हो। जिस प्रकार गुप्त और अन्धकारपूर्ण स्थानमें गाड़े हुए धनको देखनेके लिए दीपकको आदरपूर्वक स्वीकार किया जाता है अथवा जिस प्रकार वृक्षकी शाखाओं पर बल लानेके लिए उसकी जड़में सिंचाई की जाती है अथवा यदि संक्षेपमें कहा जाय तो जिस प्रकार स्वयं ही अपना मुख देखनेके लिए दर्पणको अच्छी तरह रगड़ और पोंछकर स्वच्छ किया जाता है, ठीक उसी प्रकार वेदोंके प्रतिपाद्य विषय ईश्वरके स्वरूपका ठीक तरहसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिए श्रुति-ग्रन्थोंका निरन्तर अभ्यास या अध्ययन करना आवश्यक होता है। ब्राह्मणोंके लिये वेदोंमेंके ब्रह्म-सूत्र और दूसरे वर्णोंके लोगोंके लिए अपने अपने अधिकार के अनुसार स्तोत्र आदि पढ़ना या नाम-रूपी मन्त्रका उच्चारण करना ही शुद्ध चैतन्यकी प्राप्ति के लिए यथेष्ट है। हे अर्जुन, जिसे "स्वाध्याय" कहते हैं, वह यही है। अब मैं तुमको "तप" शब्दका मर्म बतलाता हूं, सुनो। दान धर्ममें अपना सर्वस्व दे डालना ही अपने सर्वस्वको सार्थक करना है जिस प्रकार बीज आने पर वनस्पति आपसे आप सूख जाता है अथवा धूप (गन्ध-द्रव्य) जिस प्रकार अग्निमें

लयको प्राप्त हो जाता है अथवा जिस प्रकार मिलावटका नाश होने पर सोना तौलमें कम हो जाता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार पितरोंको अमृतका आहार देता देता स्वयं क्षीण हो जाता है, ठीक उसी प्रकार आत्म-रूपका अनुभव करनेके लिए अपने प्राण, इन्द्रियों और शरीरको सुखा डालना ही, हे अर्जुन "तप" कहलाता है। अब तपके और भी अनेक प्रकार बतलाये जाते हैं। परन्तु जिस प्रकार हंस पानीको अलग करके अपनी चोंचको दूध निकाल लेनेके काममें लगाता है, ठीक उसी प्रकार शरीर और जीवका संयोग होने पर उनमेंसे देह-भावको दूर हटाकर और जीव-भावको चुनकर अलग कर लेनेका काम जिस विवेकके द्वारा होता है, उस विवेकको सदा अपने अन्तः-करणमें जाग्रत रखना चाहिए। आत्म-विचार करते समय बुद्धि चक्करमें पड़ जाती है। उस समय जिस प्रकार जाग्रति होने पर निद्राका भी और साथ ही साथ स्वप्नका भी लोप हो जाता है, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष आत्म-दर्शनके लिए विवेकपूर्वक आचरण या व्यवहार करता है, हे अर्जुन, उसीसे इस "तप" का साधन होता है। अब जिस प्रकार शिशुके हितके लिए ही माता के स्तनमें दूध होता है अथवा भूत मात्रके नाना प्रकारके होने पर भी जिस प्रकार चैतन्यका सबमें समान रूपसे निवास होता है। उसी प्रकार प्राणी मात्रके साथ मधुर और सौजन्यपूर्ण व्यवहार करना ही "आर्जव" है।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥

"ठीक इसी प्रकार जगतको सुखी करनेके उद्देश्यसे ही शारीरिक, वाचिक और मानसिक व्यवहार करना "अहिंसा" कहलाता है। मोगरेकी कली जैसे बहुत ही छोटी होने पर भी कोमल होती है अथवा चन्द्रमाका प्रकाश जैसे तेजस्वी होने पर भी शीतल होता है, ठीक उसी प्रकार जो भाषण सूक्ष्म और तेजस्वी होने पर भी कोमल तथा शीतल होता है, वही सत्य है। जब ऐसी औषधि कहीं न मिलती हो जिसके देखनेसे ही रोग नष्ट हो जाता है और जो खानेमें कड़ुवी भी न लगे, तो फिर ऐसी वस्तु भला कहाँसे मिल सकती है जिसके साथ सत्यकी ठीक ठीक और उपयुक्त उपमा दी जा सके? परन्तु यदि पानीका छींटा आँख पर डाला जाय, तो वह अपनी कोमलताके कारण आँखको तनिक भी कष्ट या हानि नहीं पहुँचाता, परन्तु वही पानी कठिनसे कठिन पत्थरोंको भी तोड़कर अपना मार्ग निकाल ही लेता है। ठीक इसी प्रकार भ्रम और मोहको तोड़नेके लिए जो लोहेकी तरह कड़ा होता है, परन्तु कानोंको माधुर्यसे भी मधुर लगता है, जिसे सुननेके समय ऐसा जान पड़ता है कि कान मानों घटाघट उसका प्राशन करते चले जा रहे हैं, परन्तु जो अपनी सत्यताकी सामर्थ्यसे ब्रह्म-तत्वका भी स्पष्टीकरण करता है, तात्पर्य यह कि जो प्रिय और मधुर होने पर भी किसीको धोखेमें नहीं डालता और सत्य होने पर भी किसीको बुरा नहीं लगता—और नहीं तो पारधीका गाना कानोंको तो मधुर लगता है, पर हरिणीके लिए वह प्राण-घातक होता है अथवा अग्नि अपना शुद्धीकरणका काम तो बहुत अच्छी तरह करती है, परन्तु ऐसा करते समय वह जलाकर राख भी कर देती है—ठीक इसी प्रकार जो वाणी कानोंको तो

मधुर लगती है, परन्तु अपने गर्भसे कलेजेको दो टुकड़े कर देती है, उसे कभी सुन्दर नहीं कहा जा सकता। उसे तो दुष्टा राक्षसी ही कहना ठीक है। परन्तु बालकके कोई अनिष्ट और लज्जाजनक आचरण करने पर जो ऊपरसे तो कठोर क्रोध दिखलाती है, परन्तु उसका लालन पालन करनेमें जो फूलोंसे भी बढ़कर कोमल होती है, उस माताके स्वरूपकी तरह जो वचन कानोंके लिए अत्यन्त सुखद न होने पर भी अन्तमें ठीक और अच्छा सिद्ध होता है और जो दुष्ट विकारोंसे अलिप्त होता है, उस वचनको ही इस प्रकरण में "सत्य" समझना चाहिए। पत्थरमें चाहे कितना ही पानी क्यों न सींचा जाय, परन्तु उसमें कभी अंकुर नहीं निकलता अथवा मक्खनको चाहे कितना ही क्यों न मथा जाय, पर उसमेंसे कभी माँड़ नहीं निकलती अथवा यदि साँपकी केंचुली पर लात मारी जाय तो भी वह केंचुली जिस प्रकार कभी काटनेके लिए फन नहीं उठाती अथवा बसन्त-ऋतुकी पूरी बहार होने पर भी आकाशमें जिस प्रकार कभी फल नहीं फलते अथवा रम्भाके स्वरूप और लावण्यसे शुकदेवजीके अन्तःकरणमें जिस प्रकार कभी काम-विकारका संचार नहीं हुआ था अथवा जो अग्नि बिलकुल बुझ जाती है, वह जिस प्रकार घी डालनेसे फिर नहीं जलती, ठीक उसी प्रकार यदि कितनी ही ऐसी बातें क्यों न कहें, जिन्हें सुनते ही अनजान बालकको भी क्रोध चढ़ आवे, तो भी, हे अर्जुन, जिस प्रकार स्वयं ब्रह्माके पैरों पर पड़नेसे भी मरा हुआ जीव उठकर खड़ा नहीं हो सकता, ठीक उसी प्रकारकी मनकी जो अवस्था होती है और जिसमें राग कभी उत्पन्न ही नहीं होता, उसीको "अक्रोध" कहते हैं।'; यही सब बातें भगवान लक्ष्मीपतिने उस समय कही थी। इसके उपरान्त यज्ञ-भोक्ता भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं—"अब यदि मिट्टीका त्याग किया जाय तो घटका, तन्तुओंका त्याग किया जाय तो वस्त्रका, बीजका त्याग किया जाय तो वट वृक्षका, भीतका त्याग किया जाय तो सारे चित्रका, निद्राका त्याग किया जाय तो उसमें दिखाई देनेवाली सभी बातोंका, जलका त्याग किया जाय तो तरंगोंका, वर्षा-ऋतुका त्याग किया जाय तो मेघोंका और धनका त्याग किया जाय तो विषयोंके उपभोगका आपसे आप त्याग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार बुद्धिमान लोग देहाभिमानको छोड़कर प्रपंचके समस्त विषयोंके दूर हटा देनेको ही त्याग कहते हैं।" यह बात समझकर भाग्य-वान अर्जुनने पूछा—"हे महाराज, अब आप मुझे शान्तिके लक्षण स्पष्ट रूपसे बतलावें।" इस पर देवने कहा—"बहुत उत्तम बात है। अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो। ज्ञेयको नष्ट करके जब ज्ञाता और ज्ञान भी लयको प्राप्त हो जाते हैं, तब जो स्थिति उत्पन्न होती है, उसीको "शान्ति" कहना चाहिए। जिस प्रकार प्रलय कालके जलकी बाढ़ सारे विश्वका नाम-निशान भी मिटा देती है और चारों ओर केवल वही जल पूरी तरहसे भरा रहता है और इस प्रकारका भेद-दर्शक भाषा-व्यवहार हो ही नहीं सकता कि यह नदीका उद्गम है, यह प्रवाह है और यह समुद्र है और जिधर देखो, उधर एक-सा पानी ही फैला हुआ दिखाई देता है, परन्तु उस समय भी क्या उसका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए उससे भिन्न कोई रहता है? कोई नहीं रहता। ठीक इसी प्रकार जब ज्ञेयके साथ आलिंगन होने पर तन्मयता हो जाती है, तब ज्ञातृत्वका भी नाश हो जाता

है। फिर उस समय, हे अर्जुन, जो कुछ बाकी बच जाता है, वही शान्तिका लक्षण है। अब यह सुनो कि अपैशुन्य किसे कहते हैं। जिस समय रोगी किसी रोगसे बहुत अधिक कष्ट पाता है, उस समय उसे अच्छा करनेकी चिन्तामें सुविज्ञ वैद्य यह नहीं देखता कि यह रोगी मेरा शत्रु है। अथवा जब कीचड़ में फँसी हुई गाय दिखाई देती है, तब देखने-वाला इस बातका विचार नहीं करता कि वह दूध देती है या नहीं, और वह उस गायका क्लेश देखकर ही विकल हो जाता है। अथवा जब कभी कोई मनुष्य जलमें डूबने लगता है, तब विज्ञ मनुष्य इस बातका विचार करने नहीं बैठता कि यह ब्राह्मण है या अन्त्यज है और यही समझता है कि इसके प्राण बचाना ही मेरा कर्तव्य है। अथवा जब कभी कोई चांडाल दैव-योगसे जंगलमें मिलनेवाली स्त्रीको वस्त्र-हीन करके और उसके कपड़े छीनकर उसे छोड़ देता है, तब सभ्य मनुष्य तब तक उस स्त्री पर दृष्टि नहीं डालता, जब तक वह उसे फिरसे वस्त्र नहीं पहना लेता। ठीक इसी प्रकार जो लोग अज्ञान और भ्रम आदिके कारण अथवा पूर्व जन्मोंके कठोर संचित कर्मोंके कारण सब प्रकारके निन्दनीय मार्गोंमें लगे रहते हैं, उन्हें ये अपना शारीरिक बल देकर उन्हें सालनेवाले दुःखोंको विस्मृत करा देते हैं हे अर्जुन, दूसरेके दोषोंको पहले अपनी दृष्टि या कटाक्षसे दूर करके तब ये उन्हें अच्छी तरह देखने लगते हैं। जिस प्रकार पहले देवताकी पूजा करके तब उनका ध्यान किया जाता है अथवा पहले खेत जोतकर और उसमें बीज बोकर तब उनकी रखवाली करने जाते हैं, अथवा अतिथिको पहले आदर-सत्कारसे सन्तुष्ट करके तब उसका आशीर्वाद लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार पहले अपने गुणोंसे दूसरों की त्रुटियाँ पूरी करनी चाहिएँ और तब उसकी ओर सूक्ष्म दृष्टिसे देखना चाहिए। केवल इतना ही नहीं; वे कभी किसीके मर्म पर आघात नहीं करते, कभी किसीको कुकर्मोंमें प्रवृत्त नहीं करते और कभी किसीको दोष नहीं लगाते। बस उनका आचरण या व्यवहार इसी प्रकारका होता है। इसके अति-रिक्त उनका व्यवहार ऐसा होता है कि यदि कोई गिर पड़ा हो या यदि किसीका पतन हो गया हो, तो वे किसी न किसी उपायसे उसे सँभाल लेते और उठाकर खड़ा कर देते हैं; परन्तु किसीका मर्म-भेद करनेका विचार कभी उनके मनमें आता ही नहीं। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, बड़ोंके लिए वे कभी दूसरोंको तुच्छ मानने या बनानेके लिए तैयार नहीं होते और न उनकी दृष्टि कभी दूसरोंके दोष ही ढूंढने बैठती है। हे अर्जुन, बस इसी प्रकारके व्यवहारको "अपैशुन्य" कहते हैं। और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि मोक्षके मार्ग पर यह एक विश्रान्तिका मुख्य स्थल है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि "दया" किसे कहते हैं। जिस प्रकार पूर्णिमाके चन्द्रमाकी प्रभा सारे विश्वको समान रूपसे शीतलता प्रदान करती है और इस प्रकारका पंक्ति-भेद कभी नहीं करती कि यह बड़ा है वह छोटा है, उसी प्रकार जिनमें दया होती है, वे दुःखितोंके कष्टोंका दयालुता-पूर्वक परिहार करते समय कभी इस बातका विचार अपने मनमें नहीं आने देते कि यह उत्तम है और वह अधम है। देखो, संसारमें पानी सरीखा पदार्थ भी स्वयं नष्ट हो जाता है। परन्तु मरती हुई वनस्पतियोंको वह हरा-भरा कर देता है। ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुषके मनमें दूसरोंके दुःखको देखकर करुणाका इतना प्रबल प्रभाव आविर्भाव होता है

कि उनके दुःखोंका शमन करनेके लिए यदि वे अपना सर्वस्व भी त्याग दें तो वह उन्हें थोड़ा ही जान पड़ता है। जब बहते हुए जलको मार्गमें कोई गड्ढा आदि मिलता है, तब वह उसे बिना भरे एक कदम भी आगे नहीं बढ़ता। ठीक इसी प्रकार दयालु पुरुष भी अपने सामने आनेवाले दीन पुरुषको सन्तुष्ट करके ही आगे पैर बढ़ाता है। जिस प्रकार पैरमें काँटा चुभने पर उसकी पीड़ाके चिह्न चेहरे पर प्रकट होते हैं, उसी प्रकार दूसरोंके दुःख देखकर वह भी अपने शरीरमें कष्ट बोध करता है। जिस प्रकार पैरोंमें ठंडक पहुँचने पर उसकी तरावट आँखों तकमें जान पड़ती है, उसी प्रकार वह भी दूसरोंको सुखी देखकर स्वयं सुखी होता है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्यासोंको सुखी करनेके लिए संसारमें जलकी सृष्टि हुई है, उसी प्रकार दुःखितोंके कल्याणके लिए ही जिसका जीवन होता है, हे अर्जुन, वह पुरुष मूर्त्तिमान दया ही होता है। मैं जन्मसे ही उसका ऋणी होता हूँ। अब भूतेष्वलोलुप्त्वके गुणकी व्याख्या सुनो। कमल चाहे कितना ही हृदयसे सूर्यकी ओर अनुरक्त क्यों न हो, परन्तु फिर भी सूर्य कभी उसकी सुगन्धको स्पर्श नहीं करता। अथवा वसन्तके मार्गमें चाहे कितनी ही अधिक वन-श्री क्यों न हो, तो भी वह उस वन-श्रीको स्वीकार नहीं करता और बराबर आगे बढ़ता जाता है। और फिर इतनी सब बातें किस लिए कही जायँ? यदि समस्त महा-सिद्धियोंके साथ स्वयं लक्ष्मी ही क्यों न पास आ जाय, परन्तु फिर भी महा-विष्णुके लिए वह किसी गिनती में नहीं होती। ठीक इसी प्रकार लौकिक अथवा स्वर्गीय विषय-सुख चाहे उसकी इच्छाके दास ही क्यों न बन जायँ, परन्तु फिर भी जो अलोलुप होता है, वह कभी उन सुखोंको भोगनेका विचार भी अपने मनमें नहीं करता। और अधिक क्या कहा जाय जिस अवस्थामें जीवको किस प्रकार विषयोंकी अभिलाषा नहीं रह जाती, उसी अवस्थाको "अलोलुप्त्व" नामक गुणका लक्षण समझना चाहिये। अब मैं "मार्दव" का वर्णन करता हूँ, सुनो। मधुमक्खियोंके लिए जैसे शहदका छत्ता अथवा जलचरोंके लिए जल अथवा पक्षियोंके लिए यह खुला आकाश अथवा बालकके लिए माताका प्रेम अथवा वसन्तके स्पर्शसे कोमल होनेवाली मलय वायु अथवा आँखोंके लिए प्रियजनोंके दर्शन अथवा अपने बच्चोंके लिए जिस प्रकार कछुईकी दृष्टि होती है, उसी प्रकार मार्दव गुणवाले पुरुषका भूत मात्रके साथ बहुत ही मृदु तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार होता है। जो कपूर स्पर्शमें अत्यन्त कोमल, चखनेमें अत्यन्त स्वादिष्ट, नाकके लिए अत्यन्त सुगन्धित और देखनेमें अत्यन्त निर्मल होता है, वह जितना चाहो, उतना मिल जाता है। वह यदि विषाक्त न होता और उसकी विषाक्तता बीचमें बाधक न होती, तो वह अपनी मधुरता और निर्मलताके कारण मार्दव गुणसे युक्त पुरुषकी कोमलताकी बराबरी कर सकता। आकाश जिस प्रकार महाभूतोंको भी अपने उदरमें रखता है और अणु-परमाणुओंमें भी समाया रहता है, और विश्वके अनुरूप ही अपना आकार भी बना लेता है, हे अर्जुन, मैं और अधिक क्या कहूँ, ठीक उसी आकाशकी भाँति सारे विश्वके जीवनके सारी सृष्टिके प्राणोंसे जीवित रहनेको ही मैं मार्दव कहता हूँ। अब मैं गुण की व्याख्या करता हूँ। जिस प्रकार पराजय होने पर कोई राजा मारे लज्जाके

मुँह नहीं दिखला सकता अथवा अपमानके कारण जिस प्रकार मानी पुरुष निस्तेज हो जाता है अथवा जिस प्रकार भूलसे किसी चांडालके घरमें जा पहुँचने पर किसी श्रेष्ठ संन्यासीको बहुत अधिक लज्जा जान पड़ती है अथवा रण-भूमिसे क्षत्रियका भाग निकलना जिस प्रकार लज्जाजनक होता है और उसे कोई सहन नहीं कर सकता अथवा महापति-व्रताके लिए जिस प्रकार वैधव्यका आमन्त्रण परम दुःख-कारक और असह्य होता है अथवा जिस प्रकार किसी सुन्दर पुरुषके शरीरमें कोढ़ होने पर अथवा किसी प्रतिष्ठित पुरुष पर व्यर्थ ही कोई लांछन लगने पर मारे लज्जाके उसके प्राणों पर संकट आ बनता है, उसी प्रकार इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें बन्दी होकर बार बार जन्म लेना और मरना और गर्भाशयके विवरके साँचेमें रक्त, मूत्र और रसका पुतला बनकर रहना उसके लिए अत्यन्त लज्जाजनक होता है। सारांश यह कि देहके बन्धनमें पड़कर नाम-रूपात्मक होनेसे बढ़कर लज्जाजनक और कोई बात उसके लिए हो ही नहीं सकती। इस प्रकार इस घृणित शरीरके प्रति जो घृणा उत्पन्न होती है, उसीको "लज्जा" समझना चाहिए। परन्तु यह लज्जा केवल निर्मल पुरुषोंको ही जान पड़ती है, दूसरे निर्लज्ज लोगोंको तो यह शरीर बहुत ही अच्छा लगता है। अब "अचापल्य" गुण के लक्षण सुनो। जिस प्रकार कठपुतलियोंको नचानेवाली डोरीके टूट जानेसे उन कठपुतलियोंका चलना-फिरना आदि बन्द हो जाता है, उसी प्रकार योगका साधन करनेसे कर्मेन्द्रियोंकी गति कुण्ठित हो जाती है। अथवा जिस प्रकार सूर्य अस्त होने पर उसकी किरणोंका जाल भी छिप जाता है, उसी प्रकार मनका निग्रह करनेसे इन्द्रियाँ भी पूरी तरह दब जाती हैं। इस प्रकार मनका नियमन करने और योगका साधन करनेसे दसों इन्द्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं; और इसी अवस्थाको "अचापल्य" कहते हैं।

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ ३॥

'यदि ईश्वर-प्राप्तिके लिए ज्ञानके मार्गमें पैर रखते समय मनमें दृढ़ निश्चय हो गया हो तो फिर बलकी कमी नहीं होती। एक तो मरना यों ही भयंकर होता है, तिस पर अग्निमें जलकर मरना तो और भी अधिक भयंकर होता है। लेकिन इतना होने पर भी पतिव्रता उस जलकर मरनेकी भी परवाह नहीं करती। ठीक इसी प्रकार आत्म-प्राप्तिकी अग्निसे विषय-रूपी विषको जीव जलाकर निकाल डालता है और तब शून्यकी ओर जाने-वाले योग-साधनके विकट मार्ग पर जल्दी आगे बढ़ने लगता है। फिर किसी प्रकारका निषेध उसके मार्गमें बाधक नहीं होता। न तो वह विधिको ही मानता है और न महा-सिद्धियोंके मोहमें ही पड़ता है। इस प्रकार स्वयं ही अपनी आन्तरिक प्रेरणासे ईश्वरकी ओर बढ़नेको "आध्यात्मिक तेज" कहते हैं। यदि मनुष्यमें इस प्रकारका गर्व न हो कि समस्त सहनशीलोंमें एक मैं ही श्रेष्ठ हूँ, तो इसीको "क्षमा" समझना चाहिए। शरीर पर हजारों रोम होते हैं, पर उनका भार सहन करने पर भी शरीरको कभी उनका भान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियाँ वशमें न रहकर कुमार्गमें लग जायँ अथवा शरीरमें छिपा हुआ कोई पुराना रोग एक दमसे उभड़ पड़े अथवा प्रिय जनों का अचानक वियोग

हो जाय और अग्निके साथ काम पड़े अथवा इसी प्रकारके और किसी अनिष्ट प्रसंगकी कोई बहुत बड़ी लहर अपने ऊपर आ पड़े तो भी अगस्त ऋषिके समान छाती ठोंककर उसके सामने निश्चल भावसे खड़े रहना और हे अर्जुन, यदि अधिदैव, अधिभूत और अध्यात्म तीनों प्रकारके ताप आकर उपस्थित हों तो उन सबको उसी प्रकार तुच्छ समझकर अपने सामनेसे हटा देना, जिस प्रकार आकाशमें उठनेवाली धूम्रकी बहुत बड़ी रेखाको हवा एक ही झोंकेमें उड़ा देती है और चित्तको विचलित कर देनेवाले ऐसे विकट प्रसंगके आ पड़ने पर भी धैर्य न छोड़कर अच्छी तरह उसके मुकाबलेमें डटे रहना ही "धृति" कहलाता है। हे अर्जुन, यह बात तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। अब "शौच" सोनेका मुलम्मा चढ़ा चढ़ाकर स्वच्छ किये हुए और गंगामृतसे भरे हुए कलशके समान है, क्योंकि शरीरके द्वारा निष्काम कर्मोंका होना और जीवका विवेकके अनुसार आचरण करना सब शुचित्वके ही ऊपरसे दिखाई देनेवाले लक्षण हैं। अथवा जिस प्रकार गंगाका जल प्राणी मात्रके पाप और तापका शमन करता है और अपने तट परके वृक्षोंका पोषण करता हुआ समुद्र की ओर जाता है अथवा जिस प्रकार सूर्य संसारका अन्धकार दूर करता हुआ और सम्पत्तिके मन्दिरोंके द्वार खोलता और उन्हें प्रकट करता हुआ आकाशकी प्रदक्षिणाके लिए निकलता है, उसी प्रकार वह भी बन्धनमें पड़े हुए लोगोंको मुक्त करता है, डूबते हुए लोगोंको बाहर निकालता है और दुःखितोंके संकटका निवारण करता है। बल्कि यह कहना चाहिए कि वह दिन-रात दूसरोंका सुख अधिकाधिक बढ़ाता हुआ प्रकारान्तरसे अपने ही स्वार्थका साधन करता है। केवल यही नहीं, अपना कार्य सिद्धकरनेके लिए किसी प्राणीकी बुराई करनेकी कल्पना भी कभी उसके मनमें उत्पन्न होकर उसके मार्गमें बाधक नहीं होती। हे अर्जुन, अभी जो यह सब तुमने सुना है, वह सब "अद्रोह" के लक्षण हैं; और जिस प्रकार मैंने ये लक्षण तुम्हें बतलाये हैं, उसी प्रकार ये तुम्हें उस मनुष्यमें दिखाई देंगे जिसमें अद्रोह होगा। हे अर्जुन, जिस समय शंकरने गंगाको अपने जटा-जूटमें धारण कर लिया था, उस समय वह जिस प्रकार लज्जित हुई थी, उसी प्रकार मानकी प्राप्ति होने पर जो लज्जित होता है, उसीके सम्बन्धमें यह समझना चाहिए कि उसमें "अमानित्व" नामक गुण है। हे अर्जुन, यह बात तुम बराबर अपने ध्यानमें रखो। ये सब बातें पहले भी एक बार बतलाई जा चुकी हैं, इसलिए अब वही बातें फिर दोबारा क्यों कही जायँ? इस प्रकार दैवी सम्पत्तिके ये छब्बीस गुण हैं। ये मानों मोक्ष-साम्राज्यके चक्रवर्त्ती राजाके ताम्रपटके अनुसार दी हुई जागीरें ही हैं अथवा यह समझना चाहिए कि यह दैवी सम्पत्ति मानों गुण रूपी जलसे सदा भरपूर रहनेवाली गंगा हो वैराग्य रूपी सगर-पुत्रोंके शरीरों पर चढ़ी हुई है। अथवा यह दैवी सम्पत्ति मानों सद्गुण रूपी फूलोंकी माला है और ऐसा जान पड़ता है कि मुक्ति रूपी वधू वही माला विरक्तोंके गले में डाल रही है। अथवा इन छब्बीस गुणोंकी बत्ती जलाकर यह गीता नामक पत्नी अपने आत्माराम नामक पतिकी आरती कर रही है। ये गुण मानों गीता रूपी सागरसे निकाली हुई दैवी सम्पत्ति रूपी सीपियोंमेंके निर्मल और सच्चे मोतियोंके दाने ही हैं। ऐसी अवस्थामें भला इनका यथा-

तथ्य वर्णन कैसे किया जा सकता है? इनका तो आप ही आप अनुभव होता रहता है। इस प्रकार गुणोंके भांडार इस दैवी सम्पत्तिका वर्णन हुआ। अब आसुरी सम्पत्ति यद्यपि दुःखोंके दोष रूपी काँटोंसे भरी हुई बेलके ही समान है, तो भी कथा के प्रसंगमें उसका भी वर्णन कर दिया जाता है। यदि निन्दनीय वस्तुका त्याग करना हो तो यह जानना भी आवश्यक होता है कि वह निन्दनीय वस्तु कौन-सी है। इसलिए यद्यपि यह आसुरी सम्पत्ति अनिष्ट है, तो भी इसका स्वरूप ध्यान देकर सुनना बहुत ही उचित है। हे अर्जुन, भयंकर अधोगतिके दुःख अपने पल्लेमें बाँधनेके लिए घोर पातकोंने मिलकर जो संग्रह किया है, वही यह आसुरी सम्पत्ति है। अथवा जिस प्रकार समस्त विषयोंको एक साथ मिलाने पर उस मिश्रणको कालकूट कहते हैं, उसी प्रकार समस्त पापोंके एकत्र किये हुए समूहोंको "आसुरी सम्पत्ति" कहते हैं।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्॥ ४॥

"अब हे अर्जुन, इन आसुरी दोषोंमें जिसकी शक्तिका ढिंढोरा खूब जोरोंसे पीटा जाता है, उस दम्भका स्वरूप मैं तुमको बतलाता हूँ। हे अर्जुन, यह ठीक है कि अपनी माता केवल तीर्थ स्वरूपिणी ही होती है; परन्तु यदि हम उसे नग्न अवस्थामें सब लोगोंके सामने लावें तो वह हमारे अधःपतनका ही कारण होती है। अथवा जिन विद्याओंका गुरु उपदेश देता है, वे सब विद्याएँ यद्यपि इष्ट फल देनेवाली ही होती हैं, परन्तु यदि किसी चौराहे पर खड़े होकर उनका घोष किया जाय तो ये भी अनिष्टकारक ही होती हैं। अथवा यह देखो कि जिस समय हम डूबने लगते हैं, उस समय जो नाव हमें बचाकर किनारे तक पहुँचानेका साधन होती है, उसी नावको यदि हम अपने सिरसे बाँध लें तो वह हमें डुबानेका ही कारण होती है। यह बात प्रसिद्ध है कि जीवनका आधार अन्न ही है। परन्तु यदि हम उसे उत्तम समझकर उचित से अधिक खा जायँ तो वही अन्न हमारे लिये विष हो जाता है। इसी प्रकार जो धर्म इस लोकमें भी और परलोकमें भी हमारा स्नेह-पूर्ण साथी होता है, यदि उसी धर्मका आचरण करके हम अभिमानपूर्वक इस बातकी घोषणा करने लग जायँ कि हम धर्मका आचरण करते हैं, तो वह तारक धर्म भी हमारे लिए दोषका साधन बन जाता है। इसलिए हे अर्जुन, यदि हम अपने किये हुए धार्मिक कृत्योंका शाब्दिक आडम्बर चारों दिशाओंमें फैलाने लगें तो वह धर्म भी अधर्म हो जाता है। और इसी प्रकारकी करनीको "दम्भ" कहते हैं। अब दर्पके लक्षण सुनो। जिस प्रकार मूर्खकी जिह्वा पर अक्षरोंका थोड़ा-बहुत संस्कार होते ही (अर्थात् उसके कुछ पढ़ लेने पर) वह ब्राह्मणोंकी सभाकी भी निन्दा करने लगता है अथवा जिस घोड़े पर चाबुक-सवार चढ़ चुका होता है, वह घोड़ा जिस प्रकार ऐरावतको भी तुच्छ समझने लगता है अथवा जैसे किसी कँटीली झाड़ीके शिखर पर चढ़ा हुआ गिरगिट स्वर्गको भी तुच्छ समझने लगता है अथवा यदि ईंधनके साथ घास-फूस भी आ जाय तो अग्निकी लपटें जिस प्रकार आकाशकी ओर उठने लगती हैं अथवा किसी छोटेसे

ताल या गड्ढेका आश्रय पाकर मछली समुद्रको भी तुच्छ समझने लगती है, उसी प्रकार स्त्री, धन, विद्या, स्तुति और मान प्राप्त करके मनुष्य भी मदसे अन्धा हो जाता है। मानों एक दिनके लिए पराया अन्न पाकर ही वह दरिद्र भिखारी अपने आपको धन्य समझने लगता है। अथवा जिस प्रकार बादलोंकी छाया प्राप्त होने पर कोई अभागा मनुष्य अपना घर गिरा देता है, अथवा मृग-जलकी बाढ़ देखकर कोई मूर्ख अपना पानीका घड़ा फोड़ डालता है, उसी प्रकार प्राप्त होनेवाली सम्पत्तिके कारण मत्त हो जाना ही "दर्प" कहलाता है। हे अर्जुन, इस सिद्धान्तमें कहीं नामको भी अपवाद नहीं है। अब यह सुनो कि अभिमान किसे कहते हैं। वेदों पर जगतकी श्रद्धा है और इस श्रद्धामें ईश्वर परम पूज्य माना गया है। और सारे विश्वको प्रकाशित करनेवाला सूर्य ईश्वर ही है। सारे जगतको सार्वभौम वैभवकी अभिलाषा रहती है और जगत को इस बातका बहुत ध्यान रहता है कि हमारी मृत्यु न आवे। और यदि इन्हीं बातोंके लिए सारा जगत ईश्वरकी भक्ति और स्तुति करने लगे तो इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? परन्तु ईश्वरकी यह स्तुति सुनते ही आसुरी मनुष्योंके मनमें मत्सर उत्पन्न होता है और उस मत्सरकी बेल बढ़ने लगती है। आसुरी मनुष्य कहता है—"मैं तुम्हारे ईश्वरको निगल जाऊँगा, तुम्हारे वेदोंको विष दे दूँगा और अपने महत्वसे उनकी सत्ताका ही नाश कर डालूँगा।" दीपककी ज्योति देखते ही जिस प्रकार पतंगा व्याकुल हो जाता है, जुगनूँको जिस प्रकार सूर्य अच्छा नहीं लगता और टिटिहरीने जिस प्रकार महासागरके साथ वैर ठाना था, उसी प्रकार आसुरी मनुष्य अपने गर्वके फेरमें पड़कर ईश्वरका नाम भी सहन नहीं कर सकता। वह स्वयं अपने पिताके साथ भी सौतेलेपनका ही भाव रखता है, क्योंकि उसे इस बातका डर रहता है कि यह मेरी सम्पत्तिमें हिस्सेदार होगा। इस प्रकार जो मनुष्य अहंमन्यतासे फूला हुआ, उन्मत्त और अभिमानी होता है, उसे अधोगति या नरकका चलता हुआ मार्ग ही समझना चाहिये। अब मैं क्रोधके लक्षणोंकी व्याख्या करता हूँ। दूसरे लोगोंका सुख आसुरी मनुष्योंके मनको विषके समान कड़ुआ लगता है और दूसरोंका सुख देखकर वह क्रुद्ध होता है। जिस प्रकार खौलते हुए तेलमें पानीकी बूँद पड़ते ही वह तेल भभक कर जल उठता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाके दर्शनसे श्रृगाल व्याकुल होकर मनमें जलने लगता है अथवा विश्वके जीवन-स्वरूप और उसे उज्ज्वल करनेवाले सूर्यके प्रातःकाल उदय होते ही पापी उल्लूकी आँखें फूट जाती हैं अथवा जगतको आनन्द देनेवाला प्रातःकाल जिस प्रकार चोरोंके लिए मृत्युसे भी बढ़कर दुःखदायक होता है अथवा जिस प्रकार साँपके पेटमें पहुँचकर दूध भी कालकूट विष बन जाता है अथवा जिस प्रकार समुद्रके अपरम्पार जलसे बड़वाग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है और चाहे कितने ही उपाय क्यों न किये जायँ, परन्तु फिर भी वह किसी प्रकार शान्त नहीं होती, ठीक उसी प्रकार दूसरेकी विद्या और सुख आदि ऐश्वर्य देखकर यदि किसीका क्रोध भड़क उठे तो इसी मनोवृत्तिको क्रोध कहते हैं। अब मैं यह बतलाता हूँ कि पारुष्य किसे कहते हैं। जिसका मन मानों साँपकी बिल हो, आँखें मानो बाणोंकी सनसनाहटके समान हों और बातें बिच्छुओंकी वर्षा के समान हों और

बाकी जो क्रियाएँ हैं, वे मानों फौलादके आरेके समान हों तात्पर्य यह कि जिसका अन्दर और बाहरका स्वरूप इस प्रकार प्रखर होता है, उस मनुष्यको मानव-जातिमें अधम समझना चाहिए। यह तो पारुष्यका विचार हुआ। अब अज्ञानके लक्षण सुनो। पत्थरको जिस प्रकार ठंडे स्पर्श और गरम स्पर्शका भेद नहीं जान पड़ता अथवा जिस प्रकार जन्मांधको दिन और रातके अन्तरका पता नहीं चलता अथवा आग जब एक बार भड़ककर खाने लगती है, तब वह खाद्य और अखाद्यका और विधि या निषेधका कुछ भी विचार नहीं करती अथवा पारस पत्थर जिस प्रकार लोहे और सोनेमें कोई भेद-भाव नहीं करता अथवा भिन्न भिन्न प्रकारके खाद्य पदार्थोंमें संचार करने पर भी कलछी जिस प्रकार उनमेंसे किसी का रसास्वादन नहीं कर सकती अथवा वायु जिस प्रकार सीधे और टेढ़े-तिरछे मार्गोंका अन्तर नहीं जानती, ठीक उसी प्रकार जिस अवस्थामें पुरुष कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यके विषयमें अन्धा रहता है, स्वच्छ और दूषितका भेद नहीं जानता, पाप और पुण्य सबको मिलाकर उसी प्रकार खा जाता है, जिस प्रकार बालक हाथमें आई हुई अच्छी और बुरी सभी तरहकी चीजें मुँहमें डाल लेता है, और जो जो ऐसी घृणाहीन अवस्था होती है कि उसमें बुद्धिको इस बातका पता ही नहीं चलता कि मधुर क्या है और कटु कैसा होता है, उसी अवस्थाको अज्ञान कहते हैं। इस विषयमें शंकाके लिए कुछ भी स्थान नहीं है। इस प्रकार छओ दोषोंका यह विवरण किया गया है। जिस प्रकार साँपका शरीर चाहे छोटा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसमें भयंकर विष रहता है अथवा यदि अग्नियोंकी श्रेणी देखी जाय तो प्रलयाग्नि, विद्युदग्नि और बड़वाग्नि इन तीनकी संख्या बहुत ही थोड़ी जान पड़ती है, परन्तु ये अग्नियाँ यदि भड़क उठें तो इनकी आहुतिके लिए सारा विश्व भी पूरा नहीं होता, उसी प्रकार ये दोष भी गिनतीमें तो केवल छः ही हैं, परन्तु इनके योगसे आसुरी सम्पत्तिको बहुत अधिक बल प्राप्त होता है। यदि मनुष्यके शरीरमें तीनों दोष एकत्र हो जायँ तो फिर चाहे स्वयं ब्रह्माके ही पैर क्यों न जाकर पकड़े जायँ, परन्तु फिर भी मृत्युसे किसी प्रकार रक्षा नहीं हो सकती। परन्तु ये दोष तो छः अर्थात् उस तीनसे दूने हैं। इन्हीं छः दोषोंकी नींव पर आसुरी सम्पत्तिकी इमारत खड़ी हुई है; इसी लिए वह कमजोर होती ही नहीं। इसके विपरीत, जिस प्रकार कभी कभी सब पाप-ग्रह एक ही राशि पर आकर एकत्र होते हैं अथवा निन्दा करनेवालेके संग्रहमें सभी पाप आकर पहुँच जाते हैं अथवा जिसका मरण-काल समीप होता है, उस पर जिस प्रकार सभी रोग एक दमसे आकर आक्रमण कर बैठते हैं अथवा जिस प्रकार अशुभ दिनमें सभी दुष्ट योग आकर एकत्र हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार विश्वास रखनेवाले और निश्चिन्त रहनेवाले मनुष्यको चोरके हाथमें दे दिया जाता है अथवा जिस प्रकार कोई थका हुआ आदमी बहुत बड़ी बाढ़में ढकेल दिया जाता है, ठीक उसी प्रकारके अघोर कृत्य ये छओ दोष करते हैं। अथवा जिस प्रकार बकरीकी आयु समाप्त होने पर उसे सात डंकोंवाला बिच्छू काटता है, उसी प्रकार ये छओ दोष भी मनुष्यको डसते हैं। मोक्ष-मार्गकी ओर थोड़ी-सी प्रवृत्ति होने पर भी जो यह कहकर संसारके झगड़ोंमें डूब जाता है कि "मैं इस मार्ग पर नहीं चलूँगा।" जो हीन योनियोंको

सीढ़ियाँ उतरता उतरता अन्तमें स्थावरोंसे भी नीचेवाले स्थान पर जा बैठता है, उसीमें ये छओ दोष एकत्र होकर आसुरी सम्पत्तिको बलवान बनाते हैं। इस प्रकार मैंने इन दोनों ही सम्पत्तियोंके सब लक्षण अलग अलग और स्पष्ट करके बतला दिये हैं।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ॥ ५ ॥

"इन दोनोंमेंसे जो पहली दैवी सम्पत्ति है, उसे मोक्ष रूपी सूर्यका उदय किया हुआ प्रभात काल ही समझना चाहिए। और दूसरी जो आसुरी सम्पत्ति है, वह जीवोंको जकड़नेवाली मोह रूपी लोहेकी शृंखला ही है। कदाचित् तुम यह सुनकर अपने मनमें डर जाओ। परन्तु हे अर्जुन, भला दिनको रातसे डरनेकी क्या आवश्यकता है? जो लोग ऊपर बतलाये हुए छओ दोषोंको अपने आपमें आश्रय देते हैं, केवल उन्हींको यह आसुरी सम्पत्ति बाँध सकती है। परन्तु हे अर्जुन, तुम तो उस दैवी सम्पत्तिके गुणोंके साक्षात् पुतले ही हो, जिसका मैंने अभी वर्णन किया है। इसलिए हे पार्थ, तुम इस दैवी सम्पत्तिके धनी होकर कैवल्यवाली अवस्थाका सुख प्राप्त कर लो।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥ ६ ॥

"दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यके व्यवहारका प्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है। जिस प्रकार रातके समय निशाचर लोग विचरण करते हैं और दिनके समय मनुष्य व्यवहार करते हैं, ठीक उसी प्रकार ये दैवी और आसुरी सृष्टियाँ भी अपनी अपनी रीतिके अनुसार व्यवहार करती रहती हैं। उनमेंसे इस ग्रन्थमें पहले ज्ञान-कथाका और तब दूसरे प्रकरणोंमें दैवी सम्पत्तिका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अब मैं आसुरी सृष्टिके सम्बन्धमें तुम्हें सब बातें बतलाता हूँ। तुम अच्छी तरह इन बातोंकी ओर ध्यान दो। जिस प्रकार वाद्यके बिना कभी किसीको नाद नहीं सुनाई देता, अथवा बिना फूलके शहद नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार जब तक कोई मनुष्य इस आसुरी प्रकृतिके वशमें नहीं होता, तब तक यह सृष्टि अकेली कभी दिखाई नहीं देती। परन्तु जब कभी कोई मनुष्य इसके चंगुलमें फँस जाता है, तब वह भी उसके शरीर पर उसी तरह मनमाना राज्य करती हुई दिखाई देती है, जिस प्रकार अग्नि लकड़ीको व्याप्त कर लेती है। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार ऊखके बढ़नेसे उसके अन्दरका रस भी बढ़ता है, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि उस प्राणीके शरीरके बढ़नेसे इस आसुरी सृष्टिकी भी वृद्धि होती है। अब हे अर्जुन, मैं तुमको उस प्राणीके लक्षण बतलाता हूँ जिस पर इस आसुरी दोष-मंडलीका आक्रमण होता है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥

"इस प्रकारके विचारके सम्बन्धमें कि "पुण्य कृत्योंकी ओर प्रवृत्ति होनी चाहिए और पाप कृत्योंकी ओर निवृत्ति होनी चाहिए", उसके मनमें घोर अन्धकार भरा रहता है। जिस प्रकार कोएके अन्दर पड़ा हुआ रेशमका कीड़ा न तो उसके बाहर निकलनेका

ही विचार करता है और न कहीं अन्दर जानेका ही, बल्कि जहाँका तहाँ बन्द पड़ा रहना चाहता है, अथवा जिस प्रकार कोई मूर्ख अपनी सारी पूँजी किसी चोरको सौंप देता है और इस बातका कुछ भी विचार नहीं करता कि अगर इसके हाथमें मैं अपनी सारी सम्पत्ति दे दूँगा तो वह सम्पत्ति मुझे वापस मिलेगी या नहीं, उसी प्रकार आसुरी लोग प्रवृत्ति और निवृत्तिका कुछ भी विचार नहीं करते, और शौच अर्थात् शुद्धता तो उनमें नामको या स्वप्नमें भी नहीं होती। सम्भव है कि कोयला कभी अपना कालापन छोड़ दे, कौआ भी कदाचित् सफेद हो जाय और राक्षसका मन भी मांसकी ओरसे कभी हट जाय, परन्तु ये आसुरी प्राणी कभी शौच या शुद्धताको स्वीकार नहीं करते। शराब रखनेका बरतन जैसे कभी पवित्र नहीं हो सकता, उसी प्रकार हे अर्जुन, ऐसे लोग भी कभी पवित्र-नहीं हो सकते। शास्त्रोक्त विधि-विधानोंके प्रति अनुराग अथवा बड़ोंका अनुकरण करनेकी इच्छा अथवा शुद्ध आचारकी बात कभी उनके यहाँ हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार बकरी चारों ओर मनमाना चरती रहती है अथवा वायु स्वेच्छापूर्वक इधर-उधर बहती रहती है। अथवा अग्नि जो कुछ पाती है, वह सब जला डालती है, उसी प्रकार ये आसुरी प्रकृतिके लोग भी कुमार्गमें बराबर आगे ही बढ़ते जाते हैं और बराबर नंगे होकर नाचते हैं और सत्यके साथ सदा बैर ठानते रहते हैं। यदि बिच्छू कभी अपने डंकसे केवल गुदगुदा सकता हो, तभी ये आसुरी लोग भी सत्य बात कह सकते हैं। अथवा यदि अपान वायुमेंसे कभी सुगन्ध निकल सकती हो, तभी इन आसुरी लोगोंमें सत्य भी दिखाई दे सकता है। और फिर वे आसुरी लोग चाहे इस प्रकारका कोई काम न भी करें, तो भी वे स्वभावतः बहुत ही नष्ट होते हैं। उनकी बातोंकी कुछ विलक्षणता मैं तुमको बतलाता हूँ। यदि सच पूछो तो ऊँटका ऐसा कौन-सा अवयव है जो अच्छा कहा जा सके? ठीक वही बात इन आसुरी पुरुषोंके सम्बन्धमें भी है। परन्तु फिर भी प्रसंगके अनुसार मैं तुम्हें इनकी कुछ बातें बतला देता हूँ। ध्यानपूर्वक सुनो। जिस प्रकार धूआँ निकालनेवाली चिमनीके मुँहसे बराबर धूएँके भभके ही निकलते हैं, उसी प्रकार इन लोगोंके मुँहसे जिस प्रकारकी बातें निकलती हैं, वह मैं तुम्हें बतलाता हूँ।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥

"यह विश्व अनादि है और ईश्वर इनका नियमन करनेवाला सत्ताधीश है और इस सिद्धान्तका निर्णय वेदोंने खुले आम कर दिया है। वेद जिन्हें दोषी बतलाते हैं, उन्हें नरक-भोगका दंड मिलता है; और वे जिन्हें न्यायी ठहराते हैं, वे स्वर्गमें जाकर सुखपूर्वक रहते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकारकी इस विश्वकी जो अनादि-सिद्ध व्यवस्था है, उसे ये आसुरी लोग बिलकुल नहीं मानते। वे कहते हैं कि ये सब बातें बिलकुल झूठ हैं। साथ ही वे लोग यह भी कहते हैं कि मूर्ख याज्ञिक लोग यज्ञोंके फेरमें पड़े रहते हैं, देवताओंके फेरमें पड़े हुए लोग प्रतिमाओंका पूजन आदि करते रहते हैं और भगवे वस्त्र पहननेवाले जोगड़े समाधिकी कल्पनाओंमें गोते खाते रहते हैं। परन्तु इस संसारमें जो कुछ मनुष्यके हाथमें आ जाय, उसका उसे स्वयं अपने साहसके आधार पर भोग करना

चाहिए। इसके सिवा दूसरा और कौन-सा पुण्य-कृत्य हो सकता है? अथवा यदि अपनी अशक्तताके कारण हम भिन्न भिन्न विषयोंका अपने सुख-भोगके लिए संग्रह न कर सकें और इसी कारण यदि हम विषय-सुखोंके लिए विकल रहते हों तो यही वास्तविक पाप है। यह ठीक है कि धनवानोंकी हत्या करना पाप है; परन्तु उनकी सारी सम्पत्ति, जो हमारे हाथ लगती है, वह क्या पुण्यका फल नहीं है? यदि यह कहा जाय कि बलवानोंका दुर्बलोंको खाना निषिद्ध है, तो देखो कि सभी बड़ी बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियोंको निगल जाती हैं। परन्तु फिर भी वे बड़ी मछलियाँ निस्सन्तान क्यों नहीं होतीं? इसी प्रकार लोग कुल और गोत्रको खूब अच्छी तरह छान-बीन करके शुभ मुहूर्तमें छोटे छोटे लड़कों और लड़कियोंका विवाह करते हैं। परन्तु यदि विवाहका उद्देश्य केवल प्रजाकी उत्पत्ति करना ही हो तो पशु-पक्षी आदि जो प्राणी-वर्ग हैं और जिनकी सन्तानकी गणना ही नहीं हो सकती, वे किस शास्त्रोक्त विधिसे विवाह करते हैं? चाहे बिलकुल चोरीका ही द्रव्य क्यों न हो, परन्तु फिर भी क्या वह किसीके लिए विष सिद्ध होता है? कुछ यह बात तो है ही नहीं कि यदि प्रीतिपूर्वक पराई स्त्रीके साथ सम्भोग किया जाय तो मनुष्यको कुष्ट रोग हो जाता हो। लोग प्रायः कहा करते हैं कि ईश्वर सबका नियन्ता है, वही जीवोंको धर्म और अधर्मके फलोंका भोग कराता है और इस लोकमें जिस प्रकारका आचार किया जाता है, उसी प्रकारका भोग परलोकमें प्राप्त होता है। परन्तु यदि ये सब सिद्धान्त ठीक मान लिये जायँ तो परलोक तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। और न कहीं देवता ही दिखाई देते हैं। इसलिए ये सभी बातें मिथ्या हैं। और फिर जब शुभ और अशुभ कर्म करनेवाले कर्त्ताका ही कहीं अस्तित्व नहीं रह जाता, तो फिर कर्मोंके फलका भोग कहाँ रह जाता है? स्वर्ग लोकमें जिस प्रकार इन्द्र उर्वशीके सहवासमें अपने आपको धन्य मानता है, उसी प्रकार मोरीमें पड़ा हुआ कीड़ा भी अपने आपको धन्य समझता है। इसलिए यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि स्वर्ग और नरक पुण्य तथा पापसे प्राप्त होते हैं, क्योंकि दोनों ही स्थानोंमें काम वासना समान रूपसे सन्तुष्ट होती है। काम-वासनासे जब स्त्री और पुरुष अथवा नर और मादाकी संगति होती है, तब सब जीवोंका जन्म होता है। और पारस्परिक लोभके कारण स्वार्थ बुद्धिसे काम-वासना जिन जिनका पोषण करती है, उन्हींका अन्तमें, पारस्परिक द्वेषके कारण, स्वार्थी काम-वासना ही नाश भी करती है। और इस प्रकार काम-वासनाके सिवा इस संसारका और कोई मूल आधार ही नहीं है। बस इसी प्रकारकी बकवाद ये आसुरी लोग किया करते हैं। परन्तु ये बातें यथेष्ट हो चुकीं। इस प्रकारकी निन्दनीय और घृणित बातें उल्टी-सीधी रीतिसे उच्चारण करनेके कारण वाणीको अकारण कष्ट ही होता है।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥

"इस प्रकार ईश्वरके साथ द्वेष होनेके कारण ये आसुरी लोग व्यर्थ ही जबानी बकवाद करते हैं; परन्तु फिर भी यह पता नहीं चलता कि उनके मनमें कोई एक बात निश्चित रूपसे बैठी है या उनका कोई एक सिद्धान्त है। ये लोग खुल्लम-खुल्ला पाखंड खड़ा करके

जीवोंके शरीरमें नास्तिकताकी हड्डी चुभाकर एक निन्दनीय बस्ती खड़ी कर देते हैं। ऐसी अवस्थामें स्वर्गके प्रति आदर-भाव और नरकके भयवाली मनोवृत्तिका अंकुर ही जल-कर भस्म हो गया है। और फिर हे सखे अर्जुन, वे आसुरी लोग इस गन्दे पानीके गड्डे के समान शरीरमें फँसकर विषयोंके कीचड़में फँसे हुए दिखाई देते हैं। जिस प्रकार किसी जलाशयके जलके सूख जाने पर उसमें रहनेवाली मछलियोंकी मृत्यु समीप देखकर धीवर आदि उस जलाशय के पास आकर एकत्र हो जाते हैं अथवा शरीर-पातका समय आने पर अनेक प्रकारके रोग सिर उठाकर खड़े हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार विनाश करनेके लिए धूमकेतुका उदय होता है, उसी प्रकार लोगोंका संहार करनेके लिए वे आसुरी लोग जन्म ग्रहण करते हैं। जब अमंगलका बीज बोया जाता है, तब उसमेंसे ये आसुरी मनुष्य रूपी अंकुर उत्पन्न होते हैं, बल्कि इन्हें पापके चलते-फिरते स्तम्भ ही सम-झना चाहिए। जिस प्रकार आग जब एक बार अपना जलानेका काम आरम्भ कर देती है, तब आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखती, उसी प्रकार ये लोग भी मनमाना और नीति-विरुद्ध आचरण करनेके समय किसी बातका कुछ भी विचार नहीं करते। पर अब यह भी सुन लो कि अपने उसी निन्दनीय आचरणका वे लोग कितने अभिमानके साथ अभि-नन्दन और उसकी प्रशंसा करते हैं।" बस यही बातें भगवान लक्ष्मी-पतिने अर्जुनसे कही थीं।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

इससे आगे श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन, चाहे कितना ही पानी क्यों न हो, पर उससे जाल कभी भरा नहीं जा सकता; और आग में चाहे कितना ही अधिक ईंधन क्यों न डाला जाय, परन्तु उसके जलानेके लिए कुछ भी यथेष्ट नहीं होता। इस प्रकार जिनका कभी पेट नहीं भरता, उनमें जो सबसे बढ़कर माना जा सकता है, उस काम को, हे अर्जुन, ऐसे लोग अपने कलेजेसे लगाये रखते हैं और अपने चारो ओर ढोंग तथा अहं-मन्यताकी राशि एकत्र करते चलते हैं। फिर मस्त हाथीको शराब पिलानेसे उसकी जो अवस्था हो जाती है, ठीक वही अवस्था ऐसे लोगोंकी भी होती है; और ज्यों-ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती है और वे वृद्ध होते जाते हैं, त्यों-त्यों उनका अभिमान भी बढ़ता जाता है। ऐसे लोगोंमें एक तो पहलेसे ही दुराग्रह रहता है; तिस पर उस दुराग्रहकी सहायताके लिए मूर्खता भी आ पहुँचती है। फिर भला उनकी हठवादिताकी लीलाका कहाँ तक वर्णन हो सकता है! जिन कामोंसे दूसरोंको पीड़ा होती है और जिनसे दूसरे जीवोंकी धज्जियाँ उड़ जाती हैं, उन कामोंमें ऐसे लोग जन्मसे ही बहुत अधिक पटु होते हैं। फिर ऐसे पराक्रमका ये लोग स्वयं ही अपने मुँहसे चारो ओर ढिंढोरा फेरते रहते हैं और सारे संसारको तुच्छ समझते हैं। वे दसो दिशाओंमें अपनी वासनाओंके खूब लम्बे-चौड़े जाल फैलाते हैं। जिस प्रकार कोई खुली हुई गौ चारो ओर घूम-घूमकर जो कुछ सामने आता है, वही खाती फिरती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी अपने स्वेच्छा-चार और अभिमानके कारण चारो ओर पापोंकी समान रूपसे वृद्धि करते रहते हैं।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

"ऐसे लोगोंके समस्त व्यवहार बस एक इसी नीतिके अनुसार होते हैं । पर साथ ही उन्हें इस बातकी चिन्ता भी लगी रहती है कि मरनेके उपरांत क्या होगा । ये आसुरी प्रकृतिवाले लोग उस अघोर चिन्ताको निरन्तर बढ़ाते रहते हैं जो पातालसे भी बढ़कर गहरी और आकाशसे भी बढ़कर ऊँची होती है, जिसके साथ तुलना करते समय विश्व भी परमाणुके समान जान पड़ता है, जो भोग-रूपी वज्रके तारोंको नापकर जीव को अपरिमित कष्ट देती है और जो अपने जीव रूपी प्रेमीको मरण-काल तक भी छोड़नेका विचार अपने मनमें नहीं आने देती । और वे आसुरी लोग निस्सार विषयोपभोगका शौक अपने मनमें लगा लेते हैं । वे लोग स्त्रियोंके गीत सुनना चाहते हैं, उनका सौन्दर्य अपने नेत्रोंसे देखना चाहते हैं, उन्हें गाढ़ आलिंगन करना चाहते हैं और अमृतको भी उनके ऊपरसे निछावर कर देना चाहते हैं । तात्पर्य यह कि वे अपने मनमें यह सिद्धांत स्थिर कर लेते हैं कि स्त्रियोंसे बढ़कर और किसी पदार्थमें वास्तविक सुख नहीं है; और तब उस स्त्री-भोगके लिए वे संसार भरके उलटे-सीधे व्यापार करते हैं और दिगन्त, पाताल तथा स्वर्ग सभीकी सीमाओंके बाहर दौड़ते फिरते हैं ।

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान् ॥ १२ ॥

"जिस प्रकार मछली केवल लालचके कारण बिना आगा-पीछा विचारे काँटेमें लगा हुआ माँस निगल जाती है, ठीक उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी बिना विचारे सदा विषय-वासनाओंके फेरमें पड़े रहते हैं । जब इन्हें वांछित विषय नहीं मिलता, तब ये लोग कोयेके अन्दर बन्द रहनेवाले रेशमके कीड़ेकी तरह बैठे हुए कोरी आशाओंके ही ताने तनते रहते हैं— मनमें तरह तरहके बाँधनू बाँधते रहते हैं । और जब वासनाकी तृप्ति नहीं होती, तब वही वासना द्वेषका रूप धारण कर लेती है । सारांश यह कि ऐसे लोगोंके लिए काम और क्रोध आदिके अतिरिक्त जीवनका और कोई कर्त्तव्य ही बाकी नहीं रह जाता । हे अर्जुन, जिस प्रकार थाने या चौकीका पहरेदार दिन भर तो फेरे लगाता रहता है और रातके समय जागकर रखवाली करता है और दिन या रातमें किसी समय वह यह जानता ही नहीं कि आरामसे और निश्चिन्त होकर बैठना कैसा होता है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी जब काम-वासनाके कारण एक बार ऊँचाई परसे नीचे गिरा दिये जाते हैं, तब ये क्रोधकी पहाड़ी पर आ पड़ते हैं; और तब उनमें राग-द्वेष आदि विषयोंके सम्बन्धमें जो प्रेम होता है, वह इतना बढ़ जाता है कि सारे विश्वमें भी नहीं समा सकता । और फिर मनकी हाहीके कारण यदि अनेक प्रकारकी विषय-वासनाओंके मन्सूबे बाँधे जायँ तो भी विषयोंका प्रत्यक्ष उपभोग करनेके लिए द्रव्य चाहिए या नहीं ? इसीलिए विषयोंका उपभोग करनेके लिए जिस धनकी आवश्यकता होती है, वह धन प्राप्त करनेके लिए आसुरी लोग संसारमें अनेक प्रकारके उपद्रव और उत्पात करने लगते हैं । वे लोग किसीको धोखा देकर उसकी जान ले लेते हैं, किसीका सर्वस्व लूट लेते

हैं और किसीका अपकार करनेके लिए अनेक प्रकार के यन्त्र-तन्त्रोंकी रचना करते हैं । जिस प्रकार वनमें शिकार करनेके लिए जानेके समय पारधी लोग अपने साथ जाल, फन्दे, कुत्ते, बाज, बाँसकी कमचियाँ और खोंचे आदि सब सामान ले जाते हैं, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी दूसरोंको फँसानेके लिए अपने साथ इसी तरहका साज-सामान लेकर निकलते हैं । जिस तरह पारधी लोग अपना पेट भरनेके लिए अनेक प्रकारके अघोर पाप-कर्म करते हैं, उसी तरह ये लोग दूसरोंके प्राणोंका घात करके धन कमाते हैं; और इस प्रकार मिले हुए धनसे इन्हें कितना अधिक आनन्द होता है !

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

"आसुरी पुरुष कहता है—"मैंने बहुतोंकी सम्पत्ति अपने हाथमें कर ली है, इसलिए मैं धन्य हूँ या नहीं ?' इस प्रकार वह ज्यों ज्यों आत्म-श्लाघाके क्षेत्रमें प्रवेश करता है, त्यों त्यों उसका मन उस आत्म-श्लाघाके मार्गमें और भी अधिक बढ़ने लगता है, और तब वह कहने लगता है—'अब देखना है कि और कौन मेरे फन्देमें फँसता है और किसका माल मुझे मिलता है ! अब तक जो कुछ मिला है, वह सब तो मेरा हो ही चुका है । अब ऐसा उपाय करना चाहिए कि इसी पूँजीके सहारे सारे चराचरका मुझे लाभ हो । इस नीतिके द्वारा मैं सारे विश्वकी सम्पत्तिका स्वामी बन जाऊँगा । और तब जो कुछ मेरी दृष्टिमें आवेगा, उसे बिना अपने पंजेमें लाये मैं न मानूँगा ।"

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥

"मैंने अभी तक जितने वैरियोंकी हत्या की है, वह तो कुछ भी नहीं है । मैं अभी इनसे भी बहुत अधिक वैरियोंको मारूँगा । और तब इस सारे संसारमें केवल मेरी ही कीर्त्तिका राज्य रहेगा । फिर जो लोग मेरी आज्ञामें रहकर मेरा काम करेंगे, उन्हें छोड़कर बाकी और सब लोगोंकी मैं हत्या कर डालूँगा । जिसे लोग चराचर ईश्वर कहते हैं, वह मैं ही हूँ । इस सुख-भोग रूपी पृथ्वीका चक्रवर्ती राजा मैं ही हूँ और सब सुखोंका आगर भी मैं ही हूँ । मेरे सामने इन्द्र भी कोई चीज नहीं है । मैं मन, वाणी अथवा शरीरसे जो काम करनेके लिए उद्यत हो जाऊँगा, फिर भला यह कभी हो सकता है कि वह काम पूरा न उतरे ? भला मेरे सिवा और ऐसा कौन है जिसमें आज्ञा करनेकी शक्ति हो ? जब तक मुझसे काम नहीं पड़ता, तब तक काल भी भले ही अपने बलका अभिमान किया करे । यदि कोई सुखकी राशि है तो वह मैं ही हूँ ।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥

'यह ठीक है कि कुबेर सम्पन्न है, परन्तु फिर भी वह कभी मेरी बराबरी नहीं कर सकता । जितनी सम्पत्ति मेरे पास है, उतनी स्वयं लक्ष्मी-पतिके पास भी नहीं है । यदि मेरे कुलके महत्व और मेरे नाते-रिश्तेके विस्तारका विचार किया जाय तो प्रजापति ब्रह्मा भी मेरे सामने तुच्छ ही सिद्ध होंगे । इसी लिए ईश्वर आदि नामोंके महत्वका

बखान करनेवाले सब लोग वाहियात हैं। उनमेंसे किसीमें भी मेरे समान योग्यता नहीं है। आज-कल जारण, मारण आदि घातक मन्त्र-तन्त्रोंका लोप हो गया है, इसलिए उनका उद्धार करके मैं जीवोंको पीड़ा देनेवाले यज्ञ-याग आदि करूँगा। जो लोग मेरी प्रशंसाके गीत गावेंगे और नाचकर मेरा मनोरंजन करेंगे, वे जो कुछ माँगेंगे, वही मैं उन्हें दूँगा। मैं अनेक प्रकारके मादक खाद्य तथा पेय पदार्थोंका सेवन करूँगा और स्त्रियोंके साथ गाढ़ आलिंगनमें मग्न होकर तीनों लोकोंमें आनन्दपूर्वक विलास करूँगा।' हे अर्जुन, ऐसे लोगोंकी इस प्रकारकी बातें कहाँ तक बतलाई जायँ! आसुरी वृत्तियोंके फेरमें पड़े हुए ये पिशाच अपने मनमें बड़ी बड़ी आशाएँ रखकर काल्पनिक आकाश-पुष्पोंकी सुगन्ध लेना चाहते हैं।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

"जिस प्रकार ज्वरके वेगके कारण रोगी यों ही बहुत-सी बातें बड़बड़ाया करता है, उसी प्रकार ये लोग भी संकल्प-विकल्पकी लहरोंमें पड़े हुए कुछ न कुछ बकते रहते हैं। ऐसे लोगों पर अज्ञानकी बहुत अधिक धूल पड़ी रहती है और ये आशाकी आँधीमें पड़कर वासनाके आकाशमें खूब चक्कर लगाते रहते हैं। परन्तु जिस प्रकार आषाढ़ मासके मेघोंकी कोई गिनती नहीं होती अथवा जिस प्रकार समुद्रकी लहरें कभी खंडित नहीं होतीं, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी अपने मनमें असंख्य कामनाओंके किले बनाते रहते हैं। फिर ऐसे जीवोंमें कामनाओंकी बेलोंके बहुत-से समूह बन जाते हैं; और जिस प्रकार काँटों पर पड़कर कमलके दल क्षत-विक्षत हो जाते हैं अथवा हे, अर्जुन जिस प्रकार पत्थर पर पटककर कोई घड़ा तोड़ा जाता है, उसी प्रकार ये जीव कामनाओंके फेरमें पड़कर छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार बढ़ती हुई रातमें अन्धकार बराबर बढ़ता ही जाता है, उसी प्रकार इन असुरोंके अन्तःकरणमें मोह भी बराबर बढ़ता जाता है। और ज्यों ज्यों उनमें मोह बढ़ता है, त्यों त्यों विषयोंके प्रति उनका अनुराग भी बढ़ता जाता है; और जहाँ विषयोंके प्रति अनुराग हुआ, वहाँ पातक आपसे आप आकर एकत्र हो जाते हैं। और जब पातक बलवान हो जाते हैं और उनकी बहुत अधिकता हो जाती है, तब मनुष्यको इसी जीवनमें नरक-वासका अनुभव होने लगता है। इसलिए हे अर्जुन, जो दुष्ट वासनाओंका लालन-पालन करके उनकी वृद्धि करते हैं वे आसुरी पुरुष अन्तमें कहाँ रहनेके लिए जाते हैं? वे लोग अन्तमें ऐसे स्थानमें जाकर निवास करते हैं, जहाँ ऐसे वृक्ष होते हैं जिनके पत्ते तलवारकी तरह तेज धारोंवाले होते हैं, जहाँ खैरके अंगारोंके पर्वत दिखाई देते हैं और जहाँ खौलते हुए तेलके समुद्र लहराते रहते हैं। ऐसे आसुरी लोग उस भयंकर नरक-में जाकर निवास करते हैं, जहाँ सदा यातनाओंकी परम्परा लगी रहती है, जहाँ यमराज लोगोंको नित्य नये-नये दंड देते रहते हैं। परन्तु ऐसे नरकके बिलकुल मुख्य भागमें जो लोग जन्म लेते हैं, हे अर्जुन, वे लोग भी अपनी भ्रान्तिपूर्ण अवस्थामें यज्ञ-याग आदि करते हुए दिखाई देते हैं। यदि वास्तवमें देखा जाय तो, हे अर्जुन, यज्ञ-याग

आदि समस्त विधि-विधान जिस प्रकार होने चाहिएँ, उसी प्रकार होते हैं, परन्तु ये आसुरी लोग नाटकोंकी तरह ढोंग रचकर उन विधि-विधानोंको भी नष्ट कर देते हैं।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

"जिस प्रकार कोई वेश्या किसी यारके आश्रयमें रहकर व्यर्थ ही अपने आपको सौभाग्यवती समझकर सन्तोष करती है, उसी प्रकार ये आसुरी लोग भी स्वयं ही अपने महत्त्वकी स्थापना करके मारे अभिमानके विलक्षण रूपसे फूल उठते हैं। फिर ढाले हुए लोहेके खम्भे या आकाशमें उठे हुए पर्वतके समान वे कभी नीचेकी ओर झुकना जानते ही नहीं। अपनी सज्जनता उन्हें ऐसी अच्छी जान पड़ती है कि वे सारे संसारको तृणसे भी बढ़कर तुच्छ समझते हैं। इसके सिवा, हे अर्जुन, उन्हें धनका इतना अधिक लोभ ग्रस लेता है कि वे कभी भूलकर भी इस बातका विचार नहीं करते कि उचित क्या है और अनुचित क्या है। और जिसमें इस प्रकारकी वृत्ति बलवती हो, वह भला यज्ञ क्यों करने लगा! परन्तु इस बातका कोई नियम ही नहीं होता कि ये आसुरी पिशाच क्या करेंगे और क्या नहीं करेंगे। इसी लिए कभी कभी मूर्खताके फेरमें पड़कर ये लोग यज्ञोंका स्वाँग रचनेका भी विचार करते हैं। परन्तु इनके यज्ञके लिए न तो कुंडकी हो, न मंडपकी ही और न वेदीकी ही आवश्यकता होती है। उन्हें यज्ञके लिए उपयुक्त साधनोंकी भी आवश्यकता नहीं होती और शास्त्रोक्त विधि-विधानोंसे तो मानों उनका सदा ही वैर रहता है। यदि कहीं इनके कानोंमें देवताओं या ब्राह्मणोंके नामकी भनक भी पड़ जाय तो उसे भी ये लोग सहन नहीं कर सकते। फिर भला ऐसी अवस्थामें इनके यज्ञोंके फेरमें कोई देवता या ब्राह्मण कहाँसे आ सकता है? लेकिन तो भी जिस प्रकार मरे हुए बछड़े-की खालमें भूसा भरकर और उसे गौके सामने खड़ा करके चतुर लोग उसका दूध दुहते हैं, उसी प्रकार ये आसुरी पुरुष भी लोगोंको निमन्त्रण देकर बलपूर्वक अपने यज्ञोंमें ले आते हैं और उनसे भेंट या उपहार लेकर उन्हें व्यर्थ ही खर्चमें डालते हैं। इस प्रकार ऐसे आसुरी लोग कभी कभी अपने लोभीपनके कारण होम करते हैं और उसमें अनेक जीवोंका सत्तानाश करनेकी वासना करते हैं।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥

"फिर ये आसुरी लोग अपने आगे बाजे-गाजे लेकर चलते हैं और व्यर्थ ही चारों तरफ यह पुकार मचाते फिरते हैं कि "हम दीक्षित हुए हैं।" उस समय इन दुष्टोंका अपने महत्त्वका अभिमान शिखर पर जा पहुँचता है। जिस प्रकार अन्धकारको कालिमा-के पुट दिये जाने पर वह कालिमा और भी अधिक उग्र हो जाती है, उसी प्रकार उनकी मूर्खता और भी अधिक घनीभूत हो जाती है, उनकी उद्धतता शिखर पर जा पहुँचती है, अहंकार दूना हो जाता है और अविवेककी भी इसी प्रकार वृद्धि होती है। फिर मानों दूसरे किसीका नाम भी बाकी न रहने देनेके लिए उनकी बलिष्ठताको एक नवीन बल प्राप्त होता है। जब इस प्रकार अहंकार और बलका संयोग हो जाता है, तब उनके अभि-

मानका समुद्र मर्यादाको पार करके उसके बाहर निकल जाता है। जब इस प्रकार गर्वकी बहुत अधिक वृद्धि होने लगती है, तब कामका पित्त भी खूब प्रबल होता है और उसके कारण क्रोधाग्नि एक दमसे भड़क उठती है। फिर जिस प्रकार बहुत कड़ी गरमी-के दिनोंमें घी और तेलके भांडारमें भीषण आग लगे और उसी समय खूब जोरोंकी हवा भी चलने लगे, ठीक उसी प्रकार जब इन आसुरी लोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है और उनका अहंकार काम तथा क्रोधसे युक्त हो जाता है और इस प्रकार इन सबका संयोग हो जाता है, तब भला वे लोग मनमानी हिंसा करनेमें आगा-पीछा क्यों करने लगे? हे अर्जुन, फिर ऐसे यज्ञकर्त्ता आसुरी लोग सबसे पहले जारण, मारण आदि प्रयोग सिद्ध करनेके लिए स्वयं अपने ही रक्त और मांसका व्यय करने लगते हैं। फिर वे जीवित शरीर जलाते हैं और इस कृत्यसे इस शरीरमें रहनेवाला जो मैं हूँ, उस मुझ आत्म-तत्वको विलक्षण ताप पहुँचाते हैं। और ये जारण, मारण करनेवाले अभिचारक जिनको पीड़ा पहुँचाते हैं, उन सबमें मैं ही चैतन्य रूपसे रहता हूँ, इसलिए उन सब उपद्रवों-का कष्ट मुझको ही होता है। और जो लोग दैवयोगसे उनके अभिचारोंके जालसे बच जाते हैं, वे लोग उनकी दुष्ट निन्दाके पत्थरोंकी वर्षासे विकल होते हैं (अर्थात् वे लोग उनकी निन्दा करके उन्हें कष्ट पहुँचाते हैं)। सती, पतिव्रता, साधु, सन्त, दाता, याज्ञिक, लोकोत्तर तपस्वी, संन्यासी, महात्मा, भक्त आदि मेरे परम प्रिय विषय हैं; और इन्हीं लोगोंके आचरण करनेसे समस्त श्रौत, स्मार्त्त आदि क्रियानुष्ठान पवित्र होते हैं। परन्तु ये आसुरी लोग उन सज्जनों पर भी द्वेषके भयंकर विषसे बुझे और तीक्ष्ण किये दुःशब्द रूपी तीक्ष्ण बाणोंका प्रहार करते हैं।

तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

"अच्छा, अब यह सुनो कि इस प्रकार सभी तरहसे जो लोग मेरे साथ वैर करते हैं, उसकी मैं किस प्रकार व्यवस्था करता हूँ। ये लोग मानव शरीरके धागेका आश्रय लेकर सारे संसारके साथ ला-परवाहीके साथ व्यवहार करते हैं, इसलिए मैं उनकी ऐसी गति करता हूँ कि क्लेश रूपी गाँवका सारा कूड़ा-करकट जहाँ इकट्ठा होता है, और संसार रूपी नगरका सारा गन्दा जल जहाँ बहकर जाता है, उसी स्थानकी तामस योनियोंमें मैं इन मूढ़ोंको रखता हूँ। फिर जिस स्थान पर आहारके लिए तृण तक नहीं उगता, उस उजाड़ वनमें मैं उन्हें बाघ अथवा बिच्छूकी योनिमें उत्पन्न करता हूँ। उस समय भूखसे व्याकुल होकर वे लोग स्वयं अपने ही शरीरका मांस नोच नोचकर खाते रहते हैं और बार बार मरकर वही जन्म फिरसे धारण करते रहते हैं। अथवा मैं उन्हें उस साँपका जन्म देता हूँ जो स्वयं अपने ही विषकी आँचसे स्वयं अपने ही शरीरकी त्वचा जलाता है, और उन्हें बिलोंमें बन्द कर रखता हूँ। अन्दर खींचा हुआ श्वास बाहर निकालनेमें जितना समय लगता है, उतना समय भी मैं कभी इन दुष्टोंको विश्राम करनेके लिए नहीं देता; और उतने अनन्त काल तक मैं इन क्लेशोंसे उन्हें छुटकारा नहीं देता, जिसकी तुलनामें करोड़ों कल्पोंकी संख्या भी कम ही होती है। फिर इन आसुरी लोगोंको अन्तमें जिस

स्थितिमें जाना पड़ता है, उसका यह पहला ही पड़ाव होता है। फिर भला इस पड़ावसे आगे बढ़ने पर भला उन्हें इनसे भी बढ़कर भयंकर दुःख क्यों न भोगने पड़ेंगे।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥२०॥

"इस आसुरी सम्पत्तिके कारण ऐसे लोग इतनी भीषण दुःखमय स्थिति तक पहुँचते हैं। परन्तु इसके उपरान्त व्याघ्र आदिकी तामस योनियोंमें भी विश्राम करनेके लिए शरीरका जो थोड़ा-सा आधार रहता है, उनका वह आधार भी मैं उनसे छीन लेता हूँ और तब वे लोग शुद्ध तमका ही रूप बन जाते हैं और ऐसे घोर तम हो जाते हैं कि यदि वे कालिखके साथ भी लग जायँ तो वह भी और अधिक काली हो जाय। फिर वे ऐसे घृणित हो जाते हैं कि पापको भी उनसे घृणा होने लगती है, नरक भी उनसे डरता है, स्वयं कष्ट भी उनके कष्ट देखकर मूर्छित हो जाता है, मल भी उनके सम्बन्धसे मलीन हो जाता है, ताप भी उनसे तप्त हो जाता है, महा-भय भी उनसे थरथर काँपने लगता है, पाप भी उनसे घृणा करता है, अमंगल भी उन्हें अमंगलका रूप समझता है और छुआछूत भी उनके संसर्ग-दोषसे डरती है। इस प्रकार ये सारे संसारके अधमोंसे भी बढ़कर अधम आसुरी लोग भिन्न-भिन्न तामस योनियोंमें आकर अन्तमें, हे अर्जुन, प्रत्यक्ष तम ही बन जाते हैं। इन मूर्खोंने भी कैसे नरकोंका साधन किया है! इसका वर्णन करनेमें वाणी भी विकल हो जाती है और मन डरकर पीछे छूट जाता है। जिसके कारण ऐसी भयंकर अधोगति होती है, समझमें नहीं आता कि वही दुष्ट आसुरी सम्पत्ति ये लोग क्यों अपने पास एकत्र करते हैं! इसी लिए, हे अर्जुन, तुम कभी आसुरी सम्पत्तिके रास्ते भी न लगो। जहाँ आसुरी सम्पत्तिके स्वामी रहते हों और जहाँ ऊपर बतलाये हुए दम्भ आदि छओं दोष दिखाई देते हों, वहाँ अपने पैर भी न रखना ही उचित है।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

"जहाँ काम, क्रोध और लोभके त्रिकूटकी प्रबलता हो, वहाँ यह समझना चाहिए कि अमंगलकी ही उपज होती है। हे अर्जुन, समस्त दुःखोंने इन तीनोंका एक ऐसा मार्ग बना रखा है, जिससे चलकर जो चाहे, वही उन दुःखोंके दर्शन कर सकता है—वे दुःख प्राप्त कर सकता है। अथवा पापियोंको नरक-भोगमें ढकेलनेके लिए ही पातकों की यह एक बहुत बड़ी सभा स्थापित हुई है। जब तक अन्तःकरणमें इन तीनोंका संचार नहीं होता, तब तक रौरव नरककी ख्याति पुराणोंमें ही जहाँकी तहाँ पड़ी रहती है। परन्तु ज्योंही इन तीनों दोषों का संचार होता है, त्योंही समस्त अपाय या बुराइयाँ आकर मनुष्यमें लग जाती हैं; और कष्ट तो मानों एक दमसे सस्ते हो जाते हैं और बहुत सहजमें प्राप्त होते हैं। संसारमें लोग जिसे हानि कहते हैं, वास्तवमें वह हानि नहीं है। वास्तविक हानिके रूपमें यही तीनों हैं। हे वीर अर्जुन, अब मैं तुमसे और अधिक क्या कहूँ। समस्त नरकोंमें जो सबसे अधिक भयंकर नरक है, उसका प्रवेश-

द्वार इन्हीं तीनों दोषोंका त्रिशूल है। इस त्रिशंकु अर्थात् तीनों मुखवाले प्रवेश-द्वार पर जो जीव खड़ा रहे, वही नरक-रूपी नगरीके मुख्य सभा-गृहमें प्रवेश करता है। इसलिए हे अर्जुन, मैं बार-बार तुमसे खूब अच्छी तरह कहता हूँ कि काम, क्रोध और लोभके दुष्ट त्रिकूटका सभी अवसरों पर पूर्ण रूपसे परित्याग ही करना चाहिए और उन्हें सदा दूर भगाना चाहिए।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

"जीवको केवल उसी अवस्थामें धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंकी बातें मुँहसे निकालनी चाहिएँ, जब कि वह इन सब दोषोंकी मंडलीको अपनेसे बिलकुल दूर कर दे। जब तक ये तीनों दोष जीवमें जाग्रत रहते हैं, तब तक हमारे कान यह बात नहीं सुन सकते कि उसे सच्चे कल्याणकी प्राप्ति होगी।" बस यही सब बातें श्रीकृष्णदेवने उस समय कही थीं। इसके उपरान्त वे फिर कहते हैं—"जिसके मनमें आत्मके प्रति प्रेम हो और जिसे आत्म-नाशका भय हो, उसे इस मार्गमें कभी नहीं जाना चाहिए। उसे निरन्तर जाग्रत ही रहना चाहिए। जिस प्रकार कोई अपने पेटके साथ पत्थर बाँधकर केवल अपनी भुजाओंके बलसे ही समुद्रको तैर कर पार करना चाहता हो अथवा जीवित रहनेके उद्देश्यसे कालकूट विष पीता हो, उसी प्रकारका वह मनुष्य भी होता है, जो काम, क्रोध और लोभको अपने साथ रखकर अपना कार्य सिद्ध करना चाहता है। इसलिए इन सबका नाम निशान तक मिटा डालना चाहिए। जब यह तीन कड़ियों-वाली शृंखला टूटती है, तभी जीव आत्म-हितके मार्ग पर सुखपूर्वक जा सकता है। जिस प्रकार कफ, पित्त और वातके तीनों दोषोंसे मुक्त शरीर अथवा चुगली, चोरी और छिनालीके त्रिकूटसे अलिप्त रहनेवाला नगर अथवा आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों तापोंसे मुक्त अन्तःकरण सुखी होता है, उसी प्रकार इन तीनों कामादिकोंसे मुक्त जीव भी संसारमें सुखी होता है। और वह मोक्षके मार्ग पर लगकर साधुसन्तोंकी संगति प्राप्त करता है। फिर सत्संगके प्रभावसे और शुद्ध शास्त्रोंकी सहायतासे वह जन्म और मृत्युके पथरीले और उजाड़ जंगलसे बाहर निकल जाता है। फिर उस समय गुरुकी कृपासे उसे वह नगर प्राप्त होता है, जिसमें निरन्तर आत्मा-नन्दका ही राज्य रहता है। वहाँ उस आत्म-स्थिति-रूपी माताके गले लगता है, जो समस्त प्रिय जनोंकी पराकाष्ठा है और उस माताके साथ भेंट होते ही संसारका बजता हुआ नगाड़ा बन्द हो जाता है। इस प्रकार जो पुरुष काम, क्रोध और लोभको अपनेसे बिलकुल दूर और अलग करके और स्वतन्त्र होकर खड़ा होता है, वही इस प्रकारके लाभ-का स्वामी होता है।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

"परन्तु जो आत्म-घातकी पुरुष इन सब बातों पर ध्यान नहीं देता और काम आदि दोषोंमें स्वयं ही अपना सिर डालता है, जो उन महाभाग वेदोंका तिरस्कार करता है, जो सब पर समान रूपसे कृपा-दृष्टि रखनेवाले हैं और सबका हित तथा अहित स्पष्ट रूपसे दिखलानेवाले दीपकके ही समान हैं, जो विधि और निषेधका ध्यान नहीं रखता, जिसे आत्म-प्राप्तिका अनुराग नहीं होता, जो केवल इन्द्रियोंका ही लालन-पालन करता रहता है, जो सदा काम आदिके ही फेरमें पड़ा रहता है और उनका कहना कभी नहीं टालता और जो स्वेच्छापूर्ण आचरणके वनमें अन्धा होकर प्रवेश करता है, उसे मुक्ति रूपी नदीका जल कभी चखनेको नहीं मिलता। सारा श्रम दूर करनेवाली यह मुक्ति रूपी नदी उसे कभी स्वप्नमें भी नहीं दिखाई देती। ऐसे मनुष्यके पारलौकिक कल्याणकी तो बात ही मुँहसे नहीं निकालनी चाहिए, परन्तु उसे केवल लौकिक भोग भी भोगनेके लिए नहीं मिलते। जैसे कोई ब्राह्मण मछलीके लोभमें पड़कर उसे पकड़नेकी आशासे पानीमें गोता लगाता है, पर वहाँ भी उसके हाथ कुछ नहीं लगता और स्वयं उसके प्राण जानेकी नौबत आ जाती है, वैसे ही जो मनुष्य केवल विषयभोगके लोभसे पर-लोक साधनका प्रयत्न करता है, उस पर उस प्रयत्नके होते रहनेकी ही अवस्थामें मृत्यु अचानक आकर छापा मारती है और उसे खींचकर दूसरी ओर ले जाती है। उसे न तो परलोकके स्वर्ग-भोगकी ही प्राप्ति होती है और न इस लोकका विषय-भोग ही प्राप्त होता है। फिर भला उसे मोक्ष प्राप्त होनेकी बात कहाँ रह जाती है! इसलिए जो पुरुष विषय-भोगकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है, वह ऐहिक विषयोंसे भी और स्वर्ग सुखसे भी वंचित हो जाता है और उसका उद्धार कभी नहीं होता।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥२४॥

"इसलिए भाई अर्जुन, जिन लोगोंके मनमें स्वयं अपने ऊपर दया उत्पन्न हो और जिन लोगोंके अन्तःकरणमें यह बात लग गई हो कि हमें आत्म-हितका साधन करना चाहिए, उन्हें वेदोंके वचनोंका कभी अनादर नहीं करना चाहिए। जिस प्रकार अपने पतिकी इच्छाके अनुसार आचरण करनेवाली पतिव्रता स्त्री आपसे आप अपने कल्याण-का साधन करती है अथवा जिस प्रकार कोई शिष्य अपने गुरुके वचनोंका अच्छी तरह ध्यान रखकर आत्म स्वरूपमें स्थान प्राप्त करता है अथवा जिस प्रकार अँधेरे स्थानमें छिपाकर रखा हुआ अपना धन फिरसे प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला पुरुष प्रकाश करनेके लिए बहुत तत्परतापूर्वक दीपक लाकर सामने रखता है, उसी प्रकार जो लोग चारों पुरुषार्थोंके धनी होना चाहते हों, उन्हें श्रुतियों और स्मृतियोंको शिरसा वन्द्य मानना चाहिए। शास्त्रोंने जिसे निषिद्ध बतलाया है, फिर वह चाहे बहुत बड़े राज्यके समान ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसे तृणके समान तुच्छ समझकर दूर फेंक देना चाहिए; और शास्त्र जिसे ग्राह्य बतलाते हों, वह चाहे विषके समान ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी उसे विरुद्ध या घातक नहीं समझना चाहिए। हे वीर अर्जुन, यदि वेदों और शास्त्रों पर इस प्रकारकी अचल निष्ठा हो तो क्या कभी अनिष्ट की प्राप्ति हो

सकती है ? इन श्रुतियोंको छोड़कर आज तक संसारको कभी कोई ऐसी माता मिली ही नहीं जो अ-कल्याणसे उसका छुटकारा कराती हो और उसके कल्याणका साधन करके उसकी वृद्धि करती हो। इसलिए जीवको ब्रह्म-स्वरूपमें पहुँचानेवाली इस श्रुति-रूपी माताको कभी किसीको छोड़ना नहीं चाहिए; और हे भाई अर्जुन, तुम विशेष रूपसे सदा इसीकी सेवा किया करो। क्योंकि, हे अर्जुन, तुमने इस संसारमें धर्म-निष्ठाके बलसे और सद्-शास्त्रोंकी सहायतासे अपना जीवन सार्थक या धन्य करनेके लिए ही जन्म धारण किया है। और तुम्हें वह "धर्मानुज" नाम भी आपसे आप प्राप्त हुआ है, जिसका अर्थ होता है—धर्मका छोटा भाई। इसलिए तुम्हें इसके विपरीत आचरण नहीं करना चाहिए। कार्य और अकार्यका विचार करते समय शास्त्रोंके आधारसे ही निर्णय करना चाहिए। जो बातें शास्त्रोंमें बुरी और अकृत्य कही गई हों, उन्हें बिलकुल छोड़ देना चाहिए। और तब जो वास्तविक कर्तव्य निश्चित हो, उसका अपनी सारी शक्तिसे और शुद्ध हृदयसे अच्छी तरह पालन करके उसकी सिद्धि करनी चाहिए। सारे विश्वको आधार देनेवाली मुद्रा अर्थात् प्रामाणिकताकी मोहर आज तुम्हारे हाथमें ही है; और भाई चतुर अर्जुन, लोक-संग्रह करनेकी शक्ति भी तुममें निस्सन्देह रूपसे वर्तमान है।"

इस प्रकार आसुरी सम्पत्तिके लक्षण बतलाकर उनसे सूचित होनेवाला निर्णय भी भगवानने अर्जुनको निरूपण करके बतला दिया। इसके उपरान्त वह पांडु-सुत-अर्जुन भगवानसे अन्तःकरणके सद्भावके सम्बन्धमें जो प्रश्न करेगा, वह भी आप लोग चैतन्यके कानोंसे सुनें। संजयने व्यास ऋषिकी कृपासे धृतराष्ट्रको वह प्रसंग सुनाया था। उसी प्रकार मैं भी श्री निवृत्तिनाथकी कृपासे वह प्रसंग आप लोगोंसे निवेदन करूँगा। यदि आप सन्त-जन मुझ पर अपने कृपा-कटाक्षकी वर्षा करेंगे, तो महाराज, मैं भी आप ही लोगोंके समान बड़ा बन जाऊँगा। इसलिए मुझे आप लोगोंका केवल इतना ही प्रसाद मिलना चाहिए, आप लोगोंकी मुझ पर इतनी ही कृपा होनी चाहिए कि आप लोगोंका ध्यान मेरी ओर रहे। फिर मैं ज्ञानदेव सचमुच धन्य तथा समर्थ हो जाऊँगा।

सत्रहवाँ अध्याय

जिनकी योग-समाधिके द्वारा इस नाम-रूपात्मक विश्वका बन्धन टूट जाता है और इससे छुटकारा मिलता है, उन आप श्री गुरुराज-रूपी गणेशको मैं नमस्कार करता हूँ। जिस समय त्रिपुरोंने शम्भुको दुर्गके अन्दर घेरकर बन्द कर रखा था, उस समय राम-नाम के स्मरणसे ही शम्भु उस बन्धनसे मुक्त हुए थे। इसी प्रकार त्रिगुणोंके जालमें फँसी हुई आत्मा भी इस जीव दशाके बन्धनमें पड़ी हुई है और वह आपके ही स्मरणसे मुक्त होती है। इसलिए यदि शंकरके साथ आपकी तुलना की जाय तो आपका ही महत्व अधिक सिद्ध होता है, परन्तु साथ ही मुमुक्षुओंको इस माया-सागरसे पार करनेके लिए नौकाके समान जिस हलकेपनकी आवश्यकता होती है, वह हलकापन भी आपमें है। जिन्हें आपके विषयमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, उन्हींको आप वक्रतुंड जान पड़ते हैं; परन्तु जो ज्ञान-सम्पन्न हैं, उन्हें आप सदा सरल ही दिखाई देते हैं। यदि आपकी दिव्य दृष्टि देखी जाय तो वह बहुत ही कोमल तथा सूक्ष्म जान पड़ती है; परन्तु उसी दृष्टिको खोल और बन्द करके आप सहजमें ही उत्पत्ति और प्रलय उपस्थित कर देते हैं। जब आप अपना प्रवृत्ति-रूपी कान फड़काते हैं, तब मद और रससे भरी हुई जो सुगन्धित वायु निकलती है, उस कारण जीव-रूपी काले भ्रमर आपके गंड स्थल पर आकर बैठते हैं। उस समय यही जान पड़ता है कि नीले कमलोंसे आपकी पूजा की गई है। परन्तु जब इसके उपरान्त आप निवृत्ति-रूपी दूसरा कान हिलाते हैं, तब मानों उस पूजाका अन्त हो जाता है और आप अपने खुले हुए सुन्दर आत्म-रूपमें भासमान होते हैं। लावण्यवती मायाके ललित नृत्यके कारण यह जो नाम-रूपात्मक जगत-रूपी मोहक भास उत्पन्न होता है, वह भी आपके तांडव-कौशलका ही प्रदर्शन है। केवल यही नहीं, बल्कि बहुत अधिक आश्चर्यकी बात यह है कि हे गुरुराज गणेश, आपके साथ जिसका सगेपनका सम्बन्ध हो जाता है, वह तुरन्त ही सगेपनके लिए परकीय हो जाता है—उस सगेपन या आपसदारीके व्यवहारसे वंचित हो जाता है। ज्योंही आप समस्त बन्धनोंका नाश करते हैं, त्योंही मनुष्यके मनमें यह भाव उत्पन्न होता है कि आप जगतके बन्धु हैं और भक्तकी आनंदवृत्ति आपमें लीन होने लगती है। फिर हे महाराज, दुजायगीके भावका पूर्ण रूपसे लोप हो जाता है और उसे अपने शरीरका भी भान नहीं रह जाता। परन्तु जो लोग आपको अपनेसे अलग समझते हैं, और जो आपको अपनी दृष्टिके सामने रखकर आपको प्राप्त करनेके लिए नाना प्रकारके योग आदि मार्गों पर दौड़ लगाते हैं, उनके आप बहुत पीछे ही रहते हैं। जो लोग बैठकर मनमें आपका ध्यान करते हैं, उनके ग्राम या नगरमें भी आप नहीं रहते। परन्तु जो लोग आत्मैक्यके भावसे ध्यानको भी भूल जाते हैं, उन पर अवश्य ही

आपका परम प्रेम होता है। जो लोग यह नहीं जानते कि आप स्वयं-सिद्ध हैं और केवल अपनी सर्वज्ञताका ही अभिमान करते हैं, उनकी बातें भला आप कहाँसे सुन सकते हैं? क्योंकि जो वेद इतना अधिक वक्तृत्व करते हैं, उनकी ओर आपका कान ही नहीं होता। आरम्भसे ही और आपकी जन्म-राशिके कारण ही आपका नाम "मौन" पड़ा है। तो फिर आपकी स्तुति करनेका क्यों साहस किया जाय? दृष्टिको जो कुछ दिखलायी देता है, वह सब यदि माया-जनित ही है, तो फिर आपकी भक्तिके लिए साधन ही कहाँ बच रहता है? देवताके रूपमें आपकी कल्पना करके आपकी सेवा करनेका विचार मनमें उत्पन्न होता है, परन्तु यदि आपमें और अपनेमें भेद-भाव माना जाय, तो मानों आत्म-द्रोह ही होता है। इसलिए अब आपके विषयमें कुछ न कहना ही उचित है। जब सारा भेद-भाव पूर्ण रूपसे छोड़ दिया जाता है, तभी आपके अद्वितीय स्वरूपकी प्राप्ति होती है। हे आराध्य-मूर्ति गुरुराज महाराज, आपका यह रहस्य अब अच्छी तरह मेरी समझमें आ गया है। इसलिए जिस प्रकार बिना कोई भेद-भाव रखे अन्न-रसके द्वारा नमक स्वीकृत किया जाता है, उसी प्रकार आप भी मेरा नमस्कार स्वीकृत करें। इससे अधिक अब मैं और क्या कहूँ! जिस प्रकार यदि खाली लोटा समुद्रमें डाला जाय और तब फिर ऊपर निकाला जाय, तब वह जिस प्रकार भरा हुआ निकलता है अथवा दीपकके संसर्गसे जिस प्रकार रूईकी बत्ती भी दीपकका रूप प्राप्त कर लेती है, उसी प्रकार, हे श्रीनिवृत्तिनाथ जी महाराज, मैं भी आपको नमस्कार करके परिपूर्ण हो गया हूँ। इसलिए अब मैं गीताका अर्थ स्पष्ट करनेके काममें प्रवृत्त होता हूँ। सोलहवें अध्यायकी समाप्ति पर अन्तिम श्लोकमें भगवानने निस्सन्देह रूपसे यह निर्णय किया है कि—हे अर्जुन, जिस समय यह निश्चय करनेकी आवश्यकता हो कि करने योग्य काम कौन-सा है और न करनेके योग्य काम कौन-सा है, तब तुम एक मात्र शास्त्रोंको ही प्रमाण मानो। यह सुनकर अर्जुनके मनमें यह विचार आया कि यह बात क्यों है कि बिना शास्त्रोंकी सहायताके कर्मके प्रश्नका निर्णय ही न हो? तक्षकके फन पर पैर रखकर उसके मस्तककी मणि किस प्रकार प्राप्त की जाय? और सिंहकी नाकके बाल किस प्रकार उखाड़े जायँ? और तब यह कहा जाता है कि तक्षककी वही मणि सिंहकी नाकके बालमें पिरोकर और उसकी कंठी बनाकर गलेमें पहनो जाय। परन्तु यदि यह असम्भव कार्य मनुष्य न कर सके तो क्या वह आप अपना गला यों ही नंगा रखे? ठीक उसी प्रकार मत और अ-मतकी गड़बड़ी मचानेवाले भिन्न भिन्न शास्त्रोंकी गठरी भला कैसे और कौन बाँधे? और फिर उनकी एक वाक्यतावाला फल ही किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है? और फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि किसी प्रकार भिन्न भिन्न शास्त्रोंका मेल बैठाकर किसी कार्यके सम्बन्धमें कोई निर्णय कर भी लिया, तो भी उसके आचरणके लिए यथेष्ट समय भी किसीके पास है? इस जीवको इतना अधिक प्रसार भला कैसे अच्छा लगेगा? और फिर सब लोग ऐसा उपाय कैसे कर सकते हैं, जिससे शास्त्र, अर्थ, देश और काल सबका एक ही कार्यमें उचित योग हो सके? इसी लिए इस शास्त्रोक्त प्रकरण-

का साधन प्रायः कठिन ही है। फिर जो लोग अज्ञानी हों, पर साथ ही मोक्ष प्राप्त करनेकी भी इच्छा रखते हों, उनके लिए कौन-सा मार्ग खुला रहता है? बस इसी सम्बन्धमें प्रश्न करनेका विचार अर्जुन अपने मनमें कर रहा है और इसी विषयका इस सत्रहवें अध्यायमें विवेचन किया गया है। जो समस्त विषयोंसे विरक्त है, जो समस्त कलाओंमें पारंगत है, जो स्वयं कृष्णके लिए भी अर्जुनके रूपमें दूसरा कृष्ण (अर्थात् आकर्षण करनेवाला) ही है, शौर्यका आश्रय है, चन्द्रवंशका अलंकार है, सुखोपभोग जिसके लिए केवल खेलवाड़ है, जो बुद्धिका वल्लभ और आत्म-विद्याका मायका है, जो कृष्णके पास सदा रहनेवाला मानों मनोधर्म ही है, वह अर्जुन कहने लगा—

अर्जुन उवाच—

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥

"हे तमाल-पत्र-श्याम भगवन्, यद्यपि आप इन्द्रिय-गोचर होनेवाले प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हैं, तो भी आपका भाषण मुझे संशयात्मक ही जान पड़ता है। आपने यह बात क्यों कही है कि जीवके लिए मोक्षका साधन करनेवाला शास्त्रोंके सिवा और कोई नहीं है? शास्त्रोंका अभ्यास करनेके लिए उपयुक्त स्थल, काल और अध्यापककी आवश्यकता होती है; परन्तु जिसे इन सबकी प्राप्ति न हो और शास्त्रोंका अभ्यास या अध्ययन करनेके लिए जो अनेक प्रकारकी सामग्री आवश्यक होती है, उसकी भी जिसके पास कमी हो, साथ ही जिसे पूर्व कालकी पुण्याईका बल भी प्राप्त न हो और इसी लिए जिसमें बुद्धिका भी बल न हो, उसके किये शास्त्रोंका अध्ययन हो चुका। और इस प्रकार जो शास्त्रोंका अध्ययन न कर सकते हों और यहाँ तक कि शास्त्रोंके साथ जिनका कुछ भी सम्पर्क न हो और इसी लिए जिन्होंने शास्त्रीय ऊहापोह करनेका सारा झगड़ा ही छोड़ दिया हो, परन्तु फिर भी जिन लोगोंके मनमें इस बातकी बहुत बड़ी अभिलाषा होती हो कि हम भी उन्हीं लोगोंके समान हों जो शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करके वास्तवमें पारलौकिक सुख सम्पादित करते हैं और इसी विचारसे जो शास्त्रोक्त कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंका अनुकरण करनेका प्रयत्न करते हों और हे उदार भगवन्, किसी अच्छे लेखकके लिखे हुए अक्षरोंके नीचे जिस प्रकार कोई छोटा बालक उन अक्षरोंको देख देखकर उन्हींके अनुरूप स्वयं भी वही अक्षर लिखता है अथवा किसी आधार या मार्ग-दर्शकको अपने सामने रखकर जिस प्रकार कोई अन्धा या पंगुल उसके पीछे पीछे चलता है, उसी प्रकार जो उन्हीं लोगोंके समान आचरण करते हों, जो समस्त शास्त्रोंमें निष्णात हों और जो बहुत ही श्रद्धापूर्वक ऐसे ही लोगोंके मार्ग पर उनका अनुकरण करते हुए चलते हों और फिर जो बहुत ही भावुकता और श्रद्धापूर्वक शिव आदि देवताओंकी पूजा, भूमि आदिके बड़े बड़े दान, अग्निहोत्र आदि यज्ञ-विधियाँ तथा इसी प्रकारके और और कर्मोंका आचरण करते हों, हे भगवन्, आप मुझे यह बतलावें कि उन पुरुषोंको सत्त्व, रज और तममेंसे कौन-सी गति प्राप्त होती है।" इस पर जो वैकुण्ठपीठके स्वामी हैं, जो देह-रूपी कमलकी सुगन्धित रेणु हैं, जिनकी छायासे इस सारे विश्वका जीवन चलता

है और जो काल स्वभावतः बलवान्, अलौकिक तथा भव्य है और जो मेघ अगम्य तथा आनन्दमय है, उस काल और मेघको भी जिस सामर्थ्यसे महत्व प्राप्त होता है, वह सामर्थ्य जिसमें ओत-प्रोत भरी हुई है, स्वयं वे भगवान अब कहने लगे।

श्रीभगवानुवाच—

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु॥ २॥

भगवानने कहा—"हे पार्थ, तुम्हारे मनकी प्रवृत्ति हम जानते हैं। तुम्हें शास्त्रोंके अध्ययनका बन्धन बहुत ही कष्टदायक जान पड़ता है। क्यों, यही बात है न? तुम अपने मनमें यह बात सोचते हो कि केवल श्रद्धाके द्वारा ही परम पद हस्तगत कर लिया जाय। परन्तु अरे पागल, यह काम इतना सहज नहीं है। हे अर्जुन, केवल यह कहना कि—"हमारी अपनी श्रद्धा है" और उसी पर आश्रित रहना ठीक नहीं है। यदि ब्राह्मण किसी अन्त्यजके साथ सम्बन्ध और मेल-जोल रखे तो क्या वह भी अन्त्यज ही नहीं हो जाता? मद्यके घड़ेमें भरकर चाहे गंगा-जल ही क्यों न लाया जाय, पर फिर भी उसको कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। तुम स्वयं ही इस बातका विचार करो कि जो कुछ मैं कहता हूँ, वह ठीक है या गलत। यह ठीक है कि चन्दन वास्तवमें ठंडा होता है। परन्तु फिर भी यदि अग्निके साथ उसका संयोग हो जाय तो उस अवस्थामें यदि उसे हाथमें उठाया जाय तो क्या वह कभी बिना जलाए रह सकता है? हे अर्जुन, यदि घटिया सोनेमें थोड़ा-सा खरा सोना मिला दिया जाय और तब यदि उसे खरा सोना मानकर ग्रहण किया जाय, तो क्या उसमें हानि न होगी? ठीक इसी प्रकार श्रद्धाका सत्व भी वास्तवमें खरा ही है। परन्तु वह सत्व जिन प्राणियोंके हिस्सेमें आता है, वे प्राणी तो स्वभावतः अनादि मायासे उत्पन्न होनेवाले तीनों गुणोंके ही बने हुए होते हैं। इन तीनों गुणोंमेंसे दो गुण तो दबे रहते हैं और एक गुण बलवान होता है। और तब प्राणियोंकी वृत्ति उसी गुणके अनुरोधसे चलने लगती है। फिर वृत्तिके अनुसार ही मन होता है, मनके अनुसार ही कर्मोंका आचरण होता है और तब मरनेके उपरान्त प्राणी अपने उन्हीं कर्मोंके अनुसार नवीन शरीर धारण करता है। जब बीज नष्ट हो जाता है, तब उससे वृक्ष बनता है; और फिर जब वृक्ष नष्ट होता है, तब वह बीजमें समाया रहता है। यह क्रम करोड़ों कल्पों तक चलता रहता है, परन्तु फिर भी जातिका कभी नाश नहीं होता। ठीक इसी प्रकार असंख्य जन्म होते रहते हैं, परन्तु प्राणियोंके साथ जो त्रिगुणत्व लगा रहता है, वह कभी नहीं छूटता। इसी लिए तुम यह बात ध्यानमें रखो कि प्राणियोंके हिस्सेमें जो श्रद्धा आती है, वह भी उनके गुणोंके अनुसार होती है। यदि कभी किसी प्रकार शुद्ध सत्व गुणकी वृद्धि हो जाय तो उस श्रद्धासे कुछ ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है। परन्तु उस एक सत्वके मारक दो और गुण भी तो वहाँ उपस्थित रहते हैं। सत्वकी सहायतासे श्रद्धा मोक्ष रूपी फलकी ओर प्रवृत्त होती है; परन्तु ऐसे अवसर पर रजोगुण और तमोगुण चुपचाप क्यों बैठे रहें? अतः जब सत्वका बल तोड़कर रजोगुण स्वतन्त्र रूपसे बढ़ने लगता है, तब वही श्रद्धा कर्मोंका बेगार करनेवाली खरीदी हुई दासी बन जाती

है। और फिर जब तमकी प्रबलता होती है, तब उसी श्रद्धाकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वही आपसे आप विषयोंके उपभोग में फँस जाती है।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥ ३॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, सारांश यही है कि इस जीव-संघको ऐसी निर्दोष श्रद्धा कभी प्राप्त हो नहीं सकती जो सत्व, रज और तमसे अलिप्त हो। श्रद्धा स्वभावतः तत्व ही है, परन्तु वह तीनों गुणोंसे घिरी हुई रहती है और इसी लिए उसके राजस, तामस और सात्विक ये तीन भेद होते हैं। यों तो जीवन तत्व जल ही है, पर वही जल विषमें मारक होता है, मिर्चमें तीक्ष्ण होता है और ऊखमें मीठा होता है। इसी प्रकार जो सदा घन-घोर तमसे युक्त होकर बार बार जन्म लेता और मरता है, उसकी श्रद्धा भी तमोरूप ही होती है। फिर जिस तरह काजल और स्याहीमें किसी प्रकारका भेद नहीं किया जा सकता, उसी तरह यह श्रद्धा भी तामसी ही होती है और उसमें तमसे भिन्न और कुछ भी नहीं होता। ठीक इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि रजोगुणसे युक्त जीवकी श्रद्धा राजसी और सात्विक जीवकी श्रद्धा सदा पूर्ण रूपसे सात्विक ही होती है।। इस प्रकार यह सारा जगत केवल श्रद्धासे ही भरा हुआ है। परन्तु इन तीनों गुणोंकी सामर्थ्यसे श्रद्धा पर जो तीन प्रकारकी छाप बैठती है, उसका तुम ध्यान रखो। जिस प्रकार फूलको देखकर उसकी सहायतासे वृक्ष पहचाना जाता है अथवा बातोंसे मनुष्यके मनका विचार समझा जाता है अथवा जैसे इस जन्मके भोगको देखकर पूर्व जन्मोंके कर्म जाने जाते हैं, उसी प्रकार जिन चिन्होंके द्वारा श्रद्धाके ये तीनों रूप पहचाने जा सकते हैं, वे चिन्ह अब मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ ४॥

"जिसकी शारीरिक गठन सात्विक श्रद्धाकी होती है, उसका प्रायः स्वर्ग-सुखकी ओर अनुराग रहता है। वह सब विद्याएँ सीखता है, यज्ञ आदि विधान करता है और केवल यही नहीं, बल्कि देव-लोकमें उसका प्रवेश भी हो जाता है। और हे अर्जुन, जो लोग राजस श्रद्धाकी मूर्ति होते हैं, वे राक्षसों और पिशाचोंकी भक्ति करते हैं। और जो लोग तामसी श्रद्धावाले होते हैं, अब मैं उनके भी लक्षण बतलाता हूँ। जो जीव केवल पापकी राशि ही होते हैं, जो अत्यन्त कठोर और निष्ठुर होते हैं, जो हत्याएँ करके संध्याके समय घृणित श्मशानमें भूत-प्रेतके मंडलोंकी पूजा करते हैं, उन जीवोंके सम्बन्धमें यही समझना चाहिए कि वे तमोगुणके अंगका रस निकालकर ही बनाये गये हैं। ऐसे लोग तामसी श्रद्धाका मानों जन्म स्थान ही होते हैं। इस प्रकार इन तीन चिन्होंसे युक्त ये तीनों प्रकार की श्रद्धाएँ संसारमें दिखाई देती हैं। परन्तु ये सब बातें कहनेका मेरा अभिप्राय यही है कि, हे सुविज्ञ अर्जुन, तुम भी अपने मनमें सात्विक श्रद्धा ही रक्षापूर्वक रखो और बाकी जो दोनों घातक श्रद्धाएँ हैं, उन्हें अपनेसे बिलकुल अलग कर दो। हे अर्जुन, यह सात्विक श्रद्धा जिसकी संरक्षक हो जाती है, उसे कैवल्यका बिलकुल डर नहीं जान पड़ता,

फिर चाहे वह ब्रह्मसूत्र न पढ़ा हो अथवा शास्त्रोंमें पारंगत न हुआ हो अथवा उसे महा-सिद्धान्तोंकी प्राप्ति न हुई हो। जो बड़े लोग केवल श्रुतियों और स्मृतियोंके अर्थोंके मूर्तिमान अवतार होकर संसारको सदाचरणका उदाहरण दिखलाते हैं, उनके आचरणका ढंग देखकर और उसीके अनुरोधसे वे लोग भी सात्विक श्रद्धासे आचरण करते हैं और इसी लिए शास्त्रों आदिके अध्ययनसे प्राप्त होनेवाला फल उन्हें अनायास ही मिल जाता है। एक आदमी तो बहुत अधिक प्रयत्न करके दीपक जलाता है और दूसरा आदमी सहजमें ही उस दीपककी सहायतासे अपना दीपक भी जला लेता है। परन्तु क्या उस दूसरे दीपक जलानेवालेको प्रकाश नहीं मिलता? या कुछ कम मिलता है? एक मनुष्य बहुत अधिक द्रव्य व्यय करके बहुत बड़ा और पक्का मकान तैयार करता है। परन्तु जो और लोग उस मकानमें रहते हैं, क्या उन्हें उस मकानका वह सुख भोगनेको नहीं मिलता? क्या तालाब केवल उसीकी प्यास बुझाता है जो उसे बनवाता है और दूसरोंकी प्यास नहीं बुझाता? अथवा क्या ऐसा भी होता है कि घरमें भोजन केवल उसीको मिले जो उसे पकाता हो और बाकी दूसरे लोगोंको न मिले? हे अर्जुन, मैं इस विषयकी बहुत बातें नहीं कहता। केवल यही कहता हूँ कि गौतम ऋषि बहुत अधिक प्रयत्न करके गंगा (गोदावरी) नदीको इस पृथ्वी पर लाये थे। परन्तु क्या कभी किसीको इस बातका भी अनुभव हुआ है कि वह केवल गौतमके लिए ही पवित्र गंगाके रूपमें सिद्ध हुई थी और दूसरोंके लिए वह केवल साधारण नालेके समान सिद्ध हुई हो? इसलिए जो मनुष्य अपनी बुद्धिके अनुसार शास्त्रोंका मार्ग जानता है, उसका अनुकरण जो कोई श्रद्धापूर्वक करता है, वह यदि मूर्ख भी हो तो भी तर जाता है।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥

"अब जो लोग शास्त्रोंका नाम उच्चारण करनेके लिए अपना गला साफ करनेका भी विचार नहीं करते, केवल यही नहीं, जिन्हें शास्त्रज्ञोंका सम्पर्क भी सहन नहीं होता, जो बड़े लोगोंका आचरण और व्यवहार देखकर बन्दरोंकी तरह उनकी नकल उतारते और चुटकियाँ बजा बजाकर उनकी हँसी उड़ाते हैं और अपने ही बड़प्पनके अभिमानमें तथा सम्पत्तिके मदसे धर्म-भ्रष्ट क्रियाओंका आचरण करते हैं, जो लोग अपने तथा दूसरोंके अंगोंमें लकड़ी काटनेके औजारसे घाव करके रक्त और मांससे यज्ञ-पात्र भरपूर भरते हैं और फिर उन्हें जलते हुए यज्ञकुंडमें डालते हैं और कुछ विशिष्ट देवताओंके मुँहमें लगाते हैं, जो अपनी मन्नत पूरी करनेके लिए बालकोंका बलिदान करते हैं, जो क्षुद्र देवताओंका वर प्राप्त करनेके लिए आग्रहपूर्वक सात सात दिन तक उपवास करते हैं, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वे लोग तमोगुणके क्षेत्रमें आत्म-क्लेश और पर-पीड़ाके बीज बोते है; और फिर वही बीज अंकुरित होकर अपनी जातिकी फसल तैयार करते हैं। फिर ऐसे मनुष्योंकी वैसी ही अवस्था होती है जैसी उस मनुष्यकी होती है जिसके न तो हाथ ही होते हैं और न जो नावका ही आश्रय ग्रहण करता है, परन्तु फिर भी जो समुद्रमें पड़ जाता है; अथवा जिस प्रकार वह रोगी स्वयं ही पीड़ासे व्याकुल होता

है जो वैद्योंसे भी विरोध करता है और औषधको भी लात मारकर दूर करता है। अथवा आश्रय देनेवाले मनुष्यके साथ झगड़ा करके स्वयं ही अपनी आँखें फोड़ लेनेवाले अन्धेकी अपनी ही घरमें जो दुर्दशा होती है, बस ठीक उसी तरहकी दुर्दशा उन लोगोंकी भी होती है, जो शास्त्रोंका आश्रय तिरस्कारपूर्वक छोड़ देते हैं और मोहके कारण भीषण वनोंमें इधर-उधर भटकते हैं। ऐसे लोग वही काम करते हैं जो काम करनेके लिए विषय-वासनाएँ उनसे कहती हैं। क्रोध जिसे मारनेको कहता है, उसीको वे मारते हैं; और केवल इतना ही नहीं, बल्कि सबके हृदयमें रहनेवाला जो "मैं" हूँ, उस "मुझ" को भी वे दुःख रूपी पत्थरोंके नीचे दबा देते हैं।

कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

"ऐसे लोग अपने तथा दूसरोंके शरीरोंको जो-जो दुःख देते हैं, उन सबकी सारी पीड़ा मुझ आत्माको ही होती है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो वाणीसे भी ऐसे पापियोंका सम्पर्क नहीं होने देना चाहिए। परन्तु ये सब बातें इसलिए कहना आवश्यक हुआ है कि सबको इस बातका बोध हो जाय कि ऐसे पापियोंसे सदा दूर रहना चाहिए; और इसलिए इस अवसर पर उनका उल्लेख किये बिना काम ही नहीं चल सकता। देखो, मृत शरीरको हाथोंसे उठाकर घरसे बाहर निकालना पड़ता है, अन्त्यजको रास्ता बतलानेके लिए उसके साथ एक-दो बातें करनी पड़ती हैं और केवल यही नहीं, बल्कि मल हाथोंसे धोना पड़ता है। परन्तु यह आशा रहती है कि ये सब कृत्य करके हम शुद्ध हो जायँगे; और इसीलिए जिस प्रकार हम इस तरहकी बातोंमें कोई अमंगल नहीं मानते, उसी प्रकार आसुरी वृत्तिको दूर करनेके लिए ही यहाँ उसका वर्णन किया गया है। इस लिए हे अर्जुन, यदि कभी ऐसे असुरोंका तुम्हें दर्शन हो जाय तो उस समय तुम हमारा स्मरण करो, क्योंकि यह पाप और किसी प्रायश्चित्तसे दूर नहीं हो सकता। और इसी लिए जिस सात्विक श्रद्धाका मैं अभी वर्णन करना चाहता हूँ, उसका सब प्रकारसे अच्छी तरह संग्रह और रक्षा करनी चाहिए। इसके लिए ऐसे ही लोगोंका संग करना चाहिए जिनसे सत्वगुणके सम्बन्धको बल प्राप्त हो और ऐसे ही आहारका सेवन करना चाहिए जिससे सत्वगुणकी वृद्धि हो। साधारणतः स्वभावकी वृद्धिको बल देनेवाला अन्नके सिवा और कोई साधन नहीं है। हे वीर अर्जुन, जिसका होश-हवास ठिकाने हो, वह जब मद्य पी लेता है, तब तुरन्त ही वह आपेसे बाहर हो जाता है। यह बात हम लोग प्रत्यक्ष देखा ही करते हैं। जो सदा अन्न-रसका सेवन करता है, उसे सहज ही वात और कफ आदिके विकार होते हैं। यदि किसी मनुष्यको ज्वर आवे तो क्या वह ज्वर कभी दूध आदि पीनेसे कम होता है? जिस प्रकार अमृतका सेवन करनेसे मनुष्य मृत्युके मुँहमें जानेसे बचता है अथवा विष जिस प्रकार सब अंगोंमें पहुँच कर उन्हें विषाक्त कर देता है, ठीक उसी प्रकार जिस तरहके आहारका सेवन किया जाय, उसी तरहका देह-गत धातु-रस बनता है और धातु-रसके अनुसार ही मनुष्यके मनमें भावनाओंका पोषण होता है। जिस प्रकार बरतनके गरम होने पर उसमें रखा हुआ

पानी भी गरम हो जाता है, ठीक उसी प्रकार धातु-रसका चित्तकी वृत्तियों पर संस्कार होता है। इसलिए जब सात्विक अन्न खाया जाय, तभी सत्वगुणकी वृद्धि होती है। अन्य प्रकारके अन्न खानेसे चित्तकी वृत्ति राजस अथवा तामस होती है। इसलिए अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि सात्विक आहार कौन-से हैं और राजस तथा तामस आहारोंके लक्षण क्या हैं। तुम अच्छी तरह इस ओर ध्यान दो।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

"आहार तो सब एक ही हैं, परन्तु हे वीर अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि वे तीन प्रकारके किस तरह होते हैं। खानेवालेकी रुचिके अनुसार अन्न बनता है और खानेवाला गुणोंका दास बना रहता है। जो जीव कर्त्ता और भोक्ता होता है, वह तीनों गुणोंके कारण स्वभावतः तीन प्रकारका होता है और इसी लिए वह तीन प्रकारसे आचरण करता है। इसीलिए आहार भी तीन प्रकारका होता है। ठीक इसी प्रकार यज्ञ, तप और दानके व्यवहार भी तीन प्रकारके होते हैं। अब सबसे पहले आहारके लक्षण बतलाता हूँ, सुनो। ये लक्षण बहुत ही सुगम करके बतलाये जायँगे।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥

"यदि दैव-योगसे खानेवालेकी प्रवृत्ति सत्वगुणकी ओर हो तो उसकी रुचि मधुर पदार्थोंके सम्बन्धमें बढ़ती है। जो खाद्य-पदार्थ मूलतः सुरस, मधुर, रसपूर्ण और पके हुए होते हैं, जो आकारमें टेढ़े तिरछे और बेढंगे नहीं होते, जो स्पर्श करने पर हाथोंको बहुत ही कोमल जान पड़ते हैं और जिह्वाको उत्तम तथा स्वादिष्ट जान पड़ते हैं, जो रससे भरे हुए रहते हैं और छूनेमें नरम लगते हैं और जिनमेंका द्रव-भाग अपने स्थान पर ही अग्निके तापसे सूख जाता है, जो पदार्थ आकार और मानके विचारसे देखनेमें छोटे ही होते हैं, परन्तु जो अन्तमें हितकारक होते हैं, जो गुरुके मुखसे निकले हुए शब्दोंकी भाँति अल्प होने पर भी अपरम्पार समाधान करते हैं और जो अन्दर जाकर पेटके लिए भी उतने ही सुखकर होते हैं, जितने वे खानेमें मुखको मधुर लगते हैं, उन सब खाद्य-पदार्थोंके प्रति सात्विक मनुष्योंकी बहुत अधिक रुचि रहती है। जो अन्न ऐसे लक्षणोंसे युक्त हो, उसीको सात्विक समझना चाहिए। ऐसा अन्न निरन्तर आयुष्यका संरक्षण करता है। इस प्रकारके सात्विक रसका मेघ जब शरीरमें अपनी वर्षा करता है, तब आयुष्य रूपी नदी दिन पर दिन बढ़ती जाती है। हे सुविज्ञ अर्जुन, जिस प्रकार दिनके बढ़नेका कारण सूर्य होता है, उसी प्रकार इस तरहका आहार सत्वको पोषण करनेवाला होता है। शरीर और मनके बलका यही आहार आधार होता है। जब इस प्रकारका आहार हो, तब भला रोगको शरीरमें कहाँ ठिकाना मिल सकता है! जब इस प्रकारका सात्विक आहार मनुष्यको प्राप्त होता है, तब यह समझ लेना चाहिए कि उसके शरीरका आरोग्य भोगनेका भाग्य उदय हो आया है। इस प्रकारके आहारके कारण मनुष्य स्वयं भी सुख भोगता है और दूसरोंको भी सुखी करता है। जब इस प्रकारका सात्विक आहार

मनुष्यके अन्दर पहुँचता है, तब वह शरीरके लिए भी और अन्दरकी इन्द्रियोंके लिए भी अत्यन्त उपकारक होता है। प्रसंग आ गया है, इसलिए अब मैं यह भी बतला देता हूँ कि रजोगुणी मनुष्योंको किस प्रकारका अन्न अच्छा लगता है।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥

"जो पदार्थ इतना कड़ुआ होता है कि कालकूट विषका कड़ुआपन भी उसके सामने कोई चीज नहीं, जो चूनेसे भी बढ़कर दाहक होता है और इसी प्रकार जो विकट अम्ल होता है, जिस प्रकार आटेका पेड़ा बनानेके लिए उसमें पानी डाला जाता है, उसी प्रकारके अन्नके रसके योगसे जो पदार्थ नमकके गोलेकी तरह बना होता है और साथ ही जिसमें और भी अनेक क्षार रस उतनी ही अधिक मात्रामें मिले हुए होते हैं, वही सब अपरम्पार खारे पदार्थ रजोगुणी पुरुषोंको अच्छे लगते हैं। ऐसे लोग कहा करते हैं कि गरमागरम भोजन अच्छा होता है और इसी लिए वे आगकी तरह जलानेवाले गरम अन्न खाते हैं। रजोगुणी पुरुष बहुत आग्रहसे इतना अधिक गरम अन्न माँगते हैं जिसकी भापके अग्रभागमें यदि दीपककी बत्ती लगा दी जाय तो वह भी जल उठे। पत्थरको तोड़ने और छेदनेवाली टाँकीकी प्रखरता प्रसिद्ध है। बस उसी टाँकीके समान तीव्र अन्न वे लोग भक्षण करते हैं। ऐसे अन्न ऊपरसे देखनेमें तो कोई घाव या जख्म नहीं करते, परन्तु अन्दर जाकर वे बहुत चुभते हैं। इसी प्रकार जो अन्न अन्दर और बाहर राखके समान सूखा होता है, उसके खानेसे जीभमें जो चटकारा आता है, वह उन्हें बहुत अच्छा लगता है। जो अन्न खानेसे दाँत एक दूसरे पर पड़कर कड़ाकड़ बोलते हैं, वह अन्न मुँहमें रखनेसे उन्हें परम सन्तोष होता है। जो पदार्थ एक तो पहले ही चरपरे होते हैं और तिस पर जिनमें राई पड़ी होती है और जिन्हें खानेसे नाक और मुँहसे बराबर पानी बहने लगता है, केवल इतना ही नहीं, बल्कि अपनी तेजीके कारण आग-को भी पीछे हटा देनेवाले चरपरे पदार्थ और अचार आदि ऐसे पुरुषोंको प्राणोंसे भी अधिक प्रिय जान पड़ते हैं। इस प्रकार जीभका चटोरापन जिसे पागल बना देता है, वह अन्नके रूपमें अपने पेटमें जलती हुई आग ही भरता रहता है। इस प्रकारके पदार्थ खानेसे शरीरमें ऐसी जलन पैदा होती है कि उस आदमीको न तो जमीन पर ही और न बिछौने पर ही शान्ति मिलती है। और जल पीनेका पात्र कभी उसके मुँहसे अलग नहीं होता। इस प्रकारके ये सब पदार्थ आहार नहीं होते, बल्कि शरीरमें जो रोग रूपी काल-सर्प रहता है, उसे जगाने और उत्तेजित करनेके साधन ही होते हैं जो पेटमें भरे जाते हैं। इस प्रकारके अन्न प्राप्त होते ही सब रोग एक दूसरेके साथ स्पर्धा करते हुए एक दमसे उठ खड़े होते हैं। इस प्रकार ये राजस आहार केवल दुःख रूपी फल ही उत्पन्न करते हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें राजस आहारके लक्षण बतला दिये हैं और साथ ही उनके परिणामोंका भी स्पष्टीकरण कर दिया है। अब मैं तुम्हें यह भी बतलाता हूँ कि तामस पुरुषोंको किस प्रकारका आहार अच्छा लगता है। परन्तु सम्भव है कि उस आहारका वर्णन सुनकर तुम्हें कुछ घृणा हो।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥१०॥

"बासी, सड़ा हुआ और जूठा-मीठा अन्न खाते समय तमोगुणी आत्म-घातकी पुरुषके मनमें कुछ भी घृणा नहीं उत्पन्न होती। जिस प्रकार भैंस जूठा और बासी अन्न आदि बहुत प्रेमसे खाती है, उसी प्रकार तामस पुरुष भी दोपहरका बना हुआ भोजन अथवा एक दिन पहलेका पका हुआ और बचा हुआ बासी भोजन बहुत आनन्दसे खाता है। अथवा जो अन्न आधा पका हुआ होता है अथवा जलकर राख हो जाता है अथवा जिसमेंके रसका अच्छी तरह परिपाक नहीं हुआ होता, वही अन्न वह खाता है। जो अन्न पूरी तरहसे पका हुआ होता है और जिसके रसका स्वाद खूब अच्छा होता है, वही अन्न वास्तवमें खानेके योग्य होता है। परन्तु तामस पुरुषोंको ऐसे अन्नका कुछ भी अनुभव नहीं होता—ऐसे अन्नका वे कुछ भी स्वाद नहीं जानते। यदि कभी दैव-योगसे इस तरहका ताजा और स्वादिष्ट अन्न उन्हें मिल भी जाय तो भी वे वह अन्न नहीं खाते और बाघकी तरह उसे तब तक रख छोड़ते हैं, जब तक वह अच्छी तरह सड़ नहीं जाता और उसमेंसे दुर्गन्ध नहीं निकलने लगती। क्योंकि जो अन्न बहुत दिनों तक पड़ा रहनेके कारण बिलकुल सड़ जाता है, जो स्वाद-हीन हो जाता है, सूख जाता और नीरस हो जाता है अथवा सड़ जाता है, बल्कि यहाँ तक कि जिसमें कीड़े भी बिलबिलाने लगते हैं, वही पदार्थ वह छोटे छोटे बालकोंकी तरह एकमें मिलाकर कीचड़की तरह बना लेता है और वही अन्न वह खाता है, और तभी वह यह समझता है कि आज बहुत सुन्दर भोजन हुआ। परन्तु इस प्रकारके अन्नसे भी उन पापियोंकी तृप्ति नहीं होती। इसके उपरान्त वह जो विलक्षण काम करता है, वह भी सुन लो। जो वस्तुएँ शास्त्रोंमें निषिद्ध मानी गई हैं और दुष्ट होती हैं, उन न खाने पीनेके योग्य वस्तुओंको खाने-पीनेकी भयङ्कर वासना वह तामस पुरुष बढ़ाता है। तामस आहार करनेवालोंको ऐसी ही प्रवृत्ति होती है और, हे वीर अर्जुन, इस प्रकारके आहारका फल प्राप्त करनेके लिए उसे दूसरे क्षण तक भी नहीं ठहरना पड़ता—उसका फल उसे तत्काल ही मिल जाता है। क्योंकि उसका मुख जिस समय ऐसे अपवित्र पेय अथवा खाद्य पदार्थका स्पर्श करता है, उसी समय वह पापका भागी हो जाता है। इसके उपरान्त वह जो खाता है, उसे खानेका कोई प्रकार नहीं समझना चाहिए, बल्कि पेट भरनेवाली एक यातना ही समझना चाहिए। उसे इस प्रकारका कुछ अनुभव तो होता है कि सिरच्छेद होनेके समय क्या वेदना होती है और आगमें प्रवेश करने पर कैसा जान पड़ता है, पर वह ये सारी यातनाएँ भी सहता ही चलता है। इसी लिए यह नहीं कहा जा सकता कि तामस अन्न का परिणाम तामस वृत्तिसे भिन्न होता है। बस यही बातें उस समय भगवानने कहीं थीं। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"आहारकी भाँति यज्ञ भी तीन प्रकारके होते हैं। अब तुम इस विषयकी ओर ध्यान दो। हे लोक-विख्यात अर्जुन, विविध यज्ञोंमें जो पहला सात्विक यज्ञ है, उसके लक्षण सुनो।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥

"जिस प्रकार पतिव्रता स्त्रीका यह मनोधर्म रहता है कि अपने एक प्रिय पतिको छोड़कर दूसरे पुरुषोंके सम्बन्धमें उसके अन्तःकरणमें कभी कोई वासना उत्पन्न ही नहीं होती, अथवा जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाने पर नदी फिर आगेकी ओर नहीं बहती अथवा जिस प्रकार आत्म-दर्शन हो जाने पर वेद और आगे कुछ भी नहीं कहते, उसी प्रकार जो पुरुष अपनी मनोवृत्ति आत्म हितमें लगा देता है और कर्मके फलोंके सम्बन्धमें अपने मनमें तनिक भी अहंभाव नहीं रखता और जो तन-मनसे यज्ञ-कर्मोंमें उसी प्रकार दृढ़ भावना रखकर उसमें तल्लीन हो जाता है, जिस प्रकार वृक्षकी जड़में आनेवाला पानी फिर कभी पीछे नहीं हटता और केवल उस वृक्षके अंगोंमें ही समा जाता है और जो पुरुष किसी प्रकारकी वासना अपने मनमें नहीं रखता, वह फलकी इच्छा छोड़कर और एक स्वधर्म-साधनके सिवा दूसरी वस्तुओं तथा विषयोंसे विरक्त रहकर जो यज्ञ करता है, वही यज्ञ वास्तवमें सब प्रकारसे उत्तम और यथा-सांग होता है। परन्तु जिस प्रकार दर्पणके द्वारा आँखें स्वयं अपना ही रूप देखती हैं अथवा जिस प्रकार दीपकके प्रकाशमें हम अपनी हथेली पर रखा हुआ रत्न देखते हैं अथवा सूर्य-के उदय होने पर जिस प्रकार हमें अपना उद्दिष्ट मार्ग दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार जब एक-निष्ठाके भावमें वेदों और शास्त्रोंको देखकर यज्ञके लिए कुंड, मंडप और वेदियाँ आदि प्रस्तुत की जाती हैं और यज्ञ-कर्मके समस्त साधन तथा सामग्री एकत्र करके सारी व्यवस्था ऐसे अच्छे ढंगसे की जाती है कि देखनेमें जान पड़े कि मानों वह सारी व्यवस्था स्वयं वेद-वक्ता ब्रह्माने ही की है और जिस प्रकार शरीरके भिन्न भिन्न अंगोंमें उन्हींके अनुरूप अलंकार आदि पहने जाते हैं, उसी प्रकार जब सारे पदार्थ उपयुक्त रूपसे यथा-स्थान रखे जाते हैं और तब जो यज्ञ किया जाता है, उसके विधानके महत्वका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ! उस समय वह यज्ञ देखने पर ऐसा जान पड़ता है कि यजमान-के रूपमें मानो स्वयं यज्ञ-विद्या ही सब तरहसे अलंकृत होकर अवतरित हुई है। इस प्रकार जो यज्ञ समस्त अंगोंसे परिपूर्ण होता है और जो फलके महत्वकी इच्छा मनमें नाम-को भी अंकुरित नहीं करता और जो यज्ञ उसी प्रकार निःस्वार्थभावसे किया जाता है, जिस प्रकार तुलसीके वृक्षमें जल सींचकर उसका पालन किया जाता है और उससे फल, फूल अथवा छाया आदिकी कुछ भी अपेक्षा नहीं की जाती, हे अर्जुन, वास्तवमें उसी यज्ञको सात्विक समझना चाहिए।

अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥

"अब हे वीर श्रेष्ठ अर्जुन, जो यज्ञ इसी प्रकार यथा-सांग किया जाता है, परन्तु जिस प्रकार श्राद्धमें राजाको इस हेतुसे निमन्त्रण दिया जाता है कि यदि राजाके चरण हमारे घरमें आ गये तो उनका बहुत कुछ उपयोग होगा, लोकमें हमारी कीर्त्ति भी हो जायगी और श्राद्धकी क्रियामें भी कोई न्यूनता नहीं आवेगी और इसी प्रकारका उद्देश्य

रखकर तथा इसी तरहकी नीतिसे जब यज्ञ करनेवाला अपने मनमें यह कहता है कि यज्ञसे मुझे स्वर्गकी प्राप्ति होगी, यज्ञमें दीक्षित हो जानेके कारण जनतामें मेरा बोल-बाला होगा और मेरे हाथों यज्ञ भी हो जायगा, तात्पर्य यह कि हे अर्जुन, जो यज्ञ केवल इस अभिप्रायसे, फलकी वासनासे और संसारमें अपना महत्व स्थापित करनेके उद्देश्यसे किया जाता है, उस यज्ञको राजस समझना चाहिए।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

"और हे अर्जुन, जिस प्रकार पशु-पक्षियोंके विवाहके लिए काम-वासनाके अतिरिक्त और किसीके पौरोहित्यकी कोई आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तामस यज्ञका मूल कारण भी एक मात्र आग्रह ही होता है। हे अर्जुन, यदि कभी ऐसी अवस्था आ जाय कि वायुको ढूँढ़ने पर भी मार्ग न मिले अथवा मृत्युको मुहूर्त्त देखनेकी आवश्यकता आ पड़े अथवा निषिद्ध पदार्थको देखकर भड़की हुई आग भयसे पीछे हट जाय, तभी तामस पुरुषके व्यवहारमें भी किसी प्रकारकी बाधा हो सकती है (अर्थात् तामस पुरुष अपने व्यवहारमें किसी प्रकारकी बाधा देखना पसन्द नहीं करता)। हे अर्जुन, तामस पुरुष सदा पूरा स्वेच्छाचारी ही होता है। उसे न तो विधि और निषेधकी ही कोई परवाह होती है और न मन्त्र आदिकी ही उसके लिए कोई बाधा होती है। अन्न देखते ही मक्खी कितनी जल्दी आकर उस पर बैठ जाती और उसे खाने लगती है! तामस पुरुषको भी विधि और निषेधका उतना ही विचार होता है, जितना मक्खीको होता है (अर्थात् बिलकुल विचार नहीं होता)। ब्राह्मण तो विरक्त होते हैं। फिर लोलुपतापूर्वक दक्षिणाके लिए उनके यज्ञमें भला कौन ब्राह्मण घुस सकता है? जिस प्रकार आग तेज हवामें पड़कर खूब भड़क उठती है, उसी प्रकार वह भी अपने अभिमानके कारण अपना सर्वस्व व्यर्थ ही उड़ाने लगता है। जिस प्रकार किसी निस्सन्तानका ला-वारिस घर आने-जानेवाले सभी लोग लूटने लगते हैं, उसी प्रकार ऐसे लोभी लोग, जिनमें कुछ भी श्रद्धा नहीं होती, आ आकर उसका द्रव्य लूटने लगते हैं। इस प्रकारकी बातें जिस यज्ञमें होती हैं वह मिथ्या और भ्रामक यज्ञ होता है और उसीको तामस यज्ञ समझना चाहिए।" यही लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने उस समय कहा था। इसके उपरान्त वे कहने लगे—"हे अर्जुन, नदीका पानी सदा एकरूप ही रहता है, परन्तु भिन्न भिन्न स्थानोंमें बहनेके कारण कहीं तो वह अपने साथ गन्दगी बहा ले जाता है और इसलिए बिलकुल गँदला हो जाता है और कहीं बिलकुल स्वच्छ रहता है। ठीक इसी प्रकार तप भी तीन गुणोंके योगसे तीन प्रकार-का होता है। एक प्रकारका तप पापका कारण होता है, तो दूसरे प्रकारका तप उद्धार करता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, यदि तुम्हारे मनमें यह जाननेकी उत्कंठा हो कि तपके ये तीनों भेद किस प्रकार उत्पन्न होते हैं, तो तुम पहले तपका ही स्वरूप समझ लो। पहले मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि "तप" किसे कहते हैं; और तब यह बतलाऊँगा कि गुणोंके योगसे उसके भिन्न भिन्न स्वरूप किस प्रकार होते हैं। जिसे "तप" कहते हैं, वह मूलतः तीन प्रकारका होता है—एक शारीर, दूसरा मानसिक और तीसरा शाब्द।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥

"इन तीनों तपोंमें जो पहला शारीर-तप है, अब उसका स्वरूप सुनो। श्री शंकर या श्री हरि दोनोंमेंसे जिन देवताके प्रति भक्ति और अनुराग हो, उस देवताके मन्दिर की ओर वहाँकी यात्रा करने और वहाँ आने-जानेवालोंको पंखा आदि झलनेके लिए पैर आठो पहर चलते रहते हैं। उस देवताके प्रांगणमें शृङ्गार करने, देवताके लिए पूजाके गन्ध-पुष्प आदि उपचार एकत्र करने और देवताका जो काम कोई कह दे, वही काम करनेमें हाथ सदा सिद्ध रहते हैं। देवताके लिङ्ग अथवा मूर्त्ति पर दृष्टि पड़ते ही शरीर पृथ्वी पर लोटकर दंडवत करता है। और ऐसे ब्राह्मणोंकी मन भरके सेवा की जाती है जो अपने सदाचार आदि गुणोंके कारण लोकमें यथेष्ट महत्व प्राप्त कर चुके होते हैं। अथवा जो लोग प्रवासके कारण या रोग आदि पीड़ाओंके कारण या संकटों आदिके कारण दुःखी और पीड़ित होते हैं, उन जीवोंको सुखी किया जाता है। सब तीर्थोंसे श्रेष्ठ जो माता-पिता हैं, उनकी सेवाके लिए अपना शरीर निछावर कर दिया जाता है। ज्ञान-दान करनेमें अत्यन्त सदय उन गुरुदेवका भजन करना चाहिए जिनके इस संसार सरीखी अवस्थामें भी मिलते ही सब मल बिलकुल दूर हो जाते हैं। और हे वीर पार्थ, स्वधर्म रूपी अँगीठीमें अभ्यास-योगके पुट देकर देहाभिमानके सब दोष जलाकर भस्म कर दिये जाते हैं। ऐसा तप करनेवालेको यह मानकर कि भूत मात्रमें आत्म-वस्तु है, उन्हें नम-स्कार करना चाहिए, सदा परोपकार करते रहना चाहिए और विषय-भोगोंका दृढ़ निश्च-यपूर्वक संयम करना चाहिए। जन्म धारण करनेके लिए तो स्त्रीके शरीरका स्पर्श करना ही पड़ता है, परन्तु उस प्रसंगके उपरान्त फिर जन्म भर उस स्पर्शसे अपने आपको दूर और मुक्त रखना चाहिए। यह समझकर कि भूत मात्रमें प्राण हैं, एक तृण भी नहीं तोड़ना चाहिए और यहाँ तक कि उसका छेदन या भेदन भी नहीं करना चाहिए। जब इस प्रकार शरीरकी रहन-सहन शुद्ध और सरल हो जाय, तब यह समझना चाहिए कि शारीर तप अपनी पूर्णताको पहुँच गया है। हे अर्जुन, इन सब व्यवहारोंमें शरीर ही मुख्य साधन होता है, इसीलिए मैं इसे शारीर तप कहता हूँ। इस प्रकार यह शारीर तपका विवेचन हुआ। अब तुम निष्पाप वाङ्मय तपका वर्णन सुनो।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥

"पारस पत्थर जिस प्रकार लोहेको बिना तोड़े-फोड़े और बिना उसका स्वरूप बिगाड़े उसे सोना बना देता है, उसी प्रकार जिसकी वाणीमें ऐसा सौजन्य होता है कि वह स्वाभाविक रूपसे बिना किसीको कष्ट पहुँचाये आस-पासके सभी लोगोंके लिए मधुर और सुखकर होती है, जिसका भाषण होता तो किसी एक व्यक्तिके उद्देश्यसे है, परन्तु फिर भी सबके लिए उसी प्रकार हितकारक होता है, जिस प्रकार जल जाता तो वृक्षका पोषण करनेके लिए है, पर वह जाते जाते सहजमें तृणोंको भी जीवन प्रदान करता है, जो भाषण अमृतकी उस दिव्य गंगाके समान होता है जो प्राप्त होने पर प्राणियोंको

अमर तो करती ही है पर साथ ही स्नान करनेवालोंके पाप और ताप भी दूर करती है और जिह्वाको भी मधुर स्वाद प्रदान करती है और इसी लिए जिस भाषणसे अविचार दूर हो जाता है; अपना अनादि तथा शाश्वत आत्म-स्वरूप प्रकट होता है, जो सुननेमें अमृत-रसके समान प्रिय जान पड़ता है और जिसके सुननेसे जो नहीं उकताता और जिसका यह नियम होता है कि जब कोई कुछ पूछे, तभी वह बोलता है और नहीं तो चुपचाप वेदों और संहिताओं आदिका ही आवर्त्तन करता है; जो ऋग्वेद आदि तीनों वेदोंका अपने-वाग्-भवनमें प्रतिष्ठापन करके अपनी वाणीको मानों वेद-शाला ही बना लेता है और जिसमें शिवका, विष्णुका अथवा इसी प्रकारके किसी और देवताका नाम दिन-रात समान रूपसे उच्चारण किया जाता है, उसीको वाचिक तप कहना चाहिए। अब मैं मानसिक तपका वर्णन करता हूँ, सुनो।" बस यही लोकपालोंके स्वामी भगवान श्रीकृष्णने उस समय कहा था।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—जिस प्रकार तरंगोंके न रह जाने पर सरोवर, मेघोंके न रह जाने पर आकाश, साँपोंके न रह जानेपर चन्दनका वन, कलाओंकी चल-विचलता न रह जाने पर चन्द्रमा, चिन्ताओंके न रह जाने पर राजा अथवा मथनेवाले मन्दर पर्वतके न रह जाने पर क्षीर सागरकी अवस्था होती है, उसी प्रकार तरह तरहके संकल्प-विकल्पोंके झगड़ोंके न रह जाने पर जो मन केवल आत्म-रूपमें स्थिर हो जाता है, सन्ताप-रहित प्रकाश, जड़तासे रहित रस अथवा पोलेपनसे रहित अवकाशकी भाँति होकर जब मन अपने कल्याणका साधन करके आनन्द-मय स्वरूप देखता है और अपने स्वभावका उसी प्रकार परित्याग कर देता है, जिस प्रकार सरदीसे सुन्न हो जानेवाला अवयव स्पर्श ज्ञानसे रहित हो जाता है और फिर सरदीकी बाधाका अनुभव नहीं करता, उस समय मनको निश्चल कलंकहीन तथा परिपूर्ण चन्द्र-मंडलके समान जो उत्तम सौन्दर्य प्राप्त होता है, मनकी उस अवस्थामें वैराग्यसे कष्ट नहींके समान हो जाते हैं; मनकी चंचलताका अंत हो जाता है और केवल आत्म-बोधकी पूर्णता ही बच रहती है। इसीलिए शास्त्रोंका उपदेश करते समय जो मुँह हिलाना पड़ता है, वह बन्द हो जाता है और वह प्रयत्न ही वाणीका सूत्र हाथमें न लेकर केवल मौन स्वीकृत करता है। आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाने पर मनका मनत्व भी नष्ट हो जाता है, और नमक जिस प्रकार पानीमें अच्छी तरह घुलकर लीन हो जाता है, उसी प्रकार मन भी आत्म-तत्त्वमें लीन हो जाता है। फिर ऐसी अवस्थामें मनके वे भाव भला उत्पन्न ही कहाँसे हो सकते हैं जो इन्द्रियोंके मार्गसे दौड़कर विषयोंके ग्राममें पहुँचते हैं? फिर जिस प्रकार हाथकी हथेलीमें बाल नहीं होते, उसी प्रकार मनमें विषय भावनाओंका भी कहीं नाम नहीं होता। हे अर्जुन, मैं और अधिक क्या कहूँ, जिस समय मनकी यह अवस्था होती है उस समय यह समझना चाहिए कि वह मन मानसिक तपका पात्र होता है। परन्तु यह विवरण बहुत हो चुका। मैंने इस प्रकार तुम्हें मानस तपके सम्पूर्ण लक्षण बतला दिये हैं।" बस यही भगवान् श्रीकृष्णने कहा था। इसके उपरान्त

वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार शरीर, वाणी और मनके सम्बन्धसे तपके जो तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें बतला दिये हैं। अब तीनों गुणोंके कारण इन तीनों प्रकारके सामान्य तपोंके जो तीन भेद होते हैं, वह भी खूब अच्छी तरह और सचेत होकर सुनो।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥१७॥

"हे सुविज्ञ अर्जुन, ये जो तीनों प्रकारके तप तुम्हें बतलाये हैं, जब उनका आचरण फल-प्राप्तिकी सारी आशाका परित्याग करके किया जाता है और जब ये तप शुद्ध सात्त्विक वृत्तिसे और आस्तिक्य भावसे किये जाते हैं, तब बुद्धिमान लोग उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥१८॥

"और नहीं तो तपके निमित्तसे भेद-भाव उत्पन्न करके, बड़प्पनके शिखर पर बैठनेके लिए यह सोचकर कि त्रिभुवनमें मेरे सिवा और किसीको मान प्राप्त न हो, सभा और भोजन आदिके अवसर पर स्वयं ही सबसे अधिक और पहले सम्मान प्राप्त करनेके लिये, स्वयं ही सारे विश्वकी स्तुतिका पात्र बननेके लिए और इस उद्देश्यसे कि सब लोग दौड़-दौड़कर मेरे घर आया करें और लोगोंसे अनेक प्रकारके जो सम्मान प्राप्त होते हैं, वे और किसीको न प्राप्त हों, बड़प्पनकी सब बातोंका स्वयं ही अनुभव प्राप्त करनेके लिए जिस प्रकार कोई भद्दा और कुरूप व्यक्ति अपना महत्व बढ़ानेके लिए बढ़िया कपड़े पहनता और अपने आपको सजाता है, उसी प्रकार शरीर और वाणी पर तपका मुलम्मा चढ़ानेके लिए और इस प्रकार अपना महत्व बढ़ाने के लिये, सारांश यह कि धन और मानकी वासनाओंको पराकाष्ठा तक पहुँचाकर जिस तपका कष्ट किया जाता है, वही "तप" राजस गिना जाता है। जो गौ ठाँठ हो जाती है और जिसे ऐसा रोग हो जाता है कि वह बच्चा होने पर भी दूध नहीं देती, उस गौकी तरह अथवा उस खेतकी तरह जो तैयार तो हो जाता है, परन्तु फिर भी जिसे जानवर चर जाते हैं और फिर जिससे अन्न-की प्राप्ति नहीं होती, वह तप भी केवल निष्फल होता और व्यर्थ जाता है, जो खूब शोर मचाकर और बहुत आडम्बरपूर्वक किया जाता है। इसके अतिरिक्त हे अर्जुन, ऐसा तप करनेवाले को जब यह दिखाई देता है कि मेरा तप निष्फल होता जा रहा है, तब वह उसे बीचमें ही और अधूरा छोड़ देता है और इसी लिए इस प्रकारके तपमें स्थिरता या स्थायित्व भी नहीं हो सकता। साधारणतः जो मेघ असमयमें ही आकाशमें आ जाता है और खूब जोरसे गरजकर सारे ब्रह्मांडको गुँजा देता है, वह क्या कभी घड़ी भर भी ठहरता है? इसी प्रकार जो तप राजस होता है, वह केवल निष्फल होकर बाँझके समान ही सिद्ध होता है और साथ ही आचरणमें भी वह पूरा नहीं उतरता। अब वही तप यदि तामस प्रकारका हो तो उसका आचरण करने पर मनुष्य स्वर्ग-लाभसे भी और इस लोकमें होनेवाली कीर्तिसे भी वंचित हो जाता है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

"हे अर्जुन, जिस तपमें कोरी मूर्खताका आश्रय लेकर अपना शरीर शत्रु समझा जाता है, शरीरको पंचाग्निका ताप पहुँचाया जाता है अथवा अन्दरसे ऐसी आग जलाई जाती है जिसमें शरीर साँपकी तरह जले, जिसमें सिर पर गुग्गुल जलाते हैं, पीठमें काँटे गड़ाये जाते हैं अथवा आस-पास जलनेवाली आगमें शरीर अंगारोंकी तरह जलाया जाता है अथवा श्वास और उच्छ्वास बन्द करके व्यर्थ ही उपवास किया जाता है अथवा अपने शरीरको उलटा टाँगकर और धूनी पर मुँह लटकाकर धूम्रपान किया जाता है, नदी में बरफकी तरह ठंडे पानीमें गले तक खड़े होकर साधना की जाती है अथवा अपने शरीरके जीवित मांसके टुकड़े काटे जाते हैं और, हे अर्जुन, जब इस तरह अपने शरीरको अनेक प्रकारकी यातनाएँ पहुँचाई जाती हैं, तब जो तप होता है और जिसका हेतु केवल दूसरोंका नाश करना होता है, उस तपका आचरण करके जो अपने शरीरको कष्ट पहुँचाता है, उसकी अवस्था उसी पत्थरके समान होती है जो स्वयं अपने ही भारके कारण नीचेकी ओर बराबर लुढ़कता जाता है और इस प्रकार स्वयं अपने आपको भी चूर चूर कर डालता है और जो कुछ उसके मार्गमें पड़ता है, उसे भी चूर चूर कर डालता है। ऐसा मनुष्य सुखसे रहनेवाले अपने जीवको क्लेश देकर विजय-प्राप्तिकी दुष्ट वासनासे तपका आचरण करता है। सारांश यह कि इस प्रकार शारीरिक यातनाके भयङ्कर कृत्योंसे जो तप निष्पन्न होता है, उसीको तामस समझना चाहिए। इस प्रकार सत्व आदि गुणोंके योगसे तपके जो तीन प्रकार होते हैं, वे मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब प्रसंग आ गया है, इसलिए दानके तीनों प्रकारोंके लक्षण भी तुम्हें बतला देता हूँ इस प्रकरणमें गुणोंके योगसे दानके भी तीन वर्ग होते हैं। उनमेंसे पहले सात्विक दानके लक्षण सुनो।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥

"अपने धर्मके अनुसार आचरण करनेमें जो द्रव्य आदि प्राप्त हों, वे बहुत आदर-पूर्वक दूसरोंको देने चाहिएँ। कभी कभी ऐसा होता है कि उत्तम बीज तो मिल जाते हैं, परन्तु बोनेके लिए अच्छा और दमदार खेत नहीं मिलता। प्रायः दानके सम्बन्धमें भी ठीक इसी तरहकी बात दिखाई देती है। कभी कभी ऐसा होता है कि अनमोल हीरा तो हाथ आ जाता है, परन्तु ऐसा सोना नहीं मिलता जिसमें वह जड़ा जा सके। अथवा यदि हीरा और सोना दोनों मिल जायँ तो फिर उन दोनोंके योगसे बना हुआ आभूषण पहननेके लिए अंग ही नहीं होता। बस इसी तरहकी बात दानके सम्बन्धमें भी दिखाई देती है। परन्तु जब मनुष्यका भाग्य सचमुच उदय होता है, तब जिस प्रकार शुभ समय या त्यौहार, जीवन-सखा और धन-सम्पत्ति तीनोंका योग हो जाता है, उसी प्रकार दानकी सहायताके लिए जब सत्व गुण आता है, तब दानके योग्य स्थल, पात्र, काल और द्रव्यके चारों साधन भी आकर एकत्र हो जाते हैं। अतः उचित दान करनेके लिए पहले कुरुक्षेत्र, काशीक्षेत्र अथवा इन्हींके समान किसी और पवित्र भूप्रदेश तक प्रयत्नपूर्वक पहुँचना चाहिए। फिर उस स्थान पर पहुँचकर पूर्णिमा अथवा अमावस्याका पुण्य पर्व-काल अथवा इसी प्रकारका और कोई शुद्ध काल देखना

चाहिए। फिर ऐसे स्थल और ऐसे कालमें दानके योग्य कोई उपयुक्त पुरुष ढूँढ़ना चाहिए। वह पुरुष मूर्तिमान शुद्धता ही होना चाहिए। वह ऐसा अत्यन्त पवित्र ब्राह्मण-श्रेष्ठ होना चाहिए जो सदाचारका जन्म-स्थान या मायका और वेद-ज्ञानका संग्रहालय हो। जब ऐसा उत्तम पात्र मिल जाय, तब अपने वित्त या सम्पत्ति परसे अपना स्वत्व हटाकर वह वित्त उसे अर्पण करना चाहिए। परन्तु यह काम करना किस प्रकार चाहिए? ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार पत्नी अपने पतिके सामने मर्यादापूर्वक जाती है, जिस प्रकार कोई सज्जन अपने पास रखी हुई किसीकी धरोहर उसे वापस करके भारसे मुक्त होता है अथवा कोई सेवक बहुत ही नम्रतापूर्वक किसी राजाको ताम्बूल देता है। बस ठीक इसी प्रकार निष्काम मनसे उस ब्राह्मण-श्रेष्ठको भूमि आदि दान देनी चाहिए। तात्पर्य यही है कि दान देते समय किसी प्रकारके फलकी आकांक्षा अपने मनमें नहीं उत्पन्न होने देनी चाहिए। इसके अतिरिक्त दान देनेके लिए जो मनुष्य ढूंढा जाय, वह ऐसा ही होना चाहिए जो लिए हुए दानका बदला कभी किसी प्रकारसे न चुका सकता हो। जिस प्रकार आकाशको पुकारने पर उससे कोई प्रत्युत्तर नहीं मिलता अथवा दर्पणको छोड़कर किसी दूसरी ओर देखनेसे उस दर्पणमें अपना प्रतिबिम्ब नहीं दिखाई देता अथवा जलपूर्ण स्थान पर फेंका हुआ गेंद जिस प्रकार फिर लौटकर हमारे हाथ नहीं आता अथवा जिस प्रकार उत्सर्ग किये हुए साँड़को दिया हुआ चारा अथवा कृतघ्नके साथ किया हुआ उपकार कभी किसी रूपमें फलप्रद नहीं होता, ठीक उसी प्रकार दाताको भी उचित है कि ऐसे ही पुरुषको दान दे जिससे फिर उस दानका कोई अंश या उसके बदलेमें और कोई उपकार आदि प्राप्त न हो सकता हो। और दान देते समय कभी इस प्रकारका भेद-भाव भी अपने मनमें नहीं आने देना चाहिए कि मैं दाता हूँ और वह गृहीता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, जब इन सब बातोंका योग होने पर दान किया जाता हो, तब उसी दानको सर्वोत्तम और सात्विक समझना चाहिए। और देश, काल तथा सत्पात्र ब्राह्मणका ध्यान रखकर जो दान किया जाता है, वही दान निर्दोष तथा शास्त्रोक्त होता है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥२१॥

"परन्तु जिस प्रकार दूध पर दृष्टि रखकर गौको चारा दिया जाता है अथवा अनाजसे अपनी खत्ती भरनेके उद्देश्यसे खेतमें बीज बोये जाते हैं अथवा व्यवहार या न्योतेमें मिलनेवाली रकम पर ध्यान रखकर अपने सम्बन्धियों आदिको मंगल-कार्यका निमन्त्रण दिया जाता है अथवा जिस प्रकार किसी ऐसे व्रतस्थ मनुष्यके यहाँ कुछ खाने-पीनेका सामान या पत्तल आदि भेजी जाती है जिसके सम्बन्धमें यह निश्चय रहता है कि वह किसी न किसी रूपमें अवश्य ही लौटा देगा अथवा जिस प्रकार पुरस्कार-रूपमें मिला हुआ धन पहले अपनी गाँठमें बाँध लिया जाता है और तब पुरस्कार देनेवालेका कार्य किया जाता है अथवा जिस प्रकार वेतन या धन लेकर रोगीकी चिकित्सा की जाती है, उसी प्रकार जो दान इस उद्देश्यसे दिया जाता है कि उस दानके द्वारा आगे चलकर हमारा कुछ उपकार या निर्वाह होगा अथवा रास्तेमें चलते समय किसी ऐसे

श्रेष्ठ ब्राह्मणके मिल जाने पर जिसे दिया हुआ दान कभी किसी रूपमें वापस नहीं मिल सकता, उसे दानमें एक कौड़ी दे दी जाती है और अपने समस्त गोत्रजोंके प्रायश्चित्तके संकल्पका जल उसके हाथ पर रख दिया जाता है, ठीक उसी प्रकार तरह-तरहके पर-लोक सम्बन्धी सुखपूर्ण फलोंका ध्यान रखकर इतना अल्प दान दिया जाता है जो किसी-की एक बारकी क्षुधाकी निवृत्तिके लिये यथेष्ट न हो; और वह अल्प दान भी जिस समय ब्राह्मण लेकर चलने लगता है, उस समय यजमानको मानों ऐसा जान पड़ता है कि हमारे घर डाका पड़ा है और हमारा सर्वस्व ही लुट गया है; और इसी लिए वह अपने मनमें बहुत विकल होने लगता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, अब मैं अधिक विस्तार न करके केवल इतना ही कहता हूँ कि मनमें इस प्रकारके भाव रखकर जो दान दिया जाता है, उसे पूर्ण रूपसे राजस दान समझना चाहिए।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"और हे अर्जुन, यवनोंकी बस्तीमें, जंगलमें, अपवित्र देश-विभागमें, छावनीमें अथवा नगरके चौरास्ते पर ठीक सन्ध्या समय अथवा रातको चोरीका धन दान करना; और वह दान भी किसे करना? भाट, बाजीगर, वेश्या या जुआरी सरीखे ऐसे लोगोंको जो नितान्त भ्रममें पड़े हों और दूसरोंको ठगते हों; तिसपर सामने रूपवती और लावण्य-वती स्त्रियोंका नाच होता हो, आँखोंमें चरबी छाई हो और खुशामदी लोगोंकी की हुई स्तुतियाँ बराबर कानमें सुनाई पड़ती हो, तिस पर ऐसे समयमें जब कि फूलों और दूसरे सुगन्धित द्रव्योंकी कोमल सुगन्धोंके कारण अंगोंमें मानों विषय-लोभके वेतालका ही संचार हो रहा हो, सारे संसारको लूटकर इकट्ठा की हुई सम्पत्ति इस प्रकार दान करना कि मानों नीचों और दुष्टोंके लिए अन्न-सत्र ही खोल दिया गया हो, उस दानको तथा इस प्रकारके और भी दानोंको मैं तामस कहता हूँ। इसके अतिरिक्त कभी-कभी दैवयोगसे एक और प्रकार भी हो जाता है। वह भी सुन लो। जिस प्रकार कीड़ोंकी खाई हुई लकड़ी पर रेखाओंके योगसे कभी कभी कुछ अक्षर बन जाते हैं अथवा दोनों हाथोंसे ताली बजाते समय आपसे आप कोई कौवा दोनों हथेलियोंके बीचमें आ जाता है, ठीक उसी प्रकार कभी कभी तामस पुरुषके लिए भी शुभ-काल तथा पवित्र स्थलका योग प्राप्त हो जाय और ऐसे योग पर कोई ऐसा पुरुष भी उसके पास दान माँगनेके लिए जाय जो दान लेनेका उपयुक्त पात्र हो और द्रव्यकी आवश्यकताके कारण वह याचना कर बैठे, तो उस तामस पुरुषके मनमें श्रद्धाका कहीं नाम भी नहीं होता, इसलिए वह उस अतिथिको नमस्कार भी नहीं करता और न स्वयं ही अर्घ्य, पाद्य आदि उसे अर्पित करके उसका आदर-सत्कार करता है और न किसी दूसरेसे ही इस प्रकार उसका आदर सत्कार कराता है, यहाँ तक कि अभ्यागतके बैठनेके लिए उसे आसन तक नहीं देता। ऐसी अवस्था-में गन्ध और अक्षत आदिके द्वारा उसकी पूजा करनेका तो कोई जिक्र ही नहीं हो सकता हे अर्जुन, तामसी पुरुषोंके हाथों इसी प्रकारका अशास्त्रीय तथा अपमानकारक व्यव-

हार होता है। यदि उसने उस याचकका बहुत सत्कार किया तो उसी प्रकार उसके हाथ पर बहुत ही थोड़ा-सा द्रव्य रख देता है, जिस प्रकार कोई कर्जदार तगादा करने-वालेके हाथ पर कुछ रखकर अपना पीछा छुड़ाता है। और इस प्रकार दान देते समय भी उसके मुँहसे अबे-तबे आदिकी तरहकी अपमानकारक बातें बराबर निकलती रहती हैं। और हे अर्जुन, इस प्रकार जो दान वह किसीको देता है, उसका वह तामसी दानकर्त्ता उस गृहीतासे बार-बार उल्लेख भी करता जाता है और भली बुरी बातें कहकर उसका अपमान भी करता चलता है। परन्तु इस विषयका यथेष्ट विस्तार हो चुका। हे अर्जुन, इस प्रकार जो द्रव्य दान किया जाता है, उसे सर्वत्र तामस दान ही कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें राजस, तामस आदि तीनों प्रकारके दान ऐसे लक्षणों सहित बतला दिये हैं जिनसे वे सहजमें पहचाने जा सकते हैं। परन्तु हे सुविज्ञ अर्जुन, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कदाचित् तुम्हारे मनमें इस प्रकारकी कल्पना हो सकती है कि यदि संसारसे मोक्ष दिलानेवाला एक मात्र सात्विक कर्म ही है, तो फिर दूसरे बन्धनकारक दुष्ट कर्मोंका वर्णन क्यों होता है? तो इसका उत्तर यही है कि जब तक भूत नहीं भगाया जाता, तब तक जमीनमें गड़ा हुआ धन नहीं मिलता और न धूएँका कष्ट सहे बिना दीपककी बत्ती ही जलती है। इसी लिए शुद्ध सत्वको छिपानेवाले जो जो रज और तमके आवरण हैं, उन आवरणोंको फाड़कर दूर करनेका कृत्य भला कैसे बुरा कहा जा सकता है? मैंने जो अभी (अर्थात् दूसरे श्लोकसे लेकर बाईसवें श्लोक तक) यह बतलाया है कि श्रद्धासे लेकर दान तक समस्त कर्म समूह तीनों गुणोंसे व्याप्त रहते हैं, उनमेंसे मैं केवल तीन ही प्रकारोंका वर्णन करना चाहता था; परन्तु सत्वका ठीक-ठीक स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए ही मैंने और प्रकारोंका भी वर्णन किया है। जो वस्तु दूसरी दो वस्तुओंके ठीक मध्यमें दबी हुई रहती है, उसका ठीक-ठीक स्वरूप तभी स्पष्ट होता है, जब उस वस्तुको दबाने या छिपानेवाली बाकी दोनों वस्तुओंका स्वरूप स्पष्ट कर दिया जाय। जब दिन और रात दोनोंका त्याग कर दिया जाय, तब सन्ध्या-कालका ठीक-ठीक प्रत्यय हो जाता है। ठीक इसी न्यायसे जब रज और तमका नाश हो जाता है, तब जो सत्व बाकी रह जाता है, वह आपसे आप मूर्तिमान होकर सामने आ जाता है। इसी विचारसे और सत्वका पूरा पूरा ज्ञान तुम्हें करानेके लिए ही मैंने इस समय रज और तमका भी निरूपण किया है। तुम रज और तमको छोड़कर सत्व गुणकी सहायतासे अपने कर्त्तव्यका पालन करो। तुम निर्मल सत्व-गुणसे युक्त होकर ही यज्ञ आदि कर्मोंका आचरण करो, बस फिर तुम्हें अपना आत्म-स्वरूप प्राप्त हो जायगा। जब स्वयं सूर्य ही दिखलानेवाला बन जाय तो फिर भला ऐसी कौन-सी चीज हो सकती है जो दिखाई न दे? ठीक इसी प्रकार यदि सत्वकी सहायतासे कार्य किया जाय तो ऐसा कौन-सा फल है जो प्राप्त न हो सकता हो? तात्पर्य यह कि इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं कि जितने प्रकारकी शक्तियोंकी आवश्यकता होती है, वे सब सत्व गुणमें पाई जाती हैं। परन्तु मोक्ष प्राप्त करके आत्म-स्वरूपमें सम-रस हो जाना कुछ और ही बात है। जिस समय उसकी सहायता प्राप्त होती है, उस समय मोक्षके प्रान्तमें भी आपसे आप प्रवेश हो जाता है। सोना चाहे

पन्द्रह रुपये तोलेका* और बिलकुल चोखा ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह व्यवहारके लिए तभी उपयुक्त होता है, जब उस पर राजाके नामका ठप्पा होता है। यह ठीक है कि निर्मल, ठंढा और सुगन्धित जल बहुत सुखकर होता है, परन्तु फिर भी उसे पवित्रता तभी प्राप्त होती है, जब उसका सम्बन्ध किसी तीर्थसे होता है। यों साधारण नदी चाहे कितनी ही बड़ी क्यों न हो, परन्तु जब किसी महानदीके साथ उसका संगम होता है, तभी समुद्रमें भी उसका प्रवेश हो सकता है। ठीक इसी प्रकार हे अर्जुन, जो लोग सात्विक कर्म करनेवाले होते हैं, उनके लिए मोक्ष-प्राप्तिके मार्गमें किसी प्रकारकी अड़चन नहीं रह जाती। परन्तु यह प्रश्न कुछ अलग ही है।" यह सुनकर अर्जुनकी उत्सुकता इतनी अधिक बढ़ी कि वह उसके अन्तरंगमें समा न सकी। उसने श्रीकृष्णसे कहा—"हे देव, आप कृपाकर उस प्रश्नके सम्बन्धकी भी कुछ बातें मुझे बतलावें।" उस समय दयालु-श्रेष्ठ श्रीकृष्णने उससे कहा—"अच्छा, अब मैं तुम्हें स्पष्ट करके यह बतलाता हूँ कि सात्विक पुरुष किस प्रकार मोक्ष रूपी रत्नके दर्शन प्राप्त करता है। सुनो।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥२३॥

"सारे विश्वका मूल कारण और विश्रान्तिका स्थल जो अनादि पर-ब्रह्म है, उसका नाम तो एक ही है, परन्तु वह तेहरा या तीन प्रकारका है। यदि वास्तवमें देखा जाय तो पर-ब्रह्मका न तो कोई नाम ही है और न कोई जाति ही है। परंतु इस माया जनित मोहके अन्धकारमें परब्रह्मकी कुछ कल्पना करानेके लिए उसका यह नाम केवल पहचानके लिए रख दिया है। जब कोई बालक जन्म लेता है, तब वह अपने साथ अपना नाम लेकर नहीं आता। परन्तु आगे चलकर उसका जो नाम रखा जाता है, उस नामसे पुकारते ही वह तुरन्त बोल उठता है। जब संसारके दुःखोंसे पीड़ित जीव अपने कष्टोंकी बात कहने लगते हैं, तब उनके जिस नामके पुकारने पर ब्रह्म-तत्व बोल उठता और उसका उत्तर देता है, वही यह सांकेतिक अर्थात् पहचानका नाम है। वेदोंने जगतपर कृपा करके अपनी दिव्य दृष्टिसे एक ऐसा मंत्र ढूँढ़ निकाला है जिसकी सहायतासे ब्रह्म-तत्व वाचाके प्रान्तमें आ सकता है और उसके अद्वैत स्वरूपका व्यक्त रूपसे अनुभव किया जा सकता है। जब उस एक मंत्रका उच्चारण करके ब्रह्मको पुकारा जाता है, तब वह पीछे होने पर भी सामने आ जाता है। परन्तु इस मन्त्रका ज्ञान उन्हीं लोगोंको होता है जो वेद-रूपी पर्वतके ऊपर उपनिषद्-रूपी नगरमें ब्रह्मकी पंक्तिमें बैठे रहते हैं। केवल यही नहीं, बल्कि स्वयं ब्रह्मामें विश्वको उत्पन्न करनेकी जो शक्ति है, वह जिस नामकी एक ही आवृत्तिसे उसे प्राप्त हुई है, वह भी यही नाम है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, सृष्टि उत्पन्न करनेसे पहले ब्रह्मा इतने घबरा गये थे कि वे मुझे (अर्थात् ईश्वरको) ही भूल गये थे; और इसी लिए वे सृष्टि भी उत्पन्न नहीं कर सकते थे। परन्तु जिस नामकी सहायतासे उनमें सृष्टि उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य आई, जिस नामके अर्थका मनन करनेके कारण और जिन तीन अक्षरोंका जप करनेके कारण ब्रह्माको सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति प्राप्त हुई थी, वह यही मन्त्र है। फिर उन्होंने

* यह ज्ञानेश्वर महाराजके समयका भाव है।—अनुवादक

ब्राह्मण उत्पन्न किये, उन्हें वेदोंका अनुसरण करनेका आदेश दिया और यज्ञ-कर्मको उनके निर्वाहका साधन बना दिया। इसके उपरान्त उन्होंने इतने अपरम्पार मनुष्य उत्पन्न किये कि उनकी गिनती ही नहीं हो सकती। उन सबके निर्वाहके लिए ब्रह्माने तीनों भुवनोंका मानों दानपत्र लिख दिया। जिस नाम-मन्त्रके प्रभावसे प्रजापति ब्रह्मा ऐसा अद्भुत कार्य कर सके थे, अब तुम उसका स्वरूप सुनो।" बस यही बात अर्जुनसे भगवानने कही थी। इसके उपरान्त उन्होंने फिर कहा—"समस्त मन्त्रोंका अधिपति जो प्रणव (अर्थात् ओंकार) है, उसे इस नामका पहला वर्ण समझना चाहिए। उसका दूसरा वर्ण तत् है और तीसरा वर्ण सत् है। इस प्रकार यही ओंतत्सत् उस ब्रह्मका तेहरा नाम है। उपनिषदोंके अर्थ या सार रूपी इस सुन्दर पुष्पकी सुगन्धिका तुम उपभोग करो। जब इस नामके साथ एक-रूप होकर सात्विक कर्मोंका आचरण किया जाता है, तभी मनुष्य कैवल्यको अपने घरका दास बना लेता है। हे अर्जुन, यदि दैव अनुकूल हो तो सम्भव है कि हमें कपूरके अलंकार भी प्राप्त हो जायँ। परन्तु यह समझना बहुत ही कठिन है कि वे अलंकार शरीर पर धारण किस प्रकार किये जायँगे। ठीक इसी प्रकार यदि सत्कर्मोंका आचरण भी किया जाय और ब्रह्मके नामका उच्चारण भी किया जाय तो भी यदि विनियोग (अर्थात् व्यवस्था या शास्त्रोक्त विधियों) का ज्ञान न हो तो जिस प्रकार असंख्य साधु-जनोंके घर आने पर भी उनका उपयुक्त आदर-सत्कार न हो सकनेके कारण अपने पासकी पुण्याई भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार अथवा जिस प्रकार गहने पहननेकी कामनासे कुछ नग और सोनेके डले आदि कहींसे इकट्ठा करके यों ही बाँधकर गलेमें लटका लिये जाते हैं, यदि मुख ब्रह्मके नामका उच्चारण करता हो और हाथोंसे सात्विक कर्म भी होते हों, परन्तु यदि उनके विनियोगका ज्ञान न हो तो ये सब कृत्य व्यर्थ हो जाते हैं। अन्न और भूख दोनों पास ही रहते हैं। परन्तु यदि बालकको भोजन करना न आता हो तो फिर उसे उपवास ही करना पड़ेगा। अथवा हे वीर अर्जुन, यदि तेल, बत्ती और अग्नि तीनों ही पास हों, परन्तु यह ज्ञात न हो कि उन सबकी योजना किस प्रकार की जाती है, तो प्रकाश किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार यदि उपयुक्त समय पर कर्म भी होता हो और उसका मन्त्र भी स्मरण हो, परन्तु उसके विनियोगका ज्ञान न हो तो सभी बातें निष्फल हो जाती हैं। इसी लिए इन तीनों वर्णोंके योगसे बना हुआ पर-ब्रह्मका जो एक नाम है, उसका विनियोग तुम सुनो।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥

"इस नामके तीनों अक्षरोंकी कर्मके आरम्भ, मध्य और अन्त तीनों स्थानोंमें योजना करनी चाहिए। हे अर्जुन, इसी व्यवस्थासे ब्रह्मवेत्ताओंने ब्रह्म-स्वरूप प्राप्त किया है। जो लोग शास्त्रोंके ज्ञानके कारण कर्म-निष्ठ हो जाते हैं, वे ब्रह्मके साथ एकता प्राप्त करनेके लिए बिना यज्ञ आदि कर्म किये नहीं रहते। परन्तु आरम्भमें वे लोग ओंकारको अपने ध्यानमें रखते हैं और तब वाचासे भी उसका उच्चारण करते हैं। ओंकारके ध्यान और उसके स्पष्ट उच्चारणके साथ वे लोग कर्म-मार्गमें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार अँधेरेमें

जानेके समय जलता हुआ दीपक अथवा जंगलमें जाते समय बलवान् मनुष्य अपने साथ रखना चाहिए, उसी प्रकार कर्मका आरम्भ करते समय प्रणवका आधार लेना चाहिए। ब्रह्म-वेत्ता लोग अपने इष्ट देवताके उद्देश्यसे धर्म द्वारा अर्जित अनेक प्रकारके द्रव्य ब्राह्मणके हाथों अग्निमें आहुतिके रूपमें डलवाते हैं। वे लोग शास्त्रोक्त विधियोंके अनुसार दक्षतापूर्वक आहवनीय आदि तीनों अग्नियोंमें तीनों समय आहुति देकर यज्ञ-कर्मका आचरण करते हैं। वे अनेक प्रकारके यज्ञों और यागों आदिका अंगीकार करके इस माया-जनित संसारके मोहका त्याग करते हैं। अथवा न्यायसे प्राप्त भूमि आदि द्रव्योंका दान उपयुक्त स्थान और कालमें सत्पात्र पुरुषको देते हैं। अथवा एकान्तराद भोजनका व्रत करते हैं (अर्थात् सदा एक दिन भोजन करते हैं और एक दिन नहीं करते), चान्द्रायण आदि व्रत करते हैं और महीने महीने भर तक उपवास करके अपने शरीरकी धातुओंको सुखाते हुए तपस्या करते हैं। इस प्रकार जो यज्ञ, दान और तप आदि कर्म संसारमें बन्धनकारक कहे जाते हैं, उन्हीं कर्मोंका आचरण करने और उन्हींके द्वारा ब्रह्मवेत्ता लोग सहजमें ही मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं। स्थलमें जो लकड़ियाँ आदि जड़ जान पड़ती हैं, उन्हींकी सहायतासे हम लोग जिस प्रकार पानीमें तैरते हैं, उसी प्रकार इस नामकी सहायतासे लोग बन्धनकारक कर्मोंसे छुटकारा पाते हैं। परन्तु यह विस्तार बहुत हो चुका। इस प्रकार ये यज्ञ और दान आदि क्रियाएँ ओंकारकी सहायतासे हित-कारक होती हैं। हे अर्जुन, तुम यह बात ध्यानमें रखो कि जिस समय यह जान पड़ता है कि ये क्रियाएँ फलके कुछ भी समीप पहुँच गई हैं, उस समय तत् शब्दका प्रयोग किया जाता है।

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥

"जो पर-ब्रह्म नामक वस्तु समस्त माया-जन्य संसारसे परेकी है, जो सब कुछ देखनेवाली है और जो "तत्" शब्दसे दरसाई जाती है, वह ऐसी है कि सबका कारण है; और इसी रूपमें मनमें उसका ध्यान करके, हे अर्जुन, विज्ञ पुरुष वाणीसे भी उसका उच्चारण करते हैं। वे कहते कि "तत्" रूपी जो ब्रह्म है, उसीको हमारी ये सब क्रियाएँ अपने फलों सहित अर्पित हों; और हमारे भोगनेके लिए इनमेंसे कुछ भी बाकी न रहे। इस प्रकार तत् रूपी ब्रह्मको अपने समस्त कर्म समर्पित करके वे "न मम" कहकर अपने आपको समस्त कर्म-फलोंसे अलग कर लेते हैं। फिर ओंकारसे आरम्भ किया हुआ और तत्कारमें ब्रह्मार्पण किया हुआ जो कर्म इस प्रकार ब्रह्म-रूप होता है, वह केवल ऊपरसे दिखाई देनेवाला कर्म होता है; परन्तु कर्तामें कर्तृत्वके अभिमानके कारण जो द्वैत भाव रहता है, वह इस बाह्य कर्मको ब्रह्मार्पण करनेसे भी ब्रह्म-रूप नहीं होता। नमक स्वयं तो पानीमें घुल जाता है, परन्तु उसका नमकपन फिर भी बाकी रह जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्तामें इस तरहकी भावनाका द्वैत भाव बना रहता है कि हमने अपना कर्म ब्रह्मार्पण किया है। और जब तक यह द्वैत भाव बना रहता है, तब तक संसारका भय नहीं छूटता। यह बात वे वेद, जो परमेश्वरके मुख हैं, चिल्ला चिल्लाकर कह रहे हैं। इसलिए कर्तृत्वके अभिमानके कारण जो ब्रह्म अपनेसे अलग या पराया जान

पड़ता है, उस पर आत्मत्व (अर्थात् अपने ही स्वरूप) का प्रत्यय होनेके लिए ही "सत्" शब्द रखा गया है। ओंकार और तत्कारके द्वारा जो कर्म ब्रह्म-स्वरूप कर दिये जाते हैं, वे "प्रशस्त" आदि शब्दोंसे वर्णित किये गये हैं—वे प्रशस्त कहे गये हैं। उन्हीं प्रशस्त कर्मों में "सत्" शब्द लगाया जाता है। अब मैं उसी सत् शब्दके विषयमें कुछ ऐसी बातें बतलाता हूँ जिनसे उसका आशय स्पष्ट हो जाय। सुनो।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते ॥२६॥

"इस सत् शब्दके द्वारा असत् अर्थात् अज्ञान-जन्य नाम-रूपात्मक विश्वकी छाप मिट जाती है और सत् तत्व रूपी सुवर्णका सच्चा और निर्दोष रूप व्यक्त होता है। यह सत् कभी काल या स्थलके प्रभावके कारण नहीं बदलता और सदा अपने आत्म-स्वरूपमें ही विलास ही करता रहता है। यह सारा नाम-रूपात्मक दृश्य जगत अनित्य है और इसी लिए वह "सत्" में नहीं आ सकता; और केवल आत्म-रूपकी प्राप्तिसे ही जिस सत् तत्वका ज्ञान होता है, उस सत् तत्वके द्वारा वे सब कर्म ऐक्य-ज्ञानके कारण सम-रूप हो जाते हैं, जो पहले प्रशस्त हो चुके रहते हैं और तब आत्म-स्वरूप ब्रह्म दिखाई देने लगता है। इसलिए ओंकार और तत्कारसे जो कर्म ब्रह्माकार हो जाते हैं, वे सब पचकर एक दमसे बिलकुल सद्-रूप हो जाते हैं। इस प्रकार इस सत् शब्दका अन्तःस्थ उपयोग तुम ध्यानमें रखो।" यही भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं। ये सब बातें मैं अपनी ओरसे नहीं कह रहा हूँ। परन्तु यदि इस प्रकार यह बात कही जाय तो भगवानके सम्बन्धमें द्वैत भावका दोष उत्पन्न होता है। अतः यही निश्चय करना चाहिए कि यह सब कथन भी भगवानका ही है। (अर्थात् भगवान की कही हुई ये बातें मैं नहीं कह रहा हूँ, बल्कि स्वयं भगवान ही मेरे अन्दरसे कह रहे हैं।) भगवान कहते हैं—"अब इस सत् शब्दका सात्विक कर्मोंके लिए एक और भी उपकारक प्रयोग होता है। वह भी सुन लो। सब लोग अपने अपने अधिकारके अनुसार अच्छी तरह सत्कर्म करते रहते हैं। परन्तु जब कुछ कारणोंसे वे कर्म किसी अंशसे हीन होते हैं, तब जिस प्रकार कोई अवयव खंडित या पीड़ित होनेके कारण शरीर ठीक तरहसे नहीं चलता अथवा जिस प्रकार वह गाड़ी नहीं चल सकती जिसमें पहिया नहीं होता, उसी प्रकार किसी वैगुण्य या न्यूनताके कारण "सत्" कर्म भी "असत्" हो जाते हैं। फिर ओंकार तथा तत्कारकी सहायताके लिए यह सत्-कार आ पहुँचता है और इससे उन हीन कर्मोंकी हीनता भी दूर हो जाती है—वे कर्म भी ऊँचे होकर सर्वाङ्गपूर्ण हो जाते हैं। यह सत् उन कर्मोंका असत्-पन दूर करके और उन्हें अच्छी तरह दृढ़ करके अपने सत्वकी सामर्थ्यसे उसी प्रकार हीन कर्मोंको सर्वाङ्गपूर्ण कर देते हैं, जिस प्रकार कोई दिव्य औषधि रोग-ग्रस्त पुरुषको रोगोंसे मुक्त कर देती है अथवा पीड़ित मनुष्यको पीड़ा-रहित कर देती है। कभी कभी किसी भूलके कारण कुछ कर्म विधि-नियमों उल्लंघन करके निषिद्ध मार्गमें जा लगते हैं, क्योंकि चलनेवाले ही मार्ग भूलते हैं और पारखीको ही भ्रम होता है। भला यह बात निश्चयपूर्वक कौन कह सकता है कि व्यवहारमें क्या क्या

नहीं हो जाता ? इसी लिए जब इस प्रकार अविचारके कारण कर्मकी मर्यादा नष्ट हो जाती है, और जब ये कर्म दुष्कर्म होनेके मार्गमें लग जाते हैं, तब हे भाई अर्जुन यदि इस "सत्" शब्दका प्रयोग ओंकार और तत्कारके प्रयोगसे भी अधिक सावधानता-पूर्वक किया जाय तो यह उस कर्मको निर्मल कर देता है। जिस प्रकार लोहेके लिए पारस पत्थरकी रगड़ या किसी नालेके लिये गंगाका संगम या मृतके लिए अमृतकी वर्षा होती है, उसी प्रकार हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, स-दोष कर्मके लिए सत् शब्दका प्रयोग भी कल्याणकारक होता है। इस शब्दका इतना अधिक महत्व है। इस स्पष्टीकरणके रहस्यका ध्यान रखकर तुम जब इस नामका विचार करोगे, तब यह बात तुम्हारे अनुभवमें आ जायगी कि यह केवल परब्रह्म ही है। जिस स्थानसे इस नाम-रूपात्मक वस्तु मात्रकी उत्पत्ति होती है, उसी स्थान पर जीव इस ओं-तत्सत्का उच्चारण करनेसे पहुँच जाता है। वह स्थान केवल अखंड शुद्ध परब्रह्म ही है और यह नाम उसमें रहनेवाली सामर्थ्यका दर्शक है। परन्तु आकाशके लिए जिस प्रकार स्वयं आकाशका ही आधार रहता है, उसी प्रकार इस नामके लिए भी इस नामका ही अखंड आधार है। आकाशमें उदित होनेवाला सूर्य जिस प्रकार स्वयं ही अपने आपको प्रकट करता है, उसी प्रकार यह नाम भी अपने ब्रह्म स्वरूपको स्वयं ही प्रकट करता है।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

"इसलिए तुम यह न समझ लो कि यह नाम केवल तीन वर्णोंका समूह ही है; बल्कि इसे तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म ही समझो। इसी लिए जो जो कर्म किये जायँ, फिर चाहे वे यजन हों, चाहे दान हों और चाहे तप आदि हों, वे चाहे यथा-विधि पूरे उतर जायँ अथवा न्यून होकर अधूरे ही रह जायँ, परन्तु जिस प्रकार पारसकी कसौटी पर रगड़े जानेके कारण खरे और खोटे सोनेका भेद कभी नहीं रह सकता (क्योंकि पारसका स्पर्श ही सबको शुद्ध सोना बना देगा), उसी प्रकार समस्त कर्म ब्रह्मार्पण होने पर ब्रह्म-रूप ही हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्रमें मिल जाने पर नदियाँ अलग अलग नहीं की जा सकतीं, उसी प्रकार ब्रह्मार्पण किये हुए कर्मोंमें न्यून और पूर्णका कोई भेद रह ही नहीं जाता। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैंने तुम्हें ब्रह्मके नामकी सामर्थ्य बतला दी है। और हे वीर पार्थ, इस नामके भिन्न भिन्न वर्णोंका प्रयोग भी मैंने तुम्हें सुन्दर भाषामें बतला दिया है। इस प्रकार इस नामका बहुत अधिक महत्व है और इसी लिए यह ब्रह्म नाम है। अब तुम इसका रहस्य समझ गये न ? इसलिए अब मैं यही चाहता हूँ कि आजसे तुममें इस नामकी श्रद्धा बराबर बढ़ती रहे, क्योंकि इस नामका जब उदय होता है, तब यह जन्म-बन्धनका कहीं ठौर-ठिकाना भी नहीं रहने देता। जिस कर्ममें इस सत् शब्दकी व्यवस्थाका प्रयोग किया जायगा, वह कर्म मानों सांग-वेदके अनुष्ठानके ही समान हो जायगा।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥

"परन्तु यदि इस व्यवस्थाको दूर करके, श्रद्धाको छोड़कर और दुराग्रहपूर्वक करोड़ों

अश्वमेध यज्ञ भी किये जायँ, रत्नोंसे भरकर सारी पृथ्वी दान कर दी जाय, एक अँगूठे पर खड़े रहकर सहस्रों तप किये जायँ, इतने बड़े बड़े तालाब और कुएँ आदि बनवाये जायँ कि मानों दूसरे समुद्र ही हों, परन्तु ये सब बातें बिलकुल निष्फल होती हैं। जिस प्रकार पत्थर पर बरसा हुआ जल, राखमें दी हुई आहुति, छायाके साथ किया हुआ आलिंगन अथवा आकाशको मारा हुआ थप्पड़ व्यर्थ होता है, उसी प्रकार हे अर्जुन, ये समस्त कर्म-समारम्भ भी बिलकुल व्यर्थ ही हो जाते हैं। अगर कोल्हूकी घानीमें पत्थरके टुकड़े डाले जायँ तो न उनमेंसे तेल ही निकलता है और न खली ही निकलती है। ठीक इसी प्रकार इस कर्म-समारम्भसे भी किसी तरहका लाभ नहीं होता; हाँ उलटे दारिद्रय आकर साथ लग जाता है। अपने पास केवल भीख माँगनेका खप्पड़ रखकर चाहे कोई अपने देशमें घूमे और चाहे किसी दूसरे देशमें चला जाय, परन्तु उसका कहीं कुछ भी मूल्य नहीं मिलता और उसे ले जानेवालेके लिए भूखों मरनेकी ही नौबत आती है। ठीक इसी प्रकार इस तरहके कर्मोंके आचरणसे पारलौकिक लाभकी बात तो दूर रही, कोई ऐहिक लाभ भी नहीं होता। तात्पर्य यह कि यदि ब्रह्मके नामके प्रति श्रद्धा न हो तो जो काम किया जाता है, वह इस लोकमें भी और परलोकमें भी निरर्थक ही सिद्ध होता है।" पाप रूपी हाथीका संहार करनेवाले सिंह और त्रिताप रूपी अन्धकारको दूर करनेवाले सूर्य जो लक्ष्मी-कान्त वीर नर श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण हैं, उन्होंने यही सब बातें कही थीं। जिस प्रकार चाँदनीमें स्वयं चन्द्रमा भी छिप जाता है, उसी प्रकार उस समय अर्जुन भी अपरम्पार आत्मानन्दमें पूर्ण रूपसे निमग्न हो गया था। संग्राम भी एक प्रकारका व्यापार ही है। उसमें बाणोंके अग्र भागको मापनेका साधन बनाकर उसके द्वारा मांस काट काटकर जीवित मनुष्य ही नापे जाते हैं। ऐसे भयंकर प्रसंगमें अर्जुनको स्वानन्द-साम्राज्यका सुख भोगना भला कैसे शोभा देता था ? परन्तु वास्तवमें अर्जुनके समान भाग्य इस संसारमें और किसीका नहीं है। संजयने धृतराष्ट्रसे कहा—"हे कौरव-राज, अपने शत्रु (अर्थात् अर्जुन) का यह गुण देखकर सचमुच उसके सम्बन्धमें प्रेम-पूर्ण आदरका भाव ही उत्पन्न होता है। और हम लोगोंको सुखके मन्त्रका उपदेश करनेके लिए यह हमारा गुरु हुआ है। यदि इस अर्जुनने प्रश्न ही न किया होता तो भगवानने अपने हृदयका रहस्य क्यों खोला होता ? और तब हम लोगोंको भी परमार्थके दर्शन किस प्रकार होते ? हम लोग अज्ञानके अन्धकारमें जैसे तैसे जन्म बिता रहे थे; परन्तु उसने हम लोगोंको आत्म-ज्ञानके प्रकाश-मन्दिरमें ला पहुँचाया है। हम लोगों पर उसने यह कितना बड़ा उपकार किया है ! वास्तवमें गुरुके नातेसे उसे श्री व्यासदेवका सगा भाई ही समझना चाहिए।" ऊपरसे यह बात कहकर संजय अपने मनमें सोचने लगा—"मैं जो अर्जुनकी बहुत अधिक स्तुति कर रहा हूँ, यह धृतराष्ट्रके अन्तःकरणमें खटकेगी, इसलिए अब इस सम्बन्धमें और कुछ न कहना ही अच्छा है।" यही विचार करके वह उस समय चुप रहा। फिर उसने वह प्रसंग छेड़ दिया जो अर्जुनने उस समय श्रीकृष्णसे स्पष्ट करनेके लिए कहा था। जो कुछ संजयने किया था, वही अब मैं भी करूँगा। श्री निवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञान-देवकी प्रार्थना है कि श्रोता लोग इधर ध्यान दें।

अठारहवाँ अध्याय

हे निर्दोष परमेश्वर, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। आप अपने भक्तोंका सब प्रकारसे कल्याण करते हैं और आप ही जन्म तथा जराजरा रूपी मेघ मंडलका नाश करनेवाले प्रभंजन प्रचंड वायु हैं। हे बलाढ्य देव, आप समस्त अमंगलोंका नाश करते हैं और वेद-शास्त्र-रूपी वृक्षके जो फल हैं, वे फल भी आप ही देते हैं। हे स्वयंपूर्ण देव; विरक्तों पर आपका प्रेम रहता है, आप कालको सामर्थ्यको भी रोकते हैं और इतना होने पर भी आप समस्त कलाओंसे परे हैं। हे अटल देव, आप चंचल चित्तोंका प्राशन करके तोन्दल हुए हैं—चंचल चित्तोंको खानेके कारण आपका पेट फूला हुआ है। जगतको विकसित करके उसमें क्रीड़ा करना आपको बहुत अच्छा लगता है। हे अज्ञेय देव, आप उत्कट अति आनन्दको स्फूर्ति देनेवाले हैं। आप सब प्रकारके दोषोंका निरन्तर नाश करते रहते हैं। आप विश्वके मूल आधार हैं। हे स्वयं-प्रकाश देव, इस जगत-रूपी मेघको आश्रय देनेवाले आकाश आप ही हैं। जिस मूल स्तम्भ पर इस सारे विश्वकी रचना हुई है, वह स्तम्भ भी आप ही हैं। आप जन्म और मरण रूपी संसारका विध्वंस करते हैं। हे अत्यन्त शुद्ध देव, केवल अज्ञानके ही नहीं, बल्कि ज्ञान-रूपी बगीचेका भी नाश करनेवाले हाथी, शम और दमके द्वारा मदनका अभिमान तोड़नेवाले और दयाके सागर भी आप ही हैं। हे एक-स्वरूप देव, आप काम-रूपी सर्पका गर्व दूर करनेवाले, भक्तोंके भक्ति रूपी मन्दिरको प्रकाशित करनेवाले दीपक और ताप शान्त करनेवाले हैं। हे अद्वितीय परमेश्वर, जिन लोगोंकी शान्ति और विरक्ति पूर्णताको पहुँची हुई होती है, उन्हें आप अत्यन्त प्रिय होते हैं। अपने भक्तोंके आप अंकित होते हैं। आप केवल भक्तिके द्वारा प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु मायाके लिए आपका स्वरूप अगम्य है। हे श्री सद्गुरु रूपी परमेश्वर, आप ऐसे अद्भुत फल देनेवाले कल्प-वृक्ष हैं जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। आप ऐसे उपजाऊ स्थल हैं जिसमें आत्म-ज्ञानके वृक्षका बीज उगता है और उसमेंसे अंकुर निकलते हैं। हे महाराज, मैं आपका जय-जयकार करता हूँ। परन्तु आप ऐसे हैं कि आपके विशिष्ट लक्षण मनके द्वारा नहीं जाने जा सकते और न वाचासे उनका उच्चारण ही हो सकता है। इसलिए आपके उद्देश्यसे अनेक प्रकारके शब्दोंकी योजना करके मैं आपके स्तोत्रोंकी कहाँ तक रचना करूँ! आपके विशेष लक्षण बतलानेके लिए जिन जिन विशेषणोंका प्रयोग किया जाय, उनके सम्बन्धमें यही बात मनमें आती है कि वे सब विशेषण आपके वास्तविक स्वरूपके बोधक नहीं हो सकते और इसी लिए मैं केवल लज्जित हो रहा हूँ। सागर सदा अपनी मर्यादाके अन्दर ही रहता है। परन्तु यह नियम तभी तक देखनेमें आता है, जब तक चन्द्रमाका उदय नहीं होता। सोमकान्त मणि

स्वयं अपने अंगकी आर्द्रतासे चन्द्रमाको कभी अर्घ्य प्रदान नहीं करती, परन्तु स्वयं चन्द्रमा ही उससे यह कृत्य कराता है। वसन्तका आगमन होने पर समस्त वृक्षोंमें नये नये पत्ते और नये नये अंकुर निकल आते हैं; परन्तु स्वयं उन वृक्षोंको यह पता नहीं चलता कि हममें ये नये पत्ते और नये अंकुर कैसे निकल आये। सूर्यकी किरणोंका स्पर्श होते ही कमलिनीका संकोच नामको भी बाकी नहीं रह जाता और जलका संयोग होते ही नमक अपने शरीरकी सुध-बुध भूल जाता है। ठीक इसी प्रकार, हे गुरु महाराज, ज्योंही मुझे आपका स्मरण होता है, त्योंही मैं स्वयं अपने आपको भूल जाता हूँ। भर-पेट भोजन करके तृप्त होनेवाला पुरुष खूब डकार लेने लगता है। ठीक उसी पुरुषकी सी अवस्था, हे गुरु महाराज, आपने मेरी भी कर दी है। मेरे अहंभावको आपने मानों देश-निकाला दे दिया है और मेरी वाणी पर ऐसा पागलपन सवार करा दिया है कि वह आपकी स्तुति करने लगी है। परन्तु यदि अपने शरीरका भान रखकर भी आपकी स्तुति की जाय तो भी गुण और गुणीमें भेद-भाव करना ही पड़ता है। परन्तु आप तो एक-जात और एक ही ब्रह्मानन्द-स्वरूपकी मूर्ति हैं। फिर जिस प्रकारका भेद गुण और गुणीमें होता है, उस प्रकारका भेद भला आपमें कहाँसे हो सकता है! और फिर क्या इस प्रकारका भेद-भाव करना इष्ट भी है? मोतीको तोड़कर उसे फिरसे जोड़ना अच्छा है या उसे अखंड ही रखना अच्छा है? ठीक इसी प्रकार माता और पिताके रूपमें आपकी कल्पना करके आपकी स्तुति करना ही उचित नहीं है, क्योंकि उस स्तुतिमें बालक या सन्तानवाली उपाधिका दोष आ जाता है। हे महाराज, यदि मैं यह कल्पना करूँ कि मैं आपका सेवक हूँ, तो फिर आपमें स्वामी या गुरुके भावका आपसे आप आरोप हो जाता है फिर इस प्रकारकी उपाधियोंसे दूषित वर्णन करनेका अर्थ ही क्या हो सकता है? और ऐसी स्तुतिसे लाभ ही क्या हो सकता है? यदि मैं यह कहूँ कि आप आत्मा हैं तो मानों आप सरीखे ज्ञान-दाताको मैं अपने हृदयसे निकालकर बाहर कर देता हूँ। इसलिए हे गुरुदेव, मुझे तो इस संसारमें ऐसा कोई सुभीता नहीं दिखाई देता जिससे मैं आपकी स्तुति कर सकूँ। आप मौनके अतिरिक्त और किसी प्रकारके अलंकारसे अपने आपको अलंकृत नहीं होने देते। आपकी स्तुति करनेका अर्थ है मौन रहना, आपकी पूजा और अर्चा करनेका अर्थ है कर्मोंका अभाव होना और आपका सान्निध्य प्राप्त करनेका अर्थ है आपमें ही लीन होकर शून्यत्वको प्राप्त होना। इसलिए प्रेम-मोहका पागलपन, बकवाद करानेके बहानेसे मेरे द्वारा आपकी स्तुति कराता है और इसी लिए मैं बड़ बड़ करके आपके गुणोंका यह वर्णन करता हूँ। परन्तु हे देव, आप करुणामयी माताके समान हैं, इसलिए यदि आप जैसे तैसे मेरी ये सब बातें सहन कर लें तो मेरा काम हो जाय। अब आप मेरी वाणीके विस्तार पर गीता-रहस्यकी दृढ़ मुद्रा इस प्रकार अंकित करें कि उससे इन सज्जन श्रोताओंका चित्त प्रसन्न हो जाय। यह सुनकर श्री निवृत्तिनाथजीने कहा—"तुम बार बार इस प्रकारकी बातें क्यों कहते हो? क्या पारस पर लोहेको बार बार रगड़ना पड़ता है? (अर्थात् पारसके एक बारके स्पर्शसे ही लोहा तुरन्त सोना हो जाता है।") इस पर मैं

ज्ञानदेव कहता है—"महाराज, बस यही आपका प्रसाद हो गया। अच्छा अब महाराज इस ग्रन्थकी ओर ध्यान दें। जो गीता रूपी रत्न-जटित मन्दिरके अर्थ-रूपी चिन्तामणि शिलाका बना हुआ कलस है, जो समस्त गीता-रहस्यका बोधक है, वह यही अठारहवाँ अध्याय है। व्यवहारमें यह देखनेमें आता है कि जब किसी मन्दिरका कलस दूरसे दिखाई देता है, तो यही समझा जाता है कि मानों स्वयं देवताके ही दर्शन हो गये। ठीक यही बात इसके सम्बन्धमें भी है; क्योंकि इस एक अध्यायके द्वारा ही गीताका सारा रहस्य ध्यानमें आ जाता है। इसी लिए मैं कहता हूँ कि बादरायण व्यासने इस गीता-रूपी मन्दिर पर यह अठारहवाँ अध्याय मानों कलसके रूपमें चढ़ाया है। और इस अध्यायमें गीताकी जो समाप्ति होती है, उससे यह बात भी स्पष्ट रूपसे सिद्ध हो जाती है कि कलस चढ़ जानेके बाद मन्दिरके निर्माणका और कोई काम बाकी नहीं रह जाता। व्यासदेव स्वभावत: बहुत ही चतुर सूत्रकार थे। उन्होंने वेद-रूपी रत्नगिरि पर उसके मध्य भागमें उपनिषदर्थ रूपी जमीनमें खुदाई करके उसे साफ किया था। उस खुदाईमें धर्म, अर्थ और काम रूपी बहुत-सी मिट्टी और पत्थर आदि निकले थे; उन्हींसे उन्होंने उस जमीनके चारों ओर महाभारत रूपी बहुत बड़ा कोट तैयार किया था। उसी कोटमें कृष्णार्जुन संवादके कौशलसे आत्म-ज्ञानका मैदान खूब अच्छी तरहसे साफ करके सुन्दर और स्वच्छ किया। फिर समाधान रूपी डोरियाँ तानकर और सब शास्त्रोंके अर्थोंका मसाला डालकर मोक्ष-रेखाकी कुरसी या तल-सीमा निश्चित् की गई। इस प्रकार इमारतका काम चलते चलते पन्द्रह अध्यायों तक मकानकी पन्द्रह मंजिलें या खंड पूरे हो गये और अध्यात्म मन्दिरकी रचना सम्पूर्ण हो गई। इसके उपरान्त सोलहवें अध्यायमें उस मन्दिरके शिखरका भाग बना और सत्रहवें अध्यायमें कलसका आधार बैठाया गया। उसी बैठक पर यह अठारहवाँ अध्याय मानों कलसके रूपमें बैठाया गया है। इसी कलस पर व्यासदेवकी गीता नामक ध्वजा फहराती रहती है। इसी लिए पहलेके सब अध्याय एक पर एक चढ़नेवाली मंजिलोंके आकार हैं और उन सबकी पूर्णता प्रस्तुत अध्यायमें दिखाई देती है। भवनका जो काम हुआ रहता है, उसे गुप्त न रखकर कलस उसे सदा प्रकट करता रहता है। ठीक इसी प्रकार यह अठारहवाँ अध्याय भी गीताको आरम्भसे अन्त तक प्रज्वलित और प्रकट करता है। इस प्रकार श्री व्यासदेवने इस गीता-मन्दिरको पूर्णता तक पहुँचाकर जीवोंका अनेक प्रकारसे संरक्षण किया है। कुछ लोग जपके बहाने बाहरसे ही इस मन्दिरकी प्रदक्षिणा करते हैं। कुछ लोग इसके श्रवण पर श्रद्धा रखकर इसकी छायामें विश्राम पाते हैं। कुछ लोग एकाग्र वृत्तिसे दक्षिणा और ताम्बूल लेकर अर्थ-ज्ञानके गर्भ-गृहमें सहज ही प्रवेश करते हैं। इस तीसरे प्रकारके जीव तत्काल ही आत्मस्वरूप श्री हरिके साथ मिल जाते हैं। तो भी इस मोक्ष-मन्दिरमें सभी लोग प्रवेश कर सकते हैं। जिस प्रकार बड़े आदमियोंके घरोंमें भोजन करनेके लिए ऊपर बैठनेवालोंको भी और नीचे बैठनेवालोंको भी समान रूपसे सब खाद्य पदार्थ परोसे जाते हैं, उसी प्रकार इस गीताका पाठ करनेवाले, श्रवण करनेवाले और अर्थ ग्रहण करनेवाले सभी लोग समान रूपसे

मोक्ष प्राप्त करते हैं। इस प्रकार यह गीता वैष्णव भक्तोंके लिए मन्दिरके रूपमें है; और सब बातोंका ध्यान रखकर ही मैंने यह कहा है कि यह अठारहवाँ अध्याय मन्दिरका उज्ज्वल कलस है। अब मैं अपनी बुद्धिके अनुसार यह स्पष्ट करके बतलाता हूँ कि सत्रहवें अध्यायके उपरान्त इस अठारहवें अध्यायका प्रसंग किस प्रकार उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार गंगा और यमुना दोनोंका जल जलत्वके विचारसे एक-रूप ही होता है, परन्तु धाराके विचारसे दोनों ही नदियाँ अलग अलग दिखाई देती हैं, अथवा स्त्री-रूप और पुरुष-रूप दोनोंके वर्त्तमान रहते हुए भी अर्द्ध-नारी-नटेश्वरकी मूर्त्तिमें उन दोनों रूपोंका एक शरीर बना रहता है, अथवा दिन पर दिन चन्द्र-बिम्बकी बढ़ती हुई कलाओंका प्रसार होने पर भी जिस प्रकार चन्द्रमाके बिम्ब पर उनका कोई अलग अलग लेप नहीं दिखाई देता, ठीक उसी प्रकार भिन्न भिन्न चारों चरणोंके कारण श्लोक तो अलग अलग रहते हैं और अध्यायोंके अनुक्रम-अंकोंके कारण अध्याय भी अलग अलग दिखाई देते हैं, परन्तु फिर भी ग्रन्थके विषयके प्रतिपादनका कहीं कोई अलग स्वरूप नहीं है—विषयका प्रतिपादन सभी अध्यायोंमें समान रूपसे हुआ है। रत्न तो भिन्न भिन्न होते हैं, परन्तु जिस प्रकार उन्हें जोड़नेवाली डोरी एक ही होती है अथवा बहुतसे मोतियोंको एकमें पिरोकर जिस प्रकार एक लड़वाली माला बनती है और उसका एक ही आकार दिखाई देता है अथवा फूलों और उनसे बनी हुई मालाकी अलग अलग गिनती नहीं की जा सकती, परन्तु यदि उनकी सुगन्धकी गिनती की जाय तो उसके लिए एक उँगली उठानेके बाद दूसरी उँगली उठानेकी नौबत ही नहीं आती (अर्थात् उन सबकी एक ही सुगन्ध होती है), ठीक वही बात इन श्लोकों और अध्यायोंके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिए। गीताके श्लोक सात सौ और अध्याय अठारह होते हैं, परन्तु भगवान श्रीकृष्णका कथन एक ही है, उसमें किसी प्रकारका भेद या अलगाव नहीं है। और मैंने भी बिना वह मार्ग छोड़े ग्रन्थका अर्थ स्पष्ट किया है। और इसी प्रकार मैं प्रस्तुत प्रश्नका भी स्पष्टीकरण करता हूँ। आप लोग सुनें। सत्रहवें अध्यायकी समाप्ति पर अन्तिम श्लोकमें भगवानने कहा है—"हे अर्जुन, बिना ओं-तत्सत्वाले ब्रह्म-नाम पर श्रद्धा रखे हुए जिन कर्मोंका आचरण किया जाता है, वे सब कर्म असत् अर्थात् दुष्ट और असत्य होते हैं।" श्रीकृष्णका यह वचन सुनकर अर्जुनने अपने मनमें यह समझा कि ऐसा जान पड़ता है कि श्रीकृष्णने इस वचनसे कर्म-निष्ठों पर दोष लगाया है। परन्तु कर्म करनेवाला बेचारा जीव अज्ञानके कारण अन्धा होता है। उन्हें ईश्वरके स्वरूपका ही पता नहीं चलता, फिर उन्हें ओं-तत्सत्वाले ब्रह्म नामका भला कैसे ज्ञान हो सकता है? इसके अतिरिक्त जब तक रज और तम दोनोंका क्षय नहीं होता, तब तक मनुष्यकी श्रद्धा भी बहुत ही निम्न कोटिकी रहती है। फिर वह श्रद्धा ब्रह्म नाम पर कैसे हो सकती है? ऐसी अवस्थामें जिस प्रकार हथियारोंको आलिंगन करना, डोरी पर दौड़ना या नागिनको खेलाना, प्राण घातक होता है, वैसे ही सब कर्म भी बहुत ही बिकट हैं और अनन्त जन्म-मरणके समान दुर्धर संकट इन कर्मोंमें ही हैं। यदि दैव-योगसे मनुष्यके हाथों अच्छे कर्म हो जायँ तो उसमें ज्ञान प्राप्त करनेकी पात्रता आ जाती है। और नहीं तो उन्हीं कर्मोंके द्वारा मनुष्य

को अधोगति प्राप्त होती है। कर्मके यथासांग पूर्ण होनेके मार्गमें न जाने कितनी ही बड़ी बड़ी झंझटें हैं। ऐसी अवस्थामें कर्म-निष्ठोंको भला कब मोक्ष प्राप्त हो सकता है? इस लिए यह कर्माचरणका बन्धन तोड़ डालना चाहिए, समस्त कर्मोंका त्याग करना चाहिए, और एक मात्र वही संन्यास ग्रहण करना चाहिए जो सब प्रकारसे दोष-रहित है। कर्म-बाधाके भयकी वार्त्ता भी जिनमें कहीं सुनाई नहीं देती, जिनमें केवल योगसे ही आत्म-ज्ञानकी प्राप्ति होती है, जो ज्ञानको आवाहन करनेके मानों मन्त्र ही हैं, जो ज्ञानकी फसल पैदा करनेके लिए मानों उत्तम खेत ही हैं अथवा जो ज्ञानको खींच लानेवाली डोरीके मानों तन्तु ही हैं, वे दोनों संन्यास और त्याग हैं। इन्हीं दोनों का आश्रय ग्रहण करने पर संसारका सम्बन्ध टूट जाता है। अतः अब भगवानसे संन्यास और त्यागका स्वरूप स्पष्ट करनेके लिए प्रार्थना करना ठीक है।'' अपने मनमें यही बात सोचकर जब अर्जुन-ने भगवानसे त्याग और संन्यासकी व्यवस्थाका ज्ञान करानेकी प्रार्थना की और इस सम्बन्धमें उनसे प्रश्न किया, तब श्रीकृष्णने उसे जो उत्तर दिया, वही इस अठारहवें अध्यायमें दिया गया है। इस प्रकार जन्य और जनक भावसे एक अध्याय दूसरे अध्याय-को जन्म देता है। अब अर्जुनने जो कुछ पूछा, वह भी सुनिये। उस पांडु कुमार अर्जुनने भगवानके अन्तिम वचन ज्ञातृत्व भावसे सुने। यदि वास्तवमें देखा जाय तो अब तक उसे तत्व-सिद्धान्तका निश्चित ज्ञान हो चुका था। परन्तु भगवान की बातें अब समाप्त हो गई थीं और उसका प्रेमपूर्ण मन इसे सहन नहीं कर सकता था। जब बछड़ेका पेट माँके दूधसे भर जाता है, तब भी उसकी यही इच्छा रहती है कि मेरी माता गौ मुझसे दूर न जाय। एक-निष्ठ प्रेमकी यही रीति है। वह प्रेम कोई कारण या अवसर न होने पर भी बराबर बोलता ही रहता है और ऐसा प्रेम करनेवालेकी यह इच्छा होती है कि जो कुछ मैं एक बार देख चुका हूँ, वही बार बार देखता रहूँ। और अपनी प्रिय वस्तुका उपभोग करते समय इस प्रकार एक-निष्ठ प्रेम करनेवालेका उस प्रिय वस्तुके प्रति और भी अधिक अनुराग होता जाता है। यही इस प्रेमका लक्षण है। और अर्जुन तो उस प्रेमकी मानों मूर्त्ति ही था। इसी लिए भगवानके मौन धारण करने पर उसे बहुत अधिक कष्ट होने लगा। जिस प्रकार दर्पणमें स्वयं अपना ही रूप देखा जाता है, उसी प्रकार अर्जुन बात-चीतके बहानेसे उस वस्तुके दर्शन का अनुभव कर रहा था जो व्यवहारमें उसे प्राप्त नहीं हो रही थी। वह सोचता था कि जब यह सम्भाषण बन्द हो जायगा, तब यह अद्भुत सुखानुभव भी बन्द हो जायगा। परन्तु उस परम सुखका अर्जुनको चस्का लग चुका था। फिर भला भगवानका इस प्रकार चुप हो जाना वह कैसे सहन कर सकता था? इसी लिए उसने त्याग और संन्यासके विषयको निमित्त बनाकर गीता-रूपी वस्त्रकी तह फिरसे खुलवाई। यह गीताका अठारहवाँ अध्याय नहीं है, बल्कि मानों एक अध्यायवाली गीता ही है। जब स्वयं बछड़ा ही गौका दूध दूहने लगे, तब भला उसमेंसे दूधकी धारा निकलनेमें देर कैसे हो सकती है? ठीक इसी प्रकार ज्योंही गीता समाप्ति पर आई, त्योंही अर्जुन फिर पीछे लौट पड़ा और उसने मानों फिरसे गीताकी पुनरावृत्ति करा डाली। जो अच्छे और सच्चे स्वामी होते हैं, वे सेवककी बात मानकर

उसीके अनुसार आचरण करते हैं या नहीं? परन्तु ये सब बातें बहुत हो चुकीं। अब अर्जुन प्रश्न करता है। वह कहता है—''हे विश्वेश प्रभो, आप मेरी एक प्रार्थना सुनें।

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥ १॥

''हे देव, संन्यास और त्याग दोनों शब्दोंसे एक ही अर्थ निकलता है। जिस प्रकार संघात और संघ दोनों शब्दोंसे केवल संघात ही सूचित होता है, उसी प्रकार मेरी बुद्धिके अनुसार ऐसा जान पड़ता है कि त्याग और संन्यास दोनों शब्दोंसे केवल त्याग ही सूचित होता है। हे देव, यदि इन दोनों शब्दोंमें अर्थका कोई भेद हो तो वह आप कृपाकर स्पष्ट रूपसे बतला दें।'' इस पर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—''हाँ, इन दोनों शब्दोंके अर्थोंमें भेद है। तो भी हे अर्जुन, मुझे इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि तुम्हें त्याग और संन्यास इन दोनों ही शब्द एकार्थी जान पड़ते हैं। यह बात बिलकुल ठीक है कि इन दोनों शब्दोंसे केवल त्याग ही सूचित होता है। परन्तु इनके अर्थोंमें भेद होनेका कारण यही है कि जब कर्म सब प्रकारसे अपनेसे अलग या दूर कर दिये जाते हैं, तो उसे संन्यास कहते हैं; और कर्मके फलोंकी कोई कामना न रखनेको त्याग कहते हैं। अब मैं इस बातका स्पष्ट रूपसे विवेचन करता हूँ कि किन किन कर्मोंके फलका त्याग करना चाहिए और कौन-से कर्म ही बिलकुल छोड़ दिये जाने चाहिएँ। तुम अच्छी तरह इन बातोंकी ओर ध्यान दो। वनोंमें और पर्वतों पर असंख्य वृक्ष आपसे आप उगते और बढ़ते हैं, लेकिन धानके पौधे या बागोंमेंके वृक्ष उस प्रकार आपसे आप नहीं होते। बिना जोताई और बोआईके अनेक प्रकारकी घासें और जंगली वनस्पतियाँ उगती हैं, परन्तु बिना बीज बोये और रोपाई किए खेतोंमें धान इस प्रकार आपसे आप नहीं हो सकता। अथवा शरीर यद्यपि आपसे आप उत्पन्न होता है तो भी आभूषण गढ़वानेके लिए परिश्रम ही करना पड़ता है; अथवा नदी तो आपसे आप मिल जाती है, परन्तु कूआँ खोदनेके लिए परिश्रम करना पड़ता है। ठीक इसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्म तो स्वाभाविक रूपसे होते रहते हैं, परन्तु यदि मनमें उनके फलकी आशा न रखी जाय तो वे कर्म कामिक नहीं होते (अर्थात् वे कामना-रहित होते हैं) और इसी लिए बन्धन-कारक नहीं होते।

श्रीभगवानुवाच—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः॥ २॥

''केवल कामनाके विस्तारके कारण ही जिन कर्मोंका अनुष्ठान होता है, जिनमें अश्वमेध आदि बड़े बड़े यज्ञ-याग आदि किये जाते हैं, तालाब और कूएँ आदि खोदवाये जाते हैं, बाग लगवाये जाते हैं, भूमि-दान और ग्राम-दान किये जाते हैं तथा और अनेक प्रकारके व्रत आदि किये जाते हैं, तात्पर्य यह कि इस प्रकारके जितने स-काम और इष्टापूर्त्त कर्म किये जाते हैं, वे सब कर्त्ताके लिए बन्धक होते हैं और उन कर्त्ताओंको

अपने फल भोगवाते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार शरीररूपी ग्राममें आकर निवास करने पर जन्म और मृत्युके झगड़ोंका अंत नहीं किया जा सकता अथवा जिस प्रकार ललाटका लिखा हुआ लेख मिटाया नहीं जा सकता अथवा शरीरकी त्वचाका जन्म-सिद्ध कालापन और गोरापन धोकर दूर नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार काम्य कर्मोंका फल भोगनेसे भी मनुष्य किसी प्रकार बच नहीं सकता। जिस प्रकार ऋणसे मनुष्यका तब तक छुटकारा नहीं हो सकता, जब तक वह चुका न दिया जाय, उसी प्रकार इस तरहके कर्मोंके फल भी भोगके लिए मानों धरना देकर बैठ जाते है और उन्हें बिना भोगे किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता। अथवा हे अर्जुन, यदि प्रत्यक्ष रूपसे कामना न की जाय और यों ही सहज भावसे इस प्रकारके काम्य कर्म किसीके हाथसे हो जायँ, तो भी जिस प्रकार पैने बाणोंके साथ यों ही विनोदमें लड़ने पर भी मनुष्य घायल हो जाता है अथवा जिस प्रकार अनजानमें मुँहमें डाला हुआ गुड़ भी मीठा लगता है अथवा जिस प्रकार राख समझकर मुँहमें डाला हुआ अंगारा भी मुँहको जला देता है, उसी प्रकार बन्धकत्व भी काम्य कर्मोंकी एक स्वाभाविक सामर्थ्य है; और इसी लिए जो लोग मोक्ष प्राप्त करना चाहते हों, उन्हें कभी यों ही विनोदमें भी उन कर्मोंका आचरण नहीं करना चाहिए। केवल इतना ही नहीं, हे अर्जुन, काम्य कर्मोंको विषके समान उगलकर फेंक देना चाहिए। और इसी प्रकारके त्यागको "संन्यास" कहा जाता है।" यही उस समय सर्वान्तर्यामी भगवान श्रीकृष्णने कहा था। इसके उपरान्त भगवानने फिर कहा—"यदि यात्री अपने साथ द्रव्य रखना छोड़ दे तो मानों वह लुटेरोंसे होनेवाले भयका नाश कर डालता है। ठीक इसी प्रकार काम्य कर्मोंको छोड़ देना भी मानों कामनाका समूल नाश कर डालना है। चन्द्रमा अथवा सूर्यको ग्रहण लगनेके समय जो कर्म करने पड़ते हैं अथवा पितरोंको श्राद्धतिथि पर जो कर्म किये जाते हैं अथवा किसी अतिथिके घर आने पर उसके आदर-सत्कारके लिए जो कर्म करने पड़ते हैं, उन सब कर्मोंको नैमित्तिक समझना चाहिए। जिस प्रकार वर्षा-ऋतुमें आकाश मेघोंसे आच्छन्न और मलिन हो जाता है अथवा वसन्त-ऋतुका आगमन होने पर वृक्षोंमें बहुतसे नये नये पत्ते निकलते हैं और वनकी शोभा दूनी हो जाती अथवा जिस प्रकार यौवनावस्थामें शरीरमें एक विशेष प्रकारकी मोहकता आ जाती है अथवा चन्द्रमाकी किरणोंके कारण जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि द्रवित होने लगती है अथवा सूर्यका उदय होने पर जिस प्रकार कमल विकसित होते हैं और इन सब उदाहरणोंमें जिस प्रकार कारण-विशेषसे उसी बातकी वृद्धि होती है जो मूलमें होती है और मूल बातसे भिन्न कोई नई या निराली बात नहीं उत्पन्न होती, उसी प्रकार नित्य कर्ममें जब कोई निमित्त आ लगता है, तब उसी कर्मको "नैमित्तिक" कहने लगते हैं। और जो कर्म प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल करने पड़ते हैं, परन्तु जिस प्रकार आँखोंमें दृष्टि कहीं बाहरसे लाकर लगाई हुई नहीं होती अथवा बिना सम्पादन किये ही पैरोंमें चलने-फिरनेकी स्वाभाविक सामर्थ्य होती है अथवा दीपकके स्वरूपमें जिस प्रकार तेज स्वाभाविक रूपसे रहता है अथवा बाहरकी सुगन्ध बिना लगाये ही जिस प्रकार चन्दनमें अपनी आन्तरिक सुगन्ध रहती है, ठीक उसी प्रकार

जिन कर्मोंमें स्वभावतः अधिकारका रूप होता है और इसी लिए जिन्हें किये बिना मनुष्यका किसी तरह छुटकारा नहीं हो सकता, हे अर्जुन, उन्हीं कर्मोंको नित्य कर्म कहते हैं। इस प्रकार मैंने तुम्हें "नित्य" और "नैमित्तिक" कर्मोंके लक्षण स्पष्ट करके बतला दिये हैं। ये सब नित्य तथा नैमित्तिक कर्म आवश्यक रूपसे करने पड़ते हैं और इसी लिए कुछ लोग इन्हें बाँझ अर्थात् निष्फल कहने लगते हैं। परन्तु जिस प्रकार भोजन करनेसे समाधान होता है और क्षुधाकी निवृत्ति होती है, ठीक उसी प्रकार नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंसे सभी ओरसे फलोंकी प्राप्ति होती है। जब मिलावटवाला सोना सुनारकी अँगीठीमें पड़ता है, तब उसमेंका मैल जल जाता है और सोना शुद्ध हो जाता है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंमें फल भी होते हैं। बात यह है कि कर्मोंका आचरण करनेसे सब दोष दूर हो जाते हैं, मनुष्यका अधिकार बढ़ जाता है और उसे बातकी बातमें सद्गति प्राप्त हो जाती है। यद्यपि नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करनेमें इतने बड़े फलकी प्राप्ति होती है, तो भी जिस प्रकार मूल नक्षत्रमें जन्म लेनेवाले बालकका परित्याग करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार इन फलोंका भी परित्याग करना चाहिए। जब वसन्त-ऋतुका आगमन होता है, तब आममें तब तक नये नये पत्ते निकलते रहते हैं, जब तक उसकी एक शाखा फलोंसे भर नहीं जाती। परन्तु ज्योंही उन शाखाओंमें फल लगने लगते हैं, त्योंही वह उन फलोंको बिना स्पर्श किये ही अपना सारा वैभव नीचे फेंकने लगता है। ठीक इसी प्रकार कर्मकी मर्यादा न छोड़ते हुए नित्य तथा नैमित्तिक कर्मोंकी ओर ध्यान देना चाहिए और तब उन सबसे उत्पन्न होनेवाले फलोंको पूर्ण रूपसे वमनके समान त्याज्य मानना चाहिए। कर्म-फलके इसी त्यागको ज्ञाता लोग "त्याग" कहते हैं। इस प्रकार त्याग और संन्यासका स्वरूप मैंने तुम्हें बतला दिया है। जब इस प्रकारका संन्यास होता है, तब काम्य कर्म बन्धक नहीं होते। निषिद्ध कर्म तो स्वभावतः ही त्याज्य होते हैं। जिस प्रकार सिरके कट जाने पर बाकी शरीर आपसे आप जमीन पर गिर पड़ता है, उसी प्रकार इन फलोंके त्यागसे नित्य कर्म भी आपसे आप नष्ट हो जाते हैं। फिर जिस प्रकार फसलके तैयार होने पर पौधोंकी पत्तियाँ आदि मर जाती हैं, और पत्तियोंके नष्ट होते ही फसल हाथ आती है, उसी प्रकार सब कर्मोंके नष्ट होते ही आत्म-ज्ञान आप ही ढूँढ़ता हुआ जीवके पास आ पहुँचता है। इस युक्तिसे जो लोग त्याग और संन्यास दोनों करते हैं, वे आत्म-ज्ञान प्राप्त करनेका साधन सम्पादित करते हैं। परन्तु जिनसे इस युक्तिका साधन नहीं होता और जो लोग केवल अनुमान या विचारमें ही त्यागका आचरण करते हैं, उनके हाथों नामको भी त्याग नहीं होता और वे दिन पर दिन बराबर और भी जालमें फँसते जाते हैं। यदि रोगकी चिकित्साके लिए नहीं बल्कि यों ही किसी औषधकी योजना कर दी जाय, तो वह खाने पर विषके समान होती है। और इसके विपरीत यदि अन्न ग्रहण न किया जाय तो क्या भूखों मरनेकी नौबत नहीं आ जाती? इसलिए जो वस्तु त्याज्य न हो, उसका कभी त्याग नहीं करना चाहिए और जो त्याज्य हो, उसका कभी लोभ नहीं करना चाहिए। त्यागके इस गुण या विशेषता पर ध्यान न रखकर जो त्याग किया जाता है, वह सब

बैठेकी बेगार होती है। जो लोग सच्चे विरक्त होते हैं, उन्हें निषिद्ध (अर्थात् त्याज्य) कर्मोंके साथ सभी जगह झगड़ना पड़ता है।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

"बहुत-से लोग ऐसे होते हैं जिनके मनसे फलका लोभ कभी दूर ही नहीं होता और इसी लिए वे लोग सभी कर्मोंको बन्धनकारक कहते हैं। जिस प्रकार कोई मनुष्य स्वयं तो नंगा होकर नाचता है और संसार भरको लड़ाका कहता है अथवा, हे अर्जुन, जिस प्रकार वह रोगी सभी अन्नोंकी निन्दा करता है, जिसकी जीभकी चाट कभी तृप्त ही नहीं होती अथवा जिस प्रकार कुष्ठका रोगी स्वयं अपने दोष-युक्त शरीरसे न चिढ़कर उस पर भनभनानेवाली मक्खियों पर चिढ़ता है; ठीक उसी प्रकार जो दुर्बल लोग फलके लोभमें फँसे रहते हैं, वे फलोंका त्याग करनेमें समर्थ न होनेके कारण समस्त कर्मोंको ही दुष्ट बतलाते हैं और यह निर्णय कर लेते हैं कि समस्त कर्मोंका ही पूरा पूरा त्याग करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो यह कहते हैं कि यज्ञ-याग आदि कर्म अवश्य करने चाहिए, क्योंकि इनके सिवा मनकी शुद्धिका और कोई साधन ही नहीं है। यदि मनकी शुद्धिवाला मार्ग जल्दी जल्दी अतिक्रमण करनेकी इच्छा हो, तो कर्म रूपी शस्त्रको चलानेमें आलस्य नहीं करना चाहिए। यदि सोनेको चोखा करना हो तो जिस प्रकार अग्निका कष्ट सहनेके लिए तैयार होना चाहिए और जिस प्रकार दर्पणको स्वच्छ करनेके लिए उसमें बहुत-सी राख लगानी चाहिए अथवा यदि कपड़ोंको निर्मल करना हो तो धोबीकी नाँदको गन्दा और घृणित नहीं समझना चाहिए, ठीक उसी प्रकार कर्मोंकी इसीलिए अवज्ञा नहीं करनी चाहिए कि वे क्लेशका कारण होते हैं। क्या बिना रसोई बनाये कभी बढ़िया और स्वादिष्ट भोजन मिल सकता है? हे अर्जुन, कुछ लोग इसी प्रकारकी बातें कहकर कर्मोंके आचरणकी ओर ध्यान देते हैं; और इसी प्रकारके मत-भेदके कारण त्यागका विषय संशयित हो गया है। इसलिए अब मैं ऐसा स्पष्ट विवेचन करता हूँ जिससे वह संशय दूर हो जाय और त्यागके सम्बन्धमें निश्चित निर्णय किया जा सके। तुम इस विवेचनकी ओर अच्छी तरह ध्यान दो।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

"हे अर्जुन, त्याग तीन प्रकारका होता है। अब मैं इन तीनों प्रकारके त्यागोंके अलग अलग लक्षण बतलाता हूँ। यद्यपि मैंने तुम्हें यह बतलाया है कि त्याग तीन प्रकारका होता है, तो भी उन सबका सारांश वही है जो मैंने अभी कहा है। मैं सर्वज्ञ हूँ और मेरी बुद्धिको जो तत्त्व निश्चित और अटल जान पड़ता है, पहले वही सुनो। मोक्षकी इच्छा रखनेवाला जो पुरुष अपने मोक्षके सम्बन्धमें जाग्रत और सचेत रहना चाहता हो, उसे त्यागका यह रहस्य समझकर उसीके अनुसार अपना आचरण रखना चाहिए। बस इतनेसे ही उसे मोक्षकी प्राप्ति हो जायगी।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

"प्रवासमें जिस प्रकार आगे पैर बढ़ाना बन्द नहीं करना चाहिए, उसी प्रकार मनुष्यको यज्ञ, दान और तप आदि आवश्यक कर्म भी कभी नहीं छोड़ने चाहिएँ। जिस प्रकार खोई हुई वस्तुको बराबर तब तक ढूँढ़ते रहना चाहिए, जब तक वह मिल न जाय, अन्नकी थाली तब तक अपने सामनेसे हटाकर दूर नहीं करनी चाहिए, जब तक क्षुधा पूरी तरहसे शान्त न हो जाय अथवा किनारे पर पहुँचनेसे पहले कभी नाव नहीं छोड़नी चाहिए, अथवा फल लगनेसे पहले केलेका वृक्ष नहीं काटना चाहिए अथवा जब तक रखी हुई वस्तु न मिल जाय, तब तक दीपक नहीं बुझाना चाहिए, उसी प्रकार जब आत्म-ज्ञानके सम्बन्धमें बुद्धिको पूर्ण रूपसे निश्चय न हो जाय, तब तक यज्ञ और दान आदि आवश्यक कर्मोंकी ओरसे उदासीन होना कभी उचित नहीं है। सब लोगोंको अपने अपने अधिकारके अनुसार यज्ञ, दान और तप आदि बहुत तत्परतापूर्वक करने चाहिएँ। यदि रास्ता चलते समय यात्री जल्दी जल्दी पैर उठाता है तो इसीसे वह जल्दी उद्दिष्ट स्थान तक पहुँचकर विश्राम कर सकता है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंका पूरी तरहसे आचरण करनेसे मनुष्य सहजमें निष्काम हो सकता है। ज्यों ज्यों औषध खानेमें अधिक गम्भीरता दिखाई जाती है, त्यों त्यों रोग भी नष्ट होता जाता है। ठीक इसी प्रकार ज्यों ज्यों ये सब कर्म शीघ्रता और तत्परतापूर्वक किये जाते हैं, त्यों त्यों रज और तमका भी समूल नाश होता जाता है। सोनेमें जब एक पर एक इस प्रकार क्षारोंके अनेक पुट दिये जाते हैं, तब उसमें मिला हुआ खोट बराबर जलता जाता है और सोना बिलकुल चोखा हो जाता है। इसी प्रकार जिन कर्मोंका निष्ठापूर्वक आचरण किया जाता है, वे रज और तमको बिलकुल दूर कर देते हैं और शुद्ध सत्वके मन्दिरको दृष्टिके क्षेत्रमें ले आते हैं। इसी लिए, हे अर्जुन कर्म भी उसी योग्यता और पद पर पहुँच गये हैं, जिस योग्यता और पद पर सत्व-शुद्धि करनेवाले पावन तीर्थ हैं। तीर्थोंसे तो ऊपरी या बाहरी मलका नाश होता है और कर्म अन्दरका मल धो डालते हैं। इसी लिए यह कहा जाता है कि सत्कर्मोंके कारण ही तीर्थोंको पावनता प्राप्त होती है। जिस प्रकार किसी प्यासेके लिए निर्जल प्रदेशमें ग्रीष्म-ऋतुमें चलनेवाला लू ही अमृतकी वर्षा करके उसे अमृत पान करा दे अथवा जिस प्रकार किसी अन्धेके नेत्रोंमें सूर्यका तेज आ जाय अथवा नदीमें डूबते हुए मनुष्यको उबारनेके लिए स्वयं नदी ही उठ दौड़े अथवा किसी मरनेवाले व्यक्तिको स्वयं मृत्यु ही बड़ी आयु प्रदान करे, उसी प्रकार, हे अर्जुन, ये कर्म ही मुमुक्षुओंको कर्म-बन्धनसे छुड़ाते हैं। जिस प्रकार रसायनका सेवन मरनेवालेको विषसे बचाता है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, इन कर्मोंका भी यह एक विलक्षण हथकंडा है कि अपना बन्धकत्व नष्ट करनेके लिए स्वयं ही मुख्य साधन होते हैं। हे अर्जुन, अब मैं तुम्हें वह हथकंडा या युक्ति स्पष्ट करके बतलाता हूँ जिससे कर्मोंके द्वारा ही स्वयं नाश होता है।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

"यदि महायज्ञ आदि कर्म बिलकुल ठीक तरहसे पूरे उतर जायँ, तो भी मनुष्यको अपने मनमें कर्तृत्वका अहंकार उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। जो मनुष्य किसी दूसरे-से धन लेकर और उसका साथी बनकर तीर्थ-यात्रा करनेके लिए जाता हो, उसके मनमें इस प्रकारका अपने महत्वका समाधान नहीं होता कि मैं तीर्थ-यात्रा कर रहा हूँ। इसी प्रकार जो पुरुष किसी समर्थ राजाकी आज्ञासे अकेला हो पहुँचकर किसी राजाको पकड़ लेता हो, वह आज्ञाकारी सेवक अपने मनमें इस बातका अभिमान नहीं कर सकता कि मैं जेता हूँ और मैंने इस राजाको जीतकर पकड़ लिया है। जो किसी दूसरेके आधार पर तैरता है, उसमें इस प्रकारका अभिमान नहीं रह जाता कि मैं तैरता हूँ। ठीक इसी प्रकार कर्म करनेवालेको भी अपने मनमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं उत्पन्न होने देना चाहिए और समस्त कर्मोंकी मोहरें आगे खिसकाते चलना चाहिए। और हे अर्जुन, जिन कर्मोंका आचरण किया जाता है, उनका जो फल होता है, उस फलको और कभी अपने मनोरथको प्रवृत्त नहीं होने देना चाहिए। आरम्भमें ही सब फलोंकी आशा छोड़कर कर्मका आरम्भ करना चाहिए। जिस प्रकार कोई दाई दूसरेके बच्चेको निर्विकार मनसे पालती है अथवा जिस प्रकार पीपलको सींचनेवाले उससे फलकी कोई आशा नहीं रखते, ठीक उसी प्रकार फलकी बिना कोई आशा रखे सब कर्म करते रहना चाहिए। जिस प्रकार चरवाहा गाँव भरकी सब गौओंको एकत्र करके चरानेके लिए ले जाता है और उन गौओंका दूध पानेकी कोई आशा नहीं करता, ठीक उसी प्रकारका भाव मनुष्यको कर्म करते समय अपने मनमें रखना चाहिए और कर्म-फलकी बिलकुल आशा नहीं करनी चाहिए। जब इस युक्तिसे पुरुषके हाथों कर्म होता है, तब अवश्य ही उसे आत्म-स्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसी लिए फलका लोभ रखनेवाला यह देहाभिमान छोड़कर यथा-स्थित सब कर्मोंका आचरण करना चाहिए; बस सबके लिए यही मेरा सर्वोत्तम सन्देश है। जिसे जीवनके बन्धनसे घृणा जान पड़ती हो और जो मोक्ष प्राप्त करनेके लिए विकल रहता हो, उसके लिए मैं बार बार यही कहता हूँ कि वह मेरे इस वचनका कभी उल्लंघन न करे।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः॥ ७॥

"और नहीं तो जिस प्रकार कोई व्यक्ति अन्धकार पर क्रोध करके स्वयं अपने ही नाखून अपनी आँखोंमें चुभा लेता है, उसी प्रकार जो पुरुष कर्मोंको बन्धक समझकर और इसी लिए उनसे चिढ़कर उनका आचरण छोड़ देता है, उसके इस कर्म-त्यागको मैं तामस कहता हूँ। ऐसा काम भी उसी तरहका है, जिस तरह सिरके दर्दके कारण क्रोध करके अपना सिर फोड़ डालना होता है। जिस समय रास्ता कठिन हो, उस समय ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिसमें पैर किसी तरह आगे बढ़ते चलें, या रास्तेके दोषके कारण स्वयं अपने पैर ही तोड़ डालने चाहिएँ? मान लो कि कोई आदमी भूखा है और उसके सामने खानेके लिए कुछ ऐसा वैसा अन्न रख दिया जाता है। अब यदि वह इसलिए उस अन्नको पैरोंसे ठुकरा दे कि वह रुचिकर नहीं है तो उसे अन्तमें उपवास

ही करना पड़ेगा। इसी प्रकार भ्रममें पड़े हुए तामस पुरुषकी समझमें यह बात नहीं आती कि कर्मोंका बन्धकत्व स्वयं कर्मोंसे ही नष्ट करना चाहिए। स्वभावतः जो कर्म उसके हिस्सेमें आते हैं, वह उन्हींको छोड़ बैठता है। इसलिए हे अर्जुन, तुम इस प्रकारके तामस त्यागका कभी स्पर्श भी न करो।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्॥ ८॥

"कभी कभी ऐसी अवस्था भी होती है कि मनुष्य समझता है कि अमुक कार्य करनेका मैं अधिकारी हूँ और उसका आचरण करना मेरा कर्तव्य है; परन्तु फिर भी उसकी कठिनता देखकर वह डर जाता है। इसका कारण यही है कि कर्मका आरम्भिक अंश कुछ समय तक बहुत ही कठिन जान पड़ता है। जिस प्रकार रास्तेके लिए अपने साथ भोजन बाँधकर ले चलना बहुत भारी जान पड़ता है अथवा नीम जिस प्रकार खानेमें जीभको कड़ुवी लगती है और हर्रें जैसे खानेमें कसैली जान पड़ती है, ठीक उसी प्रकार कर्मका आरम्भ भी बहुत कठिन जान पड़ता है। अथवा जिस प्रकार गौके सिरमें घातक सींग होते है अथवा कँटीली सेवतीमें उसके कँटीले अंग होते हैं अथवा भोजनका सुख अनुभव करनेसे पहले जिस प्रकार भोजन बनानेका बखेड़ा करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार बार बार कर्तव्य कर्मोंका आचरण करना आरम्भमें बहुत ही कठिन जान पड़ता है; और इसी लिए उन कर्मोंका आचरण करनेके लिए बहुत कष्ट-कारक होता है। परन्तु फिर भी वह यह समझकर वह कर्म करने लगता है कि यह हमारा विहित कर्म है। परन्तु ज्योंही उसमें जरा-सा भी कष्ट होता है, त्योंही वह तुरन्त घबरा जाता है और आरम्भ किया हुआ कार्य बीचमें ही अधूरा छोड़ देता है। वह कहता है—मुझे बड़े भाग्यसे यह शरीर सरीखी अमूल्य वस्तु प्राप्त हुई है। फिर मैं किसी कर्म दरिद्री पापीकी तरह अपनी यह काया कर्म आदिके कष्टोंसे क्यों सुखाऊँ? भला यह कौन कहता है कि पहले कर्म करो और तब उसके भोगकी प्रतीक्षा करो? सुखका जो उपभोग आज मुझे प्रत्यक्ष प्राप्त हो रहा है, बस उसीको भोगकर सुखी होना चाहिए। इस प्रकार शारीरिक कष्टोंसे डरकर जो पुरुष कर्मोंको छोड़ देता है, हे अर्जुन, उस पुरुषके किये हुए त्यागको राजस समझना चाहिए। यदि वास्तवमें देखा जाय तो इसमें भी त्याग ही है, परन्तु इसमें त्यागके फलकी प्राप्ति नहीं होती। जो घी उबलकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, वह हवनके काममें नहीं आ सकता; और जो मनुष्य जलमें डूबकर मर जाता है, उसके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि उसने जल-समाधि ले ली; बल्कि उसके सम्बन्धमें यही समझना चाहिए उसका अपघातके कारण ही मरण हुआ है। ठीक इसी प्रकार जो पुरुष शरीरके लोभके कारण अपने विहित कर्मोंको तिलांजलि देता है, उसको सच्चे कर्म-त्यागका फल कभी मिल ही नहीं सकता। तात्पर्य यह कि, हे अर्जुन, जिस प्रकार प्रभात-काल सब नक्षत्रोंको निगलकर उनका लोप कर देता है, उसी प्रकार जिस समय आत्म-ज्ञान उदित होकर अज्ञानके सहित सब क्रियाओंका लोप कर देता है, उस समय मानों सच्चा कर्म-त्याग होता है। इसी प्रकारके

कर्म-त्यागमें मोक्ष रूपी फल लगता है। हे अर्जुन, जो पुरुष अज्ञानके कारण कर्मोंका त्याग करता है, उसे इस मोक्ष-फलकी प्राप्ति नहीं होती। इसी लिए जो त्याग राजस हो, उसे कभी सच्चा कर्म-त्याग समझना ही नहीं चाहिए। अब प्रसंग आ पड़ा है, इसलिए मैं तुम्हें स्पष्ट रूपसे यह भी बतला देता हूँ कि किस प्रकारके त्यागसे मोक्षफलकी प्राप्ति होती है। तुम मेरी बातोंकी ओर ध्यान दो।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

"अपने अधिकारके स्वरूपके अनुसार स्वभावतः जो कर्म अपने हिस्सेमें आते हैं, सात्त्विक पुरुष उन्हींका सांग और स-शास्त्र-सम्पादन करते हैं। परन्तु ऐसे पुरुषके मनको इस प्रकारके अहंकारकी भावना कभी स्पर्श तक नहीं करती कि मैं इन कर्मोंका कर्त्ता हूँ। और साथ ही वह फलकी आशाको भी तिलांजलि दे बैठता है। हे अर्जुन, अपनी माताका तिरस्कार करना और उसके सम्बन्धमें अपने मनसे काम वासना लाना ये दोनों ही बातें अधःपातका कारण होती हैं। इसलिए इन दोनों बातोंसे बचना चाहिए और तब माताकी शुद्ध मनसे सेवा करनी चाहिए। गौका मुख अपवित्र होता है, परन्तु क्या इसी लिए समूची गौको त्याज्य समझना चाहिए? जो फल हमें बहुत अधिक प्रिय होते हैं, उनके भी छिलके और गुठलियाँ खानेके योग्य नहीं होतीं। परन्तु क्या उन्हीं छिलकों और गुठलियोंके कारण कभी कोई उन फलोंको ही फेंक देता है? ठीक इसी प्रकार एक तो इस बातका अभिमान कि मैं कर्त्ता हूँ और दूसरे कर्म-फलका लोभ ये दोनों कर्ममें बन्धक तत्व हैं। अब जिस प्रकार पिता अपनी कन्याके सम्बन्धमें कभी अपने मनमें विषय-वासना नहीं उत्पन्न होने देता, उसी प्रकार यदि ये दोनों बातें भी कभी अपने मनमें उत्पन्न न होने दी जायँ तो फिर योग्य तथा स्वाभाविक कर्म भी कभी मनुष्यके लिए दुःखका कारण नहीं हो सकते। इस प्रकारके त्यागको मोक्ष-फल प्रसव करनेवाला सर्व-श्रेष्ठ वृक्षराज ही समझना चाहिए। यही त्याग संसारमें "सात्त्विक" के नामसे प्रसिद्ध है। अब जिस प्रकार बीजको जला डालनेसे वृक्ष निर्वंश हो जाता है, ठीक उसी प्रकार फलकी आशा छोड़ देनेके कारण जिसका कर्म बन्धकत्व नष्ट हो जाता है, जिसके रज और तम दोनों उसी प्रकार नष्ट हो चुके होते हैं, जिस प्रकार पारसका स्पर्श होते ही लोहेकी अमंगलजनक कालिमा नष्ट हो जाती है और तब निर्मल सत्व गुणके कारण जिसके आत्म-ज्ञानके नेत्र खुल जाते हैं, उस पुरुषकी बुद्धि आदिके सामनेका यह प्रचंड विश्व-भ्रम सन्ध्या समयके मृग-जलकी भाँति आपसे आप नष्ट हो जाता है। ऐसे पुरुषके लिए वह भ्रम आकाश (अर्थात् खोखले अवकाश) की भाँति बिलकुल अदृश्य हो जाता है।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥

"इसी लिए प्रारब्धके कारण मनुष्यको जो भले और बुरे कर्म प्राप्त होते हैं, वे ज्ञानी पुरुषोंके लिए उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार आकाशमें मेघ लुप्त हो

जाते हैं। इसके सिवा, हे अर्जुन, ऐसे पुरुषकी दृष्टिके सामने वर्त्तमान कर्म भी निर्मल होते हैं और इसी लिए वह सुख और दुःखके झगड़ोंमें नहीं फँस सकता। उसके किये यह बात कभी हो ही नहीं सकती कि वह कर्मोंको शुभ समझकर आनन्दपूर्वक उनका आचरण करे अथवा यह समझकर कि कर्मोंका परिणाम दुःखकारक होता है, उनके साथ द्वेष करे। जिस प्रकार स्वप्नमें अनुभव किये जानेवाले सुख और दुःखका हर्ष अथवा शोक कोई पुरुष जाग्रत होने पर कभी नहीं करता, ठीक उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी इस माया-जनित विश्व-मोहमें होनेवाले कर्मोंके इष्ट तथा अनिष्ट परिणामोंके विषयमें उदासीन रहता है। इसी लिए, हे अर्जुन, जिस त्यागमें कर्म और कर्त्ता-वाली द्वैत-भावनाकी गन्ध भी नहीं होती, उसी त्यागको सात्त्विक समझना चाहिए। हे पार्थ, यदि इस प्रकार कर्मोंका त्याग किया जाय; तभी वास्तवमें उनका त्याग हो सकता है। और नहीं तो यदि किसी दूसरे प्रकारसे कर्मोंका त्याग किया जाय तो वे और भी अधिक बन्धक हुए बिना नहीं रहते।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥

"और हे भाई अर्जुन, जो लोग शरीरधारी होनेपर भी कर्मोंका तिरस्कार करते हैं, उन्हें अज्ञानी और मूर्ख ही समझना चाहिए! यदि घटका मिट्टीसे घृणा करे तो क्या कभी उसका काम चल सकता है? जो वस्त्र धागोंका तिरस्कार करना चाहे, क्या स्वयं वह बाकी बचा रह सकता है? इसी प्रकार जिस वस्तुके अंगमें ही अग्नि हो, वह क्या उष्णतासे दुःखी हो सकती है? क्या दीपक कभी अपने प्रकाशके साथ द्वेष करता है? हींग यदि अपने उद्दाम दर्पसे दुःखी हो, तो क्या उसे कभी सुगन्धि प्राप्त हो सकती है? यदि जल अपना पतलापन छोड़ दे तो फिर भला वह कहाँ रह सकता है? ठीक इसी प्रकार जब तक शरीर-भ्रम बना हुआ है, तब तक पूर्ण रूपसे कर्मोंके त्यागवाले पागलपनका भला क्या अर्थ हो सकता है? हम लोग अपने मस्तक पर गन्धका तिलक लगाते हैं और इसीलिए हम जब चाहते हैं, तब वह तिलक पोंछ सकते हैं। परन्तु क्या यह भी कभी सम्भव है कि हम जब चाहें तब अपना मस्तक ही खोलकर फेंक दें और जब चाहें तब उसे फिर लगा लें? ठीक इसी प्रकार जो शास्त्रोक्त कर्म हम स्वयं अपनी इच्छासे करते हैं, वे तो कदाचित् हम छोड़ भी सकते हैं; परन्तु शरीरके जो स्वाभाविक कर्म हैं, वे भला कैसे छूट सकते हैं? और इसका कारण यही है कि श्वास और उच्छ्वास आदिकी जो क्रियाएँ हैं, वे निद्रित अवस्थामें भी होती रहती हैं। इस शरीरके निमित्तसे सभी कर्म मनुष्यके साथ लगे हुए हैं। वे न तो जीते जी ही छूटते हैं और न मरने पर ही छूटते हैं। इन कर्मोंके जालसे छूटनेवाले केवल एक ही प्रकारके पुरुष हैं। और वे कौन-से हैं? वही जो कर्मोंका आचरण करने पर भी उनके फलोंकी आशाके जालमें नहीं फँसते। यदि कर्मके फल ईश्वरको अर्पित कर दिये जायँ तो वही ईश्वरके प्रसादसे ज्ञानका बोध उज्ज्वल करते हैं। और जब इस प्रकार ज्ञान-बोध उज्ज्वल हो जाता है, तब आत्म ज्ञानके कारण अज्ञानके साथ साथ कर्मोंका भी

उसी प्रकार नाश हो जाता है, जिस प्रकार रस्सीका वास्तविक ज्ञान हो जाने पर उसमें होनेवाली सर्पवाली भ्रान्ति नष्ट हो जाती है। हे अर्जुन, इस प्रकार जो त्याग होता है, वही सच्चा कर्म-त्याग है। और इसीलिये जो लोग इस प्रकार त्याग करते हैं, उन्हींको मैं सच्चा त्यागी समझता हूँ। और नहीं तो जिस प्रकार किसी रोगीको मूर्च्छा आने पर यह कहा जाय कि उसे खूब अच्छी तरह नींद आई है, ठीक उसी प्रकार चाहे कोई एक कर्मसे उकताकर दूसरे कर्ममें फँसनेको भले ही विश्राम कह ले, परन्तु वास्तवमें ऐसा करना भी डंडोंकी मारसे बचनेके लिए घूँसोंकी मार सहनेके लिए तैयार होनेके समान ही है। परन्तु इस विषयका बहुत विस्तार हो चुका। मैं एक बार फिर तुम्हें यह बतला देता हूँ कि इस त्रिभुवनमें केवल उसीको सच्चा त्यागी समझना चाहिये जो कर्मके फलोंका त्याग करके स्वयं उन कर्मोंको नाशवाली दशा तक पहुँचा देता है।

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥

"हे अर्जुन, वास्तविक स्थिति यह है कि कर्म फलके तीन प्रकार हैं; और जो कर्म-फलकी आशा नहीं छोड़ता, उसीको कर्मके फल भोगने पड़ते हैं। पिता कन्याको जन्म देता है और यह कहकर वह कन्या दूसरेको अर्पित कर देता है कि—"यह मेरी नहीं है" और इस प्रकार पिता अपने उत्तरदायित्वसे मुक्त होता है और उस कन्याको ग्रहण करनेवाला उसका जामाता जंजालमें फँस जाता है। विषाक्त वनस्पतियाँ बोने और पैदा करनेवाले लोग वे वनस्पतियाँ दूसरोंके हाथ बेंच देते हैं और स्वयं उनसे धन उपार्जन करके सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो लोग मूल्य देकर उन वनस्पतियोंको खरीदते हैं और उनका सेवन करते हैं, वही अपने जीवनसे हाथ धोते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्त्ता भले ही सब प्रकारके कर्म करे, परन्तु यदि वह अपने मनमें उन कर्मोंके फलोंकी आशा न रखे तो वह अकर्त्ता ही रहता है, और इन दोनों बातोंको कर्म बदल नहीं सकते। रास्तेमें लगे हुए वृक्षोंके फल उन्हीं लोगोंको प्राप्त होते हैं जो उन्हें पानेकी इच्छा करते हैं। ठीक इसी प्रकार कर्मोंके फल भी उन्हीं लोगोंको प्राप्त होते हैं जो उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु कर्मोंका आचरण करके भी जो उनके फल ग्रहण नहीं करता, वही इस संसारके चक्रमें नहीं फँसता; क्योंकि यह सारा त्रिविध संसार कर्मोंका ही फल है। देव, मनुष्य और स्थावरका ही नाम संसार है और ये तीनों ही कर्म-फलके प्रकार हैं। ये कर्म फल तीन प्रकारके होते हैं—इष्ट, अनिष्ट और इष्टानिष्ट। जब बुद्धि विषयोंसे अंकित हो जाती है और जीव अधर्ममें प्रवृत्त होकर दुष्ट कर्म करने लगते हैं, तब वे कीड़े मकोड़ों और मिट्टी-पत्थर आदिके नीचे शरीर प्राप्त करते हैं। इन्हींको अनिष्ट कर्मोंका फल समझना चाहिए। परन्तु जब स्वधर्मका आदर करते हुए और अपने अधिकार पर दृष्टि रखते हुए वे वेद-शास्त्रोंके नियमानुसार पुण्य कर्मोंका आचरण करते हैं, तब हे अर्जुन, वे इन्द्र आदि देवताओंके उत्तम शरीर प्राप्त करते हैं। यही कर्मोंका इष्ट फल है। मीठे और खट्टे रसोंके मेलसे उन दोनोंसे बढ़कर एक तीसरा निराला और स्वादिष्ट रस उत्पन्न होता है; और योगकी साधनामें रेचककी सहायतासे ही कुम्भक

भी होता है (अर्थात् जब मनुष्य श्वासको बाहर निकालनेकी क्रिया करता है, तभी वह श्वासको अपने अन्दर बन्द रखनेमें भी समर्थ होता है)। इसी प्रकार जब सत्य और असत्य दोनों मिलकर बिलकुल एक हो जाते हैं, तब सत्य और असत्य दोनोंसे भिन्न एक और विचित्र पदार्थकी उत्पत्ति होती है। इसी लिए शुभ तथा अशुभ फलोंके मिश्रणसे जिस कर्म फलकी सृष्टि होती है, उसीके योगसे मनुष्य-देहकी प्राप्ति होती है। इसीको कर्मोंका इष्टानिष्ट अर्थात् मिश्र फल समझना चाहिए। यही तीन प्रकारके कर्म-फल सारे संसारमें फैले हुए हैं; और जो जीव आशाके फेरमें पड़ते हैं, उनके लिए उन फलोंको भोगनेके सिवा और कोई उपाय ही नहीं रह जाता। जब जीभका पानी गिरने लगता है (अर्थात् जीभकी लोलुपता बहुत बढ़ जाती है), तब दुष्ट पदार्थोंका सेवन बहुत अच्छा लगता है; परन्तु अन्तमें उन्हीं पदार्थोंके सेवनके कारण मनुष्यको मृत्युके मुखमें जाना पड़ता है। जब तक आदमी जंगलमें नहीं पहुँचता, तभी तक उसे ठगोंकी मित्रता अच्छी जान पड़ती है; और जब तक वेश्याके साथ अंग स्पर्श नहीं होता, तभी तक वह देखनेमें लावण्यवती जान पड़ती है। ठीक इसी प्रकार कर्मोंका आचरण करनेसे अंगोंमें प्रौढ़ताका संचार होता रहता है। परन्तु अन्तमें उन कर्मोंके फल एक दमसे आक्रमण कर बैठते हैं। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी साहूकार किसी कर्जदारके पास उसके वादे पर अपना कर्ज वसूल करनेके लिए आता है और उस समय कर्जदार बिना उसे रुपये चुकाये किसी तरह अपना बचाव नहीं कर सकता, उसी प्रकार मनुष्य इन कर्म-फलोंके भोगसे भी किसी प्रकार नहीं बच सकता। जिस प्रकार ज्वारकी बालमें से निकलकर जमीन पर गिरे हुए दाने फिर भी ज्वार ही उत्पन्न करते हैं और फिर उस ज्वारके दाने भूमि पर गिरते हैं, वे भी फिर वही ज्वार उत्पन्न करते हैं; ठीक उसी प्रकार जीव जिस समय एक फल भोगता है, तब वह साथ ही दूसरे अनेक कर्म-फल भी उत्पन्न करता रहता है। जिस प्रकार चलनेके समय प्रत्येक पग पिछले पगसे आगे ही पड़ता है अथवा नदी को पार करनेके लिए हम उसके जिस किनारे पर पहुँचते हैं, वह "इस पार" होता है और सामनेवाला दूसरा किनारा "उस पार" होता है और हमें उस पार जाना ही पड़ता है और बराबर इस पारसे उस पार करना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार कर्म-फलके भोगका भी कहीं अन्त नहीं होता। साध्य और साधनके निमित्तसे फल-भोगका निरन्तर विस्तार ही होता जाता है और इस प्रकार फलकी आशा न छोड़नेवाले जीव संसारके जालमें और भी अधिक फँसते जाते हैं। चमेलीकी कलियाँ खिलती तो हैं, परन्तु खिलनेके साथ ही साथ उनका सूखना भी आरम्भ हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जो लोग कर्मके निमित्त बनते हैं, परन्तु अपने आपमें कर्तृत्वका आरोप नहीं करते और जो लोग कर्म-फलका त्याग करके कर्मोंका उसी प्रकार अन्त कर देते हैं, जिस प्रकार बीजके लिए रखा हुआ धान्य खाने-पीनेके काममें लानेसे खेतीका काम बन्द हो जाता है, वे लोग सत्व-शुद्धिके बलसे गुरु-कृपाके अमृत-तुषारसे भरे हुए आत्म-बोधसे पूर्ण हो जाते हैं और उनकी द्वैत भाव रूपी दरिद्रता नष्ट हो जाती है। फिर जगत्-भ्रमके निमित्तसे भासित होनेवाले त्रिविध फल नष्ट हो

जाते हैं और उस अवस्थामें भोक्ता तथा भोगका भी लोप हो जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार जो लोग ज्ञान-प्रधान संन्यास ग्रहण करते हैं, वे ही वास्तवमें फल-भोगकी वासनाओंका अन्त करते हैं। और इस प्रकारके संन्यासके कारण जिस समय आत्म-स्वरूपमें दृष्टि विस्तृत होती है, उस समय भला यह भास हो ही कैसे सकता है कि कर्म कोई स्वतन्त्र या भिन्न वस्तु है ? जब दीवार ही गिर पड़ती है, तब उस पर बने हुए चित्र भी मिट्टी हो जाते हैं। जब रात समाप्त हो जाती है, तब अन्धकारका कहीं नाम भी रह जाता है ? जब मूल वस्तु-स्वरूप ही नष्ट हो गया, तब फिर भला उसकी छाया कहाँ पड़ सकती है ? यदि दर्पण ही न हो तो मुखका प्रतिबिम्ब कैसे और किसमें पड़ सकता है ? जब नींद खुल गई, तब स्वप्नकी उत्पत्ति कहाँसे हो सकती है ? और जहाँ स्वप्न ही नहीं है, वहाँ भला सत्य और मिथ्याका प्रश्न कैसे उत्पन्न हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार ऐसे ज्ञान-प्रधान संन्याससे जब मूल अविद्याके ही जीवनका अन्त हो जाता है, तो फिर उसका कार्य जो कर्म-फल है, उसका लेन-देन कैसे हो सकता है ? इसी लिए संन्यासी पर कर्मकी मात्रा कभी प्रयुक्त हो ही नहीं सकती। परन्तु जब तक मनुष्यके शरीरमें अविद्या रहती है, तब तक आत्मा कर्तृत्वके अभिमानसे शुभ और अशुभ सभी प्रकारके कर्मोंके पीछे लगी रहती है। और जब तक दृष्टि पर भेद-भावकी छाप लगी रहती है, तब तक, हे सुविज्ञ अर्जुन, आत्मा और कर्ममें भेद-भाव बना ही रहेगा। पूर्व दिशा और पश्चिम दिशामें जिस प्रकारका भेद-भाव होता है अथवा आकाश और मेघ, सूर्य और मृग-जल अथवा पृथ्वी तल और वायुमें जिस प्रकारकी भिन्नता दिखाई देती है अथवा नदीके जलमें पत्थरों और चट्टानोंके डूबे रहने पर भी जिस प्रकार उन दोनों में आकाश और पातालका अन्तर रहता है अथवा पानीको छिपाये और दबाये रखनेवाली सेवार जिस प्रकार पानीसे बिलकुल भिन्न होती है अथवा दीपकसे सदा उत्पन्न होनेवाले काजलको जिस प्रकार कभी दीपक नहीं कहा जा सकता अथवा चन्द्रमा पर दिखाई पड़नेवाला दाग या कलंक जिस प्रकार चन्द्रमाके साथ मिलकर एक-रूप नहीं हो सकता अथवा दृष्टि और नेत्रमें जिस प्रकार अपार अन्तर होता है अथवा मार्ग और यात्री या प्रवाह और उसमें बहनेवाले पुरुष या दर्पण और उसमें अपने मुखका प्रतिबिम्ब देखनेवाले मनुष्यमें जितनी अधिक भिन्नता या अन्तर होता है, हे अर्जुन, ठीक उतनी ही भिन्नता या अन्तर आत्मा और कर्म में है। परन्तु यह अन्तर कब दिखाई देता है ? जब यह भिन्नता जाननेके लिए अज्ञान अवसर देता है, तब। सरोवरमेंके कमल खिलकर यह सूचित करते हैं कि सूर्य उदय हो गया और वे कमल भ्रमरोंसे अपने कमल-मधुकी लूट कराते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्माके द्वारा होने वाली क्रियाएँ कुछ और ही कारणोंसे बार-बार उत्पन्न होती हैं। ये कारण पाँच हैं। अब मैं इन कारणोंका विवेचन करता हूँ।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

"कदाचित वे पाँचों कारण तुम्हें मालूम भी होंगे, क्योंकि शास्त्रोंने ऊपर हाथ उठाकर और खूब चिल्ला चिल्लाकर उनका वर्णन किया है। वेद राजाकी राजधानीमें, सांख्य वेदके प्रसादमें तत्व-विवेचन रूपी डंकेके घोषमें उसकी गर्जना हो रही है। जिस प्रकार संसारके समस्त कर्मोंके होनेके मूल हेतु यही कारण होते हैं, उस प्रकारका आत्माके साथ उनका सम्बन्ध नहीं लगाना चाहिए। हे अर्जुन, इस प्रकार इन पाँच कारणोंका ढिंढोरा पीटा गया है जिससे ये कारण बहुत प्रसिद्ध हो गये हैं; इसलिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यदि ये कारण तुम भी सुन लो तो तुम्हारे लिए बहुत अच्छा है। और जब मैं ज्ञान-चिन्तामणि प्रत्यक्ष तुम्हारे हाथोंमें हूँ, तो फिर भला इस बातकी क्या आवश्यकता है कि उन कारणोंका तुम्हें और किसीके द्वारा ज्ञान हो ? यदि सामने दर्पण रखा हुआ हो तो फिर दूसरोंसे यह पूछनेकी क्या आवश्यकता है कि मैं देखनेमें कैसा हूँ; और इस प्रकार दूसरेके नेत्रोंको इतना अधिक महत्व क्यों दिया जाय ? मेरा भक्त जिस हेतुसे जिस ओर देखता है, मैं भी उसी ओर उसके हेतुका रूप धारण करके पहुँच जाता हूँ। मैं ऐसा भक्त-वत्सल प्रभु अब तुम्हारे हाथका खिलौना बन रहा हूँ।" प्रेमके आवेशमें इस प्रकार बातें करते करते श्रीकृष्णदेव अपने आपमें नहीं रह गये। और उधर अर्जुन तो मानों आनन्द सागरमें डूब ही गया। जैसे चाँदनीकी वर्षा हो रही हो और उसके कारण सोमकान्त मणिका पर्वत पसीजकर सरोवर बन जाय, ठीक उसी प्रकार सुख और आत्म-प्रत्ययके मनोभावोंके बीचका परदा नष्ट हो जानेके कारण अर्जुन केवल सुखकी मूर्त्ति ही बन गया था। श्रीकृष्णदेव तो सभी बातोंमें समर्थ थे, इसलिए ऐसे अवसर पर वे फिर पहलेकी तरह प्रकृतिस्थ हो गये और सुख-सागरमें डूबते हुए अर्जुनको बाहर निकालनेके लिए जल्दी से आगे बढ़े। उस समय सुखकी इतनी बड़ी लहर आई थी कि उसमें अर्जुन सरीखे बड़े बड़े धीर वीर भी अपनी बुद्धि सहित डूब सकते थे। परन्तु भगवानने सुखकी उस बाढ़को भी रोक लिया और इस प्रकार कहना आरम्भ किया—"भाई अर्जुन, तुम अपना आत्म-स्वरूप मत भूल जाओ।" यह सुनकर अर्जुनने एक ठंढी साँस ली और अपना सिर नीचे झुका लिया। इसके उपरान्त उसने कहा—"हे देव, आप उदार दाता हैं। और यह बात आप समझ ही गये हैं कि यद्यपि मैं आपके पास ही रहता हूँ, तो भी आपसे अलग रहनेके कारण मैं बहुत उकता गया हूँ; और इसी लिए अब मैं आपके साथ पूरा पूरा एकत्व या सम-रसता प्राप्त करनेके लिए उत्सुक हो रहा हूँ। मेरी ऐसी अवस्था होने पर यदि आप प्रेम-पूर्वक कुछ विनोद न कर रहे हों, तो फिर आप बार-बार मेरी जीव-दशाका स्मरण क्यों करा देते हैं ?" इस पर श्रीकृष्णने उत्तर दिया—"अरे पागल अर्जुन, अभी तक यह विषय तुम्हारी समझमें अच्छी तरह नहीं आया। क्या चन्द्रमा और उसकी चाँदनीमें कभी कोई पार्थक्य होता है ! इसके अतिरिक्त मैं तुम्हें अपने मनकी एक और बात बतलाता हूँ। वह यह कि तुम्हें वह सम-रसता दिखानेमें और तुम्हें उसका अनुभव करनेमें मुझे सचमुच बहुत भय हो रहा है। और तुम्हारे रूठ जाने पर मुझमें तुम्हारा रूठना सहन करनेकी जो सामर्थ्य आती है, उसका भी कारण यही है कि तुम्हारे लिए

मेरे मनमें बहुत अधिक प्रेम है। और जब तक आपसमें एक दूसरेके लिए प्रेमके लक्षण बने हुए हैं, तब तक हम दोनोंका व्यक्ति-भेद भी अवश्य ही बना रहेगा। इसी लिए अब इस विषयकी अधिक चर्चाकी आवश्यकता नहीं है। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि आत्मासे कर्म किस प्रकार भिन्न होते हैं।" इतनेमें अर्जुनने कहा—"हे महाराज, मेरे मनमें इस समय जो प्रश्न उत्पन्न हो रहा था, उसकी प्रस्तावना करके आपने बहुत अच्छा किया। समस्त कर्मोंके मूल बीज जो कारण-पंचक हैं, उनका स्पष्टीकरण करनेका वचन क्या आप मुझे नहीं दे चुके हैं? और आपने जो यह कहा है कि आत्माका इन कर्मोंके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, सो आपके द्वारा उसका स्पष्टीकरण होना भी अभी बाकी है।" यह सुनकर विश्वाधिपति श्रीकृष्णने बहुत सन्तोषसे कहा—"भला ऐसा श्रोता मिलता ही कहाँ है जो इस प्रकारके प्रश्नोंके उत्तर सुननेके लिए तुम्हारी तरह धरना देकर बैठ जाय? इसी लिए हे अर्जुन, जो जो बातें मैंने तुम्हें बतलानेके लिए कही हैं, वे सब अब मैं तुमको बतलाता हूँ। परन्तु इन सब बातोंके कारण तुम्हारे ऊपर पड़ा हुआ प्रेमका भार पहलेसे और भी बढ़ जायगा।" इस पर अर्जुनने कहा—"हे देव, जान पड़ता है कि आप अपनी पहली बात भूल गये। इस प्रेमके लिए ही तो आप "मैं" और "तुम" वाला व्यक्ति-भाव रखते हैं।" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"क्या सचमुच ऐसी बात है? तो फिर मैंने जो वचन तुम्हें दिया है, वह अब मैं पूरा करता हूँ। तुम अच्छी तरह सावधान होकर और खूब ध्यान देकर मेरी बातें सुनो। हे अर्जुन, यह बात बिलकुल ठीक है कि समस्त कर्म उन्हीं पाँच कारणोंसे होते हैं और आत्माको किसी कर्मके होनेका पता भी नहीं चलता। और इन पाँच कारणोंके योगसे कर्मोंको जो आकार प्राप्त होता है, उसके हेतु भी स्पष्ट रूपसे पाँच ही हैं। इन सबसे भिन्न जो आत्म-तत्व है, वह केवल तटस्थ रहता है। न तो वह हेतु ही है, न निमित्त कारण ही है और न वह कर्मोंकी सिद्धिके लिए स्वयं कोई प्रयत्न ही करता है। जिस प्रकार आकाशमें रात और दिन होते हैं, ठीक उसी प्रकार आत्मामें भी शुभ और अशुभ कर्म होते रहते हैं। जब जल, तेज और धूएँका वायुके साथ मेल होता है, तब आकाशमें मेघ उत्पन्न होते हैं, परन्तु आकाशको उनका पता भी नहीं चलता। लकड़ीसे नाव बनती है, उसे जलमें नाविक खेता है और हवा उस नावको चलाती है; परन्तु जल केवल साक्षी रूपसे तटस्थ रहता है। मिट्टी कहींसे उठाकर ले आते हैं और उस मिट्टीके गोलेसे बरतन बनते हैं। डंडेके योगसे चाक पर वे बरतन घुमाये जाते हैं और उनके साथ साथ चाक भी घूमता है। परन्तु इन सबका कर्तृत्व कुम्हारमें होता है। इन सबको पृथ्वीका आधार तो अवश्य प्राप्त होता है, परन्तु उस आधारके अतिरिक्त क्या कभी पृथ्वीका और भी कुछ व्यय होता है? अब इन सब बातोंका तुम्हीं विचार करो। अब मैं एक और उदाहरण देता हूँ। लोग-सूर्यके प्रकाशमें अनेक प्रकारके काम-धन्धे करते हैं। परन्तु क्या उन काम-धन्धोंका सूर्यके साथ भी कभी कोई सम्पर्क होता है? ठीक इसी प्रकार जब पाँच हेतुओंका योग होता है, तब उन पाँच कारणोंसे कर्मरूपी बेल लगती है। परन्तु आत्मा उन सबसे सदा भिन्न ही रहती है।

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥१४॥

"अब मैं इन पाँचों कारणोंके अलग अलग और स्पष्ट लक्षण बतलाता हूँ। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न मोती अलग अलग परख कर लिये जाते हैं, उसी प्रकार कर्मोंके पाँच कारण भी उनके अलग अलग लक्षणों सहित सुनो। इन पाँचोंमें "देह" पहला कारण है। इसे "अधिष्ठान कारण" कहते हैं, क्योंकि इस देहमें भोक्ता अपने भोग्य विषयोंके साथ निवास करता है। इन्द्रियाँ रात-दिन कष्ट करती रहती हैं और उनके द्वारा प्रकृतिके बलसे जो सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं, उन्हें भोगनेके लिए पुरुषके पास इस देहके अतिरिक्त और कोई स्थान ही नहीं होता; और इसी लिए इस देहको "अधिष्ठान" कहते हैं। यह देह चौबीस तत्वोंके एक साथ मिलकर रहनेका साझेका घर है। बन्ध और मोक्षके झगड़ोंका निपटारा भी इसीमें होता है। जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्तिवाली तीनों अवस्थाओंका भी यही आधार-स्थल है; इसलिए हे अर्जुन, इस देहको "अधिष्ठान" कहते हैं। कर्मोंका दूसरा कारण "कर्त्ता" है। इसी कर्त्ताको चैतन्यका प्रतिबिम्ब कहते हैं। आकाश ही जलकी वर्षा करता है और उस जलसे पृथ्वी पर ताल आदि बनते हैं; और फिर उसी तालमें आकाश प्रतिबिम्बित होता है। अथवा कभी कभी निद्रामें राजा स्वयं अपने आपको भूल जाता है और तब उसे स्वप्नमें यह अनुभव होता है कि मैं रंक हो गया हूँ। ठीक इसी प्रकार चैतन्यको भी आत्मस्वरूप विस्मृत हो जाता है और तब उसमें देहका आभास उत्पन्न होता है। फिर जो चैतन्य देहके अभिमानसे अनेक प्रकारके अभिनय करता है और जिसे आत्म-स्वरूपकी विस्मृति हो जानेके कारण जीवका नाम प्राप्त होता है और जो सभी बातोंमें देहके साथ रहनेकी प्रतिज्ञा कर चुका होता है, और जो भ्रममें पड़कर यह कहता है कि प्रकृतिके द्वारा होनेवाले सब कर्म मैंने ही किये हैं, उस जीवात्माको ही इस प्रकरणमें "कर्त्ता" कहा गया है। फिर जिस प्रकार एक स्वरूप रहनेवाली दृष्टि बरौनीके बालोंके कारण चौरीके समान सब जगहसे फटी हुई दिखाई देती है अथवा घरमें जलनेवाले एक ही दीपकका प्रकाश बाहरसे भिन्न भिन्न खिड़कियोंसे देखने पर अलग अलग जान पड़ता है अथवा एक ही मनुष्य शृङ्गार आदि नौ रसोंसे क्रम क्रमसे उल्लसित होने पर जिस प्रकार वृत्ति-भेदसे नौ प्रकारका भासित होने लगता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धिकी जाननेकी शक्ति यद्यपि एक-स्वरूप ही है, परन्तु फिर भी वह कान और आँख आदि बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा भिन्न भिन्न रूपोंसे प्रकट होती है। इसीको "पृथग्विधकरण" कहते हैं। हे अर्जुन, कर्मोंका यह तीसरा कारण है। अब पूर्व दिशा और पश्चिम दिशासे बहनेवाले प्रवाहोंका सम्मीलन होने पर जिस प्रकार एक ही पानी भिन्न भिन्न नदों और नदियोंके रूपमें भासमान होता है, उसी प्रकार वायुमें जो अखण्ड एक-स्वरूप क्रिया शक्ति रहती है, वही भिन्न भिन्न स्थानोंमें प्राप्त होनेके कारण अलग अलग स्वरूपोंवाली जान पड़ती है। जब वह शक्ति वाचामें आती है, तब मनुष्य बोलने लगता है; जब वह हाथमें आती है, तब उससे लेन-देन होने लगता है; जब वह पैरोंमें आती है, तब उससे चलना-फिरना

होने लगता है; और जब वह गुद-द्वारमें आती है, तब उससे मल निकलने लगता है। फिर वही वायु जब नाभिसे हृदय तक ओंकारको प्रकट करने लगती है, तब उसे "प्राण-वायु" कहते हैं। फिर वही शक्ति जब ऊपरवाले भागमें प्रवेश करने लगती है, तब उसे "उदान वायु" कहते हैं। जब वही शक्ति अधो द्वारसे बहने लगती है, तब वह "अपान वायु" बन जाती है; और जब वह सारे शरीरमें व्याप्त रहती है, तब उसे "व्यान वायु" कहते हैं। जो अन्न सेवन किया जाता है, उसका रस यही शक्ति शरीरके भिन्न भागोंमें पहुँचाती है और शरीरके अन्दर कोने-कोनेमें निरन्तर व्याप्त रहती है। इस प्रकार चारों ओर घूमकर वह क्रिया-शक्ति अन्तमें नाभि-कमलमें स्थिर होती है और उस समय उसे "समान वायु" कहते हैं। जँभाई, छींक, डकार आदि रूपोंमें होनेवाली वायुकी क्रियाओंके नाम नाग, कूर्म और कृकर आदि हैं। इस प्रकार हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, यद्यपि वायुकी सब क्रियाएँ एक-रूप ही हैं, परन्तु उसके रीति-भेदके अनुसार उसे भिन्न भिन्न नाम प्राप्त होते हैं। और यही भिन्न भिन्न रीतियोंसे भिन्न रूप होनेवाली वायु-शक्ति कर्मोंका चौथा कारण है। छओं ऋतुओंमें शरद्-ऋतु सबसे उत्तम होती है और उस शरद्-ऋतुका चन्द्रमा तो और भी अधिक मनोहर होता है। और उसमें भी पूर्णिमाके चन्द्रमाकी बहारका हाल तो कुछ पूछो ही मत। इसी प्रकार वसन्त-ऋतुमें बागकी बहुत अधिक शोभा होती है। फिर यदि ऐसे बागमें प्रिय जनोंकी संगति प्राप्त हो तो उसकी मधुरता और भी बढ़ जाती है। और यदि ऐसी संगतिमें उत्तम तथा प्रेमपूर्ण उपचार भी मिलें तो फिर उस सुखका पारावार ही नहीं रह जाता। अथवा हे अर्जुन, एक तो कमल हो, दूसरे उसका पूर्ण विकास हो और तिस पर भी सुगन्धित पराग रेणुकी विपुलता हो और इस प्रकार मानो त्रिवेणीका संगम हो गया हो, तो फिर शोभाकी भला कौन-सी कमी रह सकती है? एक तो पहले ही मधुर वाणी हो, तिस पर उसमें कवित्वका योग हो और उस कवित्वको रसिकताकी संगति प्राप्त हो और उस रसिकतामें भी परमार्थ तत्वकी लालसा हो और इस प्रकारका अप्रतिम योग उपस्थित हो तो वह कितना उत्तम होता है! ठीक इसी प्रकार अन्तःकरणकी समस्त वृत्तियोंमें एक बुद्धि ही सबसे श्रेष्ठ है और इन्द्रियोंको आवेशसे वह और भी अधिक तेजस्वी हो जाती है। और उन इन्द्रियोंके आवेशमें उनके अधिदेवताओंका मंडल और भी अधिक शोभादायक होता है। नेत्र आदि दसो इन्द्रियोंके पीछे उन्हें अपनी कृपासे बल देनेवाले सूर्य आदि देवताओंका मंडल होता है। हे अर्जुन, इसी देवता-मंडलको कर्मोंका पाँचवाँ कारण समझना चाहिए।" बस, यही श्रीकृष्णदेवने अर्जुनसे कहा था। इसके उपरान्त वे फिर कहने लगे—"इस प्रकार मैंने समस्त कर्मोंके मूल कारणोंका तुम्हारे सामने ऐसे ढंगसे निरूपण किया है कि तुम्हारी समझमें सब बातें अच्छी तरह आ जायँ। और यह निरूपण तुमने सुन ही लिया है। अब इन्हीं मूल कारणोंका विस्तार होता है और कर्मोंके अपार विस्तारका अस्तित्व होता है। जिन पाँच हेतुओंके कारण यह बात होती है, अब मैं उनका स्पष्ट रूपसे वर्णन करता हूँ।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥१५॥

"जब पूर्ण रूपसे वसन्तका आगमन होता है, तब वह नये पल्लवोंकी उत्पत्तिका हेतु होता है। फिर वही पल्लव पुष्पोंके गुच्छे उत्पन्न करते हैं और उन्हीं फूलोंसे आगे फल होते हैं। अथवा जब पावस-ऋतुका आगमन होता है, तब वह अपने साथ बहुत-से मेघ लाती है। उन मेघोंके कारण वृष्टि होती है और उस वृष्टिके कारण यथेष्ट धान्य उत्पन्न होता है। पूर्व दिशा अरुणका प्रसव करती है; वह अरुण सूर्यका उदय कराता है और सूर्यके कारण दिन निकलता है। ठीक इसी प्रकार, हे अर्जुन, मन भी कर्मोंके संकल्पका हेतु होता है। इन्हीं संकल्पोंसे वाणीका दीपक प्रज्वलित होता है और जब वह दीपक समस्त कर्म समुदायके मार्ग उज्वल करता है, तभी कर्ता कर्म करनेके उद्योगमें लगता है। इन्हीं उद्योगोंमें शरीर आदि समुदाय शरीर आदिके हेतु होते हैं। जिस प्रकार लोहेकी चीजें बनानेके सब काम लोहेके ही घनसे होते हैं और जिस प्रकार तन्तुओंके तानेमें तन्तुओंके ही बाने पड़नेसे वे तन्तु समुदाय ही वस्त्र बन जाते हैं, ठीक उसी प्रकार मन, वाचा और शरीरके द्वारा जिन कर्मोंका आचरण होता है, वे कर्म ही मन, वाचा और शरीरके हेतु होते हैं। रत्नोंसे ही रत्न-जटित आभूषण बनते हैं। ठीक वही बात इस सम्बन्धमें भी है। अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि शरीर आदि ही कारण हैं तो फिर वही हेतु किस प्रकार बन जाते हैं, तो वे अपने इस आक्षेपका समाधान भी कर लें। जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशका हेतु भी सूर्य ही है और कारण भी सूर्य ही है अथवा ऊखके कांड जिस प्रकार ऊखकी वृद्धिका हेतु भी होते हैं और कारण भी होते हैं अथवा यदि वाग्देवताकी स्तुति करनी हो तो उसके लिए वाणीको ही उस काममें लगाना पड़ता है अथवा वेदोंके महत्वका गान जिस प्रकार स्वयं वेदोंसे ही हो सकता है, ठीक उसी प्रकार यद्यपि हम यह बात निस्सन्देह रूपसे जानते हैं कि शरीर आदि ही कर्मोंके कारण होते हैं, तो भी यह बात मिथ्या नहीं है कि वही उन कर्मोंके हेतु भी होते हैं। और जब शरीर आदि कारणोंका शरीर आदि हेतुओंके साथ मेल होता है, तब जिस कर्म-समुदायकी सृष्टि होती है, वह कर्म-समुदाय यदि शास्त्रोक्त मार्गसे चलता रहे तो वे सब कर्म न्याय-संगत होते हैं; और फिर वही कर्म न्यायके हेतु भी होते हैं। वर्षा-ऋतुका जल बहकर स्वभावतः धानके खेतोंकी ओर ही जाता है और उन खेतोंमें पूरी तरहसे समा जाता है। परन्तु उसका कितना अधिक उपयोग होता है! अथवा जिस प्रकार कोई झक्की आदमी मारे क्रोधके अविचारके कारण घरसे बाहर निकल पड़े और अनजानमें ही द्वारकाके मार्ग पर चल पड़े तो यद्यपि उसे कष्ट तो होता है, परन्तु उसके चलनेवाले पैरोंका आगे बढ़ना निष्फल नहीं होता, उसी प्रकार हेतु और कारणके योगसे जिन कर्मोंकी उत्पत्ति होती है, वे बिलकुल अन्धे होते हैं। परन्तु यदि उन कर्मोंको शास्त्रके नेत्र प्राप्त हो जायँ, तो उन्हें न्याय-संगत कर्म कहना चाहिए। और नहीं तो यदि दूध परोसते समय वह पात्रमें न पड़े तो बाहर गिर पड़ता है। दूधका इस प्रकार बाहर गिरना भी है तो उसका व्यय ही परन्तु उसे उचित व्यय

नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार शास्त्रोंकी सम्मतिके बिना जो कर्म किये जाते हैं, वे यदि निष्फल सिद्ध न होते हों तो फिर डाकू हमारा जो धन लूट ले जाते हैं, उसे हम धर्म या दानके खातेमें खर्चके तौर पर क्यों न लिखें? चाहे कोई मन्त्र लिया जाय, पर वह वर्णमालाके बावन अक्षरोंके बाहरका नहीं होता। और क्या ऐसा एक भी मनुष्य है जो उन बावन अक्षरोंका कभी न कभी उच्चारण न करता हो? परन्तु हे अर्जुन, जब तक मन्त्रका रहस्य न समझा जाय, तब तक जिस प्रकार केवल बावन अक्षरोंके उच्चारणसे ही वाणीको मन्त्रोच्चारका फल नहीं मिलता, उसी प्रकार कारण और हेतुका योग होने पर यों ही जो कर्म उत्पन्न होता है, वह जब तक शास्त्रोंके अनुकूल और उनके द्वारा अनुमोदित नहीं होता, तब तक वह कर्म होता ही रहता है, परन्तु उसे भी वास्तविक कर्म करना नहीं कह सकते। ऐसे कर्म अन्यायपूर्ण कर्म होते हैं और वे अन्यायके ही हेतु होते हैं।

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥१६॥

"इस प्रकार, हे कीर्तिमान् अर्जुन, पाँच कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मोंके पाँच हेतु भी होते हैं और इन्हीं कर्मोंके झमेलेमें आत्मा पड़ गई है। जिस प्रकार सूर्य बिना किसी तरहका रूप धारण किये नेत्रोंको भी और वस्तुओंके रूपोंको भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं तो कर्म नहीं होती, परन्तु फिर भी कर्मोंको प्रकट करती रहती है। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, जिस प्रकार दर्पणमें अपना रूप देखनेवाला स्वयं न तो अपना प्रतिबिम्ब ही होता है और न दर्पण ही होता है, परन्तु फिर भी वह उन दोनोंको प्रकाशित करता है अथवा सूर्य जिस प्रकार स्वयं दिन और रातका अनुभव न करने पर भी उन्हें उत्पन्न करता है, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, आत्मा कर्मोंकी कर्त्ता न होने पर भी उन्हें प्रकट करती है। परन्तु देहाभिमानके भ्रममें पड़े होनेके कारण जिस मनुष्य-की बुद्धि सदा देहमें ही फँसी रहती है, उसके लिए आत्म-ज्ञानके सम्बन्धमें केवल मध्य रात्रिका घोर अन्धकार हो रहता है। जो लोग चैतन्य ईश्वर या ब्रह्मको देहकी मर्यादा या सीमामें ही बन्द कर रखते हैं, उन्हें यह सिद्धांत बिलकुल अटल जान पड़ता है कि आत्मा ही कर्त्ता है। परन्तु यह बात भी नहीं होती। उन्हें इस बात का भी दृढ़ निश्चय नहीं होता कि आत्मा ही कर्म कर्त्ता है। बल्कि वे वास्तवमें यही मानते हैं कि कर्म करनेवाला मैं शरीर ही हूँ। और इसका कारण यही है कि वह कभी इस प्रकारकी बातें अपने कानों तक पहुँचने भी नहीं देता कि मैं "आत्मा" हूँ और मैं केवल समस्त कर्मों-का साक्षीभूत तटस्थ हूँ। और इसीलिए वह असीम आत्म-तत्वको इस जरा-से देहसे नापता है। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कौन-सी बात है? उल्लू क्या दिनको ही अँधेरी रात नहीं बना लेता? जिसने आकाशके वास्तविक सूर्यको कभी न देखा हो, वह गड्ढेमें पड़ने-वाले सूर्यके प्रतिबिम्बको ही वास्तविक सूर्य क्यों न मान लें? उसके लिए तो जब तक पानीका गड्ढा रहता है, तब तक सूर्य भी रहता है। यदि वह गड्ढा नष्ट हो गया तो सूर्य भी नष्ट हो गया। यदि उस गड्ढेका पानी हिलने लगा तो वह समझ लेता है कि सूर्य भी हिल-डुल रहा है। सोया हुआ मनुष्य जब तक नहीं जागता, तब तक

उसे स्वप्न ही सच्चा जान पड़ता है। जब तक इस बातका ज्ञान न हो जाय कि यह वास्तवमें डोरी है, तब तक यदि उसमें सर्पका आभास होता रहे और मनुष्यको उससे डर लगता रहे तो इसमें आश्चर्यकी ही कौन-सी बात है? जब तक आँखोंमें कमल रोग रहेगा, तब तक चन्द्रमा अवश्य ही पीला दिखाई देगा। मृग यदि मृग-जलके धोखेमें आ जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इसी प्रकार जो मनुष्य शास्त्रों और गुरुके नामकी हवा तक अपने अंगमें नहीं लगने देता, जो केवल मूर्खतासे ही अपना जीवन व्यतीत करता है, वह अपनी आत्मा पर शरीरका जाल उसी प्रकार लादता है, जिस प्रकार गीदड़ मेघोंकी गतिका आरोप चन्द्रमा पर करते हैं। फिर अपनी इसी तरहकी समझके कारण, हे अर्जुन, वह कर्मकी मजबूत गाँठसे इस शरीर-रूपी बन्दीगृहमें अच्छी तरह जकड़कर बन्द हो जाता है। देखो, बेचारा तोता जब नलिका यन्त्र पर बैठता है, तब यद्यपि उसके पैर मुक्त ही रहते हैं, परन्तु फिर भी उसके मनमें इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि कि मैं इसकी नलीके साथ बँध गया हूँ; और इसी लिए वह नली पर जमकर बैठा रहता है या नहीं? इसी प्रकार जो मनुष्य अपने निर्मल आत्म-स्वरूप पर मायासे किये हुए कर्मोंका आरोप करता है, वह असंख्य कोटि मापोंसे सदा कर्मोंको नापता ही रह जाता है। बड़वाग्नि रहती तो समुद्रमें ही है, परन्तु समुद्रका जल उसे स्पर्श नहीं करता। इसी प्रकार जो कर्मोंसे व्याप्त तो रहता है, परन्तु फिर भी जिसके साथ कर्मोंका सम्पर्क नहीं होता और इस प्रकार अलिप्त रूपसे रहकर जो सब कर्म करता है, उसे पहचाननेके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ। बात यह है कि मुक्तोंके लक्षणोंका विचार करते करते ही मनुष्यको मोक्ष प्राप्त हो जाता है। दीपकके प्रकाशमें ढूँढ़ने पर जिस प्रकार हमारी खोई हुई वस्तु हमें मिल जाती है अथवा दर्पण ज्यों ज्यों रगड़कर स्वच्छ किया जाय, त्यों त्यों जिस प्रकार उसमें हमारा रूप और भी अधिक स्पष्ट दिखाई देता है अथवा जलका संयोग होते ही जिस प्रकार नमक भी जलका ही रूप धारण कर लेता है अथवा प्रतिबिम्ब यदि पीछे लौटकर फिर अपने बिम्बको देखनेके लिए आवे तो वह जिस प्रकार आपसे आप बिम्ब ही हो जाता है, ठीक उसी प्रकार सन्तोंकी बातोंका विचार करते करते हमें अपना खोया हुआ आत्म-स्वरूप फिरसे प्राप्त हो जाता है। इसी लिए सदा सन्तोंकी बातोंका वर्णन करना और सुनना चाहिए। जिस प्रकार चर्मचक्षुओंमें रहनेवाली दृष्टि चक्षुओंके चमड़ेसे नहीं बँधती, उसी प्रकार जो कर्मोंका आचरण करने पर भी कर्मोंकी समता और विषमता या सुखों और दुःखोंसे जकड़ा नहीं जाता और इस प्रकार जो बन्ध-मुक्त हो जाता है, अब मैं उसीके लक्षण स्पष्ट करके बतलाता हूँ।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥

"भाई सुविज्ञ अर्जुन, जो जीव अज्ञानकी निद्रामें पड़ा पड़ा अनन्त काल तक नाना प्रकारके स्वप्नोंके जालमें फँसा रहता है, वह "तत्वमसि" के महासिद्धान्तका श्रवण करते ही और मस्तक पर गुरु कृपाका हाथ पड़ते ही, बल्कि यों कहना चाहिए कि मस्तक पर थपकी लगते ही, तुरन्त विश्वके स्वप्नाभास समेत मायाकी निद्रा छोड़कर एकाएक अभेद-

भावके आनन्दसे जाग उठता है। जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणें निकलने पर मृग-जलकी अलग और स्पष्ट जान पड़नेवाली लहरें लुप्त हो जाती हैं, अथवा जिस प्रकार बाल्यावस्था समाप्त हो जाने पर मनमें हौवेके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता (अर्थात् उसका भय मनसे पूरी तरहसे निकल जाता है) अथवा जिस प्रकार ईंधन जल जाने पर फिर किसी प्रकार ईंधन नहीं बन सकता अथवा जाग उठने पर जिस प्रकार स्वप्न आँखोंके सामने नहीं ठहरते, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीवमें अहं-भावना कहीं नामको भी नहीं रह जाती। सूर्य अँधेरेमें रहनेके लिए किसी सुरंग या तहखानेमें ही क्यों न घुस जाय, परन्तु फिर भी उसे कहीं अन्धकार नहीं मिल सकता (क्योंकि वह जहाँ जाता है, वहीं पूर्ण प्रकाश हो जाता है)। ठीक इसी प्रकार जो जीव आत्म-भावसे आवृत्त हो जाता है, वह जिस दृश्य पदार्थकी ओर देखता है, वही पदार्थ स्वयं उस देखनेवालेका ही रूप धारण करने लगता है और इस प्रकार उसके साथ मिलकर एक-रूप हो जाता है। अग्नि जिस वस्तुमें लगती है, वही वस्तु अग्निका रूप धारण कर लेती है और दोनोंमें दाह्य तथा दाहकका भाव आपसे आप नष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार जब कर्मका आकार आत्मासे भिन्न मान लिया जाता है और उस कर्मको आकार प्रदान करनेके कर्तृत्वका आत्मा पर होनेवाला मिथ्या आरोप नहीं रह जाता, तब फिर जो कुछ बाकी रह जाता है, वही आत्म-स्थिति है। इस आत्म-स्थितिका स्वामित्व जिसे प्राप्त होता है, वह क्या कभी इस शरीरमें बद्ध होकर रह सकता है। प्रलय कालका अपार जल क्या कभी किसी दूसरे प्रवाहमें सम्मिलित हो सकता है या उसका स्वतन्त्र अस्तित्व मान सकता है ? हे अर्जुन, ठीक इसी प्रकार अभिन्न भावके कारण स्फुरण प्राप्त करनेवाली अहंता (अर्थात् सर्वात्म-भावना) जब पूर्णताको प्राप्त हो जाती है, तब क्या वह इस तुच्छ देह-भावमें समा सकती है ? क्या सूर्यका बिम्ब कभी सूर्यको ही दबा सकता है ? यदि दहीको मथकर निकाला हुआ मक्खन फिर मठेमें डाला जाय तो अपने अलिप्ततावाले गुणके कारण क्या वह मक्खन फिर कभी उस मठेमें मिल सकता है ? अथवा हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, यदि काठमें रहनेवाली गुप्त अग्नि एक बार काठमेंसे निकाल ली जाय तो क्या फिर वह कभी काठमें छिपाकर रखी जा सकती है ? अथवा रातके गर्भसे जो तेजो-राशि सूर्य बाहर निकलता है, उसके सम्बन्धमें क्या कभी यह बात सुननेमें आती है कि वह रात ही के रूपमें रहता है ? ठीक इसी प्रकार जो जीव वेद्य और वेदक अर्थात् ज्ञान-विषय और ज्ञाताका भेद ही दूर कर देता है, उसमें भला इस प्रकारकी हीन अहंताका किस प्रकार स्फुरण हो सकता है कि "मैं देह हूँ" ? आकाश जिस एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाता है, उस स्थान पर वह पूरी तरहसे भरा हुआ रहता है और इसी लिए वह निरन्तर आपसे आप अपनी सर्वव्यापकतासे भरा रहता है। ठीक इसी प्रकार ऐसा जीव जो कुछ करता है, वह सब स्वयं उसीका आत्म-रूप होता है। फिर भला वह किस कर्ममें अपने कर्तृत्वके अभिमानसे लिप्त हो सकता है ? जिस प्रकार आकाशका कोई स्वतन्त्र निवास-स्थान नहीं होता अथवा समुद्रका कोई स्वतन्त्र प्रवाह नहीं होता अथवा ध्रुव

तारेमें जिस प्रकार कोई गति नहीं होती, ठीक उसी प्रकार ऐसे जीवका कोई कर्म भी नहीं होता। इस प्रकार आत्म-बोधके कारण जिसका अहं-भाव पूरी तरहसे जलकर भस्म हो जाता है, उसके कर्म तब तक होते रहते है, जब तक उसका यह शरीर रहता है। जब हवा खूब तेजीके साथ चलनेके बाद बन्द हो जाती है, तब भी उसके कारण हिलने-वाले वृक्ष बादमें कुछ देर तक हिलते ही रहते हैं। और जब कपूर खतम हो जाता है, तब भी कुछ देर तक डिबियामें कपूरकी गन्ध रहती ही है, जिसमें वह कपूर रखा रहता है। यदि गान समाप्त भी हो जाय तो भी उसके कारण लोगोंको जो तन्द्रा आती है, वह तुरन्त ही दूर नहीं हो जाती। अथवा यदि किसी जमीनके ऊपरसे पानी बह जाय तो भी उसकी कुछ सीड़ या नमी कुछ समय तक बनी ही रहती है। और जब सूर्य अस्त हो जाता है, तब भी सन्ध्याके चबूतरे पर सूर्य-ज्योतिकी प्रभा कुछ समय तक खेलती ही रहती है। जिस वस्तुको लक्ष्य बनाकर बाण चलाया जाता है, उस वस्तुको भेद चुकने पर भी वह बाण उतना और आगे निकल जाता है, जितना उसमें जोर रहता है। जब चाक पर बरतन तैयार हो जाता है और कुम्हार उसे चाक परसे उतार लेता है, तब भी चाक उस गतिके कारण, बरतन न रहने पर भी, कुछ देर तक घूमता ही रहता है, जो गति उसे पहले बरतन बननेके समय प्राप्त होती है। ठीक इसी प्रकार देहाभिमानके नष्ट हो जाने पर भी, हे अर्जुन, देह जिस स्वभावसे उत्पन्न हुआ रहता है, वह स्वभाव देहसे आपसे आप कर्म कराता ही रहता है। मनमें किसी प्रकारका उद्देश्य न होने पर भी स्वप्न दिखाई देता है और बिना रोपे या लगाये भी जंगलोंमें आपसे आप वृक्ष उत्पन्न होते ही हैं। और बिना किसीके बनाये ही आकाशमें मेघोंकी इमारतें बनती ही रहती हैं। ठीक इसी प्रकार आत्माके कोई व्यापार न करने पर भी देहके पाँच कारणोंसे समस्त कर्म आपसे आप ही होते रहते हैं। पूर्व कर्मोंके संस्कारोंके अनुसार पाँच हेतुओं और पाँच कारणोंका मेल अनेक प्रकारके कर्म करता ही रहता है। फिर चाहे उन कर्मोंसे सारे जगतका संहार हो और चाहे नवीन जगतकी सृष्टि हो, परन्तु जिस प्रकार सूर्य कभी इस बात का विचार नहीं करता कि कुमुद क्यों सूखता है और कमल क्यों विकसित होता है अथवा आकाशसे विद्युत्की वर्षा होनेके कारण चाहे पृथ्वी-तलके टुकड़े टुकड़े हो जायँ और चाहे शान्त तथा मन्द पर्जन्य वृष्टिके कारण तृण आदिसे पृथ्वी-तल हरा-भरा हो जाय, परन्तु जिस प्रकार आकाशको इन दोनों बातोंमेंसे एकका भी ज्ञान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जो देहमें ही विदेही होकर रहता है, वह भी उसी प्रकार यह नहीं देखता कि देह आदिसे होनेवाली क्रियाओंसे सृष्टि बनती है अथवा नष्ट होती है, जिस प्रकार जागा हुआ मनुष्य स्वप्न नहीं देखता। परन्तु जो लोग केवल चर्म-चक्षुओंसे देखते हैं और जिनकी दृष्टि देहसे आगे जाती ही नहीं, उन्हें यही जान पड़ता है कि ऐसा मुक्त पुरुष भी कर्मोंमें फँसा हुआ है। पशु-पक्षियोंको डराने और भगानेके लिए खेतकी मेंड़ पर घास-फूसका जो पुतला बनाकर खड़ा कर दिया जाता है, उसके सम्बन्धमें गीदड़ क्या यह नहीं समझता कि यह सचमुच खेतका रखवाला ही है ? किसी पागलके सम्बन्धमें देखनेवाले भले ही इस बातका विचार किया करें कि वह नंगा है

या कपड़ा पहने हुए है, परन्तु स्वयं उस पागलको अपनी इन सब बातोंसे कुछ भी मतलब नहीं होता। जो आदमी युद्धमें घायल होकर मर जाता है, उसके शरीरके घाव और लोग भले ही गिना करें, परन्तु स्वयं उस मरनेवालेको इन सब बातोंका कुछ भी पता नहीं होता। जब कोई महा पतिव्रता स्त्री सती होने लगती है, तब सारा संसार भले ही इस बातका विचार किया करे कि वह किस प्रकार अपना अन्तिम श्रृंगार करती है, परंतु स्वयं उस सती स्त्रीको आगकी लपट, अपना कोमल शरीर या अपने चारों ओरका संसार बिलकुल दिखाई नहीं देता। ठीक इसी प्रकार जिसे आत्म-स्वरूपका साक्षात्कार हो जाता है, जिसका द्रष्टत्व दृश्य वस्तुके साथ मिलकर एक-रूप हो जाता है और उसीमें लीन हो जाता है, उसे इस बातका पता भी नहीं चलता कि इन्द्रियाँ किन किन कर्मोंका आचरण कर रही है। यदि जलके किसी बहुत बड़े प्रवाहमें कुछ छोटे छोटे प्रवाह आकर मिल जायँ और उस बड़े प्रवाहके तट पर खड़ा होकर कोई मनुष्य यह समझ ले कि अमुक प्रवाहने अमुक प्रवाहको निगल लिया, तो भी इस क्रियामें जिस प्रकार जलके एक प्रवाहको वास्तवमें कोई दूसरा प्रवाह नहीं निगलता, ठीक उसी प्रकार जो पुरुष पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाता है, उसे मारनेके लिए स्वयं अपनेसे भिन्न कोई और वस्तु बच ही नहीं जाती। सोनेके चंडिका सोनेकी महिषासुरका सोनेके शूलसे वध करती है और देखनेवाले पुजारीको ये सब बातें बिलकुल सत्य जान पड़ती हैं। परन्तु वास्तवमें चंडिका, महिषासुर और शूल तीनों ही सोनेके होते हैं। चित्रोंमें अग्नि और जल दोनों ही बिलकुल ज्योंके त्यों दिखलाये जाते हैं, परन्तु यह सारा दृष्टिका ही खेल होता है। स्वयं चित्रपटमें न तो आग ही होती है और न पानीका ही अंश होता है। ठीक इसी प्रकार मुक्त या विदेही पुरुषोंके शरीर केवल प्राचीन संस्कारोंके कारण ही चलते-फिरते हैं। परन्तु अज्ञानियों की समझमें यह रहस्य तो आता ही नहीं और इसलिए वे मुक्त पुरुषोंको ही उन क्रियाओंका कर्त्ता समझते हैं। परन्तु यदि स्वाभाविक क्रियाओंके द्वारा तीनों भुवनोंका भी घात हो जाय तो भी कभी यह नहीं समझना चाहिए कि यह घात उन मुक्त या विदेही पुरुषोंने किया है। भला यह कहना कहाँकी बुद्धिमत्ता है कि हम पहले प्रकाशकी सहायतासे अन्धकारको देखेंगे और तब उस अन्धकारका नाश कर डालेंगे? क्योंकि प्रकाशके आते ही अन्धकार तो आपसे आप नष्ट हो जायगा। ठीक इसी प्रकार ज्ञानी पुरुषमें ज्ञानके अतिरिक्त और कोई भाव ही नहीं रहता और उसे मारनेके लिए स्वयं अपनेसे भिन्न और कोई वस्तु ही बाकी नहीं रह जाती। इसी लिए उसकी बुद्धिमें पाप और पुण्यकी गन्ध भी नहीं होती। अगर कोई नदी आकर गंगामें मिल जाय तो भी गंगा उससे कभी गन्दी नहीं होती। ठीक वही बात यहाँ भी है। हे अर्जुन, यदि अग्निके साथ अग्निका झगड़ा हो जाय तो भला उनमेंसे कौन किसे जलावेगी? यदि शस्त्र स्वयं अपने आप पर ही प्रहार करे, तो उससे क्या होगा? इसी प्रकार जो यह जानता ही नहीं कि कर्म मुझसे अलग है, वह अपनी बुद्धि पर उन कर्मोंका लेप ही कैसे लगा सकता है? कार्य, कर्त्ता और क्रियाकी त्रिपुटी जिस पुरुषके सम्बन्धमें आत्म-रूप ही हो जाती है, उसके लिए शरीर आदिसे होनेवाले कर्म कभी बन्धक नहीं

हो सकते। इसका कारण यही है कि जो जीव स्वयं अपने आपको कर्त्ता मानता है, वह दस इन्द्रियोंके औजारोंसे पाँच प्रकारके हेतुओंको बड़े कौशलसे प्रस्तुत करता है। फिर न्याय और अन्याय दोनों प्रकारकी कुरसियाँ तैयार करके एक ही क्षणमें वह कर्मके मन्दिर खड़े कर देता है। इस बहुत बड़े काममें आत्मा कुछ भी सहायता नहीं करती; और यदि तुम यह पूछो कि—"यह आत्मा कर्मोंकी पूर्व योजनामें भी कुछ सहायता करती है या नहीं?" तो इसका उत्तर यह है कि वह उसमें भी कोई सहायता नहीं करती। जो आत्मा केवल साक्षी-भूत और आत्म-स्वरूप है, वह क्या कभी स्वयं ही यह कह सकती है कि कर्म-प्रवृत्तिके संकल्प उत्पन्न हों? परन्तु जिस कर्म-प्रवृत्तिके फेरमें सब लोग पड़े हुए हैं, उस प्रवृत्तिके क्लेश भी कभी आत्माको स्पर्श नहीं करते। इसलिए जो पुरुष पूर्ण रूपसे आत्म-स्वरूप हो जाता है, वह कभी कर्मोंके बन्दीगृहमें रह ही नहीं सकता। परन्तु जब अज्ञानके पटपर ज्ञानका उलटा चित्र अंकित होता है, तभी कार्य, कर्त्ता और क्रियाकी लोक-प्रसिद्ध त्रिपुटी चित्रित होती है।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥

"ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयकी त्रिपुटी जगतका बीज है; और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि कर्मोंकी प्रवृत्ति इसीसे होती है। हे अर्जुन, अब मैं इन तीनोंका अलग अलग स्पष्टीकरण करता हूँ; सुनो। जीव-रूपी सूर्य-मंडलकी पंचेन्द्रिय रूपी किरणें वेगपूर्वक आकर विषयरूपी कमलकी कलियाँ खिलाती हैं। अथवा जीव-रूपी राजाके इन्द्रिय-रूपी घोड़े दौड़कर विषयोंके प्रदेशमें पहुँच जाते हैं और वहाँसे सुख और दुःख लूट लाते हैं। परन्तु ये रूपक बहुत हो चुके। इन इन्द्रियोंके द्वारा होनेवाले व्यापारोंसे जो ज्ञान सुखों और दुखोंको अपने साथ लेकर जीवको प्राप्त होता है, वह सुषुप्तिवाली अवस्थामें जिसमें लीन होता है, उसी जीवको "ज्ञाता" कहना चाहिए। और अब तक जिसका विवेचन किया गया है, हे अर्जुन, इस अवसर पर उसीको "ज्ञान" समझना चाहिए। हे पार्थ, अविद्याके पेटमें जन्म धारण करते ही जो ज्ञान तीन स्थानोंमें अपना विधान करता है और जो ज्ञान अपनी दौड़के रास्तेमें सामने ज्ञेय अर्थात् ज्ञान-विषय-का गोला फेंककर अपने पीछेकी ओर ज्ञातृत्वके अभिमानकी सृष्टि करता है और इस प्रकार ज्ञाता तथा ज्ञेयके बीचमें सम्बन्ध स्थापित करनेका मार्ग प्रस्तुत होने पर जिस ज्ञानकी सहायतासे इस मार्ग पर आना-जाना बराबर बना रहता है, जिस ज्ञानकी दौड़ ज्ञेयकी सीमा तक ही होती है और जो समस्त पदार्थोंको भिन्न भिन्न नाम देता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि वह ज्ञान "सामान्य ज्ञान" है। अब ज्ञेयके भी लक्षण सुनो। शब्द, स्पर्श, रूप, गन्ध और रस ये सब ज्ञेयके प्रकट होनेके मार्ग हैं। जिस प्रकार एक ही आम अपने रस, रंग और गन्ध आदिके द्वारा भिन्न भिन्न इन्द्रियोंको स्पर्श करके अपना भास कराता है, उसी प्रकार ज्ञेय भी होता तो एक ही है, परन्तु ज्ञान उस ज्ञेयका ग्रहण इन्द्रियोंके मार्गोंसे करता है और इसी लिए वह ज्ञेय पाँच प्रकारका होता है। और जिस प्रकार जलका प्रवाह अन्तमें समुद्रमें प्रवेश करते ही समाप्त हो

जाता है, अथवा अनाजके पौधोंकी बाढ़ उनमें बालें लगते ही समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियोंके प्रवाहके साथ साथ दौड़ लगानेवाले ज्ञानका जिसमें अन्त होता है, हे अर्जुन, वही ज्ञेय अर्थात् ज्ञानका विषय है। हे पार्थ, इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयका त्रिकूट मैंने तुम्हें स्पष्ट रूपसे बतला दिया है। इसी त्रिकूटसे समस्त क्रियाओंकी उत्पत्ति होती है। जो शब्द आदि विषय हैं, वे तो इन्हीं पाँच प्रकारोंके हैं; परन्तु जो ज्ञेय है, वह या तो प्रिय होता है और या अप्रिय। ज्ञेय ज्योंही थोड़ा-सा भी ज्ञान सामने लाकर उपस्थित करता है, त्योंही ज्ञाता उस विषयका या तो स्वीकार और या त्याग करना आरम्भ कर देता है। जिस प्रकार किसी मछलीको देखते ही बगला अथवा द्रव्यका भांडार देखकर दरिद्र अथवा किसी स्त्रीको देखते ही कामुक पुरुष विचलित हो जाता है और उसे प्राप्त करनेकी इच्छा करता है अथवा जिस प्रकार ढाल या उतारकी तरफ पानी या पुष्पकी सुगन्धकी ओर भ्रमर अथवा सन्ध्याको दूध दुहनेके समय बछड़ा गौकी ओर दौड़ पड़ता है अथवा स्वर्गकी उर्वशी आदि अप्सराओंके सुख-भोगकी मनोहर बातें सुनकर जिस प्रकार लोग स्वर्गका सुख प्राप्त करनेके लिए आकाशमें यज्ञ-यागकी सीढ़ियाँ लगाने लगते हैं, अथवा, हे अर्जुन, आकाशमें उड़नेवाला कबूतर जिस प्रकार कबूतरीको देखते ही लोट-पोट होकर नीचेकी तरफ गिरने लगता है अथवा मेघोंकी गड़गड़ाहटका शब्द कानोंमें पड़ते ही जिस प्रकार मोर आकाशकी ओर देखने लगता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञेयके दर्शन होते ही ज्ञाता भी उसकी ओर तुरन्त दौड़ पड़ता है। इसलिए हे पांडु-सुत अर्जुन, समस्त कर्मोंका आरम्भ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके त्रिकूटसे ही होता है। अब वही ज्ञेय यदि ज्ञाताको प्रिय जान पड़े तो फिर उसका उपभोग करनेमें उससे एक क्षणका भी विलम्ब नहीं सहा जाता। इसके विपरीत यदि वह ज्ञेय उसे अप्रिय जान पड़ता है तो उसका तिरस्कार करके उसे दूर करनेमें भी जो थोड़ा-सा समय लगता है, वह भी उसे युगके समान दीर्घ जान पड़ता है। सर्प और रत्नोंके हारके घेरेमें जो मनुष्य एक दमसे पहुँच जाता है, उसे जिस प्रकार भय और आनन्द दोनों ही एक साथ जान पड़ते हैं, उसी प्रकारकी अवस्था उस समय ज्ञाताकी भी होती है, जिस समय कुछ प्रिय और कुछ अप्रिय वस्तु दिखाई देती है। और तब वह प्रिय वस्तुका स्वीकार और अप्रिय वस्तुका त्याग करनेका प्रयत्न करने लगता है। शत्रु-पक्षके मल्लोंमें अपने जोड़का मल्ल देखकर जिस प्रकार किसी सेनापतिका उसके साथ लड़नेको जी चाहता है और वह स्वयं ही अपने रथ परसे उतर कर उससे दो हाथ लड़नेके लिए पैदल ही उसकी ओर चल पड़ता है, ठीक उसी प्रकार जो अब तक अपने ज्ञातृत्वके कारण केवल ज्ञाता ही था, वह अब कार्य आरम्भ करके कर्ताकी अवस्था या पदको प्राप्त होता है। जिस प्रकार कोई भोजन करनेवाला ही रसोई पकानेके लिए बैठ जाय अथवा भ्रमर ही बाग लगाने लग जाय अथवा सोना परखनेवाला सर्राफ स्वयं ही कसौटीका पत्थर बन जाय अथवा स्वयं देवता ही अपने लिए मन्दिर बनाने लगे, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, ज्ञेय-विषयके त्याग अथवा स्वीकारके लिए ज्ञाता अपनी

इन्द्रियोंको काममें लगाता है और उस समय ज्ञाता ही कर्ता बन जाता है। जब इस प्रकार ज्ञाता स्वयं ही कर्ता हो जाता है, तब वह ज्ञानको साधन बनाता है और उससे "ज्ञेय" आपसे आप "कार्य" हो जाता है। इस प्रकार, हे सुविज्ञ अर्जुन, ज्ञानकी करनीसे यह परिवर्तन हो जाता है। रात जिस प्रकार नेत्रोंकी शोभा बदल देती है अथवा जिस प्रकार भाग्य बिगड़ जाने पर धन-सम्पन्न पुरुषका वैभव भी नष्ट हो जाता है अथवा पूर्णिमाके उपरान्त जिस प्रकार चन्द्र-बिम्बमें भी परिवर्तन होने लगता है और वह घटने लगता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंकी गतिके योगसे ज्ञाताके चारों ओर कर्तृत्वका पेच बैठने लगता है। अब उस अवस्थामें उसमें जो जो लक्षण दिखाई देते हैं, वह भी सुन लो। बुद्धि, मन, चित्त और अहंकार ये सब अन्तरिन्द्रियाँ हैं। और बाहरके अंगोंकी पाँच इन्द्रियाँ त्वचा, कान, आँख, जीभ और नाक हैं। इनमेंसे अन्तरिन्द्रियोंके द्वारा तो कर्ता अपने कर्तव्यका अनुमान करता है; और तब यदि उसे यह निश्चय होता है कि उस कर्तव्यका पालन सुखका कारण होगा तो वह नेत्र आदि बाहरी दसों इन्द्रियोंको उस काममें लगा देता है। फिर जब तक उस कर्तव्यकी सिद्धि नहीं होती, तब तक वह उन सब इन्द्रियोंको उनमें लगाये रहता है। इसके विपरीत यदि उसे इस बातका अनुभव होता है कि वह कर्तव्य दुःखका कारण होगा, तो वह तुरन्त ही अपनी दसों इंद्रियोंसे उसका त्याग करनेमें लग जाता है। और वह तब तक अपनी सब इन्द्रियोंको उसके त्यागके काममें लगाये रहता है, जब तक दुःखका नाम-निशान भी मिट नहीं जाता। जिस प्रकार कोई राजा अपना कर वसूल करनेके लिए अपने सब नौकर-चाकरोंको दिन-रात लगाये रहता है, उसी प्रकार जब सब इन्द्रियाँ भी किसी काममें लगाई जाती हैं, तब हे अर्जुन, यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि उस ज्ञाताको कर्ता कहते हैं। और कर्ता अपने सभी कामोंमें इन्द्रियोंको औजारोंकी तरह लगाये रहता है, और इसी लिए मैं इन इन्द्रियोंको करण अर्थात् साधन या औजार कहता हूँ। और इन कारणोंका उपयोग करके कर्ता जो क्रियाएँ करता है, उन क्रियाओंकी व्याप्ति ही इस प्रकरणमें "कर्म" है। सुनारकी बुद्धि जिस प्रकार अलंकारोंमें व्याप्त रहती है अथवा चन्द्रमाकी किरणें जिस प्रकार चाँदनीमें व्याप्त रहती हैं अथवा सुन्दरतासे जिस प्रकार बेलें व्याप्त रहती हैं अथवा प्रभा जिस प्रकार प्रकाशमें व्याप्त रहती है अथवा मधुरता जिस प्रकार ऊखके रसमें व्याप्त रहती है अथवा अवकाश जिस प्रकार आकाशमें ओत-प्रोत भरा रहता है, ठीक उसी प्रकार हे अर्जुन, जो कुछ कर्ताकी क्रियाओंसे व्याप्त रहता है, वही कर्म है। इसके सिवा कर्म और कोई चीज नहीं है। इस प्रकार, हे ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन, कर्ता, कर्म और करणकी त्रिपुटीके लक्षण मैंने तुमको बतला दिए हैं। यहाँ ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तो कर्म-प्रवृत्तिके त्रिकूट हैं और कर्ता, करण तथा कार्य ये कर्मके त्रिकूट हैं। जिस प्रकार अग्निमें धुआँ अथवा बीजमें वृक्ष अथवा मनमें वासना भरी रहती है, ठीक उसी प्रकार कर्ता, क्रिया और करणमें कर्मका जीवन भरा रहता है। जिस प्रकार सोनेकी खानमें सोना भरा रहता है, उसी प्रकार कर्ता, क्रिया और करणमें कर्म भी भरा रहता है।

इसी लिए, हे अर्जुन, जहाँ इस प्रकारकी भावना रहती है कि यह कार्य है और मैं कर्त्ता हूँ, वहाँ उन समस्त क्रियाओंसे आत्मा सदा बिलकुल दूर और अलिप्त रहती है। इसलिए, हे सुविज्ञ अर्जुन, मैं बार बार यही कहता हूँ कि आत्मा इस कर्म-प्रवृत्तिसे बिलकुल अलग है। परन्तु तुम ये सब बातें जानते ही हो, इसलिए अब मैं यह प्रकरण यहीं समाप्त करता हूँ।

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

"परन्तु अभी मैंने जो ज्ञान, कर्म और कर्त्ताका जिक्र किया है, वे तीनों गुणोंके कारण तीन प्रकारके होते हैं। इसलिए हे अर्जुन, ज्ञान, कर्म और कर्त्ता पर भी भरोसा नहीं रखना चाहिए; क्योंकि तीनों गुणोंमेंसे दो गुण तो बन्धक होते हैं और केवल तीसरा सत्व गुण ही मोक्ष देनेमें समर्थ होता है। मैं अब इन तीनों गुणोंके लक्षण इस प्रकार अलग अलग बतलाता हूँ जिसमें तुम सत्व गुणको अच्छी तरह पहचान लो। यह गुण-भेद सांख्य-शास्त्रमें अच्छी तरह स्पष्ट किया गया है। जो सांख्य-शास्त्र विचारका सागर है, जो आत्म-बोध रूपी कुमुदिनीको खिलानेवाला चन्द्र-बिम्ब ही है, जो ज्ञानकी दृष्टि देनेवाले शास्त्रोंका सम्राट् है अथवा जो दिन और रात्रिकी तरह एकमें मिले हुए प्रकृति और और पुरुषको स्पष्ट रूपसे अलग अलग दिखलानेवाला प्रचण्ड सूर्य ही है, जिस शास्त्रकी सहायतासे असीम अज्ञान-राशि चौबीस तत्वोंकी नाप-जोख करके परम तत्व ब्रह्मका अखंड आनन्द भोगा जा सकता है, हे अर्जुन, उस सांख्य-शास्त्रने जो कुछ कहा है, वह गुण-भेदका आख्यान मैं तुम्हें सुनाता हूँ; सुनो। जिस दृष्टिसे अपने अंगकी सामर्थ्यसे इन तीनों गुणोंने त्रिविधताके रंगसे समस्त दृश्य विश्वको रँगा है, उस दृष्टिसे सत्व, रज और तमका महत्व केवल इतना ही है कि ब्रह्मासे लेकर कीड़े-मकोड़ों तक सभी इन गुणोंके कारण त्रिविध हो गये हैं। परन्तु मैं सबसे पहले तुमको वह ज्ञान बतलाता हूँ जिसने इस समस्त विश्वका भेदन किया है और इसी लिए जो स्वयं भी गुण-भेदके फेर-में पड़ गया है। बात यह है कि जब नजर साफ होती है, तब हर एक चीज साफ दिखाई देती है। इसी प्रकार जब शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है, तब सब कुछ शुद्ध हो जाता है। इसी लिए जिसे सात्विक ज्ञान कहते हैं, अब मैं उसका वर्णन करता हूँ। तुम ध्यान-पूर्वक सुनो।" बस यही बात कैवल्य-स्वरूप श्रीकृष्णने अर्जुनसे कही थी।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम् ॥२०॥

उन्होंने कहा—"हे भाई अर्जुन, सात्विक ज्ञान ही वास्तवमें निर्मल होता है। इस ज्ञानका उदय होते ही ज्ञाता और ज्ञेय वहींक्षयमें विलीन हो जाते हैं। जिस प्रकार अन्धकारको सूर्यके दर्शन नहीं होते अथवा समुद्रको नदीके स्वरूपका ज्ञान नहीं होता अथवा प्रयत्न करने पर भी जिस प्रकार अपनी छाया पकड़ी नहीं जाती, उसी प्रकार जिस ज्ञानको शंकरसे लेकर तिनके तक कोई नाम रूपात्मक व्यक्ति कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता अथवा जिस प्रकार हाथसे चित्रको दबाकर उसे देखने पर अथवा पानीसे

नमकको धोनेका प्रयत्न करने पर अथवा जाग्रत होनेके उपरान्त स्वप्नका अनुभव करनेका प्रयत्न करने पर कुछ भी बाकी नहीं रह जाता, उसी प्रकार जिस ज्ञानसे ज्ञेयको देखने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनोंमेंसे कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार सोनेको गलाकर उसमेंसे कोई अपनी इच्छाके अनुसार गहने नहीं निकाल सकता अथवा पानीको छानकर उसमेंसे कोई तरंगोंको अलग नहीं कर सकता, उसी प्रकार यह भी समझ लेना चाहिए कि जिस ज्ञानसे किसी दृश्य स्थितिकी प्राप्ति नहीं होती (अर्थात् कोई दृश्य वस्तु भिन्न नहीं दिखाई देती), वही ज्ञान पूर्ण रूपसे सात्विक है। जब कोई मनुष्य बड़े कुतूहलसे शीशेको देखनेके लिए जाता है, तब उसे सामने स्वयं अपना ही स्वरूप दिखाई देता है। मैं फिर यही बात कहता हूँ कि इसी प्रकार ज्ञेयका नाम-निशान तक मिटाकर जो ज्ञान स्वयं ज्ञाता ही बन जाता है और जो ज्ञान मोक्ष-लक्ष्मीका मन्दिर है, वही सात्विक ज्ञान है। परन्तु इस विषयका बहुत विस्तार हो चुका। अब तुम राजस ज्ञानके लक्षण सुनो।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥२१॥

हे अर्जुन सुनो, जो ज्ञान भेदके आधार पर पैर आगे बढ़ाता है, उसे राजस समझना चाहिए। स्वयं भेद-भावसे भूत मात्रके असंख्य भेद करके और ज्ञाताको ही धोखेमें डालकर जो ज्ञान विचित्रता उत्पन्न करता है, जो ज्ञान वास्तविक आत्म-ज्ञानके क्षेत्रके बाहर मिथ्या मोहकी खन्दकमें जीवको उसी प्रकार जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्तिके खेल दिखलाता है, जिस प्रकार प्रत्यक्ष दिखाई पड़नेवाली वस्तु पर विस्मृतिका परदा डालकर निद्रा मनुष्यको स्वप्नकी व्यर्थकी चिन्ताओंका अनुभव कराती है, जिस ज्ञानके कारण नाम और रूपकी आड़में छिपा हुआ अद्वैत तत्व उसी प्रकार दिखाई नहीं देता, जिस प्रकार गहनेके रूपकी आड़में छिपा हुआ सोना किसी छोटे बालकको नहीं दिखाई देता, जिस ज्ञानके कारण शुद्ध अद्वैत तत्वका उसी प्रकार पता नहीं लगने पाता, जिस प्रकार मटकों और घड़ोंके रूपमें दिखाई पड़नेवाली मिट्टी अज्ञानियोंको दिखाई नहीं देती अथवा दीपककी भावना होनेके कारण उसमें रहनेवाली अग्निका ज्ञान नहीं होता अथवा किसी वस्तुका नाम "वस्त्र" पड़ जानेके कारण मूढ़ोंको उसके तन्तुओंका ज्ञान नहीं होता, जिस ज्ञानके कारण भूत मात्र भिन्न भिन्न दिखाई देने लगते हैं और एकतावाली बुद्धि नष्ट हो जाती है और तब जिस प्रकार ईंधनके कारण अग्नि पर, फूलोंके कारण सुगन्ध पर अथवा तरंगोंके कारण पूर्ण चन्द्रमा पर भेद-भावका आरोप किया जाता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान तरह तरहके पदार्थोंका भेद करके उनके रूपों और आकारोंके अनुसार उनके छोटे-बड़े अनेक वर्गीकरण करता है, वह ज्ञान राजस होता है। चांडालके घरसे बचनेके लिए ही इस बातका पता लगाना पड़ता है कि वह कहाँ और कैसा है। ठीक इसी प्रकार तामस ज्ञानके लक्षणोंका जानना भी आवश्यक होता है। इसलिए अब मैं तुमको वे लक्षण भी बतलाता हूँ। तुम उन्हें अच्छी तरह समझ लो।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

"हे अर्जुन, जो ज्ञान शास्त्र-विधियोंका वस्त्र नहीं पहनता (अर्थात् जो ज्ञान शास्त्र-विधियोंको कोई चीज नहीं समझता) और इसी लिए जिसके नंगे होनेके कारण जिसकी ओर सदाचारकी माता श्रुति कभी भूलकर भी नहीं देखती और शास्त्रके बहिष्कारके कारण जिस ज्ञानको निन्दाकी भी चिन्ता नहीं होती और इसी लिए जिसे दूसरोंने भी (अर्थात् स्मृति आदिने भी) म्लेच्छ धर्मके पर्वतकी ओर हाँक दिया है और हे अर्जुन, जो ज्ञान इस प्रकार तमोगुण-रूपी पिशाचसे आविष्ट होनेके कारण पागलोंकी तरह इधर-उधर भटकता रहता है, जो ज्ञान शरीर सम्बन्धी किसी प्रकारकी बाधा नहीं मानता, जो किसी पदार्थको निषिद्ध नहीं समझता, जो ज्ञान उजड़े हुए गाँवमें छोड़े हुए उस कुत्तेके समान होता है, जो केवल उसी पदार्थको छोड़ता है जो उसके मुँहमें नहीं समा सकता अथवा जिसके खाते ही मुँह जलने लगता है और जो बाकी सभी कुछ खा जाता है, जो ज्ञान उस चूहेकी तरह होता है जो सोनेकी चीज खींचकर अपने बिलमें ले जाते समय यह नहीं देखता कि उसका सोना खरा है या खोटा अथवा जो ज्ञान उस मांसाहारी मनुष्यकी तरह होता है जो मांस खानेके समय उसके काले और गोरे होनेका विचार नहीं करता अथवा जो ज्ञान जंगलमें लगनेवाली आगकी तरह यह नहीं देखता कि यह कौन है और वह कौन है अथवा जो ज्ञान उस मक्खीकी तरह होता है जो किसी शरीर पर बैठते समय यह नहीं देखती कि यह मृत है अथवा जीवित है अथवा जो ज्ञान उस कौवेके ज्ञानकी तरह होता है जो इस बातका कुछ भी विचार नहीं करता कि यह अन्न किसीका वमन किया हुआ है अथवा परोसा हुआ है, ताजा है या सड़ा हुआ है, तात्पर्य यह कि जो ज्ञान इस बातका कुछ भी विचार नहीं करता कि अमुक वस्तु या बात निषिद्ध है और उसे छोड़ देना चाहिए तथा अमुक वस्तु या बात उचित और विहित है और उसको स्वीकार या पालन करना चाहिए, जो उन सभी पदार्थोंको अपने उपभोगका विषय बना लेता है जो उसके सामने आते हैं और जो ज्ञान प्राप्त होनेवाली प्रत्येक स्त्रीको शिश्नके सुपुर्द कर देता है और प्रत्येक द्रव्यको उदरके सुपुर्द कर देता है, जो ज्ञान पानी देखने पर इस बातका कुछ भी विचार नहीं करता कि यह शुद्ध है अथवा अशुद्ध है और जो केवल यही समझकर उसे तुरन्त पी जाता है कि इससे मेरी तृषा तो शान्त होगी और जो खाने-पीनेके सम्बन्धमें भी अपना यही सिद्धान्त रखता है और खाद्य-अखाद्य तथा निन्द्य-अनिन्द्य आदिका कुछ भी विचार नहीं करता और यही समझता है कि जो कुछ खानेमें मीठा लगता है, वही पवित्र है, स्त्री जातिके सम्बन्धमें भी जो केवल अपनी स्पर्शेन्द्रियको ही प्रधान निर्णायक समझता है और उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध स्थापित करना ही अपना मुख्य सिद्धान्त रखता है और केवल उसीको अपना सगा-सम्बन्धी समझता है जिससे उसका कोई स्वार्थ सिद्ध होता है और रिश्ते नातेके लिए शारीरिक सम्बन्धको कुछ भी महत्व नहीं देता, तात्पर्य यह कि इस प्रकारका विचार जिस ज्ञानके कारण होता है,

वही ज्ञान तामस है। मृत्यु सबको खा जाती है और अग्नि सब कुछ जला डालती है। इसी प्रकार तामस ज्ञानवालेको भी सदा यही जान पड़ता है कि सारा संसार केवल मेरे ही उपभोगके लिए है। इस प्रकार जो मनुष्य यह मान लेता है कि सारा विश्व केवल मेरे ही उपभोगका विषय है, उसके हिस्सेमें केवल एक ही फल आता है। और वह फल कौन-सा है? यही अपने शरीरका पोषण करना। जिस प्रकार आकाशसे वर्षाके रूपमें गिरनेवाले जलका अन्तिम आश्रय-स्थल एक मात्र समुद्र ही होता है, उसी प्रकार तामसी ज्ञानके सब कृत्य भी केवल अपने पेटके लिए अपने पिंडका पोषण करनेके लिए ही होते हैं। केवल इतना ही नहीं, जिस ज्ञानमें इस बातका विचार ही नहीं होता कि स्वर्ग और नरक भी कोई चीज हैं और हमें स्वर्ग प्राप्त करनेका तथा नरकसे बचनेका प्रयत्न करना चाहिए और इन सब विषयोंकी जानकारीके लिए जिस ज्ञानमें केवल अन्धकार ही अन्धकार होता है, जिस ज्ञानकी पहुँच केवल इसी बात तक होती है कि शरीरका पिंड ही आत्मा है और देवता केवल पत्थरकी मूर्त्ति है, जो ज्ञान यह बतलाता है कि शरीर-पात होते ही समस्त कृत्योंके साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है और तब कर्मोंका भोग करनेके लिए कोई बच ही नहीं जाता अथवा यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर है और वही सबको भोग भोगनेमें प्रवृत्त करता है, तो जो ज्ञान मनुष्यके मनमें यह विचार उत्पन्न करता है कि चलो, उस ईश्वरको ही बेंच खाओ जिससे सारे झगड़े ही मिट जाँय अथवा यदि यह मान लिया जाय कि हमारे निवास-स्थानके देवालयमें पत्थरका जो ईश्वर रखा हुआ है, वही वास्तवमें सारे संसारका नियमन करनेवाला है, तो जो ज्ञान मनुष्यसे यह कहलाता है कि तो फिर ये देश भरके पहाड़ क्यों चुपचाप पड़े रहते हैं और यही सारे संसारका नियमन क्यों नहीं करते? तात्पर्य यह कि जिस ज्ञानके कारण मनुष्यके मनमें यह विचार उत्पन्न होता है कि यदि क्षण भरके लिए यह मान भी लिया जाय कि ईश्वर कोई चीज है, तो वह केवल पत्थर ही सिद्ध होता है और आत्मा केवल शरीर ही है, पाप-पुण्य आदि जो दूसरी बहुत-सी बातें कही जाती हैं, उन्हें बिलकुल मिथ्या समझकर जो ज्ञान यह निश्चित कराता है कि सदा विषयोंमें ही लिप्त रहना और जंगलकी आगकी तरह सब कुछ स्वाहा करते चलना ही ठीक है, वही ज्ञान तामस है। जिस ज्ञानके कारण मनुष्यके मनमें यह विश्वास उत्पन्न होता है कि चर्म-चक्षुओंको जो कुछ दिखाई देता है और इन्द्रियाँ जिनके माधुर्यमें भूल जाती हैं, वही चीजें सच्ची और ठीक हैं, वही ज्ञान तामस होता है। और यदि संक्षेपमें कहा जाय तो, हे अर्जुन, यही विचार-धारा बढ़ती बढ़ती ऐसा रूप धारण कर लेती है कि जिस प्रकार धूएँके बादल आकाशमें व्यर्थ ही इधर-उधर चक्कर लगाया करते हैं अथवा जिस प्रकार कुछ जंगली वनस्पतियाँ न तो हरी रहने पर ही किसी काम आती हैं और न सूखने पर ही कुछ काम देती हैं और आपसे आप बढ़ती बढ़ती अन्तमें नष्ट हो जाती हैं अथवा जिस प्रकार ऊखका ऊपरी भाग, नपुंसक मनुष्य अथवा करीलके पेड़ चाहे कितने ही क्यों न बढ़ें, परन्तु फिर भी निरुपयोगी ही होते हैं अथवा छोटे बच्चेका लक्ष, चोरके घरका द्रव्य और बकरीके गलेमें निकला

हुआ स्तन चाहे देखनेमें कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु फिर भी जो बिलकुल निष्फल होता है, ठीक उसी प्रकार जो ज्ञान व्यर्थ और निस्तेज दिखाई देता है, उसीको मैं तामस ज्ञान कहता हूँ। वास्तवमें तो उसे ज्ञान कहना ही नहीं चाहिए; परन्तु फिर भी जो मैं उसे "ज्ञान" कहता हूँ, उसका कारण केवल यही है कि जिस प्रकार जन्म-जात अन्धेकी आँखें देखनेमें अच्छी जान पड़ती हैं अथवा बहरेके कान देखनेमें ठीक जान पड़ते हैं, अथवा मद्यको जिस प्रकार लोग "पान" कहते हैं; उसी प्रकार उस तामस ज्ञानका भी यह "ज्ञान" केवल संकेत-सूचक नाम है। तात्पर्य यह कि तामसी वृत्तिका जो ज्ञान होता है, वह वास्तवमें ज्ञान ही नहीं है। वह तो केवल खुली हुई आँखोंका अन्धकार है। हे श्रोतृश्रेष्ठ अर्जुन, इस प्रकार तीनों गुणोंके कारण होनेवाले ज्ञानके तीनों प्रकार मैंने तुम्हें सब लक्षणों सहित बतला दिये हैं। अब हे अर्जुन, इसी त्रिविध ज्ञानके प्रकाशसे कर्त्ताओंकी सब क्रियाएँ चलती हुई दिखाई देती हैं। इसी लिए जिस प्रकार चलते हुए प्रवाहके सामने जो जल आता है, वह उसीमें मिलकर उसके साथ बहने लगता है, उसी प्रकार कर्म भी त्रिविध ज्ञानके तीनों मार्गों पर चलते रहते हैं। और एक ही कर्म ज्ञानके तीन भेदोंके कारण तीन प्रकारका हो जाता है। अब मैं उनमेंसे पहले सात्विक कर्मके लक्षण बतलाता हूँ; सुनो।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥

"जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री स्वयं ही अपने पतिको आलिंगन करती है, उसी प्रकार अपने अधिकारके आधार पर जो कर्त्तव्य स्वभावतः आकर हमारे गले पड़ते हैं, वो कर्त्तव्य हमारे अधिकारके कारण हमारे लिए उसी प्रकार भूषण होते हैं, जिस प्रकार साँवले शरीरमें चन्दनका लेप अथवा तरुण स्त्रीके नेत्रोंमें काजल शोभा देता है, वही नित्य कर्म हैं और वे अच्छे हो होते हैं। और यदि उनके साथ नैमित्तिक कर्म भी आकर मिल जायँ, तब तो मानों सोनेमें सुगन्ध ही आ जाती है। अपनी आत्मा और शरीरको अनेक प्रकारके कष्ट देकर भी माता अपने बच्चेका पालन-पोषण करती है; परन्तु फिर भी उसका मन कभी इन बातोंसे दुःखी नहीं होता। ठीक इसी प्रकार हृदयसे सब कर्मोंका आचरण करना चाहिए, परन्तु उनके फलकी ओर बिलकुल दृष्टि न रखनी चाहिए और सब कर्म ब्रह्मार्पण कर देने चाहिएँ। जब कोई स्त्री अपने पति, बालकों और प्रिय जनोंके आगे भोजन परोसने लगती है, तब उसके मनमें इस बातका कभी विचार ही नहीं उत्पन्न होता कि यह सारा भोजन समाप्त हो जायगा और मेरे लिए इसमेंसे कुछ बचेगा भी या नहीं। सत्कर्म करनेके समय भी मनुष्यको सदा ठीक इसी प्रकारकी मनोवृत्ति रखनी चाहिए। ऐसी अवस्थामें यदि काम न पूरा उतरे तो विषाद कभी मनुष्यको दुःखी नहीं करता; अथवा यदि वह पूरा हो जाय तो वह कभी आनन्दसे फूलता भी नहीं। हे अर्जुन, इस प्रकारकी युक्तियोंसे जिन कर्मोंका आचरण किया जाता है, वे कर्म अपने इसी गुणके कारण सात्त्विक कहे जाते हैं। अब मैं तुम्हें राजस कर्मके लक्षण बतलाता हूँ। तुम इन बातोंकी ओर अपना अवधान कम मत होने दो।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥

"जिस प्रकार कोई मूर्ख मनुष्य अपने घरमें माता-पिताके साथ तो कभी एक भी मीठी बात नहीं करता, परन्तु बाहर सारे संसारके साथ बहुत आदरपूर्वक व्यवहार करता है अथवा तुलसीके पेड़में तो कभी दूरसे एक छींटा भी जल नहीं डालता, परन्तु दाखकी बेलकी जड़ दूधसे सींचता है, ठीक उसी प्रकार जो नित्य नैमित्तिक कर्मोंके लिए तो अपने बैठनेकी जगहसे कभी मनमें उठनेका विचार भी नहीं करता और कोई अपने मतलबका काम आने पर अपने शरीरको कष्ट देनेमें भी कोई विशेष हानि नहीं समझता और जिस प्रकार कोई अच्छी फसल पैदा करनेके लिए बीज बोते समय कभी यह नहीं कहता कि बीजोंकी बोआई बहुत हो चुकी, ठीक उसी प्रकार जिसे उस स्थान पर धन व्यय करनेमें कुछ भी चिन्ता या संकोच नहीं होता जिस स्थानसे उसे यथेष्ट लाभकी आशा होती है अथवा जिस प्रकार पारस पत्थर मिल जाने पर कीमियागर लोहा खरीदनेके लिए अपनी सारी सम्पत्ति भी बहुत प्रसन्नतासे बेंच डालता है, ठीक उसी प्रकार राजस कर्त्ता भी आगे प्राप्त होनेवाले फल पर दृष्टि रखकर बड़े बड़े कष्ट-साध्य काम्य कर्म करता है; और इस प्रकारके चाहे कितने ही अधिक कर्म वह क्यों न कर डाले, परन्तु फिर भी वह उन सबको थोड़ा ही समझता है। वह फलकी आशामें उलझा रहता है और इसी लिए जितने काम्य कर्म हैं, वे सब ठीक तरहसे बहुतसे ठाठ करता है। और साथ ही जो जो काम वह करता है, उन सबकी लोकमें डुग्गी भी पीटता चलता है। और सारे संसारमें यह कहकर अपने नामके महत्वका प्रकाश करता है कि इन सब कामोंको करनेवाला मैं हूँ। फिर उसमें कर्तृत्वका अहंकार इतना अधिक भर जाता है कि वह अपने पिता अथवा गुरुका भी कोई महत्व नहीं बचने देता। जिस प्रकार प्राणान्त करनेवाला ज्वर किसी औषधको नहीं मानता; उसी प्रकार वह भी किसीको नहीं मानता। इस प्रकार अहंकारके द्वारा पछाड़े हुए और फलके फेरमें पड़े हुए मनुष्यके हाथों जो जो कर्म बहुत अनुरागसे होते हैं और वह भी अनेक प्रकारके कष्ट सहकर और इस प्रकार होते हैं, जैसे बाजीगर अपना पेट भरनेके लिए तरह तरहके कठिन और कष्ट-साध्य खेल करते हैं, वे सब कर्म "राजस" होते हैं। जिस प्रकार धान्यके एक कणके लिए भी चूहा पहाड़ खोद डालता है अथवा सेवारके लिए मेंढक सारा समुद्र गन्दा कर डालता है अथवा केवल भिक्षा पानेके लिए मदारी जिस प्रकार साँप लेकर घर घर घूमता है, उसी प्रकार अनेक कष्ट उठाकर अपने लाभके लिए जो कार्य किए जाते हैं, वे सब राजस होते हैं। परन्तु क्या कहा जाय; कुछ लोगोंको इस प्रकारके कष्ट ही बहुत अच्छे लगते हैं। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार धान्यका बहुत ही छोटा सा कण प्राप्त करनेके लिए भी दीमक पाताल तक छेद करता हुआ चला जाता है, ठीक उसी प्रकार स्वर्ग-सुखकी प्राप्तिकी आशामें जो अनेक कष्टपूर्ण परिश्रम किये जाते हैं, उन्हीं क्लेशकारक काम्यिक कर्मोंको राजस कर्म समझना चाहिए। हे अर्जुन, अब तुम तामस कर्मोंके लक्षण सुनो।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

"जो कर्म मानों निन्दाका घर ही होते हैं और जिनके कारण मानों निषेधका जन्म सार्थक होता है, वे सब तामस कर्म हैं। पानी पर खींची हुई रेखाकी तरह जिन कर्मोंका आचरण करने पर पीछे कुछ भी बाकी नहीं रह जाता अथवा जिस प्रकार काँजीको मथना, खाली राखमें फूँक मारना अथवा तेल निकालनेके लिए कोल्हूमें बालू डालकर पेरना अथवा भूसा फटकना, आकाशमें कोई चीज भोंकना अथवा वायुको पकड़नेके लिए जाल बिछाना आदि सब काम बिलकुल निष्फल होते हैं और व्यर्थ जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जो कर्म करने पर बिलकुल ही व्यर्थ जाते हैं और जिनका कुछ भी फल नहीं होता अथवा यदि वे कर्म व्यर्थ न भी जायें तो भी नर-देह सरीखी बहुमूल्य वस्तुको व्यय करके जिन कर्मोंका आचरण करनेके कारण संसारके सुखका नाश होता है, वे सब कर्म तामस होते हैं। अथवा जिस प्रकार कमलों पर कँटीला जाल फेंकनेसे उस जालके काँटे भी टूटते हैं और कमलोंके दल भी छिद और फट जाते हैं अथवा जिस प्रकार दीपकके साथ द्वेष रखनेके कारण पतंगे उस पर टूट पड़ते हैं और स्वयं अपना ही अंग जला लेते हैं और दीपकको बुझाकर लोगोंके लिए अँधेरा कर देते हैं, ठीक उसी प्रकार चाहे अपना सर्वस्व व्यर्थ ही नष्ट क्यों न हो जाय, यहाँ तक कि अपने शरीरका भी घात क्यों न हो जाय, परन्तु फिर भी जिन कर्मोंके द्वारा जान-बूझकर दूसरोंका अहित किया जाता है, जिन कर्मोंके आचरणसे उस मक्खीकी दुष्टताका स्मरण हो आता है जो अपने खाने-पीनेकी सब सामग्री तो मनुष्योंसे ही प्राप्त करती है, परन्तु फिर भी अपने आचरणसे जो मनुष्यको वमनका कष्ट पहुँचाती है, वे सब तामस कर्म होते हैं। और ये सब कर्म बिना इस बातका विचार किये हुए ही किए जाते है कि इन्हें करनेकी सामर्थ्य हममें है भी या नहीं। यह नहीं सोचा जाता कि हमारी शक्ति कितनी है, यह कार्य करनेमें कितने बखेड़े करने पड़ेंगे और अन्तमें इससे हमारी फल-सिद्धि ही क्या होगी। इस प्रकारकी सभी बातोंका विचार अविवेकपूर्वक पैरों तले रौंद डाला जाता है और तब ऐसे कर्म करनेका आयोजन किया जाता है। पहले स्वयं अपना ही घर जलाकर आग बाहर निकलती है और स्वयं अपनी ही मर्यादा डुबाकर समुद्र ऊपर और बाहरकी ओर उछलता है। फिर वह आग अथवा वह समुद्र छोटे और बड़ेका कुछ भी विचार नहीं करता, आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखता और टेढ़े-सीधे मार्गोंको एकाकार करता जाता है; और उसका यह क्रम बराबर चला चलता है। ठीक इसी प्रकार अच्छे और बुरे, दुष्ट और सुष्ट आदिका बिना कोई विचार किये और अपने तथा पराए सभी लोगोंके धुर्रे उड़ाते हुए जिन कर्मोंका आचरण किया जाता है, उनके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे यह समझ रखना चाहिये कि वे तामस कर्म हैं। हे अर्जुन, इस प्रकार मैंने स्पष्ट रूपसे तुम्हें यह बतला दिया है कि तीनों गुणोंके कारण कर्म किस प्रकार त्रिविध होते हैं। अब ये सब कर्म करनेवाला और इनके कर्तृत्वका अहंकार करनेवाला जो जीव होता है, वह भी

त्रिविधता प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक ही पुरुष ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंमें रहकर अलग अलग चार प्रकारका दिखाई देता है, उसी प्रकार कर्मोंकी त्रिविधताके कारण कर्त्तामें भी त्रिविधता आ जाती है। इसलिए इन तीनों प्रकारके कर्त्ताओंमें जो पहला सात्विक कर्त्ता है, उसका मैं विवेचन करता हूँ। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्विक उच्यते ॥२६॥

"फलकी इच्छा न होनेके कारण जिस प्रकार मलयागिरी चन्दन वृक्षकी शाखाएँ बिलकुल सीधी और बराबर बढ़ती तथा फैलती रहती हैं अथवा जिस प्रकार फल धारण न करनेके कारण ही नाग वल्लीका जन्म सार्थक होता है, ठीक उसी प्रकार सात्विक कर्त्ता भी सदा अपने नित्य और नैमित्तिक कर्म करता है। परन्तु इस फल शून्यताके कारण उसके उन कर्मोंको विफलता नहीं प्राप्त होती, क्योंकि हे अर्जुन, क्या कभी फलमें भी फल लगते हैं? जो मनुष्य सब काम तो बहुत आदर और अनुराग पूर्वक करता है, परन्तु फिर भी जिसे इस प्रकारका अहंकार कभी छू भी नहीं जाता कि मैं कर्त्ता हूँ, जो वर्षा कालके मेघोंकी तरह परमात्मा पर निरन्तर वर्षा करनेके योग्य विपुल कर्मोंका आचरण करता रहता है, जो उचित समय साधता है, शुद्ध स्थल देखता है, कर्मोंकी विधियोंका निर्णय शास्त्रोंके वचनोंके आधार पर करता है, अपना मन एकाग्र करता है, चित्तको फलकी आशाकी ओर नहीं प्रवृत्त होने देता, नियमोंका उचित रूपसे पालन करता है और इस निर्बन्धको सहन करनेके लिए अपने आप पूरा पूरा धैर्य लानेको निरन्तर चिन्ता और प्रयत्न करता है और केवल आत्म स्वरूपके प्रेमके कारण क्रियाएँ करते रहने पर भी जो शारीरिक सुखोंके जालमें नहीं फँसता, जिसमें आलस्य और निद्रा कहीं नामको भी नहीं रह जाती, जो कभी क्षुधासे पीड़ित नहीं होता और शरीरका सुख जिसे अच्छा नहीं लगता और इतना सब कुछ होने पर भी कर्मोंके प्रति जिसका उत्साह उसी प्रकार बराबर बढ़ता हुआ दिखाई देता है, जिस प्रकार खोट या मिलावटके जल जानेके कारण, वजन कम हो जाने पर भी, सोना चोखा और खरा होता जाता है, वही सात्विक कर्त्ता होता है। यदि सचमुच मनमें किसी बातका अनुराग हो तो प्राण केवल तुच्छ जान पड़ते हैं। जब कोई सच्ची पतिव्रता स्त्री अपने पतिके प्रेमके कारण सती होनेके लिए उद्यत होती है, तब क्या अग्निमें प्रवेश करते समय कभी भयसे उसे रोमांच होता है? ऐसी अवस्थामें, हे अर्जुन, जो पुरुष आत्म-स्वरूप सरीखे प्रिय पदार्थको प्राप्त करनेके लिए उद्यत होता है, वह क्या कभी इस बातका खेद कर सकता है कि मेरा शरीर क्षीण हो गया? इसीलिए जिसकी विषय-सम्बन्धी इच्छा नष्ट हो जाती है और ज्यों ज्यों देहका अभिमान दूर होता है, त्यों त्यों कर्मोंका आचरण करनेमें जिसे दूना आनन्द मिलता है और इस प्रकार जो बराबर दूने आनन्दसे कर्मोंका आचरण करता चलता है और यदि कभी कोई आरम्भ किया हुआ कार्य किसी कारणसे आधा होकर ही रुक जाय, तो भी उस कार्यके बिगड़नेके कारण जिसे उसी प्रकार कोई दुःख या कष्ट नहीं होता, जिस प्रकार पहाड़ परसे नीचे गिर पड़नेवाली गाड़ी कभी

अपने लिए कोई दुःख नहीं करती अथवा कोई आरम्भ किया हुआ कार्य सिद्ध हो जाने पर जो चारों ओर उसकी जय-घोषणा नहीं करता फिरता, तात्पर्य यह कि जो इन्हीं सब लक्षणोंसे युक्त होकर कार्य करता हुआ दिखाई देता है, हे अर्जुन, वास्तवमें उसीको सात्विक कर्त्ता कहना चाहिए। और हे पार्थ, राजस कर्त्ताकी पहचान यह है कि वह लौकिक वासनाओंमें ही सदा डूबा हुआ रहता है।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥२७॥

"जिस प्रकार गाँवके कूड़ेखानेमें सारा कूड़ा-करकट आकर इकट्ठा होता है, अथवा श्मशानमें ही समस्त अमंगल जनक वस्तुएँ आकर एकत्र होती हैं, उसी प्रकार जो पुरुष सारे संसारकी वासनाओंके दोषोंका पायदान होता है और इसी लिए जो पुरुष केवल ऐसे ही कर्मोंका आयोजन करता है, जिनमें फलोंकी अखंड प्राप्ति होती हुई दिखाई देती है और उन कर्मोंसे होनेवाले लाभोंकी एक कौड़ी भी बिना छोड़े जो उनके लिए अपने प्राण तक निछावर करनेके लिए सदा उद्यत रहता है, जो स्वयं अपनी वस्तुओं-की तो पूर्णरूपसे रक्षा करता ही है, पर साथ ही दूसरोंकी वस्तु हरण करनेके लिए भी सदा उसी प्रकार ध्यान लगाये रहता है, जिस प्रकार मछलीको पकड़नेके लिए बगला बराबर ध्यान लगाए रहता है, जिसकी अवस्था बेरके उस वृक्षके समान होती है जो अपने पास आनेवालोंको तो अपने काँटोंसे पकड़ता है और स्पर्श करनेवालोंका शरीर छेदता है और इतना होने पर भी जिसके फल अपने खट्टेपनके कारण जीभको परम दुःखी कर देते हैं, जो बराबर दूसरोंको दुःख देता रहता है और अपना मतलब निकालनेके लिए दूसरोंके हितकी कुछ भी परवाह नहीं करता, स्वयं अपना काम करनेके लिए दूसरोंको कभी कुछ भी मोहलत या सुभीता नहीं देता और जो भावना अपने आपको पसन्द न हो--वह चाहे कितनी ही उदात्त क्यों हो, तो भी —उस भावनामें जो कभी अपना मन नहीं लगाता, जिसकी अवस्था धतूरेके उस फलकी तरह होती है जिसके अन्दर जहर होता है और बाहर कँटीला कवच होता है और इस प्रकार अन्दर और बाहर शुद्धतासे बिलकुल खाली रहता है और, हे अर्जुन, अपने किये हुए कर्मका फल प्राप्त होने पर जो मारे आनन्दके मारे सारे संसारको मुँह चिढ़ाने लगता है अथवा यदि आरम्भ किया हुआ कार्य बिगड़कर निष्फल हो जाय तो जो पुरुष शोकसे अंकित होकर सारे संसारको गालियाँ और शाप देने लगता है और, हे अर्जुन, जो इस प्रकार कर्मोंमें फँसा रहता है, उसके सम्बन्धमें अच्छी तरहसे यह समझ रखना चाहिए कि वह राजस कर्ता है। अब मैं उस तामस कर्त्ताका वर्णन करता हूँ जिसे समस्त दुष्कर्मोंका केवल फलने-फूलनेका मुख्य स्थान ही समझना चाहिए।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥२८॥

"जिस प्रकार अग्निको इस बातका कुछ भी ज्ञान नहीं होता कि मेरे स्पर्शके कारण दूस[illegible]किस प्रकार जलती है अथवा जिस प्रकार शस्त्रको समझमें यह बात नहीं

आती कि मेरी धारकी तीक्ष्णताके कारण दूसरोंको किस प्रकारका भीषण कष्ट होता है अथवा जिस प्रकार काल-कूट विषको अपने घातक कृत्यका ज्ञान नहीं होता, ठीक उसी प्रकार, हे अर्जुन, जो अपने सामने आनेवाले जीवोंका घात करके अपने दुष्कर्म जारी रखता है और उन दुष्कर्मोंका आचरण करते समय मन-माने तौर पर खूब तेजीके साथ दौड़नेवाले बादलोंकी तरह इस बातका कुछ भी ध्यान नहीं रखता कि मेरे हाथों क्या हो रहा है और हे अर्जुन, जिसके कार्य और कारणमें मेल न होनेके कारण पागल मनुष्य भी जिसके सामने पासंग तक नहीं ठहरता और बैलके पेटमें लगी हुई किलनीकी तरह जो इन्द्रियोंके बढ़े हुए विषय-भोगके आधार पर अपना निर्वाह करता है, जिसकी रहन-सहन उस अज्ञान छोटे बालकके समान होती है, जो कभी आपसे आप हँस पड़ता है और कभी रोने लग जाता है, प्रकृति या मायासे अंकित होनेके कारण जिसे इस बातका कुछ भी भान नहीं होता कि कृत्य क्या है और अ-कृत्य क्या है और केवल कूड़ेके कारण बढ़ने-वाले कूड़ेखानेकी तरह जो केवल मिथ्या समाधानसे ही फूला रहता है और इसी लिए जो अपनी अहंमन्यताके कारण स्वयं ईश्वरके सामने भी नहीं झुकता और अपनी अकड़के आगे पर्वतको भी तुच्छ समझता है और जिसकी मनोवृत्ति मानों पैरोंसे कुचली हुई चोरोंकी काली रावटीके समान काली और दृष्टि मानों बाजारमें बैठनेवाली वेश्याओंसे उधार ली हुई होती है, सारांश यह कि जिसका सारा शरीर ही कपटका बना हुआ होता है और जिसका जीवन मानों जुआरियोंका अड्डा होता है और जिसके दर्शनको मानों दर्शन नहीं बल्कि स्वार्थ-लोलुप भीलोंका गाँव ही समझना चाहिए और इसी लिए जिसके रास्ते कभी किसीको जाना ही नहीं चाहिए, दूसरोंके सत्कृत्य जिसके मनमें काँटे-की तरह खटकते हैं और दूसरोंके अच्छे कृत्य भी जिसके फेरमें पड़कर उसी प्रकार विद्रूप हो जाते हैं, जिस प्रकार नमकके योगसे दूध पीनेके योग्य नहीं रह जाता, अथवा आगमें पड़कर ठण्डा पदार्थ भी गलकर आग हो जाता है अथवा अच्छे अच्छे अन्न भी शरीरमें प्रविष्ट होकर मल बन जाते हैं, जो गुणोंको भी दोषोंका स्वरूप देता है और साँपकी तरह अमृतको भी विष कर देता है और संयोगवश कोई ऐसा शुभ कर्म उपस्थित होने पर जिससे ऐहिक जीवन भी सार्थक हो सकता हो और परलोक भी सध सकता हो, जिसे इतनी जल्दी नींद आ जाती है कि मानों उसके पास रखी हुई हो और दुष्ट व्यव-हार आरम्भ करते ही जिसके पाससे नींद इस प्रकार भाग जाती है कि मानों उससे परम घृणा करती हो, जो वास्तविक कल्याणके साधनकी सन्धि आने पर आलस्यसे उसी प्रकार भरा रहता है, जिस प्रकार दाख या आमका रस खानेके दिनोंमें कौवोंके मुँहमें रोग हो जाता है अथवा दिनके प्रकाशमें जिस प्रकार उल्लूकी आँखें अन्धी हो जाती हैं और यदि कोई निन्दनीय कृत्य करनेके लिए कहा जाय तो मानों आलस्य जिसके हुक्ममें रहता है और तुरन्त दूर भाग जाता है, जिसके मनके साथ मत्सर सदा उसी तरह ठीक बँधा रहता है, जिस तरह समुद्रके उदरमें सदा बड़वाग्नि धधकती रहती है और जो जन्म भर उसी प्रकार नाक तक मत्सरसे भरा रहता है, जिस प्रकार कण्डोंकी आगमें धूआँ भरा रहता है, अथवा गुद-द्वारमें सदा दुर्गन्धि ही भरी रहती है

है और, हे वीर अर्जुन, जो ऐसे ऐसे कामिक व्यापारोंका आरम्भ करता है, जिनका सूत्र प्रत्यक्ष कल्पान्तसे भी और आगे तक पहुँच जाता है, परन्तु यदि कोई कल्याण-कारक काम करना हो तो उससे एक तिनकेकी प्राप्ति नहीं होती, हे अर्जुन, इस लोकमें इस प्रकार केवल पापके मूर्तिमान् समूहके रूपमें ही जो पुरुष दिखाई दे, उसके सम्बन्धमें पूरी तरह यह समझ लेना चाहिए कि वह तामस कर्त्ता है। हे सज्जन-शिरोमणि अर्जुन, इस प्रकार मैंने तुम्हें कर्म, कर्त्ता और अज्ञानके तीन प्रकारके लक्षण बतला दिये हैं।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२६॥

"अब अविद्याके गाँवमें मोहके वस्त्र पहनकर और अपने शरीर पर संशय-वृत्तिके अलंकार धारण करके अंगों और उपांगों सहित आत्म-निश्चयकी शोभा जिस दर्पणमें देखी जाती है, वह दर्पण बुद्धि है; और इस बुद्धिका प्रवाह भी तीन प्रकारका होता है। इस संसारमें ऐसा कौन-सा पदार्थ है जो सत्व आदि तीनों गुणोंके योगसे तीन प्रकारका न हुआ हो? क्या इस सृष्टिमें कहीं कोई ऐसा काठ भी है जिसके गर्भमें अग्नि न हो? इसी प्रकार इस दृश्य सृष्टिमें भला ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है जो इन तीनों गुणोंके कारण तिरंगी न हुई हो? इसी लिए इन तीनों गुणोंके योगसे बुद्धि भी तीन प्रकारकी हो गयी है और धृतिकी भी वही दशा हुई है। अब इसी बुद्धि और धृतिकी त्रिविधता उनके भिन्न भिन्न लक्षणों सहित बतलाई जायगी। परन्तु हे अर्जुन, बुद्धि और धृतिमेंसे पहले मैं बुद्धिके तीनों प्रकारोंका स्पष्टीकरण करता हूँ। हे वीर अर्जुन, इस संसार-क्षेत्रमें जितने जीव आते हैं, उन सबके लिए उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये तीनों मार्ग खुले रहते हैं। और ये तीनों मार्ग नित्य नैमित्तिक विहित कर्म, कामिक कर्म और निषिद्ध कर्म हैं और ये तीनों ही मार्ग संसार-भयके कारण जीवोंके लिए कष्टप्रद होते हैं।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥

"इसी लिए इन सब कर्मोंमें वह नित्य कर्म ही सबसे अच्छा है, जो मनुष्यके अधि-कारको शोभा देता है और केवल स्वाभाविक क्रमसे प्राप्त होता है। उन्हीं नित्य कर्मोंका केवल आत्म-प्राप्तिके फल पर दृष्टि रखकर ठीक उसी प्रकार आचरण करना चाहिए, जिस प्रकार प्यासा आदमी पानी पीता है। बस इतनेसे वे कर्म जन्म-भयका संकट दूर करके मोक्षकी प्राप्ति सुलभ कराते हैं। जो इस प्रकार अपने नित्य कर्मोंका आचरण करता है, उसका संसार सम्बन्धी भय छूट जाता है और कर्म करके वह मुमुक्षुओंका अंश (अर्थात् मोक्ष) प्राप्त करता है। और जिस बुद्धिको इस बातका दृढ़ विश्वास हो जाता है कि इस प्रकारके कर्मोंके आचरणमें ही मोक्ष रखा हुआ है और इसीलिए जो बुद्धि यह कहती है कि निवृत्तिके आधार पर प्रवृत्तिकी रचना करके इन नित्य कर्मोंमें गोता क्यों न लगाया जाय, वही बुद्धि सात्त्विक होती है। प्यासेको जलसे जीवन प्राप्त होता है और बाढ़में पड़नेवालेको तैरना पड़ता है। घोर अन्धकारपूर्ण गड्ढेमें सूर्यकी

किरणोंकी सहायतासे ही मार्ग दिखाई देता है। यदि ठीक तरहसे पथ्य और औषध प्राप्त हो तो रोगसे अधमरा होनेवाला रोगी भी अच्छा हो जाता है अथवा जब मछलीको जलका आधार मिल जाता है, तब उसके प्राणोंके लिए कोई भय नहीं रह जाता। ठीक इसी प्रकार इन नित्य कर्मोंका आचरण करनेसे मोक्ष ही प्राप्त होता है। जो बुद्धि इस सम्बन्धमें बिलकुल निर्दोष होती है कि इस प्रकारके कर्त्तव्य कर्म कौन-से हैं और जो बुद्धि यह बात भी बिलकुल ठीक तरह से जानती है कि न करने के योग्य कर्म कौनसे हैं, वही बुद्धि सात्विक है। संसारका भय उत्पन्न करनेवाले जो काम्य आदि कर्म हैं और जिन पर निषिद्धताकी मोहरें लगी हुई हैं, उन निषिद्ध, अकरणीय और जन्म-मरणके भयसे भरे हुए कर्मोंसे जो बुद्धि प्रवृत्तिको पिछले पैरों दूर हटाती है, वही सात्विक बुद्धि है। आगमें प्रवेश नहीं किया जाता, अथाह दहमें कूदा नहीं जाता और जो लोहा तपकर लाल हो जाता है, वह हाथसे पकड़ा नहीं जाता; अथवा फुफकारने वाले काल-सर्पको देखकर उसे हाथ नहीं लगाया जाता और बाघकी माँदमें पैर नहीं रखा जाता। ठीक इसी प्रकार अकरणीय कर्मोंको अपने सामने देखकर जो बुद्धि निस्सन्देह रूपसे बहुत अधिक भयभीत होती है, जो बुद्धि यह जानती है कि जिस प्रकार विष मिलाकर पकाये हुए अन्नमें मृत्यु रखी ही रहती है, उसी प्रकार निषिद्ध कर्म करनेसे मनुष्यको बन्धनमें अवश्य पड़ना पड़ता है और फिर बन्धनके भयसे भरे हुए उन निषिद्ध कर्मोंके सम्बन्धमें जो बुद्धि कर्म-निवृत्तिका प्रयोग करती है और जिस प्रकार खरे और खोटेकी परख की जाती है, उसी प्रकार कार्य और अकार्यके विचारसे जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्तिकी ठीक तरहसे परख करती है और साथ ही जिस बुद्धिके द्वारा कृत्य और अकृत्यका निर्णय भी उत्तम प्रकार से होता है, यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो कि वही बुद्धि सात्विक है।

यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥

"बगलोंके गाँवमें जिस प्रकार दूध और पानीका मिश्रण ही किया जाता है (अर्थात् दोनों अलग अलग नहीं किये जाते) अथवा जिस प्रकार अन्धेको रात और दिनकी पहचान नहीं होती अथवा जो भ्रमर फूलोंका मकरन्द निकाल सकता है, वह यदि लकड़ीको काटनेमें प्रवृत्त हो तो भी उसकी भ्रमरता नष्ट नहीं होती, ठीक उसी प्रकार जो बुद्धि धर्म-रूप उचित कर्मों और अधर्म-रूप निषिद्ध कर्मोंका विचार न करके व्यवहार करती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जो बिना आँखोंसे देखे मोती लेता है उसे खरा माल कदाचित् ही कभी मिलता है और उसके हिस्सेमें चोखे मालका न मिलना ही आता है। ठीक इसी प्रकार यदि दैवयोगसे निषिद्ध कर्म न प्राप्त हों, तभी जो बुद्धि उन निषिद्ध कर्मोंसे बचती है और नहीं तो सामान्यतः जो बुद्धि करने योग्य और न करने योग्य सभी प्रकारके कर्मोंको एक-सा समझती और समान रूपसे करती चलती है, वह बुद्धि राजसी होती है। जिस प्रकार पात्र और अपात्र विचार न करके एक सिरेसे सारे जन-समाजको निमन्त्रण दे दिया जाता है, उसी प्रकार ऐसी बुद्धि भी शुद्ध और अशुद्धका विचार नहीं करती और सभी प्रकारके कर्मोंका स्वीकार करती है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता ।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥

"और जिस प्रकार राजमार्ग चोरोंके लिए हितकर नहीं होता और वे जब चलते हैं, तब प्रायः राजमार्गसे बचकर चलते हैं अथवा लोगोंके लिए जो दिन होता है, वही राक्षसोंके लिए रात होती है अथवा जिस प्रकार किसी अभागेको गड़ा हुआ खज़ाना कोयलोंका ढेर ही जान पड़ता है अथवा सच्चा आत्म-स्वरूप जिस प्रकार जीवको नहींके समान जान पड़ता है, उसी प्रकार समस्त धर्म-कृत्य जिस बुद्धिको पातक ही जान पड़ते हैं, जो बुद्धि खरेको खोटा समझती है, समस्त अर्थोंको अनर्थोंका रूप देती है और अच्छे गुणोंको दोष मानती है, यहाँ तक कि जो जो बातें वेदोंमें उचित और ठीक बतलाई गई हैं, उन्हीं सबको जो बुद्धि बुरा (अर्थात् निषिद्ध और न करनेके योग्य) समझती है, उस बुद्धि, को हे अर्जुन, बिना किसीसे पूछे ही और निस्सन्देह रूपसे तामसी कहना चाहिए। भला काली रातके समान ऐसी बुद्धि धर्म-कार्यके लिए कैसे योग्य कही जा सकती है ? आत्म-बोध रूपी कुमुदको विकसित करनेवाले चन्द्रमा भाई अर्जुन, इस प्रकार बुद्धिके तीनों भेद मैंने तुम्हें स्पष्ट करके बतला दिये हैं। अब इसी बुद्धिके आधार पर निश्चय करके जो धृति सब कामोंमें सहायक होती है, उस धृतिके भी तीन प्रकार उनके लक्षणों सहित अब मैं तुमको बतलाता हूँ। तुम अच्छी तरह ध्यान देकर सुनो।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

"जब सूर्य निकलता है, तब चोरोंके साथ ही साथ अन्धकार भी चला जाता है, अथवा जिस प्रकार राजाकी आज्ञासे सब प्रकार के अनुचित व्यवहार बन्द हो जाते हैं अथवा जब हवाके झोंके जोरोंसे चलने लगते हैं, तब आकाशमें बादल नहीं रह जाते और उनकी गड़गड़ाहट भी बन्द हो जाती है अथवा अगस्त ऋषिके दर्शन होते ही जिस प्रकार समुद्र भयभीत होकर चुप हो जाता है अथवा चन्द्रमाके निकलते ही जिस प्रकार कमल बन्द हो जाते हैं अथवा जब कोई मदोन्मत्त हाथी आगे बढ़ानेके लिए एक पैर उठाता है और उस समय यदि स्वयं सिंह भी गरजता हुआ उसके सामने आ जाय तो जिस प्रकार वह हाथी अपना पैर उसी तरह ऊपर उठाये रहता है और नीचे जमीन पर नहीं रखता, उसी प्रकार जब मनुष्यमें धैर्य (धृति) का संचार होता है, तब मन आदिके समस्त व्यवहार जिस अवस्थामें होते हैं, उसी अवस्थामें बिलकुल बन्द हो जाते हैं। हे अर्जुन, उस समय इन्द्रियों और उसके विषयोंका सम्बन्ध आपसे आप टूट जाता है और दसों इन्द्रियाँ मन-रूपी माताके पेटमें घुस जाती हैं। वायुका ऊपरका भी और नीचेका भी दोनों ही मार्ग रोककर और नौ वायुओंकी एकमें गठरी बाँधकर प्राण वायु मध्यमा (अर्थात् सुषुम्ना) में चली जाती है। बुद्धि उस समय मन परसे संकल्प-विकल्पके वस्त्र हटाकर और इस प्रकार उसे नंगा करके पीछेकी ओर बिलकुल चुप होकर बैठ जाती है। इस प्रकार जिस श्रेष्ठ धैर्यके आगे मन, प्राण और इन्द्रियोंको अपने सब व्यापार छोड़ देने पड़ते हैं, और तब वे सब निर्लेप स्थितिमें उसी प्रकार योगकी

युक्तिसे ध्यानके मठ (अर्थात् हृदय-कोश) में बन्द हो जाते हैं। और फिर जब तक उनका सम्राट् परमात्मा उन्हें बन्धनसे मुक्त नहीं करता, तब तक जो धैर्य बिना किसी प्रकारके लोभके फेरमें पड़े उन सबको वहीं रोके रहता है, निश्चित रूपसे समझ रखना चाहिए कि वही धैर्य, वही धृति सात्त्विक है।" यही बात लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण ने उस समय अर्जुनसे कही थी।

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥३४॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण फिर कहने लगे—"जो जीव शरीर धारण करके स्वर्गमें भी और इस संसारमें भी धर्म, अर्थ और कामके निकर्ष यथा-स्थित प्राप्त करके वैभव-पूर्वक रहता है, वह जीव जिस धैर्यके बल पर संकल्पों और विकल्पोंके सागरमें धर्म, अर्थ और कामके जहाज भरकर कर्मोंका व्यापार करता है और कर्मको ही पूँजी मान कर वह जीव जिस धैर्यकी सहायतासे उस पूँजीको चौगुना बढ़ानेके लिए कठोर परिश्रम करता है, हे अर्जुन, वह धैर्य, वह धृति राजस होती है। अब जो तीसरी तामस धृति है, उसके भी लक्षण सुनो।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ तामसी ॥३५॥

"कोयला जिस प्रकार घोर कालिखका बना हुआ होता है, उसी प्रकार निम्न कोटिके समस्त गुणोंसे जिसका स्वरूप बना हुआ होता है, यदि उस निकृष्ट और नीच तमको भी यदि गुण कहा जाय तो फिर राक्षसको भी साधु पुरुष क्यों न कहा जाय ? परन्तु ग्रहोंमें जो केवल जलता हुआ अंगारा है, उसे भी जिस प्रकार लोग मंगल कहते हैं, उसी प्रकार तमको भी गुणका ठाठदार नाम मिल जाता है। जिस तममें समस्त दोष भरे हुए हैं, उस तमकी कमाईसे जिस पुरुषकी मूर्ति बनी हुई होती है, वह पुरुष आलस्यको सदा अपने बगलमें ही दबाये फिरता है; और जिस प्रकार पापोंका पोषण करनेसे दुःख मनुष्यको कभी छोड़कर नहीं जाते, उसी प्रकार उस आलसीको निद्रा भी कभी नहीं छोड़ती। जिस प्रकार पत्थरकी शिलाकी कठोरता कभी नहीं छूटती, उसी प्रकार शरीर रूपी धन पर प्रेम होनेके कारण भय भी उसे कभी नहीं छोड़ता। और जिस प्रकार कृतघ्नताके पल्लेमें पाप सदा बँधे ही रहते हैं, उसी प्रकार पदार्थ मात्र पर अनुराग होनेके कारण शोकका भी उसमें निरन्तर निवास रहता है। वह असन्तोषका रात-दिन अपने हृदयसे लगाये रखता है और इसीलिए वह विषादके साथ भी मित्रता सम्पादित कर लेता है। जिस प्रकार लहसुनको दुर्गन्ध अथवा अपथ्य करनेवालेको व्याधि कभी छोड़कर नहीं जाती, उसी प्रकार विषाद भी उसे अन्त समय तक कभी नहीं छोड़ता। वह तारुण्य, द्रव्य और वासनाके प्रति उत्साह और मोह सदा बढ़ाता ही रहता है और इसलिए मद उसे अपने रहनेका घर ही बना लेता है। जिस प्रकार उष्णता कभी अग्निका परित्याग नहीं करती, अथवा अच्छी जातिका साँप बिना अपना बदला चुकाये नहीं मानता, अथवा जिस प्रकारका संसारका बैरी भय कभी नष्ट नहीं होता

अथवा जिस प्रकार काल किसी समय शरीरको नहीं छोड़ता, उसी प्रकार तामस जीवमें मद भी अपने लिए अटल पद प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार ये निद्रा आदि पाँच दोष जिस धैर्यसे तामस जीवमें अपना अड्डा जमाकर रहते हैं, उसी धैर्य, उसी धृतिको तामस समझना चाहिए।" यही बात जगदीश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुनसे कही थी। इसके उपरान्त उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया—"सूर्यकी सहायतासे ही मार्ग दिखाई देता है और पैर उस मार्गसे चलते हैं। परन्तु फिर भी चलनेका काम चलनेवाले के धैर्यसे ही होता है। इसी प्रकार बुद्धिकी सहायतासे कर्म दिखाई देते हैं और इन्द्रियाँ आदि साधन-समूह वे कर्म करते हैं; परन्तु फिर भी उन कर्मोंके होनेके लिए जिस धैर्य और जिस धृतिकी आवश्यकता होती है, उसके तीन प्रकार मैंने तुमको बतला दिये हैं। जब इस प्रकार त्रिविध कर्मोंकी उत्पत्ति होती है, तब उन कर्मोंमें जो सुख नामका फल लगता है, वह भी तीन प्रकारका होता है; और इसका कारण यही है कि वे सब फल केवल कर्मोंके अनुसार ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए मैं अब तुम्हें निर्दोष शब्दोंमें यह बतलाता हूँ कि ये सुख-रूपी फल किस तरह तीन भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं। परन्तु शब्दोंके चोखेपनकी ही योजना क्यों की जाय? क्योंकि यदि यह बात शब्दोंके द्वारा समझी और समझाई जाय तो शब्दोंमें कानोंके हाथोंकी मैल लग ही जाती है। इसलिए खूब ध्यानपूर्वक उस अन्तरंगकी सहायतासे ये बातें सुनो, जिस अन्तरंगका निरोध करनेसे सुननेवालेके कान भी बहरे हो जाते हैं।" यह कहकर भगवान श्रीकृष्णने त्रिविध सुखोंका विषय आरम्भ किया। अब मैं उसी विवेचनका यहाँ निरूपण करता हूँ!

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥३६॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—"मैंने तुम्हें वचन दिया है कि मैं तुम्हें त्रिविध सुखके लक्षण बतलाऊँगा। सो अब मैं वही वचन पूरा करता हूँ। भाई सुविज्ञ अर्जुन, तुम सुनो। आत्माकी भेंट होने पर जीवको जो सुख होता है, हे अर्जुन, अब मैं उसी सुखका स्वरूप तुम्हारे सामने रखता हूँ। परन्तु जिस प्रकार दिव्य औषध भी केवल मात्राके अनुसार ली जाती है अथवा जिस प्रकार रसायनकी क्रियासे राँगेसे चाँदी बन जाती है अथवा जिस प्रकार नमकको पानी बनानेके लिए उस पर दो चार बार पानी छिड़कना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार इस प्रकरणमें उसीको आत्म-सुख समझना चाहिए, जिसमें जीवोंका दुःख उस अवस्थामें नष्ट हो जाता है, जिस अवस्थामें वह सुखकी होनेवाली थोड़ी थोड़ी अनुभूतिके साथ साथ अपना तत्सम्बन्धी अभ्यास भी बढ़ाता चलता है। परन्तु वह भी तीनों गुणोंसे सिद्ध हुआ है। अब मैं उसके भी अलग अलग प्रकारके लक्षण बतलाता हूँ; सुनो।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥

"जिस प्रकार सर्पोंके लिपटे रहनेके कारण चन्दनके वृक्षका तना अथवा पिशाचोंके पहरेके कारण गुप्त भांडारका मुख भयंकर हो जाता है, उसी प्रकार स्वर्ग-सुख यद्यपि

बहुत मधुर होता है, तो भी मध्यमें जिस प्रकार यज्ञ-याग आदि विधानोंका उपक्रम करना पड़ता है अथवा तरह तरहके कष्ट पहुँचानेके कारण बालकोंको बाल्यावस्था पीड़क होती है अथवा जिस प्रकार दीपक जलानेवालेको पहले धुएँका कष्ट* सहना पड़ता है अथवा खानेके समय जिस प्रकार पहले-पहल औषध कड़वी जान पड़ती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, उस सुखके प्रवेश-द्वार पर ही यम-दम आदिके संकट सहने पड़ते हैं। समस्त दृश्य वस्तुओंके प्रति मनुष्यमें जो प्रेम होता है, उस प्रेमका नाश करनेवाली ऐसी विरक्ति उत्पन्न होती है, जो स्वर्ग और संसारके समस्त बन्धनोंको जड़से उखाड़कर फेंक देती है। तीक्ष्ण विवेकके श्रवण और कठोर व्रतोंके आचरणसे बुद्धि आदिसे धुर्रे उड़ जाते हैं। प्राण और अपान वायुकी लहरोंको सुषुम्ना नाड़ीका मुख निगल जाता है। परन्तु ये सब कष्ट केवल आरम्भमें ही होते हैं। यदि चक्रवाक पक्षियोंके जोड़ेको एक दूसरेसे अलग कर दिया जाय अथवा बछड़ेको गौके सामनेसे हटा लिया जाय अथवा किसी भिखारीको अन्नकी थालीके सामनेसे उठा दिया जाय अथवा यदि माताका एकलौता बच्चा कालके द्वारा उससे छुड़ा लिया जाय अथवा मछलीको जलसे बाहर निकाल लिया जाय तो उस समय उनको जो चरम सीमाका दुःख होता है, हे अर्जुन, ठीक उसी प्रकारका दुःख इन्द्रियोंको विषयोंका घर छोड़ते समय होता है। परन्तु वह दुःख भी पूर्ण विरक्तिसे सहन करना पड़ता है। इस प्रकार जिस सुखके आरम्भमें तो बहुत बड़े बड़े संकट सहने पड़ते हैं, परन्तु अन्तमें जिसके द्वारा उसी प्रकार मोक्ष-रूपी अमृतकी प्राप्ति होती है, जिस प्रकार क्षीर सागरको मथनेके समय उसमेंसे अमृतकी प्राप्ति हुई थी। पहले ही हल्लेमें उत्पन्न होनेवाले इस वैराग्य रूपी हलाहलको यदि धैर्य-रूपी शंकर निगल जाय, तो फिर जिस सुखमें ज्ञान-रूपी अमृतकी प्राप्तिका उत्सव मनानेकी सन्धि मिलती है, वही सात्त्विक सुख होता है। दाख जिस समय कच्ची और हरी रहती है, उस समय उसकी खटास जीभको कैसी बुरी मालूम होती है! परतु वही दाख जब अच्छी तरह पक जाती है, तब उसमें कितना अधिक माधुर्य आ जाता है! इसी प्रकार जब ये वैराग्य आदि भाव आत्म-ज्ञानके प्रकाशसे पूर्णताको प्राप्त होते हैं, तब इन्हीं वैराग्य आदिके साथ समस्त माया-जनित नाम-रूपात्मक द्वैत भी नष्ट हो जाता है। उस समय बुद्धि भी उसी प्रकार आत्माके साथ मिलकर एक-रस हो जाती है, जिस प्रकार समुद्रके साथ मिलने पर गंगा हो जाती है और तब अद्वैतके आनन्दकी खान आपसे आप खुल जाती है। इस प्रकारके जिस सुखका मूल वैराग्यमें है, परन्तु जिसका अन्त आत्मानुभवके आनन्दमें होता है, उसी सुखको सात्त्विक कहते हैं।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥

"और हे अर्जुन, विषयों तथा इन्द्रियोंका संयोग होते ही जिस सुखकी धारा अपने

* पहले जब दिया-सलाइयाँ नहीं थीं, तब आग सुलगाकर दीपक जलाया जाता था; और आग सुलगाते समय धुआँ आँखोंको लगता ही है।

दोनों तटोंको डुबाकर चारों ओर बहने लगती है, वह राजसी होता है। किसी बड़े अधिकारीके अपने नगरमें आने पर लोग जिस प्रकारका उत्सव और सभारम्भ करते हैं अथवा ऋण लेकर जिस प्रकार बहुत आनन्दपूर्वक और ठाठ-बाटसे विवाह किया जाता है अथवा रोगी मनुष्यको जिस प्रकार चीनी और केला वर्जित होने पर भी बहुत अच्छा लगता है अथवा बछनाग जिस प्रकार विष होने पर भी पहले पहल खानेमें मीठा जान पड़ता है अथवा जिस प्रकार आरम्भमें ठगोंकी मित्रता या बाजारमें बैठनेवाली वेश्याका व्यवहार अथवा बहुरूपियेका विनोद अच्छा लगता है, परन्तु अन्तमें जिस प्रकार ये सभी बातें घातक सिद्ध होती हैं, ठीक उसी प्रकार विषयों और इन्द्रियोंके संयोगके द्वारा जो सुख पहले तो जीवको पुष्ट तथा प्रसन्न करता है, परन्तु बादमें जो जीवके सुखकी सारी सम्पत्ति उसी प्रकार हरण कर लेता है, जिस प्रकार पाला हुआ हंस चट्टान पर पटका जाने पर अपने प्राण गँवा बैठता है और जिस सुखके कारण अन्तमें मनुष्यके प्राणोंका भी नाश होता है और उसके पासकी पुण्यकी पूँजी भी समाप्त हो जाती है और तब वे सब सुख स्वप्नके समान नष्ट हो जाते हैं, जिन्हें वह पहलेसे भोगता आता था और तब उसे अपना सर्वस्व गँवाकर केवल कष्ट ही भोगने पड़ते हैं, तात्पर्य यह कि इस प्रकारका जो सुख अन्तमें इस लोकमें भी मनुष्य पर विपत्ति लाता है और परलोकमें भी जो विषके समान सिद्ध होता है, वह सुख राजसी होता है। और इसका कारण यह है कि जहाँ केवल इन्द्रियोंका लालन-पालन करके और धर्मके क्षेत्रका विध्वंस करके केवल विषयोंका सुख भोगा जाता है, वहाँ पातक बहुत बलवान् हो जाते हैं। और फिर वही पातक जीवकी दुर्गति कराते हैं। इस प्रकार जिस सुखसे परलोकमें इतनी हानि होती है और जो उसी विषके समान होता है, जो माहुर (मधुर) कहलाने पर भी अन्तमें प्राणोंका घात करके विष ही सिद्ध होता है और इस प्रकार जो सुख आरम्भमें तो मधुर जान पड़ता है, परन्तु अन्तमें बहुत ही कटु सिद्ध होता है, हे अर्जुन, उस सुखके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिए कि वह रजोगुणका ही बना हुआ है; और इसी लिए उस सुखका कभी अपने साथ स्पर्श भी नहीं होने देना चाहिए।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ;
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

"निषिद्ध पेय वस्तुओंका पान करनेसे, निषिद्ध खाद्य पदार्थ खानेसे और स्वेच्छाचारिणी स्त्रियोंकी संगति करनेसे जो सुख प्राप्त होता है अथवा दूसरोंकी हत्या करके, दूसरोंका धन हरण करके और ओछे आदमियोंकी की हुई स्तुति सुनकर जो सुख प्राप्त होता है, जिस सुखका आलस्यसे पोषण होता है, जो सुख ऊँघने या सोनेमें जान पड़ता है और जिस सुखके आरम्भ तथा अन्तमें जीवको अपने सच्चे मार्गके सम्बन्धमें भ्रम हो जाता है और वह अनुचित मार्गमें लग जाता है, हे भाई अर्जुन, उस सुखको पूर्ण रूपसे तामस समझना चाहिए। परन्तु मैं इस विषयका अधिक विस्तार नहीं करता, क्योंकि इसकी कहानी बिलकुल असभ्य और निन्दनीय है। इस प्रकार सुलका

एक स्वरूप कर्म-फल जो सुख है, वह भी कर्म-भेदके अनुसार त्रिविध हो गया है। और उसका विवेचन मैंने तुम्हारे सामने शास्त्रीय रीतिसे कर दिया है। अब इस विश्वमें छोटी और बड़ी सभी वस्तुओंमें कर्त्ता, कर्म और कर्म-फलको त्रिपुटीके सिवा और कुछ भी नहीं है। और हे अर्जुन, जिस प्रकार वस्त्रमें तन्तु बुने होते हैं, उसी प्रकार इस त्रिपुटीमें तीनों गुण ओत-प्रोत रहते हैं।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥४०॥

"इसी लिए इस मृत्यु लोकमें भी और स्वर्ग-लोकमें भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो मायाके क्षेत्रमें होने पर भी इन सत्व आदि गुणोंसे युक्त न हो। क्या कभी ऊनके बिना कम्बल, मिट्टीके बिना ढेला और पानीके बिना लहर भी उत्पन्न हो सकती है? ठीक इसी प्रकार प्राणियोंका ऐसा स्वरूप ही नहीं है कि बिना गुणोंका कोई अंश हुए सृष्टिकी रचना हो सके। इसलिए तुम यह बात निश्चित रूपसे समझ रखो कि यह सारा विश्व इन तीनों गुणोंसे ही बना है। इन्हीं गुणोंने देवताओंमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन वर्ग किये हैं। इन्होंने स्वर्ग, मर्त्य और नरक इन तीनों लोकोंका निर्माण किया है और इन्होंने चारों वर्णोंके पीछे भिन्न भिन्न कर्मोंका बखेड़ा लगा दिया है।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥४१॥

"अब यदि तुम यह पूछो कि ये चारों वर्ण कौन-से हैं, तो मैं तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो। इनमें ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ हैं। इनके उपरान्त जो क्षत्रिय और वैश्य हैं, उन्हें भी महत्वके विचारसे ब्राह्मणोंके समान ही समझना चाहिए, क्योंकि उन्हें भी वैदिक धर्म-कृत्योंका अधिकार है। हे अर्जुन, चौथा वर्ण शूद्र है। शूद्रोंको वेदोंका अधिकार नहीं है और इसी लिए इनका जीवन उक्त तीनों वर्णों पर अवलम्बित है, परन्तु इन शूद्रोंकी जीवन-वृत्तिका ब्राह्मण आदि त्रैवर्णिकोंके साथ बहुत ही निकट सम्बन्ध रहता है और इसी लिए इनका भी वर्ण-विभागमें समावेश हुआ है, जिससे यह चौथा वर्ण हुआ है। जिस प्रकार फूलोंके साथ साथ श्रीमान् लोग उस धागेको भी अपने गलेमें धारण करते हैं, जिनमें वे फूल गुँथे हुए होते हैं, ठीक उसी प्रकार त्रैवर्णिक द्विजोंके साथ शूद्रोंका भी व्यवहार-सम्बन्ध होनेके कारण श्रुतियोंके लिए वर्ण-संस्थामें शूद्रोंका भी समावेश करना आवश्यक हुआ है। हे अर्जुन, चातुर्वर्ण्यकी संस्थाका यही स्वरूप है। अब मैं इन सबके विहित कर्मोंका स्पष्टीकरण करता हूँ। इन्हीं कर्मोंके गुणोंसे ये चारों वर्ण जन्म और मरणके झगड़ोंसे छूटकर आत्म-स्वरूप प्राप्त करते हैं। प्रकृतिके तीनों गुणोंने ये कर्म चारों वर्णोंको चार प्रकारसे बाँट दिये हैं। जिस प्रकार पिताका एकत्र किया हुआ धन उसके पुत्रोंमें बँट जाता है अथवा सूर्यके प्रकाशमें दिखाई पड़नेवाले मार्ग भिन्न भिन्न दिशाओंमें जानेवाले यात्रियोंमें बँट जाते हैं अथवा जिस प्रकार कोई धनवान् पुरुष अपने सब काम अपने नौकरोंमें बाँट देता है, ठीक उसी प्रकार प्रकृतिके इन गुणोंने भी इन कर्मोंको अलग अलग विभाग करके चारों वर्णोंमें बाँट दिये हैं। इनमेंसे सत्व गुणने अपने आपे

आधे भागसे ब्राह्मणों और क्षत्रियोंको अंकित किया है। सत्व मिश्रित रजोगुण वैश्योंमें रहता है और तमसे भरा हुआ रजोगुण शूद्रोंके हिस्सेमें पड़ा है। हे ज्ञानी अर्जुन, इस प्रकार आरम्भमें जो मानव संघ बिलकुल एक ही स्वरूपवाला था, उसमें इन गुणोंने यह चातुर्वर्णात्मक भेद उत्पन्न किया है। बस यह बात तुम अपने ध्यानमें रखो। फिर जिस प्रकार अँधेरेमें पड़ी हुई वस्तु हमें दीपक दिखलाता है, उसी प्रकार अपने गुणोंसे ढँके हुए कर्म हमें शास्त्र दिखलाता है। भाई भाग्यवान् अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूं कि भिन्न भिन्न वर्णोंके लिए स्वाभाविक और उपयुक्त कर्म कौन-से हैं; सुनो।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

"बुद्धिकी जो इस प्रकार की शान्त स्थिति होती है कि वह समस्त इन्द्रियोंके व्यवहारोंको अपने हाथमें रखकर एकान्त भावसे और धर्म-पत्नीकी भाँति आत्म-तत्वके साथ मिली रहती है, उसको "शम" कहना चाहिए। जितने अच्छे और ठीक कर्म होते हैं, उन सबका आरम्भ इसी शमसे होता है। ऐसे कर्मोंमें "दम" नामका वह दूसरा गुण उस शमका सहायक होता है जिसके कारण स्वधर्मके आचरणपूर्वक समस्त व्यवहार होते हैं। ऐसे कर्मोंमें "तप" नामका वह तीसरा गुण भी दिखाई देता है जिसके द्वारा चित्तमें ईश्वरके विषयमें एकनिष्ठ श्रद्धा उसी प्रकार निरन्तर जाग्रत रहती है, जिस प्रकार छठीवाली रातको इस बातका पूरा पूरा ध्यान रखा जाता है कि प्रसविणीके कमरेका दीपक न बुझने पावे। इसी प्रकार ऐसे कर्मोंमें दोनों तरहका "शौच" अर्थात् निर्मलता भी रहती है। और हे अर्जुन, वह शौच उस गुणका नाम है जिसके कारण मन शुद्ध भावोंसे भरा रहता है और शरीर निर्मल आचरणसे शृङ्गारित रहता है और इस प्रकार सारा जीवन-क्रम अन्दर और बाहर सुन्दर बना रहता है। यह चौथा गुण भी उन कर्मोंमें रहता है। पृथ्वीकी भाँति पूर्ण रूपसे सब कुछ सहन करनेका जो गुण है, हे पार्थ, उसीको "क्षमा" कहते हैं। यह क्षमावाला पाँचवाँ गुण उन कर्मोंमें उसी प्रकार रहता है, जिस प्रकार संगीतमें पंचम स्वर रहता है। यदि प्रवाह टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी नदी सदा सीधी समुद्रकी ओर बहती रहती है और ऊख चाहे अपनी बाढ़के कारण टेढ़ा-तिरछा भी हो तो भी उसमें सब जगह समान रूपसे मिठास भरी रहती है। ठीक इसी प्रकार जीवकी वृत्ति टेढ़ी-तिरछी होने पर भी उसमें पूरी-पूरी सरलता रखनेके गुणको "आर्जव" कहते हैं; और यह आर्जव नामका छठा गुण भी उन कर्मोंमें होता है। माली बहुत अधिक परिश्रम करके वृक्षोंकी जड़में पानी सींचता है; परन्तु फिर भी जिस प्रकार वह यह बात बहुत अच्छी तरह जानता है कि मुझे इन वृक्षोंसे फलकी प्राप्ति होगी और मेरा सारा परिश्रम सार्थक होगा, उसी प्रकार इस प्रकरणमें यह तथ्य अच्छी तरह समझ लेना ही "ज्ञान" कहलाता है कि शास्त्रोंके अनुसार कर्मोंका आचरण करके ईश्वरकी प्राप्ति करना आवश्यक है और ईश्वरकी वह प्राप्ति इस प्रकार हमें अवश्य हो जायगी। और यही ज्ञान उन कर्मोंका सातवाँ गुण होता है। आठवें गुण "विज्ञान" का स्वरूप यह है कि मनुष्य शुद्ध सत्व होकर शास्त्रके ज्ञानकी

सहायतासे अथवा अपने ध्यानके बलसे ईश्वर-तत्वके साथ निस्सन्देह बुद्धिसे सम-रस हो जाय। और यह विज्ञान नामका आठवाँ सुन्दर गुण भी उन कर्मों में रहता है। नवें गुण "आस्तिक्य" का लक्षण यह है कि शास्त्रोंने जितने मार्गोंको योग्य और ठीक बतलाया है, उनमेंसे प्रत्येक मार्गको उसी प्रकार ठीक समझा जाय और आदरपूर्वक मान्य किया जाय, जिस प्रकार प्रजा उस प्रत्येक पदार्थको, जिस पर राजाका नाम अंकित होता है, चलनसार सिक्के के रूपमें सन्तोषपूर्वक स्वीकृत कर लेती है। और यह नवाँ गुण आस्तिक्य भी उन कर्मोंमें होता है। तात्पर्य यह कि ये नौ गुण जिन कर्मों में होते हैं, वही कर्म अच्छे और ठीक होते हैं। इस प्रकार शम आदि नौ गुणोंके रहनेके कारण जो कर्म स्वभावतः निर्दोष होते हैं। उन्हींको ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म समझना चाहिए। जिसे इन नौ रत्नोंका हार मिल जाता है, वह नौ गुणोंके रत्नाकर ही हो जाता है। जिस प्रकार अपने शरीरमेंसे बिना कुछ भी निकाले या अलग किये हुए सूर्य प्रकाश धारण करता है अथवा चम्पाका वृक्ष जिस प्रकार स्वयं अपनी कलियोंसे ही सुशोभित रहता है अथवा चन्द्रमा जिस प्रकार अपनी चाँदनीसे ही प्रकाशमान तथा उज्ज्वल रहता है अथवा चन्दन जिस प्रकार स्वयं अपनी सुगन्धसे ही सुवासित रहता है, उसी प्रकार नौ रत्नोंसे जड़ा हुआ यह नग ब्राह्मणोंका निर्मल भूषण है; और यह आभूषण उतारकर नग्न होनेका कृत्य ब्राह्मणोंका शरीर कभी नहीं करता। हे अर्जुन, अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि क्षत्रियोंके उचित कर्म कौन-से हैं। तुम अपनी सारी बुद्धि और ध्यान लगाकर सुनो।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

"जिस प्रकार अपना तेज प्रकट करनेके समय सूर्य किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं करता अथवा सिंहको शिकार करनेमें किसी सहायककी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार स्वयं अपने ही साहससे और बिना किसीकी सहायताके पराक्रम कर दिखलानेका "शौर्य" नामका जो गुण है, वह गुण जिस कर्म-वृत्तिका सबसे पहला और सर्वश्रेष्ठ गुण है, वही स्वाभाविक क्षात्र-वृत्ति होती है। जिस प्रकार सूर्यके उज्ज्वल प्रकाशके सामने करोड़ों नक्षत्र छिप जाते हैं, परन्तु यदि चन्द्रमाके सहित समस्त नक्षत्र एकत्र हों तो भी उनके द्वारा सूर्यका कभी लोप नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जिस अलौकिक सामर्थ्यके कारण मनुष्य अपने तेजस्वी गुणोंसे सारे संसारको आश्चर्य-चकित कर देता है, परन्तु स्वयं कभी किसी बातसे भ्रान्त नहीं होता, उसी सामर्थ्यको "तेज" कहते हैं। यही दूसरा तेजोगुण उस वृत्तिमें दिखाई देता है। इसी प्रकार उसमें तीसरा गुण "धैर्य" होता है। चाहे आकाश ही क्यों न टूट पड़े, परन्तु फिर भी जिस धैर्य-गुणके कारण बुद्धिकी आँखें भयसे कभी नहीं झपकतीं और मन कभी विचलित नहीं होता, वह धैर्य गुण उस वृत्तिमें दिखाई देता है। और चाहे कितना ही अधिक असीम और विस्तृत जल क्यों न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे दबाकर कमलके पत्ते फैलते हैं और चाहे कोई कितनी ही ऊँचाई पर क्यों न जा पहुँचे, तो भी जिस प्रकार आकाश सदा

उसके ऊपर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार चाहे कैसा ही प्रसंग क्यों न आ पड़े, तो भी, हे अर्जुन, इष्ट-फल देनेवाले कार्य बहुत दक्षतापूर्वक और अचूक प्रवेश करनेको "दक्षत्व" कहते हैं। और यह चौथा गुण दक्षत्व भी उस वृत्तिमें पूर्ण रूपसे दिखाई देता है। खूब डटकर युद्ध करना उस वृत्तिका पाँचवाँ गुण है। जिस प्रकार सूरजमुखीका वृक्ष सदा सूर्यकी ओर ही रहता है, ठीक उसी प्रकार शत्रुके सामने साहसपूर्वक छाती ठोंककर खड़े रहना और जिस प्रकार गर्भवती स्त्री सब तरहके प्रयत्न करके अपने पतिकी शय्या पर पीठ नहीं लगने देती और उस शय्यासे अपनी पीठका लगना बचाती है, ठीक उसी प्रकार समर-भूमिमें शत्रुका सामना होने पर उसे पीठ न दिखलाना उस क्षात्र वृत्तिका पाँचवाँ गुण है; और यह बात, हे भाई गुण-श्रेष्ठ अर्जुन, तुम अच्छी तरह अपने ध्यानमें रखो। जिस प्रकार भक्ति चारों पुरुषार्थोंसे बहुत बढ़-चढ़कर और श्रेष्ठ है, ठीक उसी प्रकार यह गुण भी पहले बतलाये हुए चारों गुणोंसे बढ़-चढ़कर और श्रेष्ठ है। जिस प्रकार अधिक फल-फूल आदि आने पर वृक्ष नीचेकी ओर झुक जाता है अथवा जिस प्रकार पद्म-वन अपनी सुगन्ध चारों तरफ खूब अच्छी तरह फैला देता है अथवा जिस प्रकार चन्द्रमाकी चाँदनी जो चाहे वह जितनी चाहे, उतनी ले सकता है, ठीक उसी प्रकार लेनेवालेको उसकी इच्छाके अनुसार दान देना "दान" कहलाता है; और इस छठे गुण रत्नसे भी वह वृत्ति भूषित रहती है। इसी प्रकार अपनी ही आज्ञा सारे संसारमें मान्य कराने और जिस प्रकार अपने अवयवोंका पोषण करके उन्हें अपने कामके योग्य बनाया जाता है, उसी प्रकार प्रजाका पालन करके और उनके सन्तोषके द्वारा संसारका उपभोग करनेको "ईश्वरभाव" कहते हैं। यह समस्त सामर्थ्योंका समूह और गुणोंका सम्राट् उस वृत्तिका सातवाँ गुण है। इन शौर्य आदि सातों गुणोंसे जो वृत्ति उसी प्रकार पवित्र होती है, जिस प्रकार सप्तर्षियोंसे आकाश शृंगारित होता है, वही स्वाभाविक क्षात्र-वृत्ति होती है। यही क्षत्रियोंके वास्तविक सहज गुण हैं। इन सब गुणोंसे युक्त जो क्षत्रिय होता है, वह मनुष्य नहीं होता, बल्कि सत्त्व रूपी सोनेका मेरु पर्वत ही होता है और इसी लिए वह सातों गुणोंके स्वर्गको सँभाल रखता है। अथवा यह समझना चाहिए कि इन सातों गुणोंसे घिरी हुई यह क्रिया-वृत्ति नहीं है, बल्कि सातों समुद्रोंसे घिरी हुई पृथ्वी ही है और वह वीर उसका उपभोग करता है। अथवा इन सातों गुणोंके प्रवाहोंसे यह क्रिया-रूपी गंगा इस क्षत्रिय रूपी महासागरके अंगों पर मानों विलास करती है। परन्तु इस विषयका बहुत अधिक विस्तार हो चुका। तात्पर्य केवल यही है कि जो कर्म इन शौर्य आदि गुणोंसे अंकित होते हैं, वही क्षत्रिय जातिके स्वाभाविक कर्म हैं। अब हे बुद्धिमान् अर्जुन, मैं तुम्हें स्पष्ट रूपसे यह बतलाता हूँ कि वैश्य जातिके उचित कर्म कौन-से हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ॥
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

"भूमि, बीज, हल और पूँजीके आधार पर यथेष्ट लाभ या प्राप्ति करना, सारांश यह कि खेती-बारी पर निर्वाह करना, गौएँ और भैंसे पालना अथवा सस्ती खरीदी हुई

चीज महँगे भावसे बेचना आदि कार्य, हे अर्जुन, वैश्योंकी वृत्ति हैं। तुम यह समझ रखो कि ये सब कर्म वैश्य जातिकी स्वाभाविक कक्षामें आते हैं। और वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण इन तीनों द्विज वर्णोंकी सेवा करना शूद्रोंका कर्म है। और यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो द्विजोंकी इस सेवाके और आगे शूद्रोंके लिए पैर रखना भी ठीक नहीं है। इस प्रकार चारों वर्णोंके विहित कर्म मैंने तुम्हें बतला दिये हैं।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

"अब हे अर्जुन, जिस प्रकार श्रवण आदि भिन्न भिन्न इन्द्रियोंके लिए शब्द आदि भिन्न भिन्न गुण उपयुक्त होते हैं अथवा मेघोंसे बरसनेवाले वर्षाके जलके लिए जिस प्रकार नदी उपयुक्त पात्र है अथवा नदीके लिए जिस प्रकार समुद्र उपयुक्त है, उसी प्रकार इन चारों वर्णोंके लिए ये सब भिन्न भिन्न कर्म भी उपयुक्त हैं। इसी लिए वर्ण और आश्रमके धर्मके अनुसार जो जो कर्म प्राप्त होते हैं, वे सब गोरे मनुष्यके गोरेपनकी तरह शोभादायक होते हैं। इसी लिए हे अर्जुन, उन स्वाभाविक विहित कर्मोंको शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार करनेमें प्रवृत्त होनेके लिए अपनी बुद्धि अचल रखनी चाहिए। जिस प्रकार स्वयं अपने ही रत्नकी भी रत्न परखनेवालेसे परख करानी पड़ती है, उसी प्रकार अपने कर्म भी शास्त्रोंसे निश्चित कराने पड़ते हैं। दृष्टि तो अपने स्थान पर सदा ठीक तरहसे रहती ही है, परन्तु फिर भी बिना दीपकके उसका कोई उपयोग नहीं होता। अथवा यदि रास्ता ही न मिले तो पैर रहकर भी क्या कर सकते हैं? इसी लिए जाति-धर्मके अनुसार जो हमारा उचित अधिकार हो, वह हमें शास्त्रोंको देखकर निश्चित करना चाहिए। अब हे पार्थ, यदि अपने घरमें अँधेरेमें रखा हुआ खजाना दीपक हमें दिखला दे तो उसे लेनेमें कौन-सी बाधा है? इस प्रकार जो बातें स्वाभाविक रूपसे हमारे हिस्सेमें आई हैं और शास्त्रोंने भी जिनका विधान किया है, अपने उन विहित कर्मोंका जो पुरुष आचरण करता है, जो आलस्य छोड़कर और फलकी इच्छाको दूर हटाकर तन और मनसे उन कर्मोंके आचरणमें लीन हो जाता है, जो अपने कर्माचरणके साथ व्यवस्थित रूपसे ठीक उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार प्रवाहमें मिला हुआ जल बिना और किसी तरफ मुड़े उस प्रवाहके साथ ही साथ बहता चलता है, हे अर्जुन, इस प्रकार जो अपने विहित कर्मोंका आचरण करता है, वह मोक्षके इस पारवाले तट तक आ पहुँचता है। न करनेके योग्य और निषिद्ध कर्मोंके साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं होता और इसी लिए संसारका अपाय उसकी कभी कोई हानि नहीं कर सकता (अर्थात् सांसारिक झगड़े उसके मोक्षके मार्गमें बाधक नहीं होते)। वह कभी कुतूहलसे भी काम्य कर्मोंकी ओर मुड़कर नहीं देखता; और फिर चाहे चन्दनकी ही बेड़ी क्यों न हो, तो भी वह उसमें अपने पैर नहीं फँसाता; क्योंकि चन्दनकी बेड़ी होनेसे ही क्या होता है! आखिर है तो वह बेड़ी ही! वह जो नित्य कर्म करता है, वह भी फलकी सारी इच्छा छोड़कर करता है और वे सब कर्म भी वह ईश्वरके अर्पण करता रहता है और इसी लिए वह

मोक्षकी सीमा तक पहुँच सकता है। इस प्रकार वह इस संसारके शुभ और अशुभ झगड़ोंसे छूट जानेके कारण वैराग्यके मार्गसे मोक्षके द्वार पर आ खड़ा होता है। जो समस्त सौभाग्यकी परिपूर्णता है, जिसमें मोक्षकी प्राप्ति निश्चित है, कर्म-कांडका जिसमें बिलकुल अन्त हो जाता है, जो मोक्षफल देनेकी जिम्मेदारी लेता है और जो पुण्य-कर्म रूपी वृक्षका फल है, उस वैराग्य पर साधक पुरुष भ्रमरकी भाँति अनायास ही और सहज भावसे पैर रखता है। हे अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि यह वैराग्य भाव ऐसा अरुणोदय है जो इस बातकी सूचना देता है कि बहुत जल्दी आत्म-ज्ञानके सूर्यका उदय होनेवाला है; और यही वैराग्य भाव उस साधकको प्राप्त होता है। अथवा यह वैराग्य एक ऐसा अलौकिक अंजन है जिसके लगानेसे आत्म-ज्ञानका गुप्त भंडार अच्छी तरह दिखाई देने लगता और मिल जाता है; और साधक यह अंजन स्वयं ही अपनी आँखोंमें लगा लेता है। इस प्रकार, हे पार्थ, इन विहित कर्मोंका आचरण करनेसे साधकमें मोक्ष प्राप्तिकी पात्रता आती है। हे अर्जुन, वे विहित कर्म ही जीवको आश्रय देनेवाले हैं और इन कर्मोंका आचरण करना ही मेरे परमात्मा-स्वरूपकी सच्ची सेवा है। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पतिके साथ सब प्रकारके सुख भोगती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि जिस प्रकार उसकी सारी तपश्चर्या ही पतिके लिए होती है अथवा जिस प्रकार बालकके लिए माताके सिवा जीवनका और कोई आधार ही नहीं होता और इसलिए उसका सबसे बढ़कर कर्त्तव्य यही होता है कि वह माताकी ही सेवा करे अथवा जिस प्रकार मछली यद्यपि केवल जलके ही विचारसे गंगामें रहती है, तो भी वह गंगाके मार्गसे सागर में पहुँच जाती है और उसे आपसे आप समस्त तीर्थोंके निवास का फल मिल जाता है, उसी प्रकार यदि इस विचारसे विहित कर्मोंका आचरण किया जाय कि इन कर्मोंका आचरण करनेके सिवा हमारे लिए और कोई गति ही नहीं है, तो हमारा सारा भार आपसे आप ईश्वर पर जा पड़ता है। हे अर्जुन, जिसके लिए जो योग्य कर्त्तव्य हैं, वे ईश्वरको ही इष्ट होते हैं और इसी लिए उन कर्मोंका आचरण करनेसे ईश्वर आपसे आप प्राप्त हो जाता है। जो स्त्री किसीके अन्तःकरणकी कसौटी पर ठीक उतरनेके कारण उसकी प्रिय हो जाती है, वह चाहे पहलेकी दासी ही क्यों न रही हो, परन्तु फिर भी वह उसकी स्वामिनी हो जाती है। इसी प्रकार जो पुरुष अपने सिरकी भी परवाह नहीं करता और हर तरहसे अपने स्वामीकी सेवा करता है, उसे स्वामी अपने मस्तक पर उठा लेता है (अर्थात् उसका बहुत अधिक आदर करता है)। जिस सेवामें स्वामीके सब मनोरथ पूरे किये जाते हैं, उसीको सच्ची और उत्कृष्ट सेवा कहते हैं। हे अर्जुन इसके सिवा चाहे और जो सेवा हो, वह केवल बाजारका सौदा ही है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥

"इसलिए यह केवल विहित कर्मोंका आचरण ही नहीं है, बल्कि इसे परमात्माकी मनोगत इच्छाका पालन ही समझना चाहिए। जिससे इस भूत सृष्टिने आकार प्राप्त किया है, जो माया-रूपी धज्जियाँ जोड़कर यह जीव-रूपी गुड़िया बनाता है और तीनों

गुणोंकी बटी हुई अहंकार रूपी डोरीसे उसे नचाता है, जिसने यह सारा विश्व अपने प्रकाशसे दीपककी ज्योतिकी भाँति अन्दर और बाहर व्याप्त कर रखा है, यदि उस सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी विहित कर्माचरणके फूलोंसे पूजा की जाय तो उसे अपरम्पार सन्तोष होता है। जब इस प्रकारकी पूजासे वह परमात्मा सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह उस विहित आचरण करनेवाले भक्तको वैराग्य लाभका प्रसाद देता है। फिर जब उस वैराग्यकी अवस्थामें मनमें केवल उस एक ईश्वरका ध्यान लग जाता है, तब जीवको यह सारा विश्व वमन किए हुए पदार्थकी भाँति घृणित जान पड़ता है। पतिसे वियुक्त होने-वाली स्त्रीके लिए जिस प्रकार पतिकी चिन्ताके कारण जीवन ही निरर्थक हो जाता है, उसी प्रकार उस भक्तको भी सुखके सब विषय दुःख ही दुःख जान पड़ते हैं। इस परोक्ष ज्ञानका इतना अधिक महत्व है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके पहले ही केवल उसके ध्यानसे जीवमें तन्मयता आ जाती है। इसी लिए जो मनुष्य मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा और प्रयत्न करता हो, उसके लिए उचित है कि वह स्वधर्मका आचरण खूब अच्छी तरह करे।

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

"हे अर्जुन, यदि अपना धर्म आचरण करनेमें कठिन भी हो, तो भी इस बातका ध्यान रखना चाहिए कि उसके परिणाम-स्वरूप हमें कैसा अच्छा फल प्राप्त होगा। हे पार्थ, यदि अपने शरीरको नीरोग करनेके लिए केवल कड़ुई नीम ही औषध हो तो उसके कड़ुएपनसे घबरानेसे कैसे काम चलेगा? यदि केलेके वृक्षको फलनेसे पहले देखा जाय और उस पर उस समय फल न दिखाई दें, तब यदि निराश होकर वह वृक्ष ही काट डाला जाय तो इस कृत्यसे भला कौन-सा अच्छा फल प्राप्त हो सकता है? ठीक इसी प्रकार यदि हम स्वधर्मका केवल इसलिए त्याग और तिरस्कार कर दें कि उसका आचरण करना बहुत ही कठिन होता है, तो फिर क्या हम कभी मोक्षका सुख प्राप्त कर सकेंगे? यदि हमारी माता कुछ कुबड़ी हो तो भी उसके जिस प्रेमसे हम जीवित रहते हैं, वह प्रेम कभी कुबड़ा नहीं होता। दूसरी स्त्रियाँ चाहे रम्भासे भी बढ़कर लावण्यवती क्यों न हों, तो भी—मातृ-प्रेमके अभावमें—बालकके लिए वे किस काम-की? जलकी अपेक्षा घीमें बहुत अधिक गुण अवश्य होते हैं, लेकिन फिर भी क्या मछलियाँ कभी घीमें रह सकती हैं? जो पदार्थ सारे संसारके लिए विष होता है, वही पदार्थ उन कीड़ोंके लिए अमृत होता है जो उस पदार्थमें उत्पन्न होकर बढ़ते हैं। और सारे संसारको मीठा लगनेवाला गुड़ विषके उन कीड़ोंके लिए प्राण-घातक होता है। इसी लिए जिसके जो विहित कर्म हैं और जिनका आचरण करनेसे संसारका बन्धन छूटता है, वे कर्म यद्यपि करनेमें कठिन भी हों तो भी उन कर्मोंका अवश्य आचरण करना चाहिये। यदि दूसरोंके आचरण अच्छे जान पड़ें और इसी लिए हम भी वही आचार करने लगें तो ऐसा करना उसी प्रकार अनिष्टकारक है, जिस प्रकार पैरोंके बदले कोई सिरसे चलनेका प्रयत्न करने लगे। इसी लिए हमारे जन्म और स्वभावके अनुसार जो कर्म अपने हिस्सेमें पड़े हों, उन्हीं कर्मोंका जो मनुष्य आचरण करता है,

उसके सम्बन्धमें यह समझ लेना चाहिए कि उसने कर्मोंका बन्धकत्व नष्ट कर डाला। और हे अर्जुन, क्या इसी लिए यह आवश्यक नहीं है कि हमें अपने धर्मका पालन करना चाहिए और दूसरोंके धर्मका त्याग करना चाहिए ? तुम्हीं सोचो कि जब तक आत्म-दर्शन न हो, तब तक कर्मोंका आचरण क्या कभी बन्द हो सकता है ? और चाहे कोई कर्म क्यों न किया जाय, परन्तु उसे करनेका कष्ट सबसे पहले रखा ही रहता है।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥

"यदि सभी कर्मोंके आचरणमें परिश्रम करना ही पड़ता है, तो फिर यदि स्वधर्मके आचरणमें भी परिश्रम और कष्ट होता हो तो इसके लिए स्वधर्मको दोष क्यों दिया जाय ? यदि सरल मार्गसे आदमी चले तो भी पैरोंको कष्ट होता है; और यदि बीहड़ जंगलोंमेंसे होकर चले, तो भी कष्ट होता ही है। चाहे कंकड़-पत्थरोंकी गठरी बाँधकर उठाओ और चाहे खाने-पीनेके सामानकी गठरी उठाओ, बोझ तो दोनोंका ही होता है। परन्तु जो बोझ ढोनेसे प्रवासमें श्रम और शिथिलता दूर करनेमें सहायता मिले, वही बोझ अपने साथ ढोकर ले चलना ठीक होता है। और नहीं तो चाहे अनाज हो और चाहे भूसा हो, दोनोंको ही कूटनेमें समान परिश्रम करना पड़ता है। चाहे कुत्तेका मांस पकाया जाय और चाहे यज्ञके लिए हविष्य अन्न पकाया जाय, दोनोंमें पकानेकी क्रिया एक ही होती है। भाई सुविज्ञ अर्जुन, पानी मथना और दही मथना दोनों एक ही क्रिया हैं। ठीक इसी प्रकार घानीमें चाहे बालू डालकर पेरा जाय और चाहे तिल डालकर पेरा जाय, ये दोनों क्रियाएँ समान ही हैं। हे पार्थ, चाहे वैश्वदेवके लिए अग्नि प्रज्वलित की जाय और चाहे घरमें आग लगानेके लिए, परन्तु धूएँका कष्ट दोनों ही क्रियाओंमें समान रूपसे होता है। यदि धर्मपत्नीका प्रतिपालन करनेमें भी और किसी दुराचारिणी वेश्याका प्रतिपालन करनेमें भी धनका समान ही व्यय होता हो तो फिर वेश्याको अपने पास रखकर बलपूर्वक अपने ऊपर कलंक क्यों लिया जाय ? यदि शत्रुको पीठ दिखाकर पीठ पर खाये हुए घावोंसे भी मृत्यु अवश्य ही होती हो, तो फिर शत्रुके सामने डटकर खड़े रहने और घाव खानेमें और कौन-सी विशेष हानि हो सकती है ? यदि कोई अच्छे कुलकी स्त्री दूसरेके घरमें जाकर आश्रय ले और वहाँ भी उसे डंडोंकी ही मार सहनी पड़े, तो फिर यदि घरमें स्वयं उसका पति मारता हो, तो केवल इस कारणसे पतिको छोड़कर घरसे बाहर जानेमें उसे कौन-सा लाभ हो सकता है ? ठीक इसी प्रकार यदि अपना परम प्रिय कार्य भी बिना कष्ट किये सिद्ध नहीं होता, तो फिर हम किस मुँहसे यह रोना रो सकते हैं कि विहित कर्म करना बहुत कठिन है ? हे अर्जुन, जिस समय अमृतके द्वारा हमारा जीवन अक्षय होता है, यदि उसका थोड़ा-सा अंश प्राप्त करनेके लिए भी हमें अपना सर्वस्व बेंच डालना पड़े, तो भी उसमें क्या बुराई है ? जो विष पीकर हम अपनी हत्या कर सकते हैं और व्यर्थ ही अपने प्राण गँवा सकते हैं, वही विष हम स्वयं दाम देकर क्यों खरीदें और क्यों पीएँ ? ठीक इसी प्रकार इन्द्रियोंको कष्ट देकर और आयुष्यके दिन व्यर्थ गँवाकर हम पापोंका जो संग्रह करते हैं, उसमें दुःखके सिवा और

क्या रखा है ? इसी लिए स्वधर्मका आचरण करना चाहिए। वह हमारा सारा श्रम दूर कर देता है और सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ जो मोक्ष है, उसकी हमें प्राप्ति करा देता है। इसी लिए हे अर्जुन, जिस प्रकार संकटके समय सिद्ध मन्त्र नहीं भूलना चाहिए, उसी प्रकार स्वधर्मके आचरणसे भी हमें कभी घबराना नहीं चाहिए। जिस प्रकार समुद्रके नौकाका परित्याग नहीं करना चाहिए अथवा जिस प्रकार कोई महारोग होने पर दिव्य औषध नहीं छोड़नी चाहिए। उसी प्रकार इस लोकमें बुद्धिसे स्वकर्मका कभी परित्याग नहीं करना चाहिए। हे अर्जुन, इस स्वधर्माचरण रूपी आराधनासे जब परमेश्वर सन्तुष्ट हो जाता है, तब वह उस भक्तमेंसे रजोगुण और तमोगुण निकालकर बिलकुल अलग कर देता है और उसे सत्व गुणके मार्ग पर लगाता है और उसके मनमें ऐसा वैराग्य उत्पन्न करता है, जिसमें आत्म-साधनकी उत्कंठाके कारण उसे ऐहिक और पारलौकिक सुख विषके समान जान पड़ते हैं। जिस वैराग्यके स्पष्ट लक्षण ऊपर (स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ; श्लोक ४५) स्पष्ट शब्दोंमें बतलाये गये हैं, उसी वैराग्यका पद उस पुरुषको प्राप्त होता है। अब मैं तुमको यह बतलाता हूँ कि इस स्थान पर आरूढ़ होने पर वह पुरुष सब अवसरों पर किस प्रकार आचरण करता है और इस प्रकारके आचरणसे उसे क्या लाभ होता है।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

"जिस प्रकार जालमें हवा नहीं बँध सकती, उसी प्रकार वह पुरुष भी इस देह आदिमें किसी तरह नहीं बँध सकता। जब फलोंके पकनेका समय आता है, तब न तो फल ही डालमें लगा रह सकता है और न डाल ही उस फलको पकड़े रह सकती है। ठीक इसी प्रकार इस परिपूर्ण अवस्थामें उस पुरुषका संसार विषयक प्रेम बिलकुल ढीला पड़ जाता और निर्बल हो जाता है। जिस प्रकार कोई यह नहीं कहता कि यह विषका पात्र मेरा ही है और मैं ही इसे पीऊँगा, उसी प्रकार पुत्र, धन सम्पत्ति और स्त्री आदि उसके मनसे उतर जाते हैं और वह कभी इस प्रकारका आग्रह नहीं करता कि ये सब मेरे हैं। तात्पर्य यह कि उसके मनमें विषय-मात्रके प्रति घृणा हो जाती है और उसकी बुद्धि सभी विषयोंसे पीछे हटने और दूर रहने लगती है और हृदयके एकान्त स्थलमें प्रवेश करती है। अब यदि ऐसे पुरुषका मन बाहर भी घूमता है, तो भी उसकी वैराग्य-युक्त बुद्धि एक-निष्ठ दासीकी तरह उससे बिलकुल डरकर सब काम करती है और उसकी आज्ञाका कभी उल्लंघन नहीं करती। इसके सिवा, हे अर्जुन, वह मनको ऐक्य-भावनाकी मुट्ठीमें बन्द करके उसे आत्माके अनुसन्धानमें प्रवृत्त करता है। उस समय ऐहिक और पारलौकिक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उसकी वासना उसी प्रकार दबकर मर जाती है, जिस प्रकार धूल या मिट्टीसे दबी हुई आग मर जाती है। उस समय मनका नियमन करनेके कारण इस प्रकार उसकी सारी वासनाएँ आपसे आप नष्ट हो जाती हैं। वह पुरुष इस प्रकारके लक्षणोंवाली अवस्थाको प्राप्त हो जाता है। हे अर्जुन, वह पुरुष मायाजन्य ज्ञानाभासको छोड़कर और उसका अन्त करके सच्चे ज्ञानके क्षेत्रमें

आकर स्थित हो जाता है। जिस प्रकार इकट्ठा किया हुआ जल काममें लानेसे समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार उसके प्राचीन कर्म भी देह-भोगके द्वारा नष्ट हो जाते हैं और नवीन कर्म करनेमें उसका मन किसी प्रकारकी सहायता नहीं करता। हे वीर-श्रेष्ठ अर्जुन, ऐसी अवस्थाको कर्म-साम्य दशा कहते हैं। फिर इस अवस्थामें उस पुरुषको सद्गुरुके दर्शन बहुत सहजमें हो जाते हैं। जिस प्रकार रात्रिके चार पहर बीतने पर अन्धकारके शत्रु सूर्यके दर्शन नेत्रोंको आपसे आप हो जाते हैं अथवा जिस प्रकार फलोंके बोदके आते ही केलेके वृक्षकी बाढ़ आपसे आप बन्द हो जाती है, उसी प्रकार इस स्थितिमें मुमुक्षुको सद्गुरुके दर्शन आपसे आप हो जाते हैं। फिर हे वीर श्रेष्ठ, जिस प्रकार पूर्णिमाके आने पर चन्द्रमाकी सारी त्रुटि दूर हो जाती है और वह परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार सद्गुरुकी कृपासे वह पुरुष भी परिपूर्ण हो जाता है। फिर उसमें अज्ञानका जो थोड़ा-बहुत अंश बाकी रह जाता है, वह सद्गुरुकी कृपासे नष्ट हो जाता है। फिर जिस प्रकार सूर्योदय होते ही अन्धकार और उसके साथ ही साथ रात्रि भी पूरी तरहसे निर्मूल हो जाती है अथवा जिस प्रकार किसी गर्भिणी स्त्री-पशुका वध करनेसे उसके गर्भमेंका बच्चा भी तत्काल ही मर जाता है, उसी प्रकार अज्ञानके गर्भमें रहनेवाली कर्म, कर्त्ता और कार्यकी त्रिपुटीका भी नाश हो जाता है। इसके उपरान्त अज्ञानका नाश होते ही उसके साथ ही साथ समस्त कर्म-समूह भी नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह संन्यास बिलकुल मूल तक जा पहुँचता है। इस मूलवाले अज्ञानका नाश होनेसे इस नाम-रूपात्मक मायाकी कृतियोंका आधार ही नष्ट हो जाता है और वह पुरुष स्वयं ही ज्ञेय-स्वरूप हो जाता है। जो मनुष्य स्वप्नमें यह देखता है कि मैं किसी दहमें डूब रहा हूँ, क्या वह कभी जागनेके बाद भी अपने आपको डूबनेसे बचाने और उस दहमेंसे बाहर निकलनेके लिए कोई प्रयत्न करता है? अब उसके उस दुःस्वप्नका अन्त हो जाता है, जिसमें वह यह सोचता था कि मेरी समझमें कुछ भी नहीं आता और अब मैं ज्ञान सम्पादन करूँगा। और वह ज्ञाता तथा ज्ञेय वाली भावनाओंसे छूटकर केवल ज्ञान-स्वरूप हो जाता है। हे वीर-श्रेष्ठ पार्थ, जब दर्पण आड़में चला जाता है और उसके साथ उसमें दिखाई पड़नेवाला प्रतिबिम्ब भी आँखोंसे ओझल हो जाता है, तब जिस प्रकार केवल देखनेवाला ही बाकी रह जाता है, उसी प्रकार जो अज्ञान नष्ट हो जाता है, उसके साथ ही साथ ज्ञातृत्व भी लुप्त हो जाता है और तब केवल क्रिया-हीन चैतन्य ही अवशिष्ट रह जाता है। हे अर्जुन, इस चैतन्यमें स्वभावतः ही किसी प्रकारकी क्रिया नहीं हो सकती और इसी लिए इसे "नैष्कर्म्य" कहते हैं। हमारा जो मूल स्वरूप है, वही उस समय हमें प्राप्त हो जाता है और हमारा अज्ञान-जन्य भेद-भाव या भिन्नता नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार हवाके बन्द हो जाने पर तरंग जलमें लीन होकर समुद्र बन जाती है, उसी प्रकार "न होना" या "भिन्नता नष्ट होना" उत्पन्न होता है, और इसीको नैष्कर्म्यकी सिद्धि समझना चाहिए। समस्त सिद्धियोंमें यही सिद्धि सबसे अधिक महत्त्वकी और श्रेष्ठ है। मन्दिरके निर्माणमें जिस प्रकार कलश होता है अथवा नदी जिस प्रकार समुद्रमें प्रवेश करती है अथवा सोनेका चोखापन जिस प्रकार सोलहवाँ कस है,

ठीक उसी प्रकार अज्ञान और ज्ञान दोनोंके नष्ट हो जाने पर इस दशाको पहुँचना है। इस दशामें पहुँचनेके उपरान्त फिर कुछ भी निष्पन्न करनेके लिए बाकी नहीं रह जाता और इसीलिये इसका नाम "परम सिद्धि" है।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥५०॥

"गुरुकी कृपाका उदय होने पर भाग्यवानको इस आत्म-सिद्धिकी प्राप्ति होती है। जिस प्रकार सूर्यके निकलते ही अन्धकार नहीं रह जाता अथवा दीपकके स्पर्शसे कपूर भी दीपक-स्वरूप हो जाता है अथवा जलका स्पर्श होते ही नमकका डला भी जल-स्वरूप हो जाता है अथवा सोये हुए मनुष्यको जाग उठने पर निद्रा और स्वप्न दोनोंका ही नाश हो जाता है और वह तत्काल होशमें आ जाता है, उसी प्रकार गुरुके वचन सुनते ही सौभाग्यवश जिसकी द्वैत बुद्धिका नाश हो जाता है और जिसे ऐक्य रूप आत्म-प्रतीतिमें विश्राम प्राप्त होता है, उसके संबन्धमें क्या कभी कोई यह कह सकता है कि उस पुरुषके लिये अभी और भी कुछ कर्त्तव्य बाकी रह गया है? क्या आकाश भी कभी उत्पन्न हो सकता है अथवा नष्ट हो सकता है? इसी लिए यह बात भी निस्सन्देह ही है कि ऐसे पुरुषके लिए कुछ भी कर्त्तव्य बाकी नहीं रह जाता। परन्तु यह बात प्रत्येक पुरुषके संबन्धमें तत्काल ही नहीं हो जाती। अपने कान और गुरुके वचनका संयोग होते ही हर कोई वस्तु-स्वरूप (अर्थात् आत्म-स्वरूप) की एक दमसे सिद्धि नहीं कर सकता। क्योंकि सामान्यतः विहित कर्माचरणकी अग्निसे यदि काम्य और निषिद्ध कर्मोंका ईंधन जलाकर उसमें रजोगुण और तमोगुण दोनों ही जलाकर राख कर दिये जायँ, पुत्र, द्रव्य और स्वर्ग-सुख आदिके सम्बन्धका लोभ यदि उसी प्रकार पूरी तरहसे अपने वशमें कर लिया जाय, जिस प्रकार कोई दास वशमें किया जाता है, चारों ओर मन-मानी दौड़ लगानेवाली और विषयोंके मलसे मलिन इन्द्रियाँ यदि निग्रहके तीर्थमें धोकर अच्छी तरह निर्मल कर ली गई हों और स्वधर्मके आचरणका फल यदि ईश्वरको अर्पित करके अटल वैराग्य प्राप्त कर लिया गया हो और इस प्रकार यदि वह सारी सामग्री एकत्र कर ली गई हो जिसकी आत्म-साक्षात्कारके समय ज्ञानके उत्कर्षके लिए आवश्यकता होती है और ऐसे ही अवसर पर यदि सद्गुरुसे भेंट हो जाय और वे भी बिना किसी प्रकारका संकोच किये स्पष्ट रूपसे आत्म-बोधका उपदेश करें, तो भी हमें यह सोचना चाहिए कि क्या औषध खाते ही हमारे शरीरके रोग सम्बन्धी विकार तुरन्त ही दूर हो जाते हैं और हमारा शरीर एक-दमसे स्वस्थ हो जाता है? अथवा क्या दिन निकलते ही कभी मध्याह्न हो सकता है? यदि उपजाऊ और तर जमीनमें अच्छे बीज बोये जायँ तो अवश्य ही बहुत अच्छी फसल पैदा होती है; परन्तु वह भी कब? जब उसका उपयुक्त समय आता है और जब फसल पैदा होनेके दिन आते हैं, तब। यदि मार्ग बिलकुल सुगम, सरल और स्वच्छ हो और संग साथ-भी अच्छा मिल जाय, तो हम सहजमें ही अपने इष्ट स्थान तक पहुँच जाते हैं। परन्तु फिर भी इष्ट स्थान तक पहुँचनेके लिए उक्त दोनों बातोंके सिवा समयकी भी आवश्यकता

होती ही है। ठीक इसी प्रकार जब मनमें पूरी तरहसे वैराग्य समा जाता है, तिस पर सद्गुरुके भी दर्शन होते हैं और अन्तःकरणमें आत्म और अनात्मके विवेकका अंकुर भी जोरोंसे फूटता है और इस विवेकके कारण जब इस प्रकारका निश्चित अनुभव हो जाता है कि "एक मात्र ब्रह्म ही सत्य वस्तु है और बाकी जो कुछ है, वह सब माया-जनित मोह-जाल है", तभी वह पुरुष काल-क्रमसे उन ब्रह्म-तत्वमें सम-रस होकर ब्रह्मत्व-वाली स्थितिको पहुँचता है जो ब्रह्म-तत्व या परब्रह्म सर्वव्यापी और सर्वश्रेष्ठ है, जिसमें मोक्षका कार्य समाप्त होता है, जो ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञानवाली त्रिपुटीको निगल जाता है, जो अन्तमें ज्ञानकी सारी क्रियायें भी बन्द कर देता है, जिसमें ऐक्यकी एकता परिपूर्णता होती है जिसमें आनन्दका अणु-रेणु भी विलीन हो जाता है और जो अन्तमें केवल ऐसा शून्य स्वरूप बन रहता है, जो कुछ भी नहीं होता। जिस प्रकार भूखे मनुष्यके सामने षट्रस भोजन परोसने पर प्रत्येक ग्रासमें उसका समाधान होता है, उसी प्रकार ज्योंही वैराग्यकी सहायतासे विवेकका दीपक प्रज्वलित होता है, त्योंही आत्म-स्वरूपका गुप्त भांडार उसके लिये खुल जाता है। तथापि जो मनुष्य इतनी अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है कि आत्म-स्वरूपके वैभवका प्रत्यक्ष भोग कर सके, वह उस ब्रह्म शान्तिकी योग्यता तक जिस क्रमसे पहुँचता है, उसके लक्षण अब मैं तुमको बतलाता हूँ, सुनो।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

"गुरुके दिखलाये हुए मार्गसे चलकर वह विवेक रूपी तीर्थ पर जा पहुँचता है और वहाँ अपनी बुद्धिका सारा मल बहुत अच्छी तरह धो डालता है। फिर जिस प्रकार राहुके मुखसे छूटी हुई कान्ति आकर चन्द्रमाका आलिंगन करती है, उसी प्रकार उस पुरुषकी निर्मल हो जानेवाली बुद्धि आत्म-स्वरूपके साथ जाकर मिल जाती है। जिस प्रकार पतिव्रता स्त्री अपनी ससुराल और मायका दोनों ही छोड़कर केवल अपने पतिका ही अनुसरण करती है, उसी प्रकार उसकी बुद्धि भी सुख-दुःख आदिके द्वन्द्वोंको छोड़-कर केवल आत्म-स्वरूपके चिन्तनमें लीन हो जाती है। और इन्द्रियाँ जिन शब्द और स्पर्श आदि पाँचों विषयोंका महत्व बढ़ा रखती है, वे पाँचों विषय ज्ञानका मूल तत्व प्राप्त करनेकी आशासे किये जानेवाले इन्द्रिय-निरोधके कारण उसी प्रकार विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्यकी किरणोंके न रह जाने पर मृग-जलका भी लोप हो जाता है। जिस प्रकार अनजानमें किसी नीचका खाया हुआ अन्न वमन करके अपने पेटसे निकाल देना चाहिए, उसी प्रकार वह पुरुष विषय और विषय-वासनाको भी इन्द्रियोंसे वमन करा देता है। फिर उन इन्द्रियोंको अन्तर्मुख वृत्तिसे पवित्र तट पर लाकर और उनसे उपयुक्त प्रायश्चित्त कराके वह उन्हें निर्मल कर देता है। इसके उपरान्त सत्व-सम्पन्न धैर्यसे वह उन इन्द्रियोंको शुद्ध करता है और योग-साधनके द्वारा उन्हें मनके साथ मिलाकर बिलकुल एक कर देता है। अपने प्राचीन कर्मोंके अनुसार उसे इस जन्मसे जो इष्ट और अनिष्ट भोग भोगने पड़ते हैं, उनमें यदि कुछ खराबी या कष्ट दिखाई

देता है, तो भी उसके लिए वह अपने मनमें विषाद या राग नहीं करता। अथवा यदि कभी उन भोगोंमें कोई अच्छी या सुखकर बात भी दिखाई देती है, तो भी वह उनके आनन्दके लोभमें नहीं फँसता। इस प्रकार, हे अर्जुन, वह पुरुष अच्छी बुरी बातोंके सम्बन्धमें लोभ और क्षोभ दोनों ही छोड़कर पर्वतों आदिकी शीतल गुफाओंमें जाकर निवास करने लगता है।

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

'वह मनुष्यका भीड़-भाड़वाला स्थान छोड़कर केवल अपने शरीरके अवयवोंकी संगतिमें ही जंगलमें निवास करता है। उसके सारे खेल शम, दम आदिके ही साथ होते हैं। मौन ही उसका भाषण होता है और सदा गुरुके वचनोंके चिन्तनमें लगे रहनेके कारण उसे समयका भी ध्यान नहीं रह जाता। भोजन करनेके समय उसके मनमें न तो इसी बातका विचार रहता है कि इससे मेरे अंग पुष्ट होकर बलवान हों, न वह यही सोचता है कि इससे मेरी भूख शान्त हो और न यही चाहता है कि मेरी जीभको ही कुछ स्वाद मिले। नपे-तुले और नियमित आहारसे उसे जो सन्तोष होता है, उसकी नाप-जोख ही नहीं की जा सकती। वह केवल यही सोचकर बहुत थोड़ा-सा अन्न सेवन करता है कि खाये हुए अन्नकी उष्णतासे मेरे क्षीण प्राण बचे रहें। जिस प्रकार पतिके अतिरिक्त किसी अन्य पुरुषके इच्छा दिखलाने पर कुलीन स्त्री उसकी ओर टेढ़े मनसे भी प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार वह भी निद्रा और आलस्यके आसनोंको मान नहीं देता (अर्थात् निद्रा और आलस्यके वशीभूत नहीं होता)। दंडवत् या साष्टांग नमस्कार करनेके समय तो उसके अंग अवश्य भूमिके साथ लगते हैं, परन्तु उस प्रसंगके अतिरिक्त और कभी वह भूमि पर लेटनेका अविचार नहीं करता। वह केवल उतना ही हाथ-पैर चलाता है, जितना शरीरके व्यवहारके लिए परम आवश्यक होता है। तात्पर्य यह कि वह अपने शरीरका अन्दर और बाहर सब कुछ अपने ही अधिकारमें रखता है। और हे भाई वीर अर्जुन, वह अपने अन्तःकरणकी वृत्तिको मनकी देहलीज भी नहीं देखने देता (अर्थात् अन्तःकरणको मनसे बहुत दूर रखता है); तो फिर उस देहलीजको लाँघकर उसके मन तक पहुँचनेका तो कोई जिक्र ही नहीं है। फिर भला ऐसी अवस्थामें मनके विचार शब्दोंमें उच्चारण करनेका अवकाश ही कहाँ रह जाता है ? इस प्रकार वह शरीर, वाणी और मन आदि आस-पासके इन सब पदार्थों पर विजय प्राप्त करके ध्यान-रूपी आकाश पर ही हाथ डालता है। सद्गुरुके वाक्योंके कारण उसका जो आत्म-बोध जाग्रत हो जाता है, उसके सम्बन्धका अपना निश्चय वह निरन्तर दर्पणके समान अपने सामने रखकर उसे देखा करता है। यह ठीक है कि वह स्वयं ध्यान करता है और ध्याता होता है, परन्तु उसके अन्तःकरण-की वृत्तिमें ध्यान भी ध्येयमें मिलकर उसके साथ एक-रूप हो जाता है। हे अर्जुन, उसके ध्यान करनेकी यह पद्धति तुम ध्यानमें रखो। फिर जब तक ध्येय, ध्यान और ध्याताकी त्रिपुटी मिलकर एक नहीं हो जाती, तब तक उसका ध्यान बराबर चलता

रहता है। इसी लिए ऐसा मुमुक्षु जीव आत्म-ज्ञान में पटु हो जाता है; परन्तु उसके द्वारा ये सब बातें इसी लिए होती हैं कि वह योगाभ्यासको अपनी ओर सब बातोंसे आगे रखता और महत्व देता है। गुद-द्वार और मूत्र-द्वारके बीचवाली सीवनको पैरोंसे अच्छी तरह दबाकर वह मूलबन्ध बाँधता है। वह नीचेवाले भागको संकुचित करके और गुद-स्थानके मूलबन्ध, नाभिचक्रके उड्डीयान बन्ध और कंठ-स्थानके जालन्धर बन्ध तीनोंको साधना करके भिन्न भिन्न वायुओंको बिलकुल एक समान कर लेता है। फिर कुंडलिनीको जगाकर और मध्यमा अर्थात् सुषुम्नाका मार्ग खुला और विस्तृत करके और आधार चक्रसे अग्नि चक्र तकके समस्त चक्रोंको भेदकर अन्तवाले सातवें चक्रको भेदता है जिससे ब्रह्मरन्ध्रमेंके सहस्र-दल कमलमेंसे अमृतकी वृष्टि होने लगती है और उस अमृतका प्रवाह गुद-स्थानके मूलबन्ध तक पहुँचा देता है। फिर ब्रह्मरन्ध्रके कैलास पर तांडव करनेवाले चैतन्य-रूपी भैरवके खप्परमें मन और प्राण-वायुकी खिचड़ी भर देता है और इस प्रकार सिद्ध किये हुए योगकी अच्छी और बड़ी सेना अपने आगेकी ओर रखकर पीछेकी ओर वह अपने ध्यानका किला खूब अच्छी तरह मजबूत करता है। ध्यान और योग दोनोंको आत्म-तत्त्वके ज्ञानमें निर्विघ्नतापूर्वक स्थिर रखनेके लिए वह पहलेसे ही वैराग्य सरीखे मित्रके साथ मित्रता कर रखता है। ऊपर जो सब स्थान बतलाये गये हैं, उन स्थानोंको पार करनेमें यह वैराग्य-रूपी मित्र उसकी बहुत सहायता करता है और सदा उसके साथ ही रहता है। दृष्टिकी जहाँ तक पहुँच है, वहाँ तक यदि दृष्टि और दीपकका वियोग न हो (अर्थात् वहाँ तक दृष्टिके साथ ही साथ प्रकाश भी पहुँचता हो) तो फिर अभीष्ट वस्तुके दिखाई देनेमें भला किस बातका विलम्ब हो सकता है? ठीक इसी प्रकार जब जीवको मुमुक्षता प्राप्त हो जाती है, तब उसकी अन्तःकरण वृत्ति ब्रह्म-तत्वमें लीन हो जाती है; और यदि उस अवस्था तक उसका वैराग्य बना रहे, तो फिर ब्रह्मके साथ होनेवाली उसकी एकता कहाँसे भंग हो सकती है? तात्पर्य यह कि जिस भाग्यवान्से वैराग्य-युक्त योगाभ्यास सध जाता है, वही आत्म-प्राप्तिका पात्र सिद्ध होता है। वैराग्यका ऐसा अभेद्य कवच अपने अंग पर डालकर वह राजयोगके घोड़े पर सवारी करता है और रास्तेमें जो छोटे-बड़े विघ्न उसे दिखाई देते हैं, उनके धड़ाधड़ टुकड़े उड़ानेवाले ध्यानकी खूब तेज धारवाली तलवार वह अपने विवेकी मुट्ठीमें खूब कसकर पकड़ लेता है। इस प्रकार ठाठसे वह संसारके रण-क्षेत्रमें उसी प्रकार आगे बढ़ता जाता है, जिस प्रकार अँधेरेमें सूर्य बढ़ता जाता है; और अन्तमें मोक्षकी विजय-लक्ष्मी उसके गलेमें जयमाल डालती है।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

"इस विजय-यात्रामें जो दुष्ट शत्रु बाधक होते हैं और जिन्हें यह वीर योद्धा परास्त करता है, उनमेंसे मुख्य शत्रु देहका "अहंकार" है। यह अहंकार ऐसा दुष्ट शत्रु है, जो न तो मनुष्यको मर जाने पर ही छोड़ता है और न जन्म लेने पर ही सुखसे जीने देता है और हड्डियोंके इस ढाँचेमें ही जीवको फँसाकर उसे कष्ट देता रहता है। उस

अहंकारका मुख्य आधार और आश्रय-स्थल यही देह-रूपी दुर्ग है। और उसके इसी दुर्ग पर आक्रमण करके वह वीर योद्धा उसे धूलमें मिलाता है। उसका दूसरा शत्रु "बल" होता है और उसके भी वह प्राण ले लेता है। विषयोंका नाम आते ही यह शत्रु चौगुनेसे भी अधिक आवेगसे उठ खड़ा होता है और इसके कारण मानों सारे जगत्को ग्रसनेके लिए मृत्यु दौड़कर आ पहुँचती है। इसे विषय-रूपी विषकी बाढ़ ही समझना चाहिये। समस्त दोषों पर इसीका साम्राज्य रहता है। परन्तु ध्यान-रूपी तलवारका वार भला वह कैसे सहन कर सकता है? जो जो विषय मधुर लगते और सुखकर जान पड़ते हैं, उन्हींका बुरका ओढ़कर जो मनुष्यके शरीर पर आक्रमण करता है, जो मनुष्यको बहकाकर सन्मार्गसे दूर ले जाता है और प्रवासी जीवोंको अधर्मके जंगलमें ले जाकर नरक-रूपी बाघोंके मुँहमें डाल देता है, वह विश्वसनीय बनकर मारनेवाला शत्रु "दर्प" है और यह वीर योद्धा उस दर्पका भी नाश करता है। इसी प्रकार बड़े बड़े तपस्वी भी जिससे भयभीत रहते हैं, क्रोध सरीखा महादोष जिससे उत्पन्न होता है और जिसका यह स्वभाव है कि ज्यों ज्यों उसकी पूर्ति की जाय, त्यों त्यों वह खाली होता जाता है और जितना ही उसका पोषण किया जाय, उतना ही वह उग्र रूप धारण करता जाता है, उस "काम" नामक शत्रुका भी वह वीर सर्वनाश कर डालता है; क्योंकि उसका सर्वनाश करते ही "क्रोध" नामक शत्रुका सर्वनाश आपसे आप हो जाता है। जिस प्रकार जड़ काटना ही शाखाओंके काटनेके समान होता है, उसी प्रकार कामका नाश कर डालनेसे क्रोधका भी आपसे आप नाश हो जाता है। इसी लिए जहाँ काम कैद कर दिया जाता है, वहाँ क्रोधका नाच भी अवश्य ही बन्द हो जाता है। जिस प्रकार कोई सत्ताधारी पुरुष अपना भार दूसरेके सिर पर बलपूर्वक लादनेसे नहीं चूकता, उसी प्रकार जिस परिग्रहका स्वीकार करनेसे उसका अत्याचार बराबर ही बढ़ता जाता है, जो सिर पर चढ़कर बैठता है, मनुष्यमें अनेक प्रकारके दुर्गुण उत्पन्न करता है और जीवको ममताकी लाठी पकड़कर चलनेके लिए विवश करता है, जिस परिग्रहने शिष्यों और शास्त्रों आदिका आडम्बर रचकर और मठ-मुद्रा आदिके ढोंग खड़े करके संन्यासियों तकको अपने जालमें फँसा लिया है, जो घरमें कुटुम्बके रूपमें साथ लग जाता है और जंगलमें जो वन्य रूपमें सदा सामने खड़ा रहता है, जो नंगे शरीरोंका भी पीछा नहीं छोड़ता, उस परिग्रह नामक अजेय शत्रुका आश्रय-स्थल भी वह वीर नष्ट कर डालता है और संसार पर विजय प्राप्त करनेका आनन्द भोगता है। इसी लिए ज्ञान-गुणके अमानित्व आदि जो समूह हैं, वे मानों कैवल्यके प्रदेशोंके राजाओंके रूपमें आकर उसके सामने उपस्थित होते हैं और तब शुद्ध सत्य ज्ञानका स्वामित्व उसे अर्पित करके वे स्वयं उसके परिवारमें एक सामान्य कर्मचारी बनकर रहते हैं। फिर जब प्रवृत्तिके राजमार्गसे होकर उस वीरकी सवारी निकलती है, तब जाग्रति, स्वप्न, और सुषुप्ति नवीन तीनों स्त्रियाँ पग पग पर उसके ऊपरसे सुखका राई-नोन उतारती चलती हैं। उसके आगे आगे ब्रह्म-बोध रूपी चोबदार विवेक समस्त मायिक प्रसारकी भीड़-भाड़ दूर हटाता

हुआ चलता है और योगावस्था हाथमें पंच-आरती लेकर उसकी आरती उतारनेके लिए आती है। उस अवसर पर ऋद्धि-सिद्धियोंके भी समुदाय आ पहुँचते हैं और उनकी की हुई पुष्प-वृष्टिसे मानों उस वीरका स्नान होता है। इस प्रकार ब्रह्मैक्यका स्वराज्य बिलकुल समीप आ जानेके कारण उसे तीनों लोक आनन्दसे भरे हुए दिखाई देते हैं। फिर हे अर्जुन, एकजात सम-अवस्थाके कारण उस पुरुषके लिए कोई ऐसी बात रह ही नहीं जाती, जिसके कारण वह यह कह सकता हो कि अमुक व्यक्ति मेरा शत्रु है अथवा अमुक व्यक्ति मेरा मित्र है। केवल यही नहीं, यदि किसी निमित्तसे किसी अवसर पर उसके मुँहसे "मेरा" शब्द निकल भी जाय तो भी उसके सामने दुजायगीका भाव रह ही नहीं जाता; क्योंकि वह केवल एक-स्वरूप हो चुका होता है। हे अर्जुन, इस प्रकार वह केवल एक भावसे सारे विश्वको भर देता है और इसी लिए संकुचित वृत्तिकी ममता कभी उसे स्पर्श भी नहीं करती और वह उसका पूर्ण रूपसे परित्याग कर देता है। जब इस प्रकार वह वीर पुरुष अपने समस्त शत्रुओंका नाश कर डालता है और समस्त मायिक प्रसारका भी अन्त कर देता है, तब उसका योग-रूपी घोड़ा आपसे आप स्थिर हो जाता है। पहले उसने अपने शरीर पर वैराग्यका जो भारी और दृढ़ कवच खूब कसकर पहन रखा था, उसे भी अब वह कुछ शिथिल कर देता है। वह अपना ध्यान-रूपी शस्त्र भी रख देता है। उस समय उसके सामने आत्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता और इसी लिए वह वृत्तिका भी हाथ खींच लेता है। रसायन औषध अपना सब काम तो पूरा पूरा और ठीक तरहसे करती है। लेकिन रोगी उसका सेवन करता है, इसलिए वह स्वयं भी समाप्त हो जाती है। ठीक वही बात इस सम्बन्धमें भी होती है। जिस प्रकार ठहरनेका पड़ाव देखकर तेजीसे चलनेवाले पैर भी एक दमसे रुक जाते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मका सान्निध्य हो जानेके कारण उसके अभ्यासका वेग भी कम हो जाता है। जिस प्रकार महासागरके साथ मिलनेके समय नदीका वेग कम हो जाता है अथवा पतिके साथ भेंट होने पर जिस प्रकार कामुक स्त्री शान्त हो जाती है अथवा फल लगने पर केलेके वृक्षकी बाढ़ बन्द हो जाती है अथवा रास्ता जिस प्रकार किसी गाँव या नगरमें पहुँचने पर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार आत्म-साक्षात्कारका प्रत्यक्ष अनुभव होने पर वह पुरुष साधनके सब हथियार भी धीरे धीरे निकालकर नीचे रख देता है। हे अर्जुन, ब्रह्मके साथ उसकी एकता हो जाती है और इसलिए धीरे धीरे उसके साधनके उपायोंका भी अन्त होने लगता है। हे भाई भाग्यशाली अर्जुन, उस समय उस पुरुषके अंगमें उस शान्तिका पूर्ण रूपसे संचार हो जाता है जो वैराग्य-संस्कारकी पूर्ति करनेवाला गोधूलीका समय अथवा ज्ञानके अभ्यासका अन्त अथवा योग-फलके परिपाककी अवस्था है; और तब वह पुरुष प्रत्यक्ष ब्रह्म होनेका पात्र हो जाता है। पूर्णिमाकी चन्द्र कलासे शुद्ध चतुर्दशीकी चन्द्र-कला जितनी कम होती है अथवा सोनेके सोलहवें कसकी अपेक्षा पन्द्रहवाँ कस जितना हलका और हीन होता है अथवा समुद्रमें नदीका जितना पानी प्रवेश करता है, केवल उतना ही पानी नदी का चंचल रूप दिखलाता है; और बाकीका पानी जिस प्रकार समुद्रका ही

शान्त स्वरूप प्रकट करता है, ठीक उसी प्रकारका कमी और बेशीवाला सम्बन्ध "ब्रह्म" और "ब्रह्म-स्वरूप होनेवाले सिद्ध" में होता है। और इस शान्तिवाले गुणसे वह थोड़े समयमें केवल ब्रह्म ही हो जाता है। परन्तु इस प्रकार प्रत्यक्ष ब्रह्म न होने पर भी ब्रह्मत्वका जो अनुभव पुरुषको होता है, उसी अनुभवको "ब्रह्म-स्वरूप होनेकी पात्रता" कहते हैं।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥

"फिर हे अर्जुन, जब पुरुषमें ब्रह्म स्वरूप होनेकी यह पात्रता आ जाती है, तब वह पुरुष चित्तकी उस प्रसन्नताके आसन पर प्रतिष्ठित होता है, जो ब्रह्म-बोधके कारण होती है। जिस उष्णताके कारण अन्न पकता है वही उष्णता जब पकाये हुए अन्नमेंसे निकल जाती है, तब वह अन्न खानेसे समाधान कारक होता है। वर्षा-ऋतुमें जो बाढ़ आती है, उसके सब बखेड़े दूर करके शरद्-ऋतुमें नदी शान्त हो जाती है; अथवा जब गाना खतम हो जाता है, तब संगीतके पखावज आदि उपांग भी आपसे आप बन्द हो जाते हैं। ठीक इसी प्रकार आत्म-बोधकी प्राप्ति करनेके लिए जो उद्योग होता रहता है, आत्म-बोध होते ही उस सारे उद्योगका अन्त हो जाता है। इस शान्त और प्रसन्न अवस्थाको "आत्म-बोध-प्रशस्ति" कहते हैं। अब उस पुरुषको यही प्रसन्नतावाली अवस्था प्राप्त होती है। उस समय ब्रह्म-साम्यकी भरती हो चुकी होती है, इसलिए यदि उस समय उसकी कोई वस्तु खो जाय, तो उसे कुछ भी दुःख नहीं होता; और यदि उसे कोई वस्तु प्राप्त होनेको हो, तो उसके लिए वह कोई प्रयत्न भी नहीं करता। इन दोनोंमेंसे एक भी बात उस पुरुषके किये हो ही नहीं सकती। जिस प्रकार सूर्यके उदित होते ही समस्त नक्षत्र अपनी प्रभा गँवा बैठते हैं, उसी प्रकार आत्म-स्वरूपके अनुभवका संचार होते ही, हे अर्जुन, वह पुरुष जिस तरफ देखता है, उस तरफ उसके लिए मानों इस भेद-भावात्मक भूत सृष्टिका अन्त ही हो जाता है। जिस प्रकार धूल पर लिखे हुए अक्षर केवल हाथसे पोंछकर मिटाये जा सकते हैं, उसी प्रकार उसकी दृष्टि पड़ते ही सारा भेद-भाव नष्ट हो जाता है। फिर जाग्रति और स्वप्न दोनों अवस्थाओंमें जो विपरीत तथा असत्य ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे दोनों अव्यक्तमें अर्थात् मूल अज्ञानमें लुप्त हो जाते हैं। और फिर वह मूल अज्ञान भी ब्रह्म-बोधकी वृद्धिके कारण घटता घटता अन्तमें पूर्ण बोधमें समा जाता है। जिस प्रकार भोजन करनेके समय प्रत्येक ग्रासके साथ भूख थोड़ी थोड़ी कम होती जाती है और पूर्ण तृप्ति होने पर सारी भूख मिट जाती है अथवा ज्यों ज्यों आदमी रास्ता चलता है, त्यों त्यों रास्तेकी लम्बाई या दूरी कम होती जाती है, और अन्तमें उद्दिष्ट स्थान तक पहुँचने पर रास्ता बिलकुल खतम हो जाता है अथवा ज्यों ज्यों जाग्रति बढ़ती जाती है, त्यों त्यों निद्राका नाश होता जाता है और पूरी तरह जाग जाने पर निद्रा बिलकुल रह ही नहीं जाती अथवा जिस प्रकार पूर्णिमाके दिन चन्द्रमाकी कलाएँ पूर्ण हो जाने पर उसके बिम्बकी वृद्धिका अन्त हो जाता है और उसी दिनसे शुक्ल पक्षका भी अन्त हो जाता है, उसी प्रकार जब जाननेके समस्त विषयोंका अस्तित्व मिटाकर जाननेवाला अपने साथ ज्ञानको लेकर मेरे स्वरूपमें

मिलकर सम-रस हो जाता है, उसी समय अज्ञानकी पूर्ण रूपसे इति-श्री हो जाती है। फिर जिस प्रकार कल्पान्तके समय नदी और समुद्र आदि सबके आकार नष्ट हो जाते हैं और सारा ब्रह्मांड समान रूपसे जल-मय हो जाता है अथवा जिस प्रकार घट और मठ आदि आकारोंके नष्ट हो जाने पर सब जगह समान रूपसे भेद हीन आकाश बचा रह जाता है अथवा जिस प्रकार लकड़ीके जल जाने पर केवल अग्नि बची रहती है अथवा जिस प्रकार सुनारकी घरियामें पड़ने पर और अलंकारका आकार नष्ट हो जाने पर सोनेके लिए नामरूप आदिवाला भेद-भाव प्रयुक्त नहीं हो सकता अथवा यदि और दृष्टान्त देना हो तो जिस प्रकार जाग उठने पर और स्वप्नके न रह जाने पर केवल हम्हीं हम बाकी रह जाते हैं, ठीक उसी प्रकार वह मेरे सिवा और किसीको नहीं देखता या पहचानता; यहाँ तक कि स्वयं अपने आपको भी वह नहीं देखता या पहचानता। इस प्रकार उसके द्वारा मेरी चौथी भक्ति होती है। आर्त्त (अर्थात् दुःखोंसे पीड़ित), जिज्ञासु (अर्थात् ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा रखनेवाले) और अर्थार्थी (अर्थात् द्रव्यकी इच्छा रखनेवाले) भक्त जिन मार्गोंसे मेरी भक्ति करते हैं, वे तीनों मार्ग इससे भिन्न हैं और इसी लिए मैं इस ज्ञान-भक्तिको चौथी भक्ति कहता हूँ। और नहीं तो यदि वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो न यह भक्ति तीसरी ही है और न चौथी ही है, न पहली ही है और न अन्तिम ही है। यह भक्ति तो वास्तवमें मेरी स्वाभाविक अवस्था है। हे अर्जुन, मेरा जो वह स्वाभाविक प्रकाश है, जो उस अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश करता है, जो लोगोंके मनमें मेरे सम्बन्धमें होता है, जिसकी सहायतासे लोगोंको सहजमें मेरा वास्तविक स्वरूप दिखाई देने लगता है, जो सब लोगोंको सबके भजनमें प्रवृत्त करके उन्हें पूरा और वास्तविक ज्ञान करा देता है, और जिस प्रकाशका यह चमत्कार होता है कि जो जहाँ बैठकर देखता है, वह वहीं श्रद्धापूर्वक बैठा हुआ सब कुछ देखता है, जिस प्रकाशकी सहायतासे विश्वका भाव अथवा अभाव उसी प्रकार भासमान होता है, जिस प्रकार स्वप्नका दिखाई देना अथवा न दिखाई देना स्वयं देखनेवालेके अस्तित्व पर अवलम्बित रहता है उसी प्रकाशको भक्ति कहते हैं। इसी लिए जो लोग आर्त्त (अर्थात् पीड़ित) होते हैं, उनमें यह भक्ति आर्ति (अर्थात् पीड़ा) के रूपमें निवास करती है और उस पीड़ाके निवारणके लिए जो कुछ अपेक्षित होता है, उसीके अनुरूप वह भक्त मेरी कल्पना करता है (अर्थात् वह मुझे ऐसी अपेक्षित वस्तु समझता है, जिससे उसकी पीड़ाका निवारण होता है)। हे वीरश्रेष्ठ अर्जुन, जिज्ञासु अर्थात् ज्ञानकी इच्छा रखनेवाले पुरुषमें वही भक्ति जिज्ञासा अर्थात् ज्ञानकी लालसाके रूपमें निवास करती है; और यही भक्ति उसे मेरे दर्शन ऐसे रूपमें कराती है कि वह मुझको ही अपनी जिज्ञासाका विषय समझता है। मैं उसके लिए जिज्ञासाका विषय बन जाता हूँ। अर्थी भक्तमें यही भक्ति अर्थकी इच्छाका रूप धारण कर लेती है; और, हे अर्जुन, उसकी वह भक्ति मुझे ही अर्थका रूप देती है जिससे वह मेरा ही नाम "अर्थ" रख लेता है। इसी प्रकार मेरी जो भक्ति अज्ञानका आश्रय लेकर रहती है, वह द्रष्टा अर्थात् देखनेवालेको इस प्रकारकी शक्ति देती है जिससे वह मुझको

ही दृश्य (अर्थात् देखनेका विषय) समझता है। इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इस प्रकार मुखको मुख ही दिखाई देता है, परन्तु उसमें जो भेद-भाव उत्पन्न होता है, उसका दर्पण होता है। दृष्टिको यदि एक चन्द्रमा दिखाई दे तो वह ठीक ही है। परन्तु एकके जो दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वह तिमिर नामक नेत्र-रोगके कारण होते हैं और वह दूसरा चन्द्रमा कृत्रिम होता है। ठीक इसी प्रकार सब जगह सब भक्त इस भक्तिके कारण मेरा ही ग्रहण करते हैं; परन्तु मुझमें वे लोग जो व्यर्थके दृश्यत्वकी कल्पना करते हैं, वह केवल अज्ञानके कारण करते हैं। जब वह अज्ञान दूर हो जाता है, तब द्रष्टाका द्रष्टत्व उसी प्रकार मद्रूप हो जाता है, जिस प्रकार बिम्बमें ही प्रतिबिम्ब समा जाता है। जिस समय सोनेमें खोट या मैल मिला रहता है, उस समय भी सोनेमें सोना-पन मौजूद रहता है। परन्तु जब उसमेंका खोट या मैल जल अथवा निकल जाता है, तब जिस प्रकार केवल शुद्ध सोना बाकी बचा रह जाता है, उसी प्रकार द्रष्टाके लिए केवल मैं ही मैं रह जाता हूँ। क्या पूर्णिमासे पहले चन्द्रमा अपने समस्त अंगोंसे युक्त नहीं होता ? अवश्य होता है। परन्तु उसमें पूर्णता केवल पूर्णिमाके दिन ही आती है। इसी प्रकार ज्ञान-मार्गों से भी केवल "मैं" ही दिखाई देता हूँ, परन्तु केवल भिन्न-भिन्न दिशाओंसे दिखाई देता हूँ। और इस प्रकार दिखाई पड़ने पर "मैं" को "मैं" की ही प्राप्ति होती है और इसी लिए द्रष्टाका द्रष्टत्व अर्थात् द्रष्टापन बिलकुल नष्ट हो जाता है। हे अर्जुन, इसी लिए मैंने यह कहा है कि मेरी यह चौथी भक्ति दृश्य मार्गके उस पारकी है।

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

"इस ज्ञान-भक्तिके द्वारा जो भक्त मेरे साथ मिलकर स्वाभाविक रूपसे समरस हो जाता है, उसके सम्बन्धमें तुम यह बात सुन ही चुके हो कि वह भक्त नहीं है, बल्कि स्वयं मैं ही हूँ। क्योंकि हे अर्जुन, (सातवें अध्यायमें) मैं यह बात हाथ उठाकर गम्भीर वाणीसे तुमको बतला चुका हूँ कि ज्ञानी पुरुष मेरी आत्मा ही होता है। हे अर्जुन, मैंने यही भक्ति कल्पके आरम्भमें भागवतके मिससे ब्रह्माको सिखलाई थी। ज्ञानी लोग इसे "स्व-संवित्ती" कहते हैं; शैव इसे "शक्ति" के नामसे पुकारते हैं; और मैं इसे "अपनी परम भक्ति" कहता हूँ। जिस समय कर्मयोगी मेरे साथ मिलकर एक हो जाते हैं, उस समय उन्हें इसका फल प्राप्त होता है और तब फिर सारा विश्व मेरे योगसे ओत-प्रोत हो जाता है। उस अवस्थामें विवेकके साथ साथ वैराग्य, मोक्षके साथ साथ बन्ध और निवृत्तिके साथ वृत्ति भी पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाती है। सब कुछ इसी पार चला आता है और इसी लिए उस पार कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। जिस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज और वायु चारों भूतोंको निगलकर केवल आकाश ही बाकी बच रहता है, उसी प्रकार साध्य और साधनकी सीमाके उस पार जो निर्मल और निर्दोष तत्त्व मैं हूँ, उसी तत्त्वके साथ मिलकर और एक रूप होकर वह पुरुष आत्मानन्दका अनुभव करता है। जिस प्रकार गंगा समुद्रमें प्रवेश करके और उसके साथ मिलकर

प्रकाशित होती है, ठीक उसी प्रकार तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि आत्मानन्दके उपभोगका भी स्वरूप होता है। जिस प्रकार दो दर्पण स्वच्छ करके एक दूसरेके सामने रखने पर उनके रूपोंकी एक दूसरेमें सुन्दर एकता होती है, उसी प्रकार द्रष्टा भी मुझमें मिलकर और मेरे साथ सम-रस होकर आत्मानन्दका उपभोग करता है। जिस प्रकार सामनेका दर्पण दूर कर देने पर और उसमें दिखाई पड़नेवाला मुखका आभास न रह जाने पर द्रष्टा केवल अपने आपमें सुखसे रहता है अथवा जिस प्रकार जागने पर स्वप्नका नाश होता है और तब उस जाग्रत अवस्थामें स्वयं अपना अकेलापन देखकर कोई पुरुष बिना किसी दूसरेकी संगतिके अपने उस अकेलेपनका उपभोग करता है, उसी प्रकार वह भक्त आत्मानन्दका भी उपभोग करता है। कुछ लोग यह कहा करते हैं कि जब कोई व्यक्ति किसी वस्तुके साथ एक-रूप हो जाता है, तब उसके किये उस वस्तुका उपभोग हो ही नहीं सकता। ऐसे लोगोंसे मैं यह पूछता हूँ कि शब्दसे ही शब्दका उच्चारण कैसे होता है? क्या ऐसा कहनेवाले लोगोंके देशमें सूर्यको दीपक जलाकर देखना पड़ता है अथवा आकाशके नीचे कोई चाँद लगानी पड़ती है? अथवा क्या अन्धकार कभी सूर्यको आलिंगन कर सकता है? जो आकाश ही नहीं है, तो फिर आकाशका ज्ञान कहाँसे होगा? क्या घुँघचियोंके गहनेके सम्बन्धमें यह अभिमान किया जा सकता है कि यह जवाहरातका गहना है? इसी प्रकार जो "मैं" हो ही नहीं सकता, उसकी दृष्टिमें "मैं" का अस्तित्व ही कहाँ है? फिर इस सम्बन्धमें कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि वह उसका उपभोग कर सकेगा या नहीं। इसी लिए मैं कहता हूँ कि वह कर्म-योगी "मैं" होकर ही "मैं" का उपभोग करता है और उसी प्रकार उपभोग करता है, जिस प्रकार तरुण पुरुष अपने तारुण्यका उपभोग करता है। जिस प्रकार तरंगें पूर्ण रूपसे जलका चुम्बन करती हैं अथवा प्रभा सूर्यके बिम्बमें सब जगह चमकती रहती है अथवा आकाश तत्व जिस प्रकार गगनमें सब जगह ओत-प्रोत भरा रहता है, उसी प्रकार वह कर्म-योगी भी मेरा स्वरूप देखकर बिना किसी प्रकारकी क्रियाका आचरण किये मेरा उपभोग करता रहता है। अलंकार जिस प्रकार स्वाभाविक रूपसे सोनेका उपभोग करता है अथवा सुगन्ध जिस प्रकार चन्दनमें बिना कुछ भी किये बनी रहती है अथवा चाँदनी जिस प्रकार बिना कोई क्रिया किये चन्द्र-बिम्बमें विलास करती है, उसी प्रकार अद्वैतमें यद्यपि क्रियाके लिए कोई स्थान नहीं होता, परन्तु फिर भी भक्तिके लिए उसमें जगह रहती है। परन्तु यह बात प्रत्यक्ष रूपसे अनुभव करनेसे ही समझमें आती है, केवल शब्दोंसे इसका वर्णन नहीं किया जा सकता है। फिर इस प्रकारका केवलस्वरूप पुरुष जब अपने प्राचीन संस्कारोंके कारण कुछ भी बोलता है, तब उसका वही बोलना मेरी भक्ति होता है; और तब तुरन्त ही मैं उसका उत्तर देता हूँ। और फिर वह बोलनेवाला भी मैं ही होता हूँ। जब बोलनेवालेका केवल अपने आपसे योग होता है, तब उससे कुछ भी बोला ही नहीं जा सकता। और इसीलिए उस अवस्थामें मेरा उत्तम भोजन केवल मूक रहकर ही किया जाता है। इस लिए जब वह भक्त बोलने लगता है, तब मानों मैं ही उसके द्वारा बोलता हूँ; और इसी लिए मौन फलित होता है और उसी मौनसे

वह वास्तवमें मेरी स्तुति करता है। इसी प्रकार, हे अर्जुन, अपनी बुद्धि अथवा दृष्टिसे वह जो कुछ देखता है, उसे देखनेमें दृश्य वस्तु तो एक ओर हट जाती है और वह देखना उसे स्वयं उसीका स्वरूप दिखलाता है। जिस प्रकार दर्पणमें देखने वालेको स्वयं अपना वही स्वरूप दिखाई देता है, जो उस दर्पणमें देखनेसे पहले होता है, उसी प्रकार उस भक्तका देखना भी उसे स्वयं उसीके दर्शन कराता है। इस प्रकार जब दृश्य उड़ जाता है और द्रष्टाको द्रष्टाके रूपमें ही उसका अनुभव होता है, तब उस द्रष्टाके सिवा और कुछ भी बाकी नहीं रह जाता और इसी लिए उसके द्रष्टत्वका भी लोप हो जाता है। जब स्वप्नमें दिखाई पड़नेवाले वल्लभको आलिंगन करनेके लिए कोई स्त्री आगे बढ़ती है, पर तुरन्त ही जाग उठती है, तब उसे पता चलता है कि न तो वह मेरा वल्लभ ही था और न मैं उसकी स्त्री हूँ और इसी लिए वह शान्त हो जाती है। अथवा दो लकड़ियोंको परस्पर रगड़नेसे उनके मध्यमें अग्नि उत्पन्न होती है और तब उन दोनों लकड़ियोंका अस्तित्व नहीं रह जाता और दोनों मिलकर एक अग्निके ही रूपमें दिखाई देती हैं। अथवा जलमें सूर्यका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसे पकड़नेके लिए यदि स्वयं सूर्य ही आगे बढ़े तो उसका वह प्रतिबिम्ब वहाँ नहीं रह जाता और ऊपरसे स्वयं उसके बिम्बत्वका भी लोप हो जाता है। इसी प्रकार जब भक्त मद्रूप होकर दृश्यको भी अपने आपमें लीन कर लेता है, तब उसके वास्तविक दृष्टत्वके साथ ही साथ दृश्यका भी लोप हो जाता है। सूर्य जब अन्धकारको प्रकाशित करता है, तब जिस प्रकार प्रकाशित करनेके लिए अन्धकार बाकी ही नहीं रह जाता, उसी प्रकार जब एक बार द्रष्टाको मेरा स्वरूप प्राप्त हो जाता है, तब दृश्यमें दृश्यत्व भी बाकी नहीं रह जाता। फिर ऐसी अवस्थामें उसी स्थितिको वास्तविक दर्शन कह सकते हैं जिसमें दृश्य दिखाई भी देता है और नहीं भी दिखाई देता। हे किरीटी, फिर चाहे जिस वस्तुसे उसका सामना हो जाय और चाहे जो वस्तु उसे दिखाई दे, हर समय उसे वही दर्शन होते रहते हैं और तब वह उस दृष्टिका उपभोग करता है, जो द्रष्टा और दृश्य दोनोंसे परे रहती है। और जिस प्रकार आकाश सदा आकाशसे ही ठसाठस भरा रहनेके कारण कभी हिलता-डुलता नहीं, उसी प्रकार स्वयं आत्म-स्वरूपमें प्रवेश करनेके कारण वह भी कभी अपने स्थानसे विचलित नहीं होता। कल्पान्तमें सब जगह पानी ही पानी हो जाता है और सारा जल एक जगह जमा हुआ-सा रहता है और इसी लिए उसमें प्रवाह हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार जब आत्मामें ही आत्मा भर जाती है, तब उसमें स्तब्धता आ जाती है। पैर स्वयं ही जितनी दूर आगे जाता है, उससे और आगे वह जा ही कैसे सकता है? आग स्वयं अपने आपको कैसे जला सकती है? पानी स्वयं अपने ही स्नानके लिए कैसे उपयोगी हो सकता है? इसीलिए वह भक्त भी जब पूर्ण रूपसे मद्रूप हो जाता है, तब उसका आना-जाना आदि सब व्यवहार बन्द हो जाते हैं; और व्यापारोंका यह बन्द होना ही मानों मेरी अद्वैतताकी यात्रा है। पानी पर तरंगें चाहे कितनी ही दूर क्यों न बढ़ जायें, तो भी यह नहीं माना जा सकता कि उसने जमीन परकी मंजिल पूरी की है। उसमें पुराना स्थान छोड़नेवाला भी जल

ही होता है और नया स्थान ग्रहण करनेवाला भी जल ही होता है; जो गति देता है, वह भी जल ही होता है और जिसे गति प्राप्त होती है, वह भी जल ही होता है। तात्पर्य यह कि जो कुछ होता है, वह सब जल ही जल होता है। हे अर्जुन, जलकी चाहे कितनी ही अधिक बाढ़ क्यों न आवे, परन्तु फिर भी उसका जलत्व सदा अबाधित हो रहता है और इसी लिए तरंगोंकी एकता भी कभी नष्ट नहीं होती। इसी प्रकार मैं-पनका चाहे कितना ही अधिक विस्तार क्यों न हो, परन्तु फिर भी वह सब मुझमें ही समाता चलता है और इसी यातायातके कारण वह मेरा ही साक्षी ठहरता है। और यदि शरीरके स्वभाव धर्मके कारण वह कोई कर्म करने लगे, तो उस कर्मके निमित्तसे भी मैं ही उसे प्राप्त करता हूँ। ऐसी स्थितिमें, हे अर्जुन, कर्म और कर्ता दोनोंके नामोंका ही लोप हो जाता है और मुझे आत्म-स्वरूपमें देखकर वह स्वयं ही "मैं" हो जाता है। यदि दर्पण ही दर्पणको देखे तो वह कोई देखना नहीं कहलाता। सोने पर सोनेका ही मुलम्मा कभी नहीं चढ़ सकता। अथवा दीपकसे कभी दीपकको प्रकाश नहीं दिखलाया जा सकता। इसी प्रकार "मैं" जो कर्म हूँ वही कर्म यदि "मैं" करे, तो उस अवस्थामें वह किसी प्रकार कर्म हो ही नहीं सकता। जिस अवस्थामें कर्म तो किये जाते हों, परन्तु यह न कहा जा सकता हो कि वह कर्म करता है, तब उसका कर्म करना न करनेके ही बराबर होता है। समस्त कर्मोंके मद्रूप हो जानेके कारण उसका फल "कुछ न करना" ही होता है। और इसीको मेरी सच्ची भक्ति कहते हैं। इसलिए, हे अर्जुन, कर्म करनेके मार्गसे भी कर्म न करना ही घटित होता है और इसी महापूजासे वह मेरी अर्चा करता है। तात्पर्य यह कि वह जो कुछ बोलता है, वही मेरा स्तोत्र होता है, वह जो कुछ देखता है, वही मेरा दर्शन होता है और वह जो कुछ चलता है, वह मेरी अद्वैतताका ही गमन होता है। वह जो कुछ करेगा, वह सब मेरी ही पूजा होगी; वह अपने मनमें जिस बातका विचार करेगा; वह मेरा ही जप होगा; और हे अर्जुन, उसका स्वस्थ रहना ही मेरी समाधि है। जिस प्रकार कंकणको निरन्तर सोनेकी ही संगतिमें रहना पड़ता है, उसी प्रकार वह भक्ति-योगसे निरन्तर अद्वैत रूपमें मेरे साथ और मुझमें रहता है। पानीमें लहरें, कपूरमें सुगन्ध और रत्नोंमें तेज बिना किसी द्वैत भावके ही रहता है। तन्तुओंके साथ पट और मिट्टीके साथ घट सदा एकमें मिला रहता है। ठीक इसी प्रकार वह भक्त भी मेरे साथ सम रस होकर रहता है। मेरी इस अनन्य भक्तिके कारण वह दृश्य पदार्थ मात्रमें आत्मभावसे मुझ द्रष्टाको ही देखता है। जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके कारण उपाधि अर्थात् क्षेत्र और उपाधियुक्त अर्थात् क्षेत्रज्ञके कारण भाव अथवा अभाव रूपसे जो यह विश्व दृश्य होता है, उसके सम्बन्धमें, हे सुविज्ञ अर्जुन, उसे यही दिखाई देता है कि वह सारा विश्व मैं ही द्रष्टा हूँ और इसी प्रकारके बोधके क्षेत्रमें वह आत्मानुभवका पुतला नाचने लगता है। जब यह पता लग जाता है कि यह डोरी है, तब यह निश्चय हो जाता है कि उसके सम्बन्धमें होनेवाला सर्पका आभास भी डोरी ही है। जब अलंकार गलाया जाता है, तब यह निश्चय हो जाता है कि उसमें नामको भी कोई ऐसी अलंकारता नहीं थी जो सोनेसे अलग हो। मनुष्य जब यह जान लेता है कि तरंग वास्तवमें

जलके सिवा और कुछ भी नहीं है, तब उस तरंगके आकारको कभी वास्तविक नहीं समझता। जागने पर स्वप्नके विकारोंका हिसाब लगानेवाला अपने आपको छोड़कर और कुछ भी नहीं देख सकता। इसी प्रकार वह पुरुष भी भाव-रूपसे अथवा अभाव-रूपसे ज्ञेयके रूपमें जान पड़नेवाले समस्त पदार्थोंके सम्बन्धमें यही समझता है कि सब कुछ मैं ज्ञाता ही हूँ; और यही अनुभव करके वह उन सबका उपभोग करता है। वह जानता है कि मैं अजन्मा, अमर, अक्षय, अक्षर, अपूर्व और अपार आनन्द हूँ। मैं अचल और अच्युत, अनन्त और अद्वय, आद्य और निराकार तथा साकार भी हूँ। मैं सत्ताके सामने दबनेवाला या ईश्य भी हूँ और सत्ताका संचालन करनेवाला अर्थात् ईश्वर भी हूँ। अनादि, अविनाशी, निर्भय, आधार और आधार पर ठहरनेवाली आधेय वस्तु भी मैं ही हूँ। मैं सत्ताधारी, नित्य, सिद्ध, स्वयंभू, निरन्तर सर्व-रूप, सर्वान्तर्यामी और सबसे परेका हूँ मैं नया भी हूँ और पुराना भी; शून्य भी हूँ और सम्पूर्ण भी। बड़ा अथवा छोटा, जो कुछ है, वह सब मैं ही हूँ। मैं कर्म-हीन, द्वैत-हीन, संग-हीन और शोक-हीन हूँ। व्याप्त होनेवाला और व्याप्त करनेवाला पुरुषोत्तम भी मैं ही हूँ। मुझमें शब्द, कान, रूप अथवा गोत्र आदि कुछ भी नहीं है। मैं सर्वत्र समान और स्वयं-सिद्ध हूँ। मैं परब्रह्म हूँ। इस प्रकारके अपनेपनके एकत्वके द्वारा वह मुझे इस अद्वय भक्तिकी सहायतासे सच-मुच जानता है; और साथ ही वह यह भी जानता है कि इस आत्मबोधका अनुभव जो ज्ञान है, वह भी मैं ही हूँ। जिस प्रकार जागने पर स्वप्नमेंका आभास नहीं रह जाता और केवल वह पुरुष ही, जो स्वप्न देखता है, रह जाता है और इस बातका पता जिस प्रकार स्वयं उसे ही होता है अथवा जिस प्रकार सूर्य जब प्रकट होता है, तब वही प्रकट करनेवाला भी होता है और यह बात भी वही प्रकट करता है कि प्रकट होनेवाला और प्रकट करनेवाला दोनों अभिन्न हैं, उसी प्रकार ज्ञान-विषयका लोप हो जानेके कारण केवल ज्ञाता ही बाकी रह जाता है; और यह बात जिसकी समझमें आती है, वह भी वह स्वयं ही होता है। हे अर्जुन, अपनी उस अद्वैतताको जाननेकी जो ज्ञान-शक्ति है, उसके सम्बन्धमें भी उसकी समझमें यह बात आ जाती है कि वह शक्ति भी सर्व-समर्थ मैं ही हूँ। इसके उपरान्त वह यह भी समझ लेता है कि द्वैत और अद्वैत दोनोंसे परे रहनेवाली जो एकमेवाद्वितीय आत्मा है, वह भी मैं ही हूँ और इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है; और जब उसे इस ज्ञानका प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तब जिस प्रकार उस अवस्थामें, जब कि जाग उठने पर अपने अकेलेपनका जो भान होता है, उसके भी नष्ट हो जाने पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसका स्वरूप कैसा होगा, अथवा आँखोंसे देखते ही जिस प्रकार स्वर्णमें सोनेपनके साथ साथ अलंकारका भी लोप हो जाता है अथवा नमकके जल-स्वरूप हो जाने पर उस नमककी नमकीनी उस पानीमें बनी रहती है, परन्तु उस नमकीनीके भी न रह जाने पर जिस प्रकार नमकका अस्तित्व ही बिलकुल मिट जाता है, उसी प्रकार जब यह भान भी कि—"मैं वही परब्रह्म हूँ" स्वानन्दके अनुभवके शान्त रसमें विलीन हो जाता है, तब वह मुझमें प्रवेश करता है। उस अवस्थामें "वह" का भी कहीं नाम नहीं रह जाता

और "मैं" के लिए भी कोई ठिकाना नहीं रह जाता। इस प्रकार उसकी "मैं" और "वह" वाली भावना नष्ट हो जाती है और वह मेरे स्वरूपमें मिल जाता है। जिस समय कपूर जलने लगता है, उस समय तो उसे अग्नि कहना उपयुक्त होता है; परन्तु जब कपूरका भी लोप हो जाता है और अग्निका भी लोप हो जाता है, तब जिस प्रकार केवल आकाश तत्व ही बाकी रह जाता है अथवा जिस प्रकार एकमेंसे एक घटाने पर केवल शून्य बाकी रह जाता है, उसी प्रकार "है" और "नहीं है" अथवा भाव और अभाव दोनोंको अलग कर देने पर जो कुछ बचा रहता है, वही मैं हूं। उस अवस्थामें "ब्रह्म", "आत्मा" और "ईश्वर" आदि शब्दोंमें भी उस स्वानन्दमें विघ्न पड़ता है और "न" अर्थात् "कुछ नहीं" कहनेकी भी वहां जगह बाकी नहीं रह जाती। उस समय बिना कुछ भी बोले और बिना मुँहसे कोई शब्द निकाले ही, खूब जी भरकर "न" कहा जाता है और ज्ञान तथा अज्ञानकी कोई जानकारी न होने पर भी वह बिलकुल ठीक तरहसे जाना जाता है। वहां बोधसे ही बोधको समझाया जाता है, आनन्दसे ही आनन्दका आलिंगन किया जाता है और केवल सुखसे ही सुखका भोग किया जाता है। उस अवस्थामें लाभको ही लाभ होता है, प्रभामें ही प्रभा लगती है और विस्मय मानो विस्मयमें ही डूब जाता है। उस अवस्थामें शमको भी शान्ति प्राप्त होती है, विश्रामको भी विश्रान्ति मिलती है और अनुभव पर अनुभवका पागलपन सवार हो जाता है। तात्पर्य यह कि कर्म-योगकी सुन्दर बेल लगानेका उस पुरुषको यही आत्म-स्वरूपवाला निर्दोष फल प्राप्त होता है। और हे अर्जुन, इस कर्म-योगके सम्राट्के मुकुट पर चैतन्य-रूपी रत्न मैं ही होता हूं और इसके बदलेमें वह मेरा मुकुटमणि होता है। अथवा इस कर्मयोग रूपी मन्दिरका मानों मोक्ष ही कलस है और उस कलसके ऊपर रहनेवाला आकाशका विस्तार वह कर्म-योगी होता है। अथवा यह समझना चाहिए कि संसार-रूपी वनमें कर्म-योग ही एक अच्छी सड़क है और वह सड़क सीधी मेरे ऐक्य-रूपी ग्राम तक आ पहुँचती है। अथवा यह समझना चाहिए कि ज्ञान-भक्तिके जलके साथ कर्म-योगके प्रवाह-मार्गसे वह बड़े वेगसे चलकर "मैं" नामक आत्मानंद रूपी सागरमें आ मिलता है। हे सुविज्ञ अर्जुन, इस कर्म-योगका माहात्म्य इतना अधिक है और इसी लिए मैं तुम्हें बार बार इसका उपदेश करता हूं। यह "मैं" कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे उचित स्थल, काल अथवा पदार्थका साधन करके प्राप्त किया जा सके; बल्कि यह "मैं" एक ऐसी वस्तु है जो आपसे आप पूर्ण रूपसे सबमें वर्तमान रहती है; और इसी वास्ते मुझे प्राप्त करनेके लिए किसी प्रकारका कष्ट नहीं सहना पड़ता। इस कर्म-योगके द्वारा ही मैं वास्तवमें हाथमें आ जाता हूं। यह व्यवहार सभी जगह प्रचलित है कि एक शिष्य होता है और दूसरा गुरु होता है। परन्तु यह व्यवहार केवल मेरी प्राप्तिका मार्ग जानने भरको ही है। हे अर्जुन, पृथ्वीके गर्भमें सम्पत्ति, काष्ठके गर्भमें अग्नि और स्तनमें दूध सदा स्वभावतः रहता ही है। परन्तु जो पुरुष इन पदार्थोंको प्राप्त करनेके उपाय करता है, वही इन्हें प्राप्त कर सकता है। ठीक इसी प्रकार मैं भी वास्तवमें स्वतः-सिद्ध ही हूं, परन्तु उपायोंसे साध्य होता हूं।" इस अवसर पर कोई प्रश्न कर सकता है कि इतने

समय तक फलका विवेचन कर चुकने पर अब कृष्णदेव उपायकी प्रस्तावना क्यों करते हैं। तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रस्तावनामें यह बतलाया गया है कि इस गीताका मुख्य रहस्य यही है कि प्रत्यक्ष मोक्ष-साधनके सम्बन्धमें सभी दृष्टियोंसे विवेचन किया जाय। दूसरे अनेक शास्त्रोंमें भी इसके अनेक उपाय बतलाये गये हैं, परन्तु उनके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि वे सब प्रमाण-सिद्ध ही हैं। हवा यदि बहुत करे तो बादलोंको उड़ा सकती है, परन्तु वह सूर्यका निर्माण नहीं कर सकती। हाथसे पानी-मेंकी सेवार हटाकर एक ओर की जा सकती है, परन्तु उससे जल नहीं उत्पन्न किया जा सकता। इसी प्रकार आत्म-दर्शनमें बाधा उत्पन्न करनेवाला जो अज्ञानका मल होता है, उसे तो शास्त्र दूर कर सकते हैं, परन्तु बाकी "मैं" सदा स्वयं प्रकाश और निर्मल ही रहता हूं। इसी लिए समस्त शास्त्र केवल अज्ञानका मल धोनेके साधन हैं। इसके अतिरिक्त आत्म-बोध करानेकी उनमें कोई स्वतन्त्र योग्यता नहीं है। उन अध्यात्म शास्त्रोंमें जब सच्चाई सिद्ध करनेका प्रसंग आता है, तब वे जिस स्थानमें जाते हैं, वह स्थान यही गीता है। जब सूर्य पूर्व दिशाको मंडित करता है, तब सभी दिशाएँ उज्वल हो जाती हैं। इसी प्रकार शास्त्रोंको उचित मार्ग पर चलनेवाली यह गीता है और इसी गीताकी सहायतासे सब शास्त्र समर्थ होते हैं। अस्तु। पहले सर्वज्ञ श्रीकृष्णने आत्म-प्राप्ति करनेके अनेक उपाय बहुत विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। परन्तु फिर भी श्री हरिने अपने मनमें बहुत ही चिन्तित होकर यह सोचा कि सम्भव है कि यह विषय एक बार सुनने पर तुरन्त ही अर्जुनको समझमें न आया हो अथवा अच्छी तरहसे समझमें न आया हो। और इसी लिए सब एक बार बतलाया हुआ सिद्धान्त शिष्यके मनमें अटल रूपसे प्रतिबिम्बित करनेके लिए वही सिद्धान्त फिरसे संक्षिप्त रीतिसे श्रीकृष्ण कह रहे हैं। और साथ ही गीताकी समाप्ति निकट आ पहुँचनेके कारण यहां यह भी दिखलाया गया है कि उसके आरम्भ और अन्तमें एकसूत्रता है। यह दिखलानेका कारण यह है कि ग्रन्थके आरम्भ और अन्तके मध्यमें अनेक प्रकारके प्रश्न उपस्थित होनेके कारण अनेक सिद्धान्तोंका स्पष्टीकरण किया गया है। इसमेंके आगे और पीछेके सन्दर्भों पर ठीक तरहसे ध्यान न देनेके कारण कोई यह भी कह सकता है कि वे सब सिद्धान्त ही इस शास्त्रके मुख्य और सार-भूत सिद्धान्त हैं। इसी लिए उन सब सिद्धान्तोंको एक महा-सिद्धान्तके साँचेमें ढालकर गीताके आरम्भकी उसकी समाप्तिके साथ एक-वाक्यता की गई है। इस ग्रन्थका मुख्य और प्रस्तुत विषय अविद्याका नाश है और मोक्षका सम्पादन उस अविद्या-नाशका फल है। और इन दोनोंका ही साधन ज्ञान है। केवल यही विषय इस विशाल ग्रन्थमें अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक स्पष्ट किया गया है। अब यही विवेचन यहां बहुत थोड़ेसे शब्दोंमें होनेको है। इसी लिए फल हाथमें आने पर ही उस फलको प्राप्त करनेके उपायोंका फिरसे विवेचन करनेके उद्योगमें श्रीकृष्ण प्रवृत्त हुए हैं।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्॥५६॥

श्रीकृष्णने कहा—"हे वीर-श्रेष्ठ, अर्जुन, वह कर्म-योगी अपनी स्थिर भक्तिकी सहा-

यतासे "मैं" हो जाता है और अटल रूपसे मुझमें निवास करता है। स्वकर्माचरणके निर्मल पुष्पोंसे मेरी अर्चा करता है और उस अर्चासे प्राप्त होनेवाले प्रसादसे उसे ज्ञान-निष्ठाका लाभ होता है। जब यह ज्ञान-निष्ठा प्राप्त हो जाती है, तब मेरी भक्तिका उत्कर्ष होता है और उस भक्तिसे प्राप्त होनेवाली राम अवस्थाकी शान्तिसे वह सुखी होता है। विश्वको प्रकाशित करनेवाला जो "मैं" हूँ उस "मैं" को अर्थात् स्वयं अपनी ही आत्माको जो सब जगह ओत-प्रोत भरा हुआ समझता है और इसीके अनुसार आचरण करता है, जो उसी प्रकार बुद्धि, वाचा और शरीरमें केवल मेरा ही आश्रय ग्रहण करता है, जिस प्रकार नमक अपना निरालापन छोड़कर जलका आश्रय ग्रहण करता है अथवा वायु जिस प्रकार चक्कर लगाना छोड़कर आकाशमें स्तब्ध होकर रहती है, यदि उसके हाथों एकाध बार कोई ऐसा-वैसा काम भी हो जाय, तो भी जिस प्रकार गंगाके साथ सम्बन्ध हो जाने पर रास्तेमेंका गँदले पानीका प्रवाह और महानदीका प्रवाह दोनों मिलकर एक ही हो जाते हैं। चन्दन और साधारण लकड़ीमें तभी तक भेद रहता है, जब तक उनमें आग नहीं लगती। पाँच कसवाले और सोलह कसवाले सोनेका भेद तभी तक रहता है, जब तक पारसके स्पर्शसे वे दोनों एक-रूप नहीं हो जाते। ठीक इसी प्रकार जब तक मेरे सर्व-व्यापी प्रकाशकी प्राप्ति न हो, तभी तक शुभ और अशुभके भेदका भास होता है। जब तक हम लोग सूर्यके द्वीपमें प्रवेश न करें, तभी तक रात और दिनके द्वन्द्वका भास होता है। इसीलिए हे अर्जुन, मेरे साथ मेल होते ही उसके समस्त कर्मोंका लोप हो जाता है और वह सायुज्य मोक्षके आसन पर विराजमान हो जाता है। उसे मेरा वह अक्षय पद प्राप्त होता है, जिसका स्थल, काल या स्वभावसे कभी व्यय अथवा क्षय नहीं होता। हे अर्जुन, जहाँ मेरे अर्थात् प्रत्यक्ष आत्माके प्रसादकी प्राप्ति होती हो, वहाँ भला और किस लाभकी कमी रह सकती है? (अर्थात् वहाँ और सभी प्रकारके लाभ अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं।)

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

"इसलिए हे अर्जुन, तुम अपने समस्त कर्मोंका मुझमें ही संन्यास करो। अपने समस्त कर्म मुझको ही अर्पित करो। परन्तु हे वीर अर्जुन, यही नित्य कर्मोंका संन्यास है। तुम अपनी मनोवृत्ति सदा आत्म-विवेकमें लगाओ। बस फिर उसी विवेककी सामर्थ्य-से तुम्हें अपना आत्म-तत्व मेरे उस स्वरूपमें निर्दोष रूपसे दिखाई देने लगेगा जो सब प्रकारके कर्मोंसे अलिप्त रहता है। और उस समय यह बात भी तुम्हारे ध्यानमें आ जायगी कि कर्मोंकी जन्म-भूमि जो प्रकृति या माया है, वह भी आत्मासे बहुत दूर है। फिर हे अर्जुन, जिस प्रकार पदार्थसे उसकी छाया अलग नहीं हो सकती, उसी प्रकार यह प्रकृति भी आत्म-तत्वसे अलग नहीं रह सकती। जब इस प्रकार प्रकृतिका अन्त हो जायगा, समूल कर्म संन्यास आपसे आप हो जायगा। फिर कर्मोंका अन्त या नाश हो जाने पर केवल "मैं" या आत्म-तत्व ही बाकी रह जायगा और बुद्धि एक पतिव्रता स्त्रीकी भाँति पूर्ण निष्ठासे उसमें रमण करेगी। इस प्रकार जब बुद्धि अनन्य भक्तिसे

मेरे रंगमें रँगी जायगी, तब चित्त भी अपनी सारी चंचलता छोड़कर मेरा ही भजन करने लगेगा। इसलिए तुम सदा ऐसा ही उपाय करते रहो जिसमें तुम्हारा चित्त सारी चंचलता छोड़कर निश्चल रूपसे मुझमें ही आकर लग जाय।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥

"फिर इस प्रकार भेद-भावहीन भक्तिसे जब मैं चित्तमें पूर्ण रूपसे भर जाऊँगा, तब तुम समझ लेना कि मेरा पूरा पूरा प्रसाद प्राप्त हो गया। जब ऐसी अवस्था प्राप्त हो जायगी, तब वे अनेक प्रकारके दुःखकारक स्थल भी तुम्हें सुखकारक जान पड़ने लगेंगे, जो जन्म और मृत्युके कारण भोगने पड़ते हैं। यदि सूर्यकी सहायतासे आँखें बनकर तैयार हुई हों, तो फिर उनके सामने अन्धकार क्या चीज है? इसी प्रकार मेरी परम कृपासे जिसका जीव-भाववाला कण पूरी तरहसे पिस जाता है, अर्थात् जिसका जीव-भाव बिलकुल नष्ट हो जाता है, उसे इस संसारका हौवा भला कैसे पीड़ा दे सकता है? इसलिए हे अर्जुन, तुम मेरे प्रसादसे इस संसारकी दुष्ट झंझटसे पार हो जाओगे। परन्तु यदि अभिमानके कारण तुम मेरी इन सब बातोंका अपने कान और मनके साथ स्पर्श भी न होने दोगे, तो तुम नित्यमुक्त और अबद्ध होने पर भी व्यर्थ हो जाओगे और तुम पर देहाभिमानके भयंकर आघात होंगे। इस देह सम्बन्धके प्रदेशमें पग पग पर आत्म-घातका कष्ट सहन करना पड़ता है और उसमें कभी क्षण भरके लिए भी साँस लेनेका अवकाश नहीं मिलता। यदि मेरी बातों पर तुम ध्यान न दोगे तो न मरने पर भी तुम इतने बड़े संकटके कारण मरे हुएके समान ही हो जाओगे।

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

"जिस प्रकार पथ्य न करनेवाला रोगी ज्वरको अथवा दीपकसे द्वेष करनेवाला व्यक्ति अन्धकारको प्रबल करता है, उसी प्रकार यदि तुम विवेकको तिरस्कारपूर्वक दूर हटाकर अहं-कारका पोषण करोगे और उस अहंकारके कारण अपने शरीरको "अर्जुन", दूसरोंके शरीरोंको "स्वजन" और इस युद्धको "दुष्ट पापचरण" कहोगे और यदि अभिमान-पूर्वक यह निश्चय करोगे कि "मैं युद्ध नहीं करूँगा" तो भी तुम्हारा जन्म-जात स्वभाव, तुम्हारा वह निश्चय बिलकुल निष्फल कर डालेगा। तुम जो अपने मनमें इस प्रकारकी भावनाएँ करते हो कि "मैं अर्जुन हूँ; ये मेरे आप्तजन हैं और इन्हें मारना घोर पातक है", तो तुम्हीं सोचो कि इस प्रकारकी भावनाओंमें मायाके सिवा क्या और कोई वास्त-विक तथ्य भी है? पहले तो तुम युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए और तब युद्ध करनेके लिए तुमने हाथमें शस्त्र भी ग्रहण किये; और इतना सब कुछ करके भी अब तुम यह प्रतिज्ञा करना चाहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा। तुम्हारी ये सभी बातें बहुत ही विल-क्षण हैं। तुम जो यह कहते हो कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, सो ये सब बिलकुल निस्सार बातें हैं। यदि केवल लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे ही देखा जाय तो भी तुम्हारी इन बातों-का कुछ भी अभिप्राय समझमें नहीं आता। तुम जो अपने मनमें युद्ध न करनेका निश्चय

कर रहे हो, सो तुम्हारे इस निश्चयको तुम्हारा स्वभाव ही विचलित कर देगा—स्वभाव ही तुम्हें अपना यह निश्चय तोड़कर युद्ध करनेके लिए बाध्य करेगा।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

"यदि पानीका बहाव पूरबकी ओर हो और पश्चिमकी ओर तैरकर जानेका प्रयत्न किया जाय तो तैरनेवालेके पल्ले कोरा पागलपनवाला आग्रह ही पड़ेगा। ऐसे मनुष्यको पानीका बहाव स्वयं ही अपने कहनेमें कर लेगा—उसे उसकी इच्छाके विरुद्ध और अपनी इच्छाके अनुसार बहा ले चलेगा। अथवा यदि धानका कण यह कहे कि मैं धानकी तरह अंकुरित नहीं होऊँगा और न मैं उसकी तरह बढ़ूँगा, तो तुम्हीं सोचो कि क्या वह कभी अपने स्वभावका उलंघन कर सकेगा? ठीक इसी प्रकार, हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम्हारा स्वभाव और तुम्हारी प्रकृति ही क्षात्रधर्मके संस्कारसे बनी है। इसी लिए यद्यपि इस समय तुम यह कह रहे हो कि—मैं युद्ध नहीं करूँगा" तो भी कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारी प्रकृति ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त कर देगी। हे अर्जुन, शौर्य, तेज और तत्परता आदि गुण तुम्हारी प्रकृतिने ही तुम्हें दिये हैं। और यदि तुम उन गुणोंके अनुरूप कार्य न करोगे तो तुम्हारी वह प्रकृति ही तुम्हें स्वस्थ होकर बैठने नहीं देगी। इसलिए हे धनुर्धारी अर्जुन, तुम इन गुणोंसे जकड़े हुए हो और इसी लिए इस बातसे तिल मात्र भी सन्देह नहीं है कि तुम-क्षात्र-कर्मके मार्गमें लगोगे। परन्तु यदि तुम अपने जीवनका यह रहस्य अपने ध्यानमें न रखकर केवल अविचारपूर्वक यह निश्चय करके हठपूर्वक बैठ रहोगे कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, तो भी मुझे इस बातका पूरा विश्वास है कि तुम भी उसी प्रकार कुछ न कुछ अवश्य करोगे, जिस प्रकार वह पुरुष स्वयं न चलने पर भी अपने स्थानसे बहुत दूर पहुँच जाता है, जिसे हाथ-पैर बाँधकर रथ पर बैठा दिया जाता है। तुम अपने मन-में यह सोचते ही रह जाओगे कि मैं कुछ भी न करूँगा और तुम्हारी प्रकृति बलपूर्वक तुमसे बहुत कुछ करा डालेगी। जब विराट देशका राजकुमार उत्तर रण-क्षेत्रसे भागा जा रहा था, तब तुम्हारे क्षात्र-स्वभावने ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त किया था या नहीं? तुम्हारा वही क्षात्र-स्वभाव आज भी तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त करेगा। बड़े बड़े वीरोंकी ग्यारह अक्षौहिणी सेनाओंको तुमने उत्तरके गो-ग्रहणके समय अकेले ही रण-क्षेत्रमें लेटा दिया था। जिस क्षात्र-स्वभावका यह प्रताप था, वही स्वभाव, भाई धनुर्धारी अर्जुन, इस समय भी तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त करेगा। क्या रोगीको कभी रोग अच्छा लगता है? दरिद्रको क्या दरिद्रता कभी अच्छी जान पड़ती है? नहीं। परन्तु जिस बलिष्ठ दैवके कारण रोगीको रोग अथवा दरिद्रको दरिद्रता भोगनी पड़ती है, वही दैव ईश्वरकी सत्तासे बिना अपना कार्य किये न रहेगा और वह ईश्वरीय सत्ता भी तुम्हारे हृदयमें निवास कर ही रही है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥

"समस्त भूतोंके अन्तःकरणमें अथवा उनके हृदय-रूपी आकाशमें चिद्‌वृत्तिकी हजारों किरणोंसे जो ईश्वर रूपी सूर्य उदित होता है, वह अवस्था-त्रय-रूपी लोकोत्रयको

प्रकाशित करके मायाके फेरमें पड़े हुए यात्री जीवोंको जाग्रत करता है। दृश्य वस्तु रूपी जलके सरोवरमें विषय-रूपी कमलों पर अपना तेज फैलाकर वह ईश्वर रूपी सूर्य उस जीव रूपी भ्रमरको, जिसको पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन मिलाकर कुल छः पैर हैं, बराबर चलता रहता है। परन्तु यह रूपक यथेष्ट हो चुका। वह हृदयस्थ ईश्वर अहंकारका आवरण ओढ़कर निरन्तर विलास करता रहता है। अपनी ही मायाके परदेकी आड़से वह समस्त सूत्रोंका संचालन करता रहता है और बाहर जगतको रंगभूमि पर चौरासी लाख चराचर योनियोंके चित्र-विचित्र छाया-चित्र नचाता रहता है। वह ब्रह्मासे लेकर क्षुद्र कीड़े मकोड़ों तक समस्त भूतोंको उनकी योग्यताके अनुसार देहाकृतिसे सजाकर रखता है। जिसके सामने जो आकार वह सुघड़पनसे सँवारकर रखता है, उस देहमें वह जीव इसी भावनासे जकड़ जाता है कि यह देह ही मैं हूँ। जिस प्रकार एक सूत किसी दूसरे सूतके साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा किसी तृण आदिका डंठल किसी दूसरे डंठलके साथ लिपटा हुआ रहता है अथवा छोटे बच्चे पानीमें पड़नेवाला अपना प्रतिबिम्ब देखकर उसे हाथोंसे हिलोरते हैं, उसी प्रकार देहाकार रूपमें स्वयं अपनी ही दूसरी छाया देखकर जीव भी उसमें आत्म बुद्धिकी स्थापना कर लेता है—यह समझने लगता है कि यह देह ही मैं हूँ। इस प्रकार भूत मात्रको देह-रूपी यन्त्र पर बैठाकर यह हृदयस्थ ईश्वर प्राचीन कर्मोंके सूत्र हिलाता रहता है। उनमेंसे जो प्राचीन सूत्र जिस भूतके साथ स्वतन्त्र रीतिसे बँधे होते हैं, वे भूत उस सूत्रसे प्राप्त होनेवाली गति ग्रहण करने लगते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार वायु तृणोंके डंठलोंको आकाशमें फरफराती रहती है, उसी प्रकार ईश्वर भी भूत मात्रको स्वर्ग और संसारमें सदा समान रूपसे चलाता रहता है। जिस प्रकार चुम्बक पत्थरके आकर्षणसे लोहा चक्कर खाने लगता है, उसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता भूत मात्र भी चलते फिरते रहते हैं। हे अर्जुन, जिस प्रकार केवल चन्द्रमाकी निकटताके ही कारण समुद्र आदि अपनी अपनी चेष्टा करते हैं; अर्थात् समुद्रमें ज्वार-भाटा होता है, सोमकान्त मणि द्रवित होने लगती है, कुमुद और चकोरकी उदासीनता दूर हो जाती है और वे उल्लसित होते हैं, उसी प्रकार एक-मात्र ईश्वर ही मूल प्रकृतिके अनुरोधसे समस्त भूतों-को भिन्न-भिन्न रीतियोंसे जैंचाता रहता है; और हे अर्जुन, वही ईश्वर तुम्हारे हृदयमें भी निवास करता है। हे पाण्डु पुत्र, अर्जुनत्वको अपने अंगमें लगने न देकर तुम्हारे मनमें जो यह भाव उठता है कि मैं हूँ, वही मैं-पन अर्थात् अहंकार उस ईश्वरका सच्चा स्वरूप है। इसलिए इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि वह ईश्वर ही प्रकृतिकी सत्ता चलावेगा। और यदि तुम्हारे मनमें लड़नेका विचार न भी होगा, तो भी इस बातमें तिल मात्र भी सन्देह नहीं कि यह प्रकृति ही तुम्हें युद्धमें प्रवृत्त करेगी। इसी लिए यह भी कहा जाता है कि ईश्वर सर्वाधिकारी है और वह प्रकृतिका नियन्त्रण करता है; और तब वह प्रकृति अपनी इन्द्रियोंको चलाती है। इसलिए तुम इस बातका विचार प्रकृति पर ही छोड़ दो कि तुम्हें युद्ध करना चाहिए या नहीं।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

"अहं-भावसे, वाचासे, मनसे और शरीरसे उस ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसकी सत्तामें रहकर वह प्रकृति सब काम करती है। जिस प्रकार गंगा जल महासागरमें प्रवेश करता है, उसी प्रकार तुम भी ईश्वरमें प्रवेश करो। फिर उस ईश्वरके कृपा-प्रसादसे तुम्हारा पूर्ण शान्ति-रूपी तरुणीके साथ समागम होगा और तुम आत्मानन्दसे स्व-स्वरूपमें रमण करने लगोगे। स्वयं उत्पत्ति भी जिससे उत्पन्न होती है, विश्रामको भी जहाँ विश्राम मिलता है और अनुभवको भी जहाँ अनुभव प्राप्त होता है, उस आत्म-रूपी पीठके तुम अक्षय राजा बनोगे।" उस समय लक्ष्मीपति श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही बात कही थी।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

"यह गीता समस्त साहित्यका मन्थन करके निकाला हुआ सुप्रसिद्ध सार है। जिससे आत्मा नामक रत्न हाथ आता है, वेदान्तमें जिसका वर्णन "ज्ञान" के प्रौढ़ नामसे हुआ है और इसी लिए जिसकी ख्याति सारे संसारमें फैली हुई है, जिसके प्रकाशसे बुद्धि आदि शक्तियोंमें देखने और समझने आदिकी योग्यता आती है और जिसके द्वारा मैं सर्वद्रष्टा भी दिखाई देता हूँ, वही यह आत्म-ज्ञान है। मैं तो अव्यक्त हूँ ही और मुझ अव्यक्तका भी यह नितान्त गुप्त रखा हुआ धन है। लेकिन तुमसे मैं अपना यह धन भला किस प्रकार छिपाकर रख सकता हूँ! इसी लिए, हे अर्जुन, दया और प्रेमसे बिलकुल भर जानेके कारण मैंने अपना यह गुप्त भांडार तुम्हारे सामने खोलकर रख दिया है। प्रेमके आवेशमें भरी हुई माता जिस तरह अपने बच्चेके साथ खुले मनसे बातें करती है, उसी तरह हमारी यह प्रीति भी क्या हमें उसी प्रकारकी बातोंमें प्रवृत्त नहीं करेगी? जिस प्रकार आकाश भी गला डाला जाय अथवा अमृतकी भी छाल उतार ली जाय अथवा दिव्यको भी और दिव्य बनाया जाय अथवा जिसके अंगके प्रकाशसे पाताल के अणु और रेणु भी प्रकाशित होते हैं, उस सूर्यके भी नेत्रोंमें दिव्य अंजन लगाया जाय, उसी प्रकार इस अवसर पर हे अर्जुन, मुझ सर्वज्ञने भी सब दृष्टियोंसे विचार करके तुम्हें वही बात बतलाई है जो निश्चयपूर्वक ठीक है। अब तुम इन सब बातों पर उचित विचार करके वही काम करो, जो तुम्हें बिलकुल ठीक जान पड़े।" भगवान्की ये बातें सुनकर अर्जुन स्तब्ध हो गया। उस समय भगवान्ने कहा—"हे अर्जुन, तुम सचमुच बहुत गम्भीर हो। यदि भूखा मनुष्य परोसनेवालेसे कुछ संकोचपूर्वक कहे कि बस भइया, अब मेरा पेट भर गया, तो स्वयं उसे ही भूखे रहना पड़ेगा। और साथ ही उसे झूठ बोलनेका भी दोष लगता है। ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सद्गुरुके मिलने पर अपनी लज्जाशीलताके कारण उनसे आत्म-निर्णयके सम्बन्धमें प्रश्न न करना मानों स्वयं अपने आपको ही धोखा देना है। और अपनी इस भूलके कारण उसे आत्म-वंचनाका भी पाप लगता है। परन्तु तुम्हारी इस स्तब्धताके कारण तुम्हारे मनका भाव मुझे यह जान पड़ता है कि एक बार फिर इस ज्ञानकी चर्चा हो।" इस पर अर्जुनने उत्तर

दिया—"हे उदार भगवान्, यदि मैं यह कहूँ कि आपने मेरे मनकी बात बिलकुल ठीक समझ ली है, तो यह भी कुछ ठीक नहीं जँचता। क्योंकि भला ऐसा ज्ञाता भी कहीं मिल सकता है जिसकी आपके साथ तुलना की जा सके? और स्वभावतः केवल आप ही उसके ज्ञाता हैं। फिर यदि सूर्यका वर्णन यह कहकर किया जाय कि वह सूर्य है, तो इससे कौन-सा विशेष अभिप्राय निकल सकता है?" इस पर श्रीकृष्णने कहा—"हे अर्जुन, तुमने जो मेरा यह स्तुतिपूर्ण वर्णन किया है, उसे क्या तुम कम और सामान्य समझते हो?

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥

"अब तुम अच्छी तरह ध्यान देकर मेरे निर्दोष शब्द फिर एक बार सुनो। कोई ऐसी बात नहीं है जो कहने लायक होनेके कारण ही मैं कह रहा हूँ और जो सुनने लायक होनेके कारण ही तुम्हें सुननी चाहिए। बल्कि इस भाषणके सम्बन्धमें तुम यही समझ लो कि तुम्हारा भाग्य ही उदय हुआ है। हे अर्जुन, कछुवीकी केवल दृष्टिसे ही उसके बच्चोंको पोषक दूध मिलता है और चातकके घरमें स्वयं आकाश ही पनभरेका काम करता है। इसलिए जहाँ जो व्यवहार नहीं हो सकता, वहाँ भी उस व्यवहारका फल भोगनेको मिलता है। यदि दैव पूर्ण रूपसे अनुकूल हो तो कौन-सा लाभ कहाँ नहीं प्राप्त हो सकता? यदि सामान्यतः देखा जाय तो यह रहस्य-ज्ञान ऐसा है कि द्वैतका झगड़ा छोड़कर अद्वैत अर्थात् एक तत्वके घरमें ही यह भोगनेको मिल सकता है। और हे सखे अर्जुन, जिस प्रेममें कोई औपचारिक (दिखावटी या ऊपरी) बात नहीं होती, उस प्रेमका जो विषय होता है, उसके सम्बन्धमें यह बात जान रखनी चाहिये कि वह स्वयं अपने सिवा और कुछ भी नहीं होता। हे अर्जुन, जिस दर्पणमें हमें अपना मुँह देखना होता है, वह दर्पण हम स्वयं ही स्वच्छ करते हैं; परन्तु यह स्वच्छता हम उस दर्पणके लिए नहीं करते, बल्कि स्वयं अपने ही लिए करते हैं। इसी प्रकार, हे अर्जुन, तुम्हें निमित्त मात्र बनकर मैं ये सब बातें स्वयं अपने ही लिए कह रहा हूँ; क्योंकि तुम्हीं बतलाओ कि क्या मुझमें और तुममें किसी प्रकारका भेद-भाव है? और इसी लिए मैं अपने मनका भीतरी रहस्य तुमको बतला रहा हूँ, क्योंकि तुम भी मेरे अन्तरंगमें रहनेवाले हो; और एकनिष्ठ भक्तोंके लिए मैं पागल रहता हूँ। हे अर्जुन, जलको अपना सर्वस्व अर्पण करनेके समय नमक इतना भूल जाता है कि सर्वांशमें जल-रूप होनेमें वह नामको भी संकोच नहीं करता। ठीक इसी प्रकार जब तुम मुझसे किसी तरहका भेद-भाव रखना नहीं जानते, तब मैं तुमसे कोई बात कैसे छिपाकर रख सकता हूँ? इसी लिए जिस रहस्यके सामने संसारके बाकी सब रहस्य बिलकुल स्पष्ट और खुले हुए सिद्ध होते हैं, वह अपना परम गुप्त रहस्य-वचन तुम्हें बतला रहा हूँ। सुनो।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥

"भाई वीर अर्जुन, तुम मुझ सर्वव्यापकको अपने आन्तरिक और बाह्य सभी

प्रकारके व्यवहारोंका विषय करो। जिस प्रकार आकाशके सभी अंगोंमें वायु मिली हुई रहती है, उसी प्रकार तुम मुझमें मिलकर रहो। सारांश यह कि तुम अपने मनको एक मात्र मेरा ही मन्दिर बनाओ और मेरे ही श्रवणसे अपने कान अच्छी तरह भरो। ये सन्त-जन जो आत्म-ज्ञानसे निर्मल हो चुके हैं, मेरी ही छोटी छोटी प्रतिमायें हैं; इसलिए जिस प्रकार कामुक स्त्री अपने पतिकी ओर प्रेमपूर्वक देखती है, उसी प्रकार तुम्हारी दृष्टि भी इन सन्तोंकी ओर प्रेमपूर्वक देखे। मैं वस्तु मात्रका निवास-स्थान हूँ, इसलिए मेरे निर्मल नामकी रट तुम अपनी जिह्वाके साथ लगाकर उसे जीवित रखो। तुम ऐसी व्यवस्था करो जिसमें तुम्हारे हाथोंके सब काम और पैरोंका चलना-फिरना सब कुछ मेरे ही लिए हो। हे अर्जुन, अपने अथवा पराये लोगोंके साथ तुम जो उपकार करोगे, उसी यज्ञसे तुम मेरे सच्चे याजक हो सकोगे। परन्तु इस तरहकी एक एक बात मैं तुमको कहाँ तक बतलाऊँ! भाई, तुम स्वयं अपने आपमें सेवक-भावकी स्थापना करो और बाकी सब लोगोंको मद्रूप मानकर उन्हें सेव्य समझो। इससे भूत-मात्रकी ओरसे तुम्हारे मनका द्वेष दूर हो जायगा और तुम इसी ज्ञान-भावनासे नम्रता ग्रहण कर सकोगे कि सब जगह मैं ही मैं हूँ; और इससे तुम्हें मेरा पूरा और पक्का आश्रय प्राप्त होगा। फिर इस भीड़-भाड़से भरे हुए संसारमें किसी तीसरेका नाम ही न रह जायगा और हम-तुम सचमुच एकान्तमें मिल सकेंगे। फिर चाहे कैसी ही अवस्था क्यों न उत्पन्न हो, तो भी तुम्हारा और मेरा पारस्परिक सहवास उपभोग करनेके लिए ही बच जायगा और हम लोगोंका सुख आपसे आप बढ़ने लगेगा। और हे अर्जुन, जिस अवस्थामें तीसरे पनका झगड़ा नहीं रह जाता, उसी अवस्थामें तुम अन्तमें मद्रूप होकर मिल जाओगे। जब जलका नाश हो जाता है, तब जलमें पड़नेवाले प्रतिबिम्बको अपने बिम्बके साथ मिलकर एक होनेसे भला कौन रोक सकता है? यदि वायु आकाशके साथ अथवा तरंग समुद्रके साथ मिलकर एक होने लगे तो उसमें कौन बाधक हो सकता है? तुम और हम जो अलग अलग दिखाई देते हैं, वह इसी देह-धर्मके कारण दिखाई देते हैं। परन्तु जब यह देह ही न रह जायगा, तब यह बात निश्चित है कि तुम भी "मैं" ही हो जाओगे। मेरे इस वचन के सम्बन्धमें तुम अपने मनमें तनिक भी शंका मत उत्पन्न होने दो। यदि इस विषयमें तुम कुछ भी उपेक्षा करो तो तुम्हें अपनी कसम है। तुम्हें स्वयं तुम्हारी ही शपथ देना मानों आत्म-स्वरूपकी ही शपथ देना है। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है, क्योंकि प्रीतिका लक्षण ही यही है कि वह लज्जाका कभी स्मरण ही नहीं होने देती। और नहीं तो जो ज्ञानका विषय है, जो प्रपंचसे अलिप्त है, जिसके कारण इस विश्वका वास्तवमें भास होता है, जिसकी आज्ञाका प्रताप स्वयं कालको भी हरा देता है, वह मैं देव यदि सत्य-संकल्प हूँ और यदि मैं जगतके कल्याणके लिए सदा सचेष्ट रहता हूँ, तो फिर मैं शपथ देनेका निरर्थक प्रयत्न ही क्यों करूँ? परन्तु हे अर्जुन, तुम्हारे प्रेमके कारण मैं इतना पागल हो गया हूँ कि अपने देवत्ववाले भूषण भी मैंने उसी पागलपनमें फेंक दिये हैं। हे अर्जुन, इसी लिए मैं तो मानों आधा हो गया हूँ और तुम मद्रूप होनेके कारण पूरे या संपूर्ण बन गये

हो। हे अर्जुन, जिस प्रकार अपना कार्य सिद्ध करनेके लिए राजाको स्वयं अपनी ही शपथ करनी पड़ती है, ठीक उसी प्रकारकी बात यहाँ भी है।" यह सुनकर अर्जुनने कहा—हे भगवन्, आप इस प्रकारकी विलक्षण बातें न कहें; क्योंकि मेरे समस्त कार्य केवल आपके नामके स्मरणसे ही चल रहे हैं। तिस पर आप इस समय मुझे उपदेश देनेके लिए बैठे हैं। अब यदि आप ही शपथपूर्वक वचन देने लगें तो फिर मैं यह जानना चाहता हूँ कि क्या आपकी इस विनोदपूर्ण लीलाकी कोई मर्यादा भी है? सूर्यके प्रकाशका एक अल्प अंश भी कमलोंको खिला देता है, परन्तु इसी निमित्तसे वह पूरेका पूरा प्रकट होता है। मेघ इतना जल बरसाता है कि उससे पृथ्वीका दाह भी शान्त हो जाय और सारा समुद्र भी भर जाय। ऐसी अवस्थामें जब वह चातककी तृषा शान्त करता है, तब क्या वह चातक उसका केवल निमित्त नहीं है? इसलिए हे करुणा-निधि और दाताओंमें श्रेष्ठ भगवन्, क्या इस अवसर पर यह नहीं कहना पड़ता कि आपकी इस उदारताका मैं भी निमित्त मात्र ही हूँ?" इतने में श्रीकृष्णदेवने कहा—बस बहुत हो चुका। इस विषयका यह प्रसंग ही नहीं है। मैंने अभी तुम्हें जो साधन बतलाये हैं, उन साधनोंसे तुम निस्सन्देह मेरा स्वरूप प्राप्त करोगे। नमकका डला जिस समय समुद्रमें पड़ता है, उसी समय वह गल जाता है। अथवा उसके न गलनेके लिए कोई कारण होता है? इसी प्रकार जब वस्तु मात्रमें रहनेवाले मेरे स्वरूपकी भक्ति उत्पन्न हो जायगी, तब सभी विषयोंमें तुम्हारे मनमें आत्म-बुद्धि उत्पन्न हो जायगी, तुम्हारा देहाभिमान बिलकुल नष्ट हो जायगा और तुम भी "मैं" ही बन जाओगे। इस प्रकार मैंने तुम्हें यह बतला दिया है कि कर्मसे सीधी तरहसे बढ़ते-बढ़ते साधनोंकी मंजिल मेरी प्राप्ति तक कैसे आकर पहुँचती है। हे अर्जुन, इस बराबर आगे बढ़नेवाली गतिका क्रम ऐसा है कि यदि सब कर्म मुझे अर्पित कर दिये जायें तो मेरी भावनासे चित्त शान्त और प्रसन्न हो जाता है; फिर उस प्रसन्नतासे मेरा ज्ञान प्राप्त होता है और उस ज्ञानके द्वारा मनुष्य मेरे स्वरूपके साथ मिलकर एक-रूप हो सकता है। हे अर्जुन, उस अवस्थामें साध्य अथवा साधन कुछ भी बाकी नहीं रह जाता। बल्कि यों कहना चाहिए कि उस अवस्थामें कुछ भी काम करनेके लिए बाकी नहीं रह जाता। तुम अपने समस्त कर्म निरन्तर मुझे अर्पित करते रहे हो और इसी लिए आज तुम्हें मेरी प्रसन्नता प्राप्त हुई है। इसी लिए इस प्रसन्नताकी सामर्थ्यसे युद्ध करनेका प्रतिबन्ध नष्ट हो जायगा। मैं एक बार तुम पर मुग्ध हुआ हूँ और इसलिये अब मैं कभी ऐसी अवस्था नहीं आने दूँगा जिसमें तुम्हें गिड़गिड़ाना पड़े। जिसके योगसे इस सारे प्रपंचके साथ साथ अज्ञानका भी नाश होता है और सब जगह केवल मैं ही मैं दिखाई देने लगता हूँ, उसी ज्ञानका दृष्टान्त आदिकी सहायता से स्पष्ट किया हुआ रूप यह गीता है। मैंने तुम्हें अनेक प्रकारसे आत्म-ज्ञानका उपदेश किया है; और धर्म-धर्मकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले जो अज्ञान हैं, उन सबको तुम इस ज्ञानकी सहायतासे हटाकर दूर फेंक दो।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

"जिस प्रकार आशा दुःखोंको जन्म देती है अथवा निन्दासे पातक उत्पन्न होते हैं अथवा दुर्दैव जिस प्रकार दीनताका कारण होता है, उसी प्रकार अज्ञानने स्वर्ग और नरक प्राप्त करनेवाले धर्म अधर्मकी सृष्टि की है। परन्तु अज्ञान-जन्य उन समस्त कल्पनाओंको तुम इस ज्ञानसे बिलकुल दूर कर दो। स्वयं डोरीको हाथमें ले लेने पर जिस प्रकार हम उस डोरीमें होनेवाले सर्पाभासका परित्याग कर देते हैं अथवा जिस प्रकार स्वप्नके साथ साथ हम उसके समस्त व्यवहारोंका भी अन्त कर देते हैं अथवा जिस प्रकार कमल रोगके नष्ट होते ही चन्द्र-बिम्बमें दिखाई देनेवाला पीलापन भी आपसे आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार रोगके दूर होने पर हमारी जबानका कड़ुआपन ही आपसे आप दूर हो जाता है अथवा जिस प्रकार दिनके डूबने पर मृग-जल भी नहीं दिखाई देता अथवा जिस प्रकार लकड़ीके परित्यागके साथ ही साथ अग्निका भी परित्याग हो जाता है, उसी प्रकार जो मूल अज्ञान धर्म और अधर्मकी गड़बड़ी उत्पन्न करता है, उस अज्ञानको दूर कर देने पर साथ ही साथ धर्म और अधर्मके सब झगड़े भी आप से आप दूर हो जाते हैं। और जब अज्ञान नष्ट हो जाता है, तब आपसे आप एक मात्र मैं ही बाकी बच रहता हूँ। जिस प्रकार निद्राके साथ साथ स्वप्नका भी नाश होने पर केवल अपना ही भान बाकी नहीं रह जाता है उसी प्रकार अज्ञानके दूर हो जाने पर मेरे सिवा और कुछ बाकी नहीं रह जाता; और मेरे उस केवल स्वरूपमें मिलकर जीव बिलकुल एकाकार हो जाता है। स्वयं अपनी भी भिन्नता न रखकर साथ मिलकर एक हो जानेको ही "मेरी शरणमें आना" कहते हैं। जिस प्रकार घटका नाश होते ही उसमेंका गगन गगनमें मिल जाता है, उसी प्रकार इस शरणागतिसे मेरे साथ एकता सिद्ध होती है। जिस प्रकार सोनेकी मणि सोनेमें अथवा तरंग पानीमें मिल जाती है, उसी प्रकार, हे अर्जुन, तुम भी मेरी शरणमें आकर मेरे साथ मिल जाओ। हे अर्जुन, और नहीं तो सागरकी शरणमें बड़वाग्नि आई और उसने स्वयं सागरको ही जला डाला; इस प्रकारकी कल्पनाएँ तुम बिलकुल छोड़ दो। कोई मेरी शरणमें आवे और फिर भी उसमें अपने जीव होनेका भाव बना रहे, यह बात बिलकुल हास्यास्पद है। जिस बुद्धिके कारण इस प्रकारकी बातें मुँहसे निकलें, उस बुद्धिको भला लज्जा क्यों न आवे? हे पार्थ, यदि किसी राजाके गले कोई सामान्य दासी भी आ पड़े तो वह भी राज-वैभव प्राप्त कर लेती है। फिर यदि कोई यह कहे कि मुझ विश्वके ईश्वरके मिल जाने पर भी जीवत्वकी गाँठ नहीं टूटती, तो इस प्रकारकी दुष्ट बातोंकी ओर तुम बिलकुल ध्यान मत दो। मद्रूप होकर बहुत सहजमें मेरी सेवा की जा सकती है; इसलिए तुम मेरी ऐसी ही सेवा करो, क्योंकि इसीके द्वारा ज्ञानकी प्राप्ति होती है। इसके उपरान्त जिस प्रकार मठेमेंसे निकला हुआ मक्खन फिर लाख उपाय करने पर भी उस मठेमें नहीं मिल सकता, उसी प्रकार जब तुम एक बार अद्वैतवाली भावनासे मेरी शरणमें आ जाओगे, तब लाख उपाय करने पर भी धर्म और अधर्मका झगड़ा तुम्हें स्पर्श न कर सकेगा। लोहा यों ही पड़ा पड़ा मिट्टी हो जाता है। परन्तु जब एक बार पारसके साथ स्पर्श होने पर वह सोना बन जाता है,

तब फिर उसमें कभी मल नहीं लगता। अथवा यदि लड़कीको रगड़कर उसमेंकी अग्नि प्रकट कर ली जाय, तो फिर वह अग्नि लकड़ीमें छिपी नहीं रह सकती। हे अर्जुन, क्या कभी सूर्यको भी अँधेरा दिखाई देता है? अथवा क्या कभी जागते रहनेकी अवस्थामें भी स्वप्नके भ्रमका अनुभव किया जा सकता है? ठीक इसी प्रकार एक बार मेरे साथ एकता हो जाने पर मेरे स्वरूपके सिवा क्या और कोई चीज बाकी रहनेका कोई कारण हो सकता है? इसलिए तुम मेरे सिवा और किसीकी अपने मनमें कल्पना भी मत करो। तुम्हारे सब पाप और पुण्य मैं ही होऊँगा। समस्त बन्धनोंका लक्षण जो पाप वास्तवमें द्वैत भावके कारण बचा रह जाता है, वह भी मेरे ज्ञानके कारण नष्ट हो जायगा। हे सुविज्ञ अर्जुन, जो नमक पानीमें पड़ता है, वह पूरी तरहसे पानी ही हो जाता है। इसी प्रकार यदि तुम अनन्य भावसे मेरी शरणमें आओगे तो तुम भी मद्रूप ही हो जाओगे। और हे अर्जुन, जब तुम मद्रूप हो जाओगे, तब आपसे आप मुक्त भी हो जाओगे। तुम मेरा स्वीकार करो और मैं अपने प्रकाशसे तुम्हारी मुक्ति कर दूँगा। इसी लिए, हे अर्जुन, इस समय तुम्हें इस प्रकार चिन्तित होनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। हे बुद्धिमान पार्थ, तुम इस ज्ञानसे युक्त होकर एक मात्र मेरी ही शरणमें आ जाओ।" विश्व-स्वरूप, सर्व-द्रष्टा और सर्व-व्यापी भगवान श्रीकृष्णने अर्जुनसे यही बातें कही थीं। इसके उपरान्त उन्होंने अपना कंकण-युक्त साँवला दाहिना हाथ पसारकर अपनी शरणमें आये हुए उस भक्त-श्रेष्ठ अर्जुनको आलिंगन किया। जहाँ न पहुँच सकनेके कारण बुद्धिको बगलमें दबाकर शब्द पीछे लौट आते हैं और जिसका शब्द अथवा बुद्धिसे आकलन नहीं हो सकता, वही स्वरूप अर्जुनको प्रदान करनेके लिए श्रीकृष्णने बहानेसे उसको यह आलिंगन किया था। श्रीकृष्णके हृदयके साथ अर्जुनका हृदय लगते ही श्रीकृष्णके हृदयका रहस्य अर्जुनके हृदयमें प्रविष्ट हो गया और उसके द्वैत भावका अन्त होते ही श्रीकृष्णने उसे आत्म-स्वरूप कर लिया। जिस प्रकार एक दीपकसे दूसरा दीपक जलाया जाता है, उसी प्रकारका वह गाढ़ आलिंगन भी हुआ था। और द्वैत बनाये रखकर भी श्रीकृष्णने अर्जुनको आत्म-स्वरूप कर लिया था। फिर उस अर्जुनके हृदयमें महासुखकी जो बाढ़ आई, उसमें इतने बड़े श्रीकृष्ण भी डूब गये। एक सागर जब दूसरे सागरमें मिलता है, तब पानी दूना हो है और यथेष्ट स्थान प्राप्त करनेके लिए वह पानी ऊपर आकाशमें भी उछलने लगता है। ठीक वही बात श्रीकृष्ण और अर्जुनके मिलनेमें भी हुई थी। दोनों मारे आनन्दके फूले नहीं समाते थे। कौन कह सकता है कि यह सम्मिलन कैसा हुआ था। उस समय सारा विश्व मानों पूरी तरहसे नारायणसे भर गया था। इस प्रकार वेदोंका मूल-सूत्र बनानेवाला यह गीता-शास्त्र समस्त अधिकारोंसे युक्त और पूर्ण रूपसे पवित्र श्रीकृष्णने प्रकट किया था। आप लोगोंके मनमें कदाचित् यह शंका उत्पन्न हो कि यह गीता वेदोंका मूल कैसे हुई; तो मैं इसका भी स्पष्टीकरण कर देता हूँ। जिनके श्वाससे वेदोंका जन्म हुआ, स्वयं वही सत्यवाणि महाविष्णु अपने मुखसे प्रतिज्ञापूर्वक यह बात कहते हैं; और इसी लिए हमारा यह कहना भी बिलकुल ठीक है कि वेदोंका मूल गीता

है। इस बातका स्पष्टीकरण और रीतिसे भी किया जा सकता है। यदि किसी वस्तुका नाश न हो और उसका समस्त विस्तार किसी पदार्थमें लय रूपमें संगृहीत हो, तो वह पदार्थ उस वस्तुका बीज ही समझा जाना चाहिए। और जिस प्रकार बीजमें वृक्ष रहता है, उसी प्रकार तीन कांडोंवाली समस्त वेद-राशि इस गीताके अन्दर भरी हुई है। इसी लिए मुझे तो यही जान पड़ता है कि यह गीता ही वेदोंका बीज है; और यह बात स्पष्ट रूपसे दिखाई भी पड़ सकती है। जिस प्रकार हीरे और मानिक आदिके आभूषणोंसे सारा शरीर अलंकृत होता है, उसी प्रकार वेदोंके त्रिकांडात्मक भाग इस गीतामें स्पष्ट रूपसे सुशोभित हो रहे हैं। अब मैं यह बात स्पष्ट करके बतलाता हूँ कि वेदोंके कर्म-कांड आदि तीनों कांड गीतामें कहाँ कहाँ हैं। इसका पहला अध्याय तो केवल शास्त्रीय विचारकी आरम्भिक प्रस्तावना है। दूसरे अध्यायमें सांख्य शास्त्रका सिद्धान्त प्रकट किया गया है। उसमें केवल यह बतलाया गया है कि मोक्षकी प्राप्तिके लिए सांख्य शास्त्र एक मात्र ज्ञानके अतिरिक्त और किसी बातकी अपेक्षा नहीं करता। फिर तीसरे अध्यायमें इस विषयका आरम्भ किया गया है कि जो लोग अज्ञानसे जकड़े हुए हैं, उनके लिए मोक्ष प्राप्त करनेके साधन कौन-से हैं। वह साधन यह है कि जो काम्य तथा निषिद्ध कर्म मनुष्यको देहाभिमानके बन्धनमें डालते हैं, उन्हें छोड़कर मनुष्यको सदा ठीक तरहसे अपने लिए उपयुक्त नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करना चाहिये। तीसरे अध्यायमें भगवानने यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि इस प्रकार निर्मल वृत्तिसे कर्मोंका आचरण करना चाहिए। इसीको कर्म-कांड समझना चाहिए। जब बद्ध पुरुषके मनमें यह विचार उत्पन्न होता है कि इन नित्य तथा नैमित्तिक आदि कर्मोंका आचरण अज्ञानका बन्धन किस प्रकार तोड़ता है, तब वह मुमुक्षुओंके पद पर आ पहुँचता है। और उस समयके लिए भगवानने यह बतलाया है कि मनुष्यको अपने समस्त कर्मोंका आचरण, उन्हें ब्रह्मार्पण करते हुए करना चाहिए। श्रीकृष्णदेवका कहना यह है कि शरीर, वाणी और मनके द्वारा जिन विहित कर्मोंका जिस प्रकार आचरण हो, वे सब उसी रूपमें ईश्वरके अर्पण किये जाने चाहिएँ। कर्म-योगके द्वारा होनेवाली ईश्वर-भक्तिके व्याख्यानका जो यह मधुर खाद्य पदार्थ चौथे अध्यायके अन्तिम भागमें परोसा गया है, वही "ईश्वरका भजन कर्मोंके आचरणके द्वारा करना चाहिए" वाला तत्त्व बराबर विश्वरूप-दर्शनवाले ग्यारहवें अध्यायके अन्त तक प्रतिपादित किया गया है। इसलिए चौथे अध्यायसे ग्यारहवें अध्याय तक जो आठ अध्याय हैं, वही देवता कांड है। समस्त प्रतिबन्धोंको दूर करके गीता शास्त्रने इस विषयमें ऊहापोह किया है। और इस ईश्वर-भक्तिके कारण ईश्वरके प्रसादसे श्री गुरु-सम्प्रदायके अनुरूप जो सत्य और प्रेमपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, उसके सम्बन्धमें मैं यह समझता हूँ कि बारहवाँ अध्याय यह बतलाता है कि उसे अद्वेष्टा और अमानिता आदि गुणोंकी सहायतासे बढ़ाना चाहिए। उस बारहवें अध्यायसे पन्द्रहवें अध्याय तक ज्ञानका परिपक्व फल ही निरूपणका विषय है। इसलिए ऊर्ध्वमूल तकके इन चार अध्यायोंमें ज्ञान-कांडका ही विवेचन है। इसलिए यहाँ कांड-त्रयका

निरूपण करनेवाली श्रुति (अर्थात् ब्रह्म विद्या) यही गीता पद्य रूपी रत्न-खचित अलंकार पहनकर सुशोभित और अलंकृत हुई है। अस्तु। कांड-त्रयात्मक श्रुति जिस मोक्ष-फलकी उच्च स्वरसे घोषणा करती है और जिसे अवश्यमेव प्राप्त करनेके लिए वह कहती है उस फलके साधन ज्ञानके साथ दिन-रात बैर करनेवाले जो अज्ञानके समुदाय हैं, उनका प्रतिपादन सोलहवें अध्यायमें किया गया है। सत्रहवें अध्यायमें यह सन्देश है कि शास्त्रोंकी सहायतासे इन शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इस प्रकार पहले अध्यायसे लेकर सत्रहवें अध्यायकी समाप्ति तक भगवानने वेदोंके ही रहस्यका विवेचन किया है और इन सत्रहों अध्यायोंके अर्थका निष्कर्ष जिसमें दिया गया है, वह यह अठारहवाँ कलशाध्याय है। इस प्रकार समस्त अध्यायोंकी संख्या देखते हुए यह भगवद्गीता नामक ग्रन्थ अपने ज्ञान-दानकी अलौकिक उदारताके कारण मानों मूर्तिमान वेद ही है। इसमें सन्देह नहीं कि वेद अपनी जगह पर ज्ञानकी सम्पत्तिसे भरपूर भरा हुआ है, लेकिन उसके समान दूसरा कंजूस भी और कहीं न मिलेगा। और इसका कारण यह है कि वह केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीन जातियोंके ही कानों तक पहुँच सकता है। इनके अतिरिक्त स्त्री और शूद्र आदि जो दूसरे मानवी जीव हैं, उन्हें वेद अपने ज्ञान-मन्दिरमें जरा भी स्थान नहीं देता। इसी लिए मुझे ऐसा जान पड़ता है कि प्राचीन कालके इस दोषका परिमार्जन करनेके लिए ही वेद इस गीता शास्त्रका वेश धारण करके सब लोगोंके लिए साध्य हुआ है। केवल यही नहीं, बल्कि वह गीताके स्वरूपमें अर्थ-रूपसे मनमें प्रवेश करके श्रवण के द्वारा कानोंसे लगकर अथवा जप और पाठके बहाने मुखमें रहकर अब सभी लोगोंको प्राप्त होता है। जिन्हें इस गीताका पाठ याद होता है, उन्हें तो वेद इस गीताके रूपमें मोक्षका सुख प्रदान करता ही है; परन्तु उनके साथ साथ जो लोग गीताको लिखकर और उसे केवल पुस्तकके रूपमें अपने पास रखते हैं, उन सामान्य बुद्धिवाले लोगोंके लिए भी वेदने इस संसारके चौरास्ते पर मोक्ष-सुखका मानो यह अन्न-सत्र ही खोल रखा है। जिस प्रकार आकाशमें रहने अथवा पृथ्वी पर बैठने अथवा सूर्यके प्रकाशमें घूमनेके लिए केवल गगन या आकाश ही एक ऐसा स्थान है जो सबके लिए समान रूपसे खुला हुआ है, और जिसमें किसीके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है, उसी प्रकार यह गीता भी बिना किसी प्रकारके बन्धनके सबके लिए है। जो कोई इसके पास आता है, उसे बिना उत्तम या मध्यम कहे यह अपना लेती है और बिना किसी प्रकारका भेद-भाव किये सब लोगोंको समान रूपसे कैवल्य सुख दान देकर सारे संसारको शान्त करती है। अपनी पुरानी निन्दासे डरकर वेदने गीताके उदरमें प्रवेश किया है और इसी लिए अब उसकी कीर्ति शुद्ध और उज्ज्वल हो गई है। इस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको जिस भगवद्गीताका उपदेश किया था, वह मानो वेदका ऐसा स्वरूप है जिसका सेवन सभी लोग सहजमें कर सकते हैं। परन्तु जिस प्रकार बछड़ेके बहाने गौके स्तनोंमें दूध उतरता है और तब वह दूध घर-घरको पीनेको मिलता है, उसी प्रकार इस गीताने भी पाँडवोंके बहाने सारे संसारका उद्धार कर दिया है। प्यासे चातक पर दया करके मेघ उसके

लिए पानी समेत दौड़ा आता है। परन्तु उस पानीसे समस्त स्थावर और जंगमका भला होता है। जिस कमलको और कोई आधार नहीं है, उस कमलके लिए सूर्य प्रति दिन उदय होता है, परन्तु उससे सारे संसारके नेत्रोंको सुख होता है। इसी प्रकार अर्जुनके बहाने भगवानने गीताको प्रकाशित किया है, परन्तु इसीसे सारे जगतके सिर परसे संसार सरीखा बहुत बड़ा बोझ दूर हो गया है। ये भगवान् लक्ष्मी-पति नहीं हैं, बल्कि इन्हें मुख-रूपी आकाशसे उदित होकर शास्त्रीय रहस्यके रत्नोंकी प्रभासे तीनों लोकोंको उज्वल करनेवाला सूर्य ही कहना चाहिए। जिस कुलमें जन्म लेनेवाला अर्जुन इस ज्ञानका पात्र हुआ और जिसने सारे जगतके लिए गीता शास्त्रका यह द्वार खोल दिया, वह धन्य कुल सचमुच पवित्र है। अस्तु। इसके उपरान्त सद्‌गुरु श्रीकृष्ण स्व-स्वरूपमें मिल जानेवाले अर्जुनको फिर द्वैतवाले भावमें ले आये। वे कहने लगे—"हे पार्थ, क्या यह शास्त्र तुम्हें अच्छा जान पड़ा ?" इस पर अर्जुनने कहा—"जी हाँ महाराज, आपके कृपा-प्रसादसे मुझे यह शास्त्र बहुत ठीक जँचा।" इस पर भगवान फिर कहने लगे—"हे अर्जुन, गुप्त भांडार प्राप्त करनेके लिए भाग्यके अलौकिक बलकी आवश्यकता होती है। परन्तु भाग्यसे एकत्र की हुई सम्पत्तिका उपयुक्त उपभोग करनेके लिए महद् भाग्य किसी विरलेको ही प्राप्त होता है। बिना जमाये हुए शुद्ध दूधके क्षीर सागर जैसे प्रचंड मटकेको मथनेमें कितना अधिक कष्ट हुआ होगा ! परन्तु वह सारा परिश्रम भी अन्तमें सफल ही हुआ, क्योंकि उसे मथनेवालोंने स्वयं अपनी आँखोंसे देख लिया था कि उसमेंसे अमृत निकला है। परन्तु अन्तमें उस अमृतका ठीक तरहसे यत्न उन लोगोंसे न हो सका। इसी लिए जो पदार्थ अमरता प्राप्त करनेके लिए सम्पादित किया गया था, वही मरणका कारण हुआ। यदि बिना इस बातका ज्ञान प्राप्त किये कि सम्पत्तिका भोग किस प्रकार करना चाहिए, सम्पत्तिका संग्रह किया जाय तो इसी प्रकारका अनर्थ होता है। राजा नहुष स्वर्गके स्वामी तो हो गये थे, परन्तु उनका आचरण ठीक नहीं हुआ ; और इसी लिए तुम यह बात जानते हो न कि उन्हें सर्पकी योनिमें जाना पड़ा था ? हे अर्जुन, तुम्हारे संग्रहमें अ-गण्य पुण्य थे, इसी लिए यह सर्वश्रेष्ठ शास्त्र प्राप्त करनेके लिए तुम पात्र हुए हो। परन्तु अब तुम इस शास्त्रके अनुसार पूरा पूरा आचरण करो और अटल निष्ठासे इसका पालन करो। नहीं तो हे अर्जुन, यदि तुम सम्प्रदायका उचित ध्यान न रखोगे और केवल इसके अनुष्ठानमें लग जाओगे तो उस अनुष्ठानकी भी वही अमृत-मन्थनवाली दशा होगी। मान लो कि खूब अच्छी मोटी-ताजी और देखनेमें सुन्दर गौ मिल गई। लेकिन सन्ध्या समय उसका दूध पीनेको हमें उसी दशामें मिल सकेगा, जब हम उसका दूध दुहनेकी कला जानते होंगे। ठीक इसी प्रकार मान लो कि गुरु प्रसन्न हो गये और शिष्य भी विद्यासे सम्पन्न हो गया। परन्तु उस विद्याका ठीक ठीक फल तभी प्राप्त होता है, जब उस विद्याके सम्प्रदायका उचित रूपसे पालन किया जाता है। इसी लिए इस शास्त्रका जो सम्प्रदाय है, वह तुम अत्यन्त निष्ठापूर्वक सुन लो।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

"हे अर्जुन, तुमने जो अत्यन्त भक्ति-पूर्वक यह गीता-शास्त्र प्राप्त किया है, इसकी बातें कभी किसी तपोहीनसे नहीं कहनी चाहिएँ। अथवा यदि कोई अच्छा तपस्वी भी हो, परन्तु उसके हृदयमें गुरुकी दृढ़ भक्ति न हो, तो उससे भी यह शास्त्र उसी प्रकार बचाना चाहिए, जिस प्रकार अन्त्यजोंसे वेद, बचाये जाते हैं। कौआ चाहे बहुत अधिक वृद्ध ही क्यों न हो, परन्तु फिर भी जिस प्रकार उसे यज्ञकी आहुतिका शेष भाग नहीं दिया जाता, उसी प्रकार ऐसे तपोवृद्धको भी यह गीता नहीं देनी चाहिये, जो गुरु-भक्तिसे हीन हो। अथवा यदि कोई ऐसा मनुष्य मिले, जिसने तप भी किया हो और जिसमें गुरुदेवके प्रति भक्ति भी हो, परन्तु फिर भी जिसमें ज्ञान-श्रवण करने का अनुराग न हो, तो वह अपने पहले दोनों गुणोंके कारण लोकमें पूज्य तो अवश्य होगा, परन्तु गीता श्रवण करनेका पात्र वह न हो सकेगा। मोती चाहे कितना ही अधिक आबदार क्यों न हो, परन्तु यदि उसमें मुख या छिद्र न हो तो क्या डोरा कभी उसमें घुस सकेगा ? यह बात भला कौन न मानेगा कि सागर बहुत अधिक गम्भीर है ? परन्तु उस पर जो पावसकी वृष्टि होती है, क्या वह व्यर्थ ही नहीं जाती ? जिसका पेट अच्छी तरह भरा हुआ हो, उसके सामने आग्रहपूर्वक उत्तम पक्वान्न परोसकर उन्हें व्यर्थ नष्ट करनेकी अपेक्षा वही पक्वान्न उदारतापूर्वक भूखे आदमियोंको ही क्यों न दिये जायँ ? इसलिए मनुष्य चाहे कितना ही अधिक योग्य क्यों न हो, तो भी यदि उसके हृदयमें ज्ञान श्रवण करनेका अनुराग न हो, तो उसे हँसीमें भी इस शास्त्रकी बातें न बतलानी चाहिएँ। क्यों, यह बात ठीक है या नहीं ? नेत्र तो रूप-सौन्दर्यके पारखी होते हैं, वे भला सुवासका मर्म कैसे समझ सकते हैं ? जहाँ जो बातें उपयुक्त हों, वहीं वह फलवती भी होती है। इसलिए तपस्वी और भक्त पुरुषोंका सम्मान तो अवश्य करना चाहिए, परन्तु जो शास्त्रके श्रवणके प्रति श्रद्धा न दिखला सकता हो, उसे इस गीताका उपदेश कभी न देना चाहिए। अब मान लो कि किसीमें तप है, भक्ति है, श्रवणका अनुराग भी है और इस प्रकार सारी सामग्री एकत्र है, तो भी इस गीता-शास्त्रका निर्माण करनेवाले और समस्त लोकोंके शुभ प्रभुके सम्बन्धमें जो प्रायः तुच्छतापूर्ण बातें कहा करता हो अथवा जो मेरे भक्तोंके सम्बन्धमें भी और स्वयं मेरे सम्बन्धमें भी बहुत-सी निन्दापूर्ण बातें कहा करता हो, उसे भी तुम गीता-शास्त्र सुननेके लिए उपयुक्त पात्र न समझो। उसमें जो और सब गुणोंकी सामग्री है, उसे बिना दीप-ज्योतिवाली रातकी दीवट ही समझना चाहिए। मान लो कि किसीका रंग बहुत गोरा है और वह तरुण भी है और अलंकारों आदिसे भली भाँति सुसज्जित भी है, परन्तु उसके शरीरमें प्राण नहीं है। अथवा खरे सोनेका बना हुआ मन्दिर है, परन्तु उसके दरवाजे पर नागिन रास्ता रोककर खड़ी है। अथवा दिव्य अन्न पककर तैयार है, परन्तु उसमें कालकूट विष मिला दिया गया है। अथवा मैत्री तो है, परन्तु उसके अन्दर कपट छिपा हुआ है। हे बुद्धिमान अर्जुन, तुम यह बात अपने ध्यानमें रखो कि उन लोगोंकी भी ठीक इसी प्रकारकी दशा होती है, जिनमें तप, भक्ति और बुद्धि तो होती है, परन्तु फिर भी जो मेरे भक्तोंकी अथवा मेरी निन्दा करते हैं। वे लोग भी उक्त पदार्थोंकी ही भाँति

दुष्ट होते हैं। इसलिए हे पार्थ, मेरे भक्तोंकी और मेरी निन्दा करनेवाला पुरुष चाहे भक्त, बुद्धिमान् और तपस्वी ही क्यों न हो, तो भी उससे कभी इस शास्त्रका स्पर्श भी मत होने दो। हे अर्जुन, अब मैं इससे अधिक और क्या कहूँ! निन्दक चाहे स्वयं ब्रह्माके समान प्रज्ञावान् ही क्यों न हो, तो भी तुम उसके हाथोंमें यह गीता कभी हँसीमें भी मत दो।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः॥६८॥

"इसलिए हे धनुर्धारी पांडव, जो नींवमें तपकी भरपूर भराई भरकर उसके आधार पर गुरु-भक्तिका दृढ़ मन्दिर बन गया है और जिसका ज्ञान-श्रवणकी लालसावाला सदर दरवाजा सदा खुला रहता है और निन्दाके अभावके रत्नोंसे जिसका सुन्दर कलश बना है, उस निर्दोष भक्त-रूपी मन्दिरमें तुम इस गीता-रत्न रूपी ईश्वरकी स्थापना करो। ऐसा करनेसे तुम इस संसारमें स्वयं मेरी ही योग्यता तक पहुँच जाओगे। अ, उ और म इन तीन मात्राओंके गर्भमें "ॐ" एकाक्षर रूपसे बन्द पड़ा हुआ था। वेदोंके उस मूल-बीज प्रणवका इस गीताकी शाखाओंसे विस्तार हुआ है अथवा यह समझना चाहिये कि श्लोकोंके फूलों और फलोंके द्वारा वह गायत्री ही अवतरित हुई है। जिस माताके लिए एक बालकके सिवा और कोई न हो, उस माताको जिस प्रकार ऐसा बालक प्राप्त करा दिया जाय, जिसके लिए माताके सिवा और कोई गति ही न हो, उसी प्रकार जो व्यक्ति इस महामन्त्रसे भरी हुई इस गीताका मेरे भक्तोंके साथ बहुत प्रेमपूर्वक योग करा देता है, वह शरीर-पातके उपरान्त अवश्य ही मेरे साथ मिलकर एक-रूप हो जायगा।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि॥६९॥

"और जब तक ऐसा पुरुष देहाकार-रूपी अलंकार धारण करके देखनेमें मुझसे अलग रहेगा, तब तक वह मुझे हृदयसे अत्यन्त प्रिय होगा। ज्ञानी, कर्मठ और तपस्वीमेंसे केवल ऐसा पुरुष मुझे जितना अधिक प्रिय होता है, उतना अधिक प्रिय इस भूतल पर मुझे और कोई दिखाई नहीं देता। जो भक्त-मंडलीके जमावड़ेमें गीताका कथन करता है, जो मुझ ऐश्वर्य-सम्पन्नके सम्बन्धमें अपने मनमें पूर्ण प्रेम और भक्ति रखकर शान्तिपूर्वक सन्तोंकी सभामें गीताका पाठ करता है, जो उन भक्तोंको उसी प्रकार रोमांचित करता है, जिस प्रकार नये पत्तोंके निकलनेसे वृक्ष हर्षसे रोमांचित होते हैं, जो उन्हें उसी प्रकार हिलाता है, जिस प्रकार मन्द वायुके झोंके वृक्षोंको हिलाते हैं, जो उनके नेत्रोंको उसी प्रकार रससे आर्द्र करता है, जिस प्रकार उन वृक्षोंके फल रससे आर्द्र होते हैं, जो कोकिलके पंचम स्वरमें पुकारता है; जो भक्त-मंडली-रूपी उपवनमें वसन्त-कालके समान प्रवेश करता है, जो साधु-जनोंकी सभामें केवल मेरे स्वरूप पर ध्यान रखकर गीताके पद्य रूपी रत्नोंकी उसी प्रकार लगातार और बहुत अधिक वर्षा करता है, जिस प्रकार चन्द्रमाके आकाशमें उदित होते ही चकोरका जन्म सफल होता

है अथवा जिस प्रकार मोरोंकी कूकका उत्तर देता हुआ वर्षा-कालका नवीन सजल मेघ आ पहुँचता है, उस पुरुषके समान सचमुच मुझे और कोई प्रिय नहीं है; आज तक न तो कोई उसके समान मेरा प्रिय हो सका है और न आगे कोई उतना अधिक प्रिय होता हुआ दिखाई देता है। हे अर्जुन, जो गीताके अर्थसे सन्तोंका आतिथ्य-सत्कार करता है, उसे अब तक मैं सदा अपने हृदयके अन्दर ही रखता आया हूँ।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः॥७०॥

"तुम्हारे और मेरे संवादमें मोक्ष-धर्मको जन्म देनेवाली जिस कथाका विस्तार हुआ है, उसके सकल अर्थका ज्ञान करा देनेवाली इस गीताका जो बिना एक अक्षरमें भी परिवर्तन किये पाठ करेगा, वह मानों ज्ञानकी अग्नि सुलगाकर उसमें अज्ञानकी आहुति देगा और शुद्ध-मति होकर मेरा स्वरूप प्राप्त करेगा। गीताके अर्थका भली भाँति अन्वेषण करके ज्ञानी लोग जो कुछ प्राप्त करते हैं, भाई सुविज्ञ अर्जुन, वही उन लोगोंको भी प्राप्त होगा, जो तोतेकी तरह इस गीताका पाठ करेंगे। गीताका अर्थ जाननेवालोंको जो फल प्राप्त होता है, वह गीताका केवल पाठ करनेवालेको भी प्राप्त होगा। यह गीता-रूपी माता कभी ज्ञानी और अज्ञानी सन्तानमें कोई भेद नहीं करती।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्॥७१॥

"और जो बिना किसी मार्गसे निन्दा किये शुद्ध बुद्धिसे गीताके श्रवणके प्रति श्रद्धा रखता है, उसके कानोंमें गीताके शब्द ज्योंही प्रवेश करते हैं, त्योंही उसके पाप उसे छोड़कर उससे बहुत दूर भाग जाते हैं। जिस प्रकार वनमें अग्नि प्रवेश करते ही उसमें रहनेवाले प्राणी दसों दिशाओंमें भाग जाते हैं अथवा जिस प्रकार पूर्व गिरिके शिखर पर सूर्यका उदय होते ही अन्धकार अन्तरालमें जाकर छिप जाता है, उसी प्रकार ज्योंही कानोंके महाद्वारमें गीताकी झन्कार पहुँचती है, त्योंही सृष्टिकी उत्पत्तिके समय तकके पाप नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार यह जन्म-रूपी बेल निर्दोष होकर पुण्य-रूपी सुन्दर फूलोंसे फूलती है और अन्तमें उसमें अपरम्पार फल आते हैं। कारण यह है कि कानोंके द्वारा गीताके जितने अक्षर अन्तःकरणमें प्रवेश करते हैं, उतने अश्वमेध यज्ञ करनेका फल प्राप्त होता है। इसलिए गीताके श्रवणसे पापोंका नाश होता है और पासके पुण्य खूब बढ़ते हैं और अन्तमें उन पुण्योंके द्वारा इन्द्रका वैभव प्राप्त होता है। मेरे स्वरूपमें आकर मिलनेके लिए वह जो प्रवास करता है, उसका पहला पड़ाव स्वर्गमें होता है; और वहाँ वह जितना अधिक सुख भोग करना चाहता है, उतना अधिक सुख भोगकर अन्तमें वह आकर मेरे साथ मिल जाता है। हे अर्जुन, गीता सुननेवालोंको भी और गीताका पाठ करनेवालोंको भी इसी प्रकार अत्यन्त आनन्ददायी फल प्राप्त होते हैं। अब मैं इन बातोंका कहाँ तक विस्तार करूँ। जो कुछ कहा जा चुका है, वही यथेष्ट है। परन्तु जिस कार्यके लिए मैंने इस शास्त्रका इतना अधिक

विस्तार किया है, उस कार्यके सम्बन्धमें मैं अब तुमसे एक बात पूछता हूँ।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय: ॥७२॥

"हे पार्थ, तुम एक बात बतलाओ। ये समस्त शास्त्रीय सिद्धान्त तुमने एकाग्र चित्तसे सुने हैं न? जिस प्रकार मैंने यह ज्ञान तुम्हारे कानों तक पहुँचाया है, उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे मनमें भी भरा है न? या बीचमें कोई ऐसी बात रह गई है जो तुम्हारे ध्यानमें आनेसे छूट गई हो या जो उपेक्षाके कारण यों ही रह गई हो? मैंने जिस प्रकार इस ज्ञानका तुम्हें उपदेश दिया है, यदि उसी प्रकार यह ज्ञान तुम्हारे अन्तःकरणमें भर गया हो, तो फिर मैं जो कुछ पूछता हूँ, उसका तुम उत्तर दो। मैं तुमसे यह पूछता हूँ कि आत्मा-सम्बन्धी अज्ञानके कारण तुम्हारे मनमें जो मोह उत्पन्न हुआ था और जिसने तुम्हें भ्रममें डाल दिया था, तुम्हारा वह मोह अभी तक दूर हुआ या नहीं? तुम मुझे केवल यह बतलाओ कि कर्म और अकर्मका भेद तुम्हें दिखाई देता है या नहीं।" श्रीकृष्णने अर्जुनके सामने यह प्रश्न रखकर उसको ऐसी अवस्था कर दी थी कि वह आत्मानन्दके अद्वैत रसमें निमग्न होने और उसके सम्बन्धमें कुछ पूछनेके बदले फिर उसी पुराने द्वैत भाव पर खिंच आया था। अर्जुन पूर्ण ब्रह्म-रूप हो गया था; परन्तु उस समय जो कार्य सामने आ पड़ा था, उसे सिद्ध करनेके लिए श्रीकृष्णने उसे भेद-भाववाली मर्यादाका उल्लंघन नहीं करने दिया था। और नहीं तो सर्वज्ञ श्रीकृष्णने अब तक जो कुछ किया और कहा था, उससे क्या वे परिचित नहीं थे? परन्तु अर्जुनको फिरसे द्वैतके भान पर लानेके लिए ही उन्होंने उससे यह प्रश्न किया था। उस समय देवने अर्जुनसे उक्त प्रश्न करके और उसे फिरसे अर्जुनत्वके भान पर लाकर उसके मुखसे उसका यह अनुभव कहलाया था कि—"अब मैं पूर्ण हो गया हूँ।" फिर जिस प्रकार क्षीर-सागरसे निकलनेवाला और आकाशमें अपनी प्रभा फैलानेवाला पूर्ण चन्द्रमा बिना अलग किये ही, सहजमें और स्पष्ट रूपसे अलग और निराला दिखाई देता है, उसी प्रकार उस समय अर्जुनको एक ओर तो यह बात नहीं भूलती थी कि मैं ब्रह्म हूँ और दूसरी ओर उसे दिखाई पड़ता था कि सारा जगत ही ब्रह्म है। एक ओर तो उससे संसार छूट रहा था और दूसरी ओर ब्रह्मत्व भी क्षीण हो रहा था। इस प्रकार वह ब्रह्मत्वके सम्बन्धमें कुछ उलटा-सीधा विचार करता हुआ बड़े कष्टसे एक बार फिर देहाभिमानकी सीमा पर पहुँचकर रुक गया और वहीं वह यह सोचकर खड़ा हो गया कि—"मैं अर्जुन हूँ।" फिर अपने काँपते हुए हाथोंसे उसने अपनी उठती हुई रोमावली दबाकर, पसीनेकी बूँदें पोंछकर और तेजीसे चलते हुए श्वासके कारण काँपते हुए अंगोंको सँभालकर शरीरकी विव्हलता बहुत निग्रहपूर्वक रोककर दोनों नेत्रोंसे अश्रुओंके प्रवाहके रूपमें आनेवाली आनन्दामृतकी बाढ़को जहाँका तहाँ रोककर, नाना प्रकारकी उत्कंठाओंके कारण भर आनेवाले गलेको ठीक करके और उन उत्कंठाओंको अपने मनमें ही दबाकर लड़खड़ाती हुई जबानको सँभालकर और साँस ठिकाने लाकर अर्जुनने कहना आरम्भ किया।

अर्जुन उवाच—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

अर्जुनने कहा—"हे भगवन्, आप यह क्या पूछ रहे हैं कि मोहने अभी तक मुझे छोड़ा या नहीं? वह तो अपने गोत्रके सभी भावोंको लेकर अपना डेरा-डंडा मेरे मनसे उठाकर कभीका मुझे छोड़कर चला गया। भला यह भी कभी सम्भव है कि सूर्य किसीके पास आकर पूछे कि तुम्हें आँखोंमें अंधेरा दिखाई देता है? इसी प्रकार आप भगवान् श्रीकृष्ण मुझे इस समय आँखोंसे प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं; और यही क्या कम है? फिर जो बात किसी प्रकारका प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं हो सकती, वही बात आप मातासे भी बढ़कर प्रेमपूर्वक मुझे जो भरकर बतला रहे हैं। अब जिस दृष्टिसे आपने मुझसे यह प्रश्न किया है कि तुम्हारा मोह अभी तक दूर हुआ या नहीं, उस दृष्टिसे मैं कहता हूँ कि हे महाराज, आपके प्रसादसे मैं कृतकृत्य हो गया। मैं अभी तक इसी भ्रमसे फँसा हुआ था कि मैं अर्जुन हूँ। परन्तु अब आपके प्रसादसे आपके स्वरूपका ज्ञान होने पर मैं मुक्त हो गया हूँ। अब न तो प्रश्न करनेके लिए ही स्थान रह गया है और न उत्तर देनेके लिए ही। हे देव, आपके प्रसादसे मुझे जिस आत्म-बोधकी प्राप्ति हुई है, वह मोहका कहीं नाम-निशान भी बाकी नहीं रहने देता। अब जिस द्वैत-भावसे यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अमुक काम करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, वह आपको छोड़कर और किसीमें मुझे दिखाई नहीं देता। इस विषयमें अब मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है। मैं अब उस अवस्थामें पहुँच गया हूँ जिसमें कर्म बिलकुल बच ही नहीं जाते। आपकी कृपासे आज मैंने "मैं" अर्थात् आत्म-स्वरूप प्राप्त कर लिया है और इसी लिए कर्त्तव्य-कर्मोंका बिलकुल नाश हो गया है। अब मेरे लिए आपकी आज्ञाके सिवा और कुछ भी शेष नहीं रह गया है; क्योंकि जिसके दृष्टि-गोचर होने पर यह दृश्य विश्व नहीं रह जाता, जो स्वयं दूसरा होने पर भी द्वैतका नाश कर डालता है, जो एक होने पर भी सदा सब स्थानोंमें निवास करता है, जिसके साथ सम्बन्ध होते ही समस्त बन्धन टूट जाते हैं, जिसकी आशा होते ही और सब आशाओंका अन्त हो जाता है, जिसके साथ भेंट होने पर स्वयं अपने ही साथ अपनी भेंट हो जाती है, वह मेरे आराध्य गुरु देवता आप ही हैं। जो ऐक्यके सदा साथ रहनेवाले हैं जिनके कारण अद्वैत बोधके प्रान्तमें प्रवेश होता है और स्वयं ब्रह्म-स्वरूप होकर कृत्य और अकृत्यका बखेड़ा दूर करके और एक-निष्ठ होकर जिनकी अपरम्पार सेवा करते रहना चाहिए, जो अपने भक्तोंको अपने आपमें उसी प्रकार मिला लेते हैं, जिस प्रकार सागरसे भेंट करनेवाली नदी आकर स्वयं सागर ही बन जाती है, वे आप मेरे निरुपाधिक सेवा योग्य सद्गुरु हैं। इसलिए अब आप यही समझ लें कि मेरे ऊपर ब्रह्म-स्वरूपके साक्षात्कारका उपकार हुआ है। मेरे और आपके बीचमें जो भेद-भाव-वाली बाधा थी, उसे दूर करके आज आपने मुझे अपनी सेवाका मधुर सुख प्राप्त कराया है। इसलिए हे देवाधिदेवेश्वर श्रीकृष्ण, अब आप मुझे जो कुछ आज्ञा देंगे, मैं

उसका बिना पालन किये न रहूँगा।" अर्जुनकी यह बात सुनकर श्रीकृष्ण आनन्दसे विभोर हो गये। उन्होंने अपने मनमें कहा—"समस्त फलोंसे बढ़कर फल आज मुझे अर्जुनके रूपमें प्राप्त हुआ है। जिस चन्द्रमाकी क्षीण कलाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस अपने पुत्र पूर्ण चंद्रमाको देखकर क्या क्षीर-सागरका हृदय उछलने नहीं लगता और वह अपनी मर्यादा भूलकर उसका उल्लंघन नहीं करने लगता?" इसी प्रकार सम्भाषणके मंडपमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका यह संयोग देखकर संजय भी मारे आनन्दके उछल पड़ा। अपनी बहुत अधिक बढ़ी हुई आनन्द-भावनासे संजयने राजा धृतराष्ट्रसे कहा—"महर्षि व्यासदेवकी यह कितनी अधिक कृपा है कि उन्होंने इस युद्ध-कालमें हम दोनोंका पूरा पूरा संरक्षण किया है! संसारके सामान्य व्यवहार करनेके लिए भी आपके पास चर्म-चक्षु नहीं रह गये। परन्तु ऐसी अवस्थामें भी ज्ञान-दृष्टिसे व्यवहार करनेकी शक्ति व्यासदेवकी कृपासे आज आपको प्राप्त हुई है। मुझे तो केवल घोड़ोंकी परीक्षा करनेके लिए रथ पर बैठनेवाली वीर-मंडलीमें प्रवेश करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। सो मेरी समझमें भी ज्ञानकी जो ये सब बातें आने लगीं, यह भी महर्षि व्यासदेवका कृपा-प्रसाद ही है। युद्ध इतने प्रचंड और घोर रूपसे चल रहा था कि प्रत्येक व्यक्ति यही समझता था कि चाहे जिस पक्षकी हार हो, परन्तु इस युद्धमें मेरे प्राण अवश्य जायँगे। जिस स्थान पर ऐसा भीषण प्रसंग आया था, वहाँ भी मेरे लिए ब्रह्मानन्दका गुप्त भांडार खुल गया और मैं उस आनन्दका अनुभव कर सका। व्यासदेवके इस प्रसाद-की गहनताका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ!" संजय यह सब बातें कह तो गया, परन्तु जिस प्रकार चन्द्रमाकी किरणोंसे पत्थर कभी नहीं पसीजता, उसी प्रकार धृतराष्ट्र-का अन्तःकरण भी इन बातोंसे नामको भी द्रवित न हुआ। उसकी यह दशा देखकर संजयने उसका ध्यान ही छोड़ दिया। परन्तु फिर भी वह मारे आनन्दके होशमें नहीं रह गया था और इस लिए वह फिर बोलने लगा। उस समय केवल हर्षके आवेगसे संजय बोल रहा था; और नहीं तो धृतराष्ट्रमें इस प्रकारके लक्षण कहीं नामको भी नहीं दिखाई देते थे कि उसमें इस बातकी उत्कंठा है कि संजय कुछ और कहे।

संजय उवाच—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्॥७४॥

संजयने कहा—"हे कुरु-राज, आपके भतीजे अर्जुनने श्रीकृष्णसे जो कुछ कहा, वह उन्हें बहुत अधिक मधुर जान पड़ा। वास्तवमें पूर्व सागर और पश्चिम सागर आदि नाम ही भिन्न हैं। और नहीं तो उन दोनों सागरोंका जल बिलकुल एक-सा है। और इसी प्रकार श्रीकृष्ण और अर्जुनका भेद केवल शरीरके कारण ही दिखाई देता है, परन्तु उनके संवादमें यह भेद कहीं नामको भी बाकी नहीं रह जाता। जिस समय दर्पणसे भी बढ़कर स्वच्छ दो पदार्थों के आमने-सामने होने पर उनमेंसे प्रत्येक पदार्थ दूसरे पदार्थमें अपना स्वरूप देखता है, उसी प्रकार अर्जुन भी अपने आपको कृष्ण सहित कृष्णकी मूर्त्तिमें देखने लगा; और कृष्णको भी अर्जुनकी मूर्त्तिमें उसके सहित

स्वयं अपना स्वरूप दिखाई देने लगा। जिस अंगमें और जिस स्थान पर स्वयं अपने आपको भी और अपने भक्त अर्जुनको भी देखने लगे, उसी अंगमें और उसी स्थान पर भक्त अर्जुनको भी देव श्रीकृष्ण दिखाई देने लगे। और अब, जब कि उन दोनोंके सिवा कोई तीसरा रह ही नहीं गया था, उन लोगोंने क्या किया? बस वे दोनों एक-रूप हो गये। और जब इस प्रकार द्वैत भाव नष्ट हो गया, तब भला प्रश्नोत्तरका प्रसंग कहाँसे आ सकता था! जब कोई भेद ही नहीं रह गया, तब फिर सम्भाषणका सुख कहाँसे आ सकता था? इस प्रकार द्वैत भावके रहने पर भी सम्भाषणके समय जिनमें द्वैत भाव नहीं रह गया था, उन दोनोंका सम्भाषण मैंने सुना। यदि दो दर्पण एक दूसरेके सामने रख दिये जायँ तो क्या कभी इस बातकी कल्पना की जा सकती है कि उनमेंसे कौन किसे देखता है? अथवा यदि किसी जलते हुए दीपकके सामने कोई दूसरा जलता हुआ दीपक रख दिया जाय तो यह कैसे समझा जा सकता है कि उनमेंसे कौन-सा दीपक किससे प्रकाशकी याचना करता है? अथवा यदि सूर्यके सामने कोई दूसरा सूर्य उदित हो तो इस बातका निर्णय भला कैसे किया जा सकता है कि उनमेंसे कौन-सा सूर्य प्रकाश देनेवाला है और कौन-सा प्रकाश प्रकाशित होनेवाला है? यदि कोई इस बातका निर्णय करने लगे तो स्वयं निश्चय ही स्तब्ध हो जाता है। इस प्रकार उस सम्भाषणमें कृष्ण और अर्जुन बिलकुल एक-से हो गये थे। यदि जलके दो प्रवाह आकर एकमें मिल जायँ और ऊपरसे नमक भी आकर उनमें मिल जाय तो क्या वह नमक उन दोनों प्रवाहोंको रोक सकता है? अथवा वह भी क्षण भरमें उन दोनोंके साथ मिलकर एक-रूप हो जायगा? ठीक इसी प्रकार जब मैं उस संवादमें इस प्रकार एक-रूप होनेवाले श्रीकृष्ण और अर्जुनका अपने मनमें ध्यान करता हूँ, तो मेरी अवस्था भी उसी नमकके समान हो जाती है।" ये थोड़ी-सी बातें संजय अभी कह ही रहा था कि इतनेमें सात्त्विक भावने आकर उसकी संजयत्व-वाली स्मृति नष्ट कर दी—उसे इस बातका ध्यान ही न रह गया कि मैं संजय हूँ। ज्यों ज्यों उसे रोमांच होता आता था, त्यों त्यों उसका शरीर भी संकुचित होता जाता था। उसी स्तम्भित अवस्थामें उसे जो पसीना हो आया था, उसके कारण उसके शरीरका कम्प भी बहुत अधिक बढ़ गया था। अद्वैतके आनन्दका अनुभव होनेके कारण उसकी आँखें भर आईं। उसकी आँखोंमें वे प्रेमाश्रु नहीं थे, बल्कि मानों केवल जलका प्रवाह ही आरम्भ हो गया था। ऐसा जान पड़ता था कि शब्दार्थ उसके पेटमें नहीं समा रहे थे और गला रुँध गया था; और इसी लिए श्वासके साथ शब्दार्थ मिलकर एक हो गये थे। यहाँ तक कि आठों सात्त्विक भाव प्रकट हो गये और संजय-की कुछ ऐसी विलक्षण अवस्था हो गई कि उसके मुँहसे शब्द ही नहीं निकलता था। उस समय संजय मानों श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवादका चौराहा बन गया था। परन्तु इस सुखका स्वभाव ही ऐसा है कि वह आपसे आप शान्त हो जाता है। इसलिए संजय भी बहुत जल्दी शान्त हो गया। और फिर उसके होश ठिकाने हो गये—उसे अपने शरीरका भान हो आया।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

आनन्दका आवेग समाप्त हो जाने पर संजयने कहा—"जो ज्ञान स्वयं उपनिषदोंको भी ज्ञात नहीं है, वही ज्ञान आज मैंने श्री व्यासदेवकी कृपासे सुना। उसे सुनते ही मुझमें ब्रह्मत्व आ गया और मेरे लिए "मैं" और "तुम" की अर्थात् द्वैतकी सृष्टिका अन्त हो गया। इन समस्त योग-मार्गोंका जिनमें आकर पर्यवसान होता है, उन श्रीकृष्णके वचन व्यासदेवकी कृपासे आज मुझे बहुत सहजमें प्राप्त हो गये। अर्जुनको निमित्त बनाकर और अपने आपमें बलपूर्वक द्वैत भाव या भिन्नताकी स्थापना करके आत्म-विचारके सम्बन्धमें देवने जो कुछ कहा था, जो भाषण किया था, जब उस भाषणके सर्वोत्कृष्ट पात्र बननेकी योग्यता मुझ सरीखे सामान्य पुरुषमें आ गई, तो फिर श्री गुरु व्यासदेवकी सामर्थ्यका भला मैं कहाँ तक वर्णन करूँ!"

राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

इसके उपरान्त संजयने जब फिर कहना आरम्भ किया और उसके मुँहसे ज्योंही "राजन्" शब्द निकला, त्योंही वह बहुत अधिक विस्मित हो गया; और जिस प्रकार किसी रत्नकी प्रभा स्वयं उसी पर पड़कर फैलती है, उसी प्रकार वह स्वयं भी अपने विस्मयसे पूर्ण रूपसे व्याप्त हो गया। जिस प्रकार चन्द्रमाका उदय होने पर हिमालय परके सरोवर भी स्फटिक शिलाके समान दिखाई देने लगते हैं, परन्तु सूर्यके उदित होते ही वे फिर द्रव-रूप जान पड़ते हैं, उसी प्रकार ज्योंही संजयको अपने शरीरका भान होता था, त्योंही उसे श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद याद आ जाता था; और ज्योंही उसे वह संवाद याद आता था, त्योंही वह फिर विस्मित होकर अपने शरीरका भान भूल जाता था। बस यही क्रम उस समय बराबर चल रहा था।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।
विस्मयो मे महान्राजन्हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

फिर संजयने खड़े होकर धृतराष्ट्रसे कहा—"हे राजन्, श्री हरिका प्रत्यक्ष विश्व-स्वरूप देखकर आप इस प्रकार निस्तब्ध होकर क्यों बैठे हुए हैं? जो न देखने पर भी दिखाई देता है, न होनेके कारण ही जो अस्तित्वमें है और जो विस्मृत होने पर ही याद आता है, उससे यदि कोई बचना चाहे तो भला कैसे बच सकता है? यहाँ तक तो इतनी भी गुंजाइश नहीं है कि उसे दूरसे देखकर केवल आश्चर्य किया जाय। क्योंकि इस सम्भाषण रूपी ज्ञान-गंगाका प्रवाह इतना अधिक प्रचंड है कि वह अपने साथ साथ मुझे भी बहाये लिये चला जाता है।" श्रीकृष्ण और अर्जुनके संवाद-रूपी उस संगम-तीर्थमें स्नान करके उस संजयने अपने अहं-भावको तिलांजलि दे दी। उस अवस्थामें वह चरम सीमाके आनन्दका अनुभव करता हुआ बीच बीचमें विलक्षण रूपसे कुछ बड़बड़ा उठता था और बार बार अत्यन्त रुद्ध कंठसे "श्रीकृष्ण, श्रीकृष्ण" कह उठता था। परन्तु कुरुराज धृतराष्ट्रको उसकी इस अवस्थाका कुछ भी पता नहीं

चलता था और वह अपने मनमें उसके सम्बन्धमें योंही कुछ उलटी-सीधी कल्पनाएँ कर रहा था। उस समय संजयको सुखका जो अनुभव प्राप्त हो रहा था, उसे स्वयं अपने ही आप तक परिमित रखकर संजयने अपनी वह विभोरता शान्त की। उस प्रसंगके योग्य और पूछनेके उपयुक्त बात दूर रखकर धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"भाई संजय, यह तुम्हारा कौन-सा ढंग है! व्यासने तुम्हें मेरे पास किस कामके लिए बैठाया था और तुमने न जाने यह कहाँका पचड़ा छेड़ दिया।" यदि किसी जंगली आदमीको कोई राज-महलमें ले जाय तो उस जंगलीको ऐसा जान पड़ता है कि मेरी कोई चीज खो गई है और उसे दसो दिशाएँ सूनी सूनी जान पड़ती हैं। अथवा जब दिन निकलता है, तब निशाचरोंके लिए मानों रात ही हो जाती है। जो जिस विषयकी मधुरता नहीं समझता, उसे वह विषय नीरस अथवा विकट जान पड़ता है; और इसी लिए धृतराष्ट्रको संजयकी ये सब बातें अच्छी नहीं लगती थीं और निरर्थक जान पड़ती थीं। और यह बात उसके लिए बिलकुल स्वाभाविक ही थी। फिर धृतराष्ट्रने संजयसे कहा—"अच्छा संजय, अब तुम मुझे यह बतलाओ कि यह जो युद्ध उपस्थित हुआ है, इसमें अन्तमें विजय किसकी होगी। मेरा तो प्रायः यही पक्का विश्वास है कि दुर्योधनका पराक्रम सदा सफल होता है; और यदि पांडवोंकी सेनाके साथ तुलना की जाय तो दुर्योधनकी सेना भी उससे ड्योढ़ी है। इसलिये मैं तो यही समझता हूँ कि अन्तमें उसीकी जीत होगी। क्यों है यह बात ठीक या नहीं? भाई संजय, मुझे तो ऐसा ही जान पड़ता है। परन्तु तुम्हारी समझ क्या कहती है, यह मैं नहीं जानता। लेकिन फिर भी तुम चाहे जो कुछ समझते हो, एक बार मुझे बतलाओ तो सही।"

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

इस प्रश्नके उत्तरमें संजयने कहा—"हे राजन्, मेरी समझमें तो यह कुछ भी नहीं आता कि इस युद्धमें दोनों पक्षोंमेंसे कौन-सा पक्ष विजयी होगा। परन्तु हाँ, यह बात बिलकुल ठीक है कि जो आयुष्य हो तो मनुष्य अवश्य जीवित रहता है। जहाँ चन्द्रमा होता है, वहाँ चाँदनी भी अवश्य होती है; जहाँ शम्भु होते हैं, वहाँ पार्वती भी होती हैं; जहाँ सन्त होते हैं, वहाँ विवेक भी होता है। जहाँ राजा होगा, वहाँ सेना भी होगी; जहाँ सौजन्य होगा, वहाँ आपसदारी भी होगी; और जहाँ आग होगी, वहाँ दाहक शक्ति भी अवश्य ही रहेगी। जहाँ दया होगी, वहाँ धर्म भी अवश्य ही होगा; और जहाँ धर्म होगा, वहाँ सुखकी प्राप्ति भी अवश्य ही दिखाई देगी। जहाँ सुख होगा, वहाँ पुरुषोत्तम भी अवश्य ही रहेंगे। जहाँ वसन्त होगा, वहाँ वन भी होगा; और जहाँ वन होगा, वहाँ फूल भी अवश्य ही होंगे। और जहाँ फूल होंगे, वहाँ भ्रमरोंके झुंड भी अवश्य ही आवेंगे। जहाँ गुरु रहते हैं, वहाँ ज्ञान होता है; और जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ आत्म-दर्शन भी होता है; और जहाँ आत्म-दर्शन होता है, वहाँ समाधान भी होता ही है। भाग्यके पास विलास, सुखके पास उल्लास और सूर्यके पास प्रकाश अवश्य ही देखनेमें आता है। इसी प्रकार जिनके कारण समस्त पुरुषार्थोंको सामर्थ्य अथवा शोभा प्राप्त

होती है, वे श्रीकृष्ण जिस तरफ होंगे, लक्ष्मी भी उसी तरफ रहेगी। और अपने पति सहित वह जन्मदाता लक्ष्मी जिसे प्राप्त होगी, क्या अणिमा आदि आठों सिद्धियाँ उसकी दासी नहीं हो जायँगी? श्रीकृष्ण स्वयं ही विजय-स्वरूप हैं, इसलिए वे जिस पक्षमें रहेंगे उसी पक्षकी ओर विजय भी दौड़ी हुई जायगी। फिर अर्जुन तो विजयके नामसे प्रसिद्ध ही है और श्रीकृष्ण स्वयं ही विजय-स्वरूप हैं; और इसलिए इस बातमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि जिस ओर श्रीकृष्ण होंगे, उसी ओर लक्ष्मीके सहित विजय भी अवश्य रहेगी। जिन्हें ऐसे प्रतिष्ठित और माननीय माता-पिताका आधार प्राप्त है, उनके देशके साधारण वृक्ष भी क्या होड़में कल्पतरु तकको नहीं जीत लेंगे? वहाँके पत्थर भी चिन्तामणि क्यों न हो जायँगे? और वहाँकी मिट्टीमें भी सोनेके गुण क्यों न विलास करेंगे? यदि उनके गाँवोंकी नदियोंमें अमृत-रस प्रवाहित होने लगे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? हे राजन्, भला आप ही अपने मनमें विचार करके देखें। जिनके मुखसे निकले हुए उलटे-सीधे शब्द भी आनन्दसे वेदोंमें गिने जाते हैं, भला स्वयं वे देहधारी सच्चिदानन्द क्यों न होंगे? श्रीकृष्ण और लक्ष्मी जिनके माता-पिता हों, उनके अधिकारमें स्वर्ग और मोक्ष दोनों ही रहते हैं। इसी लिए मैं तो केवल यही जानता हूँ कि जिस ओर लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण हैं, उस ओर सब प्रकारकी सिद्धियाँ मानों आपसे आप रखी हुई हैं। इसके सिवा और कुछ भी मेरी समझमें नहीं आता। समुद्रसे उत्पन्न होनेवाला मेघ स्वयं समुद्रसे भी बढ़कर अच्छे उपयोगमें आता है। ठीक यही बात अर्जुन और श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी है। यह ठीक है कि लोहेको सोनेकी दीक्षा देनेवाला गुरु पारस ही होता है, लेकिन फिर भी संसारके समस्त व्यवहार केवल सोनेसे ही चलते हैं, पारससे नहीं। इन पर कुछ लोग यह कहेंगे कि इन विचारोंके कारण गुरुत्वमें कमी होती है। परन्तु यह बात कभी मनमें नहीं लानी चाहिए। जिस प्रकार अग्नि स्वयं अपना ही प्रकाश दीपकके द्वारा प्रकट करती है, उसी प्रकार देवकी ही शक्तिसे अर्जुन उस समय देवसे भी बढ़कर दिखाई देने लगा था। परन्तु वह देवसे जितना अधिक दिखाई देता था, उतना ही अधिक इस बातमें देवका गौरव और प्रशंसा भी होती है। फिर पिताकी सदा यही इच्छा होती है कि हमारे लड़के सभी सद्गुणोंमें हमसे भी खूब बढ़-चढ़कर हों; और शार्ङ्गपाणि श्रीकृष्णकी वही इच्छा सफल हुई थी। "हे राजा, धृतराष्ट्र, श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुन जिस पक्षका सहायक बना है, उसके सम्बन्धमें आपको यह सन्देह क्यों होता है कि उसे विजय न प्राप्त होगी। यदि उस पक्षको विजय न प्राप्त हुई तो फिर स्वयं विजय ही निरर्थक हो जायगी। इसी लिए मैं कहता हूँ कि जहाँ लक्ष्मी है, वहीं श्रीमान् कृष्णदेव हैं, और जहाँ पांडु-पुत्र अर्जुन है, वहीं सारी विजय और सारा उत्कर्ष रहेगा। यदि व्यासदेवके खरेपन और सत्यता पर आपका विश्वास हो तो आप यह समझ लें कि मेरा यह वचन अटल है। जहाँ वे लक्ष्मी-पति नारायण हैं, वहीं भक्त-श्रेष्ठ अर्जुन भी है और वहीं सुख तथा मंगलके लाभका निवास भी है। यदि मेरी यह बात झूठ निकले तो समझ लेना कि मैं व्यासदेवका शिष्य ही नहीं।" अभिमानपूर्वक अपनी इस प्रतिज्ञाका घोष करके संजयने अपने दोनों हाथ

ऊपर उठाये। इस प्रकार समस्त महाभारत का सारांश एक ही श्लोकमें रखकर वह श्लोक संजयने धृतराष्ट्रके हाथमें दे दिया। अग्निका विस्तार अपरम्पार है। परन्तु सूर्यका अस्त हो जानेके कारण जो क्षति होती है, उसकी पूर्ति करनेके लिए जिस प्रकार कपासकी बत्तीके सिरे पर लगानेमें उसका उपयोग करते हैं, उसी प्रकार सबसे पहले वह शब्द-ब्रह्म या सवा लाख श्लोकोंवाला भारत बना, जिसका कहीं अन्त ही नहीं है। इसके उपरान्त सात सौ श्लोकोंकी वह गीता बनी जिसमें भारत ग्रन्थका समस्त सार भरा हुआ है। और इन सात सौ श्लोकोंमेंसे यह अन्तिम श्लोक, जिसमें व्यासके शिष्य संजयका पूर्ण उद्गार भरा हुआ है, समस्त गीताका एकत्र किया हुआ अर्थ है। इस एक ही श्लोकको जो पुरुष अपने हृदयके साथ लगा रखेगा, वह मानों समस्त अज्ञानको पूर्ण रूपसे जीत लेगा। इस प्रकार ये सात सौ श्लोक मानों इस गीताके चलते हुए पैर ही हैं। अथवा इन्हें पैर न समझकर गीता रूपी आकाशका परम अमृत ही समझना चाहिए। अथवा मुझे ऐसा जान पड़ता है कि ये गीता रूपी आत्म-राजसभाके स्तम्भ ही हैं। अथवा सप्तशती अर्थात् सात सौ श्लोकोंमें भगवतीके सम्बन्धमें बने हुए ग्रन्थके द्वारा वर्णित यह गीता मानों भगवती देवी ही समझी जानी चाहिए। यह मोह रूपी महिषको मुक्ति देकर (अर्थात् नष्ट करके) आनन्दित हुई है। इसी लिए जो मन, शरीर और वाणीसे इसका भक्त होगा, वह स्वानन्द अथवा आत्मानन्दके साम्राज्यका चक्रवर्ती राजा होगा। अथवा अविद्या रूपी अन्धकार दूर करनेमें प्रतिज्ञापूर्ण सूर्यको भी मात करनेवाले ये विलक्षण तेजस्वी श्लोक प्रभु श्रीकृष्णने गीताके रूपमें प्रकट किये हैं। अथवा संसारके थके हुए यात्रियोंको विश्रामका स्थल देनेके लिए यह गीता श्लोकाक्षर रूपी द्राक्षा-वल्लीका मंडप बन गई है। अथवा इस गीताको श्रीकृष्णको मुख-रूपी ऐसी पुष्करणी ही समझना चाहिए जो सात सौ श्लोक रूपी कमलोंसे धन्य हुई है और सन्त रूपी भ्रमरोंसे भरी हुई है। अथवा ये सात सौ श्लोक और कोई नहीं, गीताकी महिमा गानेवाले भाट ही जान पड़ते हैं। अथवा इन सात सौ श्लोकोंके चारों ओर घर बनाकर इस गीता रूपी सुन्दर नगरीमें मानों वेद-वृन्द ही निवास करनेके लिए आ गये हैं। अथवा अपने पति परमात्माको प्रेमपूर्वक आलिंगन करनेके लिए गीता प्रियाने अपने जो बाहु पसारे हैं, इन श्लोकोंको वही बाहु समझना चाहिए। अथवा ये श्लोक गीता रूपी कमल परके भृंग हैं, अथवा गीता रूपी समुद्रकी तरंगें हैं अथवा गीता रूपी रथके घोड़े ही हैं। अथवा अर्जुन रूपी सिंहस्थ पर्व उपस्थित होनेके कारण इस गीता रूपी गंगामें स्नान करनेके लिए समस्त तीर्थ ही इन श्लोकोंके रूपमें आ पहुँचे हैं, और उन तीर्थोंका मानों मेला ही लगा हुआ है। अथवा ये श्लोकोंकी पंक्तियाँ नहीं हैं, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि विरक्त चित्तको भी लुभानेवाले चिन्तामणियों अथवा कल्प-वृक्षोंकी पंक्तियाँ लगाई गई हैं। इन सात सौ श्लोकोंमेंसे प्रत्येक श्लोक दूसरे प्रत्येक श्लोककी अपेक्षा कहीं बढ़-चढ़कर दिखाई देता है। ऐसी अवस्थामें यदि कोई उन सबकी अलग अलग प्रशंसा करना चाहे तो भला कैसे कर सकता है? कामधेनुके सम्बन्धमें कभी यह कहा ही नहीं जा सकता कि यह आज-कल दूध नहीं देती अथवा

यह दूध देनेवाली नहीं है। दीपकके सम्बन्धमें यह नहीं कहा जा सकता कि इसका आगा किधर है और पीछा किधर है। सूर्यको छोटा या बड़ा और अमृतके समुद्रको गहरा या छिछला आदि कैसे कहा जा सकता है और इन पदार्थोंके साथ इस प्रकारके विशेषण भला कैसे लगाये जा सकते हैं ? ठीक इसी प्रकारके गीताके किसी श्लोकके सम्बन्धमें यह नहीं कहना चाहिए कि यह पहला श्लोक है अथवा अन्तिम श्लोक है। पारिजातके फूलों के सम्बन्धमें क्या कभी यह भी कहा जा सकता है कि ये बासी हैं और ये ताजे हैं ? गीताके श्लोकोंमें भी योग्यताके विचारसे कोई कमी-बेशी नहीं है; न उसका कोई श्लोक किसीसे बढ़कर है और न घटकर है। और यह बात इतनी निश्चित है कि अब मैं इसका और अधिक समर्थन या पुष्टि क्या करूं। और इसका कारण यह है कि गीताके श्लोक पढ़ते समय वाच्य और वाचकका भी भेद नहीं रह जाता। यह बात सभी लोग जानते हैं कि इस गीता शास्त्रमें एक मात्र श्रीकृष्ण ही वाच्य भी हैं और वाचक भी हैं। इस गीताका अर्थ जाननेसे जो कुछ प्राप्ति होती है, वही इसका केवल पाठ करनेसे भी होती है; और यह गीता शास्त्र वाच्य और वाचककी एकता इतनी शीघ्रतासे करा देता है। अतः अब मेरे समर्थन करनेके लिए कोई विषय ही बाकी नहीं रह जाता। इस गीताको प्रभुकी सुन्दर वाङ्मय मूर्त्ति ही समझना चाहिए। चाहे कोई शास्त्र लीजिए, वह पहले तो वाचकको अपना उद्दिष्ट अर्थ बतलाता है और तब स्वयं ही लुप्त हो जाता है। परन्तु गीताके सम्बन्धमें यह बात नहीं है। यह पूर्ण रूपसे अव्यय; अविनाशी और निरन्तर ब्रह्म ही है। देखिये, सारे विश्व पर करुणा करके और अर्जुनको निमित्त बनाकर भगवानने यह परम आत्मानन्द सबके लिए कैसा सुगम कर दिया है ! जिस प्रकार चकोरको सुखी करनेके बहाने चन्द्रमा तीनों भुवनोंका दाह शान्त करता है अथवा जिस प्रकार गौतम ऋषिको निमित्त बनाकर कलिकालके कारण उत्पन्न होनेवाला संसारका दाह शान्त करनेके लिए शंकरने गंगाका प्रवाह पृथ्वी पर ला उपस्थित किया था, उसी प्रकार अर्जुनको बछड़ा बनाकर श्रीकृष्ण रूपी गौने यह गीता रूपी दूध संसार भरके लिए दिया है। यदि आप गीतामें हृदयसे मग्न हो जायेंगे तो कैवल्यवाली स्थितिमें पहुंच जायेंगे। यही नहीं, बल्कि यदि केवल पठनके उद्देश्यसे भी जिह्वाके साथ इसका सम्बन्ध कराया जायगा तो जिस प्रकार पारसका एक ही झटका लगनेसे लोहा आपसे आप सोना हो जाता है, उसी प्रकार यदि पाठको कटोरा बनाकर किसी श्लोकका एक चरण भी आप अपने होठोंसे लगावेंगे तो आपके शरीर पर ब्रह्मैक्यकी पुष्टता चढ़ेगी। अथवा यदि पठनके कटोरेको मुँह न लगाकर उसे टेढ़ा करके रख देंगे और उसकी ओर पीठ करके बैठेंगे तो यदि गीताके अक्षर भी आपके कानोंमें पड़ जायेंगे, तो भी वही हिसाब होगा। जिस प्रकार कोई अत्यन्त द्रव्य-सम्पन्न और उदार पुरुष कभी किसीसे किसी चीजके लिए याचना नहीं करता, उसी प्रकार यदि इस गीताका श्रवण, पठन अथवा अर्थ ग्रहणमेंसे किसी एकका भी अवलम्बन किया जाय तो वह मोक्षसे कम तो कभी किसीको कुछ देती ही नहीं और सबको एक सिरेसे मोक्ष ही देती है। इसलिए ज्ञाताओंकी संगतिमें रहकर एक मात्र गीताकी ही सेवा करनी चाहिए। दूसरे

और शास्त्रोंको लेनेसे क्या लाभ हो सकता है ? श्रीकृष्ण और अर्जुनने एकान्तमें खुले मनसे जो बात-चीत की थी, उसे श्रीमद्व्यासदेवने इस प्रकार सुगम रूपमें उपस्थित किया है कि जो चाहे, वही उसका आकलन कर सकता है। माता जिस समय अपने पुत्रको प्रेमपूर्वक खिलाने बैठती है, तब वह उसके मुखमें इतने छोटे छोटे कौर देती है जिन्हें वह सहजमें खा और निगल सके। अथवा जिस प्रकार वायुके असीम और अनन्त होने पर भी हिकमती आदमी पंखा तैयार करके उससे केवल उतनी ही हवा करता है, जितनी वह स्वयं सह सकता है, उसी प्रकार व्यासदेवने भी वे सब बातें, जो शब्दोंमें बतलाई ही नहीं जा सकती थीं, अनुष्टुप छन्दोंमें ऐसे अच्छे रूपमें रख दी हैं कि स्त्रियों और शूद्रों आदिकी बुद्धि भी उन्हें ग्रहण कर सकती है। यदि स्वातीके जल-से मोती न बनते तो वे सुन्दर स्त्रियोंके शरीर पर पहुँचकर सुशोभित ही कैसे होते ? वाद्यमें यदि नाद ही उत्पन्न न हो तो वह कानको सुनाई कहाँसे पड़े ? यदि वृक्षमें फूल ही न आये हों तो उनकी सुगन्ध कैसे ली जाय ? यदि पक्वान्न में ही मधुरता न हो तो फिर वह जीभको कहाँसे प्राप्त हो सकती है ? यदि दर्पण ही न हो तो नेत्र स्वयं अपने आपको कैसे देख सकते हैं ? यदि द्रष्टाको गुरुकी साकार मूर्त्ति ही न दिखाई दे तो वह सेवा किसकी करेगा ? ठीक इसी प्रकार यदि उस असंख्यात ब्रह्म-वस्तुके लिए श्लोकोंकी सात सौ-वाली संख्याका प्रयोग न किया गया होता तो उसका आकलन कौन कर सकता ? मेघ सदा सागरका जल सोखा करते हैं, परन्तु संसारको सागर सदा ज्योंका त्यों दिखाई देता है; क्योंकि जिसकी कोई नाप-तौल ही नहीं है, उसमें अगर कुछ कमी या ज्यादती हो तो किसीको उसका पता ही कैसे चल सकता है ? जिसका वर्णन वाचाके लिए साध्य नहीं है, वही यदि इन श्लोकोंमें समाया हुआ न होता तो मुख और कानों-को उसका अनुभव कैसे होता ? इसी लिए व्यासदेवने श्रीकृष्णकी उक्ति जो इस ग्रन्थमें संकलित की है, सो उन्होंने संसार पर बहुत बड़ा उपकार किया है। और महर्षि व्यासके शब्दों पर सदा पूरा पूरा ध्यान रखकर उनके उसी ग्रन्थका मैंने मराठी* भाषामें अनुवाद करके आप लोगोंके कानोंमें डाला है। जिस विषयमें व्यास आदि महर्षियोंका ज्ञान भी भटक जाता और धोखेमें पड़ जाता है, उसी विषयमें इस अल्प मति व्यक्तिने (मैंने) कोरी वाचालता की है। परन्तु ये गीतेश्वर बहुत ही भोले-भाले हैं। यदि उन्होंने व्यासके वचनोंकी पुष्पमाला धारण की है, तो मेरे सीधे-सादे दूर्वा-दलोंके लिए भी वे "नहीं" नहीं करते। क्षीर-सागरके तट पर अपनी प्यास बुझानेके लिए हाथियोंके झुण्ड आते हैं; परन्तु क्या इसीलिए मच्छरोंको वहाँ आनेकी मनाही होती है ? पक्षियोंके जिन बच्चोंके अभी अच्छी तरह पंख भी नहीं निकले होते, वे थक जानेके कारण आकाशमें अच्छी तरह उड़ तो नहीं सकते, परन्तु फिर भी इधर-उधर फुदकते रहते हैं। और उसी आकाशमें गरुड़ भी खूब तेजीके साथ उड़ा करता है। भूतल पर राजहंस बहुत ही सुन्दर गतिसे चला करते हैं; परन्तु क्या इसी लिए और

*मूल पुस्तक मराठी भाषामें ओवी नामक विशेष छन्दमें लिखी है।—अनुवादक।

कोई अपनी भद्दी चालसे उस पर चलने ही न पावे ? अपने परिमाणके अनुसार हण्डा बहुत अधिक जल अपने पेटमें भर लेता है; तो क्या इसी लिए चुल्लूमें पानी नहीं लिया जा सकता ? दीयट बहुत बड़ी होती है और इसीलिए उसका प्रकाश भी अधिक होता है; परन्तु छोटी बत्तीमें भी उसके अंगके मानके अनुसार प्रकाश होता है या नहीं ? समुद्रमें उसके विस्तारके अनुसार ही आकाश प्रतिबिम्बित होता है; परन्तु छोटेसे गड्ढेमें भी उसके मानके अनुसार आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता ही है। ठीक इसी प्रकार इस ग्रन्थके विषयमें व्यास सरीखे दिव्य बुद्धिमान् ऋषि विचरण करते हैं। परन्तु केवल इस दृष्टिसे यह कहना युक्ति-संगत नहीं है कि उसमें मुझ सरीखे अल्प-मतिको पैर नहीं रखना चाहिए। जिस समुद्रमें मन्दर पर्वतके समान बड़े बड़े जलचर संचार करते है, क्या छोटी मछलियोंको उस समुद्रमें झाँकना भी नहीं चाहिए ? अरुण सदा सूर्यके रथ पर खूब डटकर बैठा रहता है और इसीलिए वह सदा सूर्यको देखता भी रहता है। परन्तु क्या जमीन पर रेंगनेवाली च्यूँटी सूर्यकी ओर नहीं देखती ? इसी लिए यदि मुझ सरीखे सीधे-सादे आदमी भी देशी भाषामें गीताकी रचना करें तो यह कोई अनुचित बात नहीं है। यदि पिता आगे चल रहा हो और पुत्र भी उसके पीछे कदम पर कदम रखता हुआ चले, तो क्या वह उस स्थान पर नहीं पहुँच सकता जिस स्थान पर पिता पहुँचता है ? ठीक इसी प्रकार व्यासदेवके पीछे चलकर और गीताके भाष्यकारोंसे रास्ता पूछ-पूछकर मैं भी आगे बढ़ूँ तो यह काम अयोग्य और अनुचित भले ही हो, परन्तु फिर भी मैं उपयुक्त स्थान पर अवश्य पहुँच जाऊँगा। यदि मैं किसी दूसरी जगह जाऊँ तो कैसे और कहाँ जाऊँगा ? इसके सिवा जिसमें पृथ्वीके समान क्षमा-गुण और इसीलिए जो किसी स्थावर या जंगमसे दुःखी नहीं होते, जिनसे अमृत प्राप्त करके चन्द्रमा सारे संसारको शीतल करता है, जिनके शरीरका असल तेज प्राप्त करके सूर्य अन्धकार दूर करता है, जिनसे समुद्रको जल, जलको माधुर्य, माधुर्यको सौन्दर्य, वायुको बल, आकाशको विस्तार, ज्ञानको उज्वल राज्य-वैभव, वेदोंको मधुर वाणी, सुखको उत्साह और यहाँ तक कि समस्त रूप और आकार प्राप्त होते हैं और जो सब पर उपकार करते हैं, वे समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे अन्तः-करणमें प्रवेश करके उसमें विचरण कर रहे हैं। अब यदि मैं मराठी भाषामें गीताका ठीक ठीक विवरण करूँ तो इसमें आश्चर्यका क्या कारण है ? श्री गुरु द्रोणाचार्यके नामसे पर्वत पर मिट्टीका ढेर लगाकर जिस एकलव्यने उसकी सेवा की थी, उस पहाड़ी भील एकलव्यने भी अपनी धनुर्विद्याकी चातुरीसे तीनों लोकोंको हिला डाला था। चन्दनके आस-पास रहनेवाले वृक्ष भी चन्दनके ही समान सुगन्धित हो जाते हैं। वसिष्ठने अपने कन्धे पर जो दुपट्टा रखा था, वह सूर्यके साथ भी प्रतिस्पर्धा कर सका था। और मैं तो सचेतन मनुष्य हूँ। तिस पर मेरे श्री सद्गुरु इतने अधिक समर्थ हैं कि वे केवल अपने कृपा-कटाक्षसे ही अपने शिष्यको आत्म-पद पर ले जाकर बैठा देते हैं। एक तो पहलेसे ही नजर तेज हो और तिस पर सूर्य समर्थन और सहायता करे, तो फिर भला ऐसी कौन-सी वस्तु है जो दिखाई न दे सकती हो ? इसी लिए मेरे केवल श्वासोच्छ्वास

भी नये नये ग्रन्थ हो सकते हैं। यह ज्ञानदेव स्वयं अपने आपसे पूछता है कि ऐसा कौन-सा काम है जो गुरुकी कृपासे नहीं हो सकता ? इसी लिए मैंने मराठी भाषामें गीताका अर्थ ऐसे ढंगसे कहा है कि उसे सभी लोग सहजमें समझ सकें। मेरे इन मराठी बोलोंको यदि कोई कुशलतापूर्वक गावेगा तो उसके गानकी मोहिनीमें कहीं कोई अपूर्णता न दिखाई देगी। इसी लिए यदि कोई गीताका गान करेगा तो यह गीता उसके गानके लिए भूषण ही होगी। और यदि कोई इन शब्दोंका सीधे-सादे ढंगसे पाठ करेगा तो भी यह गीता उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहने देगी। यदि गहना पहना न जाय और योंही रख दिया जाय तो भी वह सुन्दर जान पड़ता है। फिर यदि वह शरीर पर धारण कर लिया जाय तो क्या वह उपयुक्त न होगा और अधिक सुन्दर न लगेगा ? मोतियोंके सम्बन्धकी यह बात है कि यदि वे सोने पर जड़ दिये जायँ तो वे सोनेकी रंगत और भी ज्यादा खिला देते हैं। परन्तु यदि ऐसा संयोग न भी हो, तो भी यह बात नहीं है कि वे अलग लड़ीमें पिरोये रहनेकी दशामें कुछ कम सुन्दर जान पड़ते हों। वसन्त-ऋतुमें फूलनेवाले मोगरेकी कलियाँ चाहे मालामें पिरोई हुई हों और चाहे योंही खुली रखी हों, परन्तु उनकी सुगन्धमें किसी दशामें भी कोई कमी नहीं होती। ठीक इसी प्रकार मैंने ऐसे छन्दोबद्ध प्रेमपूर्ण ग्रन्थकी रचना की है जिसमें गाये जानेका गुण भी स्वाभाविक रूपसे वर्त्तमान है और बिना गाये भी जिसका रंग खूब खिलता है। इन पंक्तियोंकी रचनामें मैंने ब्रह्म-रससे सुगन्धित किये हुए अक्षर इस प्रकार रखे हैं कि उन्हें छोटे बच्चोंसे लेकर बड़ों तक सभी लोग बहुत सहजमें समझ सकते हैं। जिस प्रकार चन्दनके वृक्षमें सुगन्धिके लिए फूलोंकी तलाश नहीं करनी पड़ती, उसी प्रकार इस ग्रन्थकी पंक्तियाँ (छन्द) भी कानोंमें पड़ते ही सुननेवालोंकी समाधि लगा देती हैं। फिर यदि इसकी व्याख्या करनेवाले व्याख्यान सुने जायँ तो क्या वे मन पर मोहिनी न डालेंगे ? इसका सहज रूपसे पाठ करने पर भी पांडित्यका ऐसा आनन्द आता है कि यदि पासमें अमृतका भी प्रवाह बहता हो तो उसकी ओर भी ध्यान न जायगा। इस प्रकार सिद्धतापूर्वक इसका कवित्व इतनी अधिक शान्ति उत्पन्न करता है कि यों कहना चाहिए कि इसके श्रवणने मनन और निदिध्यासन पर भी विजय प्राप्त कर ली है। इसके श्रवणसे प्रत्येक व्यक्तिको आत्मानन्दके अनुभवका सर्वोच्च अंश प्राप्त होगा और उसकी समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होंगी। चकोर अपनी शक्तिसे चन्द्रमाका उपभोग करके (अर्थात् प्रत्यक्ष चन्द्रामृत पान करके) सुखी होते हैं; परन्तु उस चन्द्रमाकी चाँदनी क्या और किसीको प्राप्त नहीं हो सकती ? ठीक इसी प्रकार अध्यात्म-शास्त्रके अधिकारी पुरुषोंको इसके अन्दरके गम्भीर रहस्यका ज्ञान होता है। किन्तु केवल वाक्-चातुरीसे भी बहुत-से लोग सुखी होते ही हैं। परन्तु वास्तवमें यह सारा महत्व श्री निवृत्तिनाथजीका ही है। इस प्रबन्धको आप लोग ग्रन्थ न कहें, बल्कि यह गुरु-नाथकी कृपाका ही वैभव है। अत्यन्त प्राचीन कालमें क्षीर-सागरके पास शंकरजीने श्री पार्वतीके कानोंमें जो रहस्य बतलाया था, वह रहस्य क्षीर-सागरकी लहरोंके मगरके पेट में रहनेवाले मत्स्येन्द्रनाथको प्राप्त हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथको सप्तशृङ्गी पर अवयव-हीन चौरंगीनाथ मिले। मत्स्येन्द्रनाथके दर्शनोंसे चौरंगीनाथके कटे हुए अवयव फिर पहलेकी तरह जुड़कर ठीक हो गये। फिर मत्स्येन्द्रनाथने अटल समाधिका ठीक तरहसे भोग करनेका

विचार किया और इसी लिए उस रहस्यका संकेत उन्होंने श्री गोरक्षनाथको बतला दिया। गोरक्षनाथजी योग-रूपी कमलिनीके सरोवर और विषयोंका नाश करनेवाले काल ही थे। मत्स्येन्द्रनाथने उन्हें अपना समस्त अधिकार देकर अपनी पीठ पर अधिष्ठित कर लिया। इसके उपरान्त गोरक्षनाथने उस अद्वैतानन्दका, जो श्री शम्भुके समयसे परम्परासे चला आ रहा था, श्रीगैनीनाथजीको समूल उपदेश दिया। जब उन गैनीनाथजीने यह देखा कि कलि-काल भूत मात्रको ग्रस रहा है, तब उन्होंने श्री निवृत्तिनाथको आज्ञा दी कि आदि शंकरसे लेकर शिष्य-परम्परासे रहस्य-बोध करानेका जो यह सम्प्रदाय मुझ तक चला आया है, वह सम्प्रदाय तुम स्वीकृत करो और उन जीवोंकी रक्षा करनेके लिए तुम दौड़े हुए जाओ जिन्हें कलि-काल निगल रहा है। निवृत्तिनाथजी स्वभावतः अत्यन्त दयालु थे। तिस पर उन्हें ऐसे गुरुकी आज्ञा हुई थी। अतः जगतको शान्ति प्रदान करनेवाले श्री निवृत्तिनाथ वर्षा-कालके मेघके समान उठे। उस समय दुःखितों पर करुणा करके गीतार्थ पिरोनेके बहानेसे उन्होंने शान्त रसकी जो वर्षा की थी, वही यह ग्रन्थ है। उस समय मैं चातककी भाँति बहुत अनुरागपूर्वक उनके सामने खड़ा हो गया और इसी लिए आज मैं यह यश प्राप्त कर सका हूँ। इस प्रकार गुरु-परम्परासे जो आत्म-समाधि रूपी द्रव्य प्राप्त हुआ था, वही इस ग्रन्थके द्वारा उपदेश करके गुरु महाराजने मुझे दिया है। यदि यह बात न होती तो फिर मेरे सरीखे ऐसे आदमीमें, जो न तो पढ़ता-लिखता ही है; न अध्ययन करता है और न गुरुदेवकी अच्छी तरह सेवा करना ही जानता है, इस ग्रंथकी रचना करनेकी योग्यता कहाँसे आती? वास्तवमें यह बात आप लोग ध्यानमें रखें कि गुरुदेवने मुझे निमित्त मात्र बनाकर इस प्रबन्धके रचनेमें जगतकी रक्षा ही की है। इस प्रकार मैं केवल नामके लिए आगे कर दिया गया हूँ। ऐसी अवस्थामें यदि मेरी बातोंमें कहीं कोई त्रुटि या दोष रह गया हो तो हे श्रोतागण, आप लोग माताके समान प्रेमपूर्ण होकर उन सबको अपने उदरमें रख लें (अर्थात् मन ही मन समझकर उसके लिए मुझे क्षमा कर दें)। शब्दोंकी योजना किस प्रकार करनी चाहिए, सिद्धान्त किस प्रकार स्थिर करने चाहिएँ और अलंकार किसे कहते हैं, आदि बातोंका मुझे कुछ भी ज्ञान नहीं है। कठ-पुतली जिस प्रकार अपने सूत्रधारकी इच्छाके अनुसार चलती-फिरती और नाचती-कूदती है, उसी प्रकार मुझे आगे रखकर वास्तवमें मेरे गुरुदेव ही ये सब बातें कह रहे हैं। इसी लिए मैं विशेष आग्रह-पूर्वक यह नहीं कह रहा हूँ कि इस ग्रन्थके गुण-दोषोंके लिए लोग मुझे क्षमा करें, क्योंकि गुरुदेवने केवल ग्रन्थ-ग्राहकके रूपमें मेरी योजना की है। और यदि हीन-गुण ही आप सन्तोंकी सभामें खड़ा हुआ हो और वह पूर्ण गुणोंसे युक्त न हुआ हो, तो वह अपने लाड़लेपनके कारण उलटे आपही लोगों पर कोप करेगा। यदि पारसका स्पर्श होने पर भी लोहेकी हीन दशा दूर न हो तो इसमें दोष किसका है? नालियाँ और नाले तो इतना ही कर सकते हैं कि जाकर गंगामें मिल जायँ। अब इतने पर भी यदि उन्हें गंगाका रूप प्राप्त न हो तो इसमें उनका क्या दोष है? इसलिए यदि मैं बड़े भाग्यसे आप सन्तोंके चरणोंके पास आ पहुँचा हूँ तो फिर इस संसारमें मेरे लिए किस बातकी कमी हो सकती है? हे गुरुदेव, आपने ही मुझे सन्तोंकी संगति प्राप्त करा दी है जिससे मेरे समस्त मनोरथ परिपूर्ण हो गये हैं। हे सन्त-जन, आप सरीखा मायका

मुझे प्राप्त हुआ है और मेरा ग्रन्थ-रचनाका लाडलेपनका हठ बहुत अच्छी तरह पूरा हो गया है। सोनेका सारा पृथ्वी-तल ढाला जा सकता है, चिन्तामणियोंका मेरुके समान प्रचंड पर्वत बनाया जा सकता है, सातों समुद्र अमृत-रससे लबालब भरना भी सहज है और छोटे-छोटे नक्षत्रोंको चन्द्रमा बनाना भी कठिन नहीं है और न कल्प-वृक्षोंके बाग लगाना ही बहुत ज्यादा मुश्किल है; परन्तु गीताका रहस्य सहजमें स्पष्ट नहीं किया जा सकता। फिर भी मुझ सरीखा गूँगा मनुष्य गीताका अर्थ इतना अधिक स्पष्ट कर सका है कि जो सब लोगोंको प्रत्यक्ष दिखाई देता है। इस ग्रन्थ-रूपी अपार सागरको पार करके और कीर्तिकी पताका हाथमें लेकर जो मैं आनन्दसे खूब फूलकर नाच रहा हूँ, मेरु पर्वतके समान प्रचंड दिखाई देनेवाला और विशाल कलशवाला गीतार्थका मन्दिर रचकर और उसमें गुरुदेवकी मूर्त्ति स्थापित करके उनकी जो पूजा-अर्चा कर रहा हूँ, यह सब उन्हीं गुरुदेवकी कृपाका फल है। गीता सरीखी निर्मल और शुद्ध हृदयवाली माताको भूलकर जो बालक इधर-उधर बिलबिला रहा था, उसकी जो उस माताके साथ पुनः भेंट हो गई है, यह भी उन्हीं गुरुदेवकी कृपाका ही फल है। मैं ज्ञानदेव आप सज्जनोंसे कहता हूँ कि हे महाराज, आचार-व्यवहारका विचार करके ही मैंने यह बात कही है। यह स्वयं इस ज्ञानदेवकी अटपटी बातें नहीं हैं। अब मैं और क्या कहूँ! आपही लोगों-की कृपासे आज इस ग्रन्थकी समाप्तिका उत्सव मैं मना सका हूँ और इससे मेरा जन्म सफल हो गया है। मैंने अपने मनमें जो जो आशाएँ रखकर आप लोगोंका भरोसा किया था, वे सब आशाएँ आप लोगोंने अच्छी तरह पूरी कर दी हैं और इसलिए मैं बहुत ही सुखी हुआ हूँ। हे महाराज, मुझ सरीखे दीनके लिए अपने इस ग्रन्थकी जिस अद्भुत सृष्टिका निर्माण किया है, उसे देखकर मैं दूसरी सृष्टि उत्पन्न करनेवाले विश्वामित्रको भी आज तुच्छ समझ रहा हूँ। क्योंकि त्रिशंकुका पक्ष लेकर केवल ब्रह्माको नीचा दिखलानेके लिए नश्वर सृष्टि उत्पन्न करनेमें कौन-सा बड़ा पुरुषार्थ है! श्री शम्भुने उपमन्यु पर प्रसन्न होकर उसके लिए क्षीर-सागर उत्पन्न किया था। परन्तु उनका यह कार्य भी यहाँ उपमाके लिए ठीक नहीं जँचता क्योंकि उस क्षीर-सागरके गर्भमें हलाहल विष भरा था और समुद्र-मन्थनके समय वह उसमेंसे निकला भी था। यह ठीक है कि अन्धकार रूपी निशाचरके द्वारा समस्त चराचरके निगले जाने पर उनकी रक्षाके लिए सूर्य दौड़ा आया था और उसने उस अन्धकारका नाश भी किया था; परन्तु चराचरके साथ यह उपकार करके सूर्यने उन्हें अपनी प्रखर उष्णताका मजा भी अवश्य चखाया। तपे हुए विश्वको शान्त करनेके लिए चन्द्रमाने भी अवश्य ही अपनी भरपूर चाँदनीका प्रकाश किया; परन्तु फिर भी वह कलंकित चन्द्रमा इस ग्रन्थ-राजकी बराबरी भला कैसे कर सकता है? इसी लिए सन्त-जनोंने इस ग्रन्थके साथ मेरा जो संयोग करा दिया है, उसके सम्बन्धमें मैं फिर यही कहता हूँ कि उसकी उपमा और कहीं नहीं मिलती। संक्षेपमें मैं यही कहता हूँ कि इस ग्रन्थ-रूपी धर्म-कीर्तनकी जो सुखपूर्वक समाप्ति हुई है, वह सब आप ही लोगोंकी कृपाका फल है और इस सम्बन्धमें मेरे लिए केवल सेवकताका तत्व ही बच रहता है (अर्थात् यही सिद्ध होता है कि मैंने केवल सेवकके रूपमें आप लोगोंकी सेवा की है)। अब समस्त विश्वकी आत्मा वह परमेश्वर इस वाङ्मय यज्ञसे सन्तुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करें कि दुष्टोंकी टेढ़ी

नजर सीधी हो जाय, उनके हृदयमें सत्कर्मोंके प्रति प्रेम उत्पन्न हो और भूत मात्रमें परस्पर हार्दिक मैत्री हो। पापोंका अन्धकार नष्ट हो और आत्म-ज्ञानके प्रकाशसे सारा विश्व उज्वल हो; और तब जो प्राणी जिस बातकी इच्छा करें, वह उसे प्राप्त हो। समस्त मंगलोंकी वर्षा करनेवाले सन्त सज्जनोंका जो समुदाय है, उसकी इस भूतलके भूत मात्रके साथ अखण्ड भेंट हो। ये सन्त सज्जन मानों चलते फिरते कल्प-वृक्षोंके अंकुर हैं अथवा इन्हें चैतन्य रूपी चिन्ता-रत्नका ग्राम अथवा अमृतका बोलता हुआ सागर ही समझना चाहिये। ये सन्त-जन मानों कलंक-हीन चन्द्रमा अथवा ताप-हीन सूर्य हैं और सभी लोगोंके सदाके सगे-सम्बन्धी और अपने हैं। सारांश यही कि तीनों भुवन अद्वैत-सुखसे परिपूर्ण होकर अखंड रूपसे उस आदि पुरुषके भजनमें लगे। और विशेषतः इस लोकमें जो ऐसे जीव हैं जिनका जीवन ग्रन्थोंके अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हें ऐहिक तथा पारलौकिक सुखोंकी प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभुने कहा—"यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।" यह वर-दान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत अधिक प्रसन्न हुआ है। इस कलियुगमें महाराष्ट्र देशमें गोदावरी नदीके दक्षिण तट पर, जिस स्थान पर संसारके जीवन-सूत्र मोहिनी-राजका निवास है, उस स्थान पर अत्यन्त पवित्र और अत्यन्त प्राचीन पंचक्रोश क्षेत्र (जिसका नाम नेवासें है) है। इस क्षेत्रमें सोम वंशके शिरोमणि और समस्त कलाओंके जनक राजा श्री रामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते हैं। इसी स्थान पर शंकर परम्पराके श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञानदेवने गीता पर मराठी भाषाका साज चढ़ाया है। इस प्रकार महाभारतके भीष्म पर्वमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका जो सुन्दर संवाद दिया गया है, जो उपनिषदोंका सारांश और समस्त शास्त्रोंका जन्म-स्थान है और परमहंस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हंस सरोवरका आश्रय लेते हैं, श्री निवृत्तिनाथका शिष्य मैं ज्ञानदेव कहता हूँ कि उस गीता नामक संवादका यह अठारहवाँ अध्याय पूर्ण कलश है। अब इस ग्रन्थकी पवित्र सम्पत्तिसे प्राणी मात्रको उत्तरोत्तर सम्पूर्ण-सुखोंकी प्राप्ति हो। शक संवत् बारह सौ बारहमें ज्ञानेश्वरने गीताकी यह टीका की है और सच्चिदानन्द बाबाने बड़े प्रेम और ध्यानसे इसे लिखा है।

—— —

श्री एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीका संशोधन करके इसके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा था, उसका आशय इस प्रकार है—

"शालिवाहनके शक संवत् १५०६ में तारण नामक संवत्सरमें जनार्दनके शिष्य एकनाथने अत्यन्त आदरपूर्वक ज्ञानेश्वरी गीताको मूल प्रतिके साथ मिलाकर शुद्ध किया। यह ग्रन्थ आरम्भमें ही बहुत अधिक शुद्ध है; परन्तु इधर उधरके पाठान्तरोंके आ जानेके कारण शुद्ध ग्रन्थमें भी कुछ असंगत बातें आ गई थीं। इस प्रकारके पाठोंको शुद्ध करके मूल प्रतिके अनुसार यह शुद्ध ज्ञानेश्वरी प्रस्तुत की गई है। गीताकी की हुई जिनकी टीका पढ़नेसे अत्यन्त भावुक ग्रन्थ-प्रिय लोगोंको ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उन निष्कलंक ज्ञानेश्वर महाराजको मैं वन्दना करता हूँ। बहुत दिन बाद आनेवाले इस पर्वके शुभ समयमें भाद्रपदकी कपिला षष्ठीको गोदावरी नदीके तट पर पैठण नामक नगरमें लेखनका यह कार्य समाप्त हुआ है। इस ज्ञानेश्वरीके पाठमें यदि कोई अपना लिखा हुआ मराठी पद्य सम्मिलित करे तो समझ लेना चाहिए कि उसने अमृतके थालमें मानों नरेली (नारियलकी खाली खोपड़ी) ही रखी है।

ज्ञानेश्वरी भावार्थदीपिका टीका समाप्त। श्रीकृष्णार्पणमस्तु।